राजनीति के मूल तत्त्व

लेखक

हैरोल्ड जे० लास्की

प्रकाशक

जार्ज एलन एण्ड अनविन लि० लन्दन

और

एलाइड पब्लिशर्ज़ एण्ड स्टेशनरी मैन्युफ़ैक्चरर्स

बम्बई कलकत्ता

प्रस्तावना

हैरल्ड लास्की की "ग्रामर ऑफ़ पौलिटिक्स" बहुत समय से एक गौरव ग्रन्थ रही है। मुझे बड़ी खुशी है कि इस मशहूर किताब का अब हिन्दी में अनुवाद हो गया है। यह हिन्दी साहित्य के लिये एक क़ीमती देन होगी और मुझे आशा है कि बहुत से लोग इससे लाभ उठायेंगे।

आजकल की पेचीदा राजनीतिक हालत में पहले की कोई मिसालें ढूंढना आसान नहीं। फिर भी कुछ मूल सिद्धान्तों का जानना और समझना जरूरी है ताकि उन्हें हम आजकल की समस्याओं पर लागू करने की कोशिश करें। इन मूल सिद्धान्तों के समझने में यह पुस्तक सहायता देगी।

नई दिल्ली,
२२ नवम्बर, १९५६.

मुद्रक
...मन प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली।

अनुक्रमणिका

भूमिका—राज्य-विषयक सिद्धान्त में संकट

खण्ड १

खण्ड २

अनुक्रमणिका

भूमिका

राज्य-विषयक सिद्धान्त में संकट

—१—

राज्य-विषयक किसी भी सिद्धान्त को अगर युगीन संदर्भ में न देखा जाये तो वह समझ में नहीं आ सकता। आदमी जो कुछ राज्य के बारे में सोचता है, वह सब उसके उस अनुभव का निष्कर्ष होता है, जिससे होकर उसे गुजरना पड़ता है। सेण्ट बार्थोलोम्यू के हत्याकाण्ड ने 'विन्डिसी'[1] के लेखक से 'ह्यूगनिज्म' (ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के प्रति विरोध) को जन्म दिया, प्यूरिटन-विद्रोह ने हॉब्स को सामाजिक शान्ति के मूल की खोज के लिए प्रेरित किया, १६८८ की 'शानदार क्रान्ति' का सहारा पाकर लाक ने साग्रह अपनी बात दोहरायी कि सम्राट की शक्ति अपनी प्रजा की सहमति पर आधारित होती है। रूसो, हीगल, ग्रीन—सभी ने अपने-अपने युग के मानसिक वातावरण को सार्वभौम-सार्वकालिक सत्य की गरिमा से मंडित करने का प्रयत्न किया। और जितना ही नाजुक समय होता है, सार्वभौमता पर उतना ही ज्यादा जोर दिया जाता है। आदमी अपनी विचारधारा को महत्ता दिलाने के लिए अविराम संघर्ष करता है कि कहीं ऐसा न हो कि जिस अनुभव को वह मान्यता दिलाना चाहता है, उसके विरोधी उसी का निषेध करने में सफल हो जायें।

इस तरह से देखें तो हमारा अपना युग भी पहले के युगों से भिन्न नहीं। यह बड़ी संकटमय संक्रान्ति का युग है—१५वीं और १८वीं शती के अन्त में जैसा हुआ था, आज भी एक नयी समाज-व्यवस्था अस्तित्व में आने के लिए घोर संघर्ष कर रही है। पुराने मूल्यों की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी है, और नये मूल्यों के निर्धारण के सिद्धांत अभी तक तय नहीं हो पाये। जैसा कि ऐसे हर मौके पर होता है, मनीषियों ने राजनीति की नींवों का अवलोकन किया है और राज्य के स्वरूप और कृत्यों की फिर से व्याख्या करने की कोशिश की है। वाद-विवाद का एक घटाटोप-सा छाया हुआ है जो क्रांति-युग के अभ्युदय का द्योतक है। कहीं लड़ाई के डंके बज रहे हैं, कहीं ऐसी शांति है जिसका लड़ाई से भेद कर पाना आसान काम नहीं! एक बड़ा जबर्दस्त आर्थिक संकट—जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं—सभी को अपने पंजों में जकड़े हुए है; रूस में समाजवादी राज की नींव पड़ चुकी है; सुदूर-पूर्व में एक नये, आक्रामक साम्राज्य का उदय हुआ है—इन सब घटनाओं ने आदमी
समस्याओं पर फिर से सोचने के लिए विवश कर दिया है जो मुश्किल से एक पीढ़ी
बिल्कुल तय की हुई सी मालूम पड़ती थीं; मानो उन पर झगड़े की कोई गुंजाइश ही
आज जो मसला सामने है वह राज्य के रूप का मामूली सा मसला नहीं; स्वयं उसके

स्वरूप और प्रकृति का मसला है। मेरे खयाल से हम इस विवेचना की अहमियत और गहराई को तब तक अच्छी तरह नहीं समझ सकते जब तक हम यह न महसूस करें कि यह ऐसा संकट है जिसमें समाज-रचना के चरम तत्त्व का प्रश्न निहित है।

राजनीति का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जो इससे अछूता हो। हम यहाँ कुछ ज्वलन्त उदाहरण ही लें—राज्य के हस्तक्षेप की सीमाएँ, लोकतंत्रीय परिकल्पना की मान्यता, शासन-योजना में कार्यांग का स्थान, प्रशासन और विधान-प्रक्रिया में विशेषज्ञ और इतर जनों का परस्पर संबंध, सामान्यतः विधि का स्वरूप और विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप, राजनीति में विवेक का स्थान, नेताओं का काम—ये सभी सवाल ऐसे हैं जिनके पुनर्मूल्यन और पुनराख्यान की जरूरत है। इन सभी के देखे, हम अभी एक ऐसे युग के प्रस्थान-विन्दु पर ही हैं, जो निस्संदेह राजनीति-दर्शन के इतिहास में निर्णायक महत्त्व का युग साबित होगा। और अभी विश्वासपूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि कितनी स्थिरता प्राप्त की जा सकेगी। उदार राज्य के विचार को प्रौढ अभिव्यक्ति का रूप पाने में कोई तीन सौ साल लगे थे—और उसका बोलबाला रहा सौ वर्ष से भी कम। अभी तक तो हम अपने इस युग के बारे में बस यही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उदार राज्य के सिद्धांत को जो चुनौती दी गई है, उसका दो टूक फ़ैसला होकर रहेगा। इस तरह के कोई साफ़-साफ़ सबूत नहीं, जिनसे पता चले कि विजय किस पक्ष की होगी।

हमारा अपना युग ऐसा युग है जिसमें संक्रांति काल का एक खास तरह का विभ्रम चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता बना हुआ है। नये सामाजिक दर्शन की आवाज़ बड़ी बुलन्द है, देवदूतों की कमी नहीं। प्रतियोगी सिद्धांतों के इस घटाटोप का मैं तो थोड़े से स्थान में वर्णन भी नहीं कर सकता; सही ग़लत का मूल्यांकन तो दूर की बात है। इस अध्याय में मैं, जितना साफ़-साफ़ मुझसे बन पड़ेगा, यह बताने की कोशिश करूँगा कि हमारे सामने जो उभर कर आता जा रहा है, वह मूल मसला है क्या?—और फिर अन्वेषण के चार महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के संदर्भ में मैं उसके स्वरूप को समझाने की चेष्टा करूँगा। ये चार क्षेत्र हैं—(१) क़ानून की प्रकृति; (२) बहुलवाद; (३) लोकतंत्रीय राज्य पर आघात; और अन्त में (४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के उदय से—जिनके साथ सौभाग्य या दुर्भाग्यवश, हमारा सबका भाग्य बँधा हुआ है—पैदा होने वाली खास समस्यायें।

—२—

कम-से-कम असल मसला बिल्कुल स्पष्ट और सीधा है; चुनौती दी गयी है राज्य के उदारवादी सिद्धांत को। इसमें माना गया है—और इसे यह रूप तीन सदियों के तर्क-वितर्क के बाद मिला है—कि किसी भी राजनीतिक समाज में, जहाँ अराजकता से बचना हो, एक सर्वोपरि सत्ता होनी चाहिए जो सभी को आदेश दे—आदेश ले किसी से नहीं। यह सत्ता प्रभु-शक्ति-संपन्न होती है और इसका प्रयोग किया जाता है राज्य के नाम पर उस सरकार द्वारा जिसको शासन का संचालन-भार सौंपा गया हो। इस उक्ति के औचित्य की अवधारणा अलग-अलग अपनी-अपनी थी। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि युद्ध के पहले ज्यों-ज्यों सार्वभौम मताधिकार पर आश्रित उदार लोकतंत्र पाश्चात्य सभ्यता का [illegible] उद्देश्य बना, यह दलील पेश की गई कि राज्य का आज्ञाकारित्व प्राप्त [illegible]

तीन कृत्यों के सम्पादन पर निर्भर है—(१) वह सुव्यवस्था स्थापित करे, (२) वह शान्तिपूर्ण परिवर्तन के उपाय दे और (३) वह ऐसा कुछ करे कि माँग की पुष्टि बड़े-से-बड़े पैमाने पर हो सके।

इस विचार से असहमति भी थी ही—सिद्धान्त के प्रति भी और उसके विवरणों के भी। लेकिन अधिकांश में सहमति भी इसी विचार के प्रति थी। पिछले बीस वर्षों में आघात पर आघात भी इसी विचार की नींव पर किये गये हैं और इतने व्यापक रूप से किये गये हैं कि इसके प्राधान्य के दावे पर भी अब सन्देह किया जा सकता है। आघात का मुख्य आधार इस बात का निषेध नहीं कि राज्य-शक्ति व्यवस्था का स्थापन करती है—इस बात को तो सभी मानते हैं। दलील यह दी जाती है कि राज्य के व्यवस्था बनाये रखने से जो कुछ प्राप्त होता है उससे शान्तिपूर्ण परिवर्तन की कोई राह नहीं निकलती और माँग की परितुष्टि बड़े से बड़े पैमाने पर नहीं हो पाती।

बल्कि यह दी जाती है कि असल में किसी भी राजनीतिक समाज में राज्य ही दबाव डालने की सर्वोच्च शक्ति होती है लेकिन हर असल उस समाज में उसका उपयोग किया जाता है उन लोगों के हितों की रक्षा और पोषण के लिए जिनके अधिकार में उत्पादन के साधन होते हैं। राज्य वर्ग-सबंधों की एक विशेष-व्यवस्था बनाये रखने की संकल्पना प्रकट करता है—उसके लिए वह दबाव डालने की अपनी सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करता है। अन्त में, देखा जाये तो यह शक्ति निहित रहती है राज्य की रक्षा-सेनाओं में। जब कोई और राह नहीं रह जाती तो उत्पादन-साधनों का स्वामित्व करने वालों की संकल्पना उन पर थोपने के लिए, जो इससे वंचित होते हैं, इस शक्ति का उपयोग किया जाता है। राज्य-शक्ति को चाहे किन्हीं दार्शनिक प्रयोजनों से मंडित किया जाये, असलियत यही है। किसी वक्त दबाव कम हो सकता है, किसी वक्त ज्यादा—यह इस बात पर निर्भर है कि समाज की आर्थिक दशा को देखते हुए स्वामित्व के विशेषाधिकारों से वंचित जनों की भौतिक सुख-समृद्धि के लिए कितनी रियायतें दी जा सकती हैं। लेकिन जिस राज्य में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व हो, वह अपनी निहित प्रकृति के वश—मैंने ऊपर जो उद्देश्य गिनाये हैं—उनमें से दूसरे और तीसरे की उपलब्धि नहीं कर सकता।

वह शान्तिपूर्ण परिवर्तन का तरीका नहीं देता। जिन लोगों के पास स्वामित्व के विशेषाधिकार होते हैं, वे—जैसे-जैसे उनमें एकबारगी संकोच होता है—उन्हें पूर्ववत् बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं और जो उनसे वंचित होते हैं, वे लोग निश्चय ही उनका विरोध करते हैं क्योंकि उनकी अपनी भौतिक समृद्धि बढ़ाने की आशा फलवती नहीं होती। उनके लिए सिर्फ एक ही रास्ता होता है कि वे इस निराशा से बच सकें और वह रास्ता है राज्य-शक्ति को हथिया लेने का ताकि उसका उपयोग वर्ग-संबंधों की पुनर्व्याख्या के लिए किया जा सके। इसमें शक नहीं कि सिद्धांत रूप से यह काम सार्वभौम मताधिकार पर [illegible] सांविधानिक पद्धति में शांतिपूर्वक भी हो सकता है। असल में इतिहास का साक्ष्य [illegible] कभी इस तरह की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न हुआ है संपत्ति के स्वामियों ने [illegible] क्रांति की चेष्टा की है क्योंकि अपनी संपत्ति के बल पर वे राज्य-[illegible] हैं। राज्य-शक्ति के उपयोग के संबंध में मतों के असामंजस्य का

फल होता है क्रांति। यह प्रवृत्या उन उद्देश्यों को यथावत् रखने और बदलने का संघर्ष होता है जिनकी ओर राज्य-शक्ति उन्मुख रहती है। जब तक राज्य-शक्ति का प्रयोग विधिक उपधारणाओं की समष्टि की पुष्टि के लिए होता रहेगा—जो वर्ग-संबंधों की किसी व्यवस्था-विशेष को जड़ बना डालते हैं; और स्थिति यह रहेगी कि वे लोग, जो समझते हैं कि उससे पोषित विशेषाधिकारों से उन्हें कोई फ़ायदा नही, उनके आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिणामों को अन्यायपूर्ण मानते हैं—तब तक यह संघर्ष अनिवार्य है। (चाहे उसका नतीजा कुछ भी क्यों न हो।)

दूसरे, इस संदर्भ में राज्य यथासंभव बड़े से बड़े पैमाने पर माँग का परितोष कराने का साध्य भी पूरा नहीं कर सकता। विधिक उपधारणाओं की दृष्टि से परितुष्ट माँग कारगर माँग होती है और उसका स्वरूप समाज-विशेष में संपत्ति की प्रणाली पर निर्भर होता है। पूँजीवादी राज्य की तरह जहाँ उत्पादन का मूल प्रेरणा-हेतु लाभ कमाना होता है, वहाँ वितरण की प्रक्रिया में न तो (अ) जितनी कुछ आम खुशहाली है, उस पर बराबर का दावा होगा; और न (आ) प्रतिफलों में अन्तर होने का कोई ऐसा सविवेक आधार होगा जो ऐसे 'श्रेयस्' के अनुकूल हो, जिसमें उन सभी की खुशहाली निहित हो, जिनके प्रति भेद-भाव बरता गया है। संक्षेप में, ऐसे समाज में वितरण का न्याय से कोई निहित संबंध नहीं होता। लेकिन इसका मतलब यह हुआ कि ऐसे समाज में राज्य की दबाव डालने की शक्ति का प्रयोग माँग के परितोष को लेकर भेदों को बढ़ावा देने के लिए किया जाता है, जो अन्याय हो सकती है और प्रायः होती है। इस स्थिति का एकमात्र उपचार राज्य को हथिया लेना और उसके पश्चात् उसकी विधिक उपधारणाओं की पुनर्व्याख्या करना ही है।

जैसा कुछ मैं समझता हूँ राज्य के श्रेण्य सिद्धांतों को पिछले वर्षों में यही चुनौती दी गई है। इसकी सामान्य रूप-रेखा पहले-पहल मार्क्स और एंगेल्स ने निर्धारित की और लेनिन की कृति 'स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' (राज्य और क्रांति) में उसका श्रेण्य पुनराख्यान हुआ। जहाँ तक मुझे मालूम है इसके प्रतिपक्षियों ने अभी तक इसका कोई समुचित उत्तर नहीं दिया है। (जैसे मिसाल के तौर पर) बोज़ाँके ने राज्य के आदर्शवादी सिद्धांत का जो प्रसिद्ध निबन्धन किया वह हमारे सामने के किसी प्रत्यक्ष राज्य की अपेक्षा एक संभाव्य कल्पनाश्रित राज्य का ही सूत्र बन कर रह गया है। एल.टी. हॉबहाउस द्वारा अभिव्यक्त उदार और प्रति-आदर्शवादी मत यह मान लेता है—परन्तु साबित नहीं करता—कि समय मिलने पर सामाजिक संघर्ष के मामलों में विजय हमेशा विवेक की ही होगी। लेकिन न तो बोज़ाँके का ही मत ऐसा है और न हॉबहाउस का जो भविष्य-कथन की वैज्ञानिक रीति का परितोष करता हो। मोटे तौर पर, राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत ने उसकी प्रवृत्ति और क्रिया-कलाप की ऐसी व्याख्या दी है कि हम निश्चयपूर्वक उसकी भावी गतिविधि बतला सकते हैं। मेरा अपना विचार है कि हमारे इस युग की समस्याओं के सूचक के रूप में मैदान इसी सिद्धांत के हाथ है।

निष्कर्ष यह निकला कि राज्य के श्रेण्य-सिद्धांतों के हिमायतियों को यह साबित करना चाहिए कि उनकी अपनी कल्पना में स्थित आदर्श राज्य ही नहीं वरन् हमारे चिर-परिचित इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और अमरीका आदि वास्तविक राज्य—अगर उनके [illegible]

सबंधों को यथावत् ही रहने दिया जाये—सबसे बड़े पैमाने पर माँग का परितोष करने में प्रकृत्या समर्थ हैं और इसी आधार पर अपने प्रजाजनों की निष्ठा प्राप्त करने का उन्हें नैतिक अधिकार है। मेरी समझ में नहीं आता कि हिटलरवादी जर्मनी में कुछ लोगों के लिए या फ़ासिस्ट इटली में किसी समाजवादी के लिए यह कहना कैसे युक्तियुक्त हो सकता है; वह नहीं मान सकते कि राज्य के घोषित प्रयोजनों में कोई ऐसे आशय निहित हैं जिनका संबंध उनके वास्तविक हित से हो। बात यह है कि कोई एक सदस्य राजनीतिक समाज के साध्यों का निष्कर्ष उसके प्रयोजनों की घोषणा के आधार पर नहीं निकालता, बल्कि उसके असली रूप के बारे में अपने अनुभव के आधार पर उसे परखता है। इस दृष्टि से, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, हम ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति में हैं—जिसकी तुलना सामन्ती युग के अन्त से अथवा फ्रांसीसी क्रांति के युग से की जा सकती है—जब लोग समाज की नींव के पुनर्निर्माण का प्रयत्न करते हैं। तब की भाँति अब भी वे तब तक ऐसा नहीं कर सकते जब तक उसके वर्ग-संबंधों की पुनर्व्याख्या न करें और उनकी पुनर्व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि राज्य-शक्ति पर अधिकार न हो क्योंकि पुनर्व्याख्या के साधन उसकी दबाव डालने की शक्ति में ही निहित होते हैं।

—३—

मैं समझता हूँ, हमारे सामने जो आम समस्या है, वह यही है। अब मैं अपने तर्क के परिणामों को विधि की प्रकृति की समस्या पर लागू करना चाहता हूँ। विधिज्ञ विधि को नियमों की समष्टि के रूप में देखता है जो उन सभी के लिए बाध्यकारी होते हैं जो उसके अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। वह बाध्यकारी क्यों है—इसके अलग-अलग जवाब दिये गये हैं। हॉब्स और आस्टिन के मुताबिक उसका आधार नियमों का पृष्ठ-पोषण करने वाली शक्ति थी; दबाव डालने वाली अनुशास्ति जिसका प्रयोग कोई और चारा न रह जाने पर, उनके विरुद्ध किया जा सकता है जो उसका अतिक्रमण करें। उन्होंने विशुद्ध क़ानून के एक आत्मावलम्बी सिद्धांत की स्थापना का प्रयत्न किया—जैसा हमारे अपने युग में केल्सन ने किया है[1]—जिसमें कहीं इतनी भी दरार न हो कि आचार अथवा समाज-शास्त्रीय विचार किसी ओर से प्रवेश पा सकें। इस मत के अनुसार क़ानून को न्याय से बिल्कुल अलग कर दिया गया—इस आधार पर कि इस न्याय की अवधारणा के साथ ऐसी अविधिक अवधारणाओं का समावेश हो जाता है, जिनका क़ानून की प्रकृति से कोई मेल नहीं। इस मत के मुताबिक, क़ानून की सत्ता का स्रोत अन्ततः एक शृंखला की चरम इकाई—राज्य—होती है और यह इकाई ऐसी उपधारणा है, जिसका परीक्षण संभव नहीं क्योंकि सत्ता का सर्वोपरि स्रोत होने के नाते उस पर शंका नहीं की जा सकती।

विधि के ऐकान्तिक सिद्धांत की उपधारणाओं को मान लें तो मैं समझता हूँ कि वह अकाट्य है पर मैं यह भी मानता हूँ कि उसकी कसौटी तर्क है, जीवन नहीं। हम जानते हैं कि असल में किसी भी समाज का क़ानून उसकी सामाजिक शक्तियों के वेग की अभिव्यक्ति होता है और उन शक्तियों को ध्यान में रखे बिना हम उसके सार या उसके प्रवर्तन को [illegible]। इसीलिए पिछले चालीस सालों में कम औपचारिक और अधिक यथा-[illegible] आन्दोलन बराबर वेगवान होता गया है। समाज-शास्त्र और क़ानून

का संबंध बराबर घनिष्ठतम होता गया है और औपचारिक अवधारणाओं का विधि-शास्त्र पूर्ववर्ती युग के कुछ अखाड़ियों को छोड़ किसी का परितोष नहीं करता।

इसकी जगह क्या होनी चाहिए ? क़ानून को बाध्यकारी मानते हैं—इसलिए कि वह उपयोगी होता है अथवा इसलिए कि उसमें विवेक मूर्तिमन्त होता है या इसलिए कि वह ख़ास-ख़ास नियमों में समाज के आम साध्यों की अभिव्यंजना करता है। या कारण यह हो सकता है कि उसमें व्यवहार की उन रीतियों की खोज रहती है, जिनका पालन करने से माँग का अधिकाधिक परितोष होगा। इस अध्याय में जो दृष्टिकोण है, उसके अनुसार इनमें से एक भी जवाब संतोषजनक नहीं। अगर कहें कि क़ानून उपयोगी है तो फ़ौरन सवाल होता है, 'किसके लिए उपयोगी है ?' और यह हमेशा ऐसा सवाल होता है, जिसके भाँति-भाँति के जवाब हो सकते हैं। यह कहने से कि उसमें विवेक मूर्तिमन्त रहता है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसमें किसका विवेक मूर्तिमन्त है ? यह कहते हैं कि उस में समाज के सामान्य साध्यों की अभिव्यंजना रहती है तो तुरन्त सवाल उठता है कि किसके द्वारा मान्य साध्य ?' संक्षेप में, पग-पग पर यह स्पष्ट है कि क़ानून का आदर्श प्रयोजन और उसके वास्तविक प्रयोजन—जैसा कि उनका वे अनुभव करते हैं जिन पर वह लागू होता है—आवश्यक रूप से एक नहीं होते।

लेकिन क़ानून का सामान्यतः पालन होता है। इस सामान्य पालन की बात का क्या समाधान है ? क्या इस का कारण डर है या आदत अथवा सहमति या उपादेयता ? इसमें शक नहीं कुछ हद तक ये सभी बातें सच हैं। लेकिन इन्हें कारण के रूप में पेश करने से विधि की प्रकृति समझ में नहीं आती। इसे समझने के लिए हमें सत्ता की प्रकृति को समझना पड़ेगा जिस पर वह अवलम्बित होती है। हक़ीक़त में वह राज्य की दबाव डालने वाली सर्वोपरि सत्ता ही होती है क्योंकि क़ानून का उल्लंघन हो तो उसे रोकने या दण्डित करने के लिए इसी शक्ति का आह्वान करना पड़ता है। लेकिन अन्ततोगत्वा राज्य का उद्देश्य होता है समाज में वर्ग-सम्बन्धों की किसी प्रणाली विशेष को बनाये रखना; जिन क़ानूनों के पीछे वह दबाव डालने वाली सर्वोपरि शक्ति का बल लगा दे उनका भी यही लक्ष्य होगा। अतः क़ानून ऐसे नियमों की समष्टि है जो राज्य के उद्देश्य की पूर्ति की ओर उन्मुख रहते हैं। नियमों का पालन इसलिए होता है कि प्रायः जो उन से विमत होते हैं वे ऐसी स्थिति में नहीं होते कि उन की पोषक सत्ता को चुनौती दे सकें।

मैं जो सवाल कर चुका हूँ उनके जवाब इस दृष्टिकोण से दिये जा सकते हैं। सामन्ती राज्य में क़ानून क़ानून इसलिए बनाया जाता है कि वह भूमि के स्वामियों के लिए उपयोगी होता है; विवेक जो उसमें मूर्तिमन्त है, वह उनका विवेक है; समाज के जिस सामान्य साध्य की वह पूर्ति करना चाहता है, सो उनकी इस धारणा के अनुसार है कि वह सामान्य साध्य क्या होना चाहिए; व्यवहार की जो रीतियाँ वह लागू करना चाहेगा वह उनकी ही धारणा पर आधारित होंगी कि माँग का अधिकाधिक परितोष कैसे हो ? ब्रिटेन की तरह के पूँजीवादी समाज में क़ानून का सार प्रधानतः सम्पत्ति के स्वामियों की मर्ज़ी से निर्धारित होगा। सोवियत रूस की भाँति समाजवादी समाज में क़ानून का सार-तत्त्व इस तथ्य के आधार पर निर्धारित होगा कि उत्पादन-साधनों के सामान्य स्वामित्व से वर्ग

के हित सम्पूर्ण समाज के हित के मातहत हो।

विधि-शास्त्र के क्षेत्र में हाल के काम से इस मत को ऐसा दर्जा मिल गया है जिससे पिछली पीढ़ी अपरिचित थी। एक मार्के की मिसाल लें—निषेधाज्ञा के प्रयोग में, चौदहवें संशोधन की व्याख्या में, औद्योगिक षड्यन्त्र को जिह्न की श्रेणी में समाविष्ट करने में, अबाध भाषण और अप्रतिबन्ध मिलने-जुलने से सम्बन्धित हक के बारे में अमरीकी अदालतों की कार्यवाहियों में सर्वत्र यह धारणा व्याप्त है—जो प्रायः न्यायाधीशों में व्यक्तिगत रूप से चेतनावस्था में नहीं होती—कि असल में कानून का प्रयोजन विद्यमान वर्ग-सम्बन्धों को बनाये रखना होता है; उसके घोषित आदर्श चाहे कुछ भी हो। क़ानून में यह परिलक्षित होता है कि राज्य की दबाव डालने की सर्वोपरि शक्ति का प्रयोग इसी साध्य के लिए होता है, किसी और के लिए नहीं। इसमें शक नहीं कि सिद्धान्तों के स्थूल विवरण के तौर पर अमरीकी सांविधानिक कानून काफ़ी परिवर्तनशील है। जब जज इसे लागू नहीं कर पाते तो आम तौर से उसमें ऐसा विचार व्याप्त होता है जो क़ानून की त्रुटियों की राह से वर्ग-सम्बन्धों में किसी परिवर्तन के समावेश को रोकता है।

ब्रिटेन के बारे में भी यही बात सच है। श्रमिक संघ कानून की व्याख्या, कामगारों के मुआवजे से सम्बन्ध रखने वाला अधिकांश कानून; मलाशी सम्बन्धी क़ानून, बोलने और मिलने-जुलने के स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित क़ानून (खास तौर से इन पिछले कुछ नाजुक वर्षों में)—इन का अर्थ न्यायाधीशों के इस विश्वास पर आधारित होता है कि विद्यमान समाज-व्यवस्था (यानी वर्ग-सम्बन्धों की वर्तमान प्रणाली) बनाये रखी जानी चाहिए। मूल रूप में देखें, तो क़ानून की सिर्फ़ मार्क्सवादी व्याख्या ही उसके तत्त्वों को आलोकित कर सकती है। यानी जब तक वर्गहीन समाज न हो तब तक क़ानून के सामने बराबरी नहीं हो सकती—अगर होगी तो बहुत ही संकुचित औपचारिक अर्थ में। जिस समाज में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है उसमें क़ानून की अघोषित मान्यता यह होती है कि वर्ग-सम्बन्धों की प्रणाली को बनाये रखना अनिवार्य है ताकि निजी स्वामित्व के विशेषाधिकार उनके स्वामियों के पास अक्षुण्ण बने रहें।

यह भी कह दिया जाये कि दोनों में से किसी भी बात से यह निष्कर्ष बेकार नहीं हो जाता। क़ानून का जानकार एकविधता की खोज में रहता है जिस के फलस्वरूप एक ऐसी विधि-व्यवस्था का निर्माण होता है जिस में आन्तरिक युक्तियुक्तता हो—जिह्न-विधि का इतिहास इसकी एक दिलचस्प मिसाल है। लेकिन एकविधता की खोज की उपादान पर प्रतिक्रिया के बावजूद किसी भी समाज में किसी भी वक्त उसके प्रयत्नों को असली रूप में ढालते हैं उत्पादन के सम्बन्ध ही—यह नितान्त अनिवार्य है। न वह निष्कर्ष इस बात से अपनी मान्यता खो देता है कि अधिकांश अन्य लोगों की तरह विधिज्ञ भी जिन नियमों का विकास करते हैं उन्हें उन में समाज की भलाई दीखती है। समाज की भलाई वे खोजते हैं अपनी समझ के अनुसार; और भलाई के बारे में उनकी अपनी समझ [illegible] अनुभव के अनुरूप होती है जो उत्पादन-सम्बन्धों के बीच उन्हें प्राप्त होता है। [illegible] संहिता के निर्माताओं, चीफ़ जस्टिस मार्शल, बैरोन-ब्रामवेल और लार्ड फारवेल [illegible] ने-वाले पर उन के आर्थिक दर्शन की स्पष्ट छाप है। इनमें से प्रत्येक ने

अपनी सुयोग्यता के अनुसार क़ानून की सेवा की लेकिन प्रत्येक ने उसमें वर्गगत पूर्व मान्यताओं का समावेश किया जिन में वे बँधे हुए थे। कभी-कभार श्री जस्टिस होम्स जैसा कोई बिरला व्यक्ति उन सीमितताओं से ऊपर उठने की असाधारण शक्ति का परिचय सकता है। लेकिन हमारे यहाँ न्यायांग की नियुक्तियों और तरक्कियों के तरीके को देखते हुए कहा जा सकता है कि ऐसे असाधारण व्यक्ति अक्सर इतने सफल वकील नहीं होते कि कभी जज की कुर्सी तक पहुँच पायें।

अतः ठीक जैसे राज्य-विषयक सिद्धांत में संकट-काल छाया हुआ है वैसे ही क़ानून विषयक सिद्धांतों में भी है। उसके विशिष्ट अवस्थानों में एक भी ऐसा नहीं जो बिना चुनौती पाये निकल गया हो। खास बात ध्यान देने की यह है कि मुख्य समस्या से निपटने के लिए क़ानून के उदार सिद्धांत—जो क़ानून के नये समाज-शास्त्रीय संबंधों का उपयोग करते हैं—पुराने सिद्धांतों की अपेक्षा कम असहाय नहीं। उदाहरण के लिए डीन पाउण्ड ने बड़े अध्ययन के बाद उत्साहपूर्वक क़ानून के 'इंजीनियरी' सिद्धांत का सुझाव दिया है। इसकी परिभाषा उसने यों दी है : "मानव-सकल्पनाओं के अमूर्त सामंजस्य की बात न सोचें बल्कि मानव हितों की मूर्त सिद्धि या लब्धि का विचार करें?"[1] लेकिन डीन पाउण्ड उस समाज के अनिवार्य परिणामों से इस 'मूर्त सिद्धि या लब्धि' के सम्बन्धों का कहीं विचार नहीं करते जिस की वर्ग-संघटना में 'मानव-हितों' की लब्धि या सिद्धि उन्हीं तक सीमित रह जाती है जो कारगर माँग पेश कर सकते हैं—यानी संपत्ति के स्वामियों तक। असल में कोहलर की तरह मूल में उसका समूचा दर्शन एक हीगली युक्ति है कि क़ानून में उस रहस्य-मय तत्व—नये युग की भावना—का संनिवेश रहना चाहिए। लगता है वह मानो क़ानून को एकदम अद्यतन रखना चाहते हैं लेकिन वह इस बात को बिलकुल समझ नहीं पाये कि यह भी समस्त हीगली दर्शन की तरह से किसी भी समय किसी भी समाज की यथावत् स्थिति को रीतिबद्ध करने जैसा है। मार्क्स की भाँति डीन पाउण्ड ने यह नहीं देखा कि विधि-संबंध वर्ग-संबंधों में आबद्ध है और ऐसा करके उन्होंने इस समस्या का अनिवार्य समाधान खो दिया कि किन्हीं खास वर्ग-संबंधों के समाज में अथवा ऐसे समाज में जहाँ एक वर्ग का दूसरे पर आधिपत्य न हो कौन-से 'मानव हित' की 'सिद्धि या लब्धि' होगी।

नये दृष्टिकोण में निश्चय ही विश्लेषण का एक भिन्न तरीका अपनाया गया है। वह हमेशा क़ानून को वर्ग-सम्बन्धों की एक खास प्रणाली की हिमायत करने वाले राज्य के संदर्भ में देखता है और सदा इसी संदर्भ में उसे अपने आवश्यक तत्व का सूत्र मिलता है। इस मत के अनुसार क़ानून व्यवहार के वे नियम हैं जो समाज की वर्ग-संघटना के प्रयोजनों को आरक्षित रखते हैं और जिन का, अगर ज़रूरत पड़े, तो राज्य की दबाव डालने की शक्ति द्वारा पालन कराया जाये। जब तक कि उत्पादन के सम्बन्धों द्वारा समाज की समस्त सम्भाव्यताओं का लाभ उठाया जा सकता हो तब तक उनका पालन होता है; जब उत्पादन की शक्तियों का उत्पादन-संबंधों में द्वंद्व होता है और इस प्रकार का लाभ उठाना संभव नहीं रह जाता तो उन्हें चुनौती दी जायेगी। जब भी यह द्वंद्व पैदा होता है, क़ानून की नींवों

---

1. स्पिरिट ऑफ़ दी कॉमन लॉ—पृ० १९५।

के प्रति शंकाएँ उठने लगती हैं। उनके पुनर्निर्माण लिए संघर्ष होता है और अगर क़ानून को चुनौती देने वाले अपने प्रयत्न में सफल हो जायें तो वे समाज की विधिक उपधारणाओं की पुनर्व्याख्या के लिए राज्य-शक्ति का उपयोग करते हैं। न्यायिक चिन्ताधारा की गति को—उसकी आधारभूत रूपरेखा में—एक ऐसी अवधारणा के आधार पर समझाया जा सकता है।

— ४ —

युद्ध और उसकी तात्कालिक विभीषिकाओं के दौरान में कुछ विचारकों ने—जिन्हें प्रायः बहुलवादी कहते हैं—राज्य की प्रभु-सत्ता पर आक्षेप किया था। इस वाद को सूत्रबद्ध करने में कदाचित् मेरा योग किसी से कम न था। अतः मेरे लिए यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि उस आक्षेप का स्वरूप क्या था और वह किस प्रयोजन से किया गया था।

उसके मूल में दो चीज़ें थी। राज्य क़ानूनी सर्वशक्तिमत्ता का दावा करता था और वह इस आधार पर अपने नागरिकों से अपने प्रति निष्ठा का दावा करता था कि वह अपने प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र में समाज के समग्र हित का प्रतिनिधित्व करता है। बहुलवादियों ने कहा कि क़ानूनी सर्वशक्तिमत्ता एक कतई औपचारिक अवधारणा है, जो अक्सर यथार्थ में बेकार होती है और उन्होंने युक्ति दी कि नागरिक की निष्ठा पर राज्य का दावा आपूर्व मान्य नहीं हो सकता क्योंकि असल में आदमी की निष्ठा एकमुखी तो होती नहीं अनेकमुखी होती है; उनके सामने अक्सर ऐसे विकल्प आ जाते हैं जब कि उन्हें राज्य को औपचारिक प्रमुखता और प्राधान्य दिये बिना फ़ैसले करने पड़ते हैं। अतः बहुलवादियों ने तर्क दिया कि राज्य चाहे कितना ही गौरव और शक्ति-संपन्न हो, वह बस समाज की अनेक संस्थाओं में से एक है और अनुभव की बात यह है उस की शक्तियों की भी सीमाएँ होतीं हैं: यह सीमाबन्दी होती है राज्य के साध्य प्रयोजन और उस प्रयोजन के बारे में आदमी की अपनी परख के संबंध के आधार पर। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि राज्य आज्ञाकारिता पाने का हक़दार इस आधार पर नहीं कि वह संकल्पना करता है बल्कि इस आधार पर है कि अपने अनुभवों से जनित माँगों के परितोष के लिए प्रयत्नशील लोगों के तजुर्बे के संपर्क में आकर वह क्या संकल्पना करता है?

इतिहास की बात है कि कुछ हद तक तो यह बहुलवाद स्पष्टतया युद्ध-काल में राज्य की मोलोच[*] सरीखी माँगों की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मा था। कुछ कारण यह भी था कि यह महसूस किया गया कि राज्य के प्राधान्य के दावे का मतलब हमेशा सरकार की प्रभुता होता है और सरकार जिन लोगों से मिलकर बनती है वे अच्युत नहीं होते; उनके इरादे मात्र इतने बड़े दावे के लिए पर्याप्त आधार नहीं समझे जा सकते। बहुलवाद के आविर्भाव में धर्म और राज्य तथा श्रमिक संघ और राज्य के द्वंद्व पर और व्यक्ति—जैसे सैनिक सेवा का अपने अन्तरतम से विरोध करने वाले व्यक्ति—तथा राज्य के द्वंद्व पर [illegible] ऐतिहासिक विश्लेषण का हाथ रहा है।

---

[*] [illegible] देवता जिसके समक्ष नर-बलि दी जाती थी।

अब मैं सोचता हूँ कि बहुलवाद में ये बातें सही थीं कि (१) राज्य के संबंध में कोई विशुद्ध क़ानूनी सिद्धांत राज्य के समुचित दर्शन का आधार नहीं बन सकता; (२) नैतिक अधिकार या राजनीतिक बुद्धिमत्ता के बल पर राज्य किसी अन्य संथा की अपेक्षा हमारी निष्ठा पाने का अधिक हक़दार नहीं है; और (३) उसकी प्रभु-सत्ता मूल में उस शक्ति की ही अवधारणा होती है जो दबाव का प्रयोग करके वैध बनाई जाती है और यह दबाव-शक्ति अपने आप में नैतिक दृष्टि से तटस्थ होती है। एक सावयव पूर्णता के रूप में समाज बहुल-वादी होती है; राज्य की पुंजीभूत शक्ति, जिसे हम प्रभु सत्ता कहते हैं—बॉडिन के शब्दों में सबको आदेश देने और किसी से आदेश न पाने का क़ानूनी अधिकार—इस बात से एक-वादी बन जाती है (जैसे कि श्रेण्य विधि-सिद्धांत में) कि प्रायः सदा ही उसकी संकल्पना के पीछे अपनी आज्ञा मनवा लेने की दबाव-शक्ति का बल रहता है।

अब मेरे सामने बहुलवाद की कमज़ोरी भी एकदम स्पष्ट है। इसने वर्ग-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति के रूप में राज्य के स्वरूप को काफ़ी अच्छी तरह नहीं समझा। उसने इस बात पर भी काफ़ी ज़ोर नहीं दिया कि उसे निश्चय ही अखंडित और अनुत्तरदायी प्रभुता की माँग करनी होगी क्योंकि और कोई ऐसा रास्ता नहीं कि वह समाज की विभिन्न विधिक उपधारणाओं को निर्धारित और नियंत्रित कर सके। उन्हें निर्धारित और नियंत्रित करने से ही वर्ग संबंधों की किसी प्रणाली विशेष के प्रयोजनों को समझा जा सकता है। अगर राज्य प्रभुता-संपन्न न रहे तो वह उन प्रयोजनों को क्रियान्वित करने की स्थिति में भी नहीं रह जाता। अतः उसके प्राधान्य का दावा अनिवार्यतः इसी आधार पर होता है। हीगल जैसे दार्शनिकों ने उसे जिन नैतिक विशेषताओं से मण्डित कर दिया है वे किसी भी देश-काल में उत्पादन संबंधों की अभिव्यक्ति के रूप में राज्य जो साध्य-पूर्ति करता है उसके संरक्षक मुलम्मे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

यह बात समझ लेने के बाद—मेरा यह मत है कि—बहुलवाद का प्रयोजन एक व्यापकतर प्रयोजन में सन्निहित हो जाता है। जैसा मैंने यहाँ कहा है अगर सच यही है कि राज्य अनिवार्यतः उस वर्ग का उपकरण भर है जिसका उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व होता है तो बहुलवादी का लक्ष्य वर्गहीन समाज होना चाहिए। वैसा हो तो उसकी सर्वो-परि दबाव-शक्ति के लिए कोई गुंजाइश नहीं क्योंकि उसकी कोई ज़रूरत नहीं। तब ऐसे समाज का भावन करना संभव हो सकता है जिस में (अ) सामान्य हित पर आदमी का बराबर दावा हो और (आ) उस बराबर दावे का तकाज़ा हो तो विभेद इस तरह किया जा सकता है कि जिन के विरुद्ध विभेद किया जाये उनका हित जिन के पक्ष में विभेद किया जाये उनके हित में ही संनिविष्ट हो। ऐसे समाज में हम संपत्ति पर आश्रित उन द्वंद्वों को दूर कर सकते हैं जो—जैसा कि जेम्स मैडीसन ने समझा और कहा था—"कलह के एक मात्र असली कारण होते हैं।" ये ही द्वंद्व राज्य-दबाव के इतने विशाल उपकरण को आम-तौर से जरूरी बना देते हैं। अगर द्वंद्व का असली आधार इस प्रकार दूर हो जाये तो ऐसे सामाजिक संगठन का भावन किया जा सकता है जिस में समाज के सच्चे सांघानिक स्वरूप को संस्था के रूप में अभिव्यक्ति मिले। और ऐसे सामाजिक संगठन में, सत्ता बहुलवादी हो सकती है—रूप में भी और अभिव्यक्ति में भी। बड़े बड़े संस्थागत परिवर्तनों की

प्रत्याशा तुरन्त दृष्टिगोचर हो उठनी है।

इस दृष्टिकोण से जो समस्याएँ पैदा होती हैं उनकी सविस्तार विवेचना करने के लिए यह उपर्युक्त प्रसंग नहीं है। मेरे लिए शायद इतना कह देना काफ़ी है कि मैं अब यह समझता हूँ (जहाँ तक, कम से कम, मेरा अपना संबंध है) कि राज्य और क़ानून के प्रति बहुलवादी दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण की स्वीकृति के मार्ग का एक अवस्थान था। मार्क्सवाद के ही सहारे मैं फ़ासिस्ट देशों की जैसी राज्य-संरचना को समझ-समझा सकता हूँ। वह अपने दबाव-संयन्त्र के ढाँचे में व्यक्ति को संपूर्णतः कवलित कर लेना चाहता है—वहाँ राज्य नग्न और निर्लज्ज रूप में ठीक वही है जो वह ब्रिटेन और अमरीका जैसे पूँजीवादी लोकतंत्रों में प्रच्छन्न और विनत रूप में है। उसकी शक्ति को सीमित करने के लिए—जैसा कि बहुलवादी चाहते थे—हमें समाज की वर्ग-संघटना नष्ट करनी होगी क्योंकि राज्य तो समाज में केवल उस वर्ग का कार्योपकरण होता है जिस के अधीन उत्पादन के साधन हुआ करते हैं। जब इस मार्ग में वर्ग-समाज का ही तिरोधान हो जाएगा तो एक सर्वोपरि दबाव-साधन के रूप में राज्य की ज़रूरत ही न रह जायेगी—मार्क्स के शब्दों में वह 'क्षीण हो जायेगी।' यह हो गया तो सत्ता के स्वरूप और उसके नियत क़ानून दोनों में ही मौलिक परिवर्तन होगा।

—४—

युद्ध-काल में यह व्यापक मान्यता थी कि लोकतंत्र की सार्वभौम लब्धि आदमी का सबसे बड़ा राजनीतिक उद्देश्य है; लड़ाई के बाद लोगों के मन पर से इस भावना का साम्राज्य घटता जा रहा है। आज राजनीतिक सिद्धांत में जो संभ्रम फैला हुआ है उसका कारण काफ़ी हद तक यह है कि हमारे ज़माने के मानसिक वातावरण के इस परिवर्तन से जो समस्याएँ पैदा हुई हैं उनका सही-सही शब्दों में आख्यान नहीं किया जा सका। लोगों से एक औपचारिक राजनीतिक लोकतंत्र को अपने आप में अच्छा मान कर स्वीकार करने की अपेक्षा की गई है और इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि वह औपचारिक राजनीतिक लोकतंत्र किस प्रकार के जटिल आर्थिक संबंधों में आबद्ध है।

सोवियत रूस को छोड़कर आधुनिक संसार के प्रत्येक राज्य में राजनीतिक विश्लेषण का आरम्भ बिन्दु यह अनिवार्य तथ्य है कि वहाँ पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति का प्रसार है। उत्पादन-साधनों के स्वामी कुछ गिने-चुने लोग होते हैं। एक ओर तो आर्थिक शक्ति का यह इतना संकुचित आधार है और दूसरी ओर इसके बिल्कुल विपरीत राजनीतिक शक्ति का इतना व्यापक आधार जो—इंगलैंड और अमरीका की तरह—प्रायः सार्वभौम मताधिकार पर आश्रित होता है। यह अन्तर बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका मतलब यह है कि पूँजीवादी समाज में उत्पादन के प्रेरक-हेतु उस सैद्धांतिक साध्य से मेल नहीं खाते जो लोकतंत्र का लक्ष्य होता है। पूँजीवादी समाज में उत्पादन का प्रेरक-हेतु होता है लाभ-उत्पादन-साधन के स्वामी का लाभ। लोकतंत्र में नागरिक अपनी राजनीतिक शक्ति के [illegible] भौतिक खुशहाली बढ़ाने के लिए राज्य-सत्ता का उपयोग करना चाहता

जब तक पूंजीवाद के फैलाव का दौरदौरा जारी रहा तब तक तो आर्थिक अल्पतंत्र और राजनीतिक लोकतंत्र का यह गठबंधन सुचारु रूप से चलता रहा। ब्रिटेन और अमरीका में उसे जो सफलताएँ मिलीं सभी को विदित हैं—यहाँ इनके वर्णन की जरूरत नही। लेकिन आम तौर से पिछले तीस वर्षों में—और विशेषतः लड़ाई के बाद से पूंजीवाद के संकुचन का दौर शुरू हो गया है और इस दौर से अब बाहर निकल पाने की न तो उसमें सामर्थ्य ही प्रतीत होती है और न वैसी कोई संभावना ही है। उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ती चली जा रही है—उसकी मानो कोई सीमा नहीं; उसकी वितरण-शक्ति बराबर कम कारगर होती जा रही है। स्वामित्व की प्रणाली का—जिससे उत्पादन-संबंध जनित होते हैं—उत्पादन की शक्तियों से विरोध है। हमारे पास जो साधन मौजूद हैं अगर उनका पूरा-पूरा लाभ उठाना है तो सामन्ती युग के अन्त की तरह से वर्ग-संबंधों की पुनर्व्याख्या करना आवश्यक हो गया है।

परन्तु यहाँ पूंजीवादी लोकतंत्र की कठिनाइयाँ उभर कर सतह पर आ जाती हैं। पूंजीवादी का सरोकार तो लाभ है से, जनता का ध्येय है भौतिक खुशहाली। जब आर्थिक प्रणाली के संकोच से मुनाफ़ा कमाना सीमित हो जाता है तो इसका फल होता है एक तो बेरोजगारी और दूसरे रहन-सहन के स्तर का नीचा होना। कुछ अरसे तक तो इसे सुलटा जा सकता है। लेकिन कभी न कभी जनसाधारण अपनी राजनीतिक शक्ति का सहारा लेकर यह आग्रह करता है कि उसकी भौतिक खुशहाली बढ़े और उसे प्राप्त करने को वह वर्ग-संबंधों पर आक्रमण करने के लिए मजबूर हो जाता है। तब उनकी राजनीतिक शक्ति स्वामिवर्ग की आर्थिक शक्ति के लिए एक चुनौती सी हो जाती है। स्वामि-वर्ग के पास तब एक तो यह रास्ता है कि वह राज्य की विधिक उपधारणाओं की पुनर्व्याख्या में शांतिपूर्वक सहयोग करे या फिर लोकतंत्र-प्रणाली का दमन करे जिस में जनता की मत शक्ति से उनके विशेषाधिकार खतरे में पड़ जाते हैं।

लोकतंत्र-प्रणाली के दमन का क्या मतलब होता है, फ़ासिज्म का अभ्युदय इसका एक उदाहरण है, जैसे इटली और जर्मनी में। बहुमत का यह फ़ैसला करने का अधिकार नष्ट हो जाता है कि वह कैसे शासित हो। श्रमिक वर्ग की निजस्विक संस्थाओं—श्रमिक-संघ, सहकारी समितियाँ, समाजवादी दल—का तख्ता पलट दिया जाता है। फ़ासिस्ट पार्टी—अक्सर बड़े बड़े व्यापारियों और राज्य की रक्षा-सेनाओं से गठबंधन करके—तब इस स्थिति में होती है कि आर्थिक शक्ति के आधिपतियों के स्वार्थ-साधन के लिए राज्य का संविधान बदल डाले। तानाशाही की स्थापना होती है और हाँ, एलान तो बराबर यही किया जाता है कि जो कुछ किया गया है सारे समाज की भलाई की दृष्टि से किया गया है पर ध्यान देने की बात यह है कि उस के नतीजे हमेशा (१) विरोधी तत्वों के बलपूर्वक दमन पर अवलम्बित होते हैं और (२) जनता के रहन-सहन का स्तर गिर जाता है। फ़ासिस्ट तानाशाही आतंक डालने की सीधी-साधी युक्ति द्वारा जनता को अधिक भौतिक समृद्धि की अपनी माँग छोड़ देने पर विवश कर देती है और इस प्रकार पूंजीवाद और लोकतंत्र का विषम गठबंधन कर देती है। इस प्रक्रिया को भली भाँति समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि इस के अधीन भी पूंजीवाद के विशिष्ट [illegible]

यथावत् रह जाते हैं।

इस दृष्टिकोण से हमारे जमाने में लोकतंत्र की समस्या अपेक्षाकृत सरल है। ऐसा कोई अकाट्य सबूत नहीं जिस से पता चले कि शासन की प्रणाली के रूपमें वह अतीत की अपेक्षा किसी तरह कम कारगर है। हुआ असल में यह है कि पूंजीवाद के सिकुड़ने के दौर में दाखिल हो जाने से एक ओर तो आर्थिक अल्पतंत्र के और दूसरी ओर राजनीतिक लोकतंत्र के साध्यों का परस्पर विरोध उभर कर जीवन्त रूप पा गया है। इस विरोध से स्वामि-वर्ग की सुरक्षा खतरे में पड़ गई है। वे लोकतंत्र प्रणाली को इसी आलोक में देखने लगते हैं। उनका आग्रह है कि पूंजीवाद का जो सेव्य साध्य है लोकतंत्र उसके अनुरूप रहे। वे समझते हैं कि ये सब अस्थायी हैं और इसी विश्वास पर बलिदान की मांग करते हैं; जब उनके अस्थायी स्वरूप पर संदेह होने लगता है तो वे जिस आलोचना या आक्षेप से डरते हैं उसे दबाने के लिए राज्य-शक्ति का प्रयोग करने लगते हैं। अगर इन कार्यवाहियों से भी उस सरक्षा की जड़ें नहीं जमती—जिसको चुनौती दिये जाने का उन्हें डर रहता है—तो इटली और जर्मनी की तरह वे खुले तौर पर राजनीतिक लोकतंत्र में विश्वास त्याग देते हैं।

खरी बात कही जाये तो निस्संदेह यह स्थिति उन सबसे कहीं अधिक जटिल है जो मैंने अबतक सामने रखने का प्रयत्न किया है—विशेषतः अपने मनोवैज्ञानिक पहलुओं में। लेकिन मैं समझता हूँ अपनी स्थूल रूपरेखाओं में यह लोकतंत्र की वर्तमान समस्या की कुंजी है। १९२७ के ब्रिटिश श्रमिक संघ कानून संशोधन अधिनियम जैसे विधान इसी के आधार पर समझे जा सकते हैं; या प्रैजीडेंट रूजवेल्ट का इतना कुछ विधान असांविधानिक घोषित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय का उपयोग भी इसी के सहारे समझ में आ सकता है। जब श्री जस्टिस राबर्ट्स १९३४ का रेलरोड रिटायरमेंट एक्ट इस बिना पर असांविधानिक घोषित कर सकते हैं कि पांचवें संशोधन के अधीन "प्रयोग में लाये जाने वाले साधनों का" शक्ति के प्रतीयमान प्रयोग से काफ़ी संबंध[१] नहीं, तब असल में "काफ़ी" और "प्रतीयमान" के बारे में कांग्रेस की बजाय वे अपनी धारणा को मान्यता दे देते हैं; इन शब्दों द्वारा कांग्रेस की सत्ता को तो सकीर्ण बनाया जाता है और अदालती व्याख्या को और अधिक छूट दी जाती है। इस बात को दूसरी तरह से कह सकते हैं : श्री जस्टिस राबर्ट्स का तर्क यह है कि पांचवें संशोधन की इबारत वैसी हो जैसी वह स्वयं चाहते हैं; रेल के हिस्सेदार अपने कर्मचारियों को पेंशन देने से बच जायें चाहे भले ही कांग्रेस की मान्यता यह हो कि उन्हें यह क़ानूनी जिम्मेदारी सँभाल लेनी चाहिए। इस दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय का काम यह हो जाता है कि वह जनता की भौतिक खुशहाली बढ़ाने के वैधानिक प्रयत्नों के परिणाम से पूंजी के अधिनियमों की रक्षा करे। प्रैजीडेंट रूजवेल्ट के संपूर्ण विधान को लें तो उसके प्रति अदालतों के रुख का वर्णन मोटे तौर पर इस तरह किया जा सकता है कि उनका आग्रह है कि राजनीतिक लोकतंत्र पूंजीवादी समाज की आदतों से

---

[१] रेलरोड रिटायरमेंट बोर्ड बनाम आल्टन आर० आर० (१९३५) २९५ यू० [illegible]—८। इस विषय में प्रो० टी० आर० पॉवेल की अत्यन्त तीखी टिप्पणी [illegible] रिव्यू—, नवम्बर, १९३५।

कोई खास छेड़छाड़ न करे। इस रुख का महत्व इस लिए और ज्यादा है कि प्रैज़ीडेंट रूज़-वेल्ट ने उन आदतों के उच्छेद का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि सामूहिक कल्याण के लिए सिर्फ़ वे ही रियायतें दीं हैं जो उनके ख्याल से, पूँजीवादी समाज की स्थिरता को भी बनाये रखेंगी। मूलतः सर्वोच्च न्यायालय का कथन यही है कि कि जब भी वह उचित समझे 'काफ़ी' के बारे में अपनी धारणा के बजाय प्रैज़ीडेंट की अथवा कांग्रेस की धारणा को स्वीकारा जा सकता है। संक्षेप में, लोकतंत्रीय अभियान के जिस प्रयत्न को वह पसन्द न करे उसी के विरुद्ध वह पूँजीवाद की रक्षा-प्राचीर बन सकता है।

ब्रिटेन की स्थिति तत्वतः तो यही है, परन्तु उसका रूप भिन्न है। वहाँ श्रमिक पार्टी की समस्या है जब कभी भी उसे हाउस आफ़ कामन्स में बहुमत प्राप्त हो तो वह लोक-तंत्रीय शासन की वैधता क़ायम रखे—चाहे वह समाजवादी विधान का प्रयत्न भी भले ही करता हो। उसके विरोधी ऐसे प्रयत्न के खिलाफ़ ताज की, हाउस आफ़ लार्ड्स की और पूंजी-निवेशी-वर्ग की शक्ति संघटित करने के लिए तत्पर रहते हैं। यह बड़ा गंभीर प्रश्न है कि श्रमिक पार्टी—सरकार के रूप में—इन शक्तियों के गठबंधन कर लेने पर इन्हें चुनौती दे कर सफल हो सकती है या नहीं। इसी के समानान्तर स्थिति फ्रांस में है—बारीकियों में भले फ़र्क़ हो और यद्यपि स्कैण्डिनेविया में समाजवादी सरकारें हैं पर महत्व की बात यह है कि उन में से किसी ने समाजवादी विधेयक आदि लागू करने का साहस नहीं किया। युद्धोत्तर अनुभव से एक बात तो साफ़ हो गई है—पूँजीवाद लोकतंत्र को दबाने के लिए तैयार है, उसके अन्तर्गत वर्ग-संबंधों की प्रणाली में स्वामित्व को प्राप्त विशेषा-धिकार तजने को नहीं। असलियत तो यह है कि आधुनिक इतिहास में अब तक कोई भी राज्य क्रांति के बिना अपना वर्ग-आधार बदल नहीं सका। लोकतंत्र में संकट-काल इसलिए है कि पूँजीवादी संकुचन के इस दौर में लोकतंत्र के साथ उसका संश्रय संपत्ति के स्वामियों के लिए खतरनाक है—वे अतीत की तरह अब भी अपने विशेषाधिकारों के लिए लड़ना पसन्द करते हैं, समर्पण कर देना नहीं। १९१० के बाद के सोवियत रूसी इतिहास से इस व्याख्या को और भी बल मिल जाता है।[1]

—६—

युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मुख्य समस्याएँ ऐसी हैं, जो आर्थिक संबंधों में निहित हैं। वैज्ञानिक प्रगति, विशेषतया, संचार साधनों की अद्भुत में प्रगति के कारण सारा संसार एक इकाई बन गया है; और ऐसी परिस्थिति में किसी राज्य का जीवन ऐसा नहीं हो सकता जिस का प्रभाव केवल उसी तक सीमित रहे। चाँदी के संबंध में अमरीका की नीति से चीन की आर्थिक स्थिति का निर्धारण हो सकता है; टंगस्टन पर कैनाडा का एकाधिकार होने से इस बात का निर्णय हो सकता है कि जर्मनी की पुनश्शस्त्रीकरण-नीति प्रभावशाली रहेगी या नहीं; और ब्रिटेन द्वारा सोने को अपनी मुद्रा का आधार बनाने की पद्धति छोड़

---

१. यहाँ जिन समस्याओं पर संक्षेप में विचार किया गया है अपने 'डेमोक्रेसी इन क्राइ-सिस' (१९३३) और 'स्टेट इन थियोरी एन्ड प्रैक्टिस' (१९३५) में मैंने उनका विशद विवेचन किया है।

देने से या उसकी सीमा-शुल्क संबंधी नीति से स्कैण्डेनेविया के देशों के आर्थिक जीवन का निबटारा हो सकता है। आज के युग में सभी राष्ट्र एक दूसरे पर इतने निर्भर हो गये हैं कि विदेशों के साथ संबंधों के क्षेत्र में प्रभुता के सिद्धांत के परिणाम उस काल की अपेक्षा सर्वथा भिन्न हैं जब कि ग्रोटियस और उन के शिष्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की आधार-शिला रखी थी।

आज का विश्व सर्वप्रभुत्व-संपन्न राज्यों में बँटा हुआ है जिस में से प्रत्येक, वास्तव में स्वयं उस नीति का निश्चय करता है जो उसे अपनानी हो। शांति रखना या युद्ध करना, सैन्य संगठन का आकार, वित्तीय और आर्थिक नीति, औपनिवेशिक विस्तार के संबंध में अपना रवैया, इत्यादि, ये सब ऐसे विषयों के उदाहरण हैं जिन के संबंध में कोई राज्य अपनी संकल्पना से अधिक किसी अन्य की संकल्पना को नहीं मानता। तो फिर अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या है और यह कहाँ तक राज्यों के लिए अवश्यंपालनीय है ? अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह ऐसे नियमों की समष्टि है जो राज्यों के परस्पर संबंधों पर लागू होते हैं और इस की अवश्यंपालनीयता इस बात पर निर्भर है कि राज्य उन नियमों को मानने के लिए तैयार हों। यदि यहाँ यह आपत्ति की जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध में ऐसा दृष्टिकोण अपनाने का अर्थ यह है कि ऐसे सुनिश्चित नियमों के अस्तित्व को ध्यान में नहीं रखा जाता जिन्हें सभी राज्य अवश्यपालनीय समझते हैं तो इस का उत्तर यह है कि सभी बातों पर विचार किया जाय तो अन्ततोगत्वा हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि राज्य यह समझते हैं कि वे जब भी चाहें उन दायित्वों का परित्याग कर सकते हैं जो उन्होंने अपने ऊपर लिए हों। कुछ न्याय-संबंधी नियम हैं, जिन्हें, गौण मामलों में राज्य इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि उन के लिए ऐसा करना सुविधाजनक है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नियमों के अस्तित्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि का दर्जा ऐसा हो जाय कि इस पर राज्यों की संकल्पना का प्रभाव ही न पड़ सके। यह इस-लिए कि जैसा जापान ने मांचूरिया के संबंध में और इटली ने एबीसीनिया के मामले में स्पष्ट कर दिया है—वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की खातिर अपने उन हितों का बलिदान नहीं करना चाहते जिन्हें वे अपने प्रभु अधिकार समझते हैं। वे इस बात को नहीं मानते कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता उन की संकल्पना से ऊपर है। ऐसा कोई सर्वांगीण समुदाय नहीं जिस का अपना क़ानून हो और जिस के अधीन उनकी विधियाँ हों। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता इस बात पर निर्भर है कि राज्य उस का लागू होना मान जायें।

मैं समझता हूँ कि राष्ट्र संघ (लीग आफ़ नेशन्स) के अस्तित्व या इस बात से भी यह दृष्टिकोण निरर्थक सिद्ध नहीं होता कि कम से कम जब तक बड़े-बड़े युद्ध निश्चित रूप से उद्‌वैध घोषित न कर दिए जायें, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन असंभव है। यह इसलिए कि पिछले सोलह वर्ष के अनुभव से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि लीग आफ़ नेशन्स सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सह-अस्तित्व से मेल नहीं खाती और इस बात का कोई [illegible] नहीं मिलता कि ये राज्य अपनी प्रभुता छोड़ने के लिए तैयार हैं। सच तो यह है [illegible]ों की रक्षा के लिए अपनी प्रभुता की जरूरत है जिन का संवर्धन करना या [illegible] युद्ध द्वारा ही संभव है। इस संबंध में कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं।

जापान-जर्मनी, इटली और हंगरी की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ रही हैं और वह समय आयगा जब वे दूसरे राज्यों पर इतना दबाव डालेंगे कि उसका निबटारा तलवार के ज़ोर से ही हो सकेगा। हाल ही के अनुभव से यह बात निश्चित रूप से मालूम हो गयी है कि ये देश अपनी बातें मनवाने के लिए क़ानूनी दायित्वों को छोड़ने के लिए तैयार हैं चाहे उन में कितना ही नैतिक सार क्यों न हो। संघ को इस का उत्तर सामूहिक सुरक्षा के आधार पर ऐसी कार्यवाही का विरोध कर के देना चाहिए; परन्तु मांचरिया और एबीसीनिया की घटनाओं से स्पष्ट हो गया है कि सामूहिक सुरक्षा में इस बात की परिकल्पना की जाती है कि ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय होगा जो किसी आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रभावशाली इकाई के रूप में कार्यवाही के योग्य हो और इस के लिए तैयार हो। संघ का जो ढाँचा आज है उस के अन्तर्गत ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं देती। ऐसी संभावना के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बाध्यकारी शक्ति भी उतनी ही कम या उतनी ही अधिक है जितनी उस आक्रमणकारी की जो उसका उल्लंघन करता है। यह सत्ता-लोलुपता पर आधारित राजनीति का काम है, जिस में राज्यों के आज के संबंध परिलक्षित होते है, और ऐसी राजनीति से समाज की व्यवस्था इस प्रकार की नहीं हो सकती कि जिस में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का दर्जा उन राज्यों पर निर्भर न हो जो इसे मानते हों।

सच तो यह है कि विधि की धारणा में ही यह बात निहित है जो इस के अन्तर्गत रहते हों वे अपनी संकल्पना पर निर्भर किये बिना उसे मानने के लिए बाध्य हों और यदि वे इस के सिद्धांतों का उल्लंघन करें तो इस के लिए उन्हें दंड दिया जाय—जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संबंध है, स्थिति ऐसी नहीं है, सिवाय इस बात के कि अलग-अलग राज्य कुछ दायित्वों को अपने ऊपर लें और उन्हें अपने लिए बाध्यकारी मानें। इसलिए, अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन उपधारणाओं पर आश्रित है, जो वास्तव में विधिक न हो कर अधिन्यायिक हैं। उपधारणाओं को मान लिया जाय, तो उन के जो भी परिणाम निकलते हैं, वे वास्तव में विधिक हैं; परन्तु जहाँ तक इन तत्वों के साथ राज्यों का संबंध है, राज्य तो प्रभुता संपन्न हैं और जब भी महत्वपूर्ण मामलों में वे उपधारणाएँ पूर्णतया विधिक स्वरूप प्राप्त करने लगते हैं तो वे निष्प्रभाव हो जाते हैं।

ऐसा क्यों है? मैं समझता हूँ कि हम राज्य के स्वरूप को समझ लें तो हमें इस का उत्तर मिल जायगा। चूंकि राज्य का अस्तित्व वर्ग-संबंधों की एक व्यवस्था विशेष की रक्षा करने के लिए है, वह उन में निहित परिणामों से बच नहीं सकता। यदि कोई समाज लाभ कमाने की भावना पर जीता है और अपने पोषण के लिये विदेशी बाजारों पर निर्भर रहता है तो उसकी भलाई इसी में है कि वह विदेशी बाजारों में अपनी पहुँच की रक्षा करे और उसका संवर्धन करे। तब वह साम्राज्यवाद के जटिल जाल में फँस जाता है जिस का अर्थ है कि उपनिवेश प्राप्त किये जायें; प्रभाव-क्षेत्र हों और साथ ही इन की रक्षा के लिए सेना और नौसेना हो। संसार के कम उन्नत क्षेत्रों की संख्या जितनी कम होती जाती है, विदेशी मंडियाँ हथियाने के लिए राज्यों की होड़ बढ़ती चली जाती है। राष्ट्रों के बीच बौद्धिक संपर्क पर इसी प्रयोजन का रंग चढ़ जाता है। राजनीतिज्ञों की संकल्पना से लगभग निरपेक्ष रह कर, जिस का ज्वलंत उदाहरण १९१४ का युद्ध है, [illegible]

संघर्ष का निबटारा शांतिपूर्वक बातचीत कर के नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम यह है कि कभी न कभी तो युद्ध छिड़ ही जायेगा और यह याद रखना चाहिए कि युद्ध राज्य की प्रभुता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राज्य को उसकी प्रभुता से वंचित करने का अर्थ यह है कि उस से उस तर्क को बलपूर्वक लागू करने के शक्ति छीन ली जाय जो उस की अर्थ-व्यवस्था में निहित है। भारत और मिस्र में ब्रिटेन; मोरक्को और हिन्दचीन में फ्रांस और कोरिया तथा मांचूरिया में जापान का बना रहना केवल इसी संदर्भ में संभव है। यह इसलिए कि प्रभुता का अर्थ है दबाव डाल सकने की सर्वोच्च शक्ति, और इस के बिना राज्य उस संकल्पना को लागू नहीं कर सकता जिसे लागू करने के लिए वह उन वर्ग-संबंधों के कारण विवश हो जाता है जिन्हें बनाए रखने के लिए उस का अपना अस्तित्व है। परन्तु, वर्ग संबंधों के परिणामों के होते हुए, वह ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति भी चाहता है जिन की पूर्ति या रक्षा उनकी खातिर युद्ध किये बिना नहीं हो सकती; और युद्ध करने का अधिकार बनाए रखने के लिये उसे प्रभुता बनाए रखनी पड़ती है। परन्तु यदि उसकी प्रभुता बनी रहे तो वह बिना अपनी मर्जी के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम से बाँधा नहीं जा सकता। क्योंकि अगर वह इस तरह बंधा हो तो वह परिभाषा के अनुसार सर्वप्रभुत्व-संपन्न ही न रह जायेगा।

इस दृष्टिकोण से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक ओर तो इसका अर्थ यह है कि आधुनिक राज्य के वर्ग-संबंधों के होते हुए, प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के आदर्श की प्राप्ति असंभव है। राष्ट्र संघ जैसे निकाय का संगठन और कृत्य आंशिक और अपूर्ण रह जाना अवश्यंभावी है। यह केवल इस लिए है कि अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, उसे इस योग्य होना चाहिए कि वह अपने सदस्य राज्यों की प्रभुता का अतिलंघन कर सके। वह ऐसा नहीं कर सकता चूँकि यदि देश अपनी प्रभुता का त्याग कर दें तो वे उन वर्ग-संबंधों को बनाए रखने योग्य नहीं रहेंगे जिन के लिए वे दबाव डालने की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते हैं। दूसरे इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अनशास्तियाँ भी आंशिक और अपूर्ण ही रहेंगी क्योंकि उन का लागू हो सकना उन लोगों की सम्मति पर निर्भर है जो उन के लागू होने के संबंध में कानून का उल्लंघन करते हैं। दूसरा तरीका यह है कि जब अतिक्रमण करने वाला सम्मति देने से इन्कार करे तो उस के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाय, जिससे कि अन्य राज्य झिझकेंगे जैसा कि मांचूरिया और एबीसीनिया के मामलों में स्पष्ट हो गया है। राज्यों की प्रभुता के निराकरण को छोड़ और कोई उपाय नहीं जिस से कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उस से कुछ अधिक बनाया जा सके जिसे आस्टिन ने विध्यात्मक नैतिकता का एक उपभेद कहा है और प्रभुता के निराकरण के लिए आधुनिक जगत के आर्थिक ढांचे में क्रांति लानी पड़ेगी।

यह निष्कर्ष इस बात से भी निरर्थक सिद्ध नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय विधिज्ञों के [illegible] सम्प्रदाय ने इस उपधारणा पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की नींव नए सिरे से रखी है [illegible] से कमर है। जिन उपधारणाओं को उन्होंने माना है, उन्हें देखते हुए [illegible] हो है. परन्तु वे अयथार्थ हैं। वास्तव में देखा जाये तो यह समस्त

उक्ति कामनात्मक है। जब तक राज्य प्रभुता-सपन्न रहते हैं, सर्वोपरिता का प्रश्न ऐसा है जिस पर वे स्वयं निर्णय कर सकते हैं। युद्ध के बाद के अनुभव से यह बात निश्चय ही स्पष्ट हो गयी है कि यदि किसी राज्य को यह महसूस हो कि ऐसी सर्वोपरिता को मानने से उन हितों के लिए खतरा पैदा हो जायगा जिन्हें वह आधारभूत समझता है, तो वह (यदि ऐसा कर सकता हो तो) इस की उपेक्षा करेगा। इस में संदेह नहीं कि यह बात सच है कि आधुनिक राज्यों में से स्पेन ने अपने संविधान में यह लिख दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि देशीय विधि से ऊपर है। परन्तु इस बात को समझना भी महत्वपूर्ण है कि पहली बात तो यह कि स्पेन एकमात्र राष्ट्र है जिस ने ऐसा किया है और दूसरी यह कि जिन राज्यों ने केलोग-ब्रायंड सधि या वैकल्पिक खंड पर हस्ताक्षर किये हैं, उन में से अधिकतर ने कुछ ऐसे महत्वपूर्ण निबंधनों के साथ हस्ताक्षर किये हैं जिन का अर्थ वास्तव म यह है कि वे अपना यह अधिकार अपने पास रखना चाहते हैं कि उचित परिस्थितियों में चाहें तो युद्ध कर सकें या मध्यस्थ द्वारा निर्णय करवाने से इनकार कर सकें। इस का अर्थ यह है कि उन्होंने ऐसे मामलों के संबंध में अपनी प्रभुता का निराकरण कर दिया है जिन्हें वे इस योग्य नहीं समझते कि उन के लिए लड़ा जाय परन्तु सभी आधारभूत विषयों के संबंध में उनकी प्रभुता आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसी कि पहले थी।

हम यह मान लेते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य आर्थिक मामलों में अन्योन्याश्रित ह फिर भी स्थिति असंतोषजनक है। असंतोषजनक इस लिए है कि हम ऐसे संसार में रह रहे हैं जहाँ उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विपरीत हैं। जो प्रभुता प्रारम्भ में आचरण के मध्यकालीन सिद्धांतों के बंधनों से बुर्जुआ समाज को मुक्त करने का महत्वपूर्ण प्रयोजन पूरा करती थी, आज बुर्जुआ समाज के अन्तर्विरोधों की अतिमा को रोकने का काम करती है। आज के युग में महान राज्य की प्रभुता उसके साम्राज्यवाद की रक्षा की प्रविधि है। वह साम्राज्यवाद इस के अपने आंतरिक सम्बन्धों का प्रतिफल है और इस के क्षेत्र में कारगर माँग का वितरण होने के कारण उसे मुनाफ़ा कमाने के लिए दूसरे देशों की मंडियाँ हथियाने के लिए होड़ लगानी पड़ती है। राज्य की प्रभुता उस जोखिम का कवच है। इसलिए वह जिस अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्वीकार कर सकता है, उस में साम्राज्यवाद के तर्क-संगत परिणामों के कारण बाधा पड़ती रहती है और वह निष्प्रभाव बन जाती है। वह किसी भी महत्वपूर्ण कृत्य का नियंत्रण, सशस्त्रीकरण का पैमाना, युद्ध करने के अधिकार, उपनिवेशों और प्रभाव-क्षेत्रों पर प्रभुत्व और सीमा-शुल्कों, मुद्रा-प्रवासन, श्रम की परिस्थितियों आदि पर अपनी शक्ति त्याग नहीं सकता क्योंकि ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि उस के अपने क्षेत्र में उत्पादन के वे संबंध खतरे में पड़ जायेंगे जिन की रक्षा के लिए उसकी प्रभुता है। परन्तु कोई अन्तर्राष्ट्रीय समदाय—और फलत: ऐसे समुदाय का क़ानून—तब तक वास्तविक और प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने अंगभूत राज्यों की संकल्पना पर निर्भर रहे बिना इन कृत्यों पर नियंत्रण न रख सके। सारे संसार में एक बाज़ार हो, इस के आवश्यक प्रतिफलों के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही का अभिषेध कर सकने की शक्ति से आगे बढ़ें। और सच तो यह है कि हम तब तक इस शक्ति से परे नहीं जा सकते जब तक कि राज्य प्रभुता-संपन्न रहता है। और जब तक, सोवियत

रूस को छोड़, बाकी देशों में समाज की वर्ग-सरचना आज जैसी बनी रहती है तब तक हम राज्य को उस की प्रभुता से वंचित नही कर सकते ।

आज के युग में और विशेषकर युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास इस बात का प्रशंसनीय उदाहरण है कि वकीलो ने एकविधता की उन उपधारणाओं से मेल रखने का प्रयत्न किया है जिन में संगति हो सकने की सभावना मानी ही नहीं गयी। ऐसे प्रयत्न का सब से अच्छा उदाहरण इग्लैंड में लाइटरपैट और उधर आस्ट्रियन सम्प्रदाय का है ।[1] प्रत्येक ने यह चेष्टा की है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को ऐसे दिखाया जाय मानो वह वास्तव में एक विधिक व्यवस्था है और इस के लिए उन्होंने इस विधि में ऐसी शक्ति होने की बात कही है कि इस के अधीन रहने वाले अपनी संकल्पना द्वारा बाध्य हैं । दोनों में से प्रत्येक ने बहुत से उदाहरण इकट्ठे किये हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा-भारों का अस्तित्व एक महत्वपूर्ण दृष्टान्त है—जिन मे उनकी बात ठीक सिद्ध होती दिखाई पड़ती है। परन्तु एक महत्वपूर्ण बात के कारण ये प्रयत्न असफल रहे हैं । जिन उपधारणाओं पर यह सिद्धात खड़ा किया गया है वे इतने व्यापक नही है कि उन पर इतने बड़े सिद्धांत की आधार-शिला रखी जा सकती हो । सभव है कि किसी समय कोई राज्य अपने ऊपर लिए गये दायित्वो को स्वीकार न करे और इस उस समय यह प्रतीत होता है कि उस दायित्व की वैधता यही है कि वह आत्मनिर्णीत है । जब ऐसी स्थिति होती है तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अनुशास्तियाँ अपूर्ण हैं । वे उसी हद तक प्रवर्ती हैं जिस हद तक कि राज्य उन्हें प्रवर्ती बनाना चाहें और यह इच्छा इतने शक्तिशाली तत्वों पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि देशीय विधि की तरह पूर्ण और आत्म-निर्भर व्यवस्था नही बन सकती ।

इस अपर्याप्तता का कारण तो सीधा-सादा है । विधि उन संबंधों का आलंघन नही कर सकती जिन्हें लागू करने के अभिप्राय से वह बनी है । इस की चरम उपधारणाएँ कभी-आत्मनिर्णीत नहीं होतीं बल्कि उस अर्थ-व्यवस्था से जनित होती है जिस की अभिव्यक्ति विधि है । यदि किसी अर्थ-व्यवस्था की प्रेरक-शक्ति उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व से होने वाले लाभ पर निर्भर है तो उस राज्य की प्रभुता द्वारा उत्पादन-संबंध उसी प्रयोजन को ध्यान में रख कर निश्चित किये जायेंगे । राष्ट्रीय क्षेत्र की तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी, राज्य के प्रभुत्व में रहने वाले समाज की आदतो को इसी प्रयोजन के अनुकूल बनाना पड़ेगा । उन आदतों को बदलने के लिए उत्पादन के संबधों में भी परिवर्तन करना पड़ेगा जिन पर वे आधारित हैं । कम से कम अब तक सोवियत रूस को छोड़, किसी आधुनिक राज्य में यह परिवर्तन लाने की चेष्टा नही की गयी है । इसका परिणाम यह है

---

१. देखिए उनकी पुस्तकें प्राइवेट लॉ एनालोजीज इन इन्टरनेशनल लॉ १९२४ और दी फंक्शन आफ़ लॉ इन दी इन्टरनेशनल कम्यूनिटी (१९३५); आस्ट्रियन सम्प्रदाय [illegible] में देखिए विशेष कर ए० वेरड्रॉस की 'दिए एनहीत दे रेशटलीशन वेल्टबिल्ड्स' [illegible] री समस्या के सम्बन्ध में देखिए मेरी पुस्तक स्टेट इन थियूरी एंड [illegible] है ।

तर्राष्ट्रीय विधि के जानकारों का माध्यम ऐसा सीमित है कि उसमें उसका काम अपूर्ण अनिवार्य है और इसका कारण केवल यह है कि वह जिन उपधारणाओं को लेकर है, वे स्वयं एक पूर्ण पद्धति के रूप में नहीं हैं। वह संपूर्णता लाने के लिए उसे ऐसे की ओर देखना पड़ेगा जिन्होंने विधि की उपपत्तियों को बिल्कुल उसी प्रकार पूरी स्वीकार किया हो जैसे कि कोई नागरिक नागर समुदाय में करता है। उसकी जोखिम हीं से प्रारम्भ हो जाता है कि उत्पादन के वर्त्तमान संबंधों के अन्तर्गत स्थिति न तो है और न हो सकती है। इस में संदेह नहीं वह जिस अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्त्तन है, वह उन प्रयोजनों के लिए अपर्याप्त है जिन्हें पूरा करना उस का ध्येय है परन्तु इस पधारणाओं को नयी आवश्यकताओं के अनुकूल लाने के लिए हमें अपनी अर्थ-की नींव में ही आमूल परिवर्त्तन करना पड़ेगा।

—७—

राजनीति-शास्त्र में जिस संकट काल का मैंने विवेचन किया है, वह विचार करने भर दूर नहीं होगा, उन घटनाओं के घटने पर ही विचार सामने आयेंगे जिन से वे जन्म लेते जिस उदार विचारधारा को अमरीका और बाकी विश्व में चुनौती दी जाती है, उसे हासिक परिपार्श्व में देखा जाय, तो वह किसी अर्थ-व्यवस्था विशेष की अभिव्यक्ति बन कर रह जाती है, जिस पर यह स्वयं निर्भर है। उस व्यवस्था ने उत्पादन साधनों व्यक्तिगत स्वामि.व को अपने जीवन की धुरी मान लिया था और इसी साध्य की पूर्त्ति लिए उस ने पहले अपनी मध्यकालीन युग की संस्कृति और फिर राजनीतिक सस्थाओं संरचना को, जिस ने तत्कालीन संसार का स्वरूप ही बदल डाला। ऐसे व्यक्तिगत ामित्व पर ज़ोर देने के कारण ही उसने इस सा य की साधना के लिए सार्वजनिक और कि.ग.त विधि की नींव रखी। विचारधारा के रूप में इस की मान्यता इस बात पर निर्भर कि इस में उत्पादन की शक्तियों का ऐसा प्रयोग करने की शक्ति हो जिस से कि वह अपने मने आने वाली माँगों की अधिकाधिक पूर्त्ति कर सके। जब तक यह उस शर्त को पूरा कर कती थी—यद्यपि वास्तव में यह विशिष्ट परिवेश के कारण सीमित सिद्धांत मात्र ही थी ह अपने को सार्वभौमिक कह सकती थी और ऐसी मानी जाती थी। परन्तु ज्यों ही उन गों को पूरा करने की इस की शक्ति कम हो गयी—मोटे तौर पर यह तभी हुआ जब स को उत्पादन और वितरण की शक्तियों में द्वंद्व पैदा हुआ और विचारधारा के रूप में स की पर्याप्तता पर उन सभी लोगों को संदेह होने लगा जिन की इस के प्रवर्त्तन से तिक लाभ उठा सकने की आशाएँ पूरी नहीं हुई।

इस में संदेह नहीं कि इसे बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई; इस बारे में भी मतभेद ी गुंजाइश नहीं कि इस के कारण सभी जगह जीवन के मानकों में सुधार हुआ है। परन्तु क बार इस के भौतिक विरोधों का युग आया तो उस संस्थागत व्यवस्था का संकुचित और औपचारिक स्वरूप स्पष्ट हो गया जिस पर वह आधारित थी। सभी के लिए मता-धिकार के आधार पर भी इस के राजनीतिक लोकतंत्र का अर्थ यह नहीं था—और सच तो यह है कि ऐसा कहा भी कभी नहीं गया—कि सार्वजनिक कल्याण में हिस्सा पाने का सभी का अधिकार है। राजनीतिक लोकतंत्र द्वारा जो कुछ प्राप्त हो सकता था

वह इस कारण सीमित था कि एक आर्थिक अल्पतन्त्र के हाथ में यह शक्ति थी कि वह ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त कर सकता था जो जनसाधारण के लाभ उठा सकने के दावे से कहीं ऊँचे थे। और फिर इस व्यवस्था में कानून के सामने बराबरी व्यवहार में उतनी नहीं थी जितनी कि उपचार में और इस का कारण केवल यह था कि कानून के सिद्धान्तों की आधारशिला—चाहे सचेत रूप में ऐसा न रहा हो—यह पूर्व-धारणा थी कि व्यक्तिगत स्वामित्व की रक्षा करना ही कानून का आधारभूत प्रयोजन है। संक्षेप में, उदार राज्य में विवेक और सहिष्णुता इस स्पष्ट शर्त पर ही बरती जाती थी कि इस से राज्य की आर्थिक नींव के लिए खतरा उत्पन्न नहीं होगा।

परन्तु विवेक और सहिष्णुता तो मानवों के दृष्टिकोण हैं। वे उस परिवेश पर निर्भर हैं जिस के संबंध में मानवों की सुदृढ़ भावनाएँ हों। उन का प्रभुत्व तभी तक रहता है जब तक कि उन्हें बनाने वाले उचित प्रत्याशाओं को पूरा करते हैं। जब वे प्रत्याशाएँ ही डांवा-डोल हों तो विवेक और सहिष्णुता के प्रति लोगों का रवैया वैसा ही रहता है जैसा कि पहले युगों में रहा है। सही और ग़लत के संबंध में उनके विचार समाज के बीच उन की स्थिति सहीं उत्पन्न होते हैं और जब इस स्थिति और इस से जनित बद्धमूल स्वभावों को खतरा पैदा हो जाय तो वे सही और ग़लत के संबंध में अपने विचारों के लिए लड़ने मरने को तैयार हो जाते हैं। आज के युग में उदारवादिता को उसी कारण से चुनौती दी जाती है, जिस कारण से कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जागीरदारी व्यवस्था को चुनौती दी जाती थी। इस में जो वर्ग-संबंध रहते हैं, उन के होते हुए इस में उत्पादन की शक्तियों से पर्याप्त लाभ नहीं उठाया जा सकता। इस प्रकार जब इसे चुनौती दी जाती है तो यह अपनी रक्षा करती है और उन शक्तियों, जिन की प्रतिनिधि यह है और इस पर आक्रमण करने वाली शक्तियों में संघर्ष के कारण राज्य-सिद्धांत में संकट उत्पन्न हो गया है जिस का विश्लेषण यहाँ पर किया गया है।

अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस संकट का क्या परिणाम होगा। स्पष्ट ही है कि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि पूंजीवाद में संभल जाने की निहित शक्तियां उस से अधिक हैं या नहीं जो अब तक देखने में आई हैं, बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर है कि सोवियत रूस में जो प्रयोग हो रहा है, उस से उचित समय में उस के नागरिकों का जीवन-स्तर पूंजीवादी व्यवस्था के जीवन-स्तर से टक्कर ले सकता है या नहीं। यह भी निश्चित है कि यदि पूंजीवादी व्यवस्था को उदार विचारों का कोई चिन्ह बचाए रखना है तो उसे, अपने साम्राज्यवादी अवस्थान में, युद्ध के खतरे से बचना होगा। यह इसलिए कि युद्ध के कारण सामाजिक जीवन का संगठन ऐसा अनम्य हो जाता है कि इस के आने से व्यक्तिगत अधिकारों की धारणा जीवित नहीं रह सकती। यदि युद्ध छिड़ जाय, तो उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को ऐसी फ़ासिस्ट तानाशाही में ही बनाए रखा जा सकता है जो उतनी ही बुरी होगी जितना कि बुरे से बुरा पौर्वात्य निरंकुश-तंत्र हो सकता है। फिर भी, यह कहा [illegible] कि इस में भी संदेह है कि ऐसी तानाशाही काफी देर तक स्थिर रह सकती है। [illegible] इस के उत्पादन-संबंधों का उत्पादन की शक्तियों के साथ वैसा ही अन्त- [illegible] कि वर्तमान संकट का कारण है। यह तो स्पष्ट ही दबाव पर आधा-

रित सरकार होगी और इसलिए यह सरकार की कसौटी पर पूरी नहीं उतर सकेगी जो कि यह है कि किसी न किसी अवस्थान में दबाव की प्रक्रियाओं को सहमति की प्रक्रियाओं में बदल दे। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह रूपान्तरण केवल ऐसे युगों में होता है जब कि उत्पादन-संबंधों और उत्पादन-शक्तियों में अनुरूपता रहती ह। फ़ासिस्ट राज्य में कोई ऐसी बात निहित नहीं है जिस से इस अनुरूपता को लाया जा सकता हो। इसलिए ऐसे राज्य के प्रादर्भाव से आर्थिक शक्ति के स्वामियों को थोड़ी देर साँस लेने का मौका मात्र ही मिलता है और उस के बाद उन्ह नयी चुनौती का सामना करना पड़ता है। यह इसलिए कि शक्ति इसी शर्त पर रहती है कि जिन के हाथ में वह हो वे जनसाधारण का अधिकाधिक भौतिक कल्याण करें। किसी भी फ़ासिस्ट व्यवस्था में ऐसा होना संभव नहीं है क्योंकि यह जिन प्रमेयों पर आधारित है उन का जनकल्याण के इस संर्वधन से कोई मेल नहीं है। इस व्यवस्था का स्वरूप ही ऐसा है कि यह विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए उस पूँजीवादी उपक्रम की अवनति को रोकने का एक प्रयत्न मात्र है, जो कि ह्रास के अन्तिम अवस्थान में प ँच गया है।

इस परिस्थिति में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हमारे यग की सारी विशेषताएँ ह्रासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के अन्तिम अवस्थान की द्योतक हैं। स्वीकृत मूल्यों में शंका, शासक-वर्ग में विश्वास का अभाव, परम्परागत सत्ता के प्रति बढ़ता हुआ विरोध, नयी आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक नये सिद्धांतों का प्रतिपादन, अर्थात् पुरानी व्यवस्था के आधार पर कुठाराघात—ये बातें सुधारवाद और फ्रांस की क्रांति के लक्षणों में थीं और और उसी प्रकार हमारे युग की भी लाक्षणिक विशेषताएँ हैं। उस समय भी आज की तरह परम्परागत सामाजिक अनुशासन—जो कि वर्ग संबंधों की व्यवस्था का दूसरा नाम है—वैज्ञानिक खोज के संपूर्ण उपयोग में निरोध का काम देता था। उस समय भी आज की तरह, यह अनुरूपता गहरे सामाजिक प्रतिरोधों को जन्म देती थी जिस का परिणाम व्यापक संघर्ष के रूप में प्रकट होता था। उस समय भी आज की तरह समाज का एक उदीयमान वर्ग परम्परागत उपायों के आधार पर जीविका कमाने वालों को उन की स्थिति में निहित विशेषाधिकारों से वंचित कर के आक्रामक की तरह आगे बढ़ता था। आज की तरह उस युग में भी, जिन्हें अधिकारों से वंचित किया जाता था वे अपने दावे की सच्चाई में इतना अधिक विश्वास रखते थे कि वे झुकने की बजाय संघर्ष करना अधिक अच्छा समझते थे जसा कि उन्होंने सदा ही समझा है। संक्षेप में, सुधारवाद से फ्रांस की क्रांति तक की ऐतिहासिक प्रगति मध्य वर्ग द्वारा सपूर्ण राजनीतिक दर्जा प्राप्त करने का इतिहास है। मध्यवर्ग अपनी प्रगति के साथ-साथ राजनीतिक और विधिक दर्शन में अपने दावों की पूर्त्ति के अनुकूल परिवर्त्तन करता गया। एक बार राज्य पर उस का आधिपत्य हो गया तो इस ने यह चेष्टा की, जैसी कि सभी वर्ग करते हैं, कि इस के साम्राज्य की सीमाएँ अनम्य और अखण्ड बन जायें। लगभग साठ वर्ष तक यह इस प्रयत्न में सफल रहा क्योंकि यह मजदूरों का अधिकाधिक भौतिक कल्याण कर सका था। यही कारण है कि इस काल में इसमें सुरक्षा और आत्म-विश्वास की भावना रही। परन्तु पिछली पीढ़ी में, और युद्ध के बाद और भी तेजी से, इसकी यह योग्यता क्षीण होती गई है कि यह अपने और मज़दूर दोनों के दावों की

पूर्त्ति कर सके। वास्तविक ह्रास के साथ ही साथ उस व्यवस्था में शंका भी बढ़ती चली गई है जिस पर कि उसका जीवन निर्भर है। एक वैकल्पिक सामाजिक परिकल्पना सामने आई है, जिसने जैसा कि सोवियत रूस में, सशस्त्र राज्य का रूप धारण कर लिया है। रूस जीवन के एक नये ढंग का प्रतीक है, जिसकी आधारशिला से परम्परागत व्यवस्था की सर्वोपरिता को खतरा पैदा हो गया है। उसकी चुनौती से उस व्यवस्था में असुरक्षितता और खतरे की वह भावना पैदा होती है, जिसके कारण कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग अपनी रक्षा के लिए हथियार उठाता है। राज्य के सिद्धांत में जो संकट उत्पन्न हुआ है, वह परम्परा और प्रयोग के उस संघर्ष की सद्धांतिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह संघर्ष राज्य के सिद्धांत में संकट के रूप में केवल इसलिए प्रकट हुआ है कि जब कोई नया वर्ग सत्ता हथियाने के लिए आगे आता है, तो यह अनिवार्य है कि वह राज्य पर अपने साध्यों की पूर्त्ति के लिए अधिकार जमा लेगा। इस प्रकार समाज में चरम सत्ता उसके हाथ में आ जाती है, अर्थात् इस प्रकार वह सब पर शासन कर सकता है और किसी के द्वारा भी शासित नहीं होता। राज्य की शक्ति हाथ में आने का यह मतलब है कि नये प्रयोजनों के लिए समाज की विधिक उपधारणाओं की नये सिरे से परिभाषा करने की सत्ता मिल जाती है। ये मूल रूप से सदा ऐसे सिद्धांत होते हैं, जिनसे इस बात का निर्धारण होता है कि सामाजिक उत्पादन का वितरण कैसे होगा। वे उन अनुशास्तियों से संबद्ध होते हैं, जो समाज में दबाव डालने की सर्वोच्च शक्ति हैं और जिन्हें लागू किया जा सकता है। आज के युग में विधि-दर्शन पर वाद-विवाद चल रहा है जिसकी उग्रता से किसी हद तक यह बात ठीक ठीक मालूम हो जाती है कि राज-शक्ति को परम्परागत धारणा के लिए कितना खतरा है। जैसा कि सदा से होता चला आया है, विधि-संबंधी विचारों के लिए चुनौती क्रांतिकारी युग की द्योतक है। इस युग के विधि-शास्त्रियों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि उन्हें उन समस्याओं के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझने की ज़रूरत है, जो उनके सामने आती हैं। यह इसलिए कि उस समस्या का अर्थ क्या है, इसे यथार्थ रूप में समझ कर ही हम अन्धकार-युग की मुसीबतों से बच सकते हैं।

लण्डन स्कूल आफ़ इकनॉमिक्स
एण्ड पोलिटिकल साइंस

हैरोल्ड जे० लास्की

अध्याय—१

सामाजिक संगठन का प्रयोजन

—१—

नयी दुनिया के लिए एक नये राजनीति-दर्शन की आवश्यकता है। बैंथम और हीगल ने पिछली शताब्दी में सामाजिक चिन्ता-धारा के जो क्षितिज निर्धारित किये थे, उनका आधार-पटल दूसरी दिशा की ओर घूम चुका है। हमारे चरम उद्देश्य उनसे भिन्न भले ही न हों पर हमें जो उपादान उपलब्ध हैं और जो मानदण्ड हमारी जिन्दगी के आधार बन गये हैं वे आज जितने विस्तृत और व्यापक हैं उतने पहले कभी नहीं थे—इसे चाहे सौभाग्य समझिए, चाहे दुर्भाग्य। सब से बड़ी बात तो यह है कि हम पूर्ववर्ती विचारकों की सरलता में विश्वास खो बैठे हैं। हम ने यहाँ तक मानना शुरू कर दिया है कि जो समाज-सिद्धान्त जटिलताओं से कतराता है वह उन तथ्यों के प्रति भी ईमानदारी नहीं बरतेगा जिनके सारा-लेखन का उसमें प्रयत्न होता है। बेंथम दार्शनिक था—इस संसार से वह उपराम हो चुका था। जब तक उसकी मान्यताएँ उसे अपना आचार्य मानने वाले कुछ इने-गिने जिज्ञासु विवेकवादियों के परीक्षण पर आश्रित रहीं, उसके लिए आचरण की एक सार्वभौम संहिता निर्धारित कर देना आसान काम था। हीगल के लिए भी प्रशियाई राजतंत्र को काल-तत्व की चरम अभिव्यक्ति के रूप में सार्वभौम बना देना सरल था: इस सिलसिले में हमें यह याद रखना चाहिए कि उसके युग में महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली संकल्पनाओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम थी। रूसो और कार्ल मार्क्स के विषय में भी यही सच है। एक ने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया था कि राज्य द्वारा साधारण से साधारण आदमियों के व्यक्तित्वों को स्थान दिलाना कितना महत्वपूर्ण है लेकिन जब उसके सामने उस अन्तर्दृष्टि को संस्था के रूप में क्रियान्वित करने की समस्या आई तो उसका समाधान वस्तुतः समस्या से कतराने के बराबर ही था। फिर, मार्क्स ने अदम्य उत्साह के साथ अमीर-ग़रीब के विभाजन की बालूही भीत पर आधारित राज्य की कमज़ोरी का दिग्दर्शन कराया। परन्तु उसने जिस पुनर्निर्माण का सुझाव रखा वह मुख्यतः अनिवार्य संघर्ष की भविष्यवाणी थी और जिस समाधान की उसने कल्पना की वह उपचार की अपेक्षा एक अबूझ सूत्र ही अधिक था।

हमारे कार्य में एक साथ ही विविधता अधिक है और ऋजुता कम। जिस दुनिया में आज हम रहते हैं उसमें बहुत सी मान्यताएँ ऐसी हैं जिनके लिए उन्नीसवीं सदी को संघर्ष करना पड़ा था: वे आज इतनी साधारण लगती हैं कि हमारे लिए यह अनुभव करना मुश्किल है कि उनमें कितना नयापन है और उनके कारण उस युग में कितना रोष पैदा हुआ होगा। कम से कम पश्चिमी यूरोप के लिए लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था आज एक सामान्य और अतर्क्य वस्तु हो गयी है। जहाँ तक सिद्धान्त की बात है राजनीतिक शक्ति जन्म या सम्पत्ति पर निर्मित नहीं होती वरन् आदमियों के व्यक्तित्व पर होती है। इसका

यह मतलब नहीं कि जन्म का कोई महत्त्व ही नहीं होता; इसका यह अर्थ भी नहीं कि सम्पत्ति राज्य में अतुल प्रभाव का अपेक्षाकृत निश्चित आधार नहीं होती। इसका अर्थ सिर्फ़ इतना है कि अब हमें इस मान्यता की स्वीकृति के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता कि साधारण आदमी में भी नागरिक गुण सहज रूप से विद्यमान होते हैं। निश्चय ही यह एक ऐसी सिद्धि है जिस पर शंका नहीं की जा सकती। हमारे युग का कोई भी राजनीतिज्ञ चाहे उसकी विचारधारा कुछ भी हो, 'जंगलियों की जमात' की चर्चा करने का साहस नहीं कर सकता। राजनीतिक सिद्धान्त में आज यही 'जंगलियों की जमात' सत्तारूढ़ है। परन्तु शक्ति किन साध्यों की ओर उन्मुख हो इसका निश्चय करके शक्ति की अधिकृति को लाभकर बनाने की समस्या अभी बनी हुई है, और इससे भी कठिन समस्या यह है कि इन साध्यों की सिद्धि के लिए कौन से उपाय अपनाये जायें।

बेंथम के अनुयायियों ने जिस आशावादिता के साथ इस प्रश्न का समाधान ढूंढ़ा था, स्पष्ट है, वह हमें छोड़ देनी होगी। उन्हें इसमें कोई संदेह न था कि मतदान का अधिकार, मानव के नैसर्गिक विवेक से संयुक्त होकर, एक ऐसे राज्य का निर्माण करेगा जहां प्रयत्न का प्रतिफल स्वातन्त्र्य और समानता के रूप में अवश्य मिलेगा। अब हमें ऐसा कोई आश्वासन नहीं। बड़े लम्बे अनुभव से हम ने यह सीखा है कि राजनीति में विवेक का जितना महत्त्व हम सोचे बैठे हैं, उससे कहीं कम है। हीगल द्वारा प्रस्तुत किया गया सामाजिक परिष्ठा और सरकारी क्षमता का एक सरल समीकरण भी शायद उनके पट्ट शिष्यों तक को आश्वस्त नहीं कर पायेगा; राजनीति-विद्या का युगीन सामाजिक गठन से कोई सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही हमारा कार्य यह है कि काम-काज के परिचालन में विवेक को यथासम्भव अधिक से अधिक महत्त्व दें: दो ही विकल्प हैं—या तो हम अपनी सभ्यता को योजनाबद्ध करें या विनाश के लिए तैयार हो जायें। परन्तु चाहे हम व्यापक से व्यापक मानों को आधार बना कर सोच-विचार कर लें, नतीजा यही निकलता है कि चुनाव के समय इस महत्त्वपूर्ण घटना को निश्चित दिशा देने वाले समूचे नर-नारी वर्ग को राजनीतिक-क्रियाकलाप की परिधि में न लाया जाये। वे अपनी आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझ तक नहीं पाते और यदि उनके मन में इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट धारणा होती भी है तो वे यह निर्णय कर पाने के अभ्यस्त नहीं होते कि जो समाधान सुझाये जा रहे हैं वे वस्तुतः उनकी संकल्पनाओं की समुचित रूप से पूर्ति करते भी हैं या नहीं!

लोकतन्त्र-शासन निश्चय ही इस अर्थ में राजनीतिक संगठन का अन्तिम रूप है कि जिन लोगों ने एक बार शक्ति का उपयोग कर लिया है वे बिना द्वन्द्व के उसका समर्पण नहीं कर सकते। पर यह बात भी उतने ही निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि लोकतन्त्र-शासन उतना स्तवन का विषय नहीं, जितना विश्लेषण का। हमें अब भी यह जानना बाकी है कि उसके क्रियान्वय से सम्बन्धित परिकल्पना क्या है और कौन-सी संस्थाएँ अपने प्रयोजन को सफलतापूर्वक अन्तर्भूत कर सकती हैं। हमें इस अनुभव की भूमिका में ये सब बातें जाननी होंगी कि आधुनिक राज्य का प्रशासन एक प्राविधिक मामला है और ऐसे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है जो उसके रहस्यों में पैठ सकें। जिस प्रकार राजतंत्र की [illegible] को ढूंढ़ निकालना होती है जो अपने विशिष्ट गुणों और सहज शक्तियों

द्वारा राज्य का मंगल कर सके, उसी प्रकार लोकतन्त्रीय शासन की ऐसे लोगों को खोज निकालने की समस्या कुछ कम गम्भीर नहीं जो उसके रचना-विधान के प्रयोग में दक्ष हों। आधुनिक मानों के अनुसार चलायी जाने वाली किसी भी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत विशेषज्ञों का एक ऐसा वर्ग होता है जो अपार जन समुदाय के तोष के लिए काम करता है और यह जन-समुदाय हर चीज़ को परिणाम की कसौटी पर परखता है—जिन प्रक्रियाओं से वे परिणाम निकलते हैं उनकी उसे कतई परवाह नहीं होती, यहाँ तक कि उनमें उसकी कोई दिलचस्पी भी नहीं होती। अतः अगर हम राजनीतिक संगठन की ऐसी योजना चाहते हैं जो इस मूल शर्त को पूरा करे कि परम शक्ति उनमें निहित रहे जिन्हें उसके उपयोग की बारीकियाँ समझने की न तो फ़ुर्सत होती है, न इच्छा तो स्पष्ट है कि हम सीधे राज्य के आधार की विवेचना पर पहुँच जाते हैं।

—२—

आज की दुनिया का आदमी अपने आपको किसी न किसी सरकार की सत्ता के अधीन रहता हुआ पाता है और उसकी आज्ञा पालने की विवशता उसके अपने स्वभावगत तथ्यों के कारण पैदा होती है। बात यह है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो समुदाय का निर्माता होता है; उसकी आनुवंशिक सहजवृत्तियाँ उसे अपने साथियों के संग रहने के लिए प्रेरित करती हैं। रेगिस्तानी द्वीप में पड़ा हुआ कोई क्रूसो अथवा स्तम्भ पर टँगा हुआ सेण्ट साइमन स्टाइलाइट्स सरीखा कोई बिरला व्यक्ति भले ही उन सामान्य मनोवेगों का—जिनके कारण वह मनुष्य कहलाता है—उल्लंघन कर ले पर आम आदमी के लिए विवेकपूर्ण अस्तित्व की शर्त है दूसरों के साथ रहना।

बस, सबसे पहले इसी तथ्य में शासन की आवश्यकता निहित है। यदि शांतिपूर्ण संसर्ग की वृत्तियों को जीवित रखना है तो यह ज़रूरी है कि कुछ बातों में आचरण-सम्बन्धी एकरूपता बनी रहे। सभ्य समाज का क्रियाकलाप इतना विविध और इतना जटिल होता है कि उसे मनोवेगों की अन्ध प्रेरणा पर नहीं छोड़ा जा सकता और हर आदमी पर यह भरोसा भी कर लिया जाय कि वह बौद्धिक दृष्टि से एकविध आचरण करेगा तो भी एक ऐसे प्रथासिद्ध मानक की आवश्यकता है ही जिसके आधार पर समाज—अपने संगठित रूप में—सही और ग़लत का विभेद करने के लिए सहमत हो जाये। वस्तुतः जब तक लोग परस्पर प्रतिकूल इच्छाओं की सिद्धि के लिए अलग-अलग दिशाओं में चलते रहेंगे, दार्शनिक मत-वैविध्य का सिद्धांत असंभव है। सामान्य जीवन के शांतिपूर्ण निर्वहण के लिए जो प्रयत्न करने होते हैं वे इस बात की अनुज्ञा नहीं देते कि उन मामलों में कोई व्यक्तिगत निर्णय किये जायें जिन्हें समाज अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्य मानता है अर्थात् एक विशेष स्थल तक पहुँचने के बाद स्वेच्छा से कार्य करना व्यावहारिक नहीं रह जाता और नैगम सभ्यता की यह एक आवश्यक शर्त हो जाती है कि क्रिया-कलाप का एक सामान्य रास्ता अनिवार्य रूप से स्वीकार किया जाय।

स्वेच्छा से काम न कर पाने का यह अभाव स्वतंत्रता को सीमित नहीं कर देता वरन् यह तो एक प्राथमिक सुरक्षण है। एक बार यह मान लेने पर कि कोई आदमी अपने आपमें पूर्ण नहीं ऐसे नियमों का होना ज़रूरी है जिनसे उसकी साहचर्य-प्रवृत्तियाँ शासित हों।

उसकी स्वतंत्रता मुख्यतः इन नियमों के पालन से ही पैदा होती है। वे उसकी निजी सुरक्षा की शर्तों की सीमायें निर्धारित करते हैं। वे उसके स्वास्थ्य और उसके जीवन के भौतिक—साथ ही आध्यात्मिक—मानों का निर्वहण और पोषण करते हैं। उनके बिना वह अनिश्चितताओं का शिकार रहता है जो कि उन एकरूपताओं से कहीं अधिक भयंकर होती है जिनके द्वारा उसके अनुभव-समुद्र को बाँधा जाता है। ऐसा कोई समाज नहीं जहां व्यक्ति उसकी परम्परा को अन्तिम रूप से अपनी व्यक्तिगत परम्परा के अनुसार ढाल ले। सभी जगह ऐतिहासिक परिवेश उसके तत्वों को ढालता है और उसकी सम्भावनाओं की सीमायें बाँधता है। आकाश-कुसुम की कामना तो कोई कल्पना-लोक का निवासी ही कर सकता है।

वास्तव में, मनुष्य स्वतंत्र पैदा नहीं होता और उसका जो अतीत रहा है उसकी क़ीमत उसे इस रूप में चुकानी पड़ती है कि वह सब जगह बन्धनों में बँध कर रहे। बन्धनों से अवश्यम्भावी मुक्ति की मरीचिका उन लोगों को भ्रान्त नहीं कर सकती जो उसकी स्थिति की अच्छी तरह धैर्य के साथ जाँच-परख करते हैं। वह एक ऐसे समाज में जन्म लेता है जिसकी संस्थाएँ अधिकांश में उसके व्यक्तिगत नियंत्रण से परे होती हैं। वह जान लेता है कि उसके भाग्य में जो कुछ भी बदा है उसकी स्थूल रूपरेखा अनिवार्यतः इन्हीं संस्थाओं द्वारा निर्धारित होगी। कृतनिश्चय व्यक्तियों का कोई वर्ग यदि धैर्य के साथ सम्मिलित प्रयत्न करे तो वह उन संस्थाओं का स्वरूप बदल डालने में सफल भले हो जाय पर जो व्यक्ति अपने संगी-साथियों से दूर रहता है वह तो किसी भी तरह उनका नियन्ता नहीं हो सकता। सच तो यह है कि अधिकांश लोगों की क्षमताओं का स्रोत तो केवल जीने के प्रयत्नों में ही सूख जाता है, जीवन को समझने का प्रयास तो उन्हें ऐसी जटिलताओं के बीच ले पहुँचेगा जिनमें पैठने की शक्ति उनमें प्रायः नहीं होती है और अवकाश तो बिल्कुल भी नहीं होता। यह मान लेना एक भयानक भूल है कि सामान्य मनुष्य कम से कम क्रियात्मक रूप से और अविकल एक राजनीतिक प्राणी होता है। उसके जीवन का जो सन्दर्भ बहुमत के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण होता है, वह है उसका निज का सन्दर्भ। वह अपने पड़ोसियों के विषय में सचेत होता है, वह उस मूल तथ्य को कभी हृदयंगम नहीं कर पाता कि दरअसल उसके पड़ोसी ही समूचा संसार है। वह अपनी संकल्पनाओं को उन संस्थाओं की संकल्पनाओं के अनुकूल ढालता है जिनका वह कभी विवेचन-विश्लेषण तक नहीं करता, वह उन संकल्पनाओं की जाँच-परख तक नहीं करता ताकि अपनी संकल्पनाओं का उनके साथ विवेकपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सके। वह जड़तावश सरकारी आज्ञाओं का पालन करता है, उसके प्रतिरोध में भी किसी विकल्प-सिद्धि की विवेक-पुष्ट इच्छा निहित नहीं रहती वरन् प्रायः एक अन्ध-रोष ही होता है। किसी भी वृत्ति का अभाव इतना अधिक नहीं जितना राज्य-विषयक उस भावना का जिसके फलस्वरूप हाब्स, लॉक, रूसो एवं मार्क्स सरीखे कतिपय विचारक अपने सहवर्तियों को अपनी चिन्ताधारा के [illegible] तक उठा लाते हैं। बहुतों में तो उसकी अभिव्यक्ति को समझने की दिलचस्पी [illegible] होता है। सामाजिक जीवन की विशेषता ही यह है कि कुछ इने-गिने [illegible] अनेकों बिना सोचे-विचारे पालन करते हैं। अब हमारा जीवन

असामान्य अनचाहे अनुभवों से अकस्मात् आक्रान्त होता है तब कहीं हमें यह अहसास होता है कि हम कितने व्यापक अनुशासन में जकड़े हुए हैं।

एक तरह से देखा जाय तो जो कोई सभ्यता की जटिलता को स्वीकारता है उसे यह अनभिज्ञता काफ़ी-कुछ मानवीय लगेगी। अमरीका का गृह-युद्ध लंकाशायर के कपड़ा तैयार करने वाले नगरों में भुखमरी का कारण बन सकता है : आकाश (ईथर) के स्वरूप का अन्वेषण करने वाले भौतिकीवेत्ता के प्रयत्न लन्दन और न्यूयार्क के बीच की दूरी कम कर सकते हैं। जर्मनी की साख-व्यवस्था को धक्का लगने का परिणाम यह हो सकता है पेरिस के सट्टा-बाज़ार में घबराहट फैल जाय। जिस गति से परिवर्तन होता है वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। सामन्तिक जापान पलक मारते आधुनिक राज्य का रूप ले सकता है। ऐसे लोग भी जीवित हैं जो रेल को एक अविश्वसनीय आविष्कार मानते थे और ऐसे लोग भी मर नहीं गये जिनके जाने अनिवार्य शिक्षा व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी पर एक गम्भीर आघात है।

मुख्य मतलब यह है कि विज्ञान ने हमारे जीवन के मानों को ही बदल डाला है।

एक शताब्दी से कम में ही हम ऐसी दुनिया में पहुँच गये हैं जिसका सम्पूर्ण ताना-बाना उस दुनिया से नितान्त भिन्न है जो वाटरलू-युद्ध के बाद हमारे पुरखों ने देखी थी। अब हम उन निराकुल गाँवों में नहीं रहते जहाँ किसी लन्दनवासी आगन्तुक को दूसरे ही लोक का प्राणी समझा जाता था। गत युग में जहाँ रोग-शमन के लिए प्रार्थनाएँ और मन्त्र-प्रयोग होते थे, वहीं आज हम, यदि बुद्धिमान हों, तो सूक्ष्मदर्शी यन्त्र और आरोग्य-विज्ञान के ज्ञाता इंजीनियर की सेवाओं से लाभ उठा सकते हैं। आज हम जीवन की आवश्यकताओं के लिए पूरी तरह अपनी ही उत्पादन-व्यवस्था पर निर्भर भी नहीं रह सकते। इस विशाल और महान् समाज का सदस्य अपनी आँख के एक इशारे पर दुनिया के किसी राष्ट्र द्वारा निर्मित वस्तुएँ पाने का आदी हो गया है। लन्दन से पेरू की समुद्र-यात्रा की बात पर वह उतना भी सोच नहीं करता जितना एक शताब्दी पहले उसके पूर्वज पेरिस या रोम जाने की बात पर किया करते थे। समूचा संसार संकुचित होकर कम से कम अन्तर्-निर्भरता की एक इकाई अवश्य बन गया है : टोकियो के राजनीतिज्ञ ऐसे सामाजिक फ़ैसले करते हैं जो न्यूयार्क के लिए शिकागो या वाशिंगटन में किये गये निर्णयों से किसी तरह कम महत्व-पूर्ण नहीं होते। और इस भौतिक अन्योन्याश्रय को सहारा मिलता है आर्थिक व्यवस्था का; जिसका वर्णन-मात्र ऐसा ग्रन्थिल है कि विशेषज्ञ भी न तो उसके स्वरूप के बारे में एकमत हैं और न उसके कार्यान्वय के परिणाम के सम्बन्ध में।

यह दुनिया बहुत बड़ी है। इसमें खतरों की सम्भावनाओं से घिरे रहने पर भी हमें अपनी राह बनानी है। जिस सरकार की आज्ञा का हम अनुवर्तन करते हैं उसकी कार्य-प्रणाली का आधार यह सिद्धांत है कि उसकी संकल्पना में ही किसी न किसी प्रकार हम सबकी संकल्पनायें अन्तर्भूत होती हैं। उसका दावा है कि निराच्छन्न चेतना के क्षणों में हम जिस व्यक्तिगत साध्य को अपनी कल्पना में मूर्तिमन्त पाते हैं उसका समग्रतः अन्तर्भाव चाहे उसके सामान्य साध्य में भले ही न हो, परन्तु उसकी स्थूल रूपरेखा उसमें अवश्य निहित रहती है। सभ्यता में आस्था होने का मूल कारण हमारी यह मान्यता है कि उसकी

संघटना और कार्य-प्रणाली के सहारे अधिकाधिक मानव अपनी सर्वोच्च निहित शक्तियों के उत्कृष्टतम रूप की सिद्धि कर लेते हैं। यह कार्य-प्रणाली जितनी असफल रहेगी, उतनी ही हम अपनी निहित शक्तियों की, उनके उत्कृष्टतम रूप में, सिद्धि नहीं कर पायेंगे। इस पृष्ठभूमि मे देखें तो स्पष्ट है कि सभ्यता का भविष्य बहुत-कुछ हद तक इस बात पर निर्भर है कि हममें उसकी संस्थाओं के परिचालन की कितनी योग्यता है। उनके स्वरूप के सम्बन्ध में हमारी अभिज्ञता का अनुपात वही होगा जिस अनुपात में हम उनकी कमज़ोरियों को देख-समझ पायेंगे। आज हम एक सदी पहले की तरह यह सोचकर संतुष्ट और आश्वस्त नहीं रह सकते कि हमारी भूलें चाहे कुछ भी हों, प्रगति तो हम निरन्तर करते ही जायेंगे। हमारी सभ्यता सद्भावना के नही अपितु भय के सूत्र द्वारा आबद्ध है। राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता, वर्ग-युद्ध, वर्ण-संघर्ष—हमारी सभ्यता इनकी विभीषिकाओं से आवृत है, उसका भविष्य विनाश की ज्वालाओं से त्रस्त है। मनुष्य के लिये अपने साध्य की वेदी पर अपने बन्धुओं के कल्याण की बलि चढ़ा देना कोई बड़ी बात नही। सम्मानित और निःस्वार्थ जनों ने अन्य लोगों के साथ अपने सम्बन्धों का विश्लेषण करके प्रायशः यह नतीजा निकाला है कि आधुनिक सभ्यता की नींव में बदी का तत्त्व है। विज्ञान ने भले ही हमारे लिए सृजनात्मक जीवन के उपकरण जुटा दिये हों परंतु हम जान गये हैं कि वे ही उपकरण विनाश के साधन भी है। यह सम्भव नही लगता कि समाज संघर्ष के साध्य के प्रति अपनी इस भक्ति के कारण, किसी सान्वित रूप में, बच सकेगा।

इस प्रकार की परिस्थितियों में आधुनिक राजनीति का अध्ययन शान्ति की गति की विवेचना किये बिना नहीं रह सकता। हमें यह जानना है कि क्या चीज आदमी की निष्ठा को शान्ति के प्रसार और परीक्षण से बाँध कर रख सकती है: निष्क्रिय रूप से नहीं वरन् उत्साहपूर्वक। हमें ऐसे उपाय ढूंढ़ने हैं जिनके द्वारा उसके मानव-सुलभ मनोवेगों का परितोष एक ऐसे धरातल पर हो सके जो समष्टि-जीवन की समृद्धि में योग दे। हम अपना अध्ययन राज्य से आरम्भ इसलिये करते है कि उसकी संस्थाओं की ही पृष्ठभूमि में मानव जीवन का सन्दर्भ बड़ी दृढ़ता से प्रतिष्ठित है। कोई भी कार्य-क्षेत्र ऐसा नही जो, कम से कम सिद्धान्त रूप से, उसके नियंत्रण की परिधि में न आ जाता हो। आधुनिक राज्य सरकार और प्रजा में विभाजित एक प्रादेशिक समाज है जो अपने नियत भौतिक क्षेत्र में अन्य सभी संस्थाओं से ऊपर समझा जाता है। वस्तुतः वह समाज की संकल्पना का अन्तिम विधि-विहित आश्रय है। वह अन्य सभी संगठनों का पृष्ठाधार प्रस्तुत करता है। वह मानवीय क्रिया-कलाप के उन सभी रूपों को अपनी सत्ता के अधीन कर लेता है जिन पर नियन्त्रण रखना वह वांछनीय समझता है। साथ ही इस सर्वोच्चता की यह विवक्षित युक्ति है कि जो कुछ भी उसके नियंत्रण से मुक्त होता है, वह भी उसकी अनुज्ञा के द्वारा ही। राज्य यह इजाजत नहीं देता कि कोई आदमी अपनी बहन से विवाह करे और उन्हें अपने चाचा, मामा या बुआ की सन्तान से विवाह करने की आज्ञा है तो वह भी राज्य की ही [illegible] राज्य समाज की मेहराब का संधि-प्रस्तर होता है। जिन असंख्य मानवों के [illegible] उसके हाथ में होती है उनके जीवन के रूप और तत्त्वों को वही ढालता है। [illegible] यह नहीं कि राज्य एक अपरिवर्तनशील संगठन है। वह हमेशा

चिरन्तन विकास के नियमों से शासित रहा है। सम्पत्ति के नये रूप, धार्मिक विश्वास के स्वरूप-परिवर्तन, उनके मानवीय नियन्त्रण से परे पहुँचने के समय की भौतिक परिस्थितियाँ-इन और ऐसी ही अन्य बातों ने उसके तत्त्वों को प्रभावित किया है। उसके रूप भी अचल नहीं। उसका रूप राजतन्त्रीय भी रहा है; अभिजात-तन्त्रीय भी और लोकतन्त्रीय भी; उस पर अमीरों का भी प्रभुत्व रहा है और ग़रीबों का भी। विशिष्ट कुल में जन्म धारण करने के कारण भी मनुष्य ने राज्य पर शासन किया है और धार्मिक समागम में अपनी स्थिति के कारण भी।

राज्य के सम्बन्ध में, इतिहास के अवलम्ब से, इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें यह एक अजीब सी बात हमेशा घटित हुई है कि असंख्य जन-समुदाय एक छोटे से निकाय के प्रति अपनी निष्ठा निवेदित करता आया है। सुकरात के समय से अब तक के विचारक इस अद्‌भुत व्यापार का कारण समझने-समझाने का प्रयत्न करते आये हैं। कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्य अपने स्वामियों की आज्ञा का पालन इसलिए करता है कि कुछ इने-गिने लोगों की अपनी आज्ञा-पालन कराने की संकल्पना में काफ़ी-कुछ हद तक समष्टि की यह संकल्पना ही परिलक्षित होती है। कहा जाता है कि राज्य का आधार सहमति है परन्तु अगर सहमति का मतलब आज्ञाओं की निश्चेष्ट स्वीकृति और बिना जाँच-परख उनका पालन करने से कुछ भी अधिक है तो स्पष्ट है कि राज्य के इतिहास में अभी तक कोई ऐसा युग नहीं रहा जिसके सम्बन्ध में यह बात सत्य हो। हम हाब्स के इस विचार को प्रत्यक्ष मान कर स्वीकार नहीं कर सकते कि मनुष्य डर के मारे राज्य की आज्ञा पालता है। कुछ हद तक यह ख़ास-ख़ास क़ानूनों के प्रति आदमी के रवैये को प्रभावित कर सकता है—यह ठीक है। परिणामों को अच्छी तरह तोलने पर हो सकता है मैं किसी के क़त्ल का इरादा छोड़ दूं पर मैं अपने बच्चों को जिस प्रयोजन से स्कूल भेजता हूँ वह भय पर आधारित स्वार्थ से कहीं अधिक जटिल होता है। इससे तो सर हेनरी मेन की यह स्थापना सत्य के कहीं अधिक निकट है कि राज्य स्वभाव के आधार पर निर्मित होता है पर इसमें भी उन प्रवृत्तियों की विवेचना नहीं हो पायी जो स्वभाव में समाविष्ट हो जाती है और किस हद को पार कर जाने पर उनका उल्लंघन सम्भव हो जाता है—जैसे क्रान्ति-कालीन फ्रांस में। और अगर बेंथम और उपयोगितावादियों की तरह हम इस सब की आधार-भूमि उपयोगिता को मान लें तो यह समझने-समझाने की कठिनाई पैदा होती है कि राज्य-विशेष किसके लिए उपादेय है और (क्रान्ति से पूर्व के रूस की तरह) उसकी उपादेयता का स्वरूप आज्ञाकारिता के बजाय असहमति की भावना को क्यों नहीं उद्दीप्त करता ?

आज्ञाकारिता की समस्या का उत्तर तो यह है कि जो सिद्धान्त केवल विवेक के आधार पर उसका समाधान देने की कोशिश करते हैं वे सही रास्ते से दूर जा पड़े हैं—क्योंकि कोई भी आदमी विशुद्ध रूप से विवेकशील प्राणी नहीं होता। राज्य ने निष्ठा की जड़ें सदैव ही मानव-स्वभाव की समस्त जटिलताओं और ग्रंथियों में पायी हैं और आज्ञाकारिता-विषयक सिद्धान्त को अगर सत्य का स्पर्श करना है तो उसे राज्य के इतिहास के हर युग में उन्हें अलग-अलग तोल कर देखना होगा—। ऐसी सामाजिक स्थिति में जहाँ

चिन्तन भी खतरे का कारण बन सकता था, हाब्स के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह मानव के क्रिया-कलाप का चरम सूत्र 'भय' में खोजता। ऐसे ही अठारहवीं सदी के नीति-वादी ने यदि परोपकार-भावना को मानव के कार्यों का मूल स्रोत माना तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। सच तो यह है कि इस प्रकार की भिन्न-भिन्न शक्तियों को सामाजिक दृष्टि से प्रमुख मान लेने का कुछ भी लाभ नहीं है। मनुष्य से राज्याज्ञा का पालन कराने में क्रियाशील रहने वाले स्फुट मनोवेग—चाहे वे किसी प्रकार के हैं—उतने ही अयथार्थ होते हैं जितनी उनमें गर्भित रहने वाले तथ्यों की व्याख्या : ठीक वैसे ही जैसे कोई अग्नि-विषयक सिद्धांत अग्नि के स्वरूप की व्याख्या के रूप में बेकार होगा। मनुष्य मनोवेगों के पुंज के रूप में हमारे सामने आता है और ये मनोवेग संयुक्त होकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में क्रियाशील होते हैं। वह अपने संगी-साथियों के साथ रहना चाहता है। वह गिरजे बनाता है ताकि उनके साथ मिलकर उपासना कर सके, क्लब बनाता है जहाँ वह मौन शांति का उपभोग कर सके। वह प्यार करता है, विवाह-बन्धन में बँधता है, बच्चों को जन्म देता है, दुनिया की तरह-तरह की माँगों के विरुद्ध वह उनके स्वार्थ की पूरे ज़ोर-शोर से रक्षा करता है। प्रकृति के प्रति उनके मन में जिज्ञासाएं उठेंगी और उसकी जिज्ञासा प्रायः रचनात्मकता में प्रतिफलित होंगी—विलियम जेम्स ने ठीक ही कहा है कि यह रचनात्मकता 'आदमी की सहज और अदम्य सहजवृत्ति है, जैसी मधुमक्खी और ऊदबिलाव में'। वह अर्जन का प्रयत्न करता है और संचायक का यह उत्साह अधिकतर लोगों में वे ही रूप धारण कर लेता है जो समाज द्वारा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। असुरक्षा के प्रति अरुचि-भावना, अपना घर बनाने की इच्छा, जन्म-स्थान छोड़ अबूझ क्षेत्रों में पैठने की उत्कंठा, एक अहेरी का-सा आवेग—जो उसे प्रेरित कर अफ्रीका के रेगिस्तान तक में घसीट ले जा सकता है अथवा अपेक्षाकृत कम रोमानी होने पर जासूसी कथाओं में आचूड़ डूब कर परितोष पा सकता है : ये सब ऐसी स्पृहाएँ हैं जो हमारी संस्थाओं के ताने-बाने में समाई हुई हैं। इंसान एक युयुत्सु प्राणी है : विनाश के इस हेतु की फलद क्रियान्विति का कोई न कोई मार्ग ढूंढ निकालने का कायम यंत्र विद्यमान है। वह अपने परिवेश का स्वामी बनना चाहता है, अपने वर्ग का नेतृत्व चाहता है लेकिन उपयुक्त परि-स्थितियाँ प्राप्त होने पर समर्पण में भी वह आनन्द-लाभ करता है जिसका, सैनिक संगठन की तरह, भरपूर लाभ उठाया जा सकता है। वह एक वृथा प्राणी है : जैसा कि वेबलिन ने प्रमाणित किया है वह जान-बूझ कर अपनी शक्ति का अपव्यय करने पर आमादा रहता है—अक्सर चाहता है कि उसे निश्चित उपलब्धियों के बजाय क्षणिक प्रदर्शन की कसौटी पर परखा जाय। मजदूर पियानो खरीदेगा जिसे वह बजाना तक नहीं जानता—इसलिये कि वह आदरणीयता का सूचक समझा जाता है; सामाजिक नेता अपनी आम-दनी फ़ैशन के आदमखोर देवता की भेंट सहर्ष चढ़ा देगा हालांकि उससे वह अपने बाल-बच्चों को पढ़ा-लिखाकर समाज के लिये उपादेय बना सकता है।

भूख, प्यास, सेक्स (मैथुन), वस्त्र-आवास की आवश्यकता—ये सब मानव की ऐसी [illegible] ज़रूरतें हैं जिनमें और कमी नहीं की जा सकती। और सब-कुछ [illegible] में परिणत हो सकता है, जितना विविध समाज का इतिहास है।

हम तो बस इतना ही निश्चयपूर्वक जानते हैं कि उसकी कुछ ज़रूरतें अवश्य हैं। अगर समाज को जीवित रखना है तो इनमें से कुछ को—जैसे भूख को—हम आम तौर से अस्वीकार नहीं कर सकते; अन्य आवश्यकताओं का सामना हम ऐसी जटिल प्रतिचेष्टाओं से कर सकते हैं कि उनकी मूलवर्ती यथार्थ इच्छा बिल्कुल प्रच्छन्न रह जाय। पर सबसे ज़रूरी तो हमारे लिये यह समझ लेना है कि हमारी संस्थायें इस मनोवेग-समष्टि का प्रत्युत्तर हैं। उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती—उन्हें तो अगर समझा जा सकता है तो उनकी घोर जटिलताओं में ही।

राजनीति-दर्शन की संघटना के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य मनोवेगों का पुंज मात्र न हो, विवेक का भी अधिष्ठाता हो। वह अपने आचरण की भी विवेचना कर सकता है, असामंजस्य को परख सकता है, साध्य और साधन को परस्पर-सम्बद्ध कर सकता है अर्थात् वह अपने कार्य-कलाप के परिणामों का विश्लेषण करते हुए अनिष्टों का परिहार कर सकता है: ऐसे आचरण-सिद्धान्त का समावेश करके जिससे उसके आत्म-परितोष की प्रत्याशा बढ़ जाय। पशु-पक्षी तो उस सिद्धांत को संयोग से पा जाते हैं पर मानव सोच-समझ कर और विचार करके उसे खोज निकाल सकता है। यहीं से समाज-हित की भावना का समावेश होता है। यह बात साफ़ तौर से समझ ली जानी चाहिये कि हित या तो समाजोन्मुख होता है अन्यथा हम उसे 'हित' नहीं कह सकते। अगर आदमी को अपने साथियों के साथ मिलकर रहना है तो यह जीवन की एक आवश्यक शर्त है वह जो कुछ भी हस्तगत करे उससे देर-सबेर दूसरों का भी हित होना ही चाहिये। अतः हमारे मनोवेगों की गतिमत्ता जब किसी तोषप्रद कार्य में पर्यवसित होती है उस समय हमारे स्वभाव को जो अन्विति प्राप्त होती है, लगता है उसी में समाज-हित सन्निहित है। हमारे आस-पास के असंख्य मानवों के जीवन में क्रियाशील रहने वाली मानव-प्रकृति की शक्तियों का यही समुचित समाधान है। इस हित का सार-तत्व बदलता रह सकता है: परिवर्तनशील परम्परा एक युग से दूसरे युग में बदलती चली जाती है। ज्यों-ज्यों हमारे ज्ञान का संवर्द्धन होता है, कम-से-कम सिद्धांत रूप में, हम उस प्रतिचेष्टा की पद्धति और कियत्ता को अधिक बुद्धिमानी से संगठित करने के योग्य होते जाते हैं। यह ज़रूरी है कि जो एकान्विति उपलब्ध हो उसकी बारीकी से जाँच-परख की जाय ताकि कहीं ऐसा न हो कि हम झूठ को सच मान बैठें। मिसाल के लिये, निरन्तर नयी-नयी चार-सौ-बीसी कम्पनियाँ शुरू करते रहने से अन्ततः सम्पत्ति-उपार्जन की इच्छा फलीभूत नहीं हो सकती। ज़रूरत तो बल्कि इस बात की है कि हमारी प्रवृत्ति में शक्तियों का संतुलन-सा रहे ताकि जब उपलब्धि हो जाय तो संताप देने वाली कमी का दवाव हल्का हो जाय और इससे भी अधिक निश्चित रूप से यह कि हमारी पहल करने की क्षमता का निरन्तर परितोष होता रहे। यह सवाल किसी परिवेश की उपलब्धि कर लेने का नहीं जिसमें अगतिशील प्रवृत्तियों का नोष हो जाय। जिन परिस्थितियों का भी हमें सामना करना पड़ता है उनमें से हर एक आखिरकार अभूतपूर्व ही होती है—'प्रयोग' जीवन की आवश्यक शर्त है। कोई भी हितकर घटना कभी दुबारा नहीं घटा करती; इसलिए इस परिवर्तनशील संसार में अगतिशीलता का अवश्यम्भावी परिणाम है विनाश—हम जो अन्विति चाहते हैं वह ऐसी होगी जो बुद्धि के

अवलम्ब से भविष्य के गर्भ में भी झांक ले और अतीत की भी सविवेक व्याख्या प्रस्तुत करे।

उपर्युक्त विवेचन में बेंथम के सिद्धांत को युग की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल ढाल लिया गया है—यह बात बिलकुल साफ़ है। बेंथम के समान ही यहाँ इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि समाज-हित समन्वित मेधा का फल है, कि राह की कठिनाइयाँ चाहे कितनी ही अगम क्यों न हों हमें साध्य को लक्ष्य में रखकर ही अपना मार्ग निर्धारित करना चाहिये। इस बात में भी यह विवेचन बेंथम के अनुकूल है कि समाज-हित का अर्थ है दुःख का निवारण और सुख की सिद्धि—यद्यपि यहाँ इसका आधार बेंथम से भिन्न है। अभावों के परिहार के लिये उपाय खोजने में यह विवेक का प्रयोग करता है और अभावों की कोटि निर्धारित करने के लिए यह कसौटी अपनाता है कि उसकी पूर्ति हो जाने पर समाज के स्थायी सुख की वृद्धि में कितना योग मिलेगा। उपयोगितावादी दृष्टिकोण से इसमें एक अन्तर है कि यह मनोवेग के आत्मसुखवादी स्वरूप को नहीं स्वीकारता और न सुख-दुःख के विशद आकलन को ही मानता है—जो यद्यपि औद्योगिक क्रांति की शब्दावली में संवेष्टित है तथापि जिसने वास्तव में प्रेरणा प्राप्त की है इंजीलवादी मान्यताओं से। हमारा मत तो यह है कि एक विस्तृत काल-पट पर देखें तो व्यक्ति-हित का समष्टि-हित से विच्छेद करने में किसी का कल्याण नहीं; दूसरे—विवेक का मूल्य इसमें निहित है कि उसके द्वारा मनोवेगों का तत्कालीन और भावी सामंजस्य किस हद तक सम्भव हो सकता है क्योंकि अगर ऐसा न हो तो वे भीतर ही भीतर संघर्षरत रहकर उस साध्य का निष्पादन नहीं होने देते जो हमारे अपने लिये भी श्रेयस्कर हो और दूसरों के लिए भी। इस प्रकार समाज-हित हमारे व्यक्तित्व को ऐसे ढंग से अनुशासित करता है कि हम उन चीज़ों को खोजने लगते हैं जो हमारे सेव्य महान् समुदाय को समृद्ध करने में योग दे सकें।

—३—

इस प्रकार के दृष्टिकोण से हम यह समझ सकते हैं कि राज्य में क्या प्रयोजन संनिविष्ट है। इस पहलू से देखा जाय तो वह एक ऐसा संगठन हो जाता है जो असंख्य मानवों द्वारा बड़े से बड़े पैमाने पर समाज-हित की सिद्धि किये जाने में साधक होता है। ज़ाहिर है कि उसके कार्य ज़रूरी तौर से आचरण में अधिक से अधिक एकरूपता लाने तक सीमित होंगे और उसका नियन्त्रण-क्षेत्र अनुभव के अनुसार घटता-बढ़ता रहेगा। जीवन के कुछ ऐसे प्रत्यक्ष क्षेत्र भी हैं जहाँ वह अपना क़दम रखने की बात सोचेगा भी नहीं। राज्य इस बात को बढ़ावा देगा कि पड़ौसी एक दूसरे के प्रति शिष्टता बरतें—वे एक ख़ास निम्नतम सीमा से नीचे न उतरें क्योंकि शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने के लिये उसकी आवश्यकता है परन्तु राज्य बेलग्रेविया के जोन्स को मजबूर नहीं करेगा कि वह ब्रिक्स्टन के राबिन्सन को खाने पर आमन्त्रित करे—चाहे श्रीमती राबिन्सन की सामाजिक स्पृहायें कुछ भी हों। इस बात की सम्भावना दिन-ब-दिन कम होती जा रही है कि नागरिकों की धार्मिक राय के आधार पर विशेष भण्डार खोले जायेंगे; दुःखद अनुभव के बाद उसने यह समझ लिया है कि जहाँ धार्मिक असहिष्णुता है वहाँ समाज-कल्याण की बात सोची [illegible] जा सकती। वह किसी न किसी रूप में—पानी, शक्ति, परिवहन आदि [illegible] अधिकाधिक नियंत्रण करता जा रहा है: उसके सदस्यों की खुशहाली

बहुत हद तक इन्हीं पर निर्भर होती है परन्तु साथ ही वह इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा है कि सुगन्धि और सौन्दर्य-प्रसाधन जैसी चीज़ें बनाना कुछ हद तक वैयक्तिक उद्यम पर छोड़ा जा सकता है। वह क्या है और क्या करता है—यह उसके भावी इतिहास से निर्धारित होगा।

अस्तु, राज्य मानवीय क्रिया-कलाप के समूचे विस्तार को अपनी परिधि में बाँध लेने की कोशिश नहीं करता। राज्य और समाज में एक अन्तर है। राज्य समाज-व्यवस्था का मूल मंत्र दे सकता है पर वह उससे अभिन्न कभी नहीं हो सकता। राज्य को समझने के लिये यह मूल बात है कि इस भेद के अस्तित्व का अनुभव किया जाय। राज्य की कार्य-प्रणाली के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है ; निर्देश-सूत्र के रूप में राज्य की संकल्पना सरकार की ही संकल्पना है ; जिन लाखों-करोड़ों लोगों को वह संगठित करना चाहता है वे अनेकानेक आवश्यक फ़ैसलों को अच्छी तरह सोच-विचार कर साफ़ तौर से समझ नहीं सकते ; वे ज्यादा से ज्यादा यही कर सकते हैं कि अस्पष्ट रूप से इंगित कर दें कि वे घटनाओं को अमुक दिशा में अग्रसर होते देखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि मकान बनें, पर जो नीति उनके निर्माण के मूल में होती है वह दो करोड़ लोगों द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती। माना कि अगर हम विश्लेषण करें तो आखिरकार इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि राज्य के वास्तविक शासक अज्ञेय होते हैं; पर दैनन्दिन सत्ता का वैध सूत्र उन्हीं के हाथ में होता है जो क़ानून बनाते हैं। ऐसे राज्य की कल्पना ज़रूर की जा सकती है जिसमें समूचा नागरिक-समुदाय फ़ैसले करने में भाग ले जैसे प्राचीन एथेन्स में राज्य के सदस्यों को हाट-बाज़ार में इकट्ठा कर लिया जाता था। परन्तु चार, सात या दस करोड़ लोगों तक के किसी आधुनिक राज्य के लिए निरन्तर इस तरीक़े पर चलते रहना असम्भव है। अतः व्यावहारिक जीवन में, राज्य के क्रिया-कलाप का प्रभावी सूत्र उन्हीं थोड़े से लोगों के हाथ में रहता है जिनके फ़ैसले मानने के लिए समाज क़ानूनी तौर पर बाध्य होता है। वे समूचे समाज के शासक भी होते हैं और न्यासधर भी। यह उनका काम है कि समाज की ज़रूरतों को पहचानें और उन ज़रूरतों को कारगर संविधियों के रूप में परिणत करें। राज्य का प्रयोजन उन्हीं में साकार रूप प्राप्त करता है।

परन्तु जो प्रयोजन उनमें निविष्ट होता है और उस प्रयोजन को जो मूर्त रूप वे देते हैं, उनमें भेद है। फ्रांस में पुरातन व्यवस्था की संस्थाओं को उचित बताने वाले दार्शनिक सिद्धांत में और उस सिद्धांत की यथार्थ क्रियान्विति में अन्तर था। क़ानून की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो राज्य की आज्ञा पालने का हमारा दायित्व उसी हद तक है जिस हद तक राज्य अपने प्रयोजन की सिद्धि करता है और उस सिद्धि के निर्णायक हम हैं। वह क्या है और क्या बन जाने की उसमें वास्तविक सामर्थ्य है—इनका भेद हमारे जीवन के अन्दरूनी ताने-बाने में अंकित है। हमें राज्य की आज्ञा का पालन इसलिये नहीं करना चाहिये कि सिद्धांत रूप से उसका प्रयोजन बड़ा स्तुत्य है बल्कि इसलिए कि हमारा विश्वास होता है कि वह उस प्रयोजन को व्यावहारिक रूप देने के लिये सच्चा प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार सत्ता अपने आप में नैतिक दृष्टि से निष्पक्ष होती है ; उस पर जो पक्षपात का रंग चढ़ाता है वह है उसका कृतित्व। हमारी निष्ठा अन्ततः हमेशा ही आदर्श के प्रति

होती है ; और हमें बांधने वाली कानूनी सत्ता के प्रति हमारी वफादारी का आधार यह है कि हमें उसके प्रयत्नों में क्या तत्त्व और प्रयोजन मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त, राज्य जो कुछ करता है वह हम सभी के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब तक हम हर नागरिक के सामाजिक मूल्य की आपूर्व जानकारी न मान लें, तब तक राज्य हर हालत में लोकतन्त्रवादी ही होगा। हां, इस बात पर मतभेद जरूर होगा कि लोकतन्त्रवाद है क्या ? यहां कहने का तात्पर्य हमारा सिर्फ यह है कि हर नर-नारी को, राज्य के सम्बन्ध में अपना जो-कुछ भी अनुभव हो, उसके अनुसार कार्य करने का पूरा अधिकार है। राजतन्त्र या थोड़े-से लोगों के शासन के खिलाफ जो कुछ भी कहा जाय उस सबका सार यह है कि आखिर में जाकर दोनों निजी हित को ही समाज-हित मान बैठते हैं। बालिगों के अलावा और कोई वर्ग अपने अनुभव को पक्का नहीं समझ सकता। पाप्लर का निर्णय भी उतना ही अहम और आप्त-सम्मत है जितना मेकेयर का। राज्य का जो प्रयोजन होता है क्रियान्विति के दौरान में सभी पर उसका असर पड़ता है इसलिए उसके काम में सभी की बराबर दिलचस्पी होती है। इतिहास ने निर्भ्रान्त रूप से हमें यह सबक सिखाया है। जिन वर्गों को सत्ता में कोई हिस्सा-बांट नहीं मिलता, उनको लाभ में भी कभी कोई साझीदारी नहीं हुआ करती। सामाजिक दृष्टि से लाभ उठाने वालों की—अर्थात् राजनीतिक संस्थाओं के सञ्चालन में जिनके व्यक्तित्व की पूर्ण परितुष्टि हो जाती हो उनकी—संख्या सीमित करने का परिणाम अन्त में हमेशा यही हुआ है कि उनमें जिसे भी वंचित रखा गया उसने राज्य की जड़ों पर आघात किया है। आदमी-आदमी के स्वभाव में जो आधारभूत साम्य है उसके कारण यह इच्छा सभी की होती है कि उनकी जरूरतें एक खास कम से कम स्तर तक अवश्य पूरी हों। और जब हम इस एक-जैसे कम से कम स्तर का उल्लेख करते हैं तो इसमें सत्ता में भागीदार होने की बात आपसे आप आ जाती है जिससे कि वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति में बाधा न आने दें।

अतः राज्य के कार्य-कलाप में सबकी बराबर दिलचस्पी होने में ही उसके उत्तरदायी होने की बात विवक्षित है। उसके पास शक्ति होती है, तो उसके साथ शर्तें भी जुड़ी होती हैं। उसके पास शक्ति होती है क्योंकि उसके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। राज्य का अस्तित्व इसलिये होता है कि व्यक्ति अपने उत्कृष्टतम स्वरूप की सिद्धि कर सके—कम से कम इसकी आशा तो हो। उसकी जांच की कसौटी यह नहीं कि वह सिद्धान्त रूप में क्या है बल्कि यह कि वह व्यवहार में करता क्या है ? इसके अनुसार औचित्य के आधार पर राज्य की नैतिक परीक्षा की जा सकती है। उसके निर्णयों को आपूर्व सही मानकर नहीं चला जा सकत । उसके आदेशों की पृष्ठभूमि में यह प्रयत्न होता है कि उन मनोवेगों की अभि-व्यक्ति निरन्तर सम्भव हो सके जिनसे समष्टि-जीवन समृद्ध होता है। इस सम्बन्ध में उसके अधिकारों की अतिरंजना करना खतरनाक है। कोई भी राज्य अपने निवासियों को सीधे एकबारगी ऐसी राह नहीं ले जा सकता कि वे जीवन के श्रेष्ठ तत्त्वों को सहज ही जान-समझ लें। परन्तु जो प्रभाव राज्य डाल सकता है उसको कम करके कूतना भी उतना ही [illegible]क है। उदाहरण के लिए जो राज्य अपनी शिक्षा-पद्धति का विकास ऐसे ढंग से [illegible] उसमें नागरिकों को गुलाम नहीं, इंसान समझा जाय और जैसा कि प्लेटो

की तमन्ना थी, उसमें शिक्षा-मंत्री का महत्व युद्ध-मन्त्री से कहीं अधिक हो, वह कम-से-कम एक ऐसा परिवेश तैयार ज़रूर कर सकता है कि उसके सदस्यों को जीवन के उत्कृष्ट तत्त्वों के समझने और ग्रहण करने में कोई बाधा न हो। अतः उसके आदेशों की जाँच-परख उसके अधिकारों को पृष्ठभूमि में रखकर करनी चाहिये। अपने कार्य-कलाप द्वारा जिस सिद्धि की वह संकल्पना करता है, उसी में राज्य का सच्चा प्रयोजन अन्तर्हित रहता है।

राज्य के कार्य-कलाप का विवेचन करने के लिए सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि राज्य वास्तव में है क्या? और यहाँ सामाजिक संस्थाओं के समूचे सोपान-तन्त्र और राज्य को एक दूसरे का पर्याय समझने की तात्त्विक ग़लतफ़हमी से हमें बचना चाहिए। राजनीतिक क्रिया-कलाप के विषय में सच्चा सिद्धान्त वही हो सकता है जिस में उन मनुष्यों को सम्मुख रखा गया हो जो उसकी दैनन्दिन प्रबन्ध-व्यवस्था के संचालक होते हैं। कहने का मतलब यह है कि राज्य-विषयक सिद्धान्त "मूलतः सरकारी कार्य-कलाप का सिद्धान्त" होता है और उसे समझने के लिए हमें निस्सन्देह ही उस पर पड़ने वाले सभी प्रभावों का विवेचन करना चाहिए। उसमें जिस संकल्पना की अभिव्यक्ति होती है, हो सकता है कि वह उन सभी संकल्पनाओं से अधिक व्यापक हो जिन से आम तौर पर हमारा वास्ता पड़ता है। परन्तु वह समूचे समाज की संकल्पना नहीं होती। समाज, कला, धर्म, व्यक्ति और राजनीति के हितों को, जो सभ्यता के संघटक तत्त्व होते हैं, घुला-मिलाकर एक श्रेणी में नहीं बाँधा जा सकता। राज्य की संकल्पना 'सम्पूर्ण' का केवल एक विशेष पहलू होती है। और यह पहलू बहुत ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण होता है—ठीक वैसे ही जैसे कंकाल शरीर का। पर उसका समाज की संकल्पना के साथ अभेद नहीं होता जिस प्रकार से प्राण शरीर के अवलम्ब कंकाल में प्रतिष्ठित नहीं होता।

और, वास्तविकता यह है कि राज्य उस सार्वभौमता का दावा भी नहीं कर सकता जो समाज के साथ उसका तादात्म्य कर देने से उपलक्षित होगी। धर्म ने न केवल राष्ट्रीय सीमाओं का क्रमण करने के वरन् प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्था के भी परे जाकर विश्व-आदर्शों की अभिव्यंजना के अपने अधिकार पर हमेशा ज़ोर दिया है। अंग्रेज़ रोमन-कैथोलिक अपनी धर्म-निष्ठा को अपनी राजनीतिक वफ़ादारी के दायरे में बँधा हुआ नहीं समझता। अन्त-र्राष्ट्रीय श्रम-संघ (लेबर-इण्टरनेशनल) आदि संस्थाओं के विषय में भी यही सत्य है। उसके अवश्य एक खास हद तक राज्य के प्रति वफ़ादारी की बात मानते हैं; परंतु उनका ज़ोर इस बात पर है कि वे उस सिद्धान्त के प्रति भी निष्ठावान् हैं जिस के अनुसार अधि-कार ऐसी संस्था में मूर्तिमन्त होता है जिस की पहुँच राज्य की चौहद्दी के बाहर भी हो। वे राज्य की संकल्पना से सहमत हों—यह हो सकता है पर अगर कहीं संयोगवश उनकी उससे असहमति हो तो राज्य को यह चरम नैतिक अधिकार नहीं कि उनसे अपनी आज्ञा का पालन करा ले। उनकी चरम आज्ञाकारिता अधिकार की उस अवधारणा के प्रति है जिसे राज्य मूर्त रूप देने का प्रयत्न करता है पर जिसकी व्यंजना में, हो सकता है, वह बुरी तरह असफल रहे।

अतः लगता है राज्य की संकल्पना का मतलब है सरकार की संकल्पना क्योंकि उसी सत्ता के आदेशों को नागरिक-निकाय स्वीकार करता है। साफ़ है कि इस संकल्पना में,

चाहे वह कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, कोई विशेष नैतिक दावा निहित नहीं। निस्सन्देह यह संकल्पना ऐसी है जिससे एक विचित्र विभूतिमय शक्ति संपृक्त होती है परन्तु उस शक्ति का प्रयोग हमेशा ही एक नैतिक मसला होता है और उसके सम्बन्ध में जो निर्णय किया जाता है वह हम में से हरेक का निर्णय होता है। यानी नागरिकता का मतलब है समाज-हित में हमारी प्रबुद्ध मति का योगदान। हो सकता है अपनी प्रबुद्ध मति के आधार पर हम राज्य का समर्थन करें; पर हो सकता है उसका विरोध भी हमें करना पड़ जाये। राज्य की संकल्पना व्यक्ति-विशेष की संकल्पना तभी तक है कि वह उसके क्रियान्वय के पक्ष में स्वतन्त्र रूप से अपना निर्णय दे। उसकी माँग की विवेचना करके मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि मेरा दायित्व क्या है और अगर ऐसा नहीं तो वह सच्चे अर्थ में दायित्व है ही नहीं। मेरा समर्थन स्वतन्त्र रूप से मिलना चाहिए क्योंकि अगर सही-ग़लत का सविवेक संतुलन करने के लिए मुझे दण्डित किया जाये तो स्पष्ट है कि देर-सबेर कभी न कभी मैं ऊपर से किये गये फ़ैसलों का निश्चेता, मौन गृहीता बन कर रह जाऊँगा और उन गुणों को खो बैठूँगा जिनके कारण मैं आदमी कहलाने का हकदार हूँ। मै राज्य का अंग अवश्य हूँ पर मैं उसके साथ तदात्म नहीं। सामाजिक संगठन के किसी भी उपयुक्त सिद्धान्त को शुरू में ही यह बात मानकर चलना चाहिए कि व्यक्ति ससीम है। अगर वह समवाय का एक सदस्य है तो उससे बाहर भी उसका अस्तित्व है और वह उसके कार्यों पर निर्णय भी देता है।

—४—

यह तो हुआ राज्य के सम्बन्ध में विशुद्धतः यथार्थवादी दृष्टिकोण—अब यह विश्लेषण करना भी समीचीन होगा कि इसके विरोधी दृष्टिकोण में क्या तत्त्व समाविष्ट हैं। मोटे तौर पर यह मत तब से चला आ रहा है जब यूनान में राज्य और समाज का समीकरण किया गया था और परवर्ती पीढ़ियों में रूसो, हीगल और बोसांके ने इसका पुनर्व्याख्यान किया है। वह व्यक्ति में उस सच्ची संकल्पना को खोजता है जिसकी सब तथ्यों की अवगति होने की दशा में वह निस्सन्देह ही अभिव्यंजना होता क्योंकि अगर हम में से हरेक यह हिसाब लगा पाये कि उसे ग़लती की क्या क़ीमत चुकानी पड़ेगी और विस्तारपूर्वक उसके अर्थ और परिणाम की विवेचना कर पाये तो निश्चय ही हम सही रास्ता ही अपनायें। जब हमारी यह सच्ची संकल्पना हमारे कार्यों में मूर्तिमन्त होती है तभी हम अपने सच्चे स्वरूप को उपलब्ध कर पाते हैं। इसके साथ ही समाज के हर सदस्य में संकल्पना एक ही जैसी है और उस समानता का कारण यह है कि मूल में हम में से हर एक की सच्ची संकल्पना एक आम संकल्पना का ही अंग है जो राज्य में अपने सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। इस तरह देखा जाये तो राज्य हम सब की समष्टि का सर्वोच्च अंग है। जो कुछ वह है और जो कुछ वह करता है उसमें वही परिलक्षित होता जो हमारा ध्येय होगा बशर्ते कि हमारी इच्छाओं-संकल्पनाओं में से अस्थायित्व, तात्कालिकता और असंगति के तत्त्वों को निकाल दिया जाए। तात्पर्य यह कि ग़लत दिशा में चलने और ग़लत चीज़ों की कामनाएँ करने के [illegible] अनुभवों के बाद अन्त में हम व्यक्तिशः चिर और स्थायी साध्य की इच्छा करने

विचार-क्रम की इस स्थिति में पहुँच जाने पर अब राजनीतिक दायित्व की समस्या आसानी से सुलझाई जा सकती है। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि अन्ततः उसमें हमारा ही सच्चा स्वरूप परिलक्षित होता है। जैसे-जैसे सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप हमारी पकड़ में आता जाता है हमारी अपनी संकल्पना और राज्य की संकल्पना का अभेद भी स्पष्ट होता चला जाता है। जो कुछ वह करता है उसमें सदैव उस कल्याण-कामना की अभिव्यंजना रहती है जिसकी सिद्धि के लिए, सब तथ्यों की अवगति होने की दशा में, हम स्वयं भी प्रयत्नशील रहें। जब हम राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं तो दरअसल हम खुद अपनी ही आज्ञा पालते हैं—बल्कि हम अपने उस श्रेष्ठतम स्वरूप की आज्ञा का अनुसरण करते हैं जो हमें अपने सहचारियों से एक करता है और समष्टि का अंग बनाता है। इस प्रकार राज्य वह सार्वजनीन सत्ता है जिसमें हममें से हर एक व्यक्ति के रूप में, अपना स्वरूप लाभ करता है। एक ओर जहाँ हमारा ज्ञान और उसके आधार पर निर्मित संकल्पना अपने क्षेत्र और प्रयोजन में सीमित होते हैं, राज्य विविध मेधाओं का संघात होता है जिन के पारस्परिक समाधान से सामाजिक संगठन का चरम स्वरूप विकसित होता है। इस सन्दर्भ में, स्वतंत्रता राज्य में अन्तर्भूत सहज स्वरूप की एक प्रकार की स्थायी संरक्षिका होती है और ऐसे समय जब विवशता की भावना से मेरा दम घुटा जा रहा हो तब भी, हो सकता है, वास्तव में मैं बिल्कुल स्वतन्त्र होऊँ।

इस दलील में निस्सन्देह बड़ा आकर्षण है और खास तौर से रूसो ने इसे जो रूप दिया उसका राज्य के कार्य-कलाप के आधार-तत्त्वों पर गहरा प्रभाव पड़ा। पर सब से पहले इस बात पर ज़ोर देना बहुत ज़रूरी है कि राजनीति के किसी भी सच्चे सिद्धान्त की सब से बड़ी कसौटी है उसकी अस्वीकृति। उसे मान लेने में, कम से कम अंतिम रूप में, जो-कुछ निहित है सो है संकल्पना-तंत्र का निष्क्रिय हो जाना। अगर बाहरी दुनिया के साथ अपने सम्पर्क में यानी स्वानुभव में नागरिक को अपने निर्णयों के सूत्र नहीं मिलते तो रचनात्मक दृष्टि से, व्यक्ति के रूप में, उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि वही (अनुभव-जन्य विवेक) एक ऐसी अनुपम वस्तु है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। जो कुछ वह है सो केवल इसलिए नहीं कि दुनिया से उसका सम्पर्क है जिसमें औरों के साथ वह भी रहता है बल्कि सबसे ज्यादा इसलिए कि वे सम्पर्क ऐसी राहों से स्थापित होते हैं जिसे सिर्फ़ वही जान सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि उसका सच्चा स्वरूप वह है जो अपने संगी-साथियों से विविक्त रहता है और अपने एकान्त चिन्तन का फल सामान्य हित के लिए अर्पण कर देता है जिसे समष्टि रूप से भी वे उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

इस सिद्धान्त की एक-एक मान्यता को हम अलग-अलग करके लें। दलील यह दी जाती है कि अगर मैं अपने आचरण में निरन्तर इतना विवेकशील रहूँ कि साध्य और साधन में हमेशा परस्पर पूर्ण सामंजस्य रहे तो मेरा जो स्वरूप विकसित होगा वही मेरा सच्चा स्वरूप है। परन्तु वास्तव में मुझ में ऐसे किसी स्वरूप का अस्तित्व नहीं और अगर होता भी तो इसकी सम्भावना नहीं कि मैं उसे पहचान पाता। अपने सहयोगी-वर्ग पर—जिसका मैं अंग हूँ—मैं जो प्रभाव डालता हूँ उनकी समष्टि ही मेरा सच्चा स्वरूप है। ये प्रभाव

समष्टि संभ्रम में डाल देने वाली विविधता से युक्त-कृत्यों द्वारा उद्‌भूत होती है—जिनमें कुछ सत् होते हैं, कुछ असत् और कुछ न सत्, न असत्। कुछ की स्मृति मुझे कृतज्ञता से भर देती है; अन्य मनोदशा-जनित होते हैं—शायद क्रोध के आकस्मिक आवेश से, जो खेद का स्थायी कारण होता है। पर वे सब मिलकर मेरा वह स्वरूप बनाते हैं जो मुझे मेरे पास-पड़ौसियों से सम्बद्ध करता है और मैं जो कुछ भी हूँ उसके प्रकृत अनुभव से जो बाहर भी प्रतीत होते हैं वे केवल इसलिए कि अभिज्ञात एकरूपता से युक्त प्रत्याशा किसी-किसी मौक़े पर सामान्य सिद्धि में विफल रहती है।

यह कहना भी सच नहीं कि इस सच्चे स्वरूप की जो संकल्पना होती है वह समाज के हर सदस्य में एक-सी होती है। प्रत्येक राजनीति-दर्शन का श्रीगणेश इस मान्यता के साथ होता है कि मानवीय संकल्पनाओं में अगम-अमित विविधता होती है। उनमें कोई अविच्छिन्नता नहीं होती। इच्छा के सामान्य विषय भी होते हैं। नगर-प्रशासक कम म्युनिसिपल दरों की कामना भी वैसी ही तीव्रता से कर सकते हैं। वित्त-मंत्री यह चाहना कर सकते हैं कि उन्हें अप्रत्याशित अधिशेष का वरदान मिले। परन्तु हर नगर-प्रशासक और हर वित्त-मंत्री दूसरे से भिन्न अपनी विशिष्टता से युक्त होता है। जिन विषयों से उनका सामना होता है उनका एक जैसा ही असर उन पर पड़ सकता है। उन विषयों से जो इच्छाएँ जागृत होती वे सभी में एक ही रूप में प्रदीप्त हो सकती हैं। लेकिन सम्बद्ध संवेदना और सम्बद्ध इच्छा मिलकर एक ही संकल्पना उत्पन्न नहीं करती और अगर करती है तो विशुद्ध लाक्षणिक अर्थ में। ये संकल्पनाएँ एक ही सामान्य प्रयोजन की ओर उन्मुख होती हैं परन्तु केवल संकल्पित वस्तु के तत्त्व को छोड़ कर और हर तरह से इन में विभेद ही होता है।

अगर समाज के हर सदस्य की संकल्पना ही अलग-अलग है तब तो यह बात और भी साफ़ है कि उस की समष्टि में 'एक' और 'समान' संकल्पना का उद्‌भव नहीं हो सकता। आधुनिक जीवन के स्वरूप पर जो भी व्यक्ति नज़र डालेगा उसे सब से बड़ी और मार्के की बात यह दीख पड़ेगी कि उसमें अनेकानेक संकल्पनाओं का अस्तित्व है जिन का कोई सामान्य प्रयोजन नहीं जो उन्हें एकरूपता की ओर ले जाए। किसी अच्छे रोमन कैथोलिक के लिए, जो चर्च की सदस्यता को बन्धन-मुक्ति की शर्त मानता है, उसकी संकल्पना ही उसके अस्तित्व का सब से सच्चा अंश होता है और धर्म-निरपेक्ष समाज के सदस्य की संकल्पना से उसकी कोई समानता नहीं होती। औसत अंग्रेज बैंकर की संकल्पना और थर्ड इण्टरनेशनल (तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन) के उद्देश्यों के संवर्द्धन में प्रयत्नशील साउथ वेल्स के साम्यवादी की संकल्पना में कोई भी सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। इनकी एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया निस्सन्देह होती है। उनके संघर्ष के फलस्वरूप प्रत्येक के उद्देश्य के श्रेय तत्त्वों का पुनराख्यान किया जाता है। पर कहीं भी किसी भी वक्त वे एक सामान्य व्यापक प्रयोजन के अंग नहीं होते जो क्रिया-कलाप की पृथुल धारा में अन्तर्भूत विविध प्रयोजनों के मूल में निहित रहता है। यह सच है कि राजनीति में हमारे सामने जो संकल्पनाएँ आती हैं उनके [illegible] में हम इनके एकत्व का ही उल्लेख करते हैं। हम रूढ़िवादी (कंजरवेटिव) पार्टी [illegible] इंग्लैण्ड की संकल्पना, एंग्लीकन चर्च की संकल्पना का ज़िक्र करते हैं। परन्तु

एकत्व का यह विधान ऐसे ढंग से संगठित संकल्पनाओं की स्वीकृति है कि उनकी प्रबल प्रतीति हो—किसी ऐसी संकल्पना की नहीं जो अपनी अंगभूत अलग-अलग संकल्पनाओं से ऊपर और भिन्न हो। यह एकत्व मेरे द्वारा उस पद्धति का अभिज्ञान है जिससे वे सब संकल्पनाएँ परस्पर-सम्बद्ध हैं जिनका सामना मुझे करना पड़ेगा।

पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो यह एकता विषय की नहीं, विषयी की है। यह एकता उस अर्थ में नहीं जैसे हम कहें कि मेरा व्यक्त्वि, या ब्राउन अथवा जोन्स का व्यक्तित्व एकान्वित है। संसृष्ट व्यक्तित्व और उसमें अन्तर्भूत संकल्पना इस माने में सच्ची है कि वह जिन संकल्पनाओं के प्रति क्रियाशील होती है उन्हें उससे भिन्न कर देती है जैसी कि वे पहले थीं। पर फिर भी जिस अनन्य-सामान्यता के कारण मैं शेष जगत से भिन्न हूँ उससे उसका अभेद नहीं हो जाता। इंगलैण्ड की एकता उस ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार है जो असंख्य संकल्पनाओं को एक ही दिशा में प्रेरित करती है; उसका कारण उनके संश्लेष से निर्मित कोई रहस्यमय अधि-संकल्पना नहीं।

समान संकल्पना की इस धारणा को अस्वीकार कर देने का स्वतंत्रता की समस्या पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अगर मेरी सच्ची संकल्पना प्रतीयमान संकल्पना नहीं बल्कि राज्य में सन्निविष्ट समान संकल्पना ही है तो रूसो के सुप्रसिद्ध वाक्यांश के अनुसार मैं विवश होकर भी स्वतंत्र हो सकता हूँ। जो मेरी सच्ची कामना है उसे अभिव्यक्त कर देना ही अपने सहज-सच्चे रूप को प्राप्त कर लेना है और अपने सहज-रूप को प्राप्त कर लेना ही स्वतंत्रता का सार तत्त्व है। परन्तु यदि आत्म-स्वरूप को जीवित रखने के लिए कोई आधारभूत तथ्य है तो वह है बल का अप्रयोग। यहाँ जिस विचार का विरोध किया जा रहा है उसके अनुसार जब कटघरे में खड़े हुए कैदी को दासता की बेड़ियों में बाँधने के लिए दण्डित किया जाता है तो अन्ततः उस पर विवशता का कोई बोझ नहीं होगा। दरअसल अगर उसे समस्त आधारभूत तथ्यों का ज्ञान होता तो वह स्वयं भी अपने बंदी किये जाने की ही संकल्पना करता। फिर भी सचाई निश्चय ही यह है कि स्वयं मेरे ही द्वारा अपने ऊपर लगाये गये नियंत्रण में और दूसरों के द्वारा मेरे ऊपर लगाये गये नियंत्रण में आकाश-पाताल का अंतर है। अगर मैं अपनी इच्छा से चौबीस घण्टे तक तम्बाकू का सेवन नहीं करता तो मैं अपने ऊपर जो संयम करता हूँ उसमें यह नहीं लगता कि मेरी आजादी पर किसी तरह की आँच आयी है। मैंने अपने आप ही मनोवेगों में एक विशेष सामंजस्य पैदा करने की संकल्पना की है और अगर वह सामंजस्य सफल नहीं होता तो मैं अपनी संकल्पना के तत्त्वों में फेर-बदल कर सकता हूँ: दूसरे शब्दों में मैं मनोवेगों के संतुलन में—जो मेरा अभीष्ट है—फेरबदल कर सकता हूँ। परन्तु अगर मैं अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी और शक्ति द्वारा तम्बाकू का सेवन न करने पर बाधित होता हूँ तो वह और यह एक ही बात न होगी। अतः बल-प्रयोग का मतलब है बाहर से थोपा जाना—ऐसे मानों में जिसका स्वतंत्रता से किसी तरह कोई मेल नहीं बैठता; जो उसके बिल्कुल प्रतिकूल है क्योंकि स्वेच्छित मानकर कोई उसका स्वागत नहीं करता। यह व्यक्ति के लिए ऐसी अनिवार्य पराधीनता का अनुभव है जिसे वह स्वेच्छा से कभी भी सहने को तैयार नहीं होगा।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि बल का प्रयोग ग़लत है। कुछ नियम ऐसे हैं—जैसे स्कूल में उपस्थिति का नियम—जिनका पालन मुझे करना ही चाहिए, भले ही मैं उन्हें पसन्द न करूँ क्योंकि ज़ाहिर है अगर हर आदमी परिणाम से बेख़बर होकर अपने हर मनोवेग का अनुसरण करे तो व्यवस्थित सामाजिक जीवन असम्भव हो जायेगा। इसका मतलब यह हुआ कि बल का प्रयोग केवल उन्हीं दिशाओं में करना चाहिए जहाँ समाज की सामान्य भावना उस प्रकार के आचरण के पक्ष में हो जिस के लिए किसी को विवश किया जा रहा है। पर इसका अर्थ यह भी है कि कुछ सीमान्तिक अवस्थाओं में मैं यह भी फ़ैसला कर सकता हूँ कि मैं कानून का उल्लंघन करूँगा और उसके लिए जो कुछ दण्ड मिलेगा उसे भुगत लूँगा। यही एक रास्ता है—कम से कम अन्ततः यही एक रास्ता है—जिससे मैं समाज के जीवन में अपने व्यक्तित्व का अनन्य-सामान्य योगदान कर सकता हूँ। लूथर इसलिए लूथर है कि उसने वार्म्स में रोमन चर्च की अवज्ञा की थी, नेविल वाशिंग्टन जब अपने देश के विरुद्ध लड़ा तो वह किसी तरह कम सच्चा नागरिक न था क्योंकि वह उसे प्यार करता था। दरअसल मेरी स्वतंत्रता शेष समाज के साथ मतभेदों पर ज़ोर देने में और उन मतभेदों के आधार पर काम करने में निहित है। उनमें से कुछ—हो सकता है अधिकांश—ऐसे तुच्छ हों कि वे संघर्ष के निमित्त नहीं बन सकते पर जिन्हें मैं मौलिक मानता हूँ उनका समर्पण किसी ऐसी संकल्पना के समक्ष कर देना, जिसके साथ स्पष्टतः मेरी संकल्पना की कोई तद्रूपता या साम्य नहीं, व्यक्तित्व का टूट जाना है—उसका परितोष नहीं।

समान संकल्पना की धारणा से भी कम मान्य यह सिद्धान्त है कि वह राज्य में साकार रूप ग्रहण कर लेती है। इस दलील को डा० बोज़ांके के शब्दों में पेश किया जाये तो यह है कि राज्य का समस्त कार्य-कलाप, मूल में, समाज की सच्ची संकल्पना की ही क्रियान्विति होती है। परन्तु अगर इसका मतलब यह है कि अन्ततः सामाजिक जीवन किसी 'एकाकी' और विवेकशील मस्तिष्क की तर्क-पद्धति के अनुसार व्यवस्थित कार्यवाहियों का प्रतिफल है तो यह स्थापना हर उस तथ्य के प्रतिकूल है जो हम अपने रोज़ाना के अनुभव में देखते हैं। हमारे आर-पास की वस्तुएँ—प्रथाएँ, संस्थाएँ, आस्था-विश्वास सब—बड़े अव्यवस्थित, अर्धचेतन ढंग से विकसित होते हैं। विचार का तत्त्व भी उसमें प्रायः रहता है पर समूचा परिवेश उससे अवगत नहीं होता। अगर कोई व्यक्ति सभ्यता पर लागू होने वाले अनुशासक सिद्धान्तों की कोई प्रणाली ढूंढ़ निकाले तो वह निश्चय ही कोई बड़ा आशावादी होगा। जिन राहों पर हम चलते है, वे प्रायशः सायोगिक अनुभव का ही परिणाम होती हैं और हम उन्हें सही दिशा के सविवेक अनुसन्धान की गरिमा से विभूषित नहीं कर सकते।

वे किसी संयुक्त संकल्पना के प्रयत्नों पर भी आधारित नहीं होती। असल में जिस चीज़ का अस्तित्व है वह है संकल्पनाओं का आश्चर्यकारी पुंज जो एक-दूसरी पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं। वास्तव में जिसे हम राज्य की संज्ञा देते हैं वह चरम निर्देश का सूत्र मात्र है: वह जिन आधारों को उचित समझता है उनके अनुसार फ़ैसले करता है। वह उस अर्थ में एकान्वित संकल्पना नहीं जिसमें मेरी संकल्पना तब होगी जब मैं कोई किताब [illegible] जो मैंने किसी पुस्तक-विक्रेता की सूची में देखी है। इस मामले में मैं उसकी क़ीमत

और उसे हस्तगत करने की वांछनीयता को तोलकर देख लेता हूँ और पाता हूँ कि एक ओर का यानी उसे प्राप्त करने की वांछनीयता का पलड़ा निश्चय ही भारी है। लेकिन राज्य के किसी काम करने में परिस्थिति इतनी सरल नहीं होती। जब इंगलैण्ड ने १९१४ में युद्ध की घोषणा की तो मंत्रि-परिषद् ने बहुमत से यह फ़ैसला किया कि एक तो उन्हे फ्रांस और बेल्जियम के आक्रमण का प्रतिवारण करना चाहिए और दूसरे यह कि ऐसा करने में अपन सह-नागरिकों का योग भी उन्हें मिल सकेगा। असल में उन का यह फ़ैसला कोई एकान्वित कार्य न था लेकिन विभिन्न संकल्पनाओं की विविध कोटियों में ऐसा सामंजस्य था कि उन का प्रयत्न एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्मुख हो। अन्विति उनके द्वारा लक्षित वस्तुगत प्रयोजन में थी और नियमतः युद्ध घोषित करने का फ़ैसला आसान-सा है क्योंकि उसमें निहित भावुकता की छाया में दृष्टिकोण के भेद घुल जाते है। अगर हम किसी देशीय विधान को लें—जैसे बीमा-अधिनियम आदि को—तो यह बात साफ़ है कि उसके पीछे जो संकल्पना अन्तर्हित है उसे बनाने में विविध प्रभावों समझौतों, संशोधनों और तरह-तरह के दबावों सभी का हिस्सा रहता है जिस से ज़ाहिर होता है कि उसके उद्भव-सूत्र कितने उलझे हुए और संकुलित है। संक्षेपतः सामाजिक शक्तियों का स्वामित्व हथियाने के लिए एक दूसरी से संघर्ष करने वाली असंख्य संकल्पनाओं में से जो एक स्वीकार कर ली जाती है वही राज्य की संकल्पना होती है। वह स्वेच्छित कभी नहीं होती—इस अर्थ में कि उसका निर्धारण हमेशा विवेकयुक्त तथ्यों के आधार पर होता हो। वह एकाकी भी कभी नहीं होती—इस माने में कि जिन पर वह लागू होती है उनका सर्व-सम्मत फ़ैसला ही उसका बल होता हो। प्रायः वह सद्भाव से दीप्त भी नहीं होती—जैसे फ्रांस में पुरातन व्यवस्था। और अगर स्थिति यह है तो जब तक हम राज्य की संकल्पना के अमल में लाये जाने पर उसके नतीजों का अनुमान न लगा लें तब तक उसे किसी विशिष्ट नैतिक गुण से विशेषित करने का हमें कोई अधिकार नहीं। अगर उसमें सदाशय कल्याणकर परिणामों से संसक्त है तो वह सद् संकल्पना है परन्तु उसकी असली कसौटी यह नहीं कि सिद्धान्त-रूप में उसका आधारभूत प्रयोजन क्या है बल्कि यह कि व्यवहार-रूप में उसके लिए प्रयत्न किस हद तक किया जा रहा है।

—५—

राज्य-विषयक क्रियात्मक सिद्धान्त की अवधारणा प्रशासकीय शब्दावली में की जानी चाहिए। उसकी संकल्पना उन थोड़े-से गिने-चुने लोगों का फ़ैसला होता है जो निर्णय-करने की वैध शक्ति के अधिष्ठाता होते हैं। वह शक्ति संगठित कैसे की जाती है—यह समस्या रूपगत अधिक है, तत्त्वगत उतनी नहीं। जारवादी रूस की तरह उसका संगठन इस प्रकार हो सकता है कि वह उस लक्ष्य की सिद्धि न कर पाये जिसकी उपधारणा सिद्धान्त में उसके लिए रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि शक्ति सदा ही एक न्यास की तरह होती है और उसके धारण करने के लिए हमेशा ही कुछ शर्तें साथ में जुड़ी रहती है। राज्य की संकल्पना की जाँच-परख वे सभी लोग कर सकते हैं जो उसके फ़ैसलों के दायरे में आते हैं। उनके जीवन के तत्त्वों को ढालने की ज़िम्मेदारी उसी पर है, अतः उन्हें यह हक है कि उसके प्रयत्नों के पर्याप्त-अपर्याप्त, अच्छे या बुरे होने के बारे में अपनी राय ज़ाहिर

करें। असल में इस तरह का निर्णय करना उनका फ़र्ज़ है क्योंकि इतिहास हमें यह साफ़ सबक सिखाता है कि लोगों की ज़रूरतें उसी हद तक जानी और मानी जायेंगी जिस हद तक वे अपने आप को बलात् अर्थवेत्ता दे पायें। राज्य और 'हम' एक नहीं—जहाँ हम राज्य के कृत्यों के साथ अपना अभेद स्थापित कर लें वहाँ बात और है। ज्यों-ज्यों वह हमारी आवश्यकताओं और इच्छाओं की अभिव्यंजना करता जाता है त्यों-त्यों हमारे और उसके बीच भेद मिटता जाता है। वह हमारे ऊपर शक्ति का दबाव डालता है जिससे कि व्यवहार की ऐसी एकरूपता स्थापित की जा सके जिसके कारण हमारे व्यक्तित्व की समृद्धि सम्भव होती है। वह व्यक्तियों का एक समुदाय है जिनके कृत्य उस लक्ष्य की ओर उन्मुख होते हैं यानी मोटे तौर पर जब हम उन सूत्रों को जान लेते हैं जिन से सरकारी क्रिया-कलाप को प्रेरणा मिलती है तब हम राज्य की संकल्पना के सूत्रों से भी अभिज्ञ हो जाते हैं।

परन्तु चूंकि वे सूत्र अपने आप में न अच्छे होते हैं, न बुरे इसी प्रकार राज्य की संकल्पना अपने प्रकृत स्वरूप में नैतिक दृष्टि से उभय-सामान्य होती है। उसके सदस्यों से उसे स्वीकृति मिलने के विविध असंख्य कारण हैं। कुछ तो उसका अनुसरण इस विश्वास से करते हैं कि अमुक काम ठीक और समीचीन है। कुछ लोगों में, उस कृत्य के प्रति ऐसी क्षीण भावना का उदय होता है कि उदासीनता उन में न समर्थन का स्वर जगाती है, न विरोध का। अन्य लोग—जैसे १९०२ के शिक्षा-अधिनियम के साथ हुआ—उसका सक्रिय विरोध करते हैं क्योंकि वे समझते हैं उस कृत्य विशेष में सत्ता का दुरुपयोग किया जा रहा है। जो चीज़ हमेशा हमारे सामने होती है वह है कार्यवाहियों का एक तांता जिनके सम्बन्ध में हमें अपने निर्णय करने होते हैं। सरकार के सदस्यों की संकल्पनाएँ एक होकर फ़ैसला करती हैं और वही जब दैनिक प्रशासन में क्रियान्विति पाने लगती है तो राज्य की संकल्पना का रूप ले लेती है।

इस तरह के दृष्टिकोण में कम से कम एक सब से बड़ा गुण है—यथार्थवाद का। इसमें वह स्वीकार किया गया है कि कृत्यों के निमित्त व्यक्ति होते हैं और इसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि उन व्यक्तियों के बारे में उनके सह-नागरिकों द्वारा जाँच-परख और छानबीन की जा सकती है। इसमें यह बात भी पहले से ही नहीं मान ली जाती कि उनके सारे कृत्य सही और न्यायोचित ही होंगे। यह बात भी यहाँ पहले से स्वीकार नहीं कर ली गयी कि छानबीन करने और उन्हें स्वीकृति देने के कर्तव्य पर जन-समुदाय चलेगा ही। उसकी युक्ति तो सिर्फ़ यह है कि सरकार के कृत्यों का आधार उनका परिश्रम करने का दायित्व है जिससे राज्य के नागरिकों को अपने उत्कृष्टतम आत्म-रूप की सिद्धि का पूरा अवसर मिले इसी से सरकार की नीति को नैतिक अवलम्ब मिलता है। पर यह ऐसी परिकल्पना है जो ऐतिहासिक अनुभव से ही सत्य सिद्ध की जा सकती है। सरकार की शक्ति उसी हद तक सरकार का अधिकार है जहाँ तक वह उसका उपयोग सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए करती है। हर सरकारी घोषणा के पीछे एक प्रश्न वाचक चिह्न लगा रहता है। यह फ़ैसला करना नागरिक का काम है कि उस प्रश्न का उत्तर किस प्रकार से

इस प्रवृत्ति का सब से बड़ा फ़ायदा यह है कि इसमें व्यष्टि के व्यक्तित्व को बहुत महत्त्व दिया गया है। राज्य सामाजिक अनुभव का फल भोगने का प्रयत्न करता है तो यह स्पष्ट है कि अनुभव की सब से विशद और व्यापक व्याख्या जो उसके सामने हो उसी के अनुसार उसे अमल करना चाहिए। वह किसी ऐसे सूत्र की भी उपेक्षा नहीं कर सकता जिस में कहीं किसी इंगित या विचार का बीज भी विद्यमान हो। लोकतंत्रीय सरकार की सच्ची स्थिति यही होती है। अगर समाज के हर वयस्क सदस्य को आत्म-अभिव्यंजना का मार्ग निर्बाध मिल जाये तो कम से कम उसकी सिद्धि की राह तो खुली होती ही है। इसमें दो तथ्य निहित हैं। एक तो यह कि किसी भी राज्य का स्वरूप इस बात पर निर्भर होगा कि उसके लोग अपने जीवन की अर्थवत्ता का मर्म किस हद तक सचेष्ट रूप से राज्य के प्रति निवेदित करते हैं। दूसरे यह कि राज्य की ओर से सब से पहली कोशिश इस बात की होनी चाहिए कि अपने सदस्यों को ऐसी स्थिति में लाए जहाँ उनके लिए अपने अनुभव का विश्लेषण रचनात्मक रूप से सम्भव हो सके। उदाहरण के लिए जिन लोगों की ज़िन्दगी रोटी की दैनिक कशमकश में गुज़रती है वे व्यापक रूप में इस बात को समझ-समझा नहीं सकते कि उनकी रोटी सड़े-गले अनाज से क्यों तैयार की जाती है। हर राज्य अपने नागरिकों के सहारे पर जीता है और उसका उपयोग वह तभी कर सकता है जब उसके सम्बन्ध में राज्य को स्पष्ट जानकारी हो।

इस प्रकार राज्य व्यक्तियों का एक संगम है जिसका लक्ष्य है सामान्य जीवन की समृद्धि। चर्च, मज़दूर-सभाओं आदि के समान यह भी एक संस्था ही है। उनके और इसके बीच अन्तर यह है इसके प्रादेशिक परिवृत्त में रहने वाले सभी लोगों के लिए इस की सदस्यता अनिवार्य है और आखिर में, अगर ज़रूरत पड़ ही जाये, तो वह अपनी प्रजा से बलात् अपने प्रति दायित्व पूरा करा सकता है। पर इसका नैतिक स्वरूप किसी भी अन्य संथा से भिन्न नहीं; वह उसी गम्भीर शर्त पर निष्ठा का हठात् आदान करता है जिस पर आदमी अपने मित्रों से उसका आदान करता है। उसे परखने की कसौटी यह है कि वह अपने सदस्यों को कौन-सी ऐसी चीज़ें दे पाता है जिन्हें वे अच्छा समझते हों। उसकी जड़ें उनके मन-मस्तिष्क में बिखरी होती हैं। अन्ततः उसे समर्थन मिलने का आधार वह सैद्धान्तिक कार्यक्रम नहीं जिस की घोषणा वह करता है वरन् यह है कि आम नागरिक इस बात को हृदयंगम कर ले कि उसकी संकल्पना के प्रति वफ़ादार होना उनकी सुख-समृद्धि की एक बड़ी ज़रूरी शर्त है। उसे यह आश्वासन देना चाहिए कि उसी सुख-समृद्धि की रक्षा में वह संलग्न है। उनकी भक्ति और निष्ठा पर उसका नैतिक दृष्टि से कोई दावा नहीं जब तक उन्हें उसकी उपलब्धि का प्रमाण न दिया जाये।

एक और दृष्टि से देखा जाये तो दूसरी संथाओं के विषय में दिये जाने वाले निर्णय की अपेक्षा राज्य-प्रयत्न-विषयक निर्णय का स्वरूप अधिक मौलिक होना चाहिए। उसके अधीनस्थ कार्यों की व्यापकता, उन्हें नियंत्रित करने के लिए उपयोग में लाये जाने वाले अधिकारों की प्रभूत मात्रा और आदमी की सुख-समृद्धि में अंतर ला देने की उसकी सामर्थ्य—इन सब के कारण राज्य के कार्यों को ऐसी सघन महत्ता प्राप्त हो जाती है जो किसी भी अन्य संस्था को नहीं दी जा सकती। अगर मैं चर्च की निषेधाज्ञाओं का पालन नहीं

करता तो मैं कभी भी उसे छोड़ सकता हूँ। जिन की दोस्ती मेरे लिए बहुत माने रखती है वे मुझे सामाजिक बहिष्कार से दण्डित कर सकते हैं। मुझे अवकाश की धमकी दी जा सकती है जिसके कारण मैं कांप उठूं। पर कम-से-कम जहाँ तक जागतिक और स्थूल परिणामों का सम्बन्ध है अपने सामान्य आचरण में विधि-व्यवस्था की समस्त शक्तियों द्वारा मेरी रक्षा की जायेगी। यही बात किसी और संस्था के बारे में—जिसका मैं सदस्य बनना चाहूँ—सच है। वह अपना क्षेत्राधिकार मानने पर मुझे विवश नहीं कर सकती। किसी-किसी मौक़े पर मैं अपने कार्यों में उसके हस्तक्षेप के विरुद्ध समाज की शक्तियों-साधनों का आवाहन भी कर सकता परन्तु राज्य का मामला बिल्कुल अलग है। उसके फ़ैसलों से असहमत होकर मैं बिना दण्डित हुए नहीं बच सकता। मूलतः मैं उसके क्षेत्राधिकार से अपने आप को अलग नहीं कर सकता। आज दुनिया का जो स्वरूप संघटित हुआ है उसमें मैं उसके बनाये हुए न्यायाधिकरणों के अलावा और कहीं अपनी शिकायत नहीं ले जा सकता। मैं जो ज़िन्दगी जीता हूँ उसके प्रकृत परिवेश में यही निर्णय का अन्तिम अधिष्ठान है। ज़ाहिर है, इस तरह उसकी संकल्पना का जो महत्त्व मेरे लिए है वह किसी भी अन्य संस्था की संकल्पना का नहीं। वह चाहे तो मेरे अस्तित्व की जड़ें खोद कर फेंक दे; वह चाहे तो मुझे धर्माचरण की इजाज़त देने से भी इन्कार कर दे, वह मुझे अपना जीवन ऐसे युद्ध में होम देने पर विवश कर सकता है जिसे मैं नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण मानता होऊँ। वह मेरे लिए बौद्धिक शिक्षण के वे साधन अलभ्य बना सकता है जिन के बिना आज की दुनिया में मैं अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। ऐसी पृष्ठभूमि में, शक्ति की कीमत यह तो होनी ही चाहिए कि उसके प्रयोग में विशेष सावधानी बरती जाए।

यह भी निश्चय ही स्पष्ट है कि जब तक यह सावधानता सुसंगठित और व्यवस्थित न हो, तब तक आज के युग में उसका कोई महत्त्व नहीं। अगर आधुनिक राज्य का विस्तार प्राचीन एथेन्स से अधिक न होता तो प्रत्येक नागरिक यह आशा कर सकता था कि वह अपनी आवाज़ सत्ता के अधिष्ठान तक पहुँचा सकता है। हम लोगों के साथ यह सम्भव नहीं है। दूसरों के साथ मिलकर वह ऐसा दबाव अवश्य डाल सकता है जिसके फलस्वरूप अंत में दूसरी ओर से समन्वय का हाथ बढ़ाया जाये। लेकिन सब से जल्दी की और ज़रूरी तो यह बात है कि राज्य के रूप इस तरह की संघटना ग्रहण करें जिससे सरकार की सत्ता, हर विन्दु पर, उत्तरदायी बनायी जा सके। यहाँ हमारी पद्धति अधिकांशतः इतिहास के अनुभव का अनुसरण करेगी। सरकार के आचरण के कुछ ऐसे ढंग रहे हैं जिन्हें किसी तरह माना नहीं जा सकता क्योंकि यह सिद्ध हो गया है कि उत्तरदायित्व की भावना से उनकी असंगति है। उदाहरण के लिए, उन राज्यों की यही स्थिति थी जिन में केवल एक सीमित वर्ग को मताधिकार प्राप्त था। आदमी का यह स्वभाव होता है कि वह थोड़े ही समय में अपने निजी हित को दूसरों की ख़ुशहाली का पर्याय समझने लगता है। जब तक सामान्य सुख-समृद्धि के विषय में उनकी अवधारणा पर कोई बाहरी रोक न हो तब तक इस बात की सम्भावना रहती है कि कहीं उसका दुरुपयोग न हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सत्ता निसर्गतः प्रयोगकर्ताओं के लिए ख़तरनाक होती है और उसको बनाये रखने के लिए चाहे कुछ भी युक्तियां पेश की जायें पर इस बात के भी कारण मौजूद हैं कि

उसका दुरुपयोग न होने देने के लिए कुछ सुरक्षणों की व्यवस्था की जायें।

ऐसे सिद्धांत में अराजकता का कम से कम अंकुर अवश्य रहता है। पहली बात तो यह है कि यह एक व्यक्तिवादी सिद्धांत है। इसमें मेरे मनोवेगों के समुचित परितोष को संस्था के औचित्य की कसौटी बना दिया गया है। यहाँ इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि अगर राज्य का अस्तित्त्व दूसरे लोगों की हितों की रक्षा करने के लिए है, तो वह मेरे हितों की रक्षा करने के लिए भी है और अगर वह ऐसा नहीं कर पाता तो वह मेरे ऊपर इस बात की नैतिक ज़िम्मेदारी डाल देता है कि मैं इस बात का पता लगाऊँ कि उसके ऐसा न कर पाने के हेतु क्या है। इसके बाद इसका भी यहाँ आग्रह है कि अपनी खोजबीन के नतीजों के आधार पर आवश्यक कदम भी मुझे उठाने ही चाहिएँ। यानी अनुषंगतः यह विश्लेषण मुझे नैतिक दृष्टि से इस बात पर मजबूर कर दे सकता है कि मैं राज्य-सत्ता के उच्छेद का प्रयत्न करूँ। अगर मैं यह समझता हूँ कि राज्य की शक्ति का उपयोग उन साध्यों की उपलब्धि के लिए नहीं हो रहा जो उसकी प्रवृत्ति में निहित हैं बल्कि ऐसे साध्यों के लिए हो रहा है जिनकी उससे कोई संगति नहीं तो नागरिक की हैसियत से उस बोध के परिणाम-स्वरूप उसका प्रति-क र करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। मैं राज्य का सदस्य इसलिए हूँ कि मय अपने संगी-साथियों के मैं भी अपने उत्कृष्टतम स्वरूप की उपलब्धि कर सकूँ। अगर मैं आश्वस्त हूँ कि राज्य यथाशक्ति अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न कर रहा है, तो मुझे प्रतिरोध नहीं करना चाहिए; और जो खोज-बीन की जायेगी, उसके फलस्वरूप अधिकांशतः निःसंदेह यही बोध होगा। मुझे उस हालत में भी प्रतिरोध नहीं करना चाहिए, जब मेरे पास इस विश्वास के लिए काफ़ी आधार नहीं कि मैं जिस परिवर्तन की हिमायत कर रहा हूँ, उससे मेरे द्वारा भावित साध्य की सिद्धि होने की सम्भावना है; इसके अतिरिक्त, मुझे इस सम्बन्ध मे भी निश्चिन्त होना चाहिए कि अपने साध्य के लिए मैं जो साधन प्रस्तावित कर रहा हूँ, वे कहीं सिद्धि की प्रक्रिया में उसका तात्त्विक स्वरूप ही तो नहीं बदल डालेंगे। प्रायः ऐसा हुआ है कि लोगों ने मंगल-कामना से प्रेरित होकर सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न किया है और बाद में लक्ष्य-च्युत होकर उसे धारण किये रहने के लिए ही उसका उपयोग कर उठे हैं। परन्तु मेरे द्वारा भावित नागरिकता—उन एहतियातों के दायरे में रहते हुए ही—या तो एक नैतिक साहसोद्यम है, वरना फिर कुछ भी नहीं। उससे मुझे सही-ग़लत का अपना बोध मिलता है। जब मैं उसके नैतिक निश्चयों के अनुकूल रह कर कार्य करता हूँ तो मैं उसके प्रयोजन को सच्चे तौर पर आगे बढ़ाता हूँ।

यही बात एक और तरह से भी कही जा सकती है। नागरिक के रूप में समाज पर मेरा यह दावा है कि दूसरे लोगों के साथ वह मेरे भी उत्कृष्ट आत्म-रूप की सिद्धि कराये। इस दावे में यह बात आ जाती है कि उन चीज़ों की उपलब्धि मुझे करायी जाये जि के बिना —ग्रीन के शब्दों में—मैं अपने नैतिक रूप का पूर्णोत्कर्ष नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि समाज के सदस्य के रूप में कुछ अधिकार मुझमें निहित हैं और समाज के आधारभूत उपकरण के रूप में मैं राज्य को इसी बात से परखता हूँ कि वह मेरे लिए उन अधिकारों का सार-तत्त्व उपलब्ध करने के लिए क्या ढंग अपनाता है। हाँ, राज्य के प्रति मेरे कुछ कर्तव्य भी हैं, जिनसे उनका प्रति-संतुलन हो जाता है। मुझे अधिकार इसलिए मिलते हैं कि समष्टि-

जीवन को समृद्ध कर सकूँ। परन्तु यदि उन अधिकारों को व्यवहार-रूप नहीं मिल पाता तो मैं इस परिकल्पना के आधार पर राज्य का परीक्षण करने का हक़दार हूँ कि वह समष्टि-कल्याण से इतर किन्ही साध्यों की ओर उन्मुख है। मैं उसकी सत्ता को उन अधिकारों की उपलब्धि के लिए प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति मानता हूँ। उसके नैतिक स्वरूप को जानने का अधिकार मेरे पास यही है कि वह उन अधिकारों को कहाँ तक अक्षुण्ण बनाये रख पाता है। अगर मैं देखता हूँ कि राज्य ने दूसरों को भरा-पूरा और समृद्ध अस्तित्व दिया है तो यह जानने का प्रयत्न मेरे लिए न्याय्य है कि उस भरे-पूरे और समृद्ध अस्तित्व का रास्ता मेरे लिए भी खुला है या नहीं। थोड़े में कहें, तो राज्य के विरुद्ध भी मेरे पास अधिकार इसलिए है कि मैं नागरिक हूँ। मुझे किसी भी क्षण उन सब क्षमताओं और शक्यताओं से पूरा लाभ उठाने का हक़ है, जो मेरे नैतिक पक्ष को उनसे मिल सकता है; मुझे हक़ है अपने आवेगों के सबसे अधिक सन्तोषप्रद समन्वय का, जो मैं सिद्ध कर सकूँ। बिना उन अधिकारों के मेरा अस्तित्व अपनी सारी अर्थवत्ता खो बैठता है—अगर उसका कुछ अर्थ रह जाता है तो केवल एक गुलाम की हैसियत से—अतः जो राज्य मुझे वे अधिकार नहीं दिला सकता, वह मेरे निकट कोई माने नहीं रखता।

इस तरह देखा जाये तो अधिकार राज्य की आधारशिला होते हैं। ये वे भाव हैं जो राज्य-सत्ता के उपयोग को नैतिक छाया से भूषित कर देते हैं और वे इस दृष्टि से नैसर्गिक अधिकार हैं कि अच्छे जीवन के लिए वे अनिवार्य हैं जिस हद तक वे अपरिज्ञात रहते हैं, उसी हद तक मैं, व्यक्तिगत रूप से ही नहीं, सामाजिक रूप से भी, अपने साथी-संगियों की सेवा करने के अवसर से वंचित रह जाता हूँ। जो राज्य उनकी उपेक्षा करता है वह अपने नागरिकों के हृदयों में अपनी जड़ें नहीं जमा पाता। नागरिकों के उसे जानने का माध्यम उसके द्वारा अधिकारों का अनुपोषण और आगे चलकर जैसे-जैसे वह उन अधिकारों को अधिकाधिक सारशील बनाने का प्रयत्न करता है, वैसे-ही-वैसे वह उनकी निष्ठा-भावना को जीतता जाता है। वे वस्तुगत भी हैं और प्रकृतिगत भी—इस अर्थ में कि वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा सही रहन-सहन के लिए उनकी आवश्यकता निर्दशित हो सकती है और इस मत की पुष्टि की जा सकती है कि सामाजिक क्रिया-कलाप काफ़ी-कुछ उसकी पूर्ति की चेष्टा करता है।

यहाँ जिस अवधारणा की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकारों के विषय में यह दृष्टिकोण कार्यात्मक है। अधिकार हमें इसलिए प्राप्त नहीं होते कि वे हमारे व्यक्तिगत आनन्द के माध्यम बनें। हम उनकी उपलब्धि केवल इसीलिए नहीं करते कि हम स्वयं ही अपने लिए और अपने आपमें साध्य हैं। अधिकार हमें प्राप्त होते हैं: इसीलिए कि हमारा हर पक्ष सामाजिक उपलक्षणाओं से परिव्याप्त है। हम जो कुछ भी करते हैं, हमारे आस-पास के जीवन पर उसका प्रभाव पड़ता है। हमारे सुख-दुःख सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक घटनाएँ हैं—राजनीति के विस्तीर्ण ताने-बाने में उनका अस्तित्व भले ही खो जाय पर सामूहिक रूप से देखा जाये तो उसके भविष्य के लिए उनकी महत्ता असंदिग्ध है। अधिकारों के कार्यात्मक सिद्धांत से अभिप्राय यह है कि हमें ये अधिकार दिये गए हैं कि हम अपने कृत्यों द्वारा सामाजिक पराम्परा को अधिकाधिक समृद्ध बना सकें।

हमें अधिकार होते हैं—इसलिए नहीं कि हम कुछ ग्रहण करें, बल्कि इसलिए कि हम कुछ काम करें। हम मानते हैं कि सामाजिक समृद्धि के भण्डार में हमारा योगदान बराबर-बराबर नहीं होगा पर फिर भी यह अनिवार्य है कि उस योगदान के साधन तो होंगे ही। कुछ तो निःसंदेह ही मंज़िल तक अपना रास्ता बनाते चले जायेंगे, चाहे उनके मार्ग में कितनी ही बाधायें क्यों न हों। और लोग अपने संगी-साथियों के अपार समूह में कोई भी ऐतिहासिक वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं कर पायेंगे चाहे उन्हें कितने ही अधिकार दे दिये जायें। परन्तु किसी भी समाज की आख़िरी कसौटी यह है कि वह रचनात्मक सेवा के रास्ते उन लोगों के लिए किस प्रकार से प्रशस्त करता है, जो उनसे लाभ उठाकर सचमुच कुछ करना चाहते हों। मोटे तौर पर यही वह कसौटी थी जिस पर फ्रांस १७८९ में और रूस १९१७ में खरे नहीं उतरे। जिन अधिकारों को वे मान्यता देते थे उनका उनके अधिकांश नागरिकों के जीवन से कोई सम्बन्ध न था। जब राज्य को ललकारा गया तो नागरिकों पर एक ऐसे ताने-बाने की रक्षा के लिए निर्भर नहीं किया जा सकता था जो उनके हितों की व्यवस्था से नितान्त असम्बद्ध था।

यह अधिकार-विषयक सिद्धान्त उन शक्तियों की आधार-भूमिका प्रस्तुत करता है, जिनसे राज्य को विशेषित किया जाता है। वह एक प्रभुत्व-सम्पन्न संगठन कहलाता है यानी अन्ततः उसे अपने कार्य-कलाप की परिसीमा निर्धारित करने का अधिकार है। यहाँ जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, उसके अनुसार इस दावे की कसौटी नितान्त व्यावहारिक है। हमें देखना है कि राज्य को किन अधिकारों से सम्पन्न होना चाहिए और राज्य-दर्शन में जो साध्य निहित है, उसकी पूर्ति के लिए उसे उन शक्तियों को किस प्रकार व्यवस्थित-संगठित करना चाहिए। किसी भी सामाजिक संस्था की कसौटी कोई निरपेक्ष तर्क नहीं जिसे पहले से ही शुद्ध मान लिया गया हो वरन् उस मान्य तर्क के विषय में संस्था के सदस्यों का अनुभव ही उसकी कसौटी है। इस पहलू से देखा जाये तो यह याद रखना ज़रूरी होगा कि हर दावे का अपना एक ऐतिहासिक परिवेश होता है। तथा अन्य बातों की अपेक्षा उसी के आलोक में उसके तत्त्वों को समझना-समझाना अधिक सरल और सही होता है। यह बात याद रखना भी बहुत ही ज़रूरी है कि यहाँ जिन कारणों का खंडन किया गया है, उन्हीं को आधार बनाकर अगर यह मान लिया जाये कि राज्य—किसी अजीब रहस्यमय तरीक़े से—हमारे श्रेष्ठतम अंश का मूर्तिमन्त रूप है, तो प्रभुता शब्द से द्योतित आम सत्ता का विश्लेषण उतना गंभीर नहीं रहता, जितना यह मान लेने पर होता है कि वह उसी छोटे-से मानव निकाय की संज्ञा है, जिसमें उसकी संकल्पना को कार्यान्वित करने की वास्तविक शक्ति सन्निहित होती है। समाज की वही व्यवस्था सबसे अच्छी होती है, जिससे सरल-अकुटिल मन के लोगों की नस्ल तैयार हो जाने की सबसे अधिक आशा हो। हो सकता है कि इस तरह की कोशिश के लिए नियंत्रण का एक ही अन्तिम केन्द्र अनिवार्य हो। यह भी सम्भव है कि शक्ति के प्रयोग पर नैतिक बन्धनों के साथ ही प्रशासकीय बन्धन भी शामिल हों। यह निर्विवाद है कि कोई भी व्यक्ति जो शक्ति को निसर्गतः एक न्यास की तरह मानता है, इसी मत का अनुसरण करेगा : शक्ति एक ऐसा न्यास है जिसकी बराबर सतर्कता से जाँच-परख होती रहनी चाहिए क्योंकि उसका कभी भी दुरुपयोग हो सकता है। अगर

राज्य को जानने की कसौटी यही है कि वह अधिकारों का किस हद तक अनुपोषण कर पाता है, तो ज़ाहिर है कि उसके लिए उसके पास शक्ति भी होनी ही चाहिए पर यह ख़तरा हमेशा मौजूद रहता है कि जो शक्ति कल्याण की सिद्धि लिए होती है, समर्थता के कारण उसी का प्रयोग ध्वंस के लिए भी किया जा सकता है। सदाशयता का आश्वासन अब काफ़ी नहीं रह गया है। सिंहासन पर आसीन हो शासन की बागडोर सँभालने वालों की परख दीन-हीन और साधारण आदमी के उन्नयन के आधार पर ही की जा सकती है।

एक और बात यहाँ कह दी जानी चाहिए। इस प्रकार की स्थापना इस मान्यता पर आधारित है कि औसत आदमी एक राजनीतिक प्राणी होता है। इसमें यह युक्ति भी आ जाती है कि ऐसी व्यवस्था भी हो सकती है कि वह राज्य के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगे, और उस दिलचस्पी का संयोग ऐसी विवेक-शक्ति से हो जाये जो राजकाज के लोकतंत्रीय सचालन के लिए उचित और आवश्यक है। किसी भी राजनीतिक विवेचना में यह बात शुरू मे ही मान लेनी चाहिए कि ये बहुत बड़ी-बड़ी मान्यताएँ हैं। आधुनिक समाज की समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जिनमें राज्य की समझ का अभाव होता है। वे बड़ी धृष्टता से निजी हित के संकुचित दायरे में आबद्ध रहते हैं। इतना ही नहीं कि वे सामाजिक प्रवृत्ति की सामान्य धारा को समझने और पकड़ने का प्रयत्न नहीं करते, वे यह भी नही जानना चाहते कि वे जिस स्थिति विशेष में हैं, वहीं से होकर वह धारा किस प्रकार बहती है। सामाजिक संघर्ष को वह एक ऐसा नाटक समझते हैं, जिसमें उनकी अपनी कोई भूमिका नहीं। उनको न तो उसके अभिनेताओं में कोई दिलचस्पी होती है, न दृश्यों में। वे तो सिर्फ़ यह चाहते हैं कि राजकीय हस्तक्षेप के कारण उनके निजी मामलों में किसी तरह के बाधा-बन्धन पैदा न हो पायें।

ऐसी स्थिति का इन दो में से एक मतलब हो सकता है: इसका या तो यह मतलब हो सकता है कि हम एक ऐसा मानव-निकाय खोज निकाल सकते हैं जिन्हें राज्य का अभिभावकत्व—एक स्वाभाविक बात मान कर—सौंपा जा सकता है। इस मत के अनुसार अरस्तू द्वारा प्रशंसित स्वामी-दासस-म्बन्ध इस कठिनाई का आदर्श समाधान हो सकता है। पर सच तो यह है कि हम 'प्रकृत' स्वामी और 'प्रकृत' दासों को नहीं खोज निकाल सकते —उसका एक ही तरीक़ा है कि हम प्रयोग करें और ग़लती करने पर फिर नये प्रयोग करें और इसी पद्धति में लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था का मर्म निहित है। दूसरे, यह बात साफ़ है कि आदमी के निजी मामलों का अप्रत्यक्ष रूप से ही निरन्तर सार्वजनिक प्रभाव पड़ता रहता है; उनको बाधा-बन्धन से मुक्त रखा जा सकता है तो सिर्फ़ राजनीति पर ध्यान देकर उसकी उपेक्षा करके नहीं। शायद इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण सवाल है समझ का। आधुनिक राज्य की संघटना ऐसी जटिल और ग्रंथिल होती है कि बड़े लम्बे अध्ययन के बिना उसके रहस्यों में पैठा नहीं जा सकता है। परन्तु अगर हम नागरिकता का अनुशासन मानें, जिसमें लोगों को प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो कम-से-कम उसकी स्थूल रूप-रेखा उन सबके लिए सुबोध है जिनकी स्वयं जीवन में कुछ दिलचस्पी हो। अतीत में हमारी ग़लती यह रही कि हम सामान्य मानव और सामान्य समाज के बीच विरोध की कल्पना करते आये हैं जिसके फलस्वरूप दोनों की ही हानि हुई है। सचाई यह है कि हम राज-

नीतिक मामलों में इस क़दर डूबे रहते हैं कि उसका विस्तार हमारे जीवन के घनिष्टतम तत्त्वों तक होता है—हम चाहे इस बात को जानें या न जानें। अगर कहीं वह विविक्त होने की आशा कर सकता है, तो केवल निर्णय करने में हालाँकि उसके परिणाम भी ऐसे होते हैं, जिनका सामाजिक महत्त्व होता है।

वास्तविकता तो यह है कि इन्सान क़दम-क़दम पर राजनीतिक फ़ैसले करता है और उसके सामने असली समस्या सिर्फ़ यह है कि उसका फ़ैसला किस सत्ता को अभ्युद्दिष्ट किया जा सकता है। जटिलता का मतलब निस्संदेह यही है कि केवल बड़े-बड़े मसलों पर ही उनका निर्णय माना जा सकता है और निश्चय ही यह भी कि निर्णयाधीन मसलों को बराबर अधिकाधिक सरल रूप देते रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, लोकतंत्र का अर्थ है प्रत्यायुक्ति द्वारा अभिजात-तन्त्र। पर यह प्रत्यायुक्ति वाली बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। दायित्त्व के परि-वेश में ही आदमी के व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास और उत्कर्ष हो पाता है। गेटे की उक्ति है: आदमी का चरित्र संसार-सागर की आकुल तरंगों पर ही ढलता है। जीवन के पूर्ण प्रकर्ष के लिए उसका नियंत्रण आवश्यक है; उसे नियंत्रित करने के लिए अपने सह-नागरिकों को यह समझाना ज़रूरी है कि हमने जीवन में जो अनुभव किये हैं, उनसे हमें किन सत्यों का साक्षात्कार हुआ है। आज सभ्यता का सबसे बड़ा कार्य लोगों को इस तरह प्रशिक्षित करना है कि वे अपने अनुभव के विवक्षित अर्थों की समंजस अभिव्यंजना कर सकें।

अध्याय—२

प्रभु - सत्ता

—१—

आधुनिक राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य होता है। इसलिए अन्य समुदायों के होते हुए भी वह सर्वथा स्वतन्त्र होता है। वह उनमें अपनी संकल्पना के ऐसे तत्त्वों का निवेश कर सकता है जो किसी बाहरी शक्ति की संकल्पना के प्रभाव से मुक्त हों। इसके अतिरिक्त उसके अन्तर्गत जो क्षेत्र आता है, उसमें वह सर्वोपरि होता है। उस क्षेत्र के सब लोगों और संस्थाओं को वह आदेश देता है, किसी से आदेश ग्रहण नहीं करता। उसकी संकल्पना पर किसी तरह की कोई विधिक सीमाएँ नहीं होतीं। आशय की घोषणा कर देने भर से यह मान लिया जाता है कि उसका जो कुछ प्रयोजन है वह ठीक ही है।

परन्तु प्रभु-सत्ता-विषयक इस सिद्धांत के कम-से-कम तीन पहलू ऐसे हैं जिनसे इसकी सावधानी के साथ जाँच-परख की जानी चाहिए। सबसे पहले तो इसके ऐतिहासिक विश्लेषण की जरूरत है। आज राज्य का जो स्वरूप हमारे सम्मुख है, वह उसने काल की चपेट से बचे रह कर प्राप्त नही कर लिया : वह जो कुछ है सो ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप ही। उस विकास के सहारे, उसकी वर्तमान शक्ति का स्वरूप भी समझा जा सकता है और अन्त में, उसके संभावित भविष्य के विषय में कुछ इंगित भी मिल जाते हैं। दूसरी बात यह है कि यह एक विधि-सिद्धांत है। यह एक संकल्पना विशेष की अभिव्यंजना को ही न्याय बना देता है — बिना यह देखे-भाले कि उसके तथ्य क्या हैं। जैसा हम देखेंगे, इस तरह की परिभाषा का अपना एक अतर्क्य तर्क होता है पर जिन मान्यताओं को आधार बनाकर उसका विकास करना पडता है, उसके कारण यह राजनीति-दर्शन के लिए महत्त्वहीन हो हो जाती है।

तीसरे, प्रभु-सत्ता का आधुनिक सिद्धांत राजनीतिक संगठन का सिद्धांत है। उसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि हर समाज-व्यवस्था में अभ्युद्देश का कोई ऐसा केन्द्र होना चाहिए जो सबसे ऊपर हो; कोई ऐसी सत्ता जो पारस्परिक विवादों में अधिकार पूर्वक अपना निर्णय दे, जिसका पालन हो। यह युक्ति दी जा सकती है कि राजनीतक दृष्टिसे इस मत की सत्यता वास्तव में संदिग्ध ही है और कम से कम इस बात की सम्भावना तो हो ही सकती है कि इसके बड़े ख़तरनाक नैतिक परिणाम हों। यहां यह कहा जा सकता है कि अगर प्रभु-सत्ता की समूची अवधारणा का ही परित्याग कर दिया जाये तो राजनीति-विज्ञान का अमित हित हो। हमारी जो विचार्य वस्तु है सो है शक्ति और शक्ति के स्वरूप में जो कुछ महत्त्व-पूर्ण है, वह है उसका सेव्य साध्य और यह कि उस साध्य की लब्धि में वह कैसे प्रवृत्त होती है। ये दोनों साक्ष्य के प्रश्न हैं और विधिक संघटना से जनित अधिकारों से सम्बद्ध अवश्य हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे मार्गों की विविधता असीम हो सकती है जिनके द्वारा शक्ति के प्रयोग का आयोजन किया जाये: अत: यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो

प्रभु-राज्य उन्हीं विविध मार्गों में से एक हैं,—शक्ति के विकास-क्रम का एक संयोग-मात्र, जिसकी उपादेयता अब अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी है। मानवता के हित आज एक से और समानुरूप हो गये हैं—अतः हमारे सामने समस्या अब यह हो गई है कि आधुनिक राज्य को मानवता के हितों की ओर किस तरह प्रवृत्त किया जाये। उस साध्य के लिए हम किस मत का अनुसरण करते है—इसका महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है, जब तक कि हम इस विषय में आश्वस्त हैं कि उस साध्य का सचमुच परितोष हो रहा है।

प्रादेशिक और सर्वशक्तिमान राज्य का जन्म १६वीं शताब्दी के धार्मिक संघर्षों से हुआ। उससे पूर्व समूची पाश्चात्य सभ्यताको एक ही राष्ट्रमंडल माना जाता था जिसमें प्रभु-सत्ता का, इस शब्द के आधुनिक अर्थ में, कोई अस्तित्व न था। कम से कम सिद्धांततः चरम-शक्ति न्याय-दृष्टि के स्वामित्व में थी और पोप तथा सम्राट को उसका मूर्तिमन्त रूप माना जाता था। दोनों शक्तियों की मुठभेड़ हुई और रोम की आसन्नवर्ती विजय, राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ नैतिक पतन का आरम्भ हो जाने के कारण, अकारथ हो गयी। चर्च ने हठवश सुधार की माँगों पर बिल्कुल कोई ध्यान नहीं दिया था; उसके विरुद्ध जो आवाजें उठाई गईं, उनमें राष्ट्रीय राज्य के जन्म की सम्भावना निहित थी। जब लूथर ने ईश्वर-प्रेरित चर्च के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की तो उसे राज्य के ईश्वरीय तत्त्व का बलपूर्वक आख्यान करना पड़ा ताकि एक धर्म-निरपेक्ष संस्था का हस्तक्षेप करने का अधिकार स्पष्ट हो जाये। यूरोपीय नरेश उसका मत मानने को बिल्कुल तैयार नहीं थे और जब उन्हें पुनरुत्थित चर्च की ओर से ललकारा गया तो उन्हें अपने पक्ष का सबसे सरल सैद्धांतिक औचित्य यही दीख पड़ा कि उन्होंने अपनी प्रभु-सत्ता पर और उसमें निहित संयुक्त निष्ठा पर ज़ोर दिया। नरेश को राज्य का साकार रूप माना जाने लगा। जो कुछ उसने चांहा, वही उचित हो गया क्योंकि वह उसकी चाहना थी। मध्ययुग की तरह उचित का मतलब सार्वभौम न्याय का एक विशेष पहलू नहीं रह गया; इसका मतलब हुआ वह जो राजनीतिक संघटना में एक केन्द्र से उद्भूत होती है और अपने प्रबल ऐक्य के कारण समुदाय की आक्रम-शक्ति को बल और निश्चायकता देता है। बाडिन के 'रिपब्लिक' में, जिसमें प्रभु-सत्ता के सिद्धांत की सर्वप्रथम आधुनिक ढंग से विवेचना की गई है, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस पीढ़ी के लिए यह दृष्टिकोण कितना अहम और आवश्यक था। बाडिन ने युद्ध के युग में शांति की युक्ति पेश की थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'—गन्तव्य के लिए सीधा प्रशस्त मार्ग है। अगर लोगों को प्रभु-संस्था की संकल्पना को सर्वोच्च समझ कर मानने के लिए राज़ी किया जा सके, तो विरोध पक्ष के बड़े-बड़े दावों का आधार ही खत्म हो जाता है और हेनरी चतुर्थ फिर फ्रांस को वह समृद्धि दे सकता है जो धार्मिक संघर्ष के कारण खतरे में पड़ गई।

इस तरह प्रभुता-सम्पन्न राज्य ने अपने विकास के साथ यह सिद्ध कर दिया कि धार्मिक दावों की अपेक्षा धर्म-नरपेक्ष व्यवस्था उच्चतर है। उसने पुरोहित वर्ग को दबा कर मातहत सत्ता की स्थिति में पहुँचा दिया —उसी स्थिति में जहाँ से अन्धकार युग के पश्चात् स्वयं वह बड़ी कठिनाई से उभर पाया था। बाडिन की दलील है—और यही दलील इसी प्रकार के विघटन-युग में बाद में हॉब्स ने दी थी—कि अगर राज्य का अस्तित्व बनाये रखना हो

तो हर संगठित राजनीतिक समुदाय में एक निश्चित सत्ता होनी चाहिए जिसकी आज्ञा का न केवल अपने आप पालन हो, बल्कि जो अपने आप में सत्ता की पहुँच के बाहर भी हो। हॉब्स की युक्ति की जड़ यही थी। राज्य की संकल्पना या तो सब कुछ हो या फिर कुछ भी न हो। अगर उसको चुनौती दी जा सकती है तो अराजकता की संभावना स्पष्ट ही है। रूसो और चीफ़ जस्टिस मार्शल ने भी अपनी-अपनी तरह से यही बात कही है। उनका कथन है कि प्रभुता-सम्पन्न-जन उसके उपकरणों की कारगर शक्ति द्वारा अपमानित होना बरदाश्त नहीं कर सकते। अगर उसे उन सबके भाग्य की बागडोर सँभालनी है, तो निश्चय ही उसकी संकल्पना अनभिशंसनीय होनी चाहिए। हमें उस वातावरण को भुला नहीं देना चाहिए जिसमें न केवल प्रभुत्त्व के सिद्धांत का जन्म हुआ, बल्कि जिसमें अपने विभिन्न उन्नायकों की वाणी द्वारा उसे नया बल और नयी स्फूर्त्ति मिलती आयी है। बॉडिन से हीगल तक ऐसा वातावरण हमेशा ही संकट का काल रहा है, और सदा यह प्रतीत हुआ है कि अगर राज्य को उसके सदस्यों की समन्वित निष्ठा न मिली, तो उसका ध्वंस हो जायगा। वह निष्ठा मिल सकती है अगर विधिक वरिष्ठता प्रभुता-सम्पन्न अधिकरण में प्रतिष्ठित हो! जब तक धार्मिक असहिष्णुता यूरोप का स्वभाव था तब तक दमित अल्पसंख्यकों के लिए यह बात मानना बड़ा मुश्किल था कि विधिक वरिष्ठता में नैतिक सत्ता की बात भी निहित है। लेकिन सहिष्णुता का उदय होने के साथ-साथ वह कठिनाई खत्म हो गई। धार्मिक विभेद तो अब स्थायी रूप से जाने-पहिचाने जा चुके थे अतः अब केवल राज्य ऐसी संस्था रह गया जिसका अपनी चौहद्दी में बसने वालों पर वैसा ही दावा था जैसा कभी धर्म का था। लगता था कि आखिर एक ऐसा आधार मिल गया है, जहाँ पर नागरिकता के अधिकार रखने वाले सभी लोग समान रूप से मिल सकते हैं। प्रतीत होता था कि कम से कम उस भूमिका में न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी; न कोई बन्धन-ग्रस्त है, न कोई बन्धन-मुक्त। सामाजिक बन्धनों की चरम अभिव्यक्ति एक ऐसे राज्य में हुई,—खास तौर पर जैसे-जैसे लोकतंत्रीय सरकार के रूप विकसित होते गये—जिसका स्वरूप अन्य संस्थाओं की तरह पक्षपातपूर्ण न था। राज्य ने अपने विशाल बाहुओं में सभी लोगों को बाँध लिया था क्योंकि वह साहचर्य का एक अनिवार्य रूप था। उसकी प्रभुता को सर्वोत्कृष्ट और सर्वोच्च मानना आसान था।

इस उन्नयन का एक और भी कारण था। सुधार आन्दोलन के दबाव से जब पोपतन्त्र को सार्वभौम क्षमता की स्थिति से खदेड़ दिया गया तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बना कर उसकी क्षतिपूर्त्ति करनी चाही। प्रवासी फ्रांसीसियों के लिए फ्रांस के बादशाह का जो स्थान था जेसुइटों के अनुसार रोमन कैथोलिक मतानुयायियों का वही संबंध पोप से था। वास्तव में, उस दावे के पीछे सर्वोपरिता के कुछ धूमिल अवशेषों का अस्तित्त्व था और उनका तिरोधान तब हुआ जब धर्म-निरपेक्ष राज्य के स्थायित्त्व को सखेद स्वीकारा गया। असल महत्त्व तो इस धारणा का था कि प्रभुता-संपन्न सत्ताओं के अधिकारियों के बीच काम-काज के नियमन के लिए नियम होना आवश्यक है। ग्रेटियस ने बड़े प्रभविष्णु ढंग से घोषणा की थी कि राष्ट्रों के बीच की भूमि भी करार का विषय हो सकती है और जैसे राज्य की संकल्पना प्रजा के लिए अवश्य मान्य होती है, वैसे ही यह भी नैतिक दृष्टि से किसी प्रकार कम मान्य

नहीं। यह बात मान ली गई कि राज्य ही वह स्वाभाविक इकाई है जो इस तरह के कार्य कर सकती है और वह यह कार्य अपने राजकीय अधिकरणों के द्वारा सम्पन्न करेगा। और १७वीं शताब्दी के दौरान में जब राज्य राजनयिक संसर्ग की स्वाभाविक और अन्तिम सरणि बन गया, और इस तरह उनकी प्रवासी प्रजा के अधिकारों को पक्का सुरक्षण मिला, तो उनके प्रभुत्त्व के क्रम की आख़िरी कड़ी भी पूरी हो गई। इसके बाद, कम-से-कम कानून की दृष्टि से, उनकी संकल्पना पर कोई बाहरी रोक न रह गई। उनकी स्वीकृति ही अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की स्वीकृति थी और उस स्वीकृति में यह बात निहित थी कि उन्होंने जिस तरह बेरोकटोक स्वीकृति दी है, उसी तरह उसे वापस भी लिया जा सकता है। संक्षेप में, जिसे 'राष्ट्रों की बिरादरी' कहा गया उसका अभिप्राय मध्यकालीन रेसपब्लिक। क्रिश्चियाना (मसीही गणतंत्र) का पुनर्गठन न था—अगर यह मतलब था तो केवल लक्षणा द्वारा। मानवता के स्वीकृत अधिकार केवल वे ही नियम बन गये, जिनका पालन करने के लिए राज्य सहमत हो गये और ये नियम ऐसे थे जिन्हें जब चाहें तब तोड़ने के लिए क़ानूनी तौर से वे पूरी तरह आज़ाद थे—जैसा कि १९१५ में बेल्जियम के मामले में हुआ था। तो, यह क्रम बिल्कुल पूरा हो चुका था। अब कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्य और अधिकारों का ब्यौरा उस सरकार द्वारा प्रवर्तित आदेशों और निषेधों की सूची में पढ़ सकता था जिसके अधीन वह बसता हो। देश में वह उन अधिकारों का उसकी संविधियों में सन्निवेश करा सकता था, विदेश में वह उन विशेषाधिकारों का उपयोग कर सकता था जो उसके कौशल ने दूसरे राज्यों के सौजन्य से हथिया लिये हों।

फिर भी इस सब में जो बात किसी प्रेक्षक का सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है वह यह कि इसमें निरपेक्ष नहीं, वरन् ऐतिहासिक तर्क परिलक्षित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर, ऐसी निष्ठा के संगठन की बात सोच पाना मुश्किल नहीं जो राज्य की सीमाओं को लाँघ जाती हों। उदाहरण के लिए, मुट्ठी भर लोगों के हाथ में लड़ाई छेड़ देने की ताकत दे देना उन लोगों को काल-विसंवादिता प्रतीत हो सकती है जो युद्ध के भीषण परिणामों की कल्पना कर सकते हैं। जब अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राज्य की प्रभुता स्वीकार की गई थी, तब ऐसी कोई सत्ता विद्यमान न थी, जिसे उस तरह का नियंत्रण सौंपा जा सकता हो। अब इस बात पर कम-से-कम मतभेद तो हो ही सकता है कि राज्यों से उच्चतर किसी ऐसी सत्ता की बात विचारी जाये जिसे राष्ट्र-हित से अधिक व्यापक क्षेत्र वाले मामलों के नियमन का भार सौंपा जा सके। युद्ध के मामले को लें तो यह बात साफ़ हो जाती है और, मिसाल के तौर पर उन देशीय जातियों के मामले को ले सकते हैं, जिनकी सारी चतुराई शोषण में आधुनिक व्यापारी की प्रतिभा के सामने अकारथ हो जाती है। कहने का मतलब यह कि जहाँ कहीं भी एकान्वित और अन्तर-निर्भर दुनिया के हितों को देखते हुए आचरण के एक अन्तर्राष्ट्रीय मानक की ज़रूरत महसूस हों, वहाँ मिल कर उसकी संघटना करने और मिल कर उसे लागू करने की बात सोची तो जा ही सकती है। यह हम आगे चल कर विचार करेंगे कि इस तरह की धारणा का विवक्षित अर्थ क्या है? यहाँ तो इतना स्पष्ट कर देना ही काफ़ी है कि इसमें, कम-से-कम अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष में, राज्य की प्रभुता ख़त्म होने की बात भी निहित है। इसमें राज्य को राज्यों के समाज की सिर्फ़ एक इकाई के रूप में देखा गया है और उस

राज्य-समाज की संकल्पना ऐसी प्रक्रिया से निर्धारित की जायेगी, जिसमें उसकी बात पत्थर की लकीर नहीं मानी जायेगी। ज्यों-ज्यों इस सिद्धांत को अधिकाधिक मान्यता मिलती जाये, इसके अनुसार किसी विसंवादी राज्य के व्यक्ति-नागरिक का यहाँ तक फ़र्ज़ होगा कि वह अपनी दृष्टि को देश-भक्ति की भावाच्छन्न धूमिलता के पार ले जाकर संघर्ष के किसी मसले को देखने-समझने का प्रयत्न करे। हो सकता है कि तब वह यह घोषणा कर दे कि प्रस्तुत मामले में उसके मत से राज्य-समाजकी संकल्पना का पालन करना ही उसका सबसे बड़ा कर्तव्य है।

राष्ट्र के ही स्तर पर सोचें तो भी तर्क का क्रम इसमें कुछ खास भिन्न नहीं होगा। राज्य के कार्य-कलाप का अगर अध्ययन किया जाये तो उसे शक्ति-प्रयोग की सीमितताओं के इतिहास पर ही मुख्य रूप से केन्द्रित होना पड़ेगा। जो प्रभुता के केवल सैद्धांतिक तत्त्वों का उपयोग करते है, वे देर-सबेर उनसे वंचित ही कर दिये जाते हैं। राज्य व्यक्तियों के माध्यम से ही काम-काज चलाता है। उसके प्रभुता-सम्पन्न अधिकरण के रूप में कार्य करने वाली सरकार अगर निरन्तर निरपेक्षता के लिए प्रयत्नशील रहती है तो ऐतिहासिक दृष्टि से, उसके स्थायित्व की कभी कोई आशा नहीं हो सकती। १७वीं शताब्दी के इंगलैण्ड का गृह-युद्ध और क्रांति १७८९ का फ्रांस और १९१७ का रूस—सभी प्रभुता की समस्या को समझने के लिए सूत्र के समान हैं। लगता है कि उनका सबक यही है कि हर कार्य के लिए सत्ता का संगठन नियम के अनुसार ही किया जाना चाहिए और यह कि समुदाय की आज्ञाकारिता सरकार के प्रति उसी हालत में निवेदित होती है जब कि वह उन नियमों का पालन करे। इसका मतलब यह हुआ कि जब शक्ति अनेक लोगों में अधिष्ठित हो तो वह प्रणाली को लेकर ही मर्यादित नहीं होती बल्कि उन लक्ष्यों की दृष्टि से भी मर्यादित होती है जिनकी ओर उसे निर्देशित किया जा सकता है।—अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से प्रभु-सत्ता सदा ही अपने परिवेश के अनुसार सीमित होती है। सुरक्षित वह तभी रहती है जब उसका उपयोग इस तरह ज़िम्मेदारी के साथ किया जाये। लेकिन प्रभु-सत्ता की परिभाषा यह है कि वह असीम होती है और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इस तरह उसकी परिकल्पना का तर्क उसके अनुभव के बिल्कुल प्रतिकूल है।

यहाँ एक और दिलचस्पी की बात का उल्लेख कर दिया जाये। प्रभु-सत्ता के सिद्धान्त को ढालने में जिनका सब से प्रबल योग रहा है यानी बॉडिन, हाब्स, रूसो, बेंथम और आस्टिन में से एक आस्टिन को छोड़ बाकी सभी उस समय अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे जब संघानीय राज्य के स्वरूप का अन्वेषण पूरी तरह से बिल्कुल भी नहीं हुआ था। वे या तो, बॉडिन की तरह नरेश की असीम शक्ति की बात सोचते थे अथवा बेंथम के समान विधानांग की असीम शक्ति का विचार किया करते थे और रूसो की तरह वे किसी भी ऐसे कृत्य को विधिवत् मानने से इन्कार कर सकते थे जो केवल एक प्रतिनिधि-अधिकरण द्वारा सम्पन्न हुआ हो। उनकी मान्यताओं को संयुक्त राज्य अमरीका जैसे राज्य पर सही सिद्ध करने की कठिनाई स्पष्ट ही है। कांग्रेस एक मर्यादित संस्था है जिसके अधिकार बड़ी सावधानी से व्याख्यात हैं, इसी तरह से विभिन्न राज्य संविधान की परिधि में

अच्छी तरह से जकड़े हुए हैं और संविधान के संशोधन में भी यह शर्त है कि कोई भी राज्य, बिना उसकी अपनी मर्ज़ी के, सेनिट में अपने बराबर मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। इस लिए सिद्धान्त रूप से देखा जाये तो अमरीका में कोई अधिकरण प्रभुता सम्पन्न नहीं; सर्वोच्च न्यायालय के जजों से भी ऊपर संविधान के संशोधन होते हैं—तो ज़ाहिर है कि वे अभ्युद्देश के उपान्त्य अधिकरण हुए। अतः एक अजीब ऐतिहासिक अनुभव ने ऐसा राज्य बनाने के साधन प्रस्तुत किये हैं जिसमें प्रभु-सत्ता की अवधारणा ही नदारद है। हाँ, जैसा कि कुछ जर्मन सिद्धान्तवादियों ने किया है, हम प्रभु-सत्ता के सिद्धान्त को इतनी प्रभु महत्ता दे सकते हैं कि हम यह कहें कि जिस समाज में इसका अभाव है उसे हम राज्य की संज्ञा ही नहीं देंगे। किन्तु जो राजनीति-दर्शन अमरीका के राज्य कहलाने के अधिकार को ही स्वीकार नहीं करता वह वास्तविकता के जगत में शायद स्वीकार्य नहीं हो सकता।

—२—

प्रभु-सत्ता के क़ानूनी पहलू की सब से अच्छी परीक्षा जान आस्टिन द्वारा उसे दिये गये रूप के एक वक्तव्य से हो सकती है। उसने दलील दी कि राज्य के क़ानूनी विश्लेषण में सब से पहले यह ढूंढ़ निकालना ज़रूरी है कि समाज-विशेष में वह निश्चित वरिष्ठ सत्ता कौन-सी है जिस की आज्ञा का जनसमुदाय स्वभावतः पालन करता है। वह वरिष्ठ सत्ता किसी और उच्चतर सत्ता की आज्ञा का अनुसरण न करती हो—यह ज़रूरी है। जब जब हम उस सत्ता का पता पा लेते हैं जिसके आदेशों का स्वभावतः पालन होता है और जिसे किसी से आदेश नहीं लेना पड़ता तो वही राज्य में स्थित प्रभु-सत्ता हुई। स्वतंत्र राजनीतिक समुदाय में वह प्रभु-सत्ता निश्चित और निरपेक्ष होती है। उसकी संकल्पना पर कोई सीमाएँ नहीं होतीं क्योंकि अगर उसे कृत्य करने में नियंत्रित किया जा सके तो वह सर्वोपरि नहीं रह जायेगी—उस हालत में वह नियंत्रक सत्ता के अधीन होगी। उसकी संकल्पना अविभाज्य होती है क्योंकि यदि कुछ व्यक्तियों और कुछ कृत्यों-विषयक अधिकार पूर्णतः और अविलोप्य रूप से किसी निकाय को सौंप दिये जायें तो प्रभु-सत्ता की सार्वभौम सर्वोपरिता खत्म हो जाती है और फिर वह परिभाषा के अनुसार प्रभु-सत्ता नहीं रह जाती। यह भी साफ़ है कि उसकी संकल्पना अन्य-प्रेषणीय नहीं है क्योंकि अगर कोई प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता अपने प्रभुत्व से वियुक्त हो जाती है तो फिर अपनी मर्ज़ी से उसकी पुनराप्ति नहीं कर सकती। अतः सीधी बात है कि क़ानून प्रभु-सत्ता की संकल्पना ही है। वह प्रजा के लिए कुछ कृत्य-विशेष करने अथवा न करने का आदेश है और उस आदेश का पालन न करने का फल होता है दण्ड भोगना। विहित क़ानून की सीमितताएँ प्रभु-सत्ता पर लागू नहीं होतीं क्योंकि वही उसका सृजन करती है। अतः क़ानून के क्षेत्र में, जैसी कि हॉब्स की खरी उक्ति है, अन्याय्य आदेश जैसी कोई चीज़ नहीं होती। चूंकि प्रभु-सत्ता के ऊपर कोई सीमितताएँ लागू नहीं होती अतः उसे जो कुछ वह चाहे उसकी संकल्पना करने का क़ानूनी तौर पर हक है।

इस मत की तिहरी उपलक्षणाओं को ज़ोर देकर प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। आस्टिन के अनुसार राज्य एक क़ानूनी व्यवस्था है जिसमें एक निश्चायक सत्ता अधिकार

के चरम स्रोत के रूप में कार्य करती है। दूसरे, उसकी सत्ता मर्यादित नहीं होती है। वह मूर्खतापूर्ण काम भी कर सकता है, बेईमानी भी अथवा, नतिक शब्दावली में, अन्याय भी कर सकता है। जहाँ तक क़ानूनी सिद्धान्त की बात है उसके कृत्यों के स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं। यदि वे ऐसी सत्ता से उद्भूत हुए हैं जो आदेश-विशेष देने में सक्षम है तो वे ही क़ानून हैं। तीसरे, आदेश क़ानून के सार-तत्त्व का होता है। कुछ काम आप को करने ही चाहिएँ कुछ नहीं करने चाहिएँ। दोनों दिशाओं में दायित्व निभाने में कोई चूक हुई कि दण्ड मिला।

अपने संकुचित क्षेत्र में आस्टिन का मत कुछ निश्चित मान्यताओं से उद्भूत तथ्यों का सही विश्लेषण है। अगर विधिज्ञ प्रभु-सत्ता को सिर्फ़ आदेश के एक रूप की तरह से महत्त्वपूर्ण समझता है तो ज़ाहिर है कि उसी पहलू को लेकर विचार करने का उसको हक़ है। इसके आगे वह यह भी मान सकता है कि प्रभु-सत्ता के अधीन जो शक्ति है वह असीम है और शक्ति से वही अर्थ समझना चाहिए जिसका प्रयोग आधुनिक और अपेक्षाकृत व्यवस्थित राज्यों के न्यायाधिकरणों द्वारा किया जाता है। किन्तु ये मान्यताएँ आधुनिक राज्य की सफ़ाई के रूप में राजनीतिक प्रयोजन के लिए उसे निरर्थक कर देती हैं। यहाँ यह साफ़ है कि प्रभु-सत्ता ऐसे कार्य में लगी है जिसे आदेश का रूप देना बिल्कुल भी उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि वास्तव में किसी भी संगठन के अधीन असीमित शक्ति नहीं होती और जब तक हम इस बात को अच्छी तरह नहीं समझते कि प्रभु-सत्ता ऐसी चीज़ें क्यों चाहती और करती है जिन की इच्छा मूलतः क़ानून की दृष्टि से उससे अवर संस्थाओं से उद्भूत हुई हो तब तक हम समाज के स्वरूप को भली भाँति हृदयंगम नहीं कर पायेंगे।

जाँह तक ऐतिहासिक पहलू का सवाल है सर हेनरी मेन ने यह बात काफ़ी हद तक सिद्ध कर दी कि आस्टिन का सिद्धान्त इतना कृत्रिम है कि वह बेतुकेपन की सीमा को छू लेता है। संसदस्थ बादशाह की, प्राच्य देव-तन्त्र की और प्राचीन एथेन्स के लोगों की प्रभु-सत्ता की किसी तरह से कोई तुलना करना उचित नहीं। न यही आवश्यक है कि एक निर्णय-क्षम प्रभु-संस्था हमेशा हो ही—जैसा अमरीका के मामले में हम अभी देख चुके हैं। किसी भी प्रभु-सत्ता के अधीन कहीं भी असीमित शक्ति नहीं रही और जहाँ उसके द्वारा दबाव डालने की कोशिश की गयी वहीं उसके फलस्वरूप कुछ सुरक्षणों की व्यवस्था करनी पड़ी है। टर्की के सुल्तान के लिए भी, जब उसकी ताक़त का सितारा अपनी पूरी बुलन्दी पर था, कुछ रूढ़िगत नियम लागू थे जिनका पालन करना उसके लिए क़रीब-क़रीब अनिवार्य-सा ही था। क़ानून की दृष्टि से सामाजिक क्रिया-कलाप का कोई ऐसा क्षेत्र न था जिसमें वह परिवर्तन न कर सकता हो, व्यवहार में उसके बने रहने का कारण यह था कि उसने उन परिवर्तनों को लागू करने का कभी संकल्प नहीं किया वरना हो सकता था यह सिद्ध हो जाता कि वह आस्टिनी विधि-शास्त्र में भावित प्रभु-सत्ता से अलग कुछ नहीं।

इसके अलावा क़ानून को केवल एक आदेश मानना—न्यायज्ञ के लिए भी—परिभाषा को सौजन्य की हदतक खींचना है। क़ानून में एक प्रकार की एकरूपता होती है जिसमें आदेश का तत्त्व क़रीब-क़रीब आँखों से ओझल ही हो जाता है। जैसे, यह बात सभी कारगर [illegible] के बारे में सत्य है। जब लार्ड चांसलर को निदेश मिलता है कि अगर चाहे तो

धर्माधिष्ठाताओं के उपहारों को, जिनके संरक्षण-अधिकार उसके पास होते हैं, बेच सकता है तो यहाँ संविधि निस्सन्देह क़ानून ही है परन्तु आदेश का तत्त्व बहुत ही अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है। लार्ड चांसलर को कुछ करने का निदेश नहीं मिलता; जब तक वह कोई कार्यवाही न करे उस पर किसी तरह का कोई दायित्व नहीं और अगर वह अधिनियम की शर्तों के प्रतिकूल कार्य करे तो उसकी व्यवस्था सिर्फ़ इतनी है कि अदालत संरक्षित पदार्थों की बिक्री रद्द समझ ले। एक मताधिकार-अधिनियम द्वारा औरतों को वोट देने का हक मिला : उसे आदेश का रूप देकर प्रस्तुत करना निश्चय ही बड़े चक्करदार मार्ग का अनुसरण करना है। इसमें आभार का कोई प्रश्न नहीं है—पुनरीक्षक बैरिस्टर के औरतों को वोटरों के रूप में स्वीकार करने के कर्त्तव्य को ही अगर हम आभार मानें तो बात और है। शेली के मामले में 'नियम' पर जितना वाद-विवाद हुआ उतना शायद किसी और क़ानून पर नहीं हुआ। उस नियम में सिर्फ़ यह व्यवस्था है कि जब कोई सदृश मामला विचार के लिए सामने आये तो कुछ शब्दों का एक विशिष्ट अर्थ ही ग्रहण किया जाये। आदेश की धारणा आनुषंगिक और अप्रत्यक्ष है और दण्ड के विचार का अभाव तो द्रष्टव्य ही है—अगर वह है है भी तो बड़े ही प्रच्छन्न रूप से। और प्रत्यायुक्त सत्ता के प्रयोग को आस्टिनी परिभाषा के परिधि से बाँधा जा सकता है—यह समझ पाना कुछ कठिन-सा ही है। सेना की पेंशन और वेतन शाही अधिपत्र द्वारा नियमित होते हैं। यह एक सक्षम सत्ता द्वारा दिया गया आदेश है पर युद्ध-मन्त्री को उसका पालन करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता।

दरअसल आस्टिनी मत का सब से अधिक सटीक उदाहरण है संसद में बादशाह की स्थिति। जैसा कि डाइसे ने अपने एक श्रेग्य विश्लेषण में बताया है वहाँ से उद्‌गत प्रत्येक आदेश का अदालतों की मार्फ़त लागू किये जाकर पालन होगा। पर सभी जानते हैं कि संसद में बादशाह को आस्टिन द्वारा भावित अर्थ में प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता मानना बेतुकी-सी बात है। कोई भी संसद रोमन कैथोलिकों को मताधिकार से वंचित करने अथवा श्रमिक संघों के अस्तित्व का निषेध करने का साहस नहीं कर सकती। अगर यह ऐसा करे तो वह संसद नहीं रह जायेगी। कहने का मतलब यह हुआ कि कानूनी तौर पर असीमित शक्ति व्यवहार में ऐसी शक्ति हो जाती है जिसका उपयोग कुछ खास परिस्थितियों के अधीन होता है और उनसे हर पीढ़ी अच्छी तरह परिचित रहती है। यहां प्रभुत्व-सम्पन्न संसद की, अपने संघटक अवयवों के प्रति, आज्ञाकारिता की मात्रा शायद उससे कहीं अधिक है जितनी उन अवयवों की संसद के प्रति—उदाहरण के लिए अगर कई उपचुनाव हो जायें तो उनसे बड़ी आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ प्रभु-सत्ता की संकल्पना और प्रकृति में अन्तर पड़ सकता है। यानी विधित: सर्वशक्तिमान सत्ता के पीछे झाँक कर चुनाव-मण्डल का अस्तित्व देख लेना विशेष कठिन नहीं जिसकी सम्मतियों और इच्छाओं के प्रति अधिकाधिक आदर प्रदर्शित करना चाहिए। यह अधिकाधिक मान देने की धारणा महत्त्वपूर्ण है। ज्यों-ज्यों समुदाय सरकार पर दबाव डालने के इरादे से संस्थाओं में संगठित होता जाता है त्यों-त्यों प्रभुता-सम्पन्न अंग, सामान्य प्रक्रिया के अनुसार, एक मशीन का रूप लेता चला जाता है और यह मशीन उन फ़ैसलों को अंकित करती रहती है जो कहीं अन्यत्र हुआ करते हैं। इस तरह

आस्टिनी प्रबन्ध के रूप तो यथावत् सुरक्षित रहते हैं पर उन्हें बनाये रखने के लिए सार-तत्त्व का समर्पण कर देना पड़ता है।

कहते है संधानीय राज्य में प्रभु-सत्ता के लिए अन्वेषण करने का उद्यम करीब-क़रीब निरर्थक ही होता है पर यह कठिनाई संधानीय राज्यों तक ही सीमित नही है। उदाहरण के लिए, आस्टिनी अर्थ में बेल्जियम को प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य कहा भी जा सकता है या नहीं—यही बात संदिग्ध है। संविधान में हर बेल्जियन नागरिक को कुछ विशिष्ट अधिकार दिये गये हैं। वह जैसे मुनासिब समझे धर्माचरण कर सकता है; उसकी सम्पत्ति बिना समुचित क्षतिपूर्ति के नहीं ली जा सकेगी; उसे आज़ादी से मिलने और एकत्रित होने का अधिकार है बशर्ते कि वह साथ हथियार न लिये हो और खुले में जमा न हो। यह बात भी बिल्कुल सच है कि ये और ऐसे अन्य अधिकार बेल्जियन विधान-सभा द्वारा संशोध्य हैं लेकिन संविधान में परिवर्तन करने से पहले यह ज़रूरी है कि एक विधान-सभा का फ़ैसला चुनाव-मण्डल द्वारा इस कार्य के लिए पुनर्निर्वाचित नयी सभा द्वारा पुष्ट किया जाये। इस बात की कोई गारंटी नहीं कि नये सदन अपनी बैठक में—जिसमें दो-तिहाई सदस्यों की उपस्थिति और उपस्थित सदस्यों की दो-तिहाई संख्या का परिवर्तन के पक्ष में वोट देना आवश्यक है—सांविधानिक परिवर्तन को स्वीकृति दे ही देंगे। इतना ही नही इस बात तक की कोई गारंटी नही कि नयी विधान सभा की संघटना वही होगी जो पुरानी की थी: सिद्धान्त-रूप में संशोधन में परिवर्तन करना असम्भव ही सिद्ध हो सकता है। इस पृष्ठभूमि में देखें तो लगता है कि या तो बेल्जियम अपने घरेलू मामलों में प्रभुता-सम्पन्न राज्य नहीं है—यद्यपि जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का सम्बन्ध है वह प्रभु राज्य है; अथवा उसकी प्रभुता चुनाव-मण्डल में प्रतिष्ठित है। परंतु हर चुनाव मण्डल एक निर्णय-अक्षम निकाय होता है जो क़ानूनी तौर पर अपने अधिकरणों और अभिकर्ताओं की मार्फ़त काम करने के लिए बाध्य होता है और आस्टिन के अनुसार प्रभु-सत्ता का व्यावर्तक धर्म यह है कि वह निर्णय-क्षम हो और उस पर कोई मर्यादाएँ न हों।

प्रोफ़ेसर डाइसे ने प्रभुत्व की धारणा को दो भागों में विभक्त करके इस तरह की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने सुझाया कि संसद्-स्थित बादशाह को क़ानूनी और चुनाव-मण्डल को राजनीतिक प्रभु-सत्ता माना जाये। परन्तु इसका छूटते ही यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रभुत्व की धारणा विभाज्य है जो मूल परिभाषा के नितान्त प्रतिकूल है। स्वयं आस्टिन का यह सुझाव मान लेने से भी बात बनती नहीं कि इंगलैण्ड में प्रभु-सत्ता चुनाव-मण्डल ही है और वह शक्तियों का प्रयोग प्रतिनिधियों के माध्यम से करता है। पहली बात तो यह है कि बादशाह और हाउस आफ़ लार्ड्स, किसी ऐसे अर्थ में जो सही और अनुगुण माना जा सके, लोक अर्थात् कॉमन्स के प्रतिनिधि नहीं और जब आस्टिन यह दलील देते हैं कि प्रभुता-सम्पन्न चुनाव मण्डल 'एक या अनेक न्यास बना कर' अथवा 'निरपेक्ष और निरुपबन्ध रूप से' अपनी सत्ताको प्रत्यायुक्तकर सकता है तब वह यह भूल जाते हैं कि नियमन से उस की परिभाषा में यह अर्थ निहित है कि सत्ता का अन्य-प्रेषण सम्भव नहीं है। अगर चुनाव-मण्डल केवल एक न्यास बना देता है तो वह प्रभु संस्था नहीं होगा। अगर वह आस्टिन के शब्दों में प्रभु संस्थाका निर्माण करदे तो वह स्वयं प्रभुता-सम्पन्न नहीं रह जायेगा।

आस्टिनवाद हमें आखिर में जिस भूलभुलैयाँ में ले पहुँचता है उसका निष्कर्ष यही है कि आधुनिक राज्य में लोक-प्रभुता का सिद्धान्त निहित है। यह बात शुरू में ही साफ़ कर देना अच्छा है कि इस मत को सुनिश्चित और स्फुट रूप देना सम्भव नहीं है। जनता इस दृष्टि से शासन नहीं चला सकती कि वह बराबर एक इकाई की तरह से काम करते नहीं रह सकती और आधुनिक राज्य का काम-काज इतना जटिल होता है कि हर बात को जनमत के लिए पेश करते रहकर भी उसका संचालन नहीं हो सकता। अगर लोक-प्रभुता का अर्थ केवल जनमत की सर्वोपरिता है तो यह संक्षेपण निश्चय ही घोर दुर्वृत्ति का परिचायक है। हमें यह मालूम होना ज़रूरी है कि जनमत कब 'जन' है और कब 'मत'? लोकेच्छा की जानकारी हासिल करना सदा ही बड़ा नाज़ुक काम होता है जिसके परिणाम में घोर अनिश्चितता जुड़ी रहती है। अगर हम इसे संस्थाओं के रूप में आबद्ध करना चाहें—जैसे अमरीकी संविधान में कुछ धारणाएँ आधारभूत बनाने का प्रयत्न किया गया था—तो हो सकता है जनमत का अभिषेक करने के बजाय हम जो कुछ असल में करें वह उससे बहुत ही भिन्न हो : उदाहरणार्थ, नौ में से पाँच जजों को जो उचित लगे उस पर अमल करने (और जनमत को कार्यान्वित करने में आकाश-पाताल का अन्तर है)। और अगर १७९१ के फ्रांसीसी संविधान की तरह हम यह कहें कि विधानमण्डल औरबादशाह जिन शक्तियों का प्रयोग करेंगे उन सब का स्रोत राष्ट्र है तो लोक-प्रभुता एक उपचार मात्र बन कर रह जायेगी। तब एक ओर तो हमे रूसो की इस युक्ति का सामना करना पड़ेगा कि सर्वोपरि सत्ता को वियुक्त करना उससे वंचित होना है और दूसरी ओर बर्क और मिल के इस मत का कि सप्रतिबन्ध समादेश प्रतिनिधि के नैतिक चारित्र्य के लिए घातक होता है। असल में, लोक-प्रभुता के सिद्धान्त का सार यही प्रतीत होता है कि जिसे प्राथमिकता और प्राधान्य मिले वह समष्टि का हित होना चाहिए, समुदाय के किसी वर्ग-विशेष का नहीं और प्रच्छन्न रूप से इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि इस सामान्य हित का प्रवर्त्तन ही राजनीति में 'शिव' की कसौटी है। पर यह तो बहस खड़ी करना हुआ, उसे निपटाना नहीं। क्योंकि असली समस्या इस मत के सार-सत्त्व की घोषणा करने की नहीं, उसकी सिद्धि की है।

इस प्रकार की कठिनाइयों की पृष्ठभूमि में प्रभुत्व के क़ानूनी सिद्धान्त को राजनीति-दर्शन के लिए मान्य बनाना असम्भव है। हमारे सामने जो प्रत्यक्ष तथ्य है वह है राज्य का अस्तित्व और उसके अस्तित्व की बात को आधार बना कर हम आगे यह विवेचन कर सकते हैं कि उसके अधिकरण कौन-से हैं और उसके प्रयोजन को व्यवहार-रूप देने के लिए वे किस प्रकार काम करते हैं। आस्टिन की तरह प्रभु-सत्ता का पता लगाने का प्रयास कठिन और प्रायः असम्भव उद्यम होता है। वह प्रभु-सत्ता को पहले ही ऐसे गुणों से विभूषित मान लेता है जिनका वास्तव में प्रयोग नहीं हो सकता। वह आवश्यकीय उपबन्धों के अर्थ को इस हद तक संकुचित कर देता है कि अगर उन तत्त्वों को अंगीकार कर लिया जाये तो वह समाज के अस्तित्व के लिए ही घातक होगा। इसमें सन्देह नही कि राजनीति-दर्शन के लिए राज्य के जीवन में क़ानून को एक महत्त्वपूर्ण हेतु मानना ज़रूरी है। लेकिन उसे यह बात भी बराबर याद रखनी होगी कि क़ानून के स्वरूप को समझने और ग्रहण करने का तरीक़ा या तो वैसा ही होगा जैसा मोण्टेस्क्यू ने सुझाया है अन्यथा उससे सहायता मिलने के बजाय

धोखा खा जाने की ही अधिक सम्भावना है। राजनीति के अध्येता की दृष्टि में क़ानून सामान्य सामाजिक परिवेश पर निर्मित होता है। किसी काल-विशेष में राज्य के जो आवश्यक सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, उन्ही की अभिव्यक्ति कानून करता है। जो अधिकरण उसे क़ानून घोषित करता है वह, राजनीति की दृष्टि में उन शक्तियों से बहुत ही कम महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने उसे उस ख़ास तरीक़े से कार्य करने पर मजबूर कर दिया हो।

—३—

यहाँ हम ने प्रभु-सत्ता के राजनीतिक स्वरूप के विवेचन की सीमा का स्पर्श कर लिया है। मूल प्रश्न यह है कि क्या किसी राज्य में ऐसी सत्ता होनी चाहिए जिस पर किसी तरह की कोई सीमाएँ और मर्यादाएँ न हों। पर यह याद रखना आवश्यक है कि असीमित सत्ता कहीं विद्यमान नहीं। उन हज़ारों विविध प्रभावों पर बराबर ध्यान रखना चाहिए जिनका प्रभु संकल्पना का स्वरूप ढालने में हाथ रहता है। यहाँ हम सिद्धान्त की अपेक्षा वास्तविकता की बात ही अधिक कर रहे हैं और किसी एक फ़ैसले के स्रोत को भी खोज निकालने का प्रयत्न अगर हम करने लगें तो हम में से अधिकांश इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि किसी भी समाज के सच्चे शासकों का पता लगाना असम्भव है—जैसा जान शिपमन ग्रे का मत था। कोई भी तथ्यपरक विश्लेषण शायद यह कह कर सन्तोष कर लेगा कि व्यवहारतः राज्य की संकल्पना वह है जो उस चौहद्दी को निर्धारित करती है जिस के पार अन्य संकल्पनाएँ नहीं जा सकती। असल में राज्य की संकल्पना सरकार की संकल्पना ही होती है क्योंकि शासित नागरिकों द्वारा वह अंगीकार की जाती है।

ज़ाहिर है कि इस पृष्ठभूमि में राज्य की संकल्पना अनुत्तरदायी संकल्पना नहीं हो सकती। वह एक छोटे-से मानव-निकाय के निर्णय से अधिक नहीं, जिसे एक व्यवस्थित तरीक़े से सत्ता की बागडोर सौंप दी गयी हो। वह जिसे ठीक समझते हों वह समाज की 'ठीक' की धारणा के प्रतिकूल हो—यह भी हो सकता है। हो सकता है वह ऐसी मान्यताओं पर आधारित हो जो ऐतिहासिक अनुभव से मेल न खाती हों। हो सकता है उसमें राज्य के साध्य को जान-बूझ कर पलटने का प्रयास हो। इसीलिए अधिकांश आधुनिक समाज इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि हर सरकार के सत्ता-धारण की एक ख़ास अवधि के बाद उसके बारे में पुनर्विचार हो सके। जिस समुदाय के वे भाग्य-विधाता होते हैं उसे यह फ़ैसला करने का मौक़ा मिलना चाहिए कि वह शासकों के रूप में एक भिन्न मानव-निकाय को तो नहीं चाहता है। कहने का मतलब यह हुआ कि सत्ता धारण करने का स्थायी अधिकार किसी को नहीं, हर सरकार को उन लोगों का निर्णय शिरोधार्य करना पड़ता है जो उसके कामो का फल भुगतते हैं। इस समर्पण का कारण यह सीधा-सा ऐतिहासिक तथ्य है कि निरुपबन्ध सत्ता—चाहे अन्ततः ही सही—उन लोगों के लिए हमेशा विनाशकारी सिद्ध हुई है जिन पर उसका प्रयोग किया गया है।

इस तरह एक निश्चित अवधि के बाद अपने आप को समाज के फ़ैसले के हवाले कर देने की धारणा में दो बातें निहित हैं। एक तो यह कि इस हवाले करने की पद्धति की अमित महत्ता है। जिस ढंग से जनता का निर्णय उपलब्ध किया जाये वह ऐसा होना चाहिए कि जनमत की सही अभिव्यक्ति हो जाये। दूसरी बात यह है कि अपने कार्य-काल में हर

सामान्य सरकार यथासम्भव निश्चय ही इस तरह काम करेगी कि लोक-निर्णय का पलड़ा इसी के पक्ष में झुका रहे। लेकिन यह कहने का मतलब तो यह हुआ कि उसकी संकल्पना अधिक अंशों में बाहरी शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। मिसाल के लिए, ब्रिटेन की सर-कार अंग्रेज-समाज के हर कसाई को सामन्त की उपाधि से विभूषित कर सकती है पर वह यह सोच कर ऐसा नहीं करेगी कि विरोधियों द्वारा निश्चय ही उस पर जो उपहास और लानत-मलानत की वर्षा होगी वह उसे आच्छन्न और अभिभूत कर देगी। अतः ज्यों ही हमें यह मालूम हो कि कोई सरकार इतर संकल्पनाओं के अनुपालन की आवश्यकता से परिचालित है—हमें दो सवालों के जवाब खोजने चाहिएँ। एक तो हमें यह जानना चाहिए कि उस राज्य में सरकार की संकल्पना असल में किन संकल्पनाओं से निदेशित होती है। इसके अलावा हमें यह जानना चाहिए कि अगर राज्य के साध्य की काफ़ी हद तक पूर्ति करनी है तो सरकार की संकल्पना के लिए कौन-सा परिवेश आवश्यक है।

दूसरे सवाल पर पहले विचार करना बेहतर होगा। हम ने पहले कहा है कि हर व्यक्ति को यह आशा करने का हक़ है कि राज्य अपने कामों द्वारा ऐसा परिवेश पैदा करेगा जिसमें उसके लिए अपना उत्कृष्टतम स्वरूप पा लेने की कम से कम सम्भाव्यता तो हो। अगर कोई राज्य, इस दिशा में अपने सदस्यों में विभेद करने के लिए सत्ता का प्रयोग करता है तो उस मूल शर्त का ही निषेध हो जाता है जो सरकारों को क़ानूनी रूप देती है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि सब से पहले वैधता की शर्तों को सरकारी सत्ता की प्राथमिक मर्यादाएँ मान लिया जाये। हम उन्हें स्वीकार करते हैं अधिकारों की एक व्यवस्था का रूप देकर जिस का मतलब यह है कि कुछ ऐसी माँगें रखीं जाती हैं जिन की पूर्ति अगर न हो तो राज्य का प्रयोजन सिद्ध होने में बाधा पड़ती है। बाद में, हमें उन माँगों के स्वरूप का भी विवेचन करना पड़ेगा। फ़िलहाल यहाँ इतना कह देना ही काफ़ी है कि हर सरकार को अपनी कार्य-पद्धति में इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि व्यक्ति-जीवन के दैनिक स्वरूप में उनका सन्निवेश हो जाये। इस तरह हर सरकार का निर्माण एक आनुषंगिक नैतिक दायित्व की भूमिका पर होता है। उसके काम उसी हद तक ठीक होते हैं जिस हद तक वे अधिकारों को बनाये रखने में सफल होते हैं। जब वह उनकी ओर से उदासीन हो जाती है या उनकी सीमितता से ही अपना नाता जोड़ लेती है तो अपने सदस्यों की निष्ठा-भावना पर उसका कोई दावा नहीं रह जाता।

और जब हम इस तरह की अवधारणा से हट कर राज्यों के वास्तविक स्वरूप की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यह धारणा भी स्वयं प्रभुता के विधिक सिद्धान्त से कोई कम अमूर्त नहीं लगेगी क्योंकि हो सकता है जो अधिकार पहले दिया गया हो उसे बाद में मानने से इन्कार कर दिया जाये। सरकार, चाहे ईमानदारी से या बेईमानी से, उसके ठीक और बुद्धि-सम्मत होने पर शक कर सकती है और उसे संविधि का रूप देने से इन्कार कर सकती है और चूंकि हर सरकार अपने एक इशारे से देश की फ़ौज का बड़े से बड़ा हिस्सा चाहे जहाँ ला जुटा सकती है अतः इसी बात की सम्भावना अधिक है कि वह शायद अपने इन्कार पर बराबर डटी रहे—हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो हो जाये तो बात दूसरी है। पर इससे उसकी कार्यवाही ठीक और विधि-युक्त नहीं हो जाती। इसका मतलब सिर्फ़ यह है कि समाज की

गुरुतर भौतिक शक्ति अपने उचित कार्य सम्पन्न नहीं कर रही। उस इन्कार के कारण प्राय: बड़े जटिल होते है पर अकसर हमेशा ही वह 'सत्' विषयक ऐसे दृष्टिकोण से उद्भूत होता है जो राज्य के एक अंग के सिवाय और किसी को उस के लाभ में बराबर का साझीदार होने का अवसर नहीं देना चाहता। अगर निषेध का यह दौर काफ़ी समय तक चलता रहे तो उसके फलस्वरूप विरोध पक्ष का उदय होता है और उसका तब तक विकास होता चला जा सकता है जब तक कि वह इतना शक्तिशाली नहीं हो जाता कि स्वयं सरकार का रूप ले ले। आदर्श 'सत्' की यह ऐतिहासिक प्रकृति होती है कि वह तब तक शक्ति संचय करता चला जाये जब तक कि, अन्त में, वह मात्र एक आदर्श न रह जाये।

परन्तु जो 'सत्' व्यवहार-रूप पाने के लिए प्रयत्नशील है वह वैसी कोरी और निरर्थक चीज़ नहीं जो उपर्युक्त निषेध में निहित प्रतीत होती है। अधिकारों की व्यवस्था दो तरह से सम्भव है और उनमें से प्रत्येक सरकार के कामों पर एक मर्यादा होती हैं। एक रास्ता तो यह हो सकता है कि राज्य के संविधान में उनका उल्लेख हो जाये यानी प्रभु-सत्ता को कुछ ख़ास तरीकों से काम करने के लिए विवश कर दिया जाये। वह बेल्जियम की तरह धार्मिक स्वतन्त्रता को सीमित करने में असमर्थ हो; अथवा जैसे इंगलैण्ड में रूढ़ियों के कारण वह अपने अधीनस्थ अधिकारियों को साधारण नागरिकों से भिन्न श्रेणी में न रख सकती हो। इस प्रकार हर सरकार को कुछ ऐसे क़ानूनों के अधीन रखा जा सकता है जिन्हें बदलने में वह वास्तव में अशक्त हो। और ये क़ानून सामाजिक संश्लेष की जड़ों में जितने गहरे उतरे हुए होंगे, सरकार उन्हें बदलने में उतनी ही अधिक अशक्त होती है। इसका अभिप्राय यह होना चाहिए या नहीं कि सांविधानिक और साधारण संविधियों में क़ानून द्वारा स्वीकृत अन्तर है—जैसे अमरीका में; जिन में से प्रथम में परिवर्तन करने की क्षमता में सरकार के लिए अनेक बाधाएँ होती हैं—यह ऐतिहासिक व्याख्या के लिए अच्छा-खासा मसला हो सकता है। निश्चय ही वाक्-स्वातन्त्र्य की रक्षा अमरीका की अपेक्षा—जहाँ इस प्रकार का अन्तर है—इंगलैण्ड में अधिक हुई है जहाँ इस प्रकार का अन्तर नहीं है। ऐतिहासिक अनुभव का निष्कर्ष तो यह प्रतीत होता है कि किसी सरकार का राजनीतिक शब्दावली में आत्माभिव्यक्ति करने के अभ्यस्त जनमत से जितना ही अधिक सीधा सम्बन्ध होगा उतना ही आचरण के प्रत्याशित मानदण्ड के पालन से कतरा जाना उसके लिए मुश्किल होगा। उदाहरणार्थ, क़ानूनी तौर से संसदस्थ बादशाह जनमत को क्षुब्ध कर सकता है परन्तु व्यवहारत: वह ऐसा इसी प्रच्छन्न शर्त पर कर सकता है कि उसके फलस्वरूप वह संसदस्थ बादशाह न रहे। अत: जब कभी विधान उस क्षेत्र को अपनी परिधि में बाँधे जो सरकार से इतर संकल्पनाओं के लिए आरक्षित होता है तो उसकी शर्त यही है कि उस कार्य को ऐसे सम्पन्न करे जिससे उसे उन संकल्पनाओं की सहमति मिल जाये और कहीं वे विद्रोह करने के लिए भड़क न उठें।

लेकिन, दूसरी बात यह है, कि अधिकारों के प्रति किसी सरकार के रुख को उसकी स्वीकृति के आधार पर देखना-समझना उसे उससे कहीं अधिक स्वतन्त्र मानना है जितनी वह प्राय: होती है। लोग राज्य के सदस्य होते हैं पर वे अन्य असंख्य संस्थाओं के भी सदस्य होते हैं और संस्थाओं का न केवल अपने अनुयायियों पर जोर होता है वरन् वे स्वयं

शासन के संचालन में भी अपना प्रभाव जमाने की कोशिश करती हैं। सारी स्वैच्छिक संस्थाएँ इस बात की कोशिश में रहती हैं कि समस्याओं के जो विशिष्ट समाधान उनके अपने ऊपर लागू होते हैं वे ही आम समाधान माने जा कर सरकार द्वारा अंगीकार कर लिये जायें। ये अल्पसंख्यकों की संकल्पनाएँ हैं जो विधान के माध्यम से बहुसंख्यकों की विधितः घोषित संकल्पनाएँ बन जाना चाहती हैं। १९०६ का व्यवसाय-विवाद-अधिनियम (ट्रेड्ज़ डिस्प्यूट्स एक्ट) इस बात का उदाहरण है कि वे क्या-क्या कर दिखा सकतीं हैं या एक दूसरे क्षेत्र में मेहनतकश-शिक्षासंघ जैसी छोटी-सी संस्था ने जिस तरह राज्य द्वारा अपने सिद्धान्तों को मनवा लिया है वह इस बात की असाधारण मिसाल है कि जनमत की शक्ति संगठित होकर किस प्रकार सफलता की मंज़िल पा सकती है। यह बात सिर्फ़ इंगलैण्ड पर ही लागू नहीं होती। अमरीका का राष्ट्रीय उपभोक्ता-संघ एक के बाद एक राज्य को यह मानने पर मजबूर करता चला गया है कि मज़दूरों के काम के घण्टे नियत हों और स्त्रियों के लिए कम से कम मज़दूरी निश्चित हो। ये ऐसी मिसालें हैं जहां सीधी कार्यवाही द्वारा सरकार की संकल्पना बदलवा डाली गयी है। लेकिन विभिन्न संघ अपने-खुद के कार्य-क्षेत्र पर अपना जो नियंत्रण रखते हैं वह भी सरकारी सत्ता की परिसीमा के रूप में किसी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

किसी भी समाज-विशेष को अच्छी तरह समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसकी प्रकृति मूलतः संघानीय मानी जाये। उसके कुछ कार्य ऐसे होते है जिन में समाज के हर सदस्य की दिलचस्पी होती है; उसके ऐसे भी कार्य होते हैं जिनका स्वरूप प्रधानतः विशिष्ट होता है। पहली तरह के सामान्य कार्य राज्य के होते हैं हालांकि इसका मतलब यह नहीं कि दोनों का संगठन एक ही तरह का होता है। दूसरे प्रकार के कार्यों में राज्य की दिलचस्पी उसी हद तक होती है जिस हद तक उनके परिणाम समाज के शेष अंश को प्रभावित करते हों। इस पृष्ठभूमि में देखें तो किसी राज्य को चर्च के मताग्रहों में दखल देने का हक़ नहीं है। मिसाल के तौर पर रोमन कैथोलिक चर्च यह कह सकता है कि उसके समागम से बाहर के लोग काय-मोक्ष के अधिकार से वंचित हो चुके हैं परन्तु जब तक वह धर्मान्वेषण आदि द्वारा इस प्रमेय पर अमल नहीं करता कि वे जागतिक अस्तित्व में भी हेय हैं तब तक उस विश्वास को बदल डालना राज्य की शक्ति के परे है। संक्षेप में, किसी ऐसे आचरण में हस्तक्षेप करना राज्य की क्षमता के बाहर है जिसका परिणाम सामान्यतः सभी को प्रभावित न करता हो। अगर कोई क्वैकर (सोसायटी आफ़ फ्रेण्ड्स का सदस्य) ऐसे समाज में, जहाँ अनिवार्य सैनिक भर्ती का नियम है, फ़ौजी नौकरी के नैतिक दृष्टि से गलत होने का प्रचार करने लगे तो राज्य को अधिकार है कि वह उस दुराग्रही व्यक्ति विशेष को दण्ड दे, पर सोसायटी को दण्डित करने का उसे कोई हक़ नहीं। अगर इंगलैण्ड में बसे हुए विदेशी यहूदी बाइबल के तलाक-क़ानून के अनुसार आचरण करना चाहें तो राज्य को अपने विवाह-कानून भंग करने वाले अपराधी व्यक्तियों को दण्ड देने का अधिकार है पर उसे यहूदी-सभा को दण्डित करने का अधिकार नहीं। इस तरह की संथाएँ उसके सदस्यों के लिए उतनी ही स्वाभाविक हैं जितना कि राज्य स्वयं। उनकी जो कमी है, और जो राज्य और उनके बीच अन्तर है, वह यह कि वे अपने सदस्यों को शारीरिक दण्ड देने का अधिकार

नहीं रखती। वे जुर्माने कर सकती हैं; आध्यात्मिक दण्ड का विधान कर सकती हैं; समाज से उनका बहिष्कार कर सकतीं हैं। यहाँ उनकी सत्ता वैसी ही पूर्ण और मौलिक है—और होनी भी चाहिए—जैसी स्वयं राज्य की। अगर राज्य इनमें किसी तरह से दखल देता है तो उसके प्रायः सही या प्रत्याशित परिणाम नहीं निकलते। बात यह है कि अपने क्षेत्र में ये संथाएँ राज्य से किसी प्रकार कम प्रभुता-सम्पन्न नहीं—हाँ, इसमें यह बात निहित अवश्य है कि उनकी प्रभुता भी वैसे सीमित है कि कोई व्यक्ति-सदस्य उनके फ़ैसले मानने से इन्कार करता है या उन्हें अंगीकार करता है।

यह बात भी हमें भूल नहीं जानी चाहिए कि जब हम सरकार की 'संकल्पना' की चर्चा करते हैं तो हमें पहले से ही एक ऐसी कृत्रिम एकता को मान बैठे हैं जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं—ख़ास तौर से अगर हमारी चर्चा का आधार लोकतन्त्र-राज्य है। सचाई यह है कि कोई सरकार एक ही मानव-निकाय के हाथों में काम-काज का सम्पूर्ण संचालन ले लेने की कोशिश नहीं करती। केंद्रीकरण कम-बढ़ती हो सकता है—जैसे फ्रान्स और अमरीका इसके दोनों ओर-छोर हैं पर यह बात अधिकाधिक मानी जानी लगी है कि जब तक सत्ता के विसारण द्वारा उत्तर-दायित्व की व्यापक भावना पैदा नहीं की जाती तब तक कुशल प्रशासन असम्भव है। जो लोग दूसरों की संकल्पना कार्यान्वित करने से अधिक कुछ नहीं करते वे जल्दी ही उस प्रक्रिया की ओर से भी उदासीन हो उठते हैं जिसके वे स्वयं अंग होते हैं। जब वे स्वयं उस संकल्पना को ढालें जिस पर अमल किया जाना है तभी उनका काम सच्चे माने में सृजनात्मक होता है। जिस स्थानीय सत्ता को ग़लतियाँ करने का अधिकार हो वह शायद उस स्थानीय सत्ता से अधिक उपयोगी काम कर सकती है जो केंद्रीय संस्था की संकल्पना को कार्यान्वित भर कर देती हो। हाँ, ऐसे विषय खोजने पर तय किये जायेंगे जिन मे ग़लतियाँ की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए किसी नगर को यह फ़ैसला करने का मौका देना ठीक है कि वह नगरपालिका की बिजली चाहता है या नहीं; यह फैसला उस पर छोड़ देना अनुचित है कि वह कोई शिक्षा-प्रणाली चाहता है अथवा नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी सेवाओं में—जिन में सिर्फ़ स्थानीय दिलचस्पी ही अन्तर्भूत हो, केन्द्रीय सरकार के बीच में पड़ने के अधिकार का जितना कम प्रयोग हो उतना ही उसका अच्छा उपयोग हुआ समझना चाहिए। मूर्त उदाहरण देकर कहें—मानचैस्टर की ट्रामवे व्यवस्था समुचित है या नहीं इस पर संसदस्थ बादशाह को ध्यान केन्द्रित करने की कभी भी ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। उसके ठीक-ठीक काम करने में एक छोटे-से वृत्त के हितों का सवाल है, व्यापक हित का नहीं। मतलब यह कि व्यवहार-रूप में हम प्रादेशिक कार्यों की एक व्यवस्था निर्धारित कर सकते हैं जिसमें उत्तरदायी शासन प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ ज्ञात ढंग यह है कि केंद्रीय सरकार स्थानीय क्षेत्रों के अधिकारियों को ही पक्की-पूरी तरह से सत्ता सौंप दे।

यह बात सिर्फ़ प्रादेशिक क्षेत्रों के बारे में ही सच नहीं है। ग़ैर-प्रादेशिक ढंग के कृत्यों को भी उनके आन्तरिक जीवन का नियंत्रण सौंप देना सम्भव है। यह बात इंगलैण्ड में वकालत और डाक्टरी जैसे पेशों के बारे में सच है। वे अपनी योग्यताओं का नियमन स्वयं करते हैं यानी पेशे में दाखिल होने के नियम बनाना उनके अपने हाथ में है। वे व्यावसायिक

आचरण के अपने मानदंड स्वयं ही बनाते हैं। पूर्व-निर्धारित पद्धति के अनुसार वे ही उन लोगों का भी चुनाव करते हैं जिन्हें खास अवधि तक इन नियमों का परिपालन करना होता है। और इस प्रकार की संगठन-पद्धति में यह बात बिल्कुल आधारभूत होती है कि उनके फैसलों के विरुद्ध अपील का कोई रास्ता न हो। मिसाल के लिए अगर बैरिस्टरी का कोई उम्मीदवार अपने एक इम्तहान में असफल हो गया है तो किसी अप्रकृत घटना के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने के अलावा और किसी वकालती कार्य के लिए राज्य की अदालतों के द्वार उसके लिए उन्मुक्त नहीं। ऐसे वृत्तिगत स्वशासन के अन्तर्गत क्षेत्र बराबर बढ़ता जा रहा है। हर व्यवसाय में उसी में काम करने वाले लोग अपने रीति-रिवाज बना रहे हैं। ऐसे उद्योगों की कल्पना भी सहज ही की जा सकती है जिन्हें अनेक विविध विषयों पर अपने लिए विधान बनाने की सत्ता सौंप दी जायेगी और राज्य उस विधान-प्रक्रिया के नतीजों को पक्का मानेगा। इस प्रकार कर्तव्यों के संक्रमण के पक्ष में वे ही सब बातें कही जा सकती हैं जो प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण के बारे में। उससे उत्तरदायित्व की संगठित भावना का उदय होता है; वह स्व-शासन का प्रशिक्षण होता है। वह अधिकारों के प्रबन्ध का भार उन्हीं पर डाल देता है, जो उन अधिकारों के परिणामों का सीधा अनुभव करते हैं।

हाँ, यह बात सच भी है और महत्त्वपूर्ण भी कि इस प्रत्यायुक्त सत्ता के पीछे राज्य की चरम आरक्षित शक्ति होनी चाहिए। लेकिन उन परिस्थितियों को समझ लेना भी किसी तरह कम ज़रूरी नहीं है, जिनमें उस आरक्षित शक्ति को क्रियात्मक रूप दिया जाता है। यह ऐसी संकल्पना नहीं जो किसी हीनतर संकल्पना के विरुद्ध अपनी क़ानूनी क्षमता के प्रदर्शन मात्र के लिए प्रयुक्त की जा रही हो। इस संकल्पना का प्रयोग इसलिए होता है कि किसी प्रत्यायुक्त सत्ता के नियंत्रण में सुधार की आवश्यकता पर ज़ोर देने वाले सरकार को इस बात पर राज़ी कर पाते हैं कि उस विषय में वह या तो जाँच-पड़ताल करे या फिर स्वेच्छा से परिवर्तन लाने की कोशिश करे। लेकिन यहाँ भी सरकार की संकल्पना अधिक अंशों में विरोधी मतों के बीच समझौता ही होता है और ऐसे समझौते में शायद ही कभी इस कार्य का सीधा नियंत्रण सरकार के हाथ में रहता हो। इसका मतलब बल्कि यह है कि वे लोग, जिनकी मंत्रणा पर सरकार भरोसा करती है, किसी चालू योजना के अधीन समुदाय के सामाजिक हितों को समुचित रूप से सुरक्षित नहीं समझते और परिवर्तन ऐसे नये प्रयोग की दिशा में उन्मुख होता है, जिसके विषय में उम्मीद होती है कि शायद सामाजिक हितों की अधिक पूर्णता से सिद्धि हो सकेगी।

इस प्रकार के परिपार्श्व में, प्रभुत्व-सिद्धांत अपने राजनीतिक पहलू में उससे बहुत ही भिन्न स्वरूप धारण कर लेता है जो उसके परम्परागत दावों में निहित है। यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अगर राज्य को एक नैतिक इकाई के रूप में बने रहना है तो उसका निर्माण उसके सदस्यों की संगठित मौन स्वीकृति की आधार-भूमि पर होना चाहिए। लेकिन इसमें सरकारी आदेशों की अवेक्षा उनका दायित्व हो जाता है और फिर उसमें आज्ञोल्लंघन का अधिकार निहित है। हाँ, उचित यही है कि इस अधिकार का उपयोग राजनीतिक आचरण के उपायों पर ही हो। अगर विद्रोह जनता का एक निश्चित स्वभाव बन जाये तो कोई भी समदाय अपने प्रयोजन की पूर्त्ति नहीं कर सकता; परन्तु यह बात भी उतनी ही सच है कि जब

चाहिए। बल्कि हमें संगठन की एक ऐसी पद्धति खोजनी चाहिए जो आदर्श पर मर-मिटने की शक्ति को ऐसी धाराओं में मोड़ दे जिनसे समूचे समाज का मंगल हो। अयत मनोवेगों पर आधारित कार्य मूल में ही हमेशा समाज-विरोधी हुआ करते हैं और जो नीति अपना काम साधने के लिए इस प्रकार के अयत आवेगों का प्रयोग करती है, वह सदैव समाज-मंगल की विरोधिनी होती है। इसीलिए, उदाहरणार्थ, जो लोग सरकार की आज्ञा का पालन इस कारण करते हैं कि उसने युद्ध घोषित कर दिया है, उनका कोई नैतिक अस्तित्त्व नहीं रह जाता। वे जर्मन जिन्होंने बेलजियम को पददलित किया था, वे हंगेरियन जो सिर नवाये अपने उदार, सह-नागरिकों को निर्ममतापूर्वक जिबह होते देखते रहे थे, निश्चय ही उन गुणों को खो चुके थे जो इंसान को इंसान कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। यह कह देना भी कोई समाधान नहीं है कि विरोध करना कठोर दंड का आवाहन करना है। रॉयर कॉलर्ड ने ठीक ही कहा था कि कि मर-मिटना भी एक समाधान है, और वे लोग जो, खास तौर पर संकट के समय, अपने स्वभाव के एथेनेसियस तत्त्व का सोत्साह परितोष करते हैं, सभ्यता के सच्चे सेवक हो सकते हैं।

बाहरी तौर पर देखें तो निश्चय ही निरपेक्ष और स्वतंत्र प्रभुता-संपन्न राज्य की अवधारणा की मानवता के हितों से संगति नहीं बैठती—वह सरकार के प्रति अपने सदस्यों से निरुपबन्ध निष्ठा की अपेक्षा रखता है और अपनी शक्ति के बल पर उसका परिपालन कराता है। अगर हम राजनैतिक दायित्व का नैतिक दृष्टि से उपयुक्त सिद्धांत चाहते हैं तो हमें इस समस्या का हल दूसरे दृष्टिकोण से खोजना होगा। सृजनात्मक सभ्यता में राज्यों के अलग-अलग होने की ऐतिहासिक घटना का नहीं, वरन् दुनिया की अन्तर्-निर्भरता के वैज्ञानिक तथ्य का महत्त्व है। विश्व ही वह सच्ची इकाई है जिसके प्रति निष्ठा होनी चाहिए। आज्ञाकारिता का सच्चा दायित्त्व मानव मात्र के समग्र हितों के प्रति है। माना कि यह खोज पाना कठिन है कि उस हित की स्थिति कहां और किस में है; यह भी माना कि भाँति-भाँति के जटिल राग-द्वेषों से वह समाच्छन्न हो जाता है—पर इससे तो वह दायित्त्व और भी सच्चा तथा आशु-सम्पाद्य हो जाता है। हमारे सामने समस्या यह नहीं कि मानवता के हितों का इंगलैण्ड के हितों से कैसे सामञ्जस्य बैठाया जाये—हमारी समस्या तो इस प्रकार काम करना है कि इंगलैण्ड की नीति में आप से आप मानवता की खुशहाली का अन्तर्भाव हो जाये। अगर इसी साध्य की हमें सिद्धि करनी है तो ऐसे कृत्यों को जटिल इकाई मानना पड़ेगा जिनमें से कोई भी, उसके शासन के लिए, राज्य के प्रति चरम निष्ठा की भावना से सीमित नहीं है। हाँ, यह बात हम मान सकते हैं कि किसी क्षेत्र-विशेष को—निश्चित कर्तव्य के दायरे में रहते हुए—स्वशासन अधिकार की जितनी अधिक से अधिक मात्रा हमें दे सकते हैं, उसका प्रबन्ध उतना ही अच्छा होने की आशा की जा सकती है। लेकिन यह बात भी निश्चित है कि किसी भी कृत्य को पक्के ढंग से पूर्ण सत्ता के साथ प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। उस कृत्य में कहीं न कहीं उन लोगों के हितों में जो परिणाम के भोक्ता होते हैं, और उनके हितों में जो उसके निमित्त होते हैं, समन्वय करना अनिवार्य है। एक सरल-सी मिसाल लीजिये—किसी गिरजे का प्रबन्ध हम एकान्त रूप से उसके पादरियों पर नहीं छोड़ सकते अथवा कोयला-खानों का प्रबन्ध पूरी तरह खनिहों पर नहीं छोड़ा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों

के क्षेत्र में, हम इंगलैण्ड या फ्रांस पर यह बात नहीं छोड़ सकते कि वे अपने अपने रहने के ढंग का फ़ैसला निरपेक्ष रूप से स्वयं करें । ऐसी समस्यायें भी हैं जिनका असर मानवता पर इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि किसी राज्य पर हम यह बात नहीं छोड़ सकते कि वह जो बात चाहे, उसका हल निकाल ले और उसे अपना ले । उदाहरणार्थ, स्वतंत्र प्रभुत्त्व संपन्नता की धारणा के अनुसार फ्रांस को छूट है कि वह जब और जैसे चाहे, जर्मनी पर धावा बोल सकता है और उसका दो ही तरह से प्रतिकार हो सकता है—एक असहमति प्रकट करके : किन्तु उससे असलियत नही बदल सकती; दूसरे युद्ध करके जिससे सभ्यता का नाश होता है । एक बार हम यह समझ लें कि सभी व्यापक समस्याओं में दुनिया की सुख-समृद्धि एक और अविभाज्य है तो उनका समन्वित चिन्तन सामाजिक शांति की पहली शर्त हो जाती है ।

—४—

इस दृष्टि से देखें तो अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष में स्वतंत्र प्रभुता सम्पन्न राज्य की धारणा मानवता की सुख-समृद्धि के लिए घातक होती है । एक राज्य दूसरे राज्यों के प्रति अपने पारस्परिक संबंधों मे कैसा आचरण करे—यह मामला ऐसा नहीं जिसका निर्णय अकेले उसी राज्य पर छोड़ दिया जा सके । वह तो एक के बाद एक सत्यानासी युद्धों का विकट और अनन्त रास्ता है : आधुनिक युग में बेल्जियम का धर्षण इसका सबसे दारुण नैतिक परिणाम है । राज्यों का सामान्य जीवन ऐसा मामला है जिसमें राज्यों के बीच आपसी सहमति होना ज़रूरी है । अतः अन्तर्राष्ट्रीय सुख-समृद्धि की किसी भी योजना में अन्तर्राष्ट्रीय शासन की बात तत्त्व रूप से निहित है । लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय शासन में राज्यों के समग्रतः एक ऐसी सत्ता के मातहत कर देने की बात निहित है जिसमें हर एक की अपनी राय तो होगी पर जिसमें वह राय निर्णय का एकाधिकारी स्रोत कभी नहीं होगी । इस अवधारणा को संस्था का रूप देने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या है—इस पर बाद में विचार किया जायेगा । यहाँ तो यह मान लेना काफ़ी है कि राज्य-प्रभुत्व के तिरोभाव की शर्त पूरी हुए बिना राज्यों के लिए विवेकमय जीवन असम्भव है । इंगलैण्ड को यह तय नही करना चाहिए कि उसे किन शस्त्रास्त्रों की ज़रूरत है, कि वह क्या सीमा-शुल्क लागू करेगा, कि वह किन आवासियों को अपने यहाँ आने देगा । ये मामले राष्ट्रों के सामान्य जीवन को प्रभावित करते हैं और इनमें उनका प्रबन्ध करने के लिए एक संयुक्त विश्व बनाने की बात निहित है ।

इस मत की विरोधी युक्ति अन्ततः नैराश्य की युक्ति है । इसमें यह बात मान ली गयी है कि आदमी हमेशा ही उस छोटी-सी पलटन को अन्धाप्रेम देता रहेगा जिसमें वह जन्मा है और यह बात भुला दी गयी है कि अपक्व राग अब ऐसे उपकरणों से खेलता है, जिनका प्रयोग अत्यधिक ख़तरनाक है । इसमें किसी को सन्देह नहीं कि विश्व के हितों का ऐसी संस्थाओं में पर्यवसान कर देना कठिन कार्य है जो उसके हितों की अभिव्यक्ति कर सकें । लेकिन ऐसे राज्यों का इतिहास भी पढ़ने को नहीं मिल सकता, जिन्होंने अपनी निजी सुख-समृद्धि को ही सर्वोच्च साध्य माना हो और इस बात का अहसास न किया हो कि एकान्त निर्णय की सक्ति का निषेध करना ही हमारे सामने सबसे बड़ी ज़रूरत है । अगर मानव को मानव के बृहत् समाज में बसना है, तो उसे सहयोगितापूर्ण साहचर्य की आदतें सीखनी होंगी । उन्हें अपनी छोटी-सी पलटन को मानवता की बृहत्तर सेना का अंग मानना होगा । उन्हें इस बात

की आदत डालनी होगी कि तात्कालिक और अस्थायी लाभ को स्थायी हितों में समाहित कर सकें जो कि केवल शांति से उपलब्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय संसर्ग मे हिंसा द्वारा पायी हुई विजय, कम से कम बहुत लम्बे अरसे तक, स्थायी महत्त्व की शायद ही होती हो। १८७१ में एलसेस लारेन को बलपूर्वक अपने में मिला लेने से जर्मनी का कोई हित नही हुआ; बोस्निया और हर्जेगोविना पर प्रभुत्त्व जमा कर आस्ट्रिया के हाथ भी कुछ नहीं लगा। इस तरह के आचरण से जो परम्परायें स्थापित की जाती हैं, अन्ततोगत्वा नैतिक दृष्टि से जितनी विनाशकारी होती हैं भौतिक दृष्टि से भी उतनी ही घातक होती हैं। उनकी जड़ में यह धारणा होती है कि एक राज्य प्रभुता-सम्पन्न है, दूसरे नहीं। जैसा हॉब्स ने कहा था, उनमें यह बात आपूर्व स्वीकार कर ली जाती है कि संगठित राष्ट्रों के बीच की सम्बन्ध-भूमि **'सबका सबसे युद्ध'** की नीति पर आश्रित है। यह मान लेना उस विवेक को तिलांजलि दे देना है, जो आदमी को अपने सहचर—पशु—से अलग करता है अथवा यह कहें कि उसे ऐसे साध्य के लिए सचेष्ट करना है जो पशु और मानव के बीच का भेद मिटा डालेगा। बृहत्तर समाज में क्रिया-कलाप उस हद तक फैलता-बिखरता चला जाता है जब तक कि टोकियो और पेरिस एक ही समुदाय के शहर नहीं हो जाते—इसमें राज्यत्व का संगठन उसी समुदाय के लिए किये जाने की बात निहित है। विश्व-राज्य में—वह चाहे जैसे भी बने और उसमें चाहे जिस हद तक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था हो—अलग-अलग प्रभुत्त्व के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वे काम जिनका असर बृहत् समाज के जीवन पर पड़ता है, सभी लोगों की मर्ज़ी से और संगठित निर्णय से संपन्न होने चाहिएँ।

—५—

जब हम राज्यों की बाह्य प्रभुता के स्थान पर आन्तरिक प्रभुता की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें और भी जटिल स्थिति का सामना करना पड़ता है। अपने सदस्यों के ऊपर राज्य की सत्ता की समस्या, बहुत हद तक, संकल्पनाओं के प्रतिनिधित्व की समस्या है। अगर सामाजिक संस्थाएँ मुझे इस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति करने देती हैं कि मेरे जीवन में मनोवेगों का संतोषजनक संतुलन हो जाता है तो सृजनात्मक दृष्टि से, मै स्वतंत्र हूँ। लेकिन ज़ाहिर है कि अगर केवल व्यक्ति के रूप में देखा जाये तो मेरी संकल्पना उन असंख्य प्रतियोगी संकल्पनाओं के तूफ़ान में खो जाती है जो अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। इसीलिए लोग संस्थाएँ बनाते हैं ताकि उसमे समन्वित संकल्पनाओं की सामूहिक शक्ति से उन्हें आत्म-निर्णय का अवसर मिल सके। उनका अस्तित्त्व उन प्रयोजनों की पूर्त्ति के लिए ही होता है, जो किसी खास मानव-निकाय द्वारा समान रूप से अनुभव किये जाते हैं। वे कामों में सहारा भी देते हैं और स्वयं भी सम्पन्न करते हैं। अत: राज्य में अभिव्यक्ति पाने वाली संकल्पनाएँ दो तरह की होती हैं। एक तो एक चरम इकाई के रूप में स्वयं व्यक्ति की संकल्पना—यह सार्वभौम इकाई है जिसका हर काम और हर आशय अपना विशिष्ट होता है। दूसरे किसी ख़ास संथा के सदस्य के रूप में व्यक्ति की संकल्पना जहाँ वह उसके माध्यम से किसी निश्चित प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए रत रहता है।

यहाँ दो बातों को अच्छी तरह समझ लेना महत्त्वपूर्ण है। उस संस्था का, जिसका कोई आदमी सदस्य हो, संपूर्ण वर्णन-निरूपण कर देना उस आदमी का वैसा वर्णन-निरूपण नहीं

हो जाता। यह कह देना कि जोन्स वेस्लेयन-बैरिस्टर है और रिफ़ार्म क्लब तथा ऐंसिएंट आर्डर आफ ऑडफैलोज़ का सदस्य है, जोन्स की समग्र प्रकृति का विवेचन कर देना नहीं है। हमें उस जोन्स का भी ध्यान रखना पड़ेगा जो अपने जीवन के विविध पहलुओं से एक ऐसे स्वरूप का विकास करता है जो उनके बीच सामञ्जस्य पैदा करते हैं या करने का प्रयत्न करते हैं। जो जोन्स यह अनुभव करता है कि उसका कुछ अंश इन सभी संथाओं में रहता है, जो उनके माध्यम से अपनी आशा-आकांक्षाओं की राहें बनने की कोशिश करता है—वही असली जोन्स है और वह स्वरूप केवल उसका अपना है।

वह जो-जो संबंध और संपर्क क़ायम करता है, सो उसी आन्तरिक एवं अविलेय व्यक्तित्व के परितोष के लिए। निस्संदेह उसकी संकल्पना उन असंख्य अलग-अलग कार्यों से मिल कर बनती है, जो वह करता रहता है। फिर भी वह उन सबसे ऊपर और अनभिभूत रहती है और न केवल कार्यों को, वरन् उनसे प्रभावित समाज को भी, इस कसौटी पर परखती है कि वे फलस्वरूप जीवन को किस हद तक संतुष्ट और समन्वित रूप दे सकते हैं।

और न किसी एक संथा की संकल्पना को ही अन्तिम संकल्पना बनाया जा सकता है। मिसाल के लिए बार (वकील-संघ)को अपने पूर्ण नियंत्रण का अधिकार सौंप देना आदमी के एक पहलू को उसका समग्र स्वरूप ढालने का अधिकार दे देना है। आदमी सिर्फ़ बैरिस्टर ही तो नहीं होता! पूर्ण मानव के रूप में विकास करने के चरम साध्य के साथ-साथ कृत्य-विशेष तो सदा ही एक संकीर्ण प्रयोजन होता है। अतः हमें ऐसी भूमिका खोजनी है. जिसमें मानव-संकल्पनाओं को सार्वभौम निर्णय के केन्द्रों के रूप में अभिव्यक्ति का अधिकार हो—विशिष्ट निर्णयों के केन्द्रों के रूप में नहीं, जिनके संयोग से उनका निर्माण होता है।

इस तरह से कहा जाये तो मसला आवश्यकता से कुछ अधिक ही सरल हो जाता है। जिस जोन्स को सार्वभौम धरातल पर संकल्पना करनी है, हो सकता है कि वह दरअसल अपने किसी विशेष पहलू में निहित अभिभावी महत्त्व की भावना से अपने आपको मुक्त न कर सके। अन्य किसी की योग्यता का इतना गहरा प्रभाव नहीं जितना अपने मन में झांक लेने और अपने प्रयत्नों की समष्टि को एक व्यवस्थित पूर्णता के रूप में देखने की योग्यता का और सामाजिक तर्क के आधार पर सोचें तो उसमें मंगल तभी हो सकता है, जब उस पूर्णता के अंश अपने संगी-साथियों की खुशहाली पर समर्पित हों। किसी कार्यरत संथा के प्रयोजन में जो हेतु विद्यमान रहते हैं उनकी जटिलता के कारण यह योग्यता और भी दुर्लभ हो जाती है। जिन संथाओं का स्वरूप विशुद्ध रूप से उपार्जनैषी लगता है वे समाज-कल्याण के सम्बन्ध में प्रायः ऐसा दृष्टिकोण बना लेती हैं जिसमें उनका प्रबन्ध भूख की समस्या तक सीमित हो जाता है। अगर राजनीतिक संघ का मतलब किसी ऐसे निकाय तक है, जो आदमियों के व्यक्तिगत संबंध मात्र से जन्य कार्यों को सम्पन्न करता हो तो विशुद्ध राजनीतिक संथा जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं क्योंकि वे संबंध समाज की समूची व्यवस्था के दबाव से क़दम-क़दम पर प्रभावित और रंजित होते रहते हैं। आर्थिक और सामाजिक तथ्य, बौद्धिक और धार्मिक विचार जाने-अनजाने हर दौर में उन्हें प्रभावित करते रहते हैं।

[illegible] जिस सार्वभौम धरातल की चर्चा हमने की है, वह, जहाँ तक विशुद्ध रूप में

उसके अस्तित्व का सम्बन्ध है, एक कपोल-कल्पना मात्र है। वहाँ जिस संकल्पना को अभिव्यक्ति मिलती है, वह व्यक्तिगत निर्णयों से, जिनसे उसके प्रेरक हेतुओं को अपना अन्तिम स्वरूप मिलता है, बिल्कुल ऊपर और असंपृक्त हितों की ओर ही निदेशित नहीं हो सकती—और यह स्वाभाविक भी है। अतः रूसो के अर्थ में सामान्य संकल्पना जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती।

परन्तु चूँकि हम इस आदर्श-रूप में सामान्य संकल्पना की बात अस्वीकार कर देते हैं, इसलिए हम इस नतीजे पर नहीं पहुँच जाते कि साहचर्य की एक प्रणाली को ही एक ऐसा तरीक़ा मान लें, जिसमें और जिसके द्वारा समाज के साध्य की सर्वश्रेष्ठ रीति से सिद्धि हो सकती है। हम यह मान सकते हैं कि हर संथा को समाज-व्यवस्था के आचरण को प्रभावित करने का मौक़ा मिलना चाहिए। किन्तु जहाँ ऐसे आदेश जारी होते हैं जिनके आधार पर—जब तक कि वे वापस ही न ले लिये जायें—समूची समाज-व्यवस्था का स्वरूप निर्णीत होता है; हमें समता के धरातल पर अवेक्षा के लिए उन्हें ग्रहण करना पड़ेगा। यानी समाज के देखे हर एक आदमी का किसी भी दूसरे आदमी के बराबर महत्त्व होना चाहिए। अगर वह संकल्पना, जो संस्थाओं के बीच सामञ्जस्य पैदा करती है, उन्हीं के संयोग से निर्मित हो तो यह समता असम्भव होगी। एक खनिहा खनिहे की हैसियत से समाज को जिस हद तक प्रभावित कर सकता है, उस हद तक एक हीरातराश एक हीरातराश की हैसियत से उसे प्रभावित नहीं कर सकता। साहचर्य को इस प्रकार महत्त्वपूर्ण बनाने की समस्या, कि उन्हें एकता के सूत्र में ढालने वाली संस्था में न केवल समुचित वरन् उससे भी अधिक स्थान मिले, एक अबूझ समस्या है। न जोन्स की संकल्पना द्वारा लिखित वस्तु उसे इस तरह मिल सकती है कि वह उसके एक-एक अंश को ले और उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में फ़ैसलों को प्रभावित करने की शक्ति दे दे क्योंकि उसके लिए महत्त्व तो इस बात का है कि उन अंशों का समन्वय किस तरह किया गया है। उसकी प्रकृति का किस हद तक परितोष हुआ है, इसका फ़ैसला उनके परस्पर-संबंध पर निर्भर है, अलग-अलग होने पर नहीं।

अतः सामाजिक संगठन के शासन के सम्बन्ध में कोई भी समस्या सामने नहीं आती। एक ओर तो समाज में हर कार्य के लिए—अर्थात् उसमें निहित प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए—सरकार बनाना ख़ासा आसान है। लेकिन किसी भी आदमी का क्रिया-कलाप सिर्फ़ एक कार्य तक सीमित नहीं होता। जिन सेवाओं को निष्पन्न करने में उसका कोई हाथ नहीं होता, उनके प्रयोक्ता के रूप में उसके हितों की सुरक्षा भी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उपभोक्ता के रूप में उसकी रक्षा करनी ज़रूरी है।

कार्यों का समन्वय करने के क्षेत्र में इस साध्य की पूर्ति के लिए, राज्य को क्रियाशील होना चाहिए। उसे उनके जीवन की परिस्थितियों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि राज्य का हर सदस्य उन चीज़ों की समुचित लब्धि के बारे में आश्वस्त रहे जिनके बिना वह आदमी के रूप में अपने काम-धंधे पूरे नहीं कर सकता। कम से कम एक नीचे से नीचे स्तर पर जहाँ आदमी आदमी बराबर होने के नाते उनकी ज़रूरतें एक-सी हैं, उन्हें पूरा करने के लिए नियंत्रण का एक ही केन्द्र होना अनिवार्य है। इसका मतलब यह नहीं कि राज्य स्वयं

नियंत्रक निकाय के रूप में, ऐसी ज़रूरतों की पूर्त्ति की सीधी व्यवस्था करेगा। मतलब सिर्फ़ यह है कि अभीष्ट सेवायें निष्पन्न करने वाले कार्यों का निदेश वह इस ढंग से करेगा कि उनकी पूर्त्ति के लिए कारगर परिस्थितियाँ पैदा हो जायें।

इस पहलू से देखा जाये तो राज्य स्पष्ट ही एक लोक-सेवा निगम होता है। यह हर अन्य संस्था से भिन्न है—सबसे पहला अन्तर तो यह है कि यह ऐसी संस्था है जिसमें सदस्यता अनिवार्य है। दूसरे, इसका स्वरूप मूलतः प्रादेशिक है। उपभोक्ताओं के रूप में आदमी के हित अधिकांशतः प्रतिवेश-विषयक हित होते हैं—ये बहुत कुछ हद तक विशिष्ट स्थान पर परितोष चाहते हैं: और एक ख़ास धरातल पर उसके सदस्यों के हित एक जैसे होते हैं। खाना-कपड़ा, रहने का स्थान, शिक्षा सभी को चाहिए। राज्य वह निकाय है जो उपभोक्ताओं के हितों को ऐसे ढंग से व्यवस्थित करता है कि जिन चीज़ों की ज़रूरत हो, वे उन्हें मिल जायें। राज्य में वे सब आदमी हैं—उनके सबके दावे बराबर महत्त्व के हैं। वकील, खनिहा, कैथोलिक, या प्रोटेस्टैण्ट, मालिक-मज़दूर आदि के भेद उनमें नहीं। समाज-सिद्धांत की दृष्टि में वे महज़ आदमी हैं जिन्हें अपना उत्कृष्टतम स्वरूप विकसित करने के लिए कुछ ऐसी सेवाओं की ज़रूरत होती है जो वे स्वयं निष्पन्न नहीं कर सकते। ज़ाहिर है, इस तरह का काम अन्य कामों की अपेक्षा महत्तर हो जाता है—चाहे उसका किसी भी प्रकार सम्पादन किया जाये। जिस धरातल पर आदमी को आदमी की तरह से रहना होता है, उसका नियंत्रण राज्य करता है। प्रशासनिक-शब्दावली में कहें तो वह ऐसी सरकार है, जिसका क्रिया-कलाप उसके सदस्यों की आम ज़रूरतों के अनुसार ढलता है। उन आम ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसे एक ख़ास हद तक अन्य संघों का भी नियंत्रण अपने हाथ में रखना पड़ता है जिससे उनकी पूर्त्ति के लिए अभीष्ट सेवायें प्राप्त हो सकें। कोई कार्य—जैसे शिक्षा अथवा कोयले की व्यवस्था आदि—समाज को जितना ही अधिक प्रिय होगा, उतना ही उस पर अधिक नियंत्रण रखने की ज़रूरत होगी। अर्थात् हर कृत्य उपभोक्ता के हित में इस तरह व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि उसे पूर्ण नागरिक जीवन बसर करने का अवसर मिल सके। हर आदमी के लिए—अगर वह इंसान बना रहना चाहता है तो—दैनिक परिश्रम की एक हद होती है: कोई चौबीसों घंटे काम में जुता नहीं रह सकता। आमदनी का भी एक ख़ास स्तर होना चाहिए जिससे नीचे किसी की आमदनी न गिरने दी जाये—तभी हर आदमी एक अच्छे नागरिक की तरह से रह सकता है। समग्र समाज अपने सामान्य साध्य की पूर्त्ति के लिए जो धरातल अनिवार्य समझता है, उस पर आम ज़रूरतें हासिल करने के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य का नियमन रहता है।

समाज में राज्य का यही कार्य है। वह नागरिकों के रूप में लोगों के हितों की रक्षा करने वाली संस्था है—उनके प्रतिफलात्मक प्रयासों की बारीकी में वह नहीं जाता; उसे तो उस स्थूल रूप-रेखा से मतलब है, जिसके भीतर रह कर वे प्रयास किये जाते हैं। परन्तु राज्य और सरकार का स्पष्ट भेद हमें समझ लेना चाहिए। राज्य-कृत्य की परिभाषा करना सरकार के अधिकारों की परिभाषा करना नहीं—वह तो केवल उस प्रयोजन की परिभाषा होगी, जिसकी पूर्त्ति सरकार का साध्य होता है। यहाँ आन्तरिक प्रभुता की समस्या अत्यंत प्रखर रूप में हमारे सामने आती है। यह युक्ति दी जा सकती है कि—जेम्स के शब्दों में—राज्य

में मनुष्य के सार्वभौम पहलू का सन्निवेश रहता है, इसलिए उसके अभिकर्त्ताओं की आज्ञा अपने आप में पर्याप्त होनी चाहिए। यह भी दलील देना संभव है कि राज्य के नाम पर उन अभिकर्त्ताओं द्वारा जो भी क़दम उठाया जायेगा, वह अन्तत: राज्य और कृत्य-विशेष के बीच का प्रश्न होगा, अत: उनकी आज्ञा पर्याप्त नहीं हो सकती क्योंकि उसे अन्तिम मान लेने का मतलब तो उन अभिकर्ताओं को अपने ही मुकदमे में निर्णायक बना देना होगा। आन्तरिक सत्ता के संगठन में मुख्य समस्या निस्संदेह यही है। जैसी कि यहाँ दलीलें दी गई हैं, अगर राज्य के स्वरूप को देखें वह और संस्थाओं जैसा ही है—चाहे उसका क्षेत्र भले ही बड़ा और भिन्न हो—तो उसके अभिकर्ताओं की मर्ज़ी पर यह छोड़ देना कि वह जो कुछ चाहें क़दम उठायें, उतना ही असम्भव है जितना कि वकालतपेशा लोगों को उनके अपने नियंत्रण का सम्पूर्ण अधिकार दे देना क्योंकि इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि राज्य के अभिकर्त्ताओं के निर्णय अन्य संस्थाओं के अभिकर्त्ताओं के निर्णयों से इस बात में भिन्न हैं कि वे राज्य के सदस्यों की खुशहाली का ध्यान रखने में अद्वितीय हैं। कहने का मतलब यह हुआ कि उनकी संकल्पना को पहले ही सामान्य संकल्पना मान लिया गया है और सामाजिक जीवन में हमारे सामने जो और संकल्पनायें आती हैं, उनके विषय में हम यह बात नहीं कह सकते। वास्तव म, बात ऐसी नहीं है। किसी राज्य के अभिकर्त्ता स्वभावत: उसके अन्य सदस्यों से भिन्न नहीं होते। वे भी उसी लोभ-लालच के शिकार हो सकते हैं, जिसके और लोग। उनके ग़लती करने के कारण भी वही हो सकते हैं जो औरों के। उनका दृष्टिकोण भी अन्य लोगों के समान अपने अनुभव के अनुपात में सीमित होता है। वे जिन प्रयोजनों के लिए सत्ता का प्रयोग करते हैं, वे अपने परिवेश से ग्रहण की हुई मान्यताओं के द्वारा सदैव सीमित होते हैं। भूस्वामि-वर्ग का शासन गाँव के आदमी को दिल से यह विश्वास नहीं करने देता कि उसका हित लोक-मंगल में ही है। जान ब्राइट अपने जीवन के अन्त तक यह नहीं समझ सका कि मज़दूरों के काम के घंटे निश्चित कर देने में क्या तुक है। विलियम विण्डहम की समझ में यह बात नहीं बैठी कि मज़दूर वर्ग को भी शिक्षा की सुविधायें पाने का अधिकार है। दूसरी संस्थाओं के बीच राज्य को प्रभुत्व-संपन्नता की स्थिति में रहने देने का ख़तरा यह है कि वह हमेशा कुछ अभिकर्त्ताओं के माध्यम से काम करेगा और यह ज़रूरी नहीं कि उन विशेष अभिकर्त्ताओं के अनुभव की समुदाय की सामान्य हित के साथ संगति बैठ ही जाये। प्राय: उनका झुकाव इस ओर भी होगा कि उनके अनुभव के अनुसार जो कुछ अच्छा है, उसी को मानवता की आम ज़रूरत समझ बैठें क्योंकि जैसा रूसो का कथन है, अपकर्ष की ओर जाना हर सरकार की प्रकृत प्रवृत्ति होती है। सत्ता का यह स्वभाव होता है कि वह अपना प्रयोग करने वाले बड़े से बड़े महात्मा को भ्रष्ट कर देती है। निष्कर्ष यह निकला कि समुदाय की अन्य सब संकल्पनाओं के अन्तिम नियंत्रण का अधिकार राज्य के हाथ में दे देने का मतलब दरअसल कुछ गिने-चुने लोगों को ऐसी सत्ता दे देना है, जिसका दुरुपयोग कठिन नहीं।

अत: आन्तरिक रूप से हर राज्य एक उत्तरदायी राज्य होना चाहिए। इस प्रकार के उत्तरदायित्व को सृजनात्मक बनाने की समस्या पर दो कोणों से दृष्टिपात किया जा सकता है। राज्य के अतिरिक्त अन्य करणों का संगठन हम इस प्रकार कर सकते हैं कि अन्तिम फ़ैसले करने के लिए वे राज्य के साथ मिलकर एक समन्वित निकाय का रूप ले

सकें। स्थूल रूप से यह मत वही है जो श्रेणि-समाजवादी सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इसकी कठिनाइयाँ अगम हैं। सब से पहले तो यही सवाल आता है कि क्या ऐसी कारणिक इकाइयाँ बनाई जा सकती हैं जो अन्य इकाइयों से समनुपात रखते हुए एक समुचित प्रतिनिधि निकाय के निर्माण में सहायक हों। ऐसी संस्था बनाई जा सकती है जो उत्पादकों के किसी वर्ग-विशेष की जरूरतों का काफ़ी हद तक अन्तर्भाव कर ले पर यहाँ समस्या बिल्कुल दूसरी है—यहाँ समस्या है एक करण को दूसरे के मुकाबले में कम या अधिक महत्त्व देने की ताकि उनके बीच एक उचित आनुरूप सम्बन्ध स्थापित हो जाये। यह किया जा सकता है या नहीं—इसमें बड़ा शक है। मिसाल के लिए, जिसने जर्मन आर्थिक परिषद् के निर्माण में आने वाली कठिनाइयों को अच्छी तरह देखा-समझा है उसे अनायास यह विश्वास होने लगेगा कि उसमें जो स्थूल सामंजस्य बरबस लाया गया है उसके कारण ही वह अगर कुछ काम कर सकती है तो केवल एक सलाहकार संस्था के रूप में—इससे अधिक कुछ नहीं। खास औद्योगिक मसलों पर सलाह देने के माध्यम के रूप में तो उसका कुछ उपयोग प्रतीत होता है पर उसके पास इतनी नैतिक सत्ता नहीं कि वह समूचे उद्योग-जगत् की ओर से साधिकार कुछ कह सके।

इंगलैण्ड में श्रमिक संघों के विषय में भी यही बात सच है। कोयले से सम्बन्ध रखने वाले सभी मसलों पर अपने सदस्यों की ओर से बोलने के बारे में खनिहा-संधान (माइनर्स फ़ैडरेशन) के अधिकार पर कोई सन्देह नहीं करता परन्तु इस बात पर शक करना ठीक ही है कि श्रमिक संघ कांग्रेस के प्रस्ताव एक संकुचित और औद्योगिक क्षेत्र के बाहर, अपने विविध अवयवों को बाध्य करने की सामर्थ्य रखते हैं अथवा नहीं। इसी प्रकार यह समझना भी बड़ा मुश्किल है कि कोई निकाय, जिसमें व्यापारी और श्रमिक-संघवादी दोनों शामिल हों, कैसे कोई लाभकारी सामान्य औद्योगिक विधान बना सकता है—खास तौर से अगर वे दोनों बराबर अनुपात में शामिल हों जो कि पूँजीवादी शासन में अनिवार्य प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ एक और बात ध्यान देने की है—उस समस्या को हम छोड़े ही जा रहे हैं: किसी औद्योगिक इकाई की वास्तविकता का उसके अन्तर्गत आने वाले काम-धन्धों के प्रति पूरा-पूरा न्याय बरतते हुए उनके साथ कैसे सामंजस्य बैठाया जा सकता है। उदाहरण लीजिए—किसी चिकित्सा-संघ में प्राधान्य निस्सन्देह सामान्य व्यवसायियों का ही रहेगा लेकिन उनको कोई हक़ नहीं कि नर्सों, दन्त-चिकित्सकों, मालिश-विशेषज्ञ स्त्रियों और चटकी हुई हड्डी को ठीक करने वालों के हितों से सम्बद्ध मामलों में भी अपनी राय को ही निर्भ्रान्त ज्ञान का अन्तिम उच्चार मानने का हठ करें।

दूसरे शब्दों में कहें तो व्यावसायिक संगठनों का महत्त्व इस बात में है कि वे उस कला-शिल्प की विशेष समस्याओं को सुलझाने में क्या योग देते हैं, इस बात में नहीं कि वे आम सामाजिक सवालों को सुलझाने में क्या मदद दे सकते हैं। जैसे ही ये मसले सामने आते हैं, किसी खास व्यवसाय के लोग या तो अपने कला-शिल्प की दृष्टि से उनका निराकरण करने को अग्रसर होते हैं अथवा अधिक व्यापक दृष्टिकोण से उन्हें सुलझाने की कोशिश करते हैं। पहली अवस्था में उनके निर्णय को विशेष मान्यता नहीं दी जा सकती और दूसरी में वे उस कला-शिल्प के सदस्यों की हैसियत से नहीं बोलते। अतः व्यावसायिक संस्थाओं

का महत्त्व है केवल कारणिक समस्याओं को सुलझाने के लिए—किन्तु प्रकृत्या ही वे आम मसलों को हल करने के लिए नहीं बनाई जातीं : उनसे सुलटना तो समूचे समाज का ही काम है ।

इस सवाल में जो दूसरी समस्या अन्तर्भूत है वह संघटना की समस्या से किसी तरह कम जटिल नहीं। अगर हम यह मान भी लें कि सन्तोषजनक कारणिक प्रतिनिधित्व प्राप्त किया जा सकता है फिर भी राजनीतिक राज्य के साथ उसके सम्बन्धों का विकास करने का सवाल तो रह ही जाता है। सब से पहले तो यह फ़ैसला करने का सवाल उठता है कि उनके बीच विषय-वस्तु की सामान्य चौहद्दी कैसे निर्धारित की जायेगी। यह स्पष्ट रूप से एक न्यायिक मामला है जिसका निपटारा करने के लिए अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय जैसीकोई संस्था ही सब से अधिक उपयुक्त हो सकती है। इस पृष्ठभूमि में, अन्तिम निर्णय करने की क्षमता निर्वाचित सभाओं को नहीं होती वरन् किसी नियुक्त निकाय को होती है जो यह फ़ैसला करता है कि अमुक संविधि शक्ति-परस्तात् है अथवा नहीं। बात यह है कि निर्वाचन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में हम इतना जान गये हैं कि सब से नाज़ुक सामाजिक कामों का फ़ैसला करने वाले लोगों का चुनाव उसके संयोग पर छोड़ देने की जोखिम नहीं उठा सकते।

इस कठिनाई को हल करने के लिए श्री कोल का सुझाव है कि क़ानून और पुलिस का काम "अत्यावश्यक" कारणिक संगठनों के योग से बने हुए संयुक्त निकाय के नियन्त्रण में दे दिया जाये। पर इससे तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। कौन से कारणिक संगठन "अत्यावश्यक" हैं? इस प्रकार के संयुक्त निकाय की सदस्य-संख्या क्या होगी? क्या वे वोट डाल कर सर्वोच्च न्यायालय के सदस्यों का चुनाव किया करेंगे? नामज़दगी करने का अधिकार किसे होगा? स्पष्ट है कि जैसे ही हम राजनीतिक राज्य को 'खनिहा-संघ' वाले स्तर पर ले आते हैं, सामाजिक संगठन में प्रत्यक्ष सुगमता का अवसर समाप्त हो जाता है और अगर राज्य को लोकतंत्रवादी बना रहना है तो उसका असंदिग्ध महत्त्व है'। क्योंकि कोई भी शासन-पद्धति, जिसे आम निर्वाचक समझ नही पाता, देर-सवेर उन लोगों द्वारा निश्चय ही भ्रष्ट कर दी जाती है जो उसके माध्यम से अपना मतलब साधने का रहस्य जानते हैं।

सामाजिक संगठन में करणों के स्थान से सम्बन्धित कोई भी ऐसा मत अगर पूँजीवाद के महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में नहीं रखता तो वह अपूर्ण है। अगर सब उद्योगों का समाजीकरण हो जाये तो, जहाँ तक संघटना का प्रश्न है, उनका प्रबन्ध कम से कम सापेक्षिक दृष्टि से एक सीधा मामला होगा। परन्तु वास्तविकता यह है कि हमें लगभग हर महत्त्वपूर्ण उद्योग मालिक और मेहनतकश के दलों में बँटा हुआ दिखाई देता है और जब तक क्रान्ति का ज्वालामुखी ही न फट पड़े इस बात के कोई आसार नहीं दिखाई पड़ते कि निकट भविष्य में उनमें से अधिकांश निजी उद्यम के क्षेत्र में से निकल जायेंगे। और अगर स्थिति यह है तो हर ऐसे उद्योग के प्रबन्ध में जिसका संचालन सरकार के हाथ में नहीं—मालिक और मेहनतकश के दोहरे प्रतिनिधित्व की आवश्यकता तो अतर्क्य है ही और यह भी ज़ाहिर है कि सब उद्योगों से प्रतिनिधि लेकर जो कारणिक सभा बनेगी उसकी जटिलता उसके

कुशल संचालन के लिए शायद घातक हो।

दूसरे शब्दों में जब आदमी आदमी के रूप में वोट देता है और मताधिकार ज़रूरत समझ कर ही पूर्व-स्वीकृत होता है तो काम करने में आसानी हो जाती है। जहाँ तक प्रभाव का सवाल है, धनवान मालिक निस्सन्देह अकेले मज़दूर से अधिक शक्तिशाली होता है; पर सरकार के देखे जब वे अपने में एक इकाई है तो उन दोनों का धरातल एक ही है। पर जब मताधिकार का पूर्वाधार विभेद हो, साम्य नहीं तब उसके रंगों की विविधता इतनी अनेकमुखी होती है कि उसके आधार पर बना हुआ निकाय बेहद जटिल और बेसँभाल होने के कारण किसी काम का नहीं रह जाता। श्रमिक-संघ कांग्रेस की तरह से वह या तो कुछ गिनी-चुनी बड़ी-बड़ी संस्थाओं के हाथ में चला जाता है जो उसकी नीति का संचालन करती हैं अथवा थोड़े-से लोगों के किसी गुट के हाथ में जो किसी अमरीकी पार्टी के 'अधिपतियों' की तरह चुनावों में अपना उल्लू सीधा करने की कला में निष्णात होते हैं।

—६—

अगर यह युक्ति मान्य है तो हमें उत्तरदायी राज्य की आधारशिलाएँ खोजने के लिए दूसरी दिशाओं में अन्वेषण करना पड़ेगा। सबसे पहले तो यह समझ लेना ज़रूरी ह कि सत्ता को सीमित करने के लिए दायित्व के विभाजन का फल यह भी हो सकता है कि उसका सम्पूर्ण विनाश हो जाये। अमरीका की तरह अधिकारों को अलग-अलग करके उसका विभाजन करने का मतलब उससे बिल्कुल कतरा जाना भी हो सकता है। किसी भी सफल प्रशासन में यह ज़रूरी है कि जारी किये हुए आदेशों का स्रोत अन्ततः एक छोटा-सा गुट हो। उसके दायित्व का आश्वासन तीन तरह से प्राप्त होता है। सबसे पहली बात तो यह कि सत्ता-च्युत करने के समुचित तरीक़ों से उसे कारगर बनाया जाता है। दूसरे, उसके चारों ओर बिखरे हुए संगठित परामर्श के सूत्रों से और तीसरे यह नितान्त आवश्यक है कि जिन्हें राज्य के कृत्यों पर अन्तिम निर्णय देना है वे पूर्णतः ऐसी स्थिति में हों कि अपने फ़ैसलों को सुगम और संवेद्य बना सकें। कहने का सार यह है कि राज्य के अंगभूत नागरिकों के बीच शिक्षा और आर्थिक शक्ति की दृष्टि से बहुत गहरी विषमताएं नहीं होनी चाहिएँ।

इस मत के अनुसार, राज्य की संकल्पना का उन संकल्पनाओं से विधिक समन्वय नहीं हो सकता जिनका क्षेत्र वास्तव में उसके अपने क्षेत्र से कम होता है। नैतिक समन्वय तो हो सकता है पर विधिक समन्वय असम्भव है क्योंकि राज्य अपने अभिकर्ताओं के माध्यम से व्यावसायिक जीवन का ढंग निर्धारित करता है। और हम राजनीतिक राज्य की प्रत्यक्ष प्रशासन-क्षमता चाहे कितनी ही क्यों न घटा डालें पर यह सही है कि एक बार जब उस पर उन सेवाओं की व्यवस्था का भार डाल दिया गया जिनकी आदमी को आम ज़रूरत होती है, तो उसके निकट उनके हित जिस हद तक धरोहर का रूप ले लेते हैं उसकी समता—कम से कम ऐहिक अर्थ में—कोई दूसरी संस्था नहीं कर सकती। आधुनिक राज्य से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का अंतिम नियन्त्रण अगर हम निकाल भी दें तो आन्तरिक मामलों का जितना नागरिक क्षेत्र रह जाता है वह भी, सरसरी तौर से देखने पर ही, अमित-अपार लगता है। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, आवासन, व्यवस्था बनाये रखना, उस स्तर-विशेष पर व्यवसायों का नियमन जिसके नीचे उनका चला जाना लोक-हित के लिए हानि-

कर हो—मोटे तौर पर इन कार्यों का उल्लेख कर देने से ही स्पष्ट है कि सरकार की राय का अपने खास तरीक़े से विशिष्ट महत्त्व है। व्यवहार-रूप में, सरकार जिसका सर्वेक्षण करती है वह है नागरिक के रूप में व्यक्ति का हित—इस बिन्दु पर वह सेवाओं का उत्पादक नहीं रह जाता, वह जीवन बसर करता है और उस उत्पादन के प्रतिफल से अपने जीवन को सार्थक बनाने का प्रयास करता है।

यहाँ यह दलील दी जाती है कि जब तक श्रम-विभाजन है और उसके फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति आत्म-निर्भर नहीं हो सकता, तब तक उत्पादन और उपभोग को एक ही धरातल पर नहीं रखा जा सकता। मोटे तौर पर कहें तो नागरिक के रूप में उपभोक्ता के हितों की रक्षा सर्वोपरि है। उत्पादक करणों को स्वयं अपना शासन चलाने की छूट देने में विकेन्द्रीकरण चाहे जितना आगे चला जाये परंतु किसी न किसी हद पर पहुंच कर इन की संकल्पना उन लोगों की संकल्पना के अधीन हो जाती है जो अवकाश के समय जीवन को एक कृत्य-विशेष की पूर्ति की बजाय कला बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

इस दृष्टिकोण को समझने के लिए अच्छा यह होगा कि हम पहले अकेले नागरिक को लें और उसके सम्बन्धों से समुदाय का निर्माण करें। वह दूसरे लोगों की सेवाओं पर जीता है—उसके निकट उन सेवाओं का अस्तित्व इसलिए है कि उसका अवकाश अधिक आनन्ददायक और फलप्रद हो सके। जिन चीज़ों की उसे ज़रूरत है वे अगर पूरी-पूरी मात्रा में उनसे प्राप्त हो जायें, तभी वह उसके प्रकृत मनोवेगों की पूर्ति हो सकती है यानी उसके देखे उपभोक्ता का पहलू ही सर्वोपरि है। उसके पूर्ण परिपोष के लिए जो वह उपभोग करता है उसका महत्त्व है, जो वह उत्पादन करता है उसका नहीं। यह सच है और इस बात पर पूरा ज़ोर दिया जाना चाहिए कि ऐसे लोग भी हैं जिनके लिए उत्पादक का पहलू ही आधार-भूत है। कलाकार, राजनीतिज्ञ, जन्मजात लेखक, प्रशासक, अध्यापक—ये सब अपना सत्स्वरूप अपने नित्य कृत्य में ही पाते हैं जिनसे उन्हें आजीविका प्राप्त होती है। सामाजिक संगठन का कोई भी ऐसा सिद्धान्त पूर्ण नहीं हो सकता जो उस सृजन-वृत्ति की अभि-व्यक्ति के लिए काफ़ी गुंजायश रखने का प्रयास नहीं करता।

फिर भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है जिनके लिए उत्पादन का प्रयास एक ऐसे छापे की तरह होता हो जिस पर उनका व्यक्तित्व अंकित हो जाये। ऐसी सभ्यता में जो बड़े पैमाने के उत्पादन पर आधारित हो—जैसे हमारी अपनी सभ्यता—अधिकतर लोग अनिवार्य रूप से अपने व्यक्तित्व के उत्कृष्टतम पक्ष को उन क्षेत्रों से बाहर ही पाते हैं जिनसे वे अपनी रोज़ी कमाते हैं। खाते में लिखत की नकल करने वाला क्लर्क, अख़बार के लिए टाइप व्यवस्थित करने वाला मुद्रक, रसोईघर से मेज पर और मेज से रसोईघर में प्लेटें लाने-ले जाने वाला अनुचर, विशाल काय पोत के इंजन में ईंधन झोंकने वाला—इन सब का असली स्वरूप तब देखने को नहीं मिल सकता जब वे अपने दैनिक श्रम में रत होते हैं बल्कि तब देखा जा सकता है जब उन का दिन भर का काम पूर्ण हो चुकता है। और उनके लिए अवकाश में जो अवसर प्राप्त होता है वही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे चाहते यह हैं कि उत्पादक प्रयास में उनकी कम से कम शक्ति खर्च हो और उसके फलस्वरूप उसके मनचाहे उपयोग के लिए अधिक से अधिक साधन उन्हें प्राप्त हों। उनके जाने समाज को

परखने की कसौटी यही है कि वह इस साध्य की पूर्ति के लिए क्या करती है। सरकार उत्पादन में शामिल पक्षों के बीच विवाचक बन जाती है—यह अपने आप में कोई साध्य नहीं, वरन् उस साध्य का साधन मात्र है जिसके लिए आदमी उत्पादन करता है।

इसका मतलब यह कतई नहीं कि आदमी को उसके दैनिक श्रम में मशीनों का परिचालक मात्र समझा जा सकता है या समझा जाना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह ज़रूर है कि अगर हमें अपनी सभ्यता को वर्तमान पैमाने पर बनाये रखना है तो यह समझ लेना चाहिए कि औद्योगिक संगठन का रूप चाहे कुछ भी हो, उन लोगों की संख्या अनिवार्यतः थोड़ी ही होगी जिन्हें अपने दैनिक कार्य में सृजनात्मक वृत्तियों के प्रस्फुटन का अवसर मिल सके। अगर यह बात मान भी ली जाये कि शिल्पकार को अपने प्रयत्न के फलस्वरूप सन्तोष-लाभ होता है तो मशीन प्राविधिकी इस आशा को भी नष्ट कर देती है कि कोई काम नित-चर्या की पुनरावृत्ति से अधिक कुछ रह जायेगा। हाँ, ऐसे लोग भी कुछ होते हैं जिन्हें—किसी न किसी स्तर पर—उद्योगों को दिशा देने की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है और उधर वह शिल्पकार भी है, जो किसी के अधीन नहीं होता और जो कुछ गिने-चुने लोगों की रुचि का परितोष करके आजीविका कमाता है। परन्तु ऐसे लोगों की अगर हम आम आबादी के अपार समूह से तुलना करें तो वे सागर में बूँद की तरह नगण्य ही प्रतीत होंगे। ये बड़े गहरे असन्तोष के निमित्त हैं; और अगर उत्पादक पुनर्गठन के पहलू से देखें तो सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः नेतृत्व के मनोवेगों को परितुष्ट करने का ही प्रयास है जिसके लिए वर्तमान प्रणाली में काफ़ी गुंजायश नहीं है। औरों को काम में कोई दिलचस्पी नहीं होती, काम के परिणाम में होती है। वे समर-तन्त्र की बारीकियों से मतलब नहीं रखते, विजय के फल पर उनकी नजर रहती है। अतः उनके अनुसार राज्य को परखने की कसौटी यह है कि उसकी विजय साधारण है या विपुल।

तो निष्कर्ष यह कि राज्य अपने सदस्यों की ओर से उपभोग के मार्ग व्यवस्थित करके उनकी सेवा करता है। इस साध्य की पूर्ति वह कुछ तो करों से प्राप्त रक़म के सीधे व्यय द्वारा करता है और कुछ चीज़ों के उत्पादन की परिस्थितियों को नियमित करके। उसे कई ढंगों से अपने सदस्यों के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है। सबसे पहले तो यही व्यवस्था होती है कि राज्य के संघटक अंगों द्वारा उसकी सरकार बरखास्त की जा सकती है। यह काम कई तरीक़ों से सम्पन्न किया जा सकता है। कार्य-काल सीमित हो सकता है; विधान-मण्डल लोकमत के दबाव से स्वयं कार्यांग को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर कर सकता है हालांकि वैसे वह कार्यांग से ही निर्देशित होता है। कार्य-काल को सीमित करने का मतलब यह है कि एक निश्चित अवधि पूरी हो जाने पर राज-काज के वैध निदेशकों को निर्वाचक-मण्डल के चुनाव का सामना करना पड़ता है और उसमें, आम तौर से, आधुनिक सभ्यता की छत्रछाया में रहने वाले अधिकांश समुदायों की वयस्क जन-संख्या का समावेश हो जाता है और जिन राज्यों में व्यवस्थित शासन एक स्वाभाविक बात बन गई है वहाँ इस परीक्षा से अगर बचा जा सकता है तो क्रान्ति की जोखिम उठा कर ही। अतः सत्तारूढ़ रहने के लिए सरकारों को, वास्तविक महत्त्व की सीमाओं के भीतर, लोकेच्छा के आगे सिर नवाना

परन्तु लोकेच्छा का आदर करना एक अस्पष्ट सी बात है और वह किस हद तक कारगर है, यह स्वभावतः इस पर निर्भर है कि लोकमत किस हद तक संगठित है और अपने संगठन के द्वारा सरकार को अपनी संकल्पना से किस हद तक अवगत करा सकता है। विधान-सभा में उस मत का परितोष करने की समस्या पर हम बाद में विचार करेंगे; ज़ाहिर है जिन तरीकों से वह निर्वाचित होता है उनका बेहद महत्त्व है। यहाँ यह कह देना ही पर्याप्त है कि निर्वाचन का मतलब यह नहीं कि अगर मैं जोन्स को चुनता हूँ तो मैं यह समझता हूँ कि मेरी संकल्पना ही उसकी संकल्पना में मूर्तिमन्त है, मतलब केवल यह है कि मैं विश्वास करता हूँ उस अवधि में, जिसके बाद मुझे फिर उसके करे-धरे को परखने का मौक़ा मिलेगा, वह उन्हीं नीतियों के पक्ष में वोट देगा जिन्हें मोटे तौर पर मैं भी स्वीकार कर सकता हूँ।

लेकिन यह बात साफ़ है कि अगर मुझे उसके क्रिया-कलाप पर निर्णय देना है तो मुझे इतनी समझ होनी चाहिए कि मेरा निर्णय उचित और सार्थक हो। दूसरे शब्दों में, नागरिक की शिक्षा आधुनिक राज्य का प्राण है। लोकतन्त्री सरकार के हिमायतियों तक को उसके काम के ढंग से जो निराशा हुई है वह अधिकांश में इस कारण कि उसे अपने कृत्यों को समझने की शिक्षा कभी नहीं मिली। सामाजिक-सैद्धान्तिकों ने व्यवस्था बदल कर जिन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है उनमें से अधिकतर कठिनाइयाँ व्यवस्था में दोष होने के कारण उतनी नहीं जितनी इस कारण कि उसे जिस जनसंख्या से वास्ता पड़ता है वह ज़िन्दगी के अस्तित्व को जाने बिना ही ज़िन्दगी की राहों से गुज़रती जाती है। जो बच्चे चौदह वर्ष की उम्र में, जब ज्ञान की समस्या का आकर्षण उन्हें छू भी नहीं पाता, कारख़ानों में झोंक दिये जाते हैं उनसे आधुनिक औद्योगिक जीवन की परिस्थितियों में उस ग्रन्थिल प्रविधि (टेकनीक) को, परिचालित करने की तो कौन कहे, समझने की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती जिस पर उनकी सुख-समृद्धि आधारित होती है। लोकतन्त्र के जो दोष हैं वे अधिकांश में लोकतंत्र के अज्ञान के कारण ही हैं और उस अज्ञान की जड़ों पर कुठारा-घात करने का मतलब है उन दोषों की नींव हिला देना। जब तक वह अज्ञान रहेगा तब तक यह अनिवार्य है कि केवल ज्ञान-विलासी ही अपनी इच्छाओं को कारगर कर सकेगा या करने में समर्थ होगा। जो राज्य अपने नागरिकों को शिक्षा के बराबर अवसर नहीं दे पाता वह अमीरों के क़ायदे के लिए गरीबों को पीस रहा है। आखिर आधुनिक राज्य में अकेले आदमी की आवाज़ तो नक्कारख़ाने में तूती की तरह ही होती है—जब तक वह उन लोगों के साथ मिलकर काम नहीं करता जिनके हित उसके अपने हितों से बँधे हुए हैं। उदाहरणार्थ—अकेला मज़दूर सामान्य तौर पर काम की उचित शर्तों के लिए मालिक से सफलतापूर्वक बातचीत नहीं कर सकता : सौदे की शक्ति की समानता संविदा-स्वातंत्र्य की आवश्यक भूमिका है। सौदे की शक्ति की समानता केवल साहचर्य द्वारा उपलब्ध हो सकती है। जो व्यक्ति किसी को आर्थिक स्वामी बना कर भी अकेले सब से अलग खड़ा रहना चाहता है वह परितोष के उस स्तर का विनाश करता है जिसे पाने की उसके संगी-साथी आशा कर सकते हैं। वह ऐसे जलाशय का काम करता है जिससे विद्युत-शक्ति लेकर एक निम्नतम आवश्यक स्तर के विरुद्ध प्रतियोगिता की जाये : ग़ैर-सरकारी उद्यम जैसी

प्रणाली में तो यह बात और भी अधिक सच है क्योंकि वह बेरोजगारों का एक दल बनाये रखने के लिए विवश करती है जिन्हें वक्त पर काम में झोंका जा सके। अगर काम-काज की अच्छी परिस्थितियाँ बनाये रखना हो तो श्रमिक-संघवाद का अनिवार्य रूप से स्वीकार किया जाना ज़रूरी है और इसका मतलब यह है कि वह साहचर्य-भ्रष्ट मज़दूर तिरोहित हो जाता है जिसे कोई अप्रिय कल्पना महंगे से महंगे बाजार में अपना श्रम बेचने के लिए स्वतंत्र मान बैठती है। जो मज़दूर अपने संगी-साथियों के कन्धे से कन्धा मिला कर नहीं चलता वह दरअसल जीवन के उचित स्तर की ओर जाने के अपने रास्तों का स्वयं विध्वंस करता है।

दूसरी ओर, आधुनिक व्यवसायों की अराजकता उनकी परिस्थितियों से ठीक तरह जूझने के प्रयास के लिए घातक है। कारखानों की सफ़ाई-सुथराई में विषमता, लेखा-पालन, मूल्य-अंकन, बिक्री के तरीके, उत्पादन की प्रविधि के अनुसन्धान, काम पर लगने और तरक्की पाने और उद्यम के निदेशन में मज़दूरों के कुछ हद तक हाथ बँटाने—इन सब में पाई जाने वाली विविधताएँ उद्योग के समुचित संचालन के लिए घातक हैं। उत्पादन में अपने योगदान के फलस्वरूप मज़दूर जो कुछ हिस्सा पाने की आशा कर सकता है उसे घटाने के लिए गुटबन्दियाँ होती हैं; उपभोक्ता से अधिक से अधिक दाम ऐंठने के लिए जाल रचे जाते हैं। अभी ऐसा कोई अभिसन्धि होना बाक़ी है कि किसी उद्योग का ऐसा रूप दिया जाये जिससे सार्वजनिक सेवा के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाये। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अगर राज्य और उद्योग के सम्बन्धों को उचित भूमिका पर प्रतिष्ठित करना है तो सरकार के साथ संगठित और संगत परामर्श के लिए हर व्यवसाय की अपनी संस्थाएँ होनी चाहिए। कोई भी ऐसा निकाय जिसमें एक ओर हर मज़दूर और दूसरी ओर हर मालिक शामिल न हो उस मत का समुचित प्रतिनिधान नहीं कर सकता जिसकी अभिव्यक्ति के सहारे सरकार अपनी नीति निर्धारित करती है। इसमें प्रभावशाली लोगों को सत्ता के स्रोतों तक पहुँचने की छूट भी रहती ही ह और उसका कभी भी दुरुपयोग हो सकता है।

आधुनिक समाज में हम उद्योग के ऐसे संगठन की कल्पना कर सकते हैं जो उसके काम-काज को वैधानिक सरकार का स्वरूप और दायित्व प्रदान करे। उसके कुछ मानक होंगे—सांविधिक और पारम्परिक—जिनकी उसे रक्षा करनी होगी; कुछ ऐसी सरणियाँ होंगीं जिनके द्वारा उन्हें लागू किया जायेगा। इस बात पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जा सकता कि उन मानकों का अपनी पक्की परिभाषा के अनुसार अनुपोषण हमेशा राज्य का ही मामला होता है क्योंकि उन्ह लागू करने के माध्यम चाहे कुछ भी हों, उनका अनुपोषण उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिए ही किया जाता है। उनका मतलब यह जरूर है कि प्रचलित शब्दावली में कहें—किसी भी व्यक्ति को मनचाहे ढंग से अपना काम करने की छूट नहीं दी जा सकती है। नागरिकता के सन्दर्भ में ही उसकी क्रियान्विति के तरीक़े निर्धारित होते हैं और वह सन्दर्भ परिसीमित होता है राज्य द्वारा। अतः समस्या ऐसी सरणियाँ ढूंढ़ने की है जिन के द्वारा औद्योगिक करणों और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों में लोगों के नागरिक हितों की निरन्तर अभिव्यंजना होती रहे।

—७—

इस साध्य की ओर जाने के तीन साफ़ रास्ते हैं। आधुनिक राज्य की पहली सबसे बड़ी आवश्यकता है परामर्श की संस्थाओं का संगठन करना। वर्तमान प्रणाली की कमज़ोरी और उसके अनुत्तरदायित्व की एक असली जड़ यह है कि सरकार उस संस्था से परामर्श करने के लिए विवश नहीं होती जो किसी संविधि से प्रभावित हितों का प्रतिनिधित्व करती हो वरन् केवल उनसे परामर्श करती है जिनके, अपनी किसी कार्यवाही के प्रति, विरोध को वह महत्त्वपूर्ण समझती हो। यहाँ जैसी रूपरेखा दी गयी है अगर वैसा सांविधानिक रूप उद्योग को दिया जाये तो यह सम्भव हो सकता है कि किसी नीति को संविधि का रूप देने से पहले आधिकारिक निकायों को उनसे मन्त्रणा करने पर विवश किया जा सके।

इस तरीक़े के जो फ़ायदे हैं वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि उसकी लपेट में आने वाले हितों की सरकार तक पहुँच हो जाती है और वह कारगर भी हो सकती है। यानी उनकी संकल्पनाओं का कम से कम आधिकारिक आख्यान तो हो ही जाता है। वे एसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ वे सविस्तार यह जान सकते हैं कि सिद्धान्त रूप से सरकार के सम्मुख प्रयोजन क्या हैं? इस तरह सरकार जो क़दम उठाती है उसका वे अधिक प्रबलता से समर्थन या विरोध कर सकते हैं। अपनी जानकारी के बल पर वे विश्वास के साथ बाहर की जनता से भी अपील कर सकते हैं। विश्वस्त आधार पा कर वे विधान-मण्डल में सरकार के समर्थकों और विरोधियों पर प्रभाव डालने का भी प्रयत्न कर सकते हैं। वे मन्त्री को वास्तविक महत्त्व की सूचना दे सकते हैं जिससे उसे अपने प्रस्तावित विधेयक का ब्यौरा तैयार करने में सहायता मिले। उसकी सम्भावित क्रियान्विति के सम्बन्ध में वे सुझाव दे सकते हैं। संक्षेप में, नीति के विविध पहलुओं पर वे विशिष्ट ज्ञान की राशि-सी प्रस्तुत करते हैं जिसका सही तरीक़े से उपयोग करने पर सरकारी कार्यों के इर्द-गिर्द उत्तर-दायित्व का वातावरण पैदा होता है। अगर मन्त्री उनकी राय पर काम करता है तो कम से कम इतना तो निश्चय है कि वह अनुभव की नींव पर भवन बना रहा है। अगर वह उन की राय का तिरस्कार करता है तो एक प्रतिपक्ष और उसके परिणाम-स्वरूप होने वाले खण्डन-मण्डन का—जो लोकतंत्री शासन का प्राण है—जन्म होना कतई निश्चित है।

यहाँ जो मसला हमारे सामने है उसे एक और ढंग से प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। आधुनिक सरकारों का उत्तरदायित्व अधिकांश में आत्मनिष्ठ उत्तरदायित्व है। उसकी जो व्याख्या दी जाती है वह किसी संगठित रूप में उन हितों द्वारा नियन्त्रित नहीं होती जिन पर उसका सीधा असर पड़ता है। वैसा नियंत्रण तभी हो सकता है जब उन हितों की किसी संस्था की मार्फ़त निर्णय के अधिष्ठान तक तुरन्त ही पहुँच हो सके। ऐसी सरकार की स्थिति जिसे सलाहकार समितियों को बुलाना पड़ता है, जिसे उन समितियों के सामने अपनी प्रस्तावित नीति रखनी पड़ती है, जो संगठित संस्थाओं के प्रवक्ताओं की आलोचना सुनती है, उस सरकार से बहुत भिन्न होती है जो, अमरीका की तरह, एक निश्चित अवधि के लिए सत्तारूढ़ होती है अथवा जो, इंगलैण्ड की तरह, आम चुनाव का डर दिखा कर अपने समर्थकों को चुपचाप 'हाँ' करने पर मजबूर कर सकती है। उत्तरदायी बनाने के लिए सत्ता का विभाजन करना ज़रूरी नहीं है, ज़रूरी तो अभ्युद्देश के उन अवयवों को सान्वित करना है

जिनके सामने उस सत्ता को सिर नवाना पड़े ।*

कोई भी सरकार साधिकार बोलने वाले मानव-निकायों के सम्पर्क में आकर उनके विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती । विधान-सभा का कोई भी सदस्य यह जान कर कि किसी सरकारी फ़ैसले पर विशेषज्ञों में व्यापक विरोध पैदा हो गया है यह महसूस किये बिना नहीं रह सकता कि बिना सोचे-विचारे वोट देकर उसने असंगत काम किया है । अगर राज्य का क्रिया-कलाप प्रबुद्ध लोक-चेतना के बीच सम्पन्न होना है तो यह आवश्यक है कि उसे सत्ता के अधिष्ठान तक प्रवाहित होने के लिए सरणियाँ मिलें । किसी पत्र-पत्रिका में चिट्ठी छपवा देना, कोई छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित करा देना, आम सभा कर लेना निस्सन्देह किसी विचार-विशेष को प्रस्तुत करने के उपयोगी तरीक़े हैं पर सीधे सरकार की संकल्पना तक उनकी पहुँच नहीं होती । यह ज़रूरी नहीं कि इसके फलस्वरूप सरकार उसका कुछ निराकरण करे ही करे अथवा अपनी बात समझाने का नैतिक दायित्व पूरा करे—वैसे ये उत्तरदायी काम के मूलाधार हैं । और इस तरह के सलाहकार-निकायों का वातावरण आधुनिक मंत्रि-परिषद् आदि से बहुत ही भिन्न होता है । वहाँ मन्त्री को ऐसे प्रश्नों पर भी सोचना पड़ता है जिनका लोक हित से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता । उदाहरण के लिए, वह कहेगा कि वह फ़ौज में अनिवार्य भरती की व्यवस्था नहीं कर सकता क्योंकि उसका मतलब होगा राजनीतिक आत्मघात : निष्कर्ष यह कि वहाँ मूल समस्या यह नहीं कि अनिवार्य भरती उचित है अथवा नहीं; वहाँ तो सरकार का जीवन ही सर्वोपरि कल्याण होता है । मंत्रि-परिषद् में मंत्री को उन हितों का भी ध्यान रखना पड़ता है जिनका ज़रूरी तौर पर लोक-मंगल से सामंजस्य नहीं होता । उसे यह ख्याल रखना पड़ता है कि पार्टी की एकता भंग न होने पाये, कि किसी शक्तिशाली सहयोगी को इस्तीफ़ा देने से रोका जाये और भी व्यक्तिगत सम्बन्धों में सैकड़ों ऐसी अजीब-अजीब घटनाएँ होती हैं जो उसका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करती हैं । विशेषज्ञों की सलाहकार-समिति में—जिसका स्वरूप किसी स्थायी संस्था जैसा होता है—इस तरह के अन्तराय नहीं हुआ करते । उनके विचार-विमर्श के मूल में विषय-विशेष के सिद्धान्त हुआ करते हैं; पहले से ही किन्हीं व्यक्तिगत विचारों का लगाव उसमें नहीं होता । मंत्री का वास्ता प्रत्यक्ष रूप से मस्तिष्कों से होता है और वोटों से केवल अप्रत्यक्ष रूप से । उसे तर्क का सामना तर्क से करना पड़ता है । उसे उनके प्रति उत्तरदायित्व की शिक्षा मिलती है जिनकी इच्छाएँ उसकी संकल्पना को ढालती हैं ।

इसका विश्लेषण हम बाद में करेंगे कि इस तरह की सलाहकार संस्थाएँ क्या-क्या रूप ग्रहण कर सकती हैं । पर यहाँ यह विवेचन कर देना उपयुक्त होगा कि राज्य की सरकार को सिर्फ़ परामर्श के लिए मजबूर करने और फ़ैसला करने का काम उसी पर छोड़ देने की धारणा उन प्रणालियों से अच्छी क्यों समझी गई है जिनमें सत्ता या तो कारणिक निकाय के साथ संयुक्त कर दी जाती है—जैसे श्रेणि-समाजवाद में—अथवा जैसे जर्मन आर्थिक परिषद् में सलाहकारी का सिद्धान्त तो रहने दिया जाता है लेकिन उस सिद्धान्त को एक ही संस्था के रूप में विकसित किया जाता है बजाय इसके कि सरकार की विभिन्न इकाइयों के साथ अलग-अलग सलाहकार-निकाय जोड़ दिये जायें । श्रेणि-सिद्धान्त में चार कठिनाइयाँ

हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि परामर्श की उचित इकाइयाँ खोज लेना तो व्यवहार रूप से सम्भव है पर शासन की व्यावहारिक इकाइयाँ ढूँढ़ पाना व्यवहारतः असम्भव है। और दूसरे यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि उन सब श्रेणियों को संगठित कर उत्पादन के पूर्ण नियंत्रण से सम्पन्न एक कारणिक निकाय का रूप दे देने पर उसका स्वरूप हाउस ऑफ़ कामन्स आदि से बेहतर होगा। मंत्रियों की तरह श्रेणी के अधिकारियों का रुझान भी नौकरशाही और रूढ़िवादिता की ओर हो जाये तो वे अब की तरह ही अपने संघटकों से सम्पर्क खो बैठेंगे। बहुसंख्यक-शासन में जो जोखिमें हैं बहुत-कुछ वे ही उसमें भी रहेंगी। और, जैसा कि शायद श्री कोल का विचार है, प्रत्यावाहन[1] का तरीक़ा काम में लाने से भी इनमें से किसी दोष का निराकरण नहीं हो सकता। उसकी क्रिया-पद्धति के अनुभव से सीधा सबक यह मिलता है कि वह निर्वाचित व्यक्तियों में उत्तरदायित्व की भावना घटा देता है। वह उन्हें उन हितों के अधिकाधिक आधीन बना देता है जिन्हें वे शक्तिशाली समझते हैं। वह उनके फ़ैसलों को ऐसे प्रेरक हेतुओं के दबाव से एक ओर को झुका देता है जो उतने ही अनुचित और अपर्याप्त होते हैं जितने वे हेतु जिन पर उनके वर्तमान निर्णय आधारित होते हैं। अमरीका की तरह वह ऐसे लोगों की एक हेड़ की हेड़ पैदा कर देती है जो पद-लालसा के तले सिद्धान्तों को कुचलने को तैयार रहते हैं। तीसरे, ऐसा कोई उपाय नहीं जिससे श्रेणि-कांग्रेस और प्रादेशिक सभा के क्षेत्रों के बीच विभेद-रेखा खींची जा सके। उनमें जो भी लोगों से कर वसूल करेगी, वही देर-सवेर दूसरी से प्रबलतर हो जायेगी। चौथे, अगर विभाजन न्यायिक व्याख्याओं के आधार पर होगा तो एक ओर तो दोनों निकाय नियुक्ति के विवादास्पद क्षेत्र बन कर रह जायेंगे और दूसरी ओर जज सामाजिक शक्ति के चरम अधिष्ठाता बन जायेंगे। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के इतिहास से सबसे स्पष्ट निष्कर्ष निस्सन्देह यही निकलता है कि संविधियों की व्याख्या करने के लिए तो जजों का बड़ा महत्त्व है पर जब वे यह निश्चय करने लगते हैं कि संविधियाँ बनाई जायें या नहीं तो वे मंगल के बजाय अमंगल की अधिक करते हैं। यह तो असल में सामुदायिक संकल्पना की जगह सामाजिक न्याय की अपनी धारणाओं को प्रतिष्ठित कर देने जैसा है ?

जर्मन पद्धति पर आपत्तियों के मूल में और तरह के विचार हैं। आर्थिक परिषद् विशुद्ध रूप से एक सलाहकार-निकाय है। इसे बने केवल तीन वर्ष हुए हैं। यह बात तो साफ़ हो ही गई है कि उसने जो सबसे अच्छा काम किया है सो सामान्य विषयों के नहीं वरन् विशेष विषयों के क्षेत्र में और पूरे अधिवेशन में नहीं वरन् विभिन्न समितियों के सौहार्दपूर्ण विचार-विमर्श द्वारा। उसकी कमजोरियाँ अनेकमुखी हैं। अपनी पहलक़दमी की शक्ति के कारण उसका झुकाव विधान के लिए अधिकाधिक सुझाव देने की ओर होता है और उन्हें अमल में लाने की ज़िम्मेदारी उस पर होती नहीं। इसके फलस्वरूप मंत्रियों पर अतिरिक्त काम का बहुत अधिक बोझ बढ़ जाता है। उसके सामने पेश होना और बोलना, इस बात की जानकारी कि उसकी कार्यवाहियों 'रीख़स्टाग' (विधान-सभा) की अधिकार-सीमा का हमेशा उल्लंघन करती रहती हैं, दस्तावेज और सूचना के विषय में

---

१. यह अगर सम्भव होगा भी तो बहुत ही सीमित अर्थ में—देखिए अध्याय ८

उसकी अमित भूख को शान्त करना—ये सब प्रशासन के काम में रोड़े ही होते हैं। यह बात तो स्पष्ट मालूम पड़ती है कि जब कोई प्रस्तावित विधेयक आर्थिक परिषद् के पास भेजा जाता है तो समिति-विशेष अपनी खास जानकारी से मंत्री की सहायता कर सकती है पर यह बात नहीं जँचती कि सम्पूर्ण परिषद् ही यह कार्य सम्पन्न करती है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता के कारण वह मंत्रियों और उनके अन्य अधिकारियों को सहायता के बजाय प्रति-योगिता की निमित्त ही लगती है। पार्टियों के अभाव में वह निर्णय की ऐसी संगठित एकता नहीं पा सकती जो प्रतिनिधि सभाओं की सफलता के लिए अनिवार्य होती है। हो सकता है रैंथेनो की यह बात ठीक हो कि हमें लोक-रुचि के सिद्धान्त से मुक्ति पाकर योग्यता के सिद्धान्त की ओर बढ़ने की ज़रूरत है। परन्तु यह याद रखना ज़रूरी है कि लोकतंत्र में सर्वोपरि सिद्धान्त स्वशासन का ही है और उसका मतलब यह है कि आख़िरकार अन्तिम फ़ैसले निर्वाचित व्यक्तियों द्वारा ही किये जाने चाहिएँ। योग्यता अपेक्षित है निर्वाचित व्यक्तियों को सलाह देने में और दस में से नौ मामलों में वह सलाह आम नहीं, विशेष होनी चाहिए। यानी ज़रूरत इस बात की है कि योग्यता संकुचित क्षमता के क्षेत्र से संयुक्त हो; अन्य विशेष ज्ञान के साथ उसका समाहरण करके एक ऐसी एकता का विधान करने से क्या लाभ जिसमें कार्य निष्पन्न करा लेने की शक्ति न हो। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि आर्थिक परिषद् के पूर्ण अधिवेशन में जो बहसें होती हैं, उनकी प्रवृत्ति वर्ग-आदर्शों के सशक्त प्रतिपादन की ओर ही अधिक होती है, विवादास्पद सूत्रों का सावधानी से अनुशीलन करने की ओर कम। यह भी हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि इस तरह की संस्था के कारण उस प्रवृत्ति के विकास का बड़ा अवसर हो जाता है जिसे फ्रांसीसियों ने 'पापेरासेरी' (दीर्घसूत्रता) नाम दिया है। अगर आर्थिक परिषद् इसी तेज़ी से अपने विचार्य विषयों की संख्या बढ़ाती रही तो जल्दी ही वह वक्त आ जायेगा जब राज्य के हर विभाग को सिर्फ उस की विभिन्न समितियों द्वारा माँगी गईं सूचनाएँ देने के लिए ख़ास दफ़्तर खोलने पड़ जायेंगे। राज्य जितने अधिकारियों को नियुक्त कर सकता है उनकी आखिर कोई हद तो होनी ही चाहिये और उसके अन्वेषण क्षेत्र की उचित चौहद्दी यह है कि सरकार की संकल्पना से सम्बद्ध नीति से उसका सीधा सम्पर्क होना चाहिए। आज की प्रणाली से प्रायोजनाओं की संख्या इस क़दर चली जाती है कि उन में से अधिकांश का अस्तित्व केवल शून्य में होता है—जैसे किसी अमरीकी विधान-मण्डल के विधेयक। हम चाहते यह हैं कि सरकार उन प्रायोजनाओं को समझाने और निर्भ्रान्त रूप से प्रस्तुत करने का दायित्व पूरा करे जिन पर विधान-मण्डल में बहस हो रही हो या होने वाली हो।

अतः सार्वभौम मताधिकार के आधार पर बनी हुई प्रादेशिक सभा ही समुदाय के भीतर संकल्पनाओं के संघर्षों का अन्तिम फ़ैसला करने का सबसे अच्छा उपाय प्रतीत होता है। वह सभा कम-से-कम सिद्धांततः अनुत्तरदायी ढंग से काम नहीं कर सकती। पहले तो उसका जन्म ही निर्वाचक मंडल की संकल्पना से होगा और वह जितना प्रबुद्ध होगा उतना ही अधिक विधान-मंडल द्वारा उसकी इच्छाओं का परितोष होगा। दूसरे समुदाय की संग-ठित संकल्पनाओं के आधार पर काम करने से पहले उनसे परामर्श करने की अनिवार्यता [illegible]। उसका कार्यांग अदालतों में उसी तरह उत्तरदायी होगा, जैसे अन्य नागरिक।

अगर इन नियंत्रणों के साथ-साथ क्षेत्र और कामों का विकेन्द्रीकरण भी हो जाये तो राजनीतिक सत्ता को क़ानून द्वारा जितना परिसीमित किया जा सकता है, उतना परिसीमन उसका हो जायेगा।

—८—

इस युक्ति में ही यह धारणा भी निहित है कि समूचे समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई भी अकेली संस्था व्यक्ति के अपने उत्कृष्टतम स्वरूप को प्राप्त करने के अधिकार का समुचित सुरक्षण नहीं कर सकती—चाहे श्रेणि-समाजवाद की तरह वह उत्पादकों का प्रतिनिधित्व करती हो अथवा किसी प्रादेशिक सभा के समान उपभोक्ताओं का। यह उन लोगों को जो किसी विशेष हित की उपलब्धि चाहते हैं, एक ऐसी संस्था में संगठित करके ही किया जा सकता है जो मौक़ा आ पड़ने पर, सरकार की संकल्पना का विरोध करने को भी तैयार हो। जिस राज्य के नागरिकों का शासकों के प्रति ऐसा रुख होता है कि उसमें आलोचनात्मक भावना होती ही नहीं, वहाँ अधिकार सुरक्षित रख पाना बड़ा कठिन काम है। कभी-कभी अकस्मात् आक्रमण कर देने के रवैये में शायद अव्यवस्था फैल जाने की सम्भावना निहित है लेकिन सरकार भी हमेशा सतर्क रहती है कि उसके बारे में लोगों की क्या राय है और जो लोग राज्य के आन्तरिक जीवन में, संगठिन विरोध के बजाय चिरन्तन शांति का रास्ता पसंद करते हैं, वह कभी न कभी स्वतंत्रता की आदत खो बैठेंगे क्योंकि अन्ततः सरकार को उत्तरदायी बनाने में उन क़ानूनों का उतना हाथ नहीं होता, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है, जितना उस चारित्र्य का जिसका उन्हें सामना करना होता है। इस प्रयोजन के लिए राजनीति-दर्शन के आचार्यों ने जो संतुलन और नियंत्रण बताये हैं, उन सबसे अधिक कारगर और प्रभावशाली प्रबुद्ध और संगठित लोकमत होता है। अगर सरकार को ऊँचे स्तर पर क़ायम रहने के लिए बाध्य न किया जाये तो वह अपकर्ष की ओर जाने लगती है; इसी प्रकार जब उसे अनम्य और उद्‌बुद्ध लोक-चेतना से वास्ता पड़ता है तो उसका स्वयं उन्नयन होने लगता है।

राजनीतिक उत्तरदायित्व के घटना-विधान की इस धारणा में यह अनिवार्य है कि हर राज्य में एक उत्साही और स्वतंत्र न्यायांग हो। संविदा-भंग या जिह्म के लिए सरकार पर भी अदालतों में उसी प्रकार दावा किया जा सके जैसे समुदाय के किसी अदना से अदना सदस्य पर। जजों की नियुक्ति भी अगर कार्यांग द्वारा होती है तो उन्हें हटाने की शक्ति उन्हें नहीं होनी चाहिए; न कोई ऐसा प्रशासकीय क़ानून हो सकता है जो यह अनुज्ञा दे कि विधियों की मान्य व्याख्या सरकारी अधिकारियों द्वारा की जायेगी। शक्तियाँ भी ऐसी हों जिनका उद्‌गम सीधा संविधियों से होता हो—खास तौर पर ऐसे समय में जिसने प्रशासकीय स्वेच्छा का बड़ा व्यापक प्रसार होते देखा है। उनका उपयोग इस तरह होना चाहिए कि औचित्य के सामान्य नियमों का ठीक-ठीक पालन हो जाये। यह सवाल बड़ा नाजुक है कि उसमें संविधान में अधिकार-विधेयक के समावेश की बात आ जाती है या नहीं—जबकि वे अधिकार विशेष कार्यविधि द्वारा ही उपलभ्य हों। अधिकार-विधेयकों ने अमरीका में निश्चय ही इस प्रयोजन की पूर्ति की है कि उन्होंने लोगों के मनों में यह याद ताज़ा रखी है कि जो चीज़ें बहुमूल्य हैं, उनके लिए उन्हें लड़ना पड़ा है और आगे भी संघर्ष करना पड़

सकता है। वे ऐसे आचरण की परम्परा बनाते हैं जिसके अन्तर्गत आने वाली प्रवृत्तियाँ बहुमूल्य है। यह इतना कहाँ देना पर्याप्त है कि यह सिद्धांत कि कोई आदमी अपने मुकदमे में निर्णायक नहीं हो सकता, सरकार पर भी उतना ही लागू होता है जितना कि समुदाय की किसी संस्था पर। जब न्यायांग को विशेष प्राधान्य दिया जाये तभी वह उस आज़ादी के अभिभावक का काम कर सकता है जिसमें थोड़ी सी भी परमुखापेक्षिता आ जाने का मतलब यह ह कि उसका तुरन्त ही अतिक्रमण किया जा सकता है।

यहाँ दो और बातों का सबसे अधिक महत्त्व है। उत्तरदायित्व की मंज़िल पर पहुँचने के लिए आलोचनात्मक प्रचार की सड़क से गुजरना पड़ता है। किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर है कि —और किस हद तक निर्भर है, यह हम अब अनुभव करने लगे हैं—कि उसे जो खबरें दी जाती हैं, वे किस कोटि की हैं। राष्ट्र के अखबारों को, यह आज़ादी होनी चाहिए कि वह जैसे उचित समझें, सत्ताधारियों पर आक्रमण कर सकें, जो कुछ चाहें, छाप सकें, चाहे जिस कार्यक्रम का अनुमोदन करें—बस, प्रतिबन्ध एक ही हो कि अपलेख-विषयक क़ानून भंग न किया जाये। सही और सच्ची खबरें पाने की व्यवस्था कैसे की जाये—इस सवाल पर बाद में विचार किया जायेगा। लेकिन जिसने यह देखा है कि अखबार अपने मालिकों की इच्छा के अनुकूल जनता के मन को मोड़ देने में कितने अधिक समर्थ होते हैं, वह अनुमान कर सकता है कि सरकार और प्रेस का गठबन्धन लोकतंत्रीय शासन के लिए कितना अधिक प्राणांतक हो सकता है।

दूसरी बात भी इससे किसी तरह कम महत्त्व की नहीं। हमने प्रादेशिक राज्य की धारणा को इस आधार पर न्याय्य ठहराया है कि वह जीवन के उस धरातल को व्यवस्थित करने का सबसे सीधा तरीक़ा है, जहाँ सेवाओं के उपभोक्ता के रूप में लोगों के हित अपेक्षाकृत एक-से होते हैं। कहने का मतलब यह है कि प्रादेशिक राज्य सिद्धांत रूप में और किसी संथा की अपेक्षा उपभोक्ताओं के हितों की अधिक अच्छी तरह से रक्षा कर सकता है। लेकिन इसकी एक अनिवार्य शर्त यह है कि मोटे तौर पर, समुदाय में आर्थिक समानता पाई जाती हो। क्योंकि अन्ततः धन के स्वामित्व का मतलब है कि उपभोग के लिए उत्पन्न की गई चीज़ों के संबंध में निर्णय की शक्ति से सम्पन्न होना और अगर समाज आज की तरह कुछ इने-गिने अमीरों और पर्याप्तता के सीमान्त पर संघर्ष करते हुए अपार जनसमूह में विभक्त रहे तो ज़ाहिर है कि राज्य का झुकाव ग़रीब नागरिकों के हितों के विरुद्ध ही रहेगा, चाहे उसका सैद्धांतिक प्रयोजन कुछ भी क्यों न हो। उन्हें वह सब कुछ नहीं मिल पाता, जिससे ज़िन्दगी जीने योग्य बनती है। उनके घर दड़बों-जैसे होंगे, उनकी शिक्षा निम्न कोटि की होगी। उनकी रहन-सहन की परिस्थितियाँ उन्हें कभी भी वह मानसिक स्फूर्ति नहीं दे सकतीं जो भौतिक सुख से जनित होती हैं। जो राज्य स्थायित्व की आशा करे, उसे कम से कम रोटी की समस्या का समाधान तो करना ही पड़ेगा।

इसमें लगता है कि या तो साम्यवाद का कोई रूप आ जायगा, अथवा ग़ैर-सरकारी उद्यम पर कोई इस तरह का नियंत्रण जो उसके काम करते रहने से जनित हर प्रकार के दारुण परिणाम का अन्त कर दे। रूस के अनुभव से हमने यह समझा है कि साम्यवाद की [illegible]पना तेज़ी से होने की कोई आशा नहीं; लोग अपनी संपत्ति समर्पित कर देने से मर जाना

कहीं ज्यादा अच्छा समझेंगे। समता की ओर उन्मुख सामाजिक परिवर्तन तो मन्दे—और कदाचित् दु:खद प्रयोग का ही परिणाम होगा : ऐसा प्रतीत होता है। कम से कम निकट भविष्य में धन के साधनों के सामुदायिक स्वामित्व के कोई आसार हमें नज़र नहीं आते। लेकिन अगर शासन में नैतिक औचित्य बनाये रखना है, तो हमारे सामने धन के उत्पादन और वितरण का इस प्रकार नियंत्रण करने की समस्या अवश्य है कि वैयक्तिक हितों के योग के सुखद परिणाम को समुदाय का आम हित न मान लिया जाये, बल्कि वह ऐसा स्वीकृत न्यूनतम स्तर हो, जिसमें हर नागरिक बराबर का हिस्सेदार रहे।

समानता के दृष्टिकोण की तात्त्विक उपलक्षणाएँ क्या हैं—इसकी विवेचना हम बाद में करेंगे। जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है, इसका मुख्य निष्कर्ष यह सिद्धांत है कि संपत्ति-विषयक सभी प्रणालियाँ उसी हद तक न्याय्य हैं, जहाँ तक वे अमल में, नागरिक की हैसियत से, हर नागरिक की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकें। अतः कोई भी ऐसे क़ानूनी अधिकार नैतिक दृष्टि से मान्य नहीं हो सकते जो उस आवश्यकता की पूर्त्ति में योग देने से उत्पन्न न होते हों। मैं जो सेवाएँ करता हूँ, उसके फलस्वरूप ही मुझे वह मिलना चाहिए, जिसका मैं उपभोग करता हूँ। राजनीतिक न्याय की दृष्टि से, राज्य साध्य की पूर्त्ति के लिए मैं जो व्यक्तिगत प्रयास करता हूँ, उसका जो कुछ आर्थिक मूल्य वह निर्धारित कर दे वही मेरी संपत्ति है। अतः ज़ाहिर है कि बिना कर्तव्य के संपत्ति का अधिकार नहीं हो सकता। मैं कुछ करता हूँ, इसीलिए मुझे कुछ रखने का अधिकार है; किसी और ने कुछ किया है इसलिए मेरा किसी चीज पर स्वत्व है—यह नैतिक दृष्टि से ग़लत है। उस राज्य में न्याय नहीं जो अपने कुछ सदस्यों से तो, उनके जीवन की क़ीमत के रूप में, परिश्रम कराता है और दूसरों को उस परिश्रम के सहारे जीने देता है, जिसके करने में उनका कोई योग न हो। अतः राज्य में संपत्ति के आधार पर विशेष प्रतिनिधित्व मिलना न्यायोचित नहीं—जैसा कि बर्क का विश्वास था। वहाँ एक ही प्रतिनिधित्व के लिए स्थान है और वह है आदमियों का प्रतिनिधित्व और जहाँ तक आम जरूरतों का संबन्ध है, उन्हें बराबर समझे जाने का अधिकार है। इसका यह मतलब नहीं कि ईंटकार को वही पुरस्कार या वही सम्मान प्राप्त होगा जो किसी महान् कलाकार को। पर इसका अर्थ यह अवश्य है कि सामाजिक संगठन से हम जिन मानवीय मनोवेगों का परितोष करने की आशा कर सकते हैं उनका सर्वत्र समान महत्व है—चाहे वे ईंटकार में हों अथवा कलाकार में। राज्य की सफलता का मापदण्ड यह है कि उस समानता को व्यवहार-रूप में सिद्ध करने की उसमें कितनी शक्ति है।

एक आखिरी बात और कह दी जाये। राज्य किसी न किसी रूप में एक अनिवार्य संगठन है—यह बात दैनिक जीवन में मानव-स्वभाव का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति मानेगा। किन्तु उसकी अनिवार्यता स्वीकार करने का मतलब यह नहीं कि उसे किसी तरह की नैतिक प्रधानता पाने का अधिकार है क्योंकि आखिर को राज्य अपने आप में कोई साध्य थोड़े ही है। वह तो साध्य की ओर ले जाने के लिए साधन मात्र है : साध्य की पूर्त्ति तो मानव-जीवन को सम्पन्न और समृद्ध बनाने में ही होती है। उस साध्य के लिए राज्य क्या-कुछ करता है, इसी पर उसकी शक्ति निर्भर है और इसी पर उसके प्रति नागरिकों की निष्ठा। दूसरे शब्दों में, हम राज्य की प्रजा है सो उसके प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए नहीं,

अपने ही प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए। मंगल की सिद्धि का मतलब यह है कि जन-जीवन को आनन्द की उपलब्धि हुई है अन्यथा वह बेकार है। अतः सत्ता को इस आनन्द का यथासंभव व्यापक से व्यापक प्रसार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अगर हम राज्य की छत्र-छाया में मानव-व्यक्तित्व का निर्बन्ध विकास होते नहीं देखते तो हमें उस पर सन्देह करने का पूरा हक़ है। उस विकास के मार्ग में बाधा डालने वाली शक्तियों को पराजित करने के लिए यदि वह सचेष्ट होकर अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं करता तो हमें उसकी अभिशंसा करने का हक़ है। अन्ततः मानव-मन अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि के अतिरिक्त और किसी दिशा में केन्द्रित नहीं हो सकता। किसी हीनतर आदर्श के प्रति उसकी निष्ठा नहीं हो सकती। सत्ता की विकृति से जनित भौतिक और आध्यात्मिक दासता से मुक्त होने के लिए जब वे सविवेक प्रयत्न करते हैं तभी उनकी नागरिकता का सच्चा उपयोग होता है।

स्तर से बराबर नीचे बना रहता है जिन्हें, किसी ख़ास समय पर, लोग सम्प्राप्य समझते हों तो कभी न कभी उसकी नीवों पर आघात करने का प्रयत्न ज़रूर किया जायगा। ऐसी अधिकार-विषयक घोषणा न तो ऐसे वास्तविक अधिकारों की सूची ही प्रस्तुत करती है जिन्हें मान्यता मिलनी चाहिये, न उन संस्थाओं का ही उल्लेख करती है जिनके माध्यम से उन्हें हस्तगत किया जा सकता है। यह युक्ति महत्त्वपूर्ण ज़रूर है पर उतनी अतर्क्य नहीं जितनी प्रतीत होती है। हालाँकि हम बिलकुल सही-सही इस बात का पता नही लगा सकते कि किस धरातल पर अधिकारों की माँगों की परितृप्ति हो ही जानी चाहिये पर इतिहास के अध्ययन से हम कम से कम यह तो निष्कर्ष निकाल ही सकते हैं कि अमुक अधिकारों की मान्यता का दावा किया जायगा। यद्यपि हम निश्चयपूर्वक उन संस्थाओं का निर्देश नहीं कर सकते जिनके द्वारा उन्हें मान्यता मिल ही जायगी। पर हम कम से कम यह तो मान ही सकते कि कुछ विशेष संस्थाओं के बिना परितोष चाहने वाले अधिकारों को कभी उसकी प्राप्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात्—विधि-पक्ष में हम कभी राज्य-प्रयोजन की पूर्ति का आश्वासन नहीं दे सकते हैं पर कम से कम निषेध-पक्ष में हम उन परिस्थितियों की ओर इंगित अवश्य कर सकते हैं जो इस पूर्ति के अवसर मार देती हैं।

सबसे पहले तो इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि अधिकार केवल—या अधिकांश में—लिखित अभिलेख पर आश्रित नहीं होते। काग़ज़ के फटे-टटे टकड़ों से, निस्संदेह, उनकी अनतिक्राम्यता बढ़ जाती है—परन्तु इस कारण उनकी सिद्धि निश्चित नहीं हो जाती। अमरीकी संविधान के पहले संशोधन में क़ानूनी तौर से वाक्-स्वातन्त्र्य और शान्तिपूर्ण सम्मिलन का अधिकार दिया गया है, चौथे संशोधन में नागरिक को यह क़ानूनी आश्वासन है कि सम्भाव्य वाद की लिखित आज्ञा के बिना उसके घर की तलाशी नहीं ली जायगी; आठवें संशोधन में कानूनी तौर पर यह व्यवस्था है कि नागरिक से बहुत अधिक जमानत नहीं मांगी जायगी। फिर भी असाधारण आवेश के एक ही सप्ताह में कार्यांग-सत्ता ने इन सब संशोधनों को वृथा कर दिया[1] और पंद्रहवें संशोधन पर जिसमें दक्षिण के संकर-नागरिकों के लिए राजनीतिक समानता की व्यवस्था की गयी थी—न तो कभी कार्यांग ने अमल किया है, न अदालतों ने। इंगलैंड के 'एक्स पार्टी ओ'ब्रायन'[2] और फ्रांसके 'ल्युइं केस'[3] को लीजिए—इस तरह की घटनायें यह सिद्ध करती हैं कि अधिकारों का निर्वहण अभ्यास और परिपाटी का ही सवाल अधिक है, लिखित कानून की औपचारिकता का उतना नहीं। अगर कार्यांग ने किसी क़ानून का स्पष्ट उल्लंघन किया है तो इस बात को लेकर उसकी आलोचना और टीका-टिप्पणी कर पाना हमेशा महत्वपूर्ण होता है और लिखित क़ानून हमेशा लोगों को यह स्मरण कराता है कि उसे भी अपने अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा था। लेकिन, आखिर में, दृढ़ चुनौती ही ग़ैर-कानूनी आचरण के लिये कृतनिश्चय सरकार के मनसूबों को धूल में मिला सकती है। नागरिकों का सबसे बड़ा सुरक्षण उनकी अपनी गौरव-भावना होती है, क़ानून के निष्प्राण अक्षर नहीं।

---

१. लु० एल० पोस्ट—दी डिपर्टेशन्स डिलिरियम
२. (१९२३) २ के. बी. १३,३६१
३. सिरे १९१० पृ. १०२९

अभीष्ट सुरक्षा शक्तियों के उस वियोजन में भी नहीं मिल सकती जिसे लॉक और मौण्टेस्क्यू दोनों स्वतन्त्रता का मूलमन्त्र समझते थे। इस श्रेण्य सिद्धान्त में सत्य का सार निहित है कि न्यायांग जितना अधिक स्वतन्त्र होगा, उतना ही अधिक समुचित अधिकारों का सुरक्षण होगा लेकिन चूँकि न्यायांग की नियुक्ति भी अन्ततः कार्यांग द्वारा ही होती है अतः उसकी स्वतन्त्रता प्रायः वैसी अडिग होती नहीं। शक्तियों का वियोजन प्रत्येक सत्ता के अपने नियत क्षेत्र से बाहर फैलने पर रोक ज़रूर रखता है पर वह यह निश्चित नहीं कर देता कि जो नियत शक्तियाँ हैं वे किस तरह की हैं और किस हद तक हैं। राज्य की शक्ति को प्राय: जिन तीन भागों में बाँटने की परिपाटी है, उनकी सीमायें भी सही तौर पर निश्चित नहीं की जा सकतीं। जजों को क़ानून बनाने होते हैं; जब विधानांग किसी पद पर नामज़दगी की पुष्टि करते हैं तो वे कार्यांग के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं; और आधुनिक कार्यांग की अध्यादेश शक्ति न केवल विधानांगीय है वरन् उसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि शायद संसद की शक्ति भी उसके सामने हेय है : अमरीकी संविधान की सैद्धांतिक़ बारीकी से शक्तियों का वियोजन करना तो उन्हें स्पष्ट करने के बजाय और आच्छन्न कर देता है। अधिक से अधिक वह क्षमताओं की एक अनुक्रमणी-सी बन जायगी लेकिन उसका उपयोग कैसे होता है यह तो राज्य के तत्कालीन वातावरण पर भी निर्भर होगा। आधुनिक इटली के विधानांग ने ही मुसोलिनी में कार्यांग और विधानांग दोनों को एकान्वित कर दिया था।

संक्षेप में, अधिकारों की सिद्धि की समस्या पर विचार करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि हम उन ख़ास अधिकारों को ही लें। फिर हम उनका समाहार करके राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्धों का एक अनुक्रम तैयार कर सकते हैं। इस तरीक़े से कई प्रयोजन सिद्ध होंगे : सबसे पहले तो उससे यह निर्देश होगा कि समुदाय में व्यक्ति का स्थान क्या है। उससे यह भी पता चलेगा कि अगर जन-कल्याण में उसे अपना योगदान करना है तो उसे क्या-क्या मिलना चाहिये। दूसरे, स्वातन्त्र्य और समानता का मतलब समझने का प्रयत्न भी हम इस तरह कर सकते हैं। जब हम जानते हैं कि हमें इन-इन अधिकारों का निर्वाह करना है तो हम यह भी ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं कि उन अवधारणाओं में कौन-सी विध्यात्मक संस्थायें निहित हैं। और तीसरे, विशेष-विशेष अधिकारों की रूप-रेखायें प्रस्तुत करने में, कम से कम मोटे तौर पर, राजनीतिक संघटन के अभीष्ट स्वरूप की ओर भी इंगित हो ही जाता है। उस रूपरेखा के आधार पर हम यह सोच सकते हैं कि राज्य की समन्वय-शक्ति को किस ढंग से क्रियान्वित किया जाए। हम देखेंगे कि इस पृष्ठभूमि में राज्य अनिवार्यतः एक 'समुदाय के निमित्त समुदाय' होता है; सौपानिक संघटना का चरम विन्दु नहीं। यह ऐसा निकाय नहीं जो अन्य निकायों को जीवन दे; उनके पारस्परिक सम्बन्धों में उसका प्रधान स्थान है तो सिर्फ़ इसलिये कि नैतिक अधिकारों के आधार पर नागरिक उसको वैसा मानते हैं फलतः उसकी सत्ता इस बात पर निर्भर हो जाती है कि यहाँ अधिकारों की जिस व्यवस्था की रूपरेखा दी गयी है उसका वह कैसे पालन करता है। अतः उनका उद्‌भव राज्य से नहीं, उसके साथ होता है। यह पहली शर्त है जिस पर उसका अस्तित्व नहीं तो कम से कम अच्छा-बुरा होना तो निर्भर है ही। अस्तित्व के उस पर

निर्भर होने की बात हम इसलिये नहीं कहते कि कोई राज्य जारवादी रूस की तरह न्याँय को उठाकर ताक पर रख सकता है और फिर भी बिना किसी गम्भीर चुनौती के बहुत समय तक सत्ता धारण करता हुआ जी सकता है।

अब हम एक बार यह याद कर लें कि अधिकारों के जिस सिद्धांत को अब हम मूर्त अभिव्यक्ति देना चाहते हैं उसमें क्या-क्या समाविष्ट होगा। कहते हैं कि राज्य सरकार और प्रजा में बँटा हुआ एक प्रादेशिक समाज होता है। उसका अस्तित्व, उसके द्वारा सत्ता का प्रयोग, उसकी निष्ठावत्ता की माँग—सब इसलिये है कि नागरिक अपने जीवन में जितना अधिक से अधिक अपना अभ्युदय कर सकते हों, करें। इसीलिये उन्हें अधिकार होते हैं। अधिकार वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना कोई नागरिक अपना यथासम्भव उत्कर्ष नहीं कर सकता। अतः ज़ाहिर है कि वे क़ानून के चेरे नहीं, उसकी मूलभूत शर्तें हैं। क़ानून उन्हीं की सिद्धि का प्रयत्न करता है। इसलिये संस्थायें उसी अनुपात में अच्छी या बुरी होती है जिस अनुपात में वे अधिकारों के प्रयोजन को प्रोत्साहित करती या न करती हों। उन अवधारणाओं के मूल में समाज-विषयक जो धारणा है सो ससीम प्राणियों के एक समवाय की है जिनमें हर एक की अपनी विशिष्टता है और उस शिष्टता के नाते ही हर एक का अपना मूल्य और महत्व है। वह ऐसे समाज में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है जिसकी घनता उसके विशिष्ट व्यक्तित्व को अपने में समो लेना चाहती है : अपने अधिकारों को बनाये रखकर ही वह जैसे-तैसे अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग बनाता है। अधिकारों का स्वामित्व उसका कोई औपचारिक और कोरा दावा नहीं होता। वे इसलिये होते हैं कि विविध जनों के परितोष से सामाजिक प्रयास और भी समृद्ध बने। उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं इसीलिए अधिकार भी होते हैं। हमारा समाज कारणिक समाज है जिसमें उसकी संघटना की परख यह है कि वह क्या सेवायें करती है। और सेवा का मतलब है व्यक्तिगत सेवा। प्रत्येक पीढ़ी में प्रत्येक प्राणी के सचेष्ट और सचेतन प्रयास के फलस्वरूप ही हमारी सामाजिक परम्परा की अभिवृद्धि होती है। हम जो हैं, वह हमारे लिये काफ़ी नहीं; हम जो हो सकते हैं, वही हमारी सफलता की कसौटी है। हम अपनी शक्तियों से प्रयोग करते हैं। हम ऐसा परिवेश तैयार करते हैं जिनमें उन शक्तियों को हमेशा अधिकाधिक परितोष का अवसर मिले। हर नागरिक का काम पाने का अधिकार है। वह ऐसी दुनिया में पैदा हुआ है, जिसका अगर संगत संगठन हो, तो वह पसीना बहा कर ही पेट पाल सकता है। समाज उसे अपना कर्त्तव्य पालने का मौक़ा देता है। अगर अस्तित्व के साधनों तक उसकी पहुँच नहीं है तो जो चीज उसके व्यक्तित्व की सिद्धि सम्भव बनाती हैं, उसे उससे वंचित किया जा रहा है। इसका मतलब यह नहीं कि उसे कोई विशेष काम पाने का ही अधिकार है। एक प्रधानमन्त्री को जिसका तख्ता पलट दिया गया हो, उसी तरह का काम पाने का अधिकार नहीं होता। समाज हर आदमी को यह वरण करने का मौक़ा नहीं दे सकता कि वह अमुक तरह का प्रयास करेगा। वह अन्ततः ऐसे व्यवसायों को भी अनुचित महत्व नहीं दे सकता जो पारितोषिक की विशिष्ट गरिमा से युक्त होते हैं। समाज अपने जीवन के लिये कुछ खास चीजें और कुछ खास तरह की सेवायें चाहता है। काम पाने के अधिकार का मतलब उन चीजों और उन सेवाओं का एक हिस्सा निष्पन्न करने में संलग्न रहने के अधि-

कार से अधिक और कुछ नहीं। अतः, विकल्पतः, जो अपने हिस्से का काम निष्पन्न करने का अवसर नहीं पाता, उसे उस अवसर के मुताबिक पारितोषिक पाने का अधिकार है। और यह बात साफ़ है कि कोई भी समाज लम्बे अरसे तक अपने सदस्यों के किसी बड़े अंश को इतना पारितोषिक देने की सामर्थ्य नहीं रखता; अतः, राज्य की अवधारणा का एक अभिन्न तत्त्व है बेरोज़गारी के विरुद्ध आश्वस्ति का सिद्धांत। हमें साल पर साल अपने उत्पादन का कुछ न कुछ हिस्सा बचाकर भी रखना चाहिये ताकि आड़े वक्त में जो लोग, स्थायी या अस्थायी रूप से, काम करने के अवसर से वंचित हो गये हैं वे कहीं जीवन के साधनों से भी वंचित न हो जायें। आश्वस्ति की इस प्रणाली को सबसे अच्छी तरह तरतीब देने का तरीक़ा क्या है—यह ब्यौरे की बात है, सिद्धांत का सवाल नहीं। मूल बात तो यह मानने की है कि अपना सर्वोत्कृष्ट स्वरूप पाने के लिये आदमी को काम करना ज़रूरी है और काम के अभाव में उसके लिये कुछ न कुछ व्यवस्था होनी ही चाहिये जब तक कि रोज़गार पा कर उसे फिर से काम में जुट जाने का अवसर नहीं मिलता। यहाँ हमारा अभिप्राय समाज के लोहू पर जोंक की तरह जीने वालों की हिमायत करना नहीं है बल्कि यह मानना भर है कि कार्य करना सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति में निहित है।

आदमी को सिर्फ़ काम करने का ही अधिकार नहीं है; उसे अपने परिश्रम के लिए समुचित वेतन पाने का भी अधिकार है। अपने काम के एवज़ में उसे इतना प्रतिफल मिलना चाहिये कि वह रहन-सहन का ख़ास स्तर बनाये रह सके क्योंकि उसके बिना सृजनात्मक नागरिकता असम्भव है। इस तरहकी धारणा में कोई रक़म निश्चित नहीं की जा सकती; उसे खाना चाहिये जिससे वह शरीर से स्वस्थ रह सके; उसे कपड़ा और रहने की जगह चाहिये जिससे वह अपना जीवन कम से कम उस स्तर पर आरम्भ कर सके जहाँ उसे अपनी सारी शक्तियाँ केवल शारीरिक आवश्यकताओं पर ही केन्द्रित नहीं कर देनी पड़ें। उसको वे छोटी-मोटी सुख-सुविधायें चाहियें जो जीवन को विकृत अभावों के ओछे परितोष से कुछ अधिक बना देती हैं। समुचित वेतन के अधिकार का मतलब यह नहीं कि सबकी आमदनी बराबर हो पर उसमें यह ज़रूर निहित है कि कुछ लोगों के लिए उसका अतिरेक होनेसे पहले सबके लिए पर्याप्तता होनी चाहिये। आज की दुनिया में यह विषमता है कि एक ओर तो ऐसे नर-नारी हैं जिन्होंने कभी अच्छा घर, अच्छा खाना-पीना नहीं जाना, ऐसे कपड़े नहीं पहने जो हवा-पानी के अभाव से उनकी रक्षा भी कर सकें और दूसरी ओर वे हैं जिन्होंने अपनी किसी ऐसी आवश्यकता को अघा कर पूरा किये बिना नहीं छोड़ा जो सम्पत्ति के स्वामित्व से पूरी की जा सकती हो—यह विषमता सचमुच बड़ी असह्य है!

कम से कम नैतिक दृष्टि से यह दलील कि संसार की उत्पादकता इस अधिकार की सिद्धि असम्भव बना देती है इस माँग का कई जवाब नहीं। आँकड़े देकर यह साबित करना हो कि उद्योग के उत्पाद को बराबर-बराबर बाँट देने से भी कामगार[१] की हालत कुछ

---

१. ए. एल. बाउले—(उद्योग-उत्पाद का विभाजन) 'दी डिवीजन आफ़ दी प्रॉडक्ट आफ़ इण्डस्ट्री'

सुधरेगी नहीं, उत्पादन की वर्तमान प्रणाली को अभिशंसित करना ही है। इसका मतलब तो यही है कि हमें अपने साध्य के लिये जो तरीक़ा अपनाना है वह आज के तरीक़े से भिन्न होना चाहिये; इसका मतलब यह भी है कि हमें उत्पादन के साधनों का पुनर्गठन करना चाहिये ताकि वे आदमी की माँग को पूरा कर सकें। और यह भी स्पष्ट है कि इस अधिकार की सिद्धि में आबादी की गम्भीर समस्या भी गुम्फित है। अगर हमें अपनी ज़रूरतें पूरी करनी हैं तो मैल्थ्यूस[1] के 'शैतान' को बाँधना पड़ेगा। हमें अपनी आबादी को उसी अनुपात में बढ़ने देना चाहिये जिस अनुपात में हम उस बढ़ी हुई संख्या के लिये रहन-सहन के उचित स्तर की व्यवस्था कर सकते हों। यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि आबादी की समस्या का रहन-सहन के स्तर से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ आबादी का अतिरेक है, वहाँ मानव के अभाव भी बड़े दारुण हैं। जब जीवन का स्तर विशुद्ध भौतिक क्षुधा की निवृत्ति के लिये पर्याप्त हो जाता है तो बाल-बच्चों की संख्या आर्थिक उद्वेग का निमित्त नहीं रह जाती। अतः यह निष्कर्ष तर्क-संगत प्रतीत होता है कि हम जितनी जल्दी इस पर्याप्तता का अधिकार स्वीकार कर लेंगे उतनी ही जल्दी हम उसके निर्वहण की सबसे कारगर परिस्थिति पा सकेंगे।

लेकिन कहा जा सकता है कि मान लीजिए हम किसी तरह आबादी की समस्या से जूझ भी लें तब भी यह सन्देहास्पद है कि औद्योगिक उत्पादकता इस समुचित स्तर की समस्या का निराकरण पाने के लिये काफ़ी होगी। इस शंका का कम से कम दोहरा जवाब देना पड़ेगा। अब तक हमारा औद्योगिक संगठन कभी भी इस तरह की माँग को पूरा करने की दृष्टि से नहीं किया गया। उसके रचना-विधान का मन्तव्य हमेशा पूँजीपति का परितोष करना रहा है; उसने सेवा का कर्त्तव्य पूरा नहीं किया, बस उपार्जन का काम किया है। जब तक हम अपनी उद्योग-व्यवस्था को लाभ के बजाय उपयोग के लिये संगठित न करें तब तक हम नहीं जान सकते कि उसकी क्षमतायें क्या हैं। मिसाल के लिये, अगर कोई ब्रिटेन के कोयला-उद्योग के तथ्यों का अध्ययन करे तो स्वामित्व की मौजूदा प्रविधि में जो बर-बादी होती है, उसे देखकर सहम जायगी। साधारणतः कहा जा सकता है कि जो आज के व्यापारी के बिखरे-बिखरे और अस्त-व्यस्त स्वरूप को समझता है वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि वैसा आदमी अपने कार्य का उचित सम्पादन करने में प्रायः असमर्थ होता है। वकील और डाक्टर से हम उसकी दक्षता का सबूत माँगते हैं पर व्यापारी से कोई माँग नहीं की जाती : इतना भर देखा जाता है कि वह सम्पत्ति का स्वामी है और चाहे तो उधार उगा सकता है। डाक्टर को अपनी प्रैक्टिस अपने पुत्र को सौंप देने की इजाज़त हम तब तक नहीं देते जब तक कि वह आवश्यक योग्यतायें प्राप्त न कर ले; लेकिन व्यापारी का लड़का अपने बाप के काम-काज का उत्तराधिकारी हो ही सकता है। उसकी बुद्धि उस काम के उपयुक्त है या नहीं, वह काम को अच्छी तरह समझता है या नहीं—इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। हम पूंजी को ऐसे उत्पादन में प्रवाहित करने के लिए कोई

१. टामस राबर्ट मैल्थयूस (१७३३-१८३४)—जिसने कहा था कि हमें आबादी को जीवन के साधनों से अधिक तेज़ी से नहीं बढ़ने देना चाहिये।

२. बूथ और राउनट्री आदि के अन्वेषणों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है।

क़दम नहीं उठाते जो समाज के लिये ज़रूरी हो। हम इस बात का भी कोई प्रयत्न नहीं करते कि जो शारीरिक परिश्रम करते हैं वे भी उत्पादन में दिलचस्पी लें—इसके कुछ अपवाद ज़रूर हैं और वे आदरास्पद हैं। अब हम यह महसूस ज़रूर करने लगे हैं कि उत्पादन-प्रक्रियाओं पर अगर अनुसन्धान किये जायें तो उनमें निश्चय ही सुधार हो सकते हैं—जैसे विज्ञान ने आधुनिक युद्ध की ध्वंस-शक्ति को बढ़ा दिया है। संक्षेप में, जब तक उद्योग के स्वरूप और संघटना पर अब से कहीं बड़े पैमाने पर प्रयोग नहीं किये जाते तब तक उससे जिस कार्य की पूर्ति की आशा हम कर सकते हैं वह यही कि जो लोग उसके परिणामों पर ज़ीते हैं उन्हें रहन-सहन का उचित स्तर उपलब्ध हो।

बस इतनी-सी ही बात नहीं है। अगर यह बात सच होती कि उद्योग की उत्पादकता से सब नागरिकों के लिए समुचित जीवन-स्तर की आशा नहीं की जा सकती तो हम ऐसी दुविधा में फँस जाते जिसका समाधान ढूँढने का साहस शायद हॉब्स राजनीति-दर्शन के इतिहास में ही कर पाता; क्योंकि उस हालत में समाज की परिपाटी या तो नैतिक प्रयोजन से विहीन उपार्जन का अन्ध संघर्ष भर बन जाती है या फिर उन लोगों का चुनाव किसी संगत सिद्धांत पर किया जाता जिन्हें पर्याप्तता का वरदान देना हो। पहली अवस्था में समग्र राजनीति -दर्शन वृथा है। हाँ, राजनीति की कला अवश्य हो सकती है जिसका स्वरूप बहुत-कुछ मैकियावेली के सूत्रों जैसा होगा। दूसरी अवस्था में, वर्तमान प्रणाली अपने आप में ही अपनी अभिशंसा का आधार बन जाती है। कोई भी आदमी गम्भीरता से यह दावा नहीं कर सकता कि आधुनिक राज्य में पारिश्रमिक का किसी ख़ास व्यवस्थित आधार पर वितरण होता है। आम तौर से वह प्रकृति, योग्यता या सेवा किसी का भी प्रतिफल नहीं होता। आदमी सफल इसलिये होते हैं कि उन्होंने अपने माता-पिता के वरण में दूरदर्शिता से काम लिया है!—अथवा इसलिये कि उन्होंने जिस चीज़ का उत्पादन किया है वह संयोग से जनता की कमी को पूरा करती है। मेरेडिथ जैसे महान् कलाकार और सर जोज़फ़ बीचम जैसे औषध-निर्माता को जो अत्यन्त नगण्य और अपर्याप्त पारितोषिक प्राप्त हुआ वह इस बात का सबूत है कि मूल्यांकन की मौजूदा पद्धति सुथरे-निखरे विवेक पर आधारित नहीं है।

वस्तु-स्थिति वास्तव में यह है कि सामाजिक संगठन के सचेष्ट नियंत्रण का हमने इतना कम प्रयत्न किया है कि इस बात की छान-बीन ही कभी नहीं की कि उसमें क्या सिद्धांत निहित हैं। अगर हम यह मानकर चलें कि हमें एक अवधि-विशेष में या तो आदमी के मूल मनोवेगों का परितोष कर देना होगा, अन्यथा सर्वनाश के लिए तैयार हो जाना पड़ेगा तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें उत्पादन-प्रक्रियाओं की व्यवस्था उन मूल मनोवेगों के परितोष का प्रयोजन सामने रखकर ही करनी चाहिए। इसके लिए हमें आधुनिक व्यवस्था की अराजकता ख़त्म कर ही देनी होगी। व्यक्तिगत और निजी हितों की प्रतियोगिता से सुव्यवस्थित समाज का विकास नहीं हो सकता। समाज के अभावों से फ़ायदा उठाकर अगर अनुचित रक़में ऐंठने के षड्यंत्र रचे जायेंगे—जैसा हाल ही में हमें सविस्तार ज्ञात हुआ है[१]—तो हमें ऐसी सेवा कभी उपलब्ध नहीं होगी जिसमें पूरा-पूरा

१. तु० रिपोर्ट आफ़ दी कमेटी आन ट्रस्ट (ग्रेट ब्रिटेन), १८१८

न्याय बरता जाये। या तो राज्य को अपने नागरिकों के हित के लिए औद्योगिक शक्ति का नियंत्रण करना होगा वरना औद्योगिक शक्ति अपने अधिष्ठाताओं के हित के लिए राज्य को शासित कर उठेगी। जन-साधारण की पहली ज़रूरत तो यह है कि उन्हें अपने प्रयत्न के लिए उचित प्रतिफल पाने का अधिकार हो। अतः औद्योगिक संगठन का पहला सिद्धांत संस्थाओं की ऐसी व्यवस्था करना है जो इस साध्य की ओर उन्मुख हो।

ऐसी संस्थाओं के क्या-क्या रूप हो सकते हैं—इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे। यहाँ तो इसकी कुछ प्रत्यक्ष संभावनाओं की ओर इंगित कर देना भर काफ़ी होगा। औद्योगिक कार्यों के मानकों का संरक्षक राज्य को समझना चाहिए। पूँजी की क्रियाशीलता पर कम से कम इस हद तक राज्य का नियंत्रण रहना चाहिए कि वह लाभ की दरों को वेतन की समुचित दरों पर निर्भर बना दे। जिस प्रकार कड़े क़ानून से खाने-पीने की अशुद्ध चीज़ों की बिक्री रोकी जाती है उसी तरह कड़े क़ानून बना कर इस बात का इंतज़ाम किया जाना चाहिए कि रहन-सहन के उचित स्तर के लिए जितना ज़रूरी हो उससे कम वेतन किसी को न दिया जाये। ग्रेट ब्रिटेन[1] की ट्रेड बोर्ड प्रणाली और अमरीका[2] के न्यूनतम वेतन विधान के रूप में कम से कम इस सिद्धांत को मान्यता मिलना शुरू तो हो ही गया है। सिद्धांत रूप में इसका मतलब संविदा-स्वातन्त्र्य के क्षेत्र को एक खास हद तक सीमित कर देना है। सर फ्रेडरिक पॉलक के शब्दों में उद्योग बड़ा खतरनाक व्यापार है जिसमें कुछ शर्तों के आधार पर ही प्रवेश किया जा सकता है। लोग प्रतिफल के उस स्तर के ऊपर ही काम करने के लिए या काम का पारिश्रमिक देने के लिए सहमत हों जिसे राज्य अपने कृत्यों की निष्पत्ति के लिए आवश्यक समझता है। ज़ाहिर है कि यह निम्नतम स्तर देश-काल के अनुसार अलग-अलग होगा हालाँकि यह आशा की जा सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के विकास के साथ-साथ जिस राज्य की औसत सबसे अधिक होगी, वही समूची सभ्यता के लिए आम औसत मान ली जायगी। लेकिन कोई राज्य व्यापारियों को ऐसा उद्यम नहीं करने देगा जिसकी क़ीमत नागरिकता की आवश्यक परिस्थितियों की बलि चढ़ाकर ही चुकाई जा सकती हो। श्रमिक को अपनी मज़दूरी मिलनी ही चाहिए क्योंकि वह भी आदमी है। उसे उतना पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए कि वह भी इंसान बन सके।

यह कह देना ज़रूरी है कि इसमें अदायगी की पद्धति की एकरूपता या प्रविधि की समानता कहीं भी निहित नहीं। मन्तव्य सिर्फ़ इतना है कि औद्योगिक काम के आधार-रूप में समुचित वेतन के सिद्धांत की प्रतिष्ठा हो जाये। हो सकता है अगर प्रयत्न के लिए पर्याप्त प्रेरणा-हेतु मौजूद हो तो उस स्तर के ऊपर वेतन की असमानता की माँग की जाये। निश्चय ही अभ्यास के कारण शायद यह ज़रूरी होगा कि एक लम्बे अरसे तक उन लोगों को अलग दरें दी जायें जो विशिष्ट योग्यता से संपन्न होंगे। हमें ज़रूरत जिस बात की है वह यह कि जहाँ भी व्यवहार्य हो, कम से कम शारीरिक परिश्रम के क्षेत्र में, हर कामगार

---

१. डॉरोथी सैल्स—दी ब्रिटिश ट्रेड्स सिस्टम

२. तु० स्टॅटेलर बनाम ओहारा में प्रो० फ्रैंकफर्टर के वाद-सार में संगृहीत साक्ष्य—न्यूयार्क में नेशनल कन्ज्यूमर्स लीग द्वारा प्रकाशित।

को इतना मूल वेतन दिया जाये जो उसके रहन-सहन के उचित स्तर को क़ायम रखे और औसत से ऊपर किये गये काम के लिए खंड-दरोंके हिसाब से पारिश्रमिक दिया जाये। उस हालत में सबसे ज़्यादा महत्व एक ऐसी निष्पक्ष सत्ता ढूँढने का है जो वह स्तर क़ायम करे। मालिक की मर्ज़ी पर यह बात नहीं छोड़ी जा सकती क्योंकि उसका हित तो इस बात में है कि यह स्तर अधिक से अधिक ऊँचा रहे। कामगार पर भी इसे नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि वह कम से कम स्तर रखवाना चाहेगा। कोई बाहरी संस्था होनी चाहिए जो अनुसंधान द्वारा कोई ऐसा आधार ढूँढ निकाले जिससे हर आदमी को उसकी शक्तियों के अनुसार प्रतिफल दिलाने का प्रयत्न किया जा सके। लेकिन उन शक्तियों को—जहाँ उनका विशेष अतिरेक हो—उसी हालत में परितुष्ट किया जा सकता है जबकि पहले सबकी आम ज़रूरतों को पूरा कर दिया गया हो।

समुचित वेतन के अधिकार की एक स्पष्ट परिणति है काम के उचित घंटे नियत कराने का अधिकार। आदमी को जो चीज़ नागरिक बनाती है वह है विचार। अतः उसे परिश्रम का वक्त इस तरह निर्धारित करना चाहिए कि सृजनात्मक कार्यों के लिए भी वह अवकाश पा सके। आदमी जितनी शक्ति खर्च कर सकता है उसकी एक मनोवैज्ञानिक सीमा है—राज्य, अपने हित की दृष्टि से, उसे जितनी शक्ति खर्च करने दे सकता है उसकी भी एक सीमा है: नागरिक सीमा। जो लोग मशीन पर काम करने में अपनी शक्तियाँ खर्च करते है वे—जैसा अरस्तू ने कहा था—जीवन के महत्तर और उदात्त कार्यों के मतलब के नहीं रह जाते जब तक कि उन्हें काफ़ी अवकाश न दिया जाये जिसमें वे मशीन के परिचालक भर न होकर कुछ और हो सकें। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में जैसा प्रायः हुआ करता था, दिन के अधिक हिस्से में हड्डी-तोड़ परिश्रम करते रहने के परिणामों का अन्वेषण करने से यह स्पष्ट हो गया है कि उसमें व्यक्तित्व कितना कुंठित हो जाया करता है। दिन भर की मेहनत के बाद थके-माँदे स्त्री-पुरुष जब घर लौटते तो उनमें सोचने-विचारने की क्या, अनुभूति की भी क्षमता नहीं रह जाती थी। मशीनें ही उनकी मालिक थीं। कोई ऐसा अवकाश न था जिसमें वे अपना आपा पा लेते। अनन्त श्रम का ही जीवन वे जानते थे। परिश्रम के ठीक-ठीक घंटों की माँग बौद्धिक भूमि में विचरने के अधिकार की माँग है। वह जाति की बौद्धिक परम्परा को पाने का गुर है।

इस अधिकार के विश्लेषण में 'उचित' की व्याख्या नियत नहीं है; उसके तत्व काल-विशेष में उत्पादन की प्रविधि पर निर्भर होंगे। आज के जटिल संसार में आदमी दिन में ज्यादा से ज्यादा आठ घंटे से अधिक शारीरिक परिश्रम करके अपने आस-पास की दुनिया और ज़िन्दगी को समझने की उम्मीद नहीं कर सकता। मशीनों के आविष्कार में जैसे-जैसे उन्नति होगी यह आठ घंटे का वक्त घटा देना निश्चय ही संभव हो सकेगा। क्योंकि उद्योग में विज्ञान का प्रयोग शुरू हुए अभी सिर्फ़ डेढ़ सौ वर्ष ही तो हुए हैं। लेकिन यहाँ स्थिति के चाहे जितना सुधरने की आशा कर लें, काम के अधिक से अधिक नियत समय की धारणा तो अनिवार्य है ही। आदमी चाहे लिखे या चित्रकारी करे, शासन चलाये या अध्यापन करे अथवा दस्तकारी के काम में भी लगा हो—जहाँ वैयक्तिक तत्व महत्त्वपूर्ण होता है—[illegible] भी वह अपनी सृजनात्मक शक्तियों के प्रति जागरूक रह सकता है; वह कहीं भी

रहे और कुछ भी करे जी-तोड़ परिश्रम का सांघातिक प्रभाव उस हालत में तिरोहित हो जाता है जबकि उसके फलस्वरूप उसकी सामाजिक उपादेयता बढ़ती जाये। पर जहाँ उसका क्षेत्र मशीनी नितचर्या की आवृत्ति तक सीमित हुआ तो यह साफ़ प्रकट हो जाता है कि ऐसा परिश्रम उस आनन्द में विघ्न बन जाता है। वह अपने साथ प्रयोग करने में समर्थ नहीं रहता। उसे बाहरी दुनिया रहस्यमय नहीं लगती जिसकी तहों में पैठने की वह कोशिश करे। वह तो अपनी संवेदनाओं को जड़ बना देना चाहता है; कोई ऐसे साधन ढूँढना चाहता है जिससे वह अपनी मेहनत का दर्द भुला सके—और इसके लिए वह सौंदर्य के साम्राज्य में झाँकने नहीं जाता। औद्योगिक क्रांति के आरम्भिक काल में फ़ैक्ट्री-कामगार का वर्णन जिसने पढ़ा हो वह जानता है कि उसका अवसाद कैसी पाशविक अशिष्टता और अश्लीलता में अभिव्यक्त हुआ करता था—ये उन स्वतन्त्र और सूक्ष्म संवेदनाओं को मार देती हैं जिन का विकास उसी व्यक्ति में होता है जिसकी सृजनात्मक वृत्तियों को फलने-फूलने का अवसर मिले।

लेकिन उद्योग-पक्ष में, काम के घंटे नियत कर देना और प्रयत्न का प्रतिफल जीवन की मूल ज़रूरतों के लिए पर्याप्त कर देना ही काफ़ी नहीं है। आदमी के पास ये दोनों अधिकार हों फिर भी वह अपनी नौकरी की परिस्थितियों में बेतरह जकड़ा और बँधा रह सकता है। आधुनिक राज्य में अधिकार-विषयक किसी भी सिद्धांत को बड़े पैमाने के उद्योगवाद के परिणामों को भी ध्यान में रखना होगा। यह ख्याल रखना होगा कि व्यक्तिगत संपत्ति की संस्था—जिसके परिणामों का विश्लेषण हम बाद में करेंगे—उद्योग-व्यवस्था का नियंत्रण पूँजीपति के हाथ में दे देती है और वैसा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य संभव नहीं जैसा तब था जब अकेला दस्तकार अपना अलग काम करता था और खुद ही अपना मालिक होता था। इस पृष्ठभूमि में, हमें सावधान रहना है कि कहीं पूँजी का स्वामित्व तानाशाही में न बदल जाये। राजनीतिक सत्ता के विकास के साथ-साथ जैसे सत्ता के प्रयोग पर प्रतिबंध लगते गये हैं, वही बात आर्थिक सत्ता पर भी लागू होती है। कहने का मतलब यह कि जैसे राजनीति के प्रबंध से सरोकार रखने का हमें अधिकार है वैसे ही उद्योगों के प्रबंध से भी। लिंकन ने जिस अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किया था उतने ही गंभीर और महत्वपूर्ण अर्थ में हम दोहरा सकते हैं कि आधा बंधन-ग्रस्त और आधा मुक्त रहकर कोई राज्य जी नहीं सकता। अगर नागरिक को ऐसी स्थिति में पहुँचना है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का पूरा उत्कर्ष कर सके तो औद्योगिक इकाई की हैसियत से उन फ़ैसलों में हाथ बँटाने की शक्ति किसी न किसी तरह उसे मिलनी चाहिए जो उसके उत्पादक-रूप को प्रभावित करते हैं।

हमें उसकी शक्ति का अनुचित उत्कर्ष नहीं करना चाहिए। दुनिया का काम तो किसी न किसी तरह चलना ही है; जो व्यक्ति अपने दैनिक काम में सच्चा महत्व पाने की आशा कर सकते हैं उनकी संख्या उससे कहीं कम है जितनी कि कुछ लोगों की कल्पना है। हाँ, पूँजी के स्वामित्व से जो असीम शक्ति मिल जाती है उसका निराकरण हम अवश्य कर सकते हैं। हम यह कर सकते हैं कि जब किसी कामगार को निकाला जाने वाला हो तो कार्यवाही करने से पहले विचार-विमर्श करना पड़े। हम ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं

कि उत्पादन की प्रविधि में परिवर्तन करने से पहले भी इसी तरह विचार-विमर्श करना ज़रूरी हो जाये। हम उद्योग के प्रबंध के लिए ऐसी संस्थाएँ बना सकते हैं जिनमें कामगारों के भी प्रतिनिधि हों और ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि उद्योगों के तरीक़े का फ़ैसला करने से पहले उनसे भी सलाह ली जाये। उद्योगों के संचालन से हम कुछ मानक ग्रहण-कर उन्हें सार्वभौम बना सकते हैं और उन्हें नियत करने में जितना उचित समझें उतना हिस्सा कामगारों को दे सकते हैं। आज औद्योगिक प्रक्रिया में जो कुछ भी बचत होती है उस सबका वारिस औद्योगिक पूँजीपति हो जाता है; हम उसकी इस शक्ति को दूसरा रूप दे सकते हैं जिसमें उसे अपने योगदान के अनुसार एक नियत मुआविज़ा मिले जो कि संबद्ध पक्षों की सहमति से निश्चित किया जाये। जिस तरह सरकारी बंधपत्रों के धर्ता का सरकार की नीति पर कोई नियंत्रण नहीं होता इसी तरह यह भी संभव है कि औद्योगिक उद्यम में पूँजी कर्ज़ देने वाले को कोई दखल न देने दिया जाये। यहाँ इस बात पर हम ज़ोर दे रहे हैं कि व्यक्तिगत संपत्ति की मौजूदा प्रणाली में औद्योगिक संचालन की वर्तमान प्रविधि कतई निहित नहीं है और यह प्रविधि—सबसे अधिक भाड़े पर ख़रीदने और बेसूद मेहनत लेने के अमर्यादित अधिकार के कारण—दासता के एक प्रच्छन्न रूप से अधिक कुछ नहीं। उद्योग में प्रतिनिधि शासन का अधिकार ऐसे मार्ग प्रशस्त करने का अधिकार है जिनके द्वारा जीवन के आवश्यक परिश्रम के बीच कामगार का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति पा सकता है। लोकतंत्रीय व्यवस्था में औद्योगिक स्वायत्तता के रहते राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं बनाये रखी जा सकती और यह बात तब तो और भी साफ़ है जबकि राज्य-नीति के तत्व अधिकांशतः स्वामित्व-प्रणाली द्वारा नियंत्रित हों।

नागरिकता की परिभाषा इस तरह की गयी है कि वह सार्वजनिक हित में किसी की प्रबुद्ध मति का योगदान है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि नागरिक को ऐसी शिक्षा पाने का अधिकार है जो उसे नागरिकता के कर्त्तव्य पूरे करने योग्य बनाये। उसे ऐसे उपकरण मिलने चाहियें जिनसे जीवन को समझना उसके लिए संभव हो सके, उसके जो अभाव हैं, उसके अपने जो अनुभव हैं उनको वह सार्थक अभिव्यक्ति दे सके। आधुनिक राज्य में इससे अधिक मौलिक कोई विभाजन नहीं कि एक ओर तो वे हैं जिनका ज्ञान के भण्डार पर आधिपत्य है और दूसरी ओर वे जो अज्ञान के अन्धकार से घिरे हुए हैं। अन्त में, शक्ति उन्हीं के चरण चूमती है जो विचार सकते हैं और विचारों को ग्रहण कर सकते हैं। माना कि ऐसी योग्यता के क्षेत्र में बड़ी व्यापक असमानता है लेकिन फिर भी शिक्षा का एक ऐसा निम्नतम स्तर नियत होना चाहिए जिसके नीचे औसत बुद्धि के किसी आदमी को नहीं रहने दिया जाये। जब तक मैं राजनीति की प्रक्रियाओं को भली-भाँति सविवेक समझूँगा नहीं तब तक यही होगा कि जो बातें मेरी ज़िन्दगी को प्रभावित करती हैं उन पर अमल हो जायेगा और मुझे अपनी संकल्पना को उसके परिणाम में सन्निविष्ट करने का भी अवसर नहीं मिलेगा। सोफ़िस्ट एण्टीफ़ोन ने कहा था :-'सबके ऊपर मैं शिक्षा को स्थान देता हूँ।' आज की दुनिया में जो नागरिक शिक्षित नहीं, वह निश्चय ही दूसरों का गुलाम रहेगा। वह अपने सहकारियों को आश्वस्त नहीं कर सकता। वह अपने स्वभाव को उन मार्गों में निदेशित नहीं कर सकता जिन पर चलने की उसमें सबसे अधिक क्षमता

होती है। वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण उत्कर्ष नहीं कर सकता। वह एक ऐसे कुंठित-विकास व्यक्ति की जिन्दगी जियेगा जिसके विवेक ने उसके मनोवेगों को सृजनात्मक प्रयोग की राहों पर कभी प्रेरित न किया हो।

शिक्षा के अधिकार का मतलब प्रत्येक नागरिक के लिए समान बौद्धिक शिक्षण का अधिकार नही है। मंतव्य यह है कि प्रत्येक नागरिक की क्षमता का पता लगाया जाये और जिस तरह की क्षमता उसमें विद्यमान हो उसी के अनुकूल अनुशासन में उसे प्रगति करने दी जाये। मेरेडिथ और क्लर्क मैक्सवेल को एक-सी शिक्षा देना बेवकूफ़ी और समय का दुरुपयोग मात्र है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि अगर हर नागरिक को सभ्यता के आवश्यक बौद्धिक उपकरणों का प्रयोग करने योग्य बनाना है तो उसे एक निम्नतम स्तर से नीचे किसी तरह नहीं रहने दिया जाना चाहिए। उसे निर्णय करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। उसे साक्ष्य को विवेक की तराजू पर तोलने का अभ्यास कराया जाना चाहिए। उसके सामने जो विकल्प रखे जायेंगे उनमें से अपना चुनाव करना उसे आना चाहिए। उसे यह अनुभव करने का मौक़ा देना चाहिए कि यह ऐसी दुनिया है जिसमें वह अपनी बुद्धि और संकल्पना के उपयोग से अनायास ही उसके तत्त्वों और रूप-रेखाओं को ढाल सकता है।

और यहाँ यह कह दिया जाये कि आधुनिक राज्य जिन स्तरों पर पहुँच पाये हैं उनकी परीक्षा से पता चलता है कि वे बिल्कुल अपर्याप्त हैं। जिस बच्चे को चौदह वर्ष की उम्र में ही किसी उद्योग में झोंक दिया जाता है उसे सामान्यत: वे उपादान कैसे प्राप्त हो सकते हैं जो उसकी व्यक्तिगत मेधा के उचित उपयोग के लिए आवश्यक हैं जबकि उन उद्योगों का संगठन ही ऐसा होता है जहाँ सिवाय संचालनकर्त्ताओं के प्राय: और किसी की बौद्धिक सृजनात्मकता को फलने-फूलने का अवसर नहीं मिलता। हो सकता है कोई आला दिमाग अपनी शक्ति पहचान भी न पाये क्योंकि उसे कभी इतनी शिक्षा ही नहीं मिली कि वह उसके प्रति सचेत रहे। चाहे कुछ शिक्षा मिले या न मिले, प्रतिभा तो हमेशा ही अपनी सहज दीप्ति में चमक उठती है परन्तु औसत आदमी की मेधा तभी फलवती हो सकती है जब उसे बड़ी सावधानी से पोषण मिलता रहे।

कहा जाता है कि लोकतंत्र-व्यवस्था वह है जहाँ औसत नागरिक की संकल्प के लिए सत्ता के स्रोत तक सीधे पहुँचने के मार्ग प्रशस्त हों। अत: राजनीतिक शक्ति के प्रति भी उसका अधिकार होता है। इसके तीन व्युत्पन्न अधिकार कहे जा सकते हैं। पहला तो वोट देने का अधिकार है—चाहे जैसे उसकी व्यवस्था की जाये। हर बालिग़ नागरिक को यह मत देने का अधिकार है कि वह किन लोगों द्वारा शासन कार्य सँभाला जाना पसन्द करेगा। इसमें स्पष्टत: ही संस्थाओं के वरण का अधिकार भी निहित होगा। मताधिकार का आधार औद्योगिक हो सकता है या भौगोलिक—जैसा हेयर चाहता था नागरिकों की स्वेच्छा से भी उनके वर्ग बनाये जा सकते हैं। मैं बाद में यह बताऊँगा कि अन्तिम राजनीतिक फ़ैसलों के प्रयोजन के लिए भौगोलिक वर्गीकरण सर्वश्रेष्ठ है—यहाँ तो यही स्थापना कर देना काफ़ी है मताधिकार पर सभी का एक-सा दावा है। संपत्ति, जाति, धर्म अथवा स्त्री-पुरुष होने के विभेद के कारण किसी नागरिक पर अपने शासकों

के वरण में हाथ बँटाने में कोई रोक नहीं होनी चाहिए। अगर कहा जाये कि उसका चुनाव अक्सर ग़लत होता है तो जवाब है कि लोकतंत्र प्रयोग और अनुभव के रास्ते ही आगे बढ़ता है। अगर कहा जाये कि उसके पास प्रायः इतना ज्ञान नहीं होता कि समझ-बूझकर अपना चुनाव कर सके तो जवाब है कि तब फिर राज्य को उसकी ओर से कुछ ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उस ज्ञान तक हर नागरिक की पहुँच हो सके। क्योंकि जैसा हम पहले ही कह आये हैं, जब वोट देने वालों का वर्ग सीमित होता है तो जिस कल्याण की सिद्धि होती है उसमें प्रायः उनका कोई हिस्सा नहीं रहता जिन का मतदाताओं में नाम नहीं होता। ऐसी कोई कसौटी तैयार नहीं की गई कि हम मताधिकार को इस ढंग से सीमित कर सकें कि उसके स्वामित्व और नागरिक गुणों को बराबर-बराबर तोल लिया जाये। उसे संपत्ति के स्वामियों तक सीमित कर देने से उनकी भयंकर क्षति हुई जिन के पास संपत्ति न थी। किसी जाति या धर्म तक सीमित कर देने का मतलब हमेशा ही उस जाति या धर्म को विशेषाधिकार देना हुआ है। मिल की शिक्षा[१] की कसौटी का भी—केवल साक्षरता को छोड़कर—किसी ऐसे गुण से संबंध नहीं जिसे हम अभीष्ट समझते हों। हो सकता है कोई इतिहासकार, जो किसी पुराने घोषणापत्र के विश्लेषण में अत्यन्त निष्णात और कुशल हो, जब शुल्क-सुधार के सवाल पर विचार करने बैठे तो उसमें प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति का नितांत अभाव दीख पड़े। हो सकता है जिस वैज्ञानिक की खोजों के फलस्वरूप समुद्री तार-व्यवस्था का विकास हो वह, जब अपने विचारों[२] के व्यावहारिक अभिव्यंजन का सवाल आये, तो बिलकुल बेकार साबित हो। आज हमें मानव स्वभाव के संबंध में जो जानकारी है उसके अनुसार निश्चय ही हमें किसी आम तरह के प्रतिबंध लगाने का कोई हक़ नहीं है।

लेकिन वोट देने का आम और असीमित अधिकार मान लेना भर काफ़ी नहीं है। मैं वोट देता हूँ ताकि अपने शासकों को स्वयं चुन सकूँ। मैं दृष्टिकोणों में भेद करके अपना फ़ैसला करता हूँ क्योंकि मुझे एक धरातल तक उन्हें समझने और परखने की शिक्षा मिली है। लेकिन जिस तरह से चुनने वाले समुदाय के किसी विशेष वर्ग के ही सदस्य नहीं हो सकते उसी तरह जो चुने जाते हैं वे भी सदस्यों के किसी वर्ग विशेष के ही व्यक्ति नहीं हो सकते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें ऐसे शासकों की ज़रूरत होती है जो व्यापकतम अनुभव से संपन्न हों। कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग के लिए सफलतापूर्वक क़ानून नहीं बना सकता—दरअसल, किसी भी वर्ग में ऐसी विशेषता नहीं होती कि वह दूसरे वर्ग का विधान बनाये। सीमितता का अभाव पहले के युगों से आज कहीं अधिक आवश्यक है—इसका सीधा-सा कारण है कि जनसाधारण को सत्ता सौंप देने का अनिवार्यतः यह अर्थ है कि विधान के परिणामों की पहले से कहीं अधिक कड़ी जाँच-परख हो। और यह भी स्पष्ट है कि सत्ता-प्रयोग में हाथ बँटाने का अधिकार सीमित करने का, कम से कम अन्त में, यही मतलब होता है कि सत्ता के लाभ में हिस्सा पाने वालों की संख्या सीमित कर दी जाये। मिसाल के लिए, धर्म अननुवर्तियों (नान कन्फ़ॉर्मिस्ट्स) को मताधिकार-

---

१. रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेण्ट, अध्याय ८

२. १० मेण्ट जे. हैंकिन—दी मेण्टल लिमिटेशन्स ऑफ दी एक्सपर्ट

सूची से बहिष्कृत करने की ब्रिटेन के पुराने विश्वविद्यालयों के स्वरूप पर निश्चित छाप पड़ी है। इंगलैंड में भूस्वामि-वर्ग की राजनीतिक प्रवृत्तियों ने उसकी कर-प्रणाली पर गहरा प्रभाव डाला है। ऐतिहासिक अनुभव की पृष्ठभूमि में, प्रतिनिधित्व करने का अधिकार चुनाव के अधिकार का तर्कसंगत परिणाम होता है।

इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि कोई भी आदमी, चाहे उसमें योग्यताओं का कैसा ही अभाव हो, बिना शर्त अपने आप को चुनाव के लिए पेश कर सकता है। जैसा कि हमने बार-बार कहा है अधिकार हमेशा कर्त्तव्य-सापेक्ष होते हैं और ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि प्रतिनिधित्व के कार्य में जो कुछ निहित है उसमें उसे ग्रहण करने की शर्तों का उल्लेख क्यों न हो। जब तक निर्धारित सीमाएँ आबादी के विभिन्न वर्गों पर असमान दबाव नहीं डालतीं तब तक वे अपनी रक्षा में समर्थ हो सकते हैं—अगर उनका लक्ष्य संबद्ध कार्य में सुधार करना हो। एक उदाहरण से यह बात साफ़ हो जायेगी। अंग्रेज़ी अभिजात-वर्ग में अपने पुत्रों को छोटी उम्र में हाउस आफ़ कामन्स मे भेजने की परिपाटी रही है। उन्हें प्रायः कोई शिक्षण नहीं मिलता, उनका रुझान नहीं देखा जाता.लेकिन परिवार का प्रभाव किसी न किसी तरह उसे संसद तक पहुँचाने के साधन ढूंढ निकालता है। इस प्रणाली से कुछ सच्चे फ़ायदे हुए हैं—फॉक्स और पिट कनिष्ठ के दृष्टान्तों को देखें तो लगता है कि इस प्रणाली से कोई लाभ न हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन अगर मान लीजिए किसी स्थानीय सार्वजनिक संस्था में तीन वर्ष तक कार्य करना हाउस आफ़ कामन्स में चुने जाने की एक शर्त बना दी जाये तो यह चुने जाने के अधिकार पर हमला करना नहीं होगा। यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि केन्द्रीय विधान-सभा में काम करने के नतीजे इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि प्रतिनिधि बनने का दावा स्वीकार किये जाने से पहले उस दिशा में रुझान और अनुभव के प्रमाण पेश किये जाने चाहिएँ। इस तरह का प्रतिबंध समुदाय के सब सदस्यों के लिए बराबर होगा, उससे किसी ख़ास वर्ग को फ़ायदा नहीं पहुँचेगा। अगर इस तरह से किसी अधिकार के प्रयोग में सुधार किया जा सकता है तो यह नहीं समझना चाहिए कि इस तरह उसे सेकमज़ोर या नष्ट कर दिया गया है। लोकतंत्र कुशल सेवा के सिद्ध सूत्रों की कभी भी उपेक्षा नहीं कर सकता। उसके जीवन का आधार ही यह है। यही राजतंत्र या अभिजात-तन्त्र से उसका भेद है—ये अपने क्रियान्वय में रहस्य के तत्त्व का कुछ सन्निवेश कर लेते हैं—लोकतंत्र में वैसा नहीं होता। मिसाल के लिए, १८ वीं सदी के फ्रांस की तरह राजतन्त्र अपनी संस्थाओं के लिए लोकप्रिय हो सकता है—भले ही वे काल-कवलित हो चुकी हों; कारण यह है कि लोग उनके बारे में तथ्यों से अवगत नहीं होते। वह लोकेच्छा के क्षेत्र में अपनी नींव नहीं डालता जब कि लोकतंत्र का आधार लोक-विश्लेषण की ज़रूरत के कारण ही सहज उद्घाटित होता है। अतः नागरिक के अधिकार अनिवार्यतः समुदाय की जरूरतों से परिसीमित होते हैं जिस का वह अंग है। वह यह माँग ज़रूर कर सकता है कि यह परिसीमन सब पर बराबर लागू हो।

शासक चुने जाने के अधिकार में राजनीतिक पद के लिए चुने जाने का अधिकार भी निहित है। ध्यान देने की बात है कि हम यह नहीं कहते कि वोट देने के अधिकार का

मतलब राजनीतिक-सभा के प्रतिनिधि से कुछ अधिक चुनने का अधिकार है। इस तरह चुने जाने के बाद प्रशासन का सदस्य चुने जाने के अधिकार पर कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। परन्तु लोकतंत्र-प्रणाली के अनुभव के आधार पर बहुविध निर्वाचिका-शक्ति में विश्वास दृढ़ नहीं होता। इस तरह का सीधा शासन—चाहे लोगों के चुनाव में हो या कानूनों के—नगर-राज्य के सीमित क्षेत्र में भले ही कुछ सफल हो सका हो। वहाँ यह संभव है कि कोई आदमी अपने पड़ौसियों का सुपरिचित हो—वहाँ यह भी हो सकता है कि पर्याप्त घनिष्ठता के कारण उसकी सही और सच्ची परख हो सके। आधुनिक विस्तार के राज्यों पर यह बात लागू नहीं होती। अमरीकी राष्ट्रमंडल के जनमत के परिणामस्वरूप भी ऐसा शासक चुना जा सकता है जिसकी विशेषताएँ उसके भावात्मक नहीं, अभावात्मक गुण हों। इस प्रणाली से कोई लिंकन भले ही उभर कर सामने आ जाये; पर वह संयोग की बात होगी, योजना का फल नहीं। आधुनिक राज्य का शासक उन लोगों द्वारा चुना जाना चाहिए जो उसकी बुद्धि से परिचित हों, जिन्होंने दैनिक राजनीति के घनिष्ठ साहचर्य में उसे परखा हो। वे भी ग़लतियाँ कर सकते हैं जैसा कि लार्ड मॉडरिच के दृष्टांत से साबित होता है। लेकिन प्रत्यक्ष तरीक़े की अपेक्षा अप्रत्यक्ष तरीक़े में गुण के पहचाने जाने की अधिक गुंजाइश है। यह बात अमरीका के उन राज्यों ने कतई सिद्ध कर दी है जहां न्यायांग का चुनाव जनता द्वारा होता है। और चूँकि वे उन लोगों के निर्वाचक हैं जिन में से नेतागण चुने जायेंगे अतः प्रतिबंध कोई ऐसी सीमितता नहीं जिसमें कुछ लोगों के लिए कोई विशेषाधिकार निहित हो। बराबरी तो वहाँ है पर उस जगह तक पहुँचने वाली राह की बड़ी अगम चढ़ाई होती है।

जिस राजनीतिक व्यवस्था की धुरी नागरिक का अपने अभावों को अभिव्यक्ति देने का अधिकार है, वहाँ स्पष्ट ही उसकी अभिव्यंजना के सुरक्षण की ज़रूरत भी है। यानी उसे वाक्-स्वातंत्र्य होना चाहिए और वह सब कुछ जो वाक्-स्वातंत्र्य को कारगर करता है। इस स्वातन्त्र्य के अधिकार का सार क्या है? इसका मतलब सिर्फ़ यह तो नहीं हो सकता कि आदमी जो कुछ कहता है, उसमें उसकी रक्षा की जाये क्योंकि विचार का तो कार्य से इतना घनिष्ठ संबंध है कि उससे विच्छेद नहीं किया जा सकता। इसका मतलब यह भी नहीं हो सकता कि व्यक्ति के रूप में उसकी रक्षा की जाये, क्योंकि जो वह कहता है, उसमें से बहुत-कुछ जो महत्त्वपूर्ण है, दूसरों के साथ उसकी बातचीत से उद्‌भूत होता है। ज़ाहिर है वाक्-स्वातंत्र्य ऐसा अधिकार है, जिसकी परिभाषा उसके साध्य कृत्य के आधार पर होनी चाहिए। जैसा मैंने पहले कहा है, आदमी की नागरिकता जनहित में अपनी प्रबुद्ध मति का योग देने के कर्तव्य में निहित है। अगर विचार की अभिव्यक्ति ही दण्डनीय हो जाय तो वैसा योगदान वह नहीं कर सकता। किसी ख़ास काल में ग़लत समझे जाने वाले मत के दमन का अनौचित्य समूचे इतिहासमें सबसे साफ़ और बड़ा मसला है। रूढ़ियों और परिपाटी के अदृश्य बंधन आदमी को मौलिकता की राह से भटका देने के लिए प्रायः हमेशा ही काफ़ी होते हैं जब तक कि कोई आदमी असाधारण गुणों से ही सम्पन्न न हो। आदमी जो सोचता है, वह कहने की छूट उसे देना तो उसके व्यक्तित्व को पूर्ण अभिव्यक्ति का अन्तिम और एकमात्र [illegible] और उसकी नागरिकता को नैतिक औचित्य का एकमात्र साधन देना है। अन्यथा

कार्य करने का मतलब है या तो यथावत् स्थिति चाहने वालों का समर्थन और इस प्रकार लोगों के कार्य-कलाप को प्रच्छन्न—अतः खतरनाक—रूप लेने पर विवश करना अथवा ऐसे अनुभव का दमन करना जिसे सार्वजनिक रूप से अपने अर्थ की व्याख्या करने का उतना ही अधिकार है जितना किसी अन्य को।

आम तौर से अब पाश्चात्य जगत, राजनीति-क्षेत्र से बाहर, वाक्-स्वातंत्र्य को स्वीकार करने लगा ह। आज कोई आदमी क़ानूनी दंड के भय के बिना नास्तिक हो सकता है, या आवर्तवादी हो सकता है। पर इस बात को अच्छी तरह नहीं समझा जाता कि जब तक किसी राज्य का किसी धर्म-विशेष से संबंध है, तब तक पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता उसमें कैसे हो सकती है ! क्योंकि उस हालत में, क़ानून चाहे कुछ भी हो, पर उन लोगों को निश्चय ही विशेषाधिकार प्राप्त होंगे, जो राज-धर्म के अनुयायी हैं। राज्य द्वारा किसी धार्मिक सिद्धांत पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दिये जाने का मतलब है उसे विशेषाधिकार दे देना चाहे वह किसी संस्थाका रूप ले या न ले। अगर इंगलैण्ड के चर्च का राज्य से विच्छेद हो जाता तो उसका धर्म-ज्ञान आक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज में वैज्ञानिक मत के सामने नहीं टिक सकता था; और न समुदाय की शिक्षा-प्रणाली में आर्थिक विश्वास के एक ही रूप को विशेष स्थान प्राप्त हो सकता था। राज्य-धर्म को किसी-न-किसी रूप में विशेषाधिकार ज़रूर मिल जाते हैं, और जब तक राज्य नास्तिकवाद से लेकर जराथुस्त्रवाद तक हर प्रकार के धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति उदासीन न हो तब तक किसी भी नागरिक को धार्मिक विश्वास की सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती।

इस अधिकार को मान्यता देने में द्वन्द्व का असली निमित्त राजनीति-क्षेत्र में है। आधुनिक राज्य कुछ इस तरह की बात मानने लगता है कि जो विचार वर्तमान व्यवस्था पर आघात करें, वे ग़ैर-क़ानूनी हैं और उनका दमन किया जाना चाहिए। इस दमन के विविध कारण ढूँढ़ निकाल लिये जाते हैं। कभी-कभी उस विचार को इस आधार पर दण्डित किया जाता है कि वह अपने आप में बद समझा जाता है; कभी उसका इसलिए दमन होता है कि वह राज्य की संघटना के लिए खतरनाक बताया जाता है, कभी यह कारण पेश किया जाता है कि उससे अव्यवस्था फैलने का डर है। यहाँ हमें इन विचारों की अभिव्यक्ति—चाहे वे एक नागरिक द्वारा किये जायें या नागरिकों के एक वर्ग द्वारा;—और उनके सार-तत्त्व को क्रियान्वित करने के लिए किये गये प्रकट कार्य का अन्तर अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसके बाद लड़ाई या ऐसे ही किसी संकटकाल में विचाराभिव्यक्ति के नियंत्रण की शक्ति के महत्त्वपूर्ण सवाल पर हमें अलग से विचार करना चाहिए। विचार और कार्य के संबंध का प्रश्न विचार के स्वरूप के सवाल से बिल्कुल अलग है। हमारे अपने युग में, असामान्य काल की ज़रूरतों का ऐसा स्फुट निदर्शन हुआ है कि उन पर विचार करने से आम समस्या पर भी विशेष प्रकाश पड़ जाता है।

मैं यहाँ जिस बात पर ज़ोर दे रहा हूँ वह यह कि जहाँ तक राज्य का सवाल है उसकी ओर से नागरिक पर, व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरों के साथ मिल कर, अपने विचार प्रकट करने में किसी तरह का कोई बन्धन नहीं होना चाहिए। वह भले ही समाज-व्यवस्था के घोर अनौचित्य का प्रचार करता फिरे, वह सशस्त्र क्रांति द्वारा उसका तख़्ता पलटने की माँग करे; वह ज़ोर-ज़ोर से यह कहता फिरे कि राजनीतिक प्रणाली पूर्णता का ईश्वरीकरण है;

वह कहे कि मेरे विचारों से जिनके विचार मेल नहीं खाते, उनका खूब अच्छी तरह दमन होना चाहिए। वह चाहे स्वयं व्यक्तिगत रूप से इनकी घोषणा करे अथवा दूसरों के साथ मिल कर—उनकी अभिव्यक्ति चाहे कोई भी रूप ले, पर उसे बिना किसी विघ्न-बाधा के बोलने का पूरा अधिकार है। उसे अधिकार है कि अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने के लिए प्रकाशन के चाहे जिन साधनों का उपयोग करे। वह उसके लिए कोई इश्तहार छापे, या पुस्तिका अथवा अखबारों में छपवा दे, वह व्याख्यान के रूप में भी उन्हें पेश कर सकता है अथवा आम सभाओं में उनका ऐलान कर सकता है। वह इनमें से कोई या सभी काम कर सकता है और इसमें राज्य की ओर से उसकी रक्षा होनी चाहिए—यह अधिकार तो स्वतंत्रता का मूलाधार है।

जरा विकल्पों पर विचार कीजिये। सामाजिक संस्थाओं की टीका-टिप्पणी में कम-ज़्यादा का ही भेद हो सकता है। अगर मैं 'क' को हिंसक क्रांति का प्रचार करने से रोकता हूँ तो मैं अन्त में उसे यह प्रचार करने से भी रोकूँगा कि वर्तमान समाज-व्यवस्था का दैवी उद्‌गम नहीं है। अगर मैं यह मानने लगूँ कि रूसी साम्यवाद राजनीतिक दृष्टि से गर्हणीय है तो मैं आगे यह भी मानने लगूँगा कि रूसियों को अंग्रेज़ी भाषा पढ़ाने के लिए जो कक्षाएँ होती हैं, वे एक तरह का साम्यवादी प्रचार है। सामाजिक विषयों के बारे में कभी कोई इतना आश्वस्त नहीं हो सकता कि सरकार के लिए राज्य के नाम पर उनकी निन्दा करना वांछनीय समझा जाये। पिछले कुछ वर्षों के अमरीकी अनुभव से यह बात बहुत ही साफ़ हो गई है कि विहित सत्ता में विभेद करने की कभी इतनी बारीकी नहीं होती जिससे इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो सके कि जिस विचार को दबाया जा रहा है उसी से मौजूदा अव्यवस्था पैदा हो सकती है। जिन लोगों को अपने अनुभव के अनुसार सोचने से रोका जायेगा वे जल्दी ही सोचने के बिल्कुल ही अयोग्य हो जायेंगे। जो लोग सोचने की क्षमता खो बैठते हैं, वे सच्चे माने में नागरिक भी नहीं रह जाते। जो उपादान उनके अनुभव को कारगर बनाने वाला होता है, वह अप्रयोग से जंग खाने और लुप्त होने लगता है।

यह कह देना भी इसका कोई जवाब नहीं कि इस तरह तो जीत का सेहरा अव्यवस्था के ही हाथ रहेगा। अगर हिंसा की हिमायत करने वाले विचार राज्य को इतना प्रभावित कर सकते हैं कि उसकी नींव हिला दें तो समझना चाहिए कि उस राज्य की प्रकृति के मूल में ही कुछ गड़बड़ है। आदमी जिन बातों का अभ्यस्त होता है, उनसे ऐसी मजबूती से चिपका रहता है कि हिंसा में उनसे जो अचानक अलग हट जाने का भाव निहित है वह किसी बद्धमूल रोग का सबूत है। आम आदमी को अव्यवस्था में कोई दिलचस्पी नहीं होती; जब वह उसका स्वागत करता है—जैसे क्रांतिकालीन रूस में; या उसके प्रति उदासीन रहता है—जैसे सिनफ़ियन आयरलैण्ड में, तो उसका कारण यह समझना चाहिए कि राज्य की सरकार उसका अनुराग खो चुकी है और कोई भी सरकार अगर अपनी प्रजा का अनुराग खोती है तो नैतिक निमित्त से। सच तो यह है कि राज्य जिस हद तक अपनी सत्त की आलोचना करने देता हो, समझ लेना चाहिए कि उसी अनुपात में समुदाय की निष्ठा उसे प्राप्त है। प्रायः हमेशा ही स्वतंत्र अभिव्यक्ति का परिणाम यही होता है कि जिस परिस्थिति की टीका-टिप्पणी की जाती है, उसमें सुधार होता है जो इस बात का प्रमाण है कि उसका उपयोग

ठीक हो रहा है—ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जहाँ दमन की नीति सफल रही हो। और आज़ादी से बोलने पर जब भी प्रतिबन्ध लगा है, तब प्रायः हमेशा ही उस आन्दोलन ने प्रच्छन्न रूप ले लिया है। वाल्टेयर के अकादमी में चुने जाने से वह फ्रांस के लिए खतरनाक नहीं हुआ था, उसे खतरनाक बनाया उसकी इंगलैण्ड की की समुद्र-यात्रा ने। लेनिन ड्यूमा में रह कर जारवादी रूस के लिए जितना ख़तरनाक होता, उससे कहीं अधिक ख़तरनाक वह स्विट्ज़र-लैण्ड में हो गया। वाक्-स्वातंत्र्य, जिसमें सम्मिलन-स्वातंत्र्य भी निहित है, असंतोष का अनायास विरेचन करता है और आवश्यक सुधार की मूल शर्त है। सरकार अपने समर्थकों की प्रशंसा की अपेक्षा विरोधियों की आलोचना से सदा ही अधिक सीख सकती है। उस आलोचना का गला घोंटने का मतलब अन्ततः अपनी क़ब्र अपने आप ही खोदना होता है।

दो सम्बद्ध सवालों पर थोड़ा और प्रकाश डालने की ज़रूरत है। वाक्-स्वातंत्र्य का मतलब आम विषयों पर अपने विचार प्रकट करने की आज़ादी है। इसका मतलब है कि राज्य की सरकार में नियंत्रण की सभी शक्तियों का अभाव। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप इस तरह का वक्र आक्षेप कर सकते हैं कि जोन्स ने अपनी सास का क़त्ल किया है या यह कि अगर न्याय हो तो राबिन्सन ग़बन का अपराधी ठहरेगा। जिन बयानों पर नियंत्रण न होने की माँग करने का मुझे अधिकार है, वे या तो आम बयान हो सकते हैं या व्यक्तिगत बयान जिनका सार्वजनिक महत्त्व तात्कालिक और प्रत्यक्ष हो। वाक-स्वातंत्र्य के अधिकार का मतलब यह नहीं कि आपको चाहे जिसकी चाहे जैसे बदनामी करते फिरने का अधिकार है। मुझे किसी व्यक्ति को वही और उतनी ही तकलीफ़ देने का अधिकार है, जो लोक-मंगल की दृष्टि से अपेक्षित हो! ज़ाहिर है कि अगर किसी व्यक्ति पर मैं उस शक्ति का दुरुपयोग करता हूँ तो उसे इतना अवसर होना चाहिए कि वह अदालत में जाकर उसका निराकरण कर सके। उसे अपने अन्तरंग व्यक्तित्व की हित-रक्षा का उतना ही हक़ है, जितना मुझे उस पर हमला करने का और इस तरह के मामले मे हम दोनों के विवाद का फ़ैसला किसी औसत जूरी की सामान्य बुद्धि द्वारा हो जाना चाहिए। यह भी कह दिया जाय कि यह प्रतिबन्ध आम सवालों पर लागू नहीं होगा, जैसे ईश्वर-निन्दा अथवा अश्लील साहित्य का प्रकाशन। ये ऐसे सन्देहास्पद मामले हैं, जिनमे सही निर्णय की कोई कसौटी नहीं हो सकती। नाटकों के सेंसर में 'मिसेज़ वारेन्ज़ प्रोफ़ेसन' पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है और साहित्य-नियंत्रण में बोकेनियो का सार्वजनिक पुस्तकालय से बहिष्कार किया जा सकता है। मस्तिष्क को राजकीय अनुज्ञा द्वारा कस कर प्रतिबन्धों में बाँध देने से उसके उन्मुक्त प्रयोग पर प्रत्यय करना ही अधिक बुद्धिमानी है।

मैंने कहा है कि वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार के साथ आम सभा करने और इकट्ठे बैठने-उठने की आज़ादी का अधिकार भी जुड़ा हुआ है। इनमें से हर पहलू पर दो शब्द कहना जरूरी है। आज की दुनिया में कोई व्यक्ति अपने संगी-साथियों के बीच काम किये बिना अपने विचारों का प्रभाव उन पर नहीं डाल सकता। अधिकांश मामलों में इस प्रकार काम करने से किसी तरह के नुकसान की गुन्जाइश नहीं होती। ऐसे मामलों की बात और है जैसे साम्यवादियों का—जहाँ समागम का लक्ष्य ही स्थापित शासन-व्यवस्था को हिंसा द्वारा उखाड़ फेंकना होता है अथवा जैसे मुक्ति-सेना (सैल्वेशन आर्मी) का मामला जिसके

आरम्भिक दिनों में सम्मिलन-स्वातंत्र्य के अधिकार मे सदा ही शांति भंग होने की बात शामिल रहती थी। इनमें से कोई भी अधिकार आज खतरे से उतना खाली नहीं, जितना दस बरस पहले मालूम पड़ता था। मिसाल के लिए, अमरीकी संविधि-पुस्तक विविध राजनीतिक दलों के विरुद्ध संविधियों से भरी पड़ी है और ऐसी राजनीतिक संस्थाएँ तो और भी बहुत ज्यादा है जिन्हे आम स्थानों पर सभा करने का निषेध है। मेरा मत है कि किसी उचित राज्य-सिद्धांत में इस तरह के प्रतिबन्धों का कोई स्थान नहीं है। साम्यवादी होने के नाते लोगों के समागम पर क़ानूनी प्रतिबन्ध लगा देना उन्हें मिलने-जुलने से रोक नहीं सकता; इसका फल तो सिर्फ़ इतना ही होता है, साम्यवादी सरगर्मियां ऐसा रूप ले लेती हैं, जिनका पता लगाना भी मुश्किल हो जाये। किसी सभा पर इसलिए रोक लगाना कि उससे शांति भंग होने की आशंका है दरअसल शक्ति के आसन पर कायरता का अभिषेक कर देना है। और ध्यान देने की बात है कि अंग्रेजी क़ानून ने इस धारणा को माना है कि कोई शांतिपूर्ण प्रदर्शन इसलिए ग़ैर-कानूनी नहीं हो जाता कि उससे लोग अव्यवस्था फैलाने के लिए उत्तेजित होते हैं।

अगर कोई संथा राज्य का तख़्ता पलटने का ही लक्ष्य बना ले, और उसी दिशा में कार्य करना चाहे तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है। इस मसले से पैदा होने वाली समस्यायें राजनीति-सिद्धांत की अपेक्षा राजनीति-कला के क्षेत्र की ही अधिक हैं। हर सरकार यह मान सकती है कि हमने यहाँ जो रूपरेखा दी है, उसके अनुकूल अधिकार-व्यवस्था के वृत्त में रहते हुए—उसका निरन्तर सुव्यवस्थित अस्तित्व वांछनीय है; फलतः उसी वृत्त में, हर सरकार को अपनी रक्षा के लिए क़दम उठाने का हक़ है। अतः उसे किसी भी ऐसे दल को नष्ट कर देने का अधिकार है जो तत्काल और निश्चित रूप में उसकी सत्ता हड़प लेने की कोशिश में है। लेकिन अपने विशुद्ध कार्यकारी-पक्ष में, कोई सरकार इस बात की एक मात्र निर्णायक नहीं हो सकती कि उसकी कोई कार्यवाही ठीक है या ग़लत। उसे हमेशा प्रमाण पेश करने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए—और सो भी पूरे-पूरे न्यायिक सुरक्षणों के अधीन। यह मान लेने का कोई भी कारण नहीं कि मसले के इस पहलू पर, कार्यांग का निर्णय ठीक होगा—अगर ऐसा है तो विचारवान नागरिकों के किसी निकाय का निर्णय भी उतना ही ठीक होगा। कसौटी यह होनी चाहिए कि कार्यांग न्यायालय को यह विश्वास दिला सके कि अमुक संथा के बने रहने में तुरन्त ही ग़ैर-कानूनी कार्यवाहियों के होने का खतरा है। यानी ऐसे आचरण का प्रमाण्य खतरा होना चाहिए; किसी की ऐसी राय भर होना काफी नहीं कि इस तरह का आचरण किया जा सकता है। अगर कोई १७९४ के देशद्रोह-विषयक मुकदमों का अध्ययन करे—अथवा और भी अच्छा हो अगर अमरीका में १९१७ में जासूसी विषयक अधिनियम के अधीन चलाये जाने वाले मुकदमों का हाल पढ़े,—तो वह समझ सकता है कि इस मामले में कार्यांग को अनुचित छूट देने में कितना खतरा है।[1] संकट-काल में

---

१. तु. पी. ए. ब्राउन—दी फ्रेंच रिव्योलूशन इन इंगलिश हिस्ट्री—विशेषतः अध्याय-६, दूसरी अ र जे० हालैण्ड रोज--लाइफ़ आफ़ विलियम पिट। जासूसी-विषयक अधिनियम के लिए देखिये—शेफ़ी और पोस्ट—१९१७ और १९१९ के बीच अमरीका में वाक्-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में उन्नीस सौ से अधिक मुकदमे हुए।

न्यायिक सुरक्षण बहुत ही हल्का सुरक्षण होता है पर फिर भी कम से कम सुरक्षण तो वह है ही। हम नहीं चाहते कि कोई हड़बड़िया मंत्री तुरन्त यह मान बैठे कि टाल्स्टायन अराजकतावादियों का समाज शायद कोई नया हिंसात्मक षड्यन्त्र रच बैठेगा। हम उन चमत्कार-प्रिय नागरिकों को कोई ढील नहीं देना चाहते जो रूढ़ि-मुक्त विचार की हर गतिविधि को चौंक कर देखते हैं और उसे किसी निर्विवेक आक्रांता के मन्तव्य को गुप्त रखने का आवरण मान बैठते हैं। राज्य को निस्संदेह आत्म- संरक्षण का अधिकार है पर उसे कार्यवाही करने की छूट तभी दी जानी चाहिए जब उसके लिए सचमुच कोई ख़तरा हो।

कुछ लोग कहते हैं कि युद्ध या ऐसे ही किसी और संकट के समय ये परिकल्पनायें असंगत हो जाती हैं। स्पष्ट ही है कि गृह-युद्ध के समय, जब देश में ही सशस्त्र सेनाए राज्य पर अधिकार कर लेने के लिए जूझती हैं, ये परिकल्पना लागू नहीं हो सकतीं—इनके लागू न होने का यही पर्याप्त कारण है कि कोई उनका पालन ही न करेगा। हिंसा विवेक को कभी अपना काम नहीं करने देती और राजनीति-दर्शन अविवेक के युग के लिए कोई परिकल्पना नहीं दे सकता। असल में, क्रांति का मतलब होता है अधिकारों की किसी भी चालू प्रणाली का स्थापित हो जाना। जो कोई सत्ता शक्ति को हथिया लेती है वह—जब तक कि नागरिकों को फिर से अपने नये शासक चुनने की इजाज़त नहीं दी जाती—अपने काम ताकत के बल पर पूरे करती है; उन अधिकारों के बल पर नहीं जिनका प्रतिनिधित्व उसे करना होता है। आधुनिक युग की हर क्रांति के इतिहास से यही बात स्पष्ट होती है। क्रांति के बारे में यह बात तो पहले से ही समझ लेनी चाहिए कि विवेक की साम-शक्ति में विश्वास खो जाता है।[1] ऐसी परिस्थितियों में अधिकारों के प्रति आदर-भाव की आशा करना वृथा है। लेकिन असफल क्रांति सबसे अधिक कठिन और नाज़ुक नयी समस्यायें खड़ी कर देती है—जैसे सरकार का विद्रोहियों के प्रति और क्रांति का दमन करनेवालों के प्रति व्यवहार क्या हो?

यहाँ निश्चय ही कुछ नये विचार उभरते हैं। जो सरकार आक्रमण से राज्य की सफलतापूर्वक रक्षा करती है, वह अपनी अधिकारों की प्रणाली को वांछनीय समझेगी ही। तब, अगर उस प्रणाली में न्यायिक संरक्षण के इस तरह के तत्त्व विद्यमान हैं जैसे अंग्रेज़ों के विधि-शासन के आग्रह में, तो यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी कार्यों का स्वरूप उस सिद्धांत के नियंत्रण के आधीन हो जाता है। उस हालत में जो क़ानून तोड़े जाते हैं, उसके लिए या तो दण्ड दिया जाये या क्षतिपूर्त्ति मिलनी चाहिए और कभी ऐसे भी मौक़े होते हैं कि क्षतिपूर्त्ति भरने से इन्कार कर दिया जाना चाहिए। और सबसे अधिक ज़रूरत तो इस बात की है कि सैनिक-क़ानून की नग्न शक्ति से दीवानी अदालतों की सर्वोपरिता पर ग़ौर दिया जाये। इस दृष्टि से 'वुल्फ़ टोन केस'[2] और 'एकतरफ़ा ओ' ब्रायन'[3] के आदेश अधिकार की धारणा पर स्थित राज्य की विशिष्टताएँ हैं। क्योंकि अगर ऐसा न हो तो नाग-

---

१. तु. ट्राट्स्की—'दि डिफेन्स आफ टेररिज्म'—और देखिये मेरा 'कम्युनिज्म'—अध्याय ४ और ५।

२. राबर्टसन—सेलैक्ट कांस्टिट्यूशनल डाक्यूमेंट्स'—पृ० ३५४।

३. पूर्वोद्धृत कृति।

रिक कार्यांग की सत्ता के सामने अशक्त होता है—हाँ, अगर विधानांग द्वारा कार्यांग के अवक्रमण की अनहोनी घटना घटे तो बात दूसरी है पर अधिकतर नियंत्रण की ऐसी कोशिशें बहुत देर से हुआ करती हैं। जो कार्यांग संविधान द्वारा दी गयी प्रतिभूतियों का प्राय: निलम्बन कर सकता है. —जैसे यूरोपीय यद्ध के दौरान में इंगलैण्ड में साम्राज्य-रक्षा अधिनियम (डिफ़ेंस आफ़ दि रेल्म एक्ट) के अधीन, उसकी अपेक्षा उस कार्यांग द्वारा अधिकारों के तत्त्व का पालन किये जाने की कहीं अधिक आशा होती है जिसका स्वतंत्र-बुद्धि न्यायांग द्वारा बराबर अवेक्षण होता है। उन प्रतिभूतियों के अभाव में जो खतरा निहित है, उसे हंगरी का १९१९ के बाद का अनुभव स्पष्ट कर देता है।

युद्ध-काल में वाक्-स्वातंत्र्य की समस्या से कुछ और ही विचारणीय बातें सामने आती हैं। लेकिन सबसे पहले इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि लड़ाई की छोटी या बड़ी होने का इस मसले पर कोई असर नहीं पड़ता। दक्षिण अफ्रीका में बोअर जैसे छोटे राष्ट्र से संघर्ष होने के समय अंग्रेज़ नागरिक के जो अधिकार और कर्तव्य होंगे, जर्मनी जैसे प्रथम कोटि के शक्तिशाली देश से लड़ाई होने पर भी वे पूर्ववत् ही रहेंगे। जैसा मैं बराबर कहता आ रहा हूँ, उसका काम सार्वजनिक हित में अपनी प्रबुद्ध मति का योगदान करना है। कहने का मतलब यह कि अगर वह ठीक समझता है तो लड़ाई का समर्थन करे और नहीं तो उसका विरोध करे। उसकी नैतिक स्थिति इस बात से नहीं बदल सकती कि कार्यांग ने एक ऐसा साहसोद्यम आरम्भ किया है, जिसमें विचार की एकता सामरिक सफलता के लिए आवश्यक है। किसी भी कार्यांग को नागरिकों की सम्मति की उपेक्षा करके अपने रास्ते पर बढ़े चले जाने का अधिकार नहीं। उसकी कार्यवाहियों को प्रभावित करने के लिए वे सम्मतियाँ सामने आनी चाहिएँ। ऐसे समय, जब नागरिकता का कर्तव्य पूर्ण करना सबसे ज़रूरी होता है, उन्हें दण्डित करना राज्य की नैतिक नींव के लिए घातक है। जेम्स रसेल लॉवेल की तरह अगर कोई यह समझता है कि युद्ध हत्या का पर्याय है तो ऐसा कह देना उसका कर्तव्य है—उसके इस वक्तव्य का समय चाहे जितना असुविधाजनक हो। यह सोचना सकारण होगा कि ऐसे वक्त में उस सम्मति के तत्त्वों पर शायद अधिक गौर से विचार किया जाये और दूसरे पक्ष में क्या कहा जा सकता है? कहते हैं प्रतिकूल मत व्यक्त करने से युद्ध को सफलतापूर्वक चलाने में बाधा पड़ती है। लेकिन इससे तो एक नहीं, अनेक मसले पैदा हो जाते हैं। 'प्रतिकूल मत' का अर्थ क्या है? लड़ाई छेड़े जानेका विरोध, या उसके तरीकोंका अथवा उसके साध्य का? पिछले यूरोपीय युद्ध में लड़ाई के विरोधी इन्हीं विचारों के अनसार अलग-अलग दलों में विभक्त थे। स्थल या नौसेना के कमांडरों की आलोचना करना क्या लड़ाई के संचालन का विरोध करना हुआ? अगर एक राजनीतिज्ञ, जो सरकार के अधीन कोई पद धारण न किये हो, यह समझता है कि कार्यांग की राजनयिक नीति का परिणाम घातक होगा, तो क्या उसे अपनी बात व्यक्तिगत रूप से जिस-तिस से कहते रहना चाहिए कि कहीं अपना विचार सार्वजनिक रूप से प्रकट करने में राष्ट्रीय एकता को आघात न पहुँचे! अगर किसी व्यक्ति का यह विश्वास है कि बातचीत द्वारा शान्ति युद्धभूमि में विजय पा लेने से कहीं अभिमत है क्योंकि उसमें असंख्य जानें जाती हैं, तो क्या उसका अपने सह-नागरिकों के प्रति कोई कर्तव्य नहीं, जिन्हें वह विजय की कीमत चुकानी पड़ेगी? अत: यह बात साफ़ तौर से

प्रकट है कि युद्ध काल में सम्मति को इस तरह सीमित कर देना कि उससे युद्ध के संचालन में बाधा न पड़े सबसे पहले तो कार्यांग को चाहे जैसे काम करने की छूट दे देना है और दूसरे, यह मान लेना है जबतक सेनायें लड़ाई के मैदान में हैं तब तक किसी का कोई नैतिक दायित्व नहीं। यह तो असंभव स्थिति है। जिस किसी ने युद्धकाल में सावधानी से सरकार के रंग-ढंग देखे हों, उसे इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि आलोचना की सबसे अधिक ज़रूरत तभी होती है। और आलोचना को सीमित करने का मतलब है उसका गला घोंटना। जिस कार्यांग को मनमाने ढंग से हर कार्य करने की छूट मिल जायेगी, वह स्वभावतः वह सब बेवकूफियाँ करेगा जो तानाहशाही में की जाती हैं। वह अपने कार्यों का अर्द्ध-दैवी स्वरूप मानने लगेगा। वह जनता को कोई खबरें नहीं मिलने देगा, जिसके आधार पर उसकी परख होती है। वह अपनी प्रचार कला के सहारे अपनी यथार्थ स्थिति को छिपा कर उसे ग़लत रूप में पेश करने का प्रयत्न करेगा जिसके फलस्वरूप—जैसा श्री कॉर्नफोर्ड ने कहा था—वह अपने मित्रों को ही धोखा दे पाता है, शत्रुओं को नही। किसी सुझाव को वह सुनने को तैयार नहीं होगा; पूछ-ताछ को वह वृथा बवाल समझेगा; सत्य की उपेक्षा करेगा। सच तो यह है कि युद्ध-काल में कोई कार्यांग उसी हद तक नैतिक आचरण पर स्थिर रह सकता है जिस हद तक उसकी नीति के हर पहलू की परीक्षा और आलोचना होती रहे। और अगर संघर्ष भीषण हो तो आलोचक को दण्डित करना राज्य की नैतिक जड़ों को विष से सींचना है।

अतः युद्ध-काल में वाक्-स्वातंत्र्य में वे ही सब अधिकार निहित हैं जो शांति-काल म होते हैं। बल्कि युद्ध-काल में उनकी पूर्णता परिलक्षित होती है—राष्ट्रीय संकट का समय ऐसा समय होता है, जब अपना साक्ष्य देना नागरिक का कर्तव्य होता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनका काम अप्रिय साबित होगा, पर उसका जवाब यह है कि जब अधिकारी सूली पर चढ़ाने को तैयार न हों तब शहादत के लिए आगे बढ़ना बड़ा आसान है। अगर राज्य की युद्ध छेड़ने की नीति में उसके आम नागरिक की सहमति नहीं है तो उसे लड़ाई लड़ने का कोई अधिकार नहीं। अगर नागरिकों का एक अच्छा-खासा हिस्सा लड़ाई का विरोध करता है तो भी वह नीति कम-से-कम सन्देहास्पद अवश्य है। अगर विरोधियों की संख्या थोड़ी ही है तो सफलता के लिए उनके दमन का प्रयास करने की ज़रूरत ही क्या है? दूसरे शब्दों में, सही रास्ता पाने का एक ही ढंग है और वह है स्वतंत्र विचार-विमर्श और संकट-काल तो, जब सही-ग़लत को पहिचानने की शक्ति क्षीण हो जाती है, इस स्वतंत्रता की माँग को और बल देता है।

वरसाई-सन्धि के निर्णायक तत्त्वों में से एक की ओर निर्देश करके शायद उपर्युक्त बात को उदाहृत किया जा सकता है। यह प्रायः स्वीकारा जाता है कि उसकी सबसे बुरी बातें उन गुप्त संधियों का परिणाम थीं जिनमें अमरीका को छोड़ अन्य मित्र राष्ट्रों ने, अमरीका के युद्ध में शामिल होने से पहले ही, अपने आपको बाँध लिया था।[1] इसके अतिरिक्त न्यायपूर्ण शांति के लिए अमरीका में जितनी व्यापक इच्छा थी, उतनी और कहीं नहीं; पर साथ ही

---

१. तु. गूश—हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न यूरोप, पृष्ठ ६६१ और पूरे अध्याय में उल्लिखित देश।

युद्ध को पूरे ज़ोर से चलाने में बाधा मानकर शांति के संबंध में विचार करने पर जितना कठोर प्रतिबन्ध वहाँ था, उतना और कहीं नहीं। उन नाज़ुक वर्षों में अगर शांति के संबंध में खुलकर और कारगर विचार-विमर्श हो पाता तो शायद प्रैज़िडेंट विल्सन की उदार वृत्तियाँ, प्रबुद्ध नागरिक-मत के समर्थन का अवलम्ब पाकर, उनकी विभीषिकाओं को कम कर पातीं। १९१७ की दूसरी क्रांति में पेटोग्राड में जारी किये जाने के बाद ये गुप्त संधियाँ अमरीकी अखबारों में प्रकाशित की गईं—अगर खुल कर विचार-विमर्श होता तो उनकी अपर्याप्ततायें उभरतीं और शायद प्रैज़िडेंट के लिए संभव होता कि उनमें बुराई का जितना कुछ तत्त्व था, उसका कुछ निराकरण करते। पर स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति के दमन ने उन्हें छिपाने में धूम्रावरण का काम दिया और प्रैज़िडेंट विल्सन को पेरिस पहुँचने के पहले उनके अस्तित्त्व का ही पता नहीं चला। तब तक जो परिणाम हो चुके थे, उन्हें मिटाया नहीं जा सकता था। मतलब यह है कि अनियंत्रित शक्ति उस वातावरण को ढकने में धूमिल पट का काम करती है जिसमें सत्य स्वतः स्फुट हो उठे। ऐसी हालत में सरकारें अपना कर्तव्य नहीं निभा सकतीं क्योंकि उन्हें उनका फ़र्ज़ बिताने के साधनों का अभाव होता है।

मैंने कहा है कि वाक्-स्वातंत्र्य ऐसा अधिकार है, जिसे लड़ाई भी नष्ट या कम नहीं कर सकती। परन्तु उस अधिकार के इस पहलू की एक विशेष स्थिति पर विचार करना महत्त्व-पूर्ण है। मान लीजिए कोई विदेशी सेना बेल्जियम पर हमला कर देती है। उस समय भाषण-स्वतंत्रता का प्रयोग राज्य के अस्तित्त्व के लिए ही घातक हो सकता है। तब क्या हमले का होना इस सामान्य नियम का अपवाद है? पहले यह कह दें कि अन्ततः युद्ध और लोकतंत्र-शासन की संगति नहीं बैठती। द्वंद्व जिन भावों को जन्म देता है, वे विवेक की स्थिति बरदाश्त नहीं करते और ख़तरा जितना ही सर के निकट मँडरा रहा होगा, उसके दमन की माँग भी उतनी ही अधिक होगी। आक्रमण इस स्थिति का आत्यंतिक उदाहरण है।

जब जर्मनी की तोपें लीज के चारों ओर से उसके रक्षा-मोर्चों पर दनादन गोले बरसा रहीं थीं, उस समय १९१४ के महायुद्ध की शरूआत के बारे में विचार करते रहना तो कल्पना की कसरत भर होती। पर १९१४ में बेल्जियम निर्दोष था। १८७० में फ्रांस का दोष बिस्मार्क से किसी तरह कम न था। कोई फ्रांसीसी यदि इसे अपना कर्तव्य समझता तो नेपोलियन तृतीय के अन्ध देश-प्रेम की भर्त्सना करना उसके लिए नैतिक दृष्टि से उचित होता। उसे तेज़ी से शांति स्थापित करने पर ज़ोर देने का अधिकार था। अगर वह चाहता तो जूलेस फ़ावरे की असामयिक बातचीत की निन्दा करने का उसे अधिकार था। इनमें से हर हालत में क़ानून का संरक्षण पाने का भी उसको अधिकार था कि क्योंकि वह अपने जाने सार्वजनिक हित में अपनी प्रबुद्ध मति का योगदान ही करता होता। सामने ख़तरा जितना विषम हो, उतनी ही अधिक इस बात की ज़रूरत होती है कि सरकार व्यापकतम उपलब्ध सम्मति की नींव पर अपना विचार स्थिर करे। उस सम्मति पर जितना ज़्यादा ध्यान दिया जायेगा, उतनी ही सरकार को नागरिक सहायता अधिक मिलने की आशा होगी। अन्ततः विदेशी अत्याचार के विरुद्ध सबसे समर्थ साधन स्वाभिमानी नर-नारियों की राज्य के प्रति आस्था ही है।

क़ानून के संरक्षण की बात मैं कर चुका हूँ। अधिकार की नींव पर स्थित राज्य की

धारणा का यह अभिन्न तत्त्व है कि नागरिक को पूरे न्यायिक सुरक्षण प्राप्त हों। अगर उस पर कोई अभियोग लगाया गया है तो उस पर इस तरह मुकदमा चलाया जाना चाहिए कि अगर वह निरपराध हो तो उसकी निर्दोषता को उभरने का पूरा अवसर हो—अतः उसे बिना मुकदमा चलाये जेल में नहीं डाला जा सकता।[1] अगर उसका किसी से झगड़ा होता है तो न्यायिक उपचार का रास्ता उसके लिए खुला होना चाहिए। जिस राज्य की अदालतों तक लोगों की पहुँच नहीं हो सकती, जो तेज़ी से और सविश्वास अपना काम नहीं करतीं, वह सच्चे माने में स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। बाद मे मैं कुछ ऐसे रूपों का विवेचन करूँगा जो इन परिस्थितियों के लिए अनिवार्य हैं। यहाँ मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि राज्य अपने नागरिकों के लिए न्याय की जो व्यवस्था करता है, वही राज्य-जीवन के अच्छे-बुरे होने की परख है। न्याय ऐसा होना चाहिए कि उसमें कोई भेद-भाव न बरता जाये। ऐसा न हो कि वह अमीरों की अपेक्षा गरीबों के प्रति अधिक निर्मम हो। वाइटचेपल के किसी निवासी के जिस कृत्य को वह ओछी चोरी की संज्ञा दे, केनसिंगटन के किसी निवासी के उसी कृत्य को मानसिक रोग कह कर न टाल दे। जिन पर अपराध करने का अभियोग हो उनकी सफ़ाई के लिए पूरे साधन भी उसे जुटाने चाहिए। वह अपने अधिकारियों के कामों को दूसरों से किसी भिन्न कोटि में न रखें। उसे अपनी आदालतों में स्वयं ही जवाबदेही करनी पड़े। राज्य की प्रभुता का मतलब यह कभी न हो कि वह क़ानून से परे है। चाहे प्रभु-सत्ता के नाम पर ही क्यों न किया जाय, अपकृत्य अपकृत्य ही रहेगा। न्यायांग इस योग्य होना चाहिए कि व्यक्ति व्यक्ति में भेद-भाव किये बिना अपराध की हर शिकायत को निबेर सके। संक्षेप में, क़ानून का शासन मौलिक है; और क़ानून के शासन का मतलब ही यह है कि कोई व्यक्ति और कोई पद—चाहे वह कितना ही ऊँचा क्यों न हो—वहाँ अपवाद-स्वरूप नहीं माना जायगा।

इस सिद्धांत के दो स्पष्ट निष्कर्ष हैं। पहला है न्यायांग की सच्ची स्वतंत्रता। क़ानून बनाने और उसे लागू करने में वे अपने अन्तःकरण के अतिरिक्त और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे। कार्यांग उनके निर्णयों को पसंद करता हो, इसीलिए उन्हें हटाया नहीं जा सकना चाहिए। उनके किसी निर्णय ने जनता की किसी सनक को ठेस पहुँचायी हो तो भी वे बदले नहीं जा सकते। क़ानून का निष्पक्ष क्रियान्वय और किसी तरह उपलब्ध नहीं किया जा सकता। में बाद में इसका दिग्दर्शन करूँगा कि थोड़े समय के लिए नियुक्तियां करके अमरीका की तरह जजों को लोकमत के प्रति उत्तरदायी बनाने का प्रयत्न एक घातक भूल है। चुनाव किसी सरकार के सब सदस्यों के लिए सर्वोपरि अचूक उपचार नहीं है और जब अधिकारों की संरक्षा की जानी है, तो सबसे पहली ज़रूरत यह है कि उन्हें अधिक सुरक्षण दिये जायें जिन्हें अधिकारों के आश्वासन की रक्षा करनी है।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि न्यायांग और कार्यांग को मिला देना स्वीकार्य नहीं। प्रशासक जो क़ानून लागू करेगा, उसकी स्वयं ही व्याख्या करे—इस ख़तरे से हर नागरिक को पर्याप्त संरक्षण मिलना चाहिए। इतिहास की बात है कि जब क़ानून की व्याख्या करने की

---

१. अतः बन्दी-प्रत्यक्षीकरण अधिनियम अधिकारों का मूल है।

शक्ति उन्हीं हाथों में सौंप दी गई है, जिनमें प्रशासन की—तब इस संयोग का परिणाम हमेशा अत्याचार के रूप में प्रतिफलित हुआ है। प्राच्य निरंकुशता का यह विशिष्ट लक्षण था। ब्रिटिश भारत जैसी प्रायः निष्पक्ष दफ़्तरशाही में भी वह गंभीर आपत्तियों से मुक्त नहीं रहा।[1] जब प्रशासनीय विषय स्वभावतः जटिल हो—जैसे किसी नगरपालिका में 'मुनासिब' गैस-दर नियत करने का प्रयत्न किया जाय—तब जो उस सेवा के प्रशासक हों, वे ही न्याय निबेरने वाले कभी नहीं होने चाहिए चाहे भले ही वे साधारण अदालतें न हों। आधुनिक राज्य के जटिल स्वरूप को देखते हुए विशेष विषयों के लिए विशेष अदालतें स्थापित करना भी आवश्यक हो सकता है। हल चाहे कुछ भी हो, अधिकारों के परितोष के लिए न्यायिक शक्ति का अलग और सर्वोपरि होना बिल्कुल अनिवार्य है। अन्यथा राज्य का प्रशासक-वर्ग जिन नियमों से शासित होगा, वे उन नियमों से बिल्कुल भिन्न होंगे, जिनके अधीन उनके सह-नागरिकों को रहना पड़ता है। वे अपने ही मामले में निर्णायक बन बैठते हैं और वे न्याय करने का चाहे जैसा घोर प्रयास करें पर अपने और दूसरों के बीच वे दोनों पलड़ों को संतुलित नहीं रख सकते।

अभी यह विचारना बाकी है कि संपत्ति के अधिकार जैसा भी कोई अधिकार होता है या नहीं। अगर सम्पत्ति इसके लिए ज़रूरी है कि आदमी अपना यथासंभव उन्नयन कर सके तो इस अधिकार का अस्तित्व स्पष्ट ही है लेकिन यह भी ज़ाहिर है कि इस प्रकार के अधिकार पर बड़े कठोर प्रतिबन्ध भी अपेक्षित हैं। जैसा मैंने पहले कहा है, अधिकार कर्तव्य-सापेक्ष होते हैं। मोटे तौर पर अगर मेरी संपत्ति मैं जो सेवा करता हूँ, उसके लिए आवश्यक है तो मुझे उसका अधिकार है। जो कुछ मेरे पास है, उसका स्वामित्व अगर लोक-कल्याण के पोषण की शर्त के रूप में उससे संबद्ध दिखाया जा सके, तो मुझे उसे अपने पास रखने का अधिकार है। दूसरों के प्रयत्न के फलस्वरूप कोई चीज़ सीधे मुझे प्राप्त हो जाये तो वह कभी न्यायपूर्ण स्वामित्व नहीं होगा। अगर दूसरे लोगों का व्यक्तित्व सीधे मेरी संकल्पना के बदलने पर निर्भर है, अथवा दूसरे शब्दों में नागरिक की हैसियत से उनके अधिकार मेरे इस अकेले अधिकार का मुँह जोहते हैं, तो स्पष्ट है कि जल्दी ही उनका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं रह जायेगा। इस पृष्ठभूमि में, किसी व्यक्ति को उससे अधिक सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं जो उनके मनोवेगों के समुचित परितोष के लिए आवश्यक हों। उस हद से आगे समुदाय के हित में वह अपने व्यक्तित्व का योगदान नहीं करता, अपनी संपत्ति के स्वत्व का करता है। उसका पथ-दर्शन उसके अपने नहीं, संपत्ति के हितों द्वारा होने लगता है। वह अपना सर्वोत्कृष्ट स्वरूप पाने के लिए प्रयत्न नहीं करेगा, वरन् अपनी संपत्ति की मार्फ़त ऐसा प्रभाव अर्जित करना चाहेगा जिससे वह और भी सुरक्षित हो जाये। इसके अपवाद ज़रूर हैं और अरस्तू ने जिन रक्षा-उपकरणों की सिफ़ारिश[2] की थी, उनके महत्व

---

१. देखिये—जोजफ चैले—एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोबलम्स आफ ब्रिटिश इंडिया—पृष्ठ ४४२।

दूसरे दृष्टिकोण के लिए तु० आर. एन. गिलक्राइस्ट—दी सेपरेशन आफ़ पावर्स, १९२५।

२. पालिटिक्स, २—५ और तु. न. ईथिक्स—८. १. (१)

का जितना विश्लेषण हुआ है, उससे कहीं अधिक होना चाहिए। लेकिन अधिकारों की आम प्रणाली में उपार्जन के मनोवेग के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है, उसमें आवश्यक रूप से किसी स्तर की अपेक्षा नहीं होती—उपार्जन का उत्साह ही उसकी सीमा होती है। उसकी प्रतिष्ठा उसके अंगीभूत व्यक्ति के कार्य की पृष्ठभूमि में होती है।

—४—

इस प्रकार लैस होने पर नागरिक कम से कम आत्म-सिद्धि की प्रत्याशा लेकर राज्य के सम्मुख आ सकता है परन्तु इन अधिकारों को अनिवार्य भर मान लेना एक बात है, उनकी क्रियान्विति की व्यवस्था करना बिल्कुल दूसरी बात और इससे ही समुदाय में राज्य की स्थिति की मुख्य समस्या पैदा होती है। क़ानूनी तौर पर तो इस बातसे कोई इनकार ही नहीं कर सकता कि आदमियों के किसी भी संगठन में कोई न कोई ऐसा निकाय होना चाहिए जो स्वीकार किये हुए आम नियमों का पालन कराये। जैसा उपर्युक्त विवेचन द्वारा दिग्दर्शित किया गया है, उन नियमों का संबंध समुदाय के सदस्यों के लिए सभ्यता के एक कम से कम स्तर की प्रतिष्ठा करने से है। वे उन्हें जीने की कला के प्रति सचेत करने का प्रयास करते हैं। पर यह कहना एक बात हुई कि आम नियमों का परिपालन कराने वाले एक निकाय का होना जरूरी है और यह कहना बिल्कुल दूसरी बात हुई कि वह निकाय राज्य ही है। व्यावहारिक प्रशासनकी दृष्टि से सरकार ही राज्य है—जैसे इंगलैण्ड में दैनिक कृत्योंके लिए संसदस्थ बादशाह ही राज्य होता है। अगर उसे विधिके अनुसार अपने कृत्य संपन्न करने हों तो उसका आधार यही होना चाहिए कि वह निरन्तर अधिकारों की सिद्धि की ओर अग्रसर हो। वह उन परिस्थितियों का निर्धारण करता है जिनमें अन्य संथाएँ क्रियाशील हो सकती हैं क्योंकि उसका लक्ष्य, उन संस्थाओं के माध्यम से, नागरिक को अपना यथासंभव उन्नयन करने का अवसर देना होता है। वह अमर्यादित शक्ति का प्रयोग नहीं करता—एक निश्चित कर्तव्य की परिधि में आबद्ध शक्ति का ही वह प्रयोग करता है। वह उस धरातल की रक्षा करता है, जिस पर लोगों के हित—और इसलिए उनके अधिकार भी—स्थूलतः समान होते हैं। उसी साध्य के लिए वह दूसरे वर्गों की कार्यवाहियों को समन्वित करता है।

इस पहलू से देखें तो जो राज्य दृष्टिगोचर होता है उसका समुदाय से अभेद नहीं। यह जो राज्य है वह, उदाहरणार्थ, रोमन कैथोलिक चर्च को विधर्मिता के लिए किसी को मौत के घाट उतारने से रोक सकता है वह रोमन कैथोलिक चर्च को पोप की अच्युतता के मताग्रह को छोड़ने पर विवश नहीं कर सकता। वह जोन्स को अपने बच्चों की शिक्षा के सिलसिले में इस विश्वास पर अमल करने से रोक सकता है कि अज्ञान बड़ी नियामत है पर वह अपने सदस्यों के किसी भाग या वर्ग को खर्च आदि के या किसी और आधार पर शिक्षा देने से इन्कार नहीं कर सकता। वह ऐसा विधान नहीं बना सकता कि अपने सदस्यों के लिए —प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से—काम या निर्वाह-वृत्ति की व्यवस्था करनेकी जिम्मेदारी से अपने आप को बरी कर ले। वह तब तक किसी संस्था की कार्यवाहियों पर आक्षेप या आक्रमण नहीं कर सकता जब तक वह किसी न्यायालय में यह साबित न कर सके कि वे कार्यवाहियाँ अधिकारों की उस प्रणाली के नितान्त प्रतिकूल हैं जिसका पोषण करना उसका काम है। समुदाय में राज्य भी अन्य संस्थाओं

की तरह एक कार्य विशेष की पूर्ति करता है—उस कार्य के स्वरूप के अनुसार ही उसकी शक्तियाँ नियत होती हैं। अतः वह समाज में आरक्षित-शक्ति नहीं है। उसकी संकल्पना (जिसका व्यवहारतः मतलब होता है केन्द्रीय विधान-मण्डल की संकल्पना) विशेष या अन्योपरि अधिकार से समावेशित संकल्पना नहीं होती। अतः मैंने अधिकारों की जिस प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत की है वैसी किसी प्रणाली को लागू करने से पहले बड़ी सावधानी से उन शर्तों की आयोजना कर लेना ज़रूरी है जिनके अधीन राज्य-सत्ता का प्रयोग होता है।

ये शर्तें आम तौर से तीन होती हैं। राज्य विकेन्द्रीकृत राज्य होना चाहिये। जो अवयव शक्ति के अधिष्ठाता होते हैं, वे राजनीतिक संघटना में एक ही जगह केन्द्रित नहीं होने चाहियें। स्थानीय बातों पर स्थानीय नियंत्रण ही होना चाहिये। केन्द्र की ओर से निरीक्षण भले ही होता रहे लेकिन, मिसाल के लिए, जिन समस्याओं के नतीजों का सम्बन्ध मुख्यतः लंकाशायर से है—जैसे वहाँ कला-वीथि की स्थापना हो या नहीं—उनका फ़ैसला भी वहीं होना चाहिये, वाइटहाल में नहीं। और यह भी आवश्यक है कि स्थानीय सत्ता की शक्ति का स्वरूप सामान्य होगा, वह केन्द्रीय सरकार की निर्दिष्ट प्रत्यायुक्ति द्वारा सीमित नहीं होगी। मिसाल के लिए अगर लन्दन काउण्टी कौंसिल अपने स्कूलों के बच्चों को शेक्सपीयर के नाटक दिखाने के लिए ले जाने पर पैसा ख़र्च करना चाहती हो, तो उसका अपना संकल्प वैसा करने के लिए पर्याप्त क़ानूनी अधिकार होना चाहिये। उधर, स्थानीय सत्ता का प्रयोग उस क्षेत्र को भी आक्रान्त न करे जो स्पष्टतः ही केन्द्र का हो—उदाहरणार्थ, क़ानून के अधीन विष माने जाने वाले पदार्थों की समेकित सूची वाइटहाल में ही तैयार की जानी चाहिये—एबरडीन और अबेरिस्विथ में अलग-अलग नहीं। लेकिन विकेन्द्रीकरण का अप्रतिम गुण यह है कि वह न सिर्फ़ विविध वस्तुओं पर एक-से समाधान को लागू होने से रोकता है वरन् प्रशासन-कार्य के केन्द्रों की संख्या बढ़ा कर सरकार के उत्तरदायी कार्य में अधिकाधिक हिस्सा लिया जाना सम्भव बनाता है। दूसरे शब्दों में, उत्तरदायित्व शक्ति के प्रयोग में निश्चित हिस्सा लेने से उद्भूत होता है। अधिकार-प्रणाली को ख़तरे में डाले बिना अगर शक्ति का विकिरण हो सकता हो तो उसे एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करना सत्ता के दुरुपयोग का द्वार खोलना है। और यह याद रखने की बात है कि अगर सत्ता निरन्तर चारों ओर से अंकुशों से घिरी न रहे तो शक्ति का दुरुपयोग करना तो उसका स्वभाव ही होता है।

दूसरे, विशेषतः केन्द्रीय सरकार को ऐसे निकायों से घिरा रखना ज़रूरी है जिनसे उसे विवश परामर्श करना पड़े। इसका मतलब कार्यांग द्वारा विधान सभा से परामर्श लिया जाना भर नहीं है। इसका मतलब उन सभी हितों से संगठित और पूर्व परामर्श है जिन पर किसी प्रस्तावित फ़ैसले का असर पड़ता हो। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई सरकार अध्यापकों के वेतन में फेरबदल करना चाहती है, तो उसे सबसे पहले अपने सुझाव जाँच के लिए उन अध्यापकों के किसी प्रतिनिधि निकाय के सामने रखने चाहियें। यह भी बहुत ही ज़रूरी है कि यह परामर्श विशेषोन्मुख नहीं होना चाहिये। कार्यांग सतर्कता [illegible] पक्षपाती प्रतिनिधियों का चुनाव करके हमेशा ही पक्षपातपूर्ण विचार की अभिव्यक्ति

करा सकता है। परामर्श का मतलब है सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा नामज़द किये हुए प्रतिनिधियों की राय जानना। जैसे, अगर सरकार किसी संरक्षण-शुल्क की वांछनीयता की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाना चाहती हो, तो सूती कपड़ा उद्योग का प्रतिनिधि स्वयं उद्योग द्वारा चुना जाना चाहिये —सरकार द्वारा सिर्फ़ इसी आधार पर नामज़द नहीं किया जाना चाहिये कि वह शुल्क-सुधार का हिमायती है। अगर कोई लेबर-सरकार समग्र-पूँजी शुल्क के किसी सुझाव की जाँच करना चाहती हो तो उसे कोई ऐसा अधिकोषक (बैंकर) नहीं छाँट लेना चाहिये जो पहले से ही उसके पक्ष में हो बल्कि इंस्टीट्यूट आफ़ बैंकर्स (अधिकोषक संस्थान) से अपने प्रतिनिधि का नाम सुझाने के लिए कहना चाहिये। और परामर्श का परिणाम है—काम के किसी न किसी स्तर पर प्रचार। अगर सरकार किसी नीति पर अमल शुरू करती है तो उसे उस नीति को परखने के साधन भी जुटाने चाहियें। व्यवस्थित जाँच के द्वारा वह जो सम्मतियाँ उपलब्ध करती है, उनका इस साध्य के लिए मौलिक महत्त्व है। अगर उसे अपने नागरिकों की विवेकपर मति को अपने अनुकूल बनाना हो तो उसने जो साक्ष्य इकट्ठे किये हों, या जो तथ्य उसके अधिकार में हों उन्हें वह अपनी प्रजा के सामने पेश करने से भी इन्कार नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त, उसकी शक्तियों के उचित नियंत्रण के लिए दूसरी संथाओं के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप करने की उसकी सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाना भी उतना ही अनिवार्य है। उस शक्ति के चारों ओर इस सिद्धांत का घेरा होना चाहिये कि हस्तक्षेप का आधार उस संथा द्वारा नागरिकता के किसी अनिवार्य अधिकार का अतिक्रमण है। अवैध हस्तक्षेप के सबसे अच्छे उदाहरण राज्य और चर्च के सम्बन्धो के क्षेत्र से लिये जा सकते हैं। राज्य को कभी यह क्षमता न होनी चाहिये कि वह धर्म-सिद्धांतों के निपटारे में दख़ल दे। धर्म-निरपेक्ष अदालतों को धर्म-न्यासों की व्याख्या करने की क्षमता से सम्पन्न नहीं किया जाना चाहिये। इसके फलस्वरूप वकीलों द्वारा हमेशा धर्मों को संयुक्त हिताधायियों[1] का निकाय बना लेने का और उसके सदस्यों को अपनी राय बदलने की शक्ति से विहीन कर देने का प्रयास हुआ है। धर्म कभी भी कुछ विशेष सिद्धांतों की उपासना में अपरिवर्तनीय संविदा द्वारा बँधे हुए लोगों का निकाय नहीं होता, उसके प्रयोजन अपने सदस्यों के मत और संकल्पना में मूर्तिमन्त रहते हैं। अगर वे बदलते हैं तो प्रयोजन भी बदलता है और सिद्धांत को अवलम्ब देने वाली सम्पत्ति का निपटारा करना स्पष्ट और निर्भ्रान्त रूप से धर्म के विहित अधिकारियों का काम है। यह बात, कम से कम जहाँ तक मृत व्यक्ति की सम्पत्ति से सम्बन्ध है, बिल्कुल स्पष्ट है, अंग्रेज़ी अदालतों ने जैसे फ़सले दिये हैं वैसे फ़ैसले देने का मतलब तो धर्म को मूल स्वामित्व-प्रलेखों की चारदीवारी से बाहर निकलने का अधिकार न देना है। औद्योगिक निकायों पर भी यही बात लागू होती है। अगर संघ अपनी निधि अपने सदस्यों को राजनीतिक विधान-मंडलों में रखने पर ख़र्च

---

१. देखिये—फ़्री चर्च आफ़ स्काटलैंड केस रिपोर्ट पृ. २२३; और समग्र प्रश्न पर देखिये कैनेडियन ला टाइम्स जिल्द ३६ पृष्ठ १९०) में धर्म-न्यासों की अन्वर्थक व्याख्या पर मेरा लेख।

करना चाहें तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। संथाओं का कोई काम तब तक शक्ति-परस्तात् नहीं हो सकता जब तक कि जो कुछ वे करतीं है वह स्पष्ट रूप से उनका अपना काम हो और उन अधिकारों पर कोई असर न पड़ता हो जिनकी रक्षा राज्य को करनी होती है, और इस प्रश्न का उत्तर कि संथा का कार्य क्या है, सैद्धांतिक प्रयोजनों की जाँच-परख करके नहीं वरन् उस अवयव के अवेक्षण द्वारा दिया जाना चाहिये जिसमें उसके नाम पर कार्य करने की क्षमता होती है।[1]

— ५ —

यहाँ हमारे सामने एक ऐसी समस्या आती है जो राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में किसी भी अन्य समस्या से कम कठिन नहीं। मैं कह चुका हूँ कि सरकार अपने सेव्य प्रयोजनों द्वारा मर्यादित होती है। उन प्रयोजनों के परे जाने का उसे कोई नैतिक अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिए, वाक्-स्वातन्त्र्य के अधिकार को आक्रान्त करने का उसे हक़ नहीं, 'उस मालिक को बचानेका हक़ नहीं जो कामगारों से रोज़ बेहद अधिक वक्त काम लेता है। लेकिन उसके कृत्यों की—चाहे वे भावात्मक हों या अभावात्मक—जाँच-परख कैसे हो? क्या अमरीका की तरह इसका उपचार यह है कि लिखित संविधान में तद्विषयक आधारभूत नियमों का पहले से ही भावन कर लिया जाय और शक्ति के अस्थायी धारकों के लिए उसमें परिवर्तन करना मुश्किल कर दिया जाये? आस्ट्रेलिया और अमरीका की तरह तरह क्या न्यायांग को सांविधानिक अधिकार का अभिभावक बनाना और उन्हीं देशों की तरह उसे यह अधिकार प्रदान करना जरूरी है कि उसका उल्लंघन करने वाले विधानांग के अधिनियमों को रद्द कर दे? या इसका श्री कोल वाला समाधान ही ठीक है जो शायद दबावक क्षेत्राधिकार के प्रयोग के लिए कोई विशेष अवयव बनाना पसन्द करेंगे और उसमें किसी न किसी तरह राज्य के अतिरिक्त अन्य करणों के प्रतिनिधियों को भी जगह देंगे।

लार्ड ब्राइस ने जिन्हें 'नम्य' और 'अनम्य' संविधानों की संज्ञाओं से अभिहित किया है उनके गुणों की आपस में तुलना करने का प्रयास असम्भव है। गुणों का सन्तुलन हमेशा राज्य-परिपाटी के उन तत्त्वों पर निर्भर होता है जो अन्यत्र लागू नहीं होते। अनम्य संरचनाओं के बहुत बड़े फ़ायदे हैं। उनके फलस्वरूप हम विधानांग की शक्ति की सही-सही सीमायें निर्धारित कर सकते हैं। उनके कारण जनमत के किसी आकस्मिक झोंके से वह चीज़ पलटने से बच सकती है जिसे, दूर की बात सोचें तो, बनाये रखना महत्त्वपूर्ण होता है। उनके कारण जन-सामान्य संस्थाओं के स्वरूप को आसानी से पहचान लेते हैं वे निर्भ्रांत ढंग से मौलिक महत्व की चीज़ों पर ज़ोर देते[2] और जब निर्णायक महत्व की वस्तु पर गम्भीर हमला भी हो—जैसे अमरीकी संविधान के आठवें संशोधन द्वारा—तो उसके आवश्यक

---

१. मैं समझता हूँ इस सिद्धांत से उत्पन्न अल्पसंख्यक-अधिकारों की समस्या को चर्च अपने संविधान में यह व्यवस्था करके आसानी से सुरक्षण प्रदान कर सकते हैं कि सैद्धांतिक विच्छेद होने की अवस्था में उन्हें चर्च की सम्पत्ति में आनुपातिक हिस्सा पाने का अधिकार होगा।

२. ब्राइस की स्तुत्य टिप्पणियाँ देखिये—स्टडीज़ इन हिस्ट्री एण्ड जूरिसप्रूडेंस।

समझे जाने के तथ्य के कारण एक तो उस हमले का दबाव उससे कम हो जाता है जितना शायद अन्यथा होता और दूसरे उसके हिमायतियों को पावनता की दलील पेश करने के लिए परम्परा में महत्त्वपूर्ण आधार मिल जाता है।

परन्तु यथार्थ ऐतिहासिक अनुभव में लिखित संविधान द्वारा दिये गये सुरक्षण उतने सीधे और सरल होते नहीं जितने प्रतीत होते हैं। एक युग में जो चीज़ें आधारभूत प्रतीत होती हैं, वे ही दूसरे में अनावश्यक लगने लगती हैं लेकिन संविधान में उनका प्रतिष्ठित होना कदाचित् एक वांछनीय परिवर्तन के लिये घोर बाधा बन जाता है। दूसरे, संविधान की व्याख्या की ज़रूरत पड़ती है। अगर फ्रांस और बेल्जियम की तरह वह काम विधानांग पर छोड़ दिया जाय तो उसका मतलब हुआ शक्ति के धारकों के हाथ में ही उसे सौंप देना। अगर अमरीका की तरह वह काम न्यायांग पर छोड़ दिया जाय तो नौ मेंसे पाँच जजों का संविधान पर यथार्थ नियंत्रण हो जाता है और एक भी जज के मर जाने का मतलब व्याख्या का पूरा सन्तुलन ही बदल जाना होता है। पहले और चौदहवें संशोधन के अर्थ के बारे में अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय में बड़े आश्चर्यजनक मतभेद रहे हैं और न्यून-तम वेतन क़ानून को अमल में लाने से रोकने में चौदहवें संशोधन का उपयोग इस बात को साबित करता है कि एक ऐसी स्थिति होती है जब न्यायिक व्याख्या का अर्थ, वास्तव में, राजनीतिक ज्ञापना[1] ही होता है। संक्षेप में, अमरीकी प्रणाली का सार तो यह है कि विधान की रीति उन लोगों के चारित्र्य पर निर्भर है जिनकी सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्ति होती है।

इस सब का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि नम्य संविधान प्रणाली की गम्भीर आलोचना नहीं हो सकती। अगर हम ब्रिटिश संविधान को नम्यता का मुख्य—आजकल प्रायः एकमात्र—उदाहरण माने तो कुछ विशेष बातें स्वतः उभरती हैं। अंग्रेज़ी संविधान की नींव है संसद की असीमित प्रभुता। उसमें आधारभूत क़ानूनों जैसी कोई चीज़ नहीं। राजगद्दी के उत्तराधिकार को नियंत्रित करने वाली संविधियाँ भी उसी तरह बदली जाती हैं जैसे मादक पेय की बिक्री को नियमित करने वाली संविधियाँ। अतः निष्कर्ष यह कि राज्य-सरकार की शक्ति पर लगे प्रतिबन्धों को एक ही नज़र में नहीं समझा जा सकता। कभी वे बन्दी-प्रत्यक्षीकरण अधिनियम की भाँति किसी संविधि में सन्निहित रहते हैं, कभी एण्टिक बनाम कैरिंगटन की तरह किसी अदालती फ़ैसले में। कहने का तात्पर्य यह कि अनम्य संविधान में निर्देश का एक ही केन्द्र न होने से सत्ता के अर्थ का ग्रहण कठिन कार्य हो जाता है। उसमें अधिकारों की आदर्श प्रणाली का निर्वहण—यह हम हम मान लेते हैं कि राज्य में ऐसी प्रणाली अन्तर्भूत है—समुदाय में दो में से किसी एक शर्त के पूरी होने पर निर्भर है।[2]राजनीतिक शक्ति किसी अल्पसंख्यक वर्ग के हाथ में हो जो शिक्षित भी हो और ईमानदार भी; सर्वोपरि शक्ति अपने हाथ में रखते हुए भी नाग-रिक ऐसे शासन चुन पायें जिनमें राज्य के सैद्धांतिक साध्य को प्राप्त करने की उत्कण्ठा

---

१. तु० कार्डोजो-यथोक्त; ब्रुक्स एडम—सैण्ट्रैलाइजेशन एण्ड दी लॉ।

२. ब्राइस—पूर्वोद्धत कृति, पृ. १६०

हो। यथार्थ में, ब्रिटेन में अधिकांशतः इनमें से दूसरी शर्त ही अभी अमल में लाई जा सकती है।

परन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है इसमें जिस तरह की शक्ति का मन्तव्य है वह भावात्मक संस्थाओं के कतई परे की बात है यद्यपि भावात्मक संस्थायें महत्वपूर्ण हो सकती हैं। शासक किस कोटि के हैं—यह बात राष्ट्र के सामान्य सामाजिक चारित्र्य पर ही हमेशा निर्भर होती है; और हम चाहे जैसे प्रतिबन्धों और सन्तुलनों का आविष्कार कर लें, उस चारित्र्य का निश्चय समुदाय की समस्त शक्तियों के दबाव से ही होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो राज्य में उसका समग्र परिवेश ही प्रतिबिम्बित होता है, उस परिवेश का कोई खास हिस्सा नहीं। सत्ता सीमित करने के साधन और उपाय ढूंढ निकालना आसान है, साध्य प्रयोजन के रूप में भव्य आदर्शों की कल्पना कर लेना तो और भी सहज है—जैसे जर्मन राष्ट्रमण्डल के नय संविधान में। लेकिन चाहे कितनी ही संस्थायें बना ली जायें, उस प्रयोजन की सिद्धि तब तक सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि आम आदमी इतना शिक्षित न हो कि उसका अर्थ समझ सके और तब उसे अमल में ला सके और साथ ही जब तक समुदाय में आर्थिक शक्ति की प्रायः समानता न हो। अगर ये परिस्थितियाँ आम तौर से पायी जाती हैं तो अधिकार-प्रणाली के कार्य-रूप में परिणत होने की भी सम्भावना हो सकती है। उनके बिना कोई भी विध्यात्मक अधिकार संस्थाओं का रूप पाकर सुरक्षित नहीं हो सकते। मिसाल के लिए हम उद्योग में स्वशासन को ऐसा स्वरूप नहीं दे सकते कि वह संविधियों की कसौटी की तरह प्रयुक्त किया जाने वाला अधिकार बन जाये। काम करने के अधिकार जैसे किसी अधिकारसे भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। उनके संरक्षण की व्यवस्था हमें राज्य में नहीं खोजनी चाहिए वरन्, जैसा मैं बाद में दिखाऊँगा, उस दबाव में खोजनी चाहिए जो अन्य संस्थाओं द्वारा राज्य पर डाला जाता है।

पर, यह बात उन अधिकारों के मामले में सही नहीं जिनका सार-तत्त्व रूपरेखा में ही गर्भित होता है, विस्तार में नहीं। हम मतदान और वाक्-स्वातन्त्र्य आदि के अधिकारों का सुरक्षण कर सकते हैं—कम से कम उस वक्त तक तो कर ही सकते हैं जब तक कि क्रांति की घटना सब अधिकारों को अस्थायी रूप से निष्क्रिय नहीं कर देती। १६७९ के बन्दी-प्रत्यक्षीकरण-अधिनियम को ले लीजिए। हर कोई मानता है कि संविधि-पुस्तक में उसकी मौजूदगी त्रास के ऐसे उफान के प्रति मुख्य संरक्षण है जैसा कि पिट फ्रांसीसी ने क्रांति में प्रदर्शित किया था। इस तरह की विशेष महत्वपूर्ण संविधियाँ बनाना सम्भव है—विशष कार्यविधि द्वारा उनका विलम्बन किया जा सकता है: वे चाहे भले ही इतने अधिक बहुमत द्वारा सम्पन्न हो सकते हों जितना कि अब अमरीका की सैनिट द्वारा संधियों के लिये अपेक्षित है। उनके पास होने और लागू होने के बीच कुछ अनिवार्य देरी भी लग सकती है। अगर वे पास हो जायें तो उनसे पैदा होनेवाली समस्याओं को निपटाने के लिए एक विशेष प्रशासकीय अदालत बनाई जा सकती है। इन अधिकारों को आक्रान्त करने का दण्ड इस प्रकार निर्धारित किया जाय कि क्षतिपूर्ति भर कर पिण्ड छुड़ा लेने की आदत पर चलना कार्यांग के लिए अत्यन्त कठिन हो जाय। मैं नही समझता कि जन-निर्देश से इस मामले में कोई खास सहायता मिल सकती है। राज्य के नियंत्रक हितों को जो साधन

मुहय्या होते हैं, उनके कारण कार्यांग के एलानों से औसत जनता के घबरा जाने और सहम जाने की बहुत ही सम्भावना होती है। असली ज़रूरत दो चीज़ों की है। एक ऐसा अन्तराल होना चाहिये जिसमें सत्ता की आलोचना की सुनवाई हो ही जाय। इस बात का आश्वासन होना चाहिये कि विधान-सभा में बहुमत होना भर शक्ति के दुरुपयोग का आधार नहीं है। इन प्रतिबन्धों के अलावा दुरुपयोग के विरुद्ध मुख्य सुरक्षण हैं लोक-शिक्षा के स्तर विशेष द्वारा जनित संयम-भावना एवं अधिकारों के अन्याय्य अतिक्रमण के ख़िलाफ़ राज्य से इतर संगठित दलों की कारगर विरोध-शक्ति।

श्री कोल ने जिस मत पर ज़ोर दिया है उसकी भी अपनी आकर्षकता है। सम्प्राप्य आदर्श के रूप में राज्य मे एक समेकित हित की कल्पना कर लेना एक बात है पर आधुनिक राज्य उस समेकित हित का ही प्रतिनिधित्व करते है—यह मान लेना बिल्कुल दूसरी बात ही नही है, यथार्थ में निराधार भी है। जीवन की लब्धियों में लोगों को जो हिस्से मिलते हैं उनमें जब तक इतनी व्यापक विषमता रहेगी तब तक तो स्पष्ट ही हित का मौलिक असामंजस्य होगा; और आधुनिक राज्य की विधि-संस्थाये—ख़ास तौर से उसके सम्पत्ति-विषयक क़ानून—तो लगता है मानो इस असामंजस्य को बढ़ाने के लिए ही बनाये गये हैं। अतः श्री कोल की तरह यह चाहना स्वाभाविक है कि समुदाय की दबाव-शक्ति का प्रयोग करने वाला कोई अवयव हो जो राजनीतिक संस्थाओं में उसके विधितः केन्द्रण को रोके। मैं श्री कोल से सहमत हूँ कि सामाजिक विकास के मौजूदा अवस्थान में दबाव डालने की शक्ति का केन्द्रण निश्चय ही राज्य के रूपान्तरण में बाधा का काम करेगा। मै यह भी मानता हूँ कि आज राज्य का जो स्वरूप है वह एक ऐसी संस्था का नहीं जो दावा कर सके कि वह अपने सदस्यों के हितों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करती है। खरी बात तो यह है कि उसके पलड़े अमीरों के पक्ष में और गरीबों के प्रतिकूल झुके हुए हैं।

लेकिन मैं यह नहीं समझता कि 'समाज के मुख्य कार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले सर्वोच्च निकायों की संयुक्त सभा,'[1] वास्तव में हमारी समस्या को सुलझा सकेगी क्योंकि असली समस्या किसी ऐसे अधिकरण का काग़ज़ पर निर्माण भर कर लेने की नहीं है बल्कि उन कार्यों में सन्तुलन करने की है जिनसे उसकी संघटना होती है। खानें खोदना एक अनिवार्य कार्य है; इसी तरह चिकित्सा का कार्य भी। हम यह फ़ैसला कैसे करेंगे कि ऐसी सभा में इनमें से हर एक के कितने कितने सदस्य हों। अपने पास-पड़ौस के लोगों के बीच उन्हीं से सम्बद्ध होने के नाते आदमियों के जो हित हैं—जैसे जल-निकास की किसी कारगर व्यवस्था के लिए प्रयत्न करने वाले लोगों के—उनका सन्तुलन उन हितों से कैसे किया जायगा जो अपने पड़ौसियों के बीच और उनसे अलग विभिन्न व्यवसायों के सदस्य होने के नाते उन्हीं लोगों के हित होते हैं? जैसा मैंने पहले कहा यह असम्भव प्रयास होगा। इसका मतलब यह होगा कि आदमी के उस पहलू को समन्वय का आधार माना जाय जिसमें उपभोक्ता की हैसियत से उसकी ज़रूरतें प्रायः अपने सहचारियों से मिलती-जुलती होती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उस पहलू को इस दृष्टि से प्राधान्य प्राप्त है कि उसके प्रति

---

१. सोशल थियरी—पृष्ठ १३५

विशेष निष्ठा अपेक्षित है। इसका यह अर्थ नहीं मानो आदमी के विभिन्न कार्यों के बीच अनिवार्यतः विवाचन करने की शक्ति से वह सम्पन्न है। इसका सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि अगर आवश्यक सुरक्षण प्राप्त हों तो, सुविधा की दृष्टि से, समुदाय के आम नियमों के परिपालन का प्रबन्ध किसी जटिल संस्था की अपेक्षा किसी सरल संस्था द्वारा शायद अच्छी तरह हो सकता है।

सच तो यह है कि श्री कोल का जो लक्ष्य है—सत्ता का व्यापक विकिरण—वह जितना श्री कोल मानने को तैयार हैं उससे कहीं आसान ढंग से सिद्ध हो सकता है। अभिलेख का अधिकरण विधान सभा ही बनी रह सकती है। उसकी शक्ति कम कर दी जायगी —(१) प्रादेशिक और कारणिक विकेन्द्रीकरण द्वारा; (२) उसके चारों ओर अनिवार्य और पूर्व-परामर्श के अधिकरण बनाकर। (३) ऐसी व्यवस्था करके कि वाक्-स्वातन्त्र्य आदि अधिकारों को आक्रान्त करना बड़ा दुरूह कार्य हो जाये। समुचित शिक्षा-प्रणाली और बदली हुई सम्पत्ति प्रणाली की पृष्ठभूमि में इनके द्वारा प्रवृत्त अधिकारों के लिए इतनी पूर्ण प्रतिभूति मिल जाती है जितनी भावात्मक संस्थाओं के द्वारा इन के क्रियान्वय की आशा हो सकती है। प्रादेशिक सिद्धांत की मौजूदा विकृति को रोकने की चिन्ता में उसमें निहित स्पष्ट प्रशासन-सुविधाओं का समर्पण कर देना ज़रूरी नहीं है। आवश्यक यही है कि प्रादेशिक एकता काम करने की स्वतन्त्रता और वैयक्तिक स्वाधीनता को न मार दे। दबाव डालने की शक्ति घटा देने भर से ही राज्य उत्तरदायी नहीं हो जाता। पर यह समस्या अब भी ज्यों की त्यों रह जाती है कि दबाव डालने की शक्ति का प्रयोग किस सिद्धांत के आधार पर किया जायेगा। इस सिद्धांत की अलग-अलग व्याख्यायें हो सकती हैं और ऐसी पार्टियाँ भी खड़ी हो सकती हैं जो इसके अत्यन्त प्रतिकूल विचारों का समर्थन करेंगी। मैं समझता हूँ यह बात महत्व की है कि इस प्रश्न पर श्री कोल के तर्कों और युक्तियों में कहीं भी पार्टी की समस्या का कोई निर्देश नहीं किया गया और मेरे विचार में इसके कारण की खोज हमें इस तथ्य में करनी चाहिये कि उनकी स्थापना सरलता और सुबोधता के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण गुणों से युक्त निर्वाचन-योजना के लिये अगम है। राज्य को उत्तरदायी बनाया जाता है उसकी समन्वय-शक्ति को न्याय की धारणाओं से अवगत करा के। सामुदायिक संश्लेष की संघटना करने वाले हितों के लिये सीधे उपगम्य बनाकर उसमें राज्य को अपनी भूमिका पूरी करने का अवसर दिया जाता है। तब वह अनेक के स्वरूप से प्रतिभासित होने वाली इकाई बन जाती है क्योंकि अनेक उससे तदात्म होकर उसे रूपान्तरित कर देते हैं।

इतना सब-कुछ सिर्फ़ इस बात पर ज़ोर देने के लिए कहा गया कि—जैसा कि एलेक्ज़ैण्डर हैमिल्टन ने कहा था—किसी समुचित सिद्धांत के उपादान मानव-स्वभाव में ही पाये जा सकते हैं। शायद हमें यह मान लेना चाहिये कि हमारी सर्वश्रेष्ठ योजनायें भी प्रत्याशित लाभप्रद नतीजों की बहुत थोड़े अंशों में ही निष्पत्ति कर सकती हैं। यह भी हमारा आग्रह होना चाहिये कि मौजूदा प्रणाली को बदलने की कोशिशों में नये-नये तत्त्वों का समावेश होगा जिनमें ऐसे समंजन करने पड़ेंगे जिनका पहले से कोई आभास नहीं हो सकता। लेकिन, कम से कम, निकट भविष्य के लिए तो यह बात स्पष्ट ही प्रतीत होती है

सम्बन्ध नहीं। वह ऐसी प्रणालियों में उत्पादन का प्रवाह मोड़ दे सकते है जो मात्र बरबादी के लिए ही उल्लेखनीय हों। वे स्थिति पर इतने हावी हो सकते हैं कि चाहे जैसी ख़बरें प्रकाशित हों, वे राजनीतिक संस्थाओं के कार्य-कलाप को अपने उद्देश्य साधने के लिए प्रभावित कर सकते है। वह समुदाय की आर्थिक शक्ति को इस ढंग से लगा बिठा सकते हैं कि वह उनके लिए विशनाशकारी हो जिनके पास अपने श्रम के सिवा और कुछ बेचने को नहीं है। उदाहरणार्थ फ्रांस के लौह-उद्योगपतियों की यह चाह कि वह यूरोप के भारी उद्योगों को अपने अधीन कर लें, आगामी पीढ़ी को युद्ध के मैदानों में मरने के लिए झोंक सकती है। जहां पर सम्पत्ति की दृष्टि से बड़ी असमानतायें हैं, वहां सदैव ही व्यवहार में भी असमानतायें होंगी। राजनीतिक प्रक्रिया के परिणामों में आदमी के समान हितों को तभी मान्यता मिल सकती है जब कि कोई भी ऐसा आदमी नही जो अपनी धन-सम्पत्ति के कारण घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित न कर सके। इसका सबसे निश्चित मार्ग है धन-सम्पत्ति की ऐसी असमानता का तिरोभाव जिसके कारण सम्पत्तिशाली लोग शक्ति के साधनों को अन्यायपूर्वक जैसे चाहें ढाल लें।

मोटे तौर पर मेरा कहना यह है कि सम्पत्ति की घोर असमानतायें स्वतंत्रता की प्राप्ति को असंभव कर देती हैं। इसका अर्थ है उन लोगों की शारीरिक और मानसिक परिस्थितियों को मनमाने ढंग पर चलाना जो वैसे भाग्यशाली नहीं हैं। इसका अर्थ हैं सरकार के साधनों और शक्तियों का उनके अहित में नियंत्रण। बड़े निगमों का अमेरिका की विधान-प्रणाली पर प्रभाव इस प्रकार के नियंत्रण का बड़ा उदाहरण है। जिस बौद्धिक वातावरण का सामना इन्हें करना पड़ता है उस पर नियंत्रण पाने के लिए जो तरीके ये अपनाते हैं वह भी कम हानिकारक नहीं। यह शिक्षा-प्रणाली को अपने हित के अनुकूल ढाल लेते हैं। पारितोषिकादि प्रदान कर ये सम्पत्तिहीन बुद्धिजीवी को अपनी सेवा में जुटा लेने योग्य हो जाते हैं, क्योंकि न्यायांग प्रायः सवेतन एडवोकेटों में से चुना जाता है, इसलिए कानूनी निर्णय भी इन्हीं के अनुभवों को परिलक्षित करेंगे। गिरजाघर भी इसी प्रकार का उपदेश देंगे जिसमें यह झलक होगी कि वे सब धनवानों की सहायता पर निर्भर करते हैं।

इसलिए राजनीतिक समानता तब तक यथार्थ नहीं जब तक वह स्पष्टतः आर्थिक समानता प्रदान नहीं करती; अन्यथा राजनीतिक शक्ति की अनुचर हुये बिना न रहेगी। मुख्यतः इस निर्भरता की स्वीकृति ऐतिहासिक विकास की व्याख्या के कारण है और वह वास्तव में उतनी ही पुरानी है जितनी की वैज्ञानिक राजनीति की उत्पत्ति। अरस्तू ने प्रजातंत्र और गरीबों द्वारा शासन के मध्य अल्पतंत्र और धनिकतंत्र के समीकरण की ओर इशारा किया था। आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए संघर्ष रोमन इतिहास की कुंजी है यही इंग्लैंड के कृषि-सम्बन्धी असंतोष की जड़ में भी है। यह जोन बाल के उपदेशों में है और मोर के युटोपिया (स्वप्न-लोक) में है और है हैरिंग्टन लिखित ओशियाना में। समाजवाद का प्रारंभिक इतिहास बृहद्‌रूप में इस ज्ञान का लेखा-जोखा है कि सम्पत्ति का श्रम-शक्ति के सिवा दूसरे कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाना राज्य के लिए हानिकर है। इसी ज्ञान को मार्क्स ने 'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' में आधुनिक संसार के सबसे शक्तिशाली

राजनीति दर्शन के रूप में आधार बनाया, हालांकि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्य-कारण शृंखला में एक कड़ी पर अधिक जोर देने वाली बात है, पर यह साधारण आदमियों के अनुभवों से बहुत ही घने रूप में सम्बन्धित कड़ी है। यह अपने इस आग्रह में आत्यन्तिक रूप से सही है कि या तो सम्पत्ति राज्य के अधीन हो अन्यथा सम्पत्ति राज्य पर हावी हो जायेगी।

जैसा मेडिसन ने लिखा था,[1] "गुटबन्दी का एक मात्र स्रोत सम्पत्ति है।" परन्तु यह प्रकट है कि आदमियों के मध्य भेदों को आर्थिक सम्पत्ति के द्वन्द्व पर आधारित करना, सुनियोजित राष्ट्रमंडल की संभावनाओं को नष्ट कर देना है। यह तो आदमियों के उन गुणों, ईर्ष्या, अक्खड़पन, घृणा, दंभ को उत्तेजित करना है जो सामाजिक एकता के उत्थान को रोकते हैं। वह उनके दोनों हितों के आधार पर स्थित प्रतियोगिता के स्थान पर उनके अलगाव पर आधारित प्रतियोगिता पर ज़ोर देना है। ज्योंही हम सम्पत्ति की समानता को मान लेते हैं, सामाजिक संगठन के हमारे तरीके हमें आदमियों की ज़रूरतों के सारतत्व को ध्यान में रखते हुए उनका समाधान देने योग्य बना देते हैं। ज्योंही हम सभी के मताधिकार का तर्क मान लेते हैं, हम इस प्रयत्न के प्रति बंध जाते हैं, क्योंकि चरम राजनीतिक शक्ति का नियंत्रण जन साधारण को सौंप देने का अर्थ मोटे तौर पर इस बात को स्वीकार कर लेना है कि राज्य के अधिकारियों का उपयोग अपनी ज़रूरतें पूरी करनेके लिये होना चाहिए। यदि उन्हें संतुष्ट किया जाना है तो उसमें यह सम्मिलित हैं कि सत्ता पर प्रभाव का वितरण इस प्रकार करना है कि जिससे इसके परिणामों से जीवित स्थितियों के समाज के सदस्यों में संतुलन बना रहे। अर्थात् इसका मतलब है कि मुझे अपनी सामाजिक आवश्यकताओं को समाज-कल्याण के साथ इस प्रकार तोलना चाहिए कि उस मूल्यांकन में नागरिक की प्राथमिक ज़रूरतों को बराबर महत्त्व मिले और वह मूल्यांकन तब तक प्रभाव-हीन रहेगा जब तक मेरी शक्ति मेरे व्यक्तित्व का फल न होकर मेरी सम्पत्ति का फल हो।

परन्तु आर्थिक शक्ति में प्रतीयमान समानता का अर्थ सामान्य सम्पत्ति की प्रायः समानता से कहीं अधिक है। इसका मतलब है कि वह सत्ता जो उस शक्ति का प्रयोग करती है प्रजातंत्री शासन संचालन के नियमों के अधीन होनी चाहिए। इसका अर्थ है औद्योगिक संसार में निर्बन्ध और अनुत्तरदायी संकल्पना को भंग करना। इसमें ऐसे सिद्धांतों पर निर्णय आधारित करना सन्निहित है जिनकी व्याख्या की जा सके और यह भी कि उन सिद्धान्तों का उस किसी भी उद्योग से जो सेवा वह प्रदान करना चाहता है क्या संबंध है। एक चिकित्सक की सत्ता जो एक छूत के रोग से ग्रस्त घर को अलग-अलग करने का आदेश दे, समझ में आने वाली बात है, वह अपनी सत्ता को जन-स्वास्थ्य बनाये रखने के प्रसंग से संबंधित किये हुए है। परन्तु एक काम देने वाले की सत्ता एकमात्र स्वार्थ से प्रेरित होने के और किसी भी उद्देश्य से समझ में आनेवाली बात नहीं; उनकी मांगों की जांच-पड़ताल नहीं की जा सकती। वह उस पद से संबंधित उसकी योग्यता से परखी नहीं जा सकता। उनका अपने नौकरों की खुशहाली से भी कोई सम्बन्ध नहीं। यदि एक मेहनतकश अपने मालिक

१. दी फैडरलिस्ट, संख्या १०

द्वारा उत्पादित माल में खोट मिलाने से इन्कार करता है तो उसे निकाला जा सकता है। यदि वह हिसाब किताब में झूठे इन्दराज नहीं करता, उसे दण्ड मिल सकता है भले ही इस हिसाबी गड़बड़ी के कारण सरकारी आय को ही हानि पहुँचती हो, जिसका बोझ एक अंश में वह स्वयं भी वहन करता है। कहने का अर्थ यह है कि संसार में ऐसी सत्ताओं जो जन-प्रसंग से किये जाने वाले निरन्तर कार्यों के फलस्वरूप स्वाभाविक रूप से बढ़ती हैं और उन सत्ताओं में जो वैसे ही निरन्तर व्यक्तिगत और अनुत्तरदायी संकल्पना द्वारा जनित हैं, बहुत बड़ा अन्तर होता है।

यह दूसरे प्रकार की सत्ता समानता की नागरिक उपलक्षणाओं के लिए घातक है। यह औद्योगिक सम्बन्धों को विषाक्त कर देती है। यह मालिक और नौकर की स्थिति ऐसी कर देती है मानों उनके बीच लड़ाई होने ही वाली हो। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह उस स्थान पर तो असहनीय हो जाती है जब कि कोई ऐसा कार्य बीच में हो कि जहां समुदाय के जीवन के लिए सेवा का चालू रहना अत्यन्त आवश्यक हो। कोयला, विद्युत् शक्ति, यातायात, बैंकिंग, गोश्त और घरेलू जिन्सों का संभरण निजी उद्योगों की कृपा पर छोड़ दिया जाना भावी संतति के लिए कल्पना से परे की चीज़ होगी, ठीक उसी तरह जिस तरह आज हम यह सोच ही नहीं सकते कि राज्य की फ़ौजें भी व्यक्तियों के हाथ में सौंप दी जायें। वे उसी प्रकार के कड़े नियमों के अधीन होनी चाहिए जितनी कि दवायें हैं, मात्र इस कारण कि वे राष्ट्रीय जीवन के लिये किसी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि सरकार के सामने सीधे कार्य करने के सिवा और कोई विकल्प नहीं। इसका अर्थ है अनिवार्य उद्योगों के लिये विधान-नियोजन और उद्योगों में भी विधान के संभावित रूपों में इतनी ही विविधता है जितनी कि कहीं और हो सकती है।

किसी अगले अध्याय में इसका विवेचन करूंगा कि किस प्रकार के विधान क्या-क्या उपयोगी रूप ग्रहण कर सकते हैं। यहां पर केवल इस आवश्यकता पर ज़ोर दे देना पर्याप्त है कि उद्योगों में आदमियों के बीच सम्बन्धों में इतनी स्वतंत्रता हो कि निर्णयों के प्रभाव-क्षेत्र में आनेवाली किसी भी संकल्पना को तुच्छ नहीं समझा जायगा। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक संकल्पना को समान महत्व का समझा जायगा; प्रकट है कि सभी मनुष्य समान रूप से आदेश देने के अधिकारी नही। परन्तु इसका यह तात्पर्य अवश्य है कि जो सत्ता का प्रयोग करते हैं उनका पदेन मंत्री की नाईं या श्रमिक संघ कार्यकर्ता की नाईं किसी आदेश की जो वह जारी करते हैं, जवाबदेही के लिये खड़ा किया जा सकता है। यदि मुझे इसका ज्ञान है कि मैं सत्ता के स्रोत तक पहुंच सकता हूं तो मेरी स्वतंत्रता में कोई बाधा नही। एक श्रमिक संघ के सदस्य अपने को "स्वतंत्र" समझते हैं क्योंकि वे उन लोगों द्वारा शासित होते हैं जिन्हें उन्हीं ने चुना है और जो उनके ही प्रति उत्तरदायी हैं। ऐसा उस प्रसंग में नहीं हो सकता जहां सत्ता अपनी प्रकृति से अवैधानिक हो—जसे आधुनिक उद्योग में परिष्ठा की असमानता, परिष्ठा से जनित व्यक्त व्यक्तित्व के हितों से असम्बद्ध होती हैं। मेहनतकश एक ऐसे सोपानतंत्र में फंसता हैं जिसे कोई आध्यात्मिक मान्यता नहीं। विश्वविद्यालय का अध्यापक, डाक्टर, वकील सभी सोपान-तंत्रों में फंसे पड़े हैं, परन्तु ये समानता प्रस्फुटित करते हैं क्योंकि ये

सहयोग द्वारा स्थापित हैं। उनके सदस्य यह अनुभव करते हैं वह अपने क्रियाशील जीवन की परिभाषा मे योगदान देते हैं। हम उद्योग में व्यवसायिक मानक तबतक नहीं प्राप्त कर सकते जबतक हम वहां ऐसे सिद्धान्तों के लिए भी स्थान न निकाल लें जो वर्तमान अनुत्तरदायी एकतंत्र को नष्ट कर दें।

—४—

अब तक मैंने स्वातंत्र्य और समानता की धारणाओं का विवेचन इस रूप में किया है मानो वे ऐसी समस्यायें उठाती है जिनका निदान एक ही राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत हो सकता है। परन्तु वास्तव में ये समस्यायें प्रादेशिक सीमाओं से परे दूर-दूर तक फैली हैं। जैसा कि मैंने पहले विवेचन किया है विश्व सहयोग आज उस सीमा तक बढ़ आया है जहाँ पर कि हमें समग्र सभ्यता के लिये विधान बनाना चाहिए। इसलिए हमें सामान्य रूप से संसार से संबंधित मामलों में ऐसे तरीके अपनाने पड़ेंगे जो अफ्रीका में बान्टू और प्रशान्त में मलेनिशियनों के साथ-साथ अंग्रेज़ और फ्रांसीसी जनता पर भी लागू हों, इस प्रकार की विषमताओं की उपस्थिति में स्वातंत्र्य और समानता का क्या अर्थ है ? जावा में रहने वाला डच आदमी अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग तमाम शक्ति को धन एकत्र करने के कठिन परिश्रम में लगाने में मानता है जो स्थानीय कामकरों के संभरण पर आधारित है। जावा निवासी स्वतंत्रता का यह अर्थ समझता है कि उसे कभी-कभी इतना शारीरिक प्रयत्न करना पड़े जिससे कि चाह भर खाद्य मिल जाय और फिर उसे सूरज की रोशनी में लेट कर आराम करने के लिए छोड़ दिया जाय। इन दोनों आवश्यकताओं में किस प्रकार समझौता हो सकता है ? उदाहरण के लिए हम किस प्रकार आश्वासन दें कि उष्ण अफ्रीका में काले और गोरों के बीच बराबरी का बर्ताव है जबकि हम आरम्भ ही असमान शक्ति से करते हैं ? हम योरुपीय राज्यों के एक सम्मेलन में किस प्रकार यह सुनिश्चित करें कि स्विटजरलैंड के हितों या इंग्लैंड, या रूस, या फ्रांस के हितों के समान ही विचार किया जायेगा ?

वर्साई संधि के समय तक सामान्य तरीका यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सभी राज्यों की समानता मान ली जाती थी और प्रत्येक राज्य को इस बात की खोज के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता था कि वह जिस तरीके से भी चाहे अपनी मुक्ति का मार्ग खोज ले और पृष्ठभूमि में बल ही साधन के रूप में रहता था जो अन्तिम हल को प्राप्त करने में सर्वाधिक सफल हो सकता था। परन्तु यह स्पष्ट है कि महत्त्वपूर्ण मामलों में सभी देश समान रूप से सौदा करने में समर्थ नहीं हैं जैसे कि निकारागुआ और अमेरिका, वेनेजुएला और इंग्लैंड के उदाहरण सामने हैं। कानून की सुन्दरतम कल्पनायें भी एक छोटे राज्य को एक बड़े राज्य के बराबर नहीं बना सकतीं।

समान रूप से महत्व पाने की संभावनायें और फलस्वरूप स्वतंत्रता दो बातों पर निर्भर करती है। प्रथम तो यह युद्ध को गैर कानूनी करार देने पर निर्भर करती है। स्वतंत्रता जैसे विचार निरर्थक हैं जब तक कि एक राज्य अपने पड़ोसी पर अपना हल थोपने के लिए स्वतंत्र है। परन्तु इसके बाद युद्ध का गैर कानूनी करार दिया जाना इसपर निर्भर है कि ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें बनायी जायें जो किसी भी हमलावर के विरुद्ध विश्व की सत्ता एकत्र करने की सामर्थ्य रखती हों। यह तब हो सकता है जब यह साबित कर दिया

जाये कि ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं बनायी जा सकती है जो समस्याओं को, जिनके कारण युद्ध छिड़ते हैं, ऐसे वाद-विवाद के स्तर पर लें जहां कि उनका विश्लेषण तर्क की कसौटी पर हो सके। मेरा विचार है कि इस प्रकार की संस्थायें प्रत्येक राज्य को मतदान के अवसर पर समानता प्रदान करके स्थापित नहीं की जा सकतीं। इस प्रकार की मिथ्या धारणा को बनाये रख कर राज्यों का एक ऐसा संघ बनाना असंभव है जो कारगर हो। इसका समाधान अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत आनेवाले विषयों को छाट लेने और उनकी क्रियान्विति में आनुपातिक प्रतिनिधित्व का तरीका ढूंढ़ निकालने में निहित है। उदाहरण के लिये, यह विचार उदित होगा कि इंगलैंड के प्रधानमत्री को अंग्रेज लोग ही चुनेंगे, लेकिन ब्रिटिश जल सेना कितनी बड़ी हो यह मसला ऐसा है जिसका फ़ैसला अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो। फ्रांस यह तय कर सकता है कि उसके स्कूलों में कौन-सी विदेशी भाषायें पढ़ाई जायें, परन्तु उसके विदेशी ऋणों का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय रज़ामंदी से तय होगा। प्रत्येक राज्य सौदा करने के लिए, आलोचना करने के लिए आपत्ति करने के लिए स्वतंत्र होगा, परन्तु निर्णय उसके विरुद्ध कर दिया जायगा तो उसे वह स्वीकार करने पर विवश होना ही पड़ेगा। तब समानता का अर्थ होगा: (१) प्रत्येक विचार-विमर्श की प्रणाली राज्य द्वारा सभी तथ्यों को पूर्ण महत्त्व देती है, (२) बल प्रयोग पर तो विचार होगा ही नहीं। स्वतंत्रता का अर्थ होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के भीतर के मसलों को छोड़ कर बाकी सब चीजों के लिए प्रत्येक राज्य अपने जीवन के बारे में निर्णय लेने का अधिकारी है। जैसे कि एक व्यक्ति अपने समाज के नियमों से बाहर कहीं स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकता, ठीक उसी प्रकार एक राज्य भी अपनी स्वतंत्रता तक तब प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह राज्यों के समाज के सामान्य निर्णय की संकल्पना के आगे अपनी प्रभुता पर कुछ सीमाएं स्वीकार न करे।

उचित समझौते की यह आदत धीरे-धीरे ही बढ़ेगी, इस पर ज़ोर देने की कोई आवश्यकता नहीं, अभी तो मैं सिर्फ़ यही कहना चाहता हूं कि संसार को एक ऐसा संघानीय राज्य परिकल्पित कर लेने में ही समस्या का हल निहित है, जिसके सदस्यों को बराबर मतदान का अधिकार नहीं है। मेरा प्रस्ताव है कि समस्या निर्णय और जांच-पड़ताल की परम्परा डालने की है और उन विविध प्रश्नों के लिए उचित संस्थायें ढूंढ़ने की है जिनका प्रबन्ध इस प्रकार के संघानीय राज्य को करना पड़ेगा। जब एक बार एक बड़ा राज्य अपने विरुद्ध देया गया निर्णय मान लेगा तो हम कम से कम इस परम्परा की दागबेल डाल चुकेंगे। जब एक बार एक बड़ा मसला—जैसे कि देशीय जातियों की सुरक्षा—एक अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता द्वारा अच्छी तरह अधिकारपूर्वक तय कर दिया जायगा, तो हम इस विश्वास की भावनाओं का मुहूर्त सम्पन्न कर चुके होंगे। स्वतंत्रता का अर्थ सिर्फ यह रह जायगा कि किसी राज्य को अपनी विशिष्ट चीज़ों में ही आत्मनिर्णय का अधिकार होगा, उस क्षेत्र के राज्य के लिए स्वतंत्रता का अर्थ होगा अपनी दलील पेश करना न कि युद्ध प्रारंभ का अधिकार। समानता का अर्थ होगा कि जो समाधान स्वीकृत हुये हैं, वे समस्याओं एक क्षेत्र में इस आश्वासन के साथ कि उसका प्रत्युत्तर मिलेगा ही ज़रूरत का सांख्यिकीय करने में संलग्न हैं जैसे कच्चे माल की उपलब्धि के मामले में दूसरे क्षेत्र में इसका अर्थ

होगा उन दूसरे राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में उपस्थिति के कारण प्राप्य सुरक्षा, जिनके प्रतिनिधि निर्णय करने मे सहायता करते हैं।

जितनी ही अधिक ये समस्याएं अन्तर्राष्ट्रीय सत्ताओं के सामने लाई जायेगी उतना ही अधिक उनके बारे मे इस प्रकार का व्यवहार किये जाने की संभावना रहेगी। सेराजेवो के हत्याकांडों में सर्विया की जिम्मेदारी का विषय साफ तौर पर ऐसा था जिसकी बौद्धिक जांच-पड़ताल की जा सकती थी। आस्ट्रिया द्वारा उठाये गये कदम ने तथ्यों के संबंध में कुछ भी नहीं किया, उसने अपनी शक्ति और अपनी प्रतिष्ठा का प्रयोग करके निर्णय करना असंभव कर दिया। अगर जांच-पड़ताल के बाद सर्विया दोषी पाया जाता, तो उसे जो दंड दिया जाता वह इस प्रकार आंका जाता कि जिससे दोनों राज्यों की समानता वास्तविक बन जाती, हालांकि शक्ति में दोनों असमान थे। और वह ऐसी संस्था के प्रति उत्तरदायी रहते जो उन दोनों देशों के बाहर की संस्था होती। यदि वह निर्दोष था तो एक ऐसा विश्व-युद्ध-जिसमें आस्ट्रिया-हंगरी की बरबादी हुई, क्या प्रतिष्ठा की एक झूठी धारणा को लेकर भारी मूल्य चुकाना नहीं था ?

जो व्यक्ति ऐसे झगड़ों की बात करते हैं जिनको किसी न्याय-संस्था के सुपुर्द नहीं किया जा सकता, सभ्यता का कोई भला नहीं करते। वे ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति के संदर्भ में बातें करते हैं जो आज विश्व के तथ्यों से बिल्कुल मेल नहीं खाती। यह कहना कि अगर कोई राष्ट्र गलती पर सिद्ध कर दिया गया हो तो उसका अपमान हो गया, वैसी ही फूहड़ बात है जैसे कोई कहे कि जो बात युद्ध द्वारा तय होगी उसका परिणाम शायद न्याय हो। वास्तव में जो शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार क्षेत्र से बच निकलने के लिए प्रतिष्ठा की बात को साधन के रूप में पेश करती है प्रायः निश्चय ही गलती पर होगी। जब इंग्लैंड के अलबामा कांड को पंच फैसले के सुपुर्द किया था उस समय उसकी प्रतिष्ठा कम नहीं हो गई थी, जिस बात से उसकी प्रतिष्ठा कम हुई थी वह थी उसकी प्रशासनिक लापरवाही जिसके फलस्वरूप वह घटना घटी। मनुष्यों की तरह राज्य भी तब तक जोर-शोर से अपने सम्मान के लिए विरोध प्रकट नहीं करते जब तक कि उनका मामला इतना हल्का ही न हो कि वह और कोई तर्क दे ही न सकें। और यदि यह कहा जाय कि यह समस्या को अति विवेकमय बनाना है जिसमें तर्क के लिए कोई गुंजाइश नहीं तो हमारा उत्तर होगा कि हमारे सामने दो विकल्प हैं : या तो हम सचेष्ट होकर विवेक का रास्ता अपनायें या फिर अराजकता का, जो अपने पास के अस्त्रों से सभ्यता को अपनी ही खोजों के खण्डहरों के नीचे दबी पड़ी हुई एक कपोल-गाथा बना कर छोड़ दे।

पराधीन राष्ट्रों के संबंध में परिस्थिति थोड़ी बहुत भिन्न है। योरुपीय जाति और उदाहरणार्थ आस्ट्रेलिया के बुशमैनों के बीच वाद-विवाद हो तो उन दोनों को कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था वास्तविक समानता प्रदान नहीं कर सकती। यहां तो उन सिद्धान्तों को खोजने की समस्या है जो यदि लागू किये जायँ तो पिछड़ी हुई जातियों को इस योग्य कर दें कि वे जीवन से आनन्द के वैसे ही साधन प्राप्त करें जो वे चाहें; साथ ही उन्हें वह भी लाभ मिल सकें जो वैज्ञानिक खोजों द्वारा हम उनको दे सकने योग्य हों। यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमें गुलामी और नर बलि और कबायली युद्ध पर प्रतिबन्ध लगा ही देना

चाहिए। हमें उनके लिए वह भूमि आरक्षित रखनी चाहिए जिसकी उन्हें जरूरत है। हमें सड़क बनाने वाले या इसी प्रकार के जन कार्यों से संबंधित बेगार को छोड़ कर सभी प्रकार की बेगार पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। हमें कबायली संगठन को उन सभी कार्यों के लिए प्रयुक्त करना चाहिए जिनके लिए वह प्रकटतः उपयुक्त हों। हमें इस प्रकार के अवैध व्यापार रोकने चाहिए जैसे शराब की तरह के व्यापार जिनके बारे में हम जानते हैं कि वे देशीय मनोबल को नष्ट कर देंगे, हमें किसी भी व्यापारी को स्थानीय निवासियों से सौदे करने की आज्ञा केवल अधिकारियों की देखरेख में ही देनी चाहिए और विशेष रूप से ऐसे समय में जबकि प्राकृतिक साधनों का प्रश्न हो और सबसे अधिक यह अत्यन्तावश्यक है कि जो इन पराधीन जातियों के जन सेवा विभाग में प्रवेश करें वे इस विषय में भली भांति प्रशिक्षित हों और उनका उक्त ज्ञान तभी वास्तविक हो सकता है जबकि वह मानव-विज्ञान के अनुसंधानों से पुष्ट हो। अफ्रीका में ऐसे आदमी को भेज देने का कोई उपयोग नहीं जिसने अभी यह भी नही सीखा कि उनकी समस्याओं के अध्ययन करने का सही तरीका क्या है। वह यह तरीके वहां के योरुपियन समाज से नहीं सीखेगा। वह स्थानीय निवासी से ही भली-भांति सीखेगा। यदि उसे वह दृष्टिकोण पहिले ही बता दिया गया हो जो उसकी सहानुभूति पूर्ण व्याख्या का मूल मंत्र है। स्थानीय निवासियों के अधिकांश रिवाज जो योरुपीय दिमाग़ को विलक्षण लगते हैं; क़बायली चेतना में गहरी जड़ें बनाये हुए हैं। उनका किसी ऐसे दृष्टिकोण से बलपूर्वक तालमेल करना जिसे स्थानीय निवासी अगम-अबूझ समझें, उनके निकट उन सब वस्तुओं का विनाश करना है, जो उसके जीवन को अर्थवान बनाती हैं। इसका परिणाम एक ऐसी मानसिक बीमारी होगी, जो उसको को बरबाद कर देगी।

और न हम किसी राज्य को उसके परमादिष्ट क्षेत्र पर पूरा नियंत्रण रखने की आज्ञा दे सकते हैं। वह वहां क्या करता है, उसके प्रशासन के ढंग और उसके परिणाम इन सब बातों के लिए उसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रति उत्तरदायी होना ही चाहिए। मेरा विचार है कि इसमें परमादेशक सत्ता द्वारा रिपोर्ट प्रकाशित करने भर से कुछ अधिक निहित है। इसका अर्थ है उस क्षेत्र की राजधानी में एक ऐसी संस्था हो—जैसे एक अन्तर्राष्ट्रीय दूत जो स्थानीय निवासियों के हितों की उसी प्रकार देखरेख करेगा जैसे कि फ्रांसीसी दूत लंदन में फ्रांस-निवासियों के हितों की देखरेख करता है। उसे निरीक्षण करने और रिपोर्ट भेजने का अधिकार होगा। उसकी राय परमादेशक शक्ति के आदेशों से अधिक महत्त्व की मानी जाएगी। वह किसी भावी कार्यक्रम को रोक देने, चेतावनी देने और उत्साह करने के लिए समर्थ होगा। यह स्पष्ट है कि वह कभी ही उस जाति से संबंधित होगा जो वहां पर वास्तविक सत्ता का उपभोग करती है। उदाहरण के लिए, जब दक्षिण अफ्रीका को यह पता होगा कि एक स्वाधीन सत्ता है जो उसकी हरकतों की रिपोर्ट दे सकती है तब बोंडेल वार्ट्स के जैसे लोक-विद्रोह को पाशविक ढंग से दबा देना उसके लिए निश्चित रूप से संभव नहीं रह जायगा।

वास्तव में, इसका तात्पर्य स्वतंत्रता और समानता के उस अर्थ का परित्याग कर देना ही है जिस अर्थ में पश्चिमी सभ्यता इन्हें समझती बूझती है। किसी भी. वास्तविक

विश्लेषण में उनका परित्याग करना आवश्यक है। स्थानीय निवासी द्वारा उसकी मांगों की प्रतिष्ठापना का जितना भी हम दे सकते है, उतना प्रत्युत्तर देना ही चाहिए; परन्तु यह मानना पड़ेगा कि पिछड़ी हुई और अग्रगामी सभ्यताओं के बीच मुठभेड़ का अर्थ है कि जो आवश्यकतायें प्रस्तुत की जायं उन पर विशेष ध्यान दिया जाय। मेरा विचार है कि यहीं पर इस बात की अत्यन्त सम्भावना है कि जुलू या हाटेन्टौट सुरक्षा की उन परिस्थितियों में जिनकी रूप रेखा बना दी गई है जिसे सम्पूर्ण जीवन समझेगा न कि उस समय जब कि हम इस धारणा पर कार्य करें कि वह पश्चिमी संस्थाओं के प्रयोग के लिए तैयार किया जा रहा है। ग्राहम वालस ने जिसे "एक्सटर हाल की आशावादी नृवंश विद्या" कहा है वह इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए ऐसा दृष्टिकोण है जो अत्यन्त घातक है। उसके जाने-पहिचाने जीवन को जो चीजें रस-रंग प्रदान करती हैं उनका शुरू में निषेध करके वह स्थानीय निवासी के लिए उस सब का नाश कर देता है जो उसके जीवन को अर्थवान बनाये हुए है। यह उसे एक ऐसे दूसरे जीवन के लिए प्रस्तुत करना चाहता है जिसमें सामान्यत: उसे कोई अर्थवत्ता दिखाई नहीं देगी। इसलिए उसकी स्वतंत्रता उसकी विशिष्ट स्थिति से संबंधित होनी चाहिए। इसका यह अर्थ अवश्य होना चाहिए कि उसे वह सबकुछ दिया जाय जो मूल रूप में पश्चिमी आदर्श को विनष्ट न करता हो। सबसे बड़ी बात यह है कि उन आदर्शों के क्रियान्वय के प्रायः जो प्रतिकूल प्रभाव रहे हैं उनसे उसकी रक्षा की जाय।[१]

—५—

स्वातंत्र्य और समानता का यह दृष्टिकोण सरकार के अधिकार और उन क्रिया-तन्त्रों को अत्यन्त महत्त्व देता है जिनके कारण इसे प्रभावित होने वाले लोगों की इच्छाओं के परितोष के योग्य बनाया जा सके। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि कोई वैधानिक कदम मनुष्यों को समान और स्वतंत्र बना सकता है; परन्तु जब तक ऐसी परिस्थितियां नहीं जिन पर यहां ज़ोर दिया गया है तो यह बिल्कुल निश्चित है कि उस विधान का प्रभाव अधिकांश को परतंत्र और असमान बनाये रखना होगा। साधारण मनुष्य के व्यक्तित्व को रचनात्मक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी परिस्थितियां पैदा की जायं जिनमें रचनात्मकता संभव हो सके। यह तभी हो सकता है जब साधारण मनुष्य यह अनुभव करे कि उसकी कुछ सार्थकता है और इसे स्वातंत्र्य और समानता की अनुपस्थिति में उपलब्ध करने की आशा हम नहीं कर सकते। जब किसी समुदाय में ऐसी परिस्थितियां मौजूद नहीं होतीं जो मनुष्यों के हितों के प्रति विविध प्रतिक्रियाएँ जगाती हैं तो हो सकता है व्यक्तित्व के विकास के लिए साधन पास ही मौजूद हों। राज द्वारा लागू की गई समानता का बड़ा महत्त्व इसमें है कि वह एक साधारण नागरिक को अपने कार्य-साधन के लिए बल का प्रयोग करने से रोकती है और इस प्रकार स्वतंत्रता का उन्नयन करती है। बल से मेरा तात्पर्य आवश्यक रूप से शारीरिक हिंसा नहीं बल्कि उस विशेष लाभपूर्ण स्थिति का प्रयोग है जो दूसरे के अपने सर्वाधिक उन्नयन करने के रास्ते में रोड़े अटकाती है।

---

१. इस संबंध में जानकारी के लिये एल. ई. वूल्फ कृत 'इम्पीरियलिज्म और सभ्यता' (१९२८) और ई. डी. डिकिन्सन कृत 'द क्वालिटी आफ स्टेट्स' देखें।

परन्तु यह भी याद रखने योग्य है कि सरकार के अधिकार में जिस बात से भी बढ़ोतरी होती है वह सदैव ही आनुषंगिक खतरे से व्याप्त रहता है। आधुनिक राज्य में व्यक्ति उस प्रशासन यंत्र के सामने, जिससे उसका साबका पड़ता है, अपने को निरीह अनुभव करने लगता है। ऐसा लगता है मानो एक ही केन्द्र की ओर उन्मुख प्रेरणा उसी में जाकर समा गई है और उसे उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय करने या उनके करने में भाग लेने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। यह एक वास्तविक कठिनाई है। अपने साथी के अधिकार से व्यक्ति को मुक्त करने से ऐसा लगेगा मानो हम उसे एक सामूहिक शक्ति के अधीन कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत वह अपने को पहिले से शायद ही अधिक स्वतंत्र पाये। यही वह भय था कि जिसके कारण रूसो ने इस पर आग्रह किया कि स्वतंत्रता एक छोटे राज्य की ही उपज है और आधुनिक एथेन्स में ही उसे वह क्षेत्र मिला जिसके अन्तर्गत लोकतंत्रीय पहलकदमी संभव हो सकती है।

हम इस प्रकार का विचार ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि आधुनिक आर्थिक संगठन के स्वरूप के कारण नगर राज्य की प्रणाली की ओर लौटना असंभव है। परन्तु आधुनिक आकार के राज्यों में मात्र समानता की उपलब्धि बिना अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण के हानिकारक होगी। यह उस विरोधाभास का समाधान है जो रूसो को सता रहा था। यह मनुष्यों को व्यापक संख्या में उन अधिकारों का जिनके वे अधीन हैं स्रष्टा बना कर विवशता के खतरे को दूर कर देता है और उस सत्ता के द्वारा, उनमें जो निहित रचनात्मक शक्ति है उस को उन्मुक्त कर देता है। कम से कम अन्तिम रूप में उन कानूनों को छोड़ कर जो मनुष्य स्वयं अपने लिए बनाते हैं, और सभी कानून निरर्थक हैं। परन्तु अपने लिए ही समुचित रूप से कानून बनाने के लिए उन्हें इतना ज्ञान होना ही चाहिए कि उन्हें किस प्रकार के कानून बनाने चाहिएँ और किस प्रकार उनका प्रयोग करना चाहिए। निस्संदेह, उन्हें किसी न किसी में विश्वास करना ही पड़ेगा; कलाकार को किसी पुलिस-जन के प्रत्येक कार्य की जांच पड़ताल की कोई कामना न होनी चाहिए। परन्तु वह इतने अभिन्न रूप से उस प्रणाली के अंग होने चाहिए कि वे एक-दूसरे का आश्वस्त रूप से विश्वास कर सकें या यदि इस विश्वास का दुष्प्रयोग हो तो वह उसे ठीक करने के लिए दबाव डालने योग्य हों। इस अर्थ में स्वातंत्र्य वह संगठन है जो दुष्प्रयोगों के लिए रुकावट है; और दुष्प्रयोग के उद्भव के विरुद्ध मुख्य सुरक्षा है शक्ति का इतना व्यापक बंटवारा कि जिसमें आज्ञा पालने से इनकार करने की शुरूआत सुनिश्चित और कारगर हो।

परन्तु सरकारी कार्यवाही अधिक से अधिक जो कुछ उपलब्ध कर सकती है उसका तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक कि उसके इस कदम के समानान्तर ही व्यक्तिगत रूप से मनुष्यों का प्रयत्न नहीं होता। अन्ततः हममें से प्रत्येक में इतना काफी बल उग आता है कि हम अपने लिये सच्चे स्वातंत्र्य का निर्माण अवश्य कर लें। राज्य मनुष्यों के चारित्र्य पर इतने निश्चित रूप से निर्भिन्न होता है कि उसके कार्यो के प्रति अविकल रूप से निष्ठावान रह कर वे ही उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ढाल सकते है। यदि मनुष्य उदासीन और लापरवाह हैं, यदि वे अपने को संघर्ष से दूर रखने में संतुष्ट ही है, तो कोई भी निपुणतम प्रक्रिया अन्ततः शक्ति का दुष्प्रयोग रोक नहीं सकती। यह थोरो के उस महान्

वाक्य का अर्थ था जिसमें उसने कहा कि था "जो सरकार किसी को भी अन्यायपूर्वक कारागार में डालती है उसके राज्य में किसी न्यायी आदमी का स्थान भी कारागार ही है।"[१] मनुष्यों को यह जान लेना चाहिए कि राज्य द्वारा उठाये गये क़दम उन्हीं के अपने क़दम हैं। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि वे उसी हद तक न्याय महसूस करेंगे जिस हद तक वह अपने प्रयत्नों को न्याय बनाने में संलग्न करते हैं। प्रत्येक मनुष्य यदि उसके पास मस्तिष्क और संकल्पना है राज्य के लिए आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य राज्य को अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं के प्रति तभी उत्तरदायी बना सकता है जब वह जीवन संबंधी अपने ज्ञान को केवल उसकी कार्यवाहियों के लिए आधार बनाये। अन्ततः वह सिर्फ स्वतंत्र होने की इच्छा करने पर ही स्वतंत्र हो सकता है। कोई भी राज्य इस तर्क से तभी अनुशासित होगा कि उसके लिए महत्व सुनिश्चित करे कि वह (मनुष्य) अपने मस्तिष्क को अधिकृत वस्तुओं का एक अंग बना दे।

परन्तु यदि इस प्रकार व्यक्ति अपने साथियों के साथ ही अपनी स्वतंत्रता का स्वयं स्रष्टा है तो वह तब तक इसे निर्मित करने के लिए कष्ट नहीं दे सकता जब तक वह उस रचनात्मकता के लिए तैयार न हो। उसे साहसिक कदम उठाने से पहिले यह मालूम होना चाहिए कि अपने आप को पाने का अर्थ क्या है यह ऐसे संसार में जो रूढ़ियों से दबा पड़ा है आसान काम नहीं। जब तक व्यक्तित्व के लिए कोई आदर नहीं; तब तक सजग राज्य की सत्ता संभव नहीं; परन्तु यह भी है कि जब तक सजग राज्य की सत्ता न होगी व्यक्तित्व के लिए सम्मान भी न होगा। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए समानता पर ही बल देना होगा। जब शक्ति का स्रोत सम्पत्ति से अलग कहीं माना जायगा; सत्ता ऐसे सिद्धान्त पर संतुलित होगी जिसका आधार सेवा की प्रतिष्ठा होगा। उस स्थिति में राजनेता का प्रयत्न होगा साधारण मनुष्य का उन्नयन। एक ऐसे समाज के स्थान पर जो लूट खसोट की रक्षा करना चाहता है उस समाज की स्थापना जो नस्ल की आत्मिक विरासत की रक्षा करना चाहता हो। हम उस विरासत पाने का आश्वासन तो अपने आपको नहीं दे सकते, परन्तु हम कम से कम अपने उस लक्ष्य के मार्ग को तो खोज ही सकते है।

अध्याय—५

सम्पत्ति

—१—

मनुष्य की मूल सहज वृत्ति आत्म-परिरक्षण की होती है, क्योंकि उसके लिए भय से अपनी रक्षा करना अनिवार्य है, इसलिए उसमें उपार्जनशीलता का गुण विकसित हो गया है जो कि अब सभी पश्चिमी संस्थाओं का मूलाधार बन गया है। सम्पूर्ण संसार का विभाजन दो तरह के राज्यों म किया जा सकता है जो उपार्जन की उस भावना के कारण सम्पत्ति के स्वामी हैं और कल की आवश्यकताओं के प्रति आश्वस्त हैं और दूसरे वे जिन के पास सम्पत्ति का अभाव है, जिन्हें इस बारे में शंका है कि कल उन्हें जीवन के साधन भी मिलेंगे या नहीं।

बात यह है कि सम्पत्ति अधिकार में होने पर सर्वोपरि सुरक्षा के रूप में वह प्राप्त होता है जो सामंजस्य का साधन है और जिसे वह पाना चाहता है। सम्पत्तिवान पुरुष को देश में एक निश्चिन्तता होती है। वह भुखमरी के भय से सुरक्षित होता है। उसे ऐसा कोई काम स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं, जिसे वह नहीं करना चाहता। वह अवकाश ले सकता है जिसे अधिकांश मनुष्य आज महत्वपूर्ण अवसर समझते हैं। यदि वह चाहे तो वह अपने आप को ऐसे परिवेश से आवेष्टित कर सकता है जो जीवन को एक कलात्मक वस्तु बनाता है। वह सिरदर्द पैदा करने वाली दिनचर्या से बच सकता है और उस बौद्धिक क्षेत्र का एक खोजी बन सकता है जहां पर रचनात्मक गुण आत्म-अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ सहज ही खोज लेते हैं। वह अपने बच्चों को अभाव के भूत से बचा सकता है। वह उनमें ऐसी रुचि विकसित कर सकता है जो रचनात्मक जीवन में सुख प्रदान करें। यदि वह चाहे तो पश्चिमी सभ्यता की सामाजिक विरासत तक सीधे और तुरन्त पहुंच सकता है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि सम्पतिवान् पुरुष के पास आवश्यक रूप से ये वस्तुएँ होंगी या सम्पत्तिहीन मनुष्य आवश्यक रूप से उनसे वंचित रहता है। जिन्हें सुरक्षा प्राप्त है वह बहुधा ऐसे जीवन में मग्न रहते हैं जिसम कोई अर्थ नहीं और जो गरीब होते हैं वे जीवन द्वारा प्रदान की जाने वाली अमूल्य वस्तुओं को भी कभी-कभी जान सकते हैं परन्तु ऐसे लोग अपवादस्वरूप होते हैं। अधिकांश के लिए ग़रीबी—और अधिकांश ग़रीब रहने पर विवश हैं—का अर्थ है ऐसा जीवन जो छोटी-छोटी वस्तुओं के बीच एक भागते हुए क्षण के रूप में बीतता है, प्रेम के पहिले घंटे की तरह जबकि रचनात्मक आवेग को पूरा प्रतिफल प्राप्त हो। वास्तव में जो सुरक्षित हैं वह ऐसा जीवन भी व्यतीत कर सकते हैं जो अपने चारों ओर की भद्दी महोगनी की लकड़ी की तरह जड़ और व्यर्थ हो। परन्तु कम से कम उनका अस्तित्व भय की विकराल छाया से मुक्त रहता है।

यदि सामान्य रूप में वे अपनी ओर पास की सभ्यता के बारे में जानना चाहें तो वे कुछ स्पष्ट तथ्यों से प्रभावित होंगे। उन्हें पता चलेगा कि किसी समुदाय में ऐसे लोगों की

संख्या जो बहुत सम्पत्ति के स्वामी हैं सदैव ही कम होगी । उन्हें यह भी पता चलेगा कि इस प्रकार का स्वामित्व आवश्यक रूप से कर्तव्यों के पालन या सद्गुणों के अधिकारी होने से सम्बन्धित नही । सम्पत्ति का वह स्वामी विशेष चार्ल्स द्वितीय की रखेल का भाग्यवान वंशज हो सकता है जिस को टायन से निर्यात होने वाले सब कोयले की रायल्टी दे दी गई थी; या वह एक क्रूर साहूकार जो अभागों को लूट खसोट कर आजीविका कमाता हो । उसे विदित होगा कि सम्पत्ति का स्वामी होने में पूंजी का नियंत्रण सन्निहित है और यह कि अबाध उद्यम के युग में पूंजी पर नियंत्रण के साथ ही उन लोगों के जीवन निर्देशन की शक्ति भी आ जाती है जो उस पूंजी के उत्पादन में लगाये जाने पर ही निर्भर करते हैं । वह यह जान जायेगा कि वैज्ञानिक काल में उद्योग के विकास ने पूंजी की शक्ति को और किसी पूर्व युग के मुकाबिले अधिक शक्तिवान बना दिया है । कुछ तो इस कारण कि उत्पादन की इकाई बढ़ गई है और कुछ इस कारण कि सामाजिक जीवन का स्वरूप और अधिक संघटित हो गया है । संक्षेप में उसे यह पता चल जायगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के युग में राज्य अधिकांश रूप में एक ऐसी संस्था बन जाता है जिस पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामी अधिकार किये रहते है और यह कि राज्य उन स्वामियों की संकल्पना और उद्देश्य की रक्षा करता है । और बातों को यदि छोड़ दिया जाय तो वह राजनीतिक प्रणाली जिसमें अधिकार सम्पत्ति केके आधार पर निर्धारित हों, ऐसी प्रणाली होगी जिसमें सम्पत्ति हीन मनुष्यों को कोई अधिकार नहीं होंगे ।

वास्तव में ऐसी परिस्थितियां भी होती हैं जिन्होंने स्वामियों को उनके अपने अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठा सकने को रोका है । संयुक्त होने की शक्ति ने मेहनत कशों को इस योग्य कर दिया है कि वे श्रम के घण्टे और तनख्वाह के न्यूनतम मानक स्थापित करवा सकें, जो भले ही नाकाफ़ी हों, फिर भी यह एक वास्तविक लाभ ही है । मानवतावादी भाव ने सम्पत्ति के स्वामियों से सुरक्षण ऐंठ लिये है, जैसे कि फ़ैक्टरी ऐक्ट, खतरनाक माल पर प्रतिबन्ध और एक सीमित रूप में मिलावट के सम्बन्ध में । प्रत्येक पीढ़ी में शिक्षा ने कुछेक को या तो गरीबी की श्रेणी से बच निकलने योग्य बना दिया या फिर अपने ज्ञान को और अधिक रियायतें मांगने के लिए प्रयुक्त करने योग्य बना दिया । परन्तु, मूलभूत रूप से, व्यक्तिगत-सम्पत्ति का राज, होने से औद्योगिकवाद की पृष्ठभूमि में गरीब और अमीर के विभाजन को बना हुआ है और गरीब उन स्थितियों से अलग है, जिन में कि वे अपनी नागरिकता को प्रभावशील बना सके ।

इस प्रणाली के परिणाम संक्षिप्त में वर्णन किये जा सकते हैं । उत्पादन बिना किसी समुचित योजना के और थोड़े तरीके पर चलाया जाता है । समुदाय के जीवन के लिए पण्य और सेवायें कभी भी इस प्रकार नहीं बांटी जातीं कि उनका जरूरत से कोई सम्बन्ध हो या वे ऐसा परिणाम प्रकट करें जिससे उनकी अधिकतम सामाजिक उपयोगिता प्रकट हो । जब हमें घरों की आवश्यकता होती है, हम चित्र-प्रासाद निर्मित करते हैं । हम वह सब युद्ध-पोतों पर व्यय करते हैं जिसकी विद्यालयों के लिए आवश्यकता है । धनवान मनुष्य एक मेहनतकश की एक सप्ताह की तनख्वाह अपने एक ब्यालू पर खर्च कर सकता [illegible] कि मेहनतकश अपने बच्चों को भरपेट भोजन खिलाकर स्कूल भी नहीं भेज

सकता। एक धन-सम्पन्न नवोढा अपनी सायंकालीन फ्राक पर उन मेहनतकशों की जिन्होंने उसे बनाया है, एक वर्ष की आय से भी अधिक खर्च कर सकती है। वास्तव में हमारे यहाँ दोनों ही गलत पण्य उत्पादित किये जाते हैं, और जो उत्पादित किये जाते हैं वे बिना सामाजिक आवश्यकता का ध्यान किये हुए वितरित किये जाते हैं। हमारे यहां एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो जोंक की तरह आलस में पड़ा रहता है, जिसकी रुचि के कारण पूजी और श्रम का प्रयोग इस प्रकार की आवश्यकताओ के लिए होता है जिनका मानवीय जरूरतों से कोई सम्बन्ध नही। नही वह वर्ग बाकी समुदाय से अलग-अलग रखा जाता है। क्योंकि इसके पास अपनी मांग को लागू कराने की शक्ति है, इसलिए यह उन लोगों में जो उसके स्तर पर पहुंचाना चाहते है एक प्रकार की दासीय अनुकरण प्रवृत्ति उभारते है। धनवान होना गुण का माप बन जाता है; और धन का पुरस्कार है उन लोगों के स्तर निर्धारित करने की योग्यता जो धन एकत्र करना चाहते हैं। परन्तु वे स्तर नैतिक मन्तव्य के परितोष से नही बनाये जाते, वह तो धनवान होने की कामना फलवती होने से बनते हैं। मनुष्य सम्पत्ति जुटाना इसलिए शुरू कर सकता है कि वह अपना जीवन अभावों से सुरक्षित रखें, परन्तु वे इसे जुटाते इसलिए रहते है कि इसके हाथ में होने के कारण एक विशिष्टता प्राप्त होती है। यह उनके दंभ और शक्ति लोलुपता को सन्तुष्ट करती है; यह उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे समाज की संकल्पना को अपने ही सुर में मिला सकें।

परिणाम वही होता है जो ऐसे वातावरण में प्रतिफलित होगा ही। वे माल और सेवायें उपयोग के लिए नहीं बल्कि अपने उत्पादन से सम्पत्ति जुटाने के लिए उत्पादित करते हैं। वे उपयोगी मागों को पूरा करने के लिए उत्पादन नहीं करते बल्गि ऐसी मागों को पूरा करने के लिये करते हैं जो उन्हें रक़म दे सकें। वे प्राकृतिक सम्पदा को बरबाद कर देंगे। वे पण्यों में मिलावट करेंगे। वे बेईमान धंधे चालू करेंगे। वे विधान-मण्डलों को भ्रष्ट कर देंगे। वे ज्ञान के स्रोतों को विकृत कर देंगे। वे कृत्रिम एकता स्थापित करेंगे कि जनता के लिए आवश्यक अपने पण्यों का मूल्य बढ़ा लें। कभी-कभी वह भयानक नृशंसता से पिछड़ी हुई मानव-जातियों का शोषण करेंगे। जो लोग उनके द्वारा दी जाने वाली तनख्वाह पर पलते हैं उनके दिमाग़ों में वे ज़हर भर देंगे। वे विभिन्न तरीकों से तोड़-फोड़ करने के लिए उभारेंगे। वह उन हड़तालों पर विवश कर देते हैं जो समुदाय को गहरा नुक्सान पहुँचाती हैं। और यह इस प्रणाली की बड़ी भारी विडम्बना है कि उसे बढ़ावा देने में जो लोग लगे हैं उनमें से उस प्रक्रिया से जिसका वह समर्थन करते है लाभ पहुंचने की कम या बिल्कुल भी आशा नहीं होती। वे चाहें तो राजनैतिक जीवन का सौष्ठव भंग कर सकते हैं। जैसाकि अमरीका में है, उसी तरह वे समुदाय की शिक्षा संस्थाओं पर अधिकार कर सकते हैं। वे अपने विचारों की हिमायत के लिए धार्मिक संस्थाओं को भी विकृत कर सकते हैं। परन्तु इतना सब होते हुए भी वह एक सुव्यवस्थित राज्य नही प्राप्त कर सकते। यह ऐतिहासिक रूप से स्पष्ट है कि जो समुदाय अमीर और ग़रीबों में बंटा हुआ है, और ऐसी दशा में जबकि गरीब लोग ज्यादा हों, उसकी नीव बालू पर निर्मित होती है।

बात यह है कि राज्य का आधार स्पर्धा गुटबन्दी का पोषण करती है। इस प्रकार विभाजित राज्य अपने साधनों को धनवान आदमियों की सम्पत्ति को ग़रीब मनुष्यों के

हमले से बचाने के लिए इस्तेमाल करने पर विवश हो जाता है। यह व्यवस्था को चरम शुभ सद्गुण समझने लगता है। यह इसके बड़े उद्देश्यों की अवहेलना करता है। यह सभी के प्रति अपनी समान ज़िम्मेदारी को कुछ लोगों के चाहे हुए विशेष लाभ को दे सकने के प्रयत्न में विकृत कर देता है। वह लाभ उदाहरण के लिए कानून में—साथी-नौकर के सिद्धान्त के रूप में हो सकता है जैसा कि इंगलैंड में या फिर अमरीका की नाईं श्रम-सम्बन्धी झगड़ों में निषेधाज्ञा के प्रयोग में हो सकता है। यह राजनीतिक शक्ति में भाग लेने के अधिकार को केवल उन्हीं लोगों तक सीमित कर सकता है जो विशेष सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता रखते हों। यह अपना विधान इस प्रकार का बनायेगा कि जो सत्ता राज्य कर रही हो, उसकी आलोचना करने का अधिकार सीमित कर दे या ऐसे नियम ही न बनने दे जो सम्पत्ति की शक्ति को सीमित करने वाले हों। यह सम्पत्तिहीन वर्गों के लोगों को जान-बूझ कर अज्ञानी रख सकती है, जैसाकि १८१० में विलियम विंडहम ने ज़ोर दिया ही था कि उन्हें अज्ञानी रखा जाय। यह प्रतिरोध का इतनी विकरालता से दम घोंट सकता है—जैसाकि ज़ारशाही रूस में हुआ था—कि जन-जन काफ़ी लम्बे समय तक मूक-जड़ता से ग्रसित रहे। यह जनता को राजनीतिक शक्ति दे भी सकता है और फिर मत पर नियंत्रण करके अपनी जरूरतों के लिए उस शक्ति का इस्तेमाल करके उसके सम्पूर्ण प्रयोग को निरर्थक कर सकता है। यह नेपोलियन की नाईं फ़ौजी अभियानों द्वारा घरेलू मसलों से हटाकर आदमी का ध्यान दूसरी ओर फेर सकता है। फिर भी राज्य धनवान और धन-हीनों में विभाजित रहता है; और मनुष्य कुछ समय बाद शांतिपूर्वक सब सह लेने से इनकार कर देते हैं। तब राज्य में संतुलन को बदलने के लिए अकस्मात् क्रान्ति आ कूदती है।

यह प्रणाली, वास्तव में, अपने को दोषयुक्त सिद्ध करने में अत्यन्त सफल है। कभी-कभी बचाव का रूप मनोवैज्ञानिकता लिये हुए होता है। यह कहा जाता है कि मनुष्यों को साधारणतः श्रम के लिए प्रेरक-हेतु की ज़रूरत होती है। सम्पत्ति जुटाना इसी प्रकार का एक प्रेरक हेतु है। यह उनसे काम कराता है और इनके काम करने में समुदाय का भला निहित है। परन्तु यहां पर दो मुख्य कठिनाइयां है। श्रम में केवल समुदाय की भलाई ही निहित होती है लेकिन तब जब जो उत्पादित किया जा रहा है वह उस भलाई से सम्बन्धित हो और जब बांटा जाय तो भी भलाई ही करे। जो हानिकारक नशीली वस्तुओं का व्यापार करते हैं वे काम करके भले ही काफ़ी धन बटोर लें, परन्तु वे जो उत्पादित करते हैं वह समुदाय के लिए अच्छा नहीं। इससे भी अधिक अगर मैं अपने व्यापार में अत्यन्त सफल हूं, तो ऐसा हो सकता है कि जो सम्पत्ति मैं अर्जित करूं वह मेरी आने वाली सन्तति के दिमाग़ में यही भर दे कि काम करो ही नहीं; और सम्पत्ति अर्जित करने की शक्ति उससे कहीं अधिक प्रेरक हेतुओं को हटा दे, जितने कि वह उत्पन्न करती है। सिर्फ़ यही तथ्य कि सम्पत्ति के स्वामित्व की सहज वृत्ति होती है मनुष्य में यह सिद्ध नहीं करता कि उसकी मांगों के प्रति उत्तर का वर्तमान तरीका उसके कई तरीकों में से एक के सिवा कुछ और तरीका विश्लेषण के लिए एक समस्या है न कि समस्या का समाधान। कभी-कभी इसका औचित्य नैतिक आधार पर सिद्ध किया जाता है। यह तर्क

दिया जाता रहा है कि सम्पत्ति व्यक्ति द्वारा किये गये प्रयत्नों का बदला है। एक रेल-निर्माता, सेफ़्टी रेज़र का आविष्कारक, एक पेटेन्ट दवाई का खोजी—सभी ने कठिन परिश्रम किया है और इनकी सम्पत्ति उसी का परिणाम है। लेकिन स्पष्ट है कि कुछ अतिरिक्त कारणों को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। ऐसे बहुत हैं जो निरन्तर श्रम करते हैं पर सदा ही नगण्य रहते हैं; तब सम्पत्ति योग्यता का इनाम हो जाती है; यह तर्क कि यह संयम का इनाम है काफी पहिले अज्ञानियों के सिवा और सभी ने यह कहकर कि यह तो बेशर्मी है छोड़ दिया है। लेकिन फिर स्पष्ट है कि सिर्फ़ उस विशेष प्रकार की योग्यता का प्रतिफल है जो नफ़ा कर सकने की सामर्थ्य में निहित होती है; और वह इस समस्या से बिल्कुल कतराती है कि समाज के लिए इस योग्यता का क्या मूल्य है और किस प्रकार के प्रयत्न में वह नफ़ा कमाना वांछनीय होगा।

यह यह भी ज़ोर देकर कहा जाता है कि सम्पत्ति उन सद्गुणों की पोषक है जो समाज के लिए अत्यावश्यक हैं—अपने परिवार से प्रेम, उदारता, आविष्कार-वृत्ति, शक्ति। परन्तु यदि यह सच है तो यह तर्क उपस्थित होता है कि मानव समुदाय में से अधिकांश समाज-कल्याण के लिये अत्यावश्यक आवेगों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। यह सत्य नहीं है क्योंकि ये गुण व्यक्तियों में मौजूद पाये जाते रहे हैं, जिन्होंने कभी भी सम्पत्ति इकट्ठी ही नहीं की। इस प्रकार से कोई भी दानी तब तक नहीं हो सकता जैसे कि राक-फ़ेलर महाशय हुये हैं जब तक कि उसके पास राकफ़ेलर की नाईं सम्पत्ति न हो; परन्तु समाज को इस प्रकार दानी होने की योग्यता का तोल न उस बिन्दु पर पहुंच पाने के मूल्य के साथ करना है जहां पर कि इस प्रकार दानी होना संभव है। प्रोफ़ेसर हक्सले ने कभी सम्पत्ति नहीं इकट्ठी की परन्तु उनकी शक्ति एक प्राणवान युग में भी उल्लेखनीय थी। न्यूटन और क्लर्क मेक्सवेल और लाप्लेस जैसे मनुष्यों की आविष्कारिकता उनकी सम्पत्ति अर्जन की सहज वृत्ति को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न का परिणाम नहीं थी। जो ग़रीब आदमियों के जीवन को जानता है ऐसे किसी भी मनुष्य के दिमाग़ में अपने परिवार के प्रति प्रेम का आधार सम्पत्ति के लिये चाह नहीं हो सकता।

कभी-कभी लार्ड ह्यू सेसिल की तरह नैतिक आधार के प्रयत्न को बिल्कुल तिलांजलि दे दी जाती है और सम्पत्ति सिर्फ़ प्रभावशाली माँग को पूरा करने का एक परिणाम बन जाती है।[1] इस प्रकार का मत किसी भी सामाजिक सिद्धान्त की उपयोगिता से शून्य है क्योंकि यह स्पष्ट है कि हमें इस पर विचार करना ही चाहिये कि क्या वह मांग पूरी होनी ही चाहिये और यह कि उसके पूरे होने के क्या परिणाम हैं। अबीसीनिया में गुलामों की मांग है, परन्तु मेरा विचार है कि अधिकांश मनुष्य इस पर एक मत होंगे कि इस प्रकार की मांग को पूरा करने की कभी भी आज्ञा न देनी चाहिये। अश्लील साहित्य की मांग है, परन्तु बहुत कम ऐसे लोग होंगे जो उनके व्यापारियों को आदर की दृष्टि से देखेंगे। वेश्याओं की मांग है, परन्तु कानून के पास उनके लिये एक निश्चित उत्तर है जो इस मांग को परितुष्ट करके जीते हैं। लार्ड ह्यू सेसिल का सिद्धान्त वर्तमान व्यवस्था से सत का अभेद मानता

---

१ कन्ज़रवेटिज़्म अध्याय ५

है—उनकी युक्ति सीधी है कि किसी भी और तरीके से उसका नैतिक औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

एक ऐतिहासिक तर्क भी दिया जाता है। कहा जाता है कि प्रगतिशील समाज वे हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था के आधार पर बनाये जाते हैं; आमतौर पर पिछड़े हुये समाज वही हैं जो किसी प्रकार के सामूहिक आधार स्थित हैं। मेरा विचार है कि इस दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण सत्य है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर निर्मित समाज अपने वातावरण पर नियंत्रण करने की दृष्टि से उन समाजों से कहीं आगे बढ़ गये हैं जिनका कि रूप सामूहिक प्रकार का है और वे व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिये सामूहिक ढंग के सामाजिक संगठन से ज्यादा स्वतंत्रता की छूट हासिल करने योग्य बन गये हैं। परन्तु इसका कम से कम अर्थ जरूरी तौर पर यह नहीं कि व्यक्तिवादी समाज दूसरे प्रकार के समाजों की अपेक्षा अधिक सुख समृद्धि उपलब्ध कर लेते हैं; हम पिछड़े लोगों की प्रवृत्ति को इतना कम जानते हैं कि इस प्रकार का साधारण नियम नहीं बना सकते। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि पश्चिमी सभ्यता मेलानेशिया या ब्रिटिश विजय से पूर्व के भारत आदि में प्रकृति की क्रूरता के कहीं कम शिकार हैं।

परन्तु ऐतिहासिक तर्क भ्रमपूर्ण है यदि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के राज को एक आसान और अपरिवर्तनीय चीज़ समझता है। सर्वोपरि, व्यक्तिगत सम्पत्ति का इतिहास उन विभिन्न सीमितताओं का आलेख है जो इसकी सन्निहित शक्ति के प्रयोग पर लग रही हैं। यूनान और रोम में गुलामों के रूप में सम्पत्ति रखना जायज़ था, आज वह जायज़ नहीं है। इंगलैंड में वसीयत-सम्बन्धी बातों में काफी अधिक स्वतंत्रता है; फ्रांस में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में काफी कड़े कानून हैं। मैरिड वोमेन्स प्रापर्टी एक्ट (विवाहिता स्त्री सम्पत्ति अधिनियम) के लागू होने तक पति और पत्नी का भौतिक ऐकात्म्य होने के कारण पति को पत्नी की सभी सम्पत्ति पर पूरा नियंत्रण मिल जाता था; आज वह नियंत्रण पत्नी की मर्ज़ी पर निर्भर करता है। एक श्रेष्ठ प्रदेश की शक्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामी को काफी उदार मुआवज़ा देने का वचन दे सकती है परन्तु इसका सार यही है कि राज्य उचित शर्तों पर नैबोथ का वाइनयार्ड अपने अधिकार में ले सकता है। पब्लिक हैल्थ एक्ट्स (जन-स्वास्थ्य अधिनियम) मुझे अपनी जमीन पर जैसा मैं चाहूं वैसी इमारत बनाने की आज्ञा नहीं देते; मेरे लिए स्थानीय अधिकारियों को सन्तुष्ट करना और केन्द्र-नियंत्रित नियमों का पालन करना अनिवार्य है। सचमुच व्यक्तिगत सम्पत्ति के शासन का अर्थ है कि एक मनुष्य वहां तक ही अपनी इच्छानुसार काम कर सकता है जहां तक कि नागरिक कानून उसे करने की आज्ञा देते हैं। और हालांकि उस संकल्पना का दायरा, प्रत्येक अन्तःकरण में काफी विस्तृत है, फिर भी सम्पत्ति के अधिकारों का इतिहास अधिकांश में इसकी सीमा निर्धारण का इतिहास ही है।

यह कहना वास्तव में झूठ नहीं होगा कि ऐतिहासिक तर्क का अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं कि समुचित रूप से स्थित प्रत्येक मनुष्य अपने हित का सब से अच्छा निर्णायक है और यह कि समाज की सब से अधिक समृद्धि की आशा वहीं हो सकती है जहां उसे अपने हित की अभिव्यक्ति का मौका मिले। परन्तु इसका अर्थ होगा बहस को बदल कर

औचित्य समस्या पर ले जाना; और फिर ऐसा होने पर सम्पत्ति में सन्निहित सभी अधिकारों के प्रश्नों पर विवाद उठ खड़ा होगा। किसी भी काल में वे अधिकार आमतौर पर पूर्ण निरपेक्ष नहीं रहे हैं। राजनीतिक और धार्मिक दर्शन अधिकांशतः नियंत्रण के ऐसे प्रयत्न हैं, जो मेरे और तेरे के भेद के कारण उत्पन्न ख़तरों को कम से कम कर सकने के नियम बनाने के लिए हुए हैं। इन्हीं ख़तरों के खयाल के कारण अफ़लातून ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा को ठुकरा दिया। न्यू टेस्टामेन्ट और चर्च ने प्रारम्भिक काल के धर्मगुरुओं के 'स्टेवार्ड शिप' के विचार पर आग्रह करने के मूल में भी इसी प्रकार की भावना छिपी हुई थी। वास्तव में वह विचार कभी पूर्ण रूप से लागू नहीं किया गया, और मध्यकालीन इतिहास में इसकी दूसरे नये रूप में व्याख्या के कारण यह बस दायित्व पर आग्रह भर बन कर रह गया जैसे सक्रिय नियंत्रण का रूप कभी भी नहीं दिया गया, क्योंकि चर्च ने संसार से समझौता कर लिया। इसने अधिकारों के बदले दान स्वीकार किया। इसने कारणों पर आघात करने के स्थान पर लक्षणों का शमन करने का प्रयत्न किया। यह बात मानते हुए कि चर्च का प्रारम्भिक काल नाजुक था, यह कहना पड़ेगा कि जिस चर्च ने तत्कालीन आर्थिक प्रणाली पर आघात किया होता, उसे बुरी तरह नष्ट होना पड़ता। और उस समय तक जब वह ताकत का स्रोत हो चुका था, उसने ऐसे काफी लोग खोज लिये थे, जो अपनी सम्पत्ति खर्च करके मुक्ति खरीदने के लिये तैयार थे। वह उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति की जड़ों से बांध देना चाहते थे। आत्मवादी फ्रांन्सिसकनों का दमन इसका सब से बड़ा सबूत है। उस कार्य से चर्च ने यह स्पष्ट कर दिया कि उत्तराधिकार विहीन मनुष्यों के लिए इसके पास दान के सिवा और कोई सन्देश नहीं।

आधुनिक दृष्टिकोण के लिए विशुद्धतावाद होकर मार्ग था। रोमन चर्च में निगमित सत्ता के पतन, तथा मनुष्य द्वारा व्यतीत किये जाने वाले जीवन में आन्तरिकता पर ज़ोर देने के कारण उसकी सम्पत्ति की समस्या अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण बन गई। विशुद्धतावाद ने मनुष्यों को अपने ही ऊपर निर्भर रहना सिखाया। विशेषकर धार्मिक उत्पीड़न के परिपार्श्व में इसका अर्थ रहा राज्य द्वारा लागू किये गये सभी नियमों में अविश्वास। इसने एक ऐसे दृष्टिकोण को सहज ही पैठ जाने दिया जिसका तर्क था कि सम्पत्तिवान् होना भगवत्कृपा का चिह्न है और गरीबी भगवान् के प्रकोप का सूचक है। निस्संदेह विशुद्धतावाद सम्पत्ति के खतरों के प्रति काफी सजग था। इसका फालतू खर्च पर कठिन आघात, इसका यह कथन कि धन का गरीबों पर दमन करने के लिए प्रयुक्त न किया, जैसा कि रिचर्ड वेक्सटर कहता था, इस बात के सबूत हैं कि यह निर्विवाद रूप से व्यक्तिवादी नहीं था। परन्तु अपनी अनिवार्य प्रकृति के कारण यह व्यक्तिवादी हुए बिना न रह सका और यह राज्य को स्वार्थ-प्रेरित मनुष्यों का एक ऐसा निकाय समझने लगा जिसको किसी रोक के अभाव में, सफलता प्रयत्न के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होती है। उनके विचार राजनीति के उस नये दर्शन से मिलते थे, जिसका सब से उल्लेखनीय व्याख्याकार हॉब्स था। उससे लेकर एमडस्मिथ तक भले ही कितने प्रकार की संस्थापक व्याख्या इसकी हुई हो, परन्तु स्वार्थ सामाजिक संगठन की कुंजी बन गया। राज्य का लक्ष्य इस अर्थ में स्वातंत्र्य प्राप्त करना रह गया कि वैयक्तिक संकलपना के प्रयोग के लिए साफ रास्ता मिल जाये।

लॉक ने कहा; समान तंत्र नागरिक हितों को बढ़ाने के लिए है और "नागरिक हित से मेरा मतलब स्वाधीनता, निकाय की अनतिक्राम्यता और इस प्रकार की बाहरी चीजों जैसे धन, जमीन, घर, मेज, कुर्सी आदि और इसी तरह की अन्य चीजों पर अधिकार होना है।[1] यहां पर अपने साथियों से सहयोग करके बनाई गई नैतिक व्यवस्था के लाभ में व्यक्तिगत भाग लेने जैसी कोई बात नही। साधारण और व्यक्ति का हित यहां दोनों एक ही हैं, और जिससे व्यक्ति का हित होता है, उसी से सामान्य हित का भी उन्नयन होता है। परन्तु व्यक्ति-हित की उपलब्धि प्रत्येक व्यक्ति पर ही निर्भर करती है, राज्य का सिवा इसके और कोई काम नहीं होता कि वह जीत हासिल करने वालों को विजय के लूटे हुए माल को सुरक्षित करे। इस दृष्टिकोण को उस सुखवादी विचारधारा से और भी बल मिला, जो कि उपयोगिवाद की जड़ में समाया हुई थी। संक्षेप में, औद्योगिक क्रांति ऐसे समय पर हुई जबकि मुख्य रूप से प्रत्यक्ष हेतुक आशावाद के कारण संपत्ति के अधिकार सामाजिक सुरक्षा की आधारशिला बन चुके थे और वे मोटे तौर पर असीमित अधिकार थे।[2]

निश्चय ही इस सिद्धांत के प्रति विरोध प्रकट किये गये थे। जब विशुद्धतावादी अपनी शक्ति के शिखर पर थे, उस समय विंस्टेनली और किसान-कम्युनिस्ट अपना यह विश्वास प्रकट करने लगे थे कि व्यक्तिगत संपत्ति में अन्याय होता है। रूसो के प्रारम्भिक विचारों से प्रभावित मेबली और मोरैली एक साम्यवादी योजना की नैतिक आवश्यकता पर जोर देने लगे थे। परन्तु समाज ऊँच-नीच की ऐसी सख्ती में बँधा था कि उनके तर्कों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना किसी ने जरूरी नहीं समझा। उसे औद्योगिक क्रांति और फ्रांस की क्रांति दोनों की संयुक्त शक्ति की जरूरत थी ताकि यह व्यक्तिवाद की स्थापना को असंभव सिद्ध कर सके। एक ने आर्थिक समाजवाद को जन्म दिया और दूसरे ने व्यक्तित्व के संबंध में सोचे गये अधिकारों के बारे में एक दृष्टिकोण दिया। उनके संयोग का अर्थ था अधिकारों के बारे में उस दृष्टिकोण का उच्छेद, जो संपत्ति को राज्य का अधिकार मानता था। फ्रांस में सन्त सिमों और फोरिये, इंग्लैण्ड में हाल और टाम्सम, ब्रे और ओवेन जैसे विचारकों के दृष्टिकोण का यही अर्थ है। सम्पत्ति एक ऐसा उत्पादन समझी जाने लगी जिसमें समाज की सभी शक्तियों के मुकाबले व्यक्तिगत श्रम कम लगता हो। सामन्तवाद के पतन और सत्ता पर मध्यम वर्ग के अधिकार ने शासक वर्ग को उस पवित्रता से च्युत कर दिया जो उनके साथ सम्बद्ध प्रतीत होती थी। क्योंकि फ्रांसीसी क्रांति ने, शायद अर्द्ध-चेतन रूप में ही स्वातन्त्र्य की कामना में, समानता की मांग को जोड़ दिया; और समानता की व्याख्या किसी रूप में भी की जाय, इसमें संपत्ति के व्यक्तिवादी सिद्धांत में फेर-बदल करना सम्मिलित ही रहता है। वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखना, जिसका कि श्रेष्ठ अर्थ-शास्त्रियों ने अपनी रचनाओं में प्रशंसा की थी, उस समय असंभव हो गया जबकि उसे बनाये रखने का अर्थ था वर्तमान असमानताओं का बनाये रखना। मंच नवीन उद्भाव-नाओं के लिए साफ होने लगा।

---

१. ए लैटर कन्सर्निंग टालरेशन (ग्रंथावली, १७२७ का संस्करण खंड २ पृ. ३२९)

२. देखें, हेमन्ड कृत 'द टाउन लेबरर' अध्याय १०

१८४८ के आश्चर्यजनक वर्ष का सचमुच में यही वास्तविक अर्थ है। मार्क्स और ऐंगेल्स, प्रूधो और लुई ब्लांक अपने विभिन्न तरीकों द्वारा यह मांग कर रहे थे कि उनके समय की अराजकता के स्थान पर सुव्यवस्था कायम हो। सुव्यवस्था में दुबारा क्रमबद्ध किया जाना शामिल था, और दुबारा क्रमबद्ध करने का अर्थ था अधिकारों की मान्यता। पश्चिमी योरोप की सामाजिक व्यवस्था इन नई मांगों से तालमेल करने में धीमी पड़ गई। उन्नीसवीं सदी के जो राज्य "व्यक्ति ही सब कुछ है" की भावना से शुरू हुआ था, बीसवीं सदी के शुरू में एक ऐसा आधार खोजने लगा जिस पर कि वह समाजवाद से समझौता कर सके। और समाजवाद से तात्पर्य था राज्य की उत्पादनशीलता मनुष्यों के प्रकृत अधिकारों की पूर्णता के लिए युक्त हो। इसलिए आधुनिक राज्य में टैक्स वसूल करने के नियम टैक्स दे सकने की योग्यता के अनुसार बनाये जाने की बात मानी गई। इसमें मताधिकार लगभग सार्वजनीन था। यह जनता को निःशुल्क शिक्षा— भले ही वह नीचे स्तर की ही— प्रदान करने का हामी था। इस ने बीमारी और बेकारी की तकलीफों से बचने के लिए व्यवस्था की। इसने चीजों की, घर के पथ्यों की तरह और बुढ़ापे की पेंशन को निगम में विचारने वाली समस्यायें बना दिया। इन परिवर्तनों का विश्लेषण उस दृष्टि से सिवा और किसी से करना कठिन है कि सम्पत्ति संबंधी धारणा में एक परिवर्तन हो रहा था। मनुष्य अब भी धनवान हो सकते थे, परन्तु राज्य सामाजिक अवसरों में पाई जाने वाली असमानताओं को मिटाने के लिए अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करने लगा।

यह प्रयत्न तब भी जारी था जबकि १९१४ के युद्ध ने सभी सामाजिक पद्धतियों में गड़बड़ी फैला दी थी। इसके फलस्वरूप जो परिणाम कहीं भी उभरे हैं, उनसे राज्य के कार्यों में बहुत वृद्धि हुई है। समाज के आहत तन्तुओं को बनाये रखना १९१४ के मुकाबले कहीं ज्यादा व्यापक और बेहद महँगा उद्यम बन गया; इसमें पहिले जिसे संपत्ति प्रकृत अधिकार समझा जाता था, उस पर बड़ा हमला शामिल था जैसे कि मकान मालिक के सामने घर में रहने वाले की रक्षा। परन्तु सर्वोपरि इन सब कार्यों का परिपार्श्व सामाजिक धारणाओं की बदली हुई तराजू द्वारा ही निश्चित होता था। जिन मनुष्यों को राज्य के लिए मर मिटने की आज्ञा दी गई थी, उन्होंने यह मांग की कि वे भी इसमें जीवित रह सकें। जिन मनुष्यों को यह कहा गया कि वे युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, उन्होंने इस बात का इसरार किया कि हम शांतिकाल में भी महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्तिगत उद्योग को इस बात पर चुनौती दी गई कि उसके परिणामों में इन लोगों का भाग, उनसे कहीं अधिक है, जिन्होंने उनके उत्पादन में श्रम नहीं किया। व्यक्तिगत स्वामित्व से इस बात की सफाई मांगी गई कि यह बताये कि उसने उस धंधे से जो रकम प्राप्त की है, उसे देखे, उसे संपन्न करने में उसके योग का क्या अनुपात रहा है। यह तर्क किया गया कि संपत्ति के आधार पर अधिकार स्पष्ट रूप से सन्तोषप्रद नहीं है। क्योंकि सभी संपत्ति समाज के अवलम्ब पर निर्भर करती है, और इसलिए अधिकार समाज द्वारा निर्मित होते हैं। परन्तु जो अधिकार सामाजिक रूप से निर्मित होते हैं, उनका सम्बन्ध सामाजिक जरूरतों से होता है। ये मनुष्य की व्यक्तिगत रूप में ज़रूरतें होती हैं और आधुनिक राज्य में, अधिकांश अपनी जरूरतों को संतुष्ट नहीं कर पाते। संपत्ति के अधिकार जितने

भी व्यापक होंगे, उतने ही असमान वैधानिक लाभ होंगे और संपत्ति और सेवा के बीच कम निकट का सम्बन्ध होगा। दूसरे लोगों को अलग अलग करके पण्यों पर नियंत्रण करने के संपत्ति जनित अधिकार ने निम्न समस्यायें पेचीदा रूप में उत्पन्न कर दीं: (१) कौन से पण्य व्यक्ति के नियंत्रण के लिए छोड़ दिए जायें, विशेषकर इन मामलों में जैसे बिजली की शक्ति, जो समुदाय के जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है और (२) कितने पण्य आदमी के नियंत्रण में छोड़े जा सकते हैं—शर्त यह है कि इस नियंत्रण की बात में जो शर्त निहित है, उसके कारण नागरिकता की आवश्यकताओं तक पहुँचाने के बराबर अवसरों पर आघात न पहुँचे। इन सबके सिवा संपत्ति के संबंध में एक ऐसे दार्शनिक सिद्धांत की मांग थी जिसके कारण व्यक्तिग स्वामित्त्व का बचाव करना नैतिक रूप से सम्भव हो जाय। इसकी आवश्यकता इसलिए और भी शीघ्र थी क्योंकि क्रांतिकारी साम्य-वाद के तेजी से उदय ने वर्तमान सम्यता की समूचे ढांचे की जड़ को चुनौती दे दी थी। बीसवीं सदी में रूस, जैसा कि तुरन्त ही देखा गया, उसी तरह महत्त्वपूर्ण होने वाला था, जैसे उन्नीसवीं सदी में फ्रांस था। जैसे कि फ्रांस में क्रांति के फलस्वरूप राजनीतिक विशेषा-धिकारों मे समानता शामिल हो गई थी उसी प्रकार रूस ने आर्थिक विशेषाधिकारों की समानता की पूर्व सूचना दे दी थी। उस पीढ़ी का मुख्य मसला था सम्पत्ति की ऐसी धारणा की खोज जो मनुष्यों के नैतिक ज्ञान को संतुष्ट करती हो।

—२—

यदि हम मनुष्य को अधिकारों का विषय मान लें तो सम्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा की कल्पना की जा सकती है। तब उस सीमा तक पण्यों पर नियंत्रण करने का अधिकार है जहां तक कि इस प्रकार नियंत्रण उसे अपना सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त करनेके योग्य बनाता है। अर्थात् वह राष्ट्रीय लाभांश के उस भाग पर अपना अधिकार जतला सकता है, जो उसे उन प्रारम्भिक भौतिक आवश्यकतावों अर्थात् भूख-प्यास आश्रय की मांग को संतुष्ट करने योग्य बनाता है जिनके संतुष्ट न किये जाने से उससे उसके व्यक्तित्त्व का विकास नहीं होगा। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के भाग की मांग और उस भाग के फलस्वरूप पर जो अधिकार प्राप्त होता है, उसे व्यक्तिगत और निर-पेक्ष दावा समझना ठीक होगा। यह अधिकार सिर्फ सामुदायिक बोर्ड में स्थान पाने का ही नहीं, जैसा कि प्लेटो द्वारा कल्पित राज्य में है। अगर हमने संस्थाओं के विकास से कुछ भी सीखा है, तो वह यही है कि एक सी आदतों का लादा जाना हमेशा खतर-नाक होता है। साझे जीवन में भाग का यह मतलब तो नहीं कि वह जीवन एकरूप माप पर बना है। इसका मतलब यह नहीं कि एक ही जैसा खाना खाया जाय, एक ही जैसे कपड़े पहने जायें और जिन घरों में रहते हों उनमें सिर्फ सड़क के किसी विशेष भाग पर स्थित होने का ही भेद हो। जो जीवन हम बितायें, उसमें पसंद की गुंजाइश होनी चाहिए, नहीं तो वह जीवन ही नहीं रहेगा। हमें आत्म-सिद्धि करनी चाहिए और हम आत्म-सिद्धि तभी कर सकते हैं, जब विभिन्न संभावनाओं में निर्णय करने की गुंजाइश हो। इसलिए कम से कम संपत्ति के बारे में हमारे दावे का यह मतलब होना चाहिए कि हमें चुनने का अधिकार हो। कम से कम उन चीज़ों के चुनने का जिन के द्वारा हम अपनी मांग

वास्तविक ज़रूरतों को नहीं समझेगा। वह समाज को एक ऐसा वर्ग बनाये रखता है जो केवल स्वामित्व के बूते पर जीता है, कभी अपने गरीब सदस्यों के दावों का यथोचित आदर नहीं कर सकता। यह इसलिए कि वह वर्ग समाज की संस्थाओं पर अधिकार बनाये रहेगा। खर्च करने की शक्ति से जो विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, वह इस वर्ग को प्राप्त रहेंगे। वह रुचि के मानक स्थापित करेगा। वह उस काननी वर्ग को काम देंगे जो किसी भी राज्य में लगभग आवश्यक रूप से धनवानों पर निर्भर रहता है? वह राजनैतिक शक्ति के स्रोतों तक तुरन्त पहुँच सकेगा। वह उस वर्ग के लिए आदतें और आदर्श निर्धारित करता है, जो धन अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। ऐसे लोगों को अपनी आर्थिक स्थिति के कारण समाज में प्रमुखता मिलती है। अपनी प्रतिष्ठा के कारण वह राज्य के लिए परिपार्श्व स्थिर करने योग्य होता है।

समकालीन सामाजिक ढांचे का अध्ययन करके कोई भी इस बात की सत्यता की पड़ताल कर सकता है। उदाहरण के लिए हमारी संसद में अब भी इस वर्ग के लोग आ जाते हैं क्योंकि राजनैतिक पेशे में उन सबके लिए कठिनाइयां हैं जिनकी जीविका का आधार संपत्ति नहीं है। अब भी शिक्षा का स्तर समाज में माता-पिता के स्थान से निश्चित होता है; ईटन और क्राइस्ट चर्च में पढ़ने जाना परिवार की आदत होती है। सेना में बहुत सी सर्वोत्तम रेजीमेंटों में स्थान विशेष तौर पर प्राचीन परिवारों के लिए सुरक्षित होते हैं। विकट स्थिति में उनमें से सभी हिम्मत दिखाते हैं; परन्तु वही सब तो ऐसे नहीं हैं जो सैनिक विज्ञान को अच्छी तरह समझ लेते हैं। कूटनीतिक सेवा भी ऐसा क्षेत्र है जिसमें वह लोग बड़ी कठिनाई से प्रवेश कर पाते हैं जो एक वर्ग विशेष में उत्पन्न नहीं होते। इस वर्ग के लोग धर्मार्थ कामों में भाग अवश्य लेते हैं। उनके बाज़ार और ब्रिज पार्टियां जिनमें कभी-कभी राजघराने का कोई सदस्य आता है, उन्हें यह याद दिला देते हैं कि उनका ग़रीबों के प्रति कोई कर्त्तव्य है। वह जाड़ों में लक्सर जाकर अपनी बुद्धिजीविता का परिचय देते ह, अपना राष्ट्रीय चरित्र वह लोमड़ी और फ़ाख्ता के शिकार में लगे रह कर सजीव रखते हैं। वह वर्ष के सिर्फ ६ महीने लन्दन में रहते हैं। जब वह "शायर में रहने के लिए या टिविमेरा को आते हैं, तो लन्दन उन सिर्फ ६० लाख लोगों को छोड़ कर जो उनके लिए काम करते हैं, खाली हो जाता है और समाचारपत्रों का एक बड़ा संगठन इसलिए रखा जाता है कि इस आवागमन की तस्वीरों से लन्दन निवासियों को उपस्कृत करें।

मेरा विचार यह है कि कोई भी गम्भीरतापूर्वक यह दावा नहीं कर सकता कि इस प्रकार का वर्ग समुदाय के लिए किसी भी हद तक लाभदायक है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी अभिजात वर्ग का इसलिए पक्ष नहीं लिया जा सकता कि उनके कुछ सदस्यों ने उच्च आदर्शों के प्रति अपने को समर्पित कर दिया था। वह ऐसा जीवन बिताते हैं जिसे आचार की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता। और समाज पर उनका बोझ इसलिए ज्यादा होता है कि उनकी खर्च करने की शक्ति के कारण समाज को बहुत सा प्रयत्न उनके लिए निरुद्देश्य सुख-सुविधायें जुटाने के लिए करना पड़ता है। उनका जो बोझ पड़ता है, वह इतना ही नहीं। उनके पास परम्परा का आकर्षण है और जिन्होंने अपने प्रयत्नों से काफी आमदनी नकल करने की चेष्टा में उसी प्रकार

के और वैसे ही उद्देश्यों वाले जीवन को प्राप्त करने के लिए विवश हो जाते हैं। नगरवासियों के अपने में शामिल करके ही अभिजातवर्ग अपने को बढ़ाता है। एक पीढ़ी का परचूनी दूसरी पीढ़ी में लार्ड हो जाता है। इस समाज की चोटी पर एक ऐसे धनिक वर्ग होत है जो कुछ काम नहीं करता और जिसे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का ध्यान बिल्कुल ही नहीं होता। निस्संदेह ऐसे परिवार हुए हैं जिनमें अपने आश्रितों की खुशहाली के प्रति उत्साह रहा है और जो कभी कभी ही देखने को मिलता है। परन्तु समाज का स्वरूप तो इस आधार पर निर्धारित होता है कि उसके अधिकतर सदस्य कैसे हैं न कि अपवादों पर। यदि सभी मनुष्यों के लिए समाज में लाभ उठाने के बराबर के अधिकारों की व्यवस्था करनी हो तो स्वाभाविक ही है कि एक वर्ग इस प्रकार नहीं रह सकता कि उसे दुगुना हिस्सा प्राप्त हो। यह तभी होता है जब एक वर्ग केवल स्वामित्त्व के बल पर जीता है। इसका केवल यही परिणाम नहीं होता कि ऐसे लोगों को समाज को योग देने की कोई जरूरत नहीं, बल्कि यह भी होता है कि वे इस बात की ज़िद करते हैं कि समाज उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए योग दे। ऐसी स्थिति तो इसलिए है वे कि किसी अभिजात कुल में उत्पन्न हुए हैं; और उनके माता-पिता चाहे जितने कुलीन क्यों न हों, उसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें सदा के लिए समाज पर अपना बोझ डालने का अधिकार मिल जाय। हम मिल्टन के वंशजों को पालने की किसी स्थायी ज़िम्मेदारी को नहीं मान सकते और किसी भी तर्क-पूर्ण सिद्धांत के आधार पर यह मानना कठिन है कि हम नेलग्विन के वंशजों को सदा के लिए पालने पर बाध्य हों। हमारी सम्पत्ति व्यवस्था ऐसी है जिसका परिणाम न्याय के किसी सिद्धांत पर आधारित नहीं है। इसलिए यह संपत्ति के ऐसे किसी सिद्धांत का हिस्सा नहीं हो सकती जिसे लोगों का नैतिक समर्थन प्राप्त हो सकता हो।

निस्संदेह इस तर्क का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अपने बेटे-बेटियों के पोषण के लिये व्यवस्था करने का अधिकारी नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि वे अपने बच्चों की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही काम करते हैं। इसलिए ऐसा उचित है कि उसके बच्चों को ऐसा प्रशिक्षण और सहारा मिले, जो उन्हें इस योग्य कर दे कि जब वह जीवन-संग्राम में घुसें, तो उसकी चोटें झेलने की शक्ति उनमें हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें इस प्रकार का सहारा मिलना चाहिए कि वह इस संग्राम की सच्चाई से अपने को बिल्कुल बचा लेने योग्य हो जायं। औसत मनुष्य की तरह उन्हें भी अपने पसीने से अपनी रोज़ी कमानी चाहिए। उन्हें सुरक्षा मिलनी ही चाहिए। उसे इस बात का विश्वास होना चाहिए कि यदि उनके वयस्क होने से पहले उसकी मृत्यु हो जाय तो उनकी परिस्थितियां ऐसी नहीं होंगी, कि उनका जीवन ओछा और असहनीय हो जाय। निस्संदेह यह स्थिति उन सभी मनुष्यों की होती है जो अपने बच्चों के वयस्क होने के पहले मर जाते हैं। परन्तु इस क्रूर स्थिति के कारण हमें इस बात का अधिकार नहीं मिलता कि जिन लोगों को ऐसी सुरक्षा मिलनी चाहिए उनकी संख्या बढ़ाई जाय। यदि आनुवंशिकता, वैधव्य काल में आय और बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए हो तब तो सर्वथा उचित है परन्तु उस समय के बाद सम्पत्ति को बनाये रखना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

मेरा विचार है कि अधिकांश लोग उस सम्पत्ति पर भी आपत्ति नहीं करेंगे, जिसमें अत्यन्त निकट की और व्यक्तिगत चीज़ें होती है और जिनका मूल्य मुख्यतः भावना-प्रधान होता है। किसी मनुष्य की पुस्तकें, चित्र आदि अर्थात् वे चीज़ें जिन पर उनके व्यक्तित्त्व की छाप हो, उसकी ऐसी बहुमूल्य यादगारें हैं, जिन्हें नष्ट नहीं करना चाहिए। राज्य तभी उनकी पड़ताल कर सकता है जब वे कोई निधि स्थापित करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं।

इस पहलू से संपत्ति का औचित्य दिखाई देने लगता है। यदि सम्पत्ति व्यक्तिगत प्रयत्न का परिणाम हो, तो उसका अस्तित्व रह सकता है। यदि किसी काम के फलस्वरूप है, तो उचित है। एक डाक्टर, नाविक, आविष्कारक, या न्यायाधीश सभी की संपत्ति एक निश्चित सेवा के निश्चित प्रतिदान की प्रतीक है। इस प्रकार की संपत्ति उचित रूप से अधिकारों का पूर्णरूप है क्योंकि यह कर्त्तव्यों के पालन के फलस्वरूप अर्जित हुई। यह इस कारण प्राप्त होता है कि इसके स्वामी ने समाज में एक कर्तव्य का पालन किया है। उसने अपने जीवन का मूल्य चुकाया है। उसने अपने बूढ़ा होने से पहल अपने पोषण की कीमत समाज को चुकाने की चेष्टा की है। वह सामाजिक संगठन में पराश्रयी होकर नहीं रहा है। उसने सारे समाज को समृद्ध करने के लिए अपने प्रयत्नों को औरों के साथ मिलाकर नागरिक बनने की चेष्टा की है। उसने उन लोगों की उत्पादनशीलता को निश्चित रूप से बढ़ाया है जो उत्पादन के बल पर जीवित रहते हैं। वह दूसरे के प्रयत्नों पर बोझ नहीं है।

परन्तु यह तर्क देना कि संपत्ति वहां उचित है जहां यह कृत्यों का परिणाम है, निस्संदेह बड़ी व्यापक बात है। इसमें संपत्ति का दो प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। सबसे पहले संपत्ति की इस कल्पना का मतलब है इनाम का सिद्धांत और दूसरे औद्योगिक संगठन का सिद्धान्त। अर्थात् इसका मतलब है एक ऐसा तरीका जिसके द्वारा हम संपत्ति के अधिकारों की सीमाएँ निश्चित कर सकते हैं और एक ऐसा ज़रिया जिससे कि हम ऐसे ढांचे का प्रकार निश्चित कर सकते हैं जिसकी आवश्यकता सम्पत्ति के उपयोग के कारण पड़ जाय। उदाहरण के लिए, क्या कोई मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा देश के आर्थिक जीवन पर वैसा संपूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है, जैसा कि जर्मनी में स्व० हर स्टिन्नेस ने कर लिया था? क्या इस प्रयत्न का अर्थ परिश्रम होता है या सामर्थ्य के रूप में प्रयत्न? क्या हम उन साधनों का पता लगा सकते हैं कि जिनसे हम एक राज के परिश्रम और एक बड़े सर्जन के परिश्रम के लिए दिये जाने वाले पारिश्रमिक में भेद कर सकते हैं? क्या हम स्वामित्व के रूप में संपत्ति अर्थात् जब उसको धन में परिवर्तित कर दिया जाय और पूंजी के रूप में उसे लगाया जा सके और व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में अधिकारों के भेद को आंक सकते हैं? अगर मैं एक हज़ार पौंड प्रति वर्ष कमाता हूँ, और अपनी पसंद के अनुकूल ७५० पौंड में बसर कर लेता हूँ, तो बाकी बचे २५० पौंड के मालिक होने की हैसियत से जो मैं पूंजी के रूप में प्रति वर्ष लगा देता हूँ, उस पर मेरा क्या अधिकार है? क्या मैं किसी ऐसे पण्य से होने वाली आय का हक़दार हूँ जो मैं किराये पर उठा देता हूँ? क्या वह आय उस जोखिम के अनुसार घटे बढ़ेगी जो मैं उस पूंजी को लगाने में उठाता हूँ? क्या मैं अपनी पूंजी को किसी ऐसे जीवट में लगा सकता हूँ जिससे पूरे देश

की जनता के भाग्य की बागडोर मेरे हाथ में आ जाय परन्तु वह मेरे लाभ से कुछ भी फायदा उठाने की आशा न कर सकती हो, जैसा कि मोरक्को मे मानेसमान भाइयों ने किया था ? स्पष्ट है कि संपत्ति के अधिकार इतने सीधे-सादे ढंग से निश्चित नहीं किये जा सकते। समस्या का उल्लेख जटिल है क्योंकि वह स्वयं जटिल है और उसका उत्तर सीधेयादे रूप में दिया जाय तो वह समस्या का उत्तर नहीं होगा।

—३—

व्यावहारिक रूप में कहें तो कहना होगा कि पारितोषिक के सिद्धांतों को चार मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है। एक तो साधारण साम्यवादी तर्क है कि सबकी आय समान हो। इसकी ओर से किया जाने वाला तर्क आमतौर ते उतना दृढ़ माना नहीं जाता जितना कि वह है। एक मनुष्य का समाज पर "प्रभाव" अधिकांश रूप से उसकी क्रय-शक्ति पर आधारित है; इसलिये, यदि हम समाज तक उसकी पहुँच को उसके पड़ोसी के समान ही करना चाहते हैं तो यह उचित है कि हम उसकी आय उसके पड़ोसी के बराबर कर दें। परन्तु, यदि एक बार हम भेद भाव लागू कर देते हैं तो तो फिर उनका आधार एकता का होगा। किसी न्यायाधीश की आय और राज की आय में अन्तर मोटे तौर पर उस कीमत का अन्दाजा है, जिससे कि प्रत्येक की सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं। सच तो यह है कि अमरीका में अच्छे न्यायाधीश ब्रिटेन के मुकाबले काफ़ी कम वेतन पर मिल जाते है और एक सफल राज ब्रिटेन के मुकाबले काफी अधिक वेतन पर मिलता है। हमें उस वंशविषयक तर्क न भूलना चाहिए जिसे मि० बर्नर्ड शा ने इतनी अच्छी तरह प्रमाणित किया है।[1] जसा कि उन्होंने ज़ोर देकर कहा, "वर्गों के बीच मुख्य भेद व्यावहारिक रूप मे आर्थिक भेद भाव है; और कोई ऐसा मौका आ भी जाय कि एक ड्यूक फैक्टरी में काम करने वाली लड़की से विवाह कर ले, परन्तु उसकी बहिन स्वप्न में भी नहीं सोच सकती कि वह एक फैक्टरी में काम करने वाले से विवाह करेगी। यदि कोई राजकुमारी साधारण नागरिक से विवाह कर लेती है तो वह सदैव समृद्ध नागरिक होता है। अपने वर्ग से बाहर शादी करने के बारे में चुनाव अधिकांश रूप मे धन की दृष्टि से किया जाता है। विवाह के संबंध मे अंग्रेजी लार्डों की अमरीका में एक विशेष कीमत है। आय में समानता द्वारा जैसा कि शॉ महोदय ने कहा है, पूरे समुदाय में सभी लोग एक दूसरे से विवाह कर सकेंगे। इसके बारे में ज़रा भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार के विवाहों से नस्ल के गुण मे वृद्धि होगी।

परन्तु पारितोषिक की समानता में भी कुछ कठिनाइयां हैं, जिनका हमारी स्थिति में कोई समुचित उत्तर नहीं है जबकि सभी से परिश्रम की मांग की जाती है जिससे कि हम भली प्रकार रह सकें तो असमान परिश्रम के लिए समान पारितोषिक प्रदान करने में कोई औचित्य नहीं दीखता। कंजूस कंवारों को या धर्मरत चिर-कुमारी को अवश्य ही उतना धन पारिश्रमिक रूप में नहीं मिलना चाहिए जितना उन माता-पिताओं को, जिनके पाँच-छ: बच्चे हों और न ही हम इस मनोवैज्ञानिक तर्क की अवहेलना कर सकते हैं कि पश्चिमी सम्यता की आदतों को देखते हुए आपकी समानता केवल क्रांति द्वारा ही संभव

---

(१) दि केस फ़ार इक्वैलिटी—नेशनल लिबरल क्लब प्रकाशन १९१३

है.। और संभवतः उस क्रांति की एक मुख्य विशेषता यह होगी कि फ़ौजियों को सरकार के प्रति वफ़ादार बनाये रखने के लिए एक खास दर पर वेतन देना होगा। और फिर रूस के अनुभव से भी यह साफ़ है कि वह समाज-व्यवस्था के प्रारम्भिक काल में कम से कम आदतों में विभिन्नता को तो छूट दी ही जाती है। यह मानने में कोई तुक नहीं कि वर्तमान असमानताओं में अणुमात्र भी तर्क है। परन्तु हम चाहे कितनी मुस्तैदी से उसको कम करना चाहें, फिर भी अभी हम समानता के मार्ग पर पूरी तरह से चल नहीं सकते। साम्यवादी सिद्धांत में इस प्रमुख सत्य पर ज़ोर दिया जाता है कि एक ऐसा समाज जो मनुष्यों को मुख्यतः उनकी संपत्ति के आधार पर आंकता है, नैतिक दृष्टि से अन्यायोचित है, परन्तु आगे आने वाले काफ़ी लम्बे समय तक आंकने का अधिक अच्छा ढंग अन्य किसी साधन से मालूम करना पड़ेगा।

साम्यवादी योजना के विरोधी तत्त्व का यह स्वरूप भी कम अनुपयुक्त नहीं है कि पारिश्रमिक बाज़ार की सौदेबाज़ी के आधार पर निश्चित किया जाय। हमसे यह कहा जाता है कि संभरण और मांग इस बात की सूचक हैं। मनुष्य के पास जो श्रम बेचने के लिए है, उसकी समाज में क्या क़द्र है? संभरण और माँग की परस्पर प्रतिक्रिया के कारण मज़दूर को क्या मिलता है। यह बात सबसे अधिक इस बात की सूचक है कि यह पारितोषिक दया भावना से मिल जाता है। यदि (१) यह ज़रा सा भी सत्य होता (२) और नैतिक दृष्टि से उचित होता, तो बड़ी अच्छी बात थी। लेकिन पहली बात तो यह है कि इससे पहले कि संभरण और मांग सही आर्थों में लागू हो सकें, उन सभी तत्त्वों को हटा लेना चाहिए जो उन्हें निष्प्रभाव करती हों। स्वास्थ्य अधिकारियों का पारिश्रमिक ब्रिटिश मेडिक असोसिएशन द्वारा योग्य चिकित्सक के लिए आकर्षक समझे जाने वाले धन के रूप में निर्धारित होता है न कि इस दृष्टि से कि एक योग्य चिकित्सक कितने धन पर आकर्षित होगा। जिन उद्योगों में न्यास बने हुए हैं वहाँ मज़दूरों की आय बहुधा विशेष तौर पर वहाँ की संभरण और मांग की सेवाओं के आधार पर नहीं बल्कि इजारेदारी से उत्पन्न विशेष स्थिति के कारण निश्चित की जाती है। अधिकांशतः न्यायाधीश का वेतन रूढ़िगत होता है। बहुत से मनुष्य उस पद को बड़ा आर्थिक नुक़सान सह कर भी इसलिए स्वीकार कर लेंगे—जैसा कि काफ़ी करते हैं—क्योंकि इस पद से सम्मान मिलता है। यदि किसी नौकरी के लिये सभी को प्रार्थना पत्र भेजने का समान अवसर हो तो संभरण और माँग ही आय का सही सूचक हो सकती है। सच तो यह है कि अधिकतर पदों में एक खास रूढ़िगत जीवन-स्तर होता है और उस पेशे की आमदनियां संभवतः गोसिमन कर्व हैं जो उस स्तर की औसत के बारे में हैं।

पर मैंने यह नहीं कहा है कि बाज़ार की सौदेबाज़ी नैतिक दृष्टि से योग्यता की यथेष्ट कसौटी है। इससे औसत औद्योगिक समुदाय के एक तिहाई लोग लगभग भुखमरी की स्थिति में रहते हैं। उनके लिए इसका अर्थ है, कमज़ोर सेहत, अविकसित बुद्धि, दयनीय मकान, और ऐसा काम जिसमें मोटे तौर पर उन्हें अधिकांशतः दिलचस्पी नहीं होती,[1]

१. देखें सारजेंट फ्लोरेंसकृत 'इकनामिक्स आफ़ फटीग एण्ड अनरेस्ट' (१९२४) पृष्ठ ३७४ और वालस कृत 'द ग्रेट सोसायटी' पृष्ठ ३६३।

क्योंकि वेतन का निर्धारण बाज़ार की सौदेबाज़ी पर छोड़ दिया जाता है। हमें व्यवसाय बोर्डों और न्यूनतम मजूरी विधान द्वारा उस संतुलन को ठीक करना पड़ता है जो कमज़ोरी का नाजायज़ फ़ायदा उठा लेने के कारण हो जाता है। बाज़ार की सौदेबाज़ी का मतलब यह है कि असमानता को देवी बना लिया गया है। वह उन सभी फ़ायदों पर ज़ोर देती है जो कि श्रमिकों को काम देने वालों को इस बात से मिलता है कि औसत मेहनतकश इन्तज़ार नहीं कर सकता। इसमें जो प्रतियोगिता है, वह उचित प्रतियोगिता नहीं, क्योंकि इसका मूल तत्त्व है संविदा की स्वतंत्रता का अभाव क्योंकि संविदा की स्वतंत्रता जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, वहीं मौजूद होती है जहाँ सौदा करने की शक्ति में समानता हो। आधुनिक उद्योगों में मुख्य बात यही है कि मालिक और मज़दूर की सौदा करने की शक्ति में समानता है ही नहीं। यह सच है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय हैं, जिनमें अधिकांश संबंध लगभग बराबरी के होते हैं। परन्तु यह अपवाद है, नियम नहीं।

संभरण और माँग से यह भी पता नहीं चलता कि पाये गये पारितोषिक में वास्तविक सामाजिक मूल्य कितना है। विज्ञापन व्यवसाय से काफ़ी बड़ी आय की जाती है; परन्तु मोटे रूप में कहें तो विज्ञापन व्यवसाय, आधुनिक उद्योगवाद के रोग का प्रतीक है। विक्रय की कला—यदि यह कला है तो—मुख्य रूप से उस योग्यता का प्रतीक है, जो यह राय दे सकती है कि कोई पण्य वही है जो सचमुच वह नहीं है। और व्यक्तिगत रूप में विक्रय कला का मतलब है किसी ख़रीदार को वह चीज़ बेचने की सामर्थ्य जिसकी उसे ज़रूरत न हो। न्याय प्रणाली में सुधार से पहले के दिनों में होशियार वकीलों द्वारा की गई आय न्याय के लक्ष्य को पराजित करने के प्रयत्न द्वारा कमाय गये धन का प्रतीक है। गन्दे घरों से अपरिमित परिमाण में धन कमाया गया है, परन्तु समाज ने बार-बार उस आय से कई गुना अधिक ख़र्च उस नुकसान को पूरा करने के लिए किया है, जो इस प्रकार के घरों से हुआ। उस महिला ने जिसने "क्यूवी" गुड़िया का आविष्कार किया था, अपने पेटेण्ट से बहुत धन कमाया, परन्तु जिस मार्ग से उसका धन आया, उसका सामाजिक मूल्य, सब कुछ होते हुए भी, तुरन्त स्पष्ट नहीं है। एक मशहूर गोली बनाने वाले ने साबुन और पानी का निश्चित अनुपात में मिश्रण किया, परन्तु उसके मिश्रण का सामाजिक मूल्य उसकी लाखों की आय से कहीं कम था। यह सिद्धांत कि की गई सेवाओं का "मूल्य" कीमत-प्रणाली निर्धारित करती है, इस तथ्य को भुला देता है कि जिस "मूल्य" की बात की जाती है वह प्रभावशाली माँग का सूचक मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि उस मूल्य का संबंध उन मूल्यों से हो जो सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अगर ऐसा होता तो हमारे घर, हमारा भोजन, कपड़े और स्कूल (पब्लिक स्कूलोंके अलावा) आज की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न होते। पारितोषिक का वर्तमान बँटवारा उन माँगों का, जो वास्तव में प्रभावशाली हैं, एक दिलचस्प द्योतक है, परन्तु हम तभी यह जान सकते हैं कि प्रत्येक माँग और इसलिए प्रत्येक पारितोषिक प्रभावशील हो, जबकि हम उसकी पड़ताल करें। और तब भी हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि जिस माँग को पूरा किया जा चुका है, उसके कारण वह पारितोषिक दिया जाना चाहिए या नहीं। वर्तमान व्यवस्था का गुण यह है कि यह नैतिक धारणाओं को अमूर्त बना कर उन्हें सादगी का रूप दे देती है। लेकिन ऐसी व्यवस्था जीवित रहने की आशा नही कर सकती

जो उन तत्त्वों को अमूर्त्त बना दे जिनके कारण सामाजिक व्यवस्थाओं को स्थायित्व मिलता है।

और वास्तव में कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में हम स्वयं इसकी निन्दा करते हैं। यह इसलिए कि सेवा की ऐसी श्रेणियां हैं जहाँ हम यह सोचते हैं कि आमदनी के रूप में पारितोषिक नैतिक रूप से अपर्याप्त है, और हम उद्योग और पेशों के बीच एक तीखा विभेद करते हैं जो ध्यान देने योग्य है। अगर पेस्चर ने अपनी खोजों के लिए बाजारी कीमत माँगी होती तो कोई भी उसका आदर न करता। सर रोनल्ड रास की प्रसिद्धि इस बात पर कम निर्भर नहीं कि वह ऐसे अनथक प्रयत्न में लगे रहे, जिससे उन्हें कोई भी आर्थिक लाभ होने की संभावना नहीं थी। हम यह महसूस करते हैं कि महान् आविष्कारक, महान् कलाकार, महान् राजनीतिज्ञ की सेवाओं का मूल्य केवल नैतिक मुद्रा में ही चुकाया जा सकता है; और हम इस बात का तो प्रयत्न भी नहीं करते कि उनकी सेवाओं का मूल्य धन के रूप में आँकें। किसी भी पेशे की सामान्य प्रकृति, जो कि उद्योग से भिन्न होती है, यह है कि उसके प्रयत्नों का मूल्य उस सेवा के आधार पर आँका जाय जो वह जनता की करता है। इसे योग्यता, तरीक़े और निमित्त के मानक बनाये रखने होते हैं। एक ख़ास स्तर पर इसमें निःस्वार्थता का तत्त्व भी सम्मिलित होता है। किसी व्यक्ति को उद्योग से सिर्फ़ दिवालिया होने के कारण या किसी अपराध के कारण ही निकाला जा सकता है, परन्तु पेशों में कुछ ऐसी बातें होती जिनकी वे अनुमति नहीं दे सकते, हालांकि अदालत उन्हें कभी भी अपराध नहीं मानेगी। इन चीज़ों का सारतत्त्व यही है कि समाज की भलाई की माँग है कि उन निमित्तों को छोड़ दिया जाय जिनसे संभरण और माँग के रूप में पारितोषिक के सिद्धांत का समाधान हो जायगा।

मेरा विचार है कि यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित नहीं कि जो राष्ट्र १९१४ के युद्ध में सम्मिलित हुए, वे व्यापारिक निमित्तों को सीमित करने पर विवश हो गये थे। उन मुनाफ़ाखोरों के नाममात्र से ही असम्मान का बोध होता था, जिन्होंने अपने देश की विपदा से खूब सम्पत्ति कमाई। यदि कोई मंत्री व्यापारी के बचाव में यह कहता था कि व्यापार की तो यह प्रकृति है कि सस्ते-से-सस्ते बाज़ार में माल ख़रीदें और महंगे से महंगे में बेचें, तो जनता की दृष्टि में उसका आदर कम हो जाता था।[1] यह विचार व्यापक रूप से फैल गया था कि न्यासों और कम्पनियों के गठजोड़ों की कार्यवाहियों को उपभोक्ता के हित में सीमित कर देना चाहिये। प्राथमिकता और कीमत निश्चित करने के विचार इस बात की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति थे कि बाज़ार की सौदेबाज़ी, सामाजिक मूल्य का माप तो दूर रहा, सभी सामाजिक मूल्यों को नष्ट कर सकती है। जिन लोगों ने सम्मान प्राप्त किया, वे वह लोग थे जिन की सेवायें उनके राज्य के साध्य में योगदान के रूप में थीं। निःसंदेह वातावरण में युद्ध का एक नाटकीय आच्छाद था। फिर भी संघर्ष से ऐसे बहुतेरे मनुष्य उभरे, जिनका विश्वास था कि इस प्रकार के सिद्धांत शांति काल में भी वैसे ही लागू होने योग्य हैं। उदाहरण के लिये, पूंजी-कर लगाने की माँग (इसकी आर्थिक

---

१. देखें जिमेर्न कृत 'नेशनेलिटी एंड गवर्नमेंट' पृष्ठ २८२.

वैधता चाहे जो हो) अधिकांश रूप में इसी धारणा के फलस्वरूप की गई कि राज्य, जो अपने नागरिकों का जीवन अपने हाथ में रखता है, बहुत बड़े अंश तक उनकी संपत्ति को भी अपने हाथ में रखने का अधिकारी है। हम फिर युद्धपूर्व की मानसिक स्थिति में आ गये हैं, तो भी उन संक्रामक वर्षों में व्यापारिक सभ्यता की पूर्वधारणाओं का व्यक्त होना भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। टाउनी महोदय ने जिसे उपार्जनशील समाज कहा, उसके प्रति मनष्यों में नैतिक भक्ति का अभाव था। लोग डर के मारे तो इसे स्वीकार कर सकते थे परन्तु उनकी आस्था इसमें नहीं हो सकती थी। परन्तु ऐसा कोई समाज स्थिर नहीं रह सकता जिसमें लोगों को दृढ़ विश्वास न हो। यही कारण है कि हमें पारिश्रमिक के एक सिद्धांत की, और इसी कारण जिस आर्थिक व्यवस्था को हमने उत्तराधिकार में पाया है उससे भिन्न एक आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता है।

पारितोषिक का एक तीसरा सिद्धांत और भी अधिक आकर्षक है, और इसकी नींव कम से कम नैतिक सिद्धांत पर टिकी हुई है। इसमें समानता के सिद्धांत और इस विचार को अस्वीकार किया गया है कि संभरण और माँग उचित ढंग से नियंत्रण कर सकती हैं। इसमें यह माँग की गई है कि प्रत्येक अपनी सामर्थ्यानुसार समाज को योगदान दे और समाज से उसकी ज़रूरतों के अनुसार पारितोषिक प्रदान करे। यह दावा ऐतिहासिक दावा है, और प्रतिष्ठित मनुष्य इसकी ओर आर्कषित हुए हैं। परन्तु इसका स्पष्ट अवगुण यह है कि चाहे यह सरल दिखलाई पड़ता है परंतु जाँच करने पर वास्तविकता से इसका कोई संबंध नही मिलेगा। सबसे पहिले हम ज़रूरतों को लेते हैं। ज़ाहिर है कि हम यह नही मान सकते कि आवश्यकतायें जितनी महत्त्वपूर्ण लगती है उतनी वे वास्तव में है। हम एक क्लर्क को इतना पारितोषिक नहीं दे सकते जो उसे शेक्सपियर के क्वार्टो खरीदने की सामर्थ्य प्रदान कर दे, चाहे वह कितनी ही तीव्रता से उनको पास रखने की इच्छा क्यों न कर रहा हो। जिन ज़रूरतों को हम मान सकते हैं वे सिर्फ़ वही जरूरतें है जो सभी मनुष्यों के लिये समान हैं। और यहाँ पर भी एक अधिकतम सीमा होगी जिससे आगे हम नहीं जायेंगे। एक क्लर्क जिसके १३ बच्चे है, उसकी मांगें उस क्लर्क से कहीं ज्यादा होंगी जिसके ४ बच्चे हैं, परन्तु उन ज़रूरतों को बिना भेदभाव किये पूरा करना मूर्खता ही होगी। ज़रूरतों का अर्थ सिर्फ़ औसत जरूरतें हो सकता है। हमें नागरिकता की कुछ औसत माननी पड़ेगी और पारितोषिक के सिद्धांत को उसके सहारे ही स्थिर करना पड़ेगा। इसलिये हमें पारिश्रमिक संबंधी अपना स्तर ऐसे धरातल पर निश्चित करना चाहिये जिसमें व्यक्तिगत सनक को ध्यान में न रखा जाय। हमारा प्रयत्न सामान्य पर ही लागू हो सकता है; और जो विशिष्ट स्थिति में हों वे अपना ध्यान आप रखें।

शक्तियों की धारणा भी कुछ अधिक सहायक नहीं है। यदि इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपना काम यथाशक्ति उत्कृष्टता से करे तो यह बात ऐसी स्वतः सिद्ध है जिससे कोई इनकार नहीं करेगा। क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि अपनी योग्यता के बारे में तब तक प्रयोग करता जाय जब तक कि उसे कोई ऐसा काम न मिल जाय जिससे उसे अधिकतम पारिश्रमिक मिले? क्या इसका यह अर्थ है कि अपने विशेष क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिये न्यूनतम उत्पादन की सीमा निश्चित की

जाय ? क्या हम उन लोगों को सज़ा दें जो उस न्यूनतम धरातल से नीचे रहें ? क्या हम उन लोगों से अधिक उत्पादनशीलता की आशा करें जिनकी उत्पादनशीलता की सामर्थ्य ज़ाहिरा तौर पर अधिक है ? बुद्धिजीवी कार्य के न आंके जा सकने वाले क्षेत्र में व्यक्ति की योग्यता की कसौटी क्या हो ? यदि एक न्यायाधीश मुक़दमा सुनने के साथ ही निर्णय दे देता है और दूसरा निर्णय सुरक्षित रखकर अदालत में विलम्ब करता है तो क्या हम दूसरे के बारे में यह कहेंगे कि वह अपनी शक्तियों के अनुकूल आचरण नहीं करता है ? संक्षेप में, विशेषकर दिमाग़ी काम की दृष्टि से मनुष्य की योग्यता की कसौटी क्या है ? क्या हम उसे उसीके मानदंडों के आधार पर जाँचेंगे या कि किसी सामान्य मानदंड से ? यह भी ध्यान देने योग्य है कि शारीरिक श्रम को मापने का कार्य काफ़ी कठिन है। उदाहरण के लिये, खान में काम करने वाला मजदूर किसी कठिन परिस्थिति में हो सकता है। हो सकता है वह अच्छी हालत में न हो, उसके खोदे कोयले के टब तब न आ पाते हों जब वह चाहता हो। इसी प्रकार कपड़ा मिल में यही दशा हो सकती है। रोशनी, तापमान, आर्द्रता, काम करने की अवधि, आराम करने के समय का होना, माल संभरण करने के उचित तरीके, मशीनों की अच्छी देखभाल आदि मेहनतकश द्वारा उत्पादित माल के परिमाण में काफ़ी फ़र्क डाल सकते हैं। उस पर धीमे काम करने का दोष लगाया जा सकता है, जब कि वास्तव में वह दोष उन परिस्थितियों का हो सकता है जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं। स्पष्टतः सिर्फ़ एक ही रूपमें मनुष्य की योग्यतायें वास्तविक रूप में मापी जा सकती हैं और वह तब जब वह ईमानदारी से इसकी पुष्टि करे कि वह अपने भरसक प्रयत्न से कार्य कर रहा है। परन्तु कोई भी सामाजिक प्रणाली इस प्रकार की विशुद्ध वैयक्तिक कसौटी से संतुष्ट न होगी और यह तो और भी निश्चय ही जब कि हमें यह मालूम है कि बड़े पैमाने पर उद्योग की मशीन औद्योगिकी में मेहनतकश के हितों की सुरक्षा नहीं की जाती। यह इसलिये कि यह प्रकट है कि कोई भी मनुष्य तब-तक अपनी शक्ति भर सर्वोत्तम काम नहीं करेगा जबतक उस काम में वह जी जान से न लगा हुआ हो।

इसलिये हमें एक अधिक जटिल दृष्टिकोण की ओर मुड़ना पड़ता है। पारितोषिक के किसी भी सिद्धांत के लिये दो जटिल शर्तों का पूरा करना ज़रूरी है : अर्थात् यह व्यक्ति को आत्म-सिद्धि के योग्य बनाये और साथ ही यह समाज के आवश्यक कार्य चालू रखे और उन्हें विकसित करे। हमें किसी न किसी रूप में व्यक्ति के हित को समुदाय के अनुकूल बनाना पड़ेगा। इसलिये हमें नागरिकों की ज़रूरतों को उनके महत्त्व की दृष्टि से पूरा करना पड़ेगा, परन्तु उन माँगों को पूरा करते समय हम सामान्य उत्पादनशीलतत्त्व को हानि नहीं पहुँचायेंगे। निःसंदेह हमें ऐसे वर्गों—बच्चों, बूढ़ों, अपाहिजों और सदोष व्यक्तियों—जो अपना पोषण व्यय नहीं दे सकते—की माँगों को पूरा करना पड़ेगा। हमें फ़जूल खर्चों और अपराधियों के लिये इस प्रकार प्रबंध करना होगा कि बुरी से बुरी दशा में भी उन्हें और पतन से रोका जा सके। स्पष्ट है कि हमारी बुनियादी शर्त यह होनी चाहिये कि इससे पहिले कि हम नागरिक न्यूनतम से ऊंची ज़रूरतों के बारे में [illegible]। नागरिक न्यूनतम से संबंधित प्रत्येक ज़रूरत को, अर्थात, उसको जो यदि पूरी नहीं

की जायेगी तो प्रभावशील नागरिकता प्राप्त करने मे रुकावट रहेगी— पूरा करना आवश्यक होगा । इसलिये पारिश्रमिक में एक ऐसा स्थान है, जिस से किसी भी ऐसे व्यक्ति को नीचे नहीं गरने दिया जायगा, जो नागरिक की हैसियत से काम करने योग्य है ।

परन्तु, दूसरी बात यह है कि किसी भी व्यक्ति को पारिश्रमिक लेने का तब तक अधिकार नहीं होगा जब तक वह कोई ऐसा काम न करे जिसे उपयोगी माना जाता हो । वह व्यक्तिगत प्रयत्न के एवज़ मे वेतन पाता है । वह जो श्रम करता है ऐसा होना चाहिये जो राष्ट्रीय धन में वृद्धि करे । उसे इसी शर्त पर जीवन-यापन के साधन मिल सकते है कि वह एक उपयोगी काम करता है । एक बार जब वह आवश्यक माने जाने वाले काम को कर देता है उसे एक ऐसा पारितोषक प्राप्त करने का अधिकार मिल जाना चाहिये जिससे उसे संपूर्ण रूप से नागरिक बनने के साधन मिल सकें और उसका स्वास्थ्य ठीक रहना चाहिये । इससे उसे घर बनाने और इस प्रकार के पारवारिक खर्च बर्दाशत करने योग्य हो जाना चाहिये जो समाज नहीं देता । इस प्रकार का पारितोषक उनके मनुष्य होने के गुण में ही निहित है ।

निस्संदेह यह कहा जाता है कि यह आदर्श एक मृगतृष्णा के समान है । बहुत से मेहनतकश कस प्रकार बढ़ी हुई श्रम-कीमत पर साधारणतः अपना गुज़ारा नहीं कर सकेंगे और उस दर पर बेकारों की संख्या में बढ़ोतरी हो जायगी ।[1] परन्तु उन्नीसवीं सदी में वेतन का इतिहास वास्तविक वेतन में काफ़ी से अधिक बढ़ोतरी का इतिहास रहा है परन्तु बेकारी में भी उसी अनुपात से वृद्धि नहीं हुई है। वास्तव में जितना अधिक वेतन होगा, मेहनत-कश के जीवन का स्तर भी उतना ही उत्तम होगा । उसकी माँगों का आकार-प्रकार बढ़ता है और समाज का आर्थिक संगठन उनको पूरा करने के लिए आगे बढ़ता है । हॉब्सन महोदय ने यह दिखाया है कि क्रय-शक्ति का अनुचित और असमान बंटवारा वास्तव में, बेकारी के प्रधान कारण में से एक है ।[2] साधारणतया वेतन की दर में बढ़ोतरी से लाभ या ब्याज में वृद्धि की अपेक्षा अधिक लाभ होता है और फिर यह उपयोग के धरातलों को एक सा करने वाली क्रिया के मूल्यवान परिणामों में से एक है जिसके फलस्वरूप यह व्यापार उद्यम का प्रवाह संगठन के उन पहलुओं की ओर जाता है जिसमें बड़े बड़े दोष मुख्य रूप से देखे जा सकते हैं । इंगलैण्ड और अमेरिका में कोयला उद्योग की की गई जाँच या अमरीका की रेलों की जाँच से यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि उसमें बहुत अधिक अपव्यय ऐसा होता है, जिसे रोका जा सकता है । अकेले थकान के वैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप ही लागत काफी कम की जा सकती है । जिसे श्रम का लौट फेर कहते हैं उसमें भी स्पष्टतः सुधार हो सकता है ।[3] उत्पादनों को बाज़ार भेजने में भी बचत की काफ़ी संभावनायें

---

१. इस विषय पर देखें ए० सी० पी० इकानामिक्स आफ़ वेलफेयर, ३, ११.१८ .

२. जे० ए० हॉब्सन इकानामिक्स आफ अनएम्लायमेंट .

३. देखें—ई० एच० स्लिचर दी टर्न ओवर आफ़ फैक्टरी लेबर (१९१९)

हैं, इस संबंध में हाल का स्पष्ट उदाहरण कोयले का है।[1] ऐसी संभावना है कि मुद्रा और उधार को स्थिर करने से भी लाभ की आशा है।[2] संक्षेप में, हम जब तक दूसरी दिशाओं में क़ीमत कम करने के उचित प्रयोग न कर लें यह नहीं कहा जा सकता कि मजूरी बढ़ाने से खतरा उत्पन्न हो जायगा। निस्संदेह पारितोषिक के स्तर नार्वे जैसे ग़रीब देश में, संयुक्त राष्ट्र अमरीका जैसे अमीर देश के मुकाबले हमेशा नीचे होंगे। लेकिन साधारणतया ऐसा समाज जो अपनी संस्थाओं को बनाये रखना चाहता है, अपनी औद्योगिक स्थिति के अनुकूल ही पारितोषिक के स्तर को उच्चतम रखना चाहेगा। और यदि वह बुद्धिमान है तो वह उस स्तर को बनाये रखने को समाज की उत्पादनशीलता का पहिला फ़र्ज़ समझेगा।

मैंने एक नागरिक न्यूनतम स्तर के बारे में लिखा है परन्तु मैं यह नहीं समझता कि नागरिक न्यूनतम स्तर पूरे समुदाय के लिए एक जैसा होगा। हालांकि इंसान की ऐसी कम से कम आवश्यकताएँ हैं जिनकी संतुष्टि हर नागरिक को कर सकने योग्य होना ही चाहिए, परन्तु वे आवश्यकतायें सभी में एक जैसी नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, एक कृषि मजदूर, खान में काम करने वाला या जहाज़ में काम करने वाले खलासी को एक क्लर्क या भवन निर्माता को नक्शानवीस से अधिक मूल्यवान खुराक चाहिए। प्रत्येक पेशे के लिए जो हम कम-से-कम तय करेंगे, उसमें स्पष्टत: वे अन्तर होंगे जो उन पेशों पर आई लागत पर निर्भर करेंगे। और यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्धिजीवी कार्य कठिन होता ही है, परन्तु किसी भी हालत में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्रशिक्षण को छोड़ कर इस पर शारीरिक परिश्रम के कार्य से अधिक लागत आती है। निश्चय ही यदि परिश्रम वेतन की कसौटी है तो यह असंभव नहीं है कि वेतन-मूल्यों की वर्तमान श्रेणी लगभग उलटनी पड़ेगी।

परन्तु ठीक यहीं पर पारिश्रमिक निर्धारित करने के उचित सिद्धांतों में एक दूसरा तत्त्व प्रवेश करता है। यह बहुत बड़ी बात है कि मेहनतकश को इतना वेतन दिया जाय कि उसके परिश्रम की क़ीमत पूरी हो जाय। परन्तु हमें वेतन इस ढंग से देना चाहिए कि हम सामाजिक दृष्टि से आवश्यक प्रत्येक पेशे में काफ़ी संख्या में प्रतिभाशील व्यक्तियों को आकर्षित कर सकें ताकि उसको उचित रूप से चलाया जा सके। हमें खान में काम करने वाले काफ़ी मजदूर चाहिए, पर हमें काफ़ी न्यायाधीशों और काफ़ी डाक्टरों की भी ज़रूरत है। संभवत: कोई न्यायाधीश—भले ही वह कुछ भिन्न तरीकों से काम करे—दरहम के गहरे खान गढ़ों में काम करने वाले मजदूर से अधिक कठिन परिश्रम नहीं करता। यदि हम अपने पारिश्रमिक का आधार केवल परिश्रम को मानें तो हमें खान मजदूर और न्यायाधीश को समान दरों पर वेतन देना चाहिए; इस निर्णय से किसी भी प्रकार इधर उधर होने का औचित्य ज़रा संभल कर करना होगा। मेरे विचार में सही तरीका इस बात को ध्यान में रख कर स्थिति का विश्लेषण करना है कि हमें कौनसे सामाजिक परिणाम प्राप्त करने हैं। मेरा विचार

---

१. खान मंत्रालय और कोयला वितरक व्यापारियों के बीच पत्र-व्यवहार देखें—'दी टाइम्स' १९ अप्रैल १९५४

२. देखें ई० एच० एम० लायड कृत 'स्टेबिलाइजेन (१९२३) और जे० एम० कीन्स कृत 'मनी रिफार्म' (१९२४)

है कि हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि एक बड़े न्यायाधीश या एक बड़े डाक्टर का समाज के लिए मूल्य उस खान मज़दूर से अधिक है जिसका उत्पादन सराहनीय हो। परिश्रम बराबर हो सकता है तो हमारे लिए पारितोषिक में किसी प्रकार के अन्तर का औचित्य संभवतः इसी बात में है कि इस अन्तर से हमें वह सेवा प्राप्त होगी, जो कि हम काफ़ी मात्रा में चाहते हैं और जो पारितोषिक की समानता होने पर न हो सकती।

मेरा ख्याल है कि यहाँ हमें इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि आर्थिक पारितोषिक पर बहुत ज़ोर दिया जा चुका है।[1] महान् कलाकार, वह चाहे कहीं का हो, आर्थिक लाभ की परवाह किये बिना स्वान्तः सुखाय अपनी साधना में लगा रहता है। ल्योनार्डो, न्यूटन, पेस्चर, डार्विन जैसे मनुष्य धन संपत्ति नहीं चाहते। महान सैनिक अपना पारितोषिक अपनी आमदनी में नहीं बल्कि जनता के आदर में पाता है और वही उसकी प्रतिष्ठा की कसौटी है। औसत उच्च नागरिक कर्मचारी व्यापार क्षेत्र में अपने वेतन से कहीं ज़्यादा कमा सकता है परन्तु इस चेतना से कि उसके हाथ में एक महान तंत्र है, उसे अपनी कम आय का बहुत अधिक प्रतिकर मिल जाता है। औसत आदमी में भी लाभ की कामना अपने आप में संभवतः इतनी अधिक नहीं पाई जाती, जितनी की कल्पना हम करते हैं। वे लोग जो धन का उपार्जन धन के लिए ही करते हुए दिखाई देते हैं, वास्तव में बहुधा उन मानकों को खोज रहे होते हैं, जो व्यापारिक सभ्यता में प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान करते हैं।

तो भी निस्संदेह यह सच है कि धन जीवन के लिए उद्दीपन प्रस्तुत करता है जिन्हें योग्य मनुष्य आकर्षण समझते हैं। प्रत्येक समाज में ऐसे मनुष्य होते हैं जो ऊँचा स्थान पाने के लिए से मिलने वाली समृद्धि के लिए, हर प्रकार की तकलीफ़ और लम्बे अर्से तक प्रशिक्षण की मुसीबत झेल लेंगे। कुछ जीवट के प्राणी ऐसे भी होते हैं जो इस आशा से ख़तरा उठा लेंगे कि उन्हें शायद कभी भाग्य-चक्र समृद्ध बना दे। अतः इस प्रकार के मामलों में इस अपूर्ण संसार में प्रयत्न पर आधारित पारिश्रमिक की अपेक्षा सफलता पर आधारित पारिश्रमिक का ही यथार्थ स्थान प्रतीत होता है।

इस दृष्टि से हमें अधिकांश मनुष्यों के लिए उनके कुल उत्पादन के आधार पर पारितोषिक नियत करना चाहिए। और उसका हिसाब इस प्रकार से लगाया जाय कि कम से कम कुशल मेहनतकश भी—जो उद्योग के लिए आवश्यक हो—अपनी न्यूनतम कमाई कर सके, जो नागरिकता के लिए ज़रूरी है। ऐसे शारीरिक श्रम को परिमाण के रूप में मापा जा सकता है, इससे आगे चलें तो हमारे सामने विभिन्न प्रकार की धारणायें आ खड़ी होती हैं। मेरा विचार है कि हमारे पास काम के सिलसिले में कोई संतोषजनक और तुलनात्मक कसौटी नहीं है। उदाहरण के लिए, खज़ाने के स्थायी सचिव और हाई कोर्ट के एक न्यायाधीश के काम के बारे में ऐसी कसौटी हमारे पास नहीं है। हम केवल इतना कर सकते हैं कि पारितोषिक उतना नियत कर दें जिससे हमें पूरी-पूरी आवश्यक सेवायें मिल जायँ। उन धारणाओं के आधार पर, जिनकी चर्चा मैं

---

१. देखें १९१९ के कोल कमीशन के सामने लार्ड हाल्डेन का साक्ष्य जो 'प्राब्लम आफ नेशनलाइजेशन' में उद्धृत किया गया है।

पहले इसी पुस्तक में कर चुका हूँ, पारितोषिक के उस परिमाण में वैसी असमानतायें नहीं होंगी जो आजकल अमीर और ग़रीब में पाई जाती हैं। किसी बड़े वकील को, उपार्जनशील समाज में छोड़कर और कहीं एक विश्वविद्यालय के अध्यापक से ७ या ८ गुनी क़ीमत पर नहीं खरीदा जा सकता । और उन्हीं धारणों के आधार पर, अपने समाज को इस प्रकार संगठित करना अत्यन्त ज़रूरी होगा कि कोई भी मनुष्य, जो उच्चतम प्रयत्न करने में समर्थ है, अवसर के अभाव के कारणओं उसे कार्य रूप में परिणित करने के मौके से वंचित न रह जाय। जहाँ तक संगठन में ऐसी व्यवस्था हो, लोग इस प्रतियोगता के प्रारम्भ में एक समान होंगे । जहाँ तक विधान द्वारा ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, धनोपार्जन केवल कम पर ही निर्भर करेगा। सभी को उतना पारितोषिक मिलेगा, जो उन्हें भरसक परिश्रम करने योग्य बनायगा और अपनी इच्छानुसार सर्वोत्कृष्ट होने के योग्य बनायेगा। पारितोषिक में अन्तर या तो प्रयत्न के आधार पर होंगे या योग्यता के आधार पर। लेकिन पारितोषिक में इतना अन्तर कभी न होगा कि उससे दूसरे मनुष्य लाभ उठायें। किसी को भी बिना व्यक्तिगत काम के धन नहीं दिया जायगा। कोई भी सामाजिक हित में अपना योगदान दिये बिना कुछ कमायेगा नहीं। और क्योंकि सामाजिक जीवन का प्रत्येक पहलू ऐसे व्यक्तियों के लिये खुला होगा, जो उसका लाभ उठाना चाहें, हमें कम से कम यह चाहिये कि हम वह वंशानुगत ग़रीबी मिटा दें जो वर्तमान व्यवस्था की मुख्य विशेषता है।

यहाँ पर दो और बातें कह देनी चाहिये। प्रत्येक नागरिक जो पारितोषिक अर्जित करता है वह उसी का होना चाहिये और वह उसे अपनी मर्ज़ी से चाहे जैसे खर्च करे। चाहे वह अपने घर के आराम को छोड़ कर कार का मालिक बनना पसन्द करे, जैसा कि अमरीका में बहुधा होता है या वह अनेक लन्दन-वासियों की तरह यह चाहे कि एक बाग़ लगाने के लिये वह रेल का लम्बा सफ़र बर्दाश्त करे। आदमी को उपभोग करने के अपने निजी मानकों का जितना अधिक प्रयोग करने का प्रलोभन होगा, समाज के लिये उतना ही अच्छा होगा। एक चीज़ जिससे हम लोग बचना चाहते हैं यह है कि एक ही जैसे वालपेपर, एक ही जैसी किताबों और आमोद-प्रमोद के एक ही प्रकार तरीकों से भरे पूरे बंगलों की की लम्बी कतारे हों। जीवन एक कला है जिसे हम अनुभव द्वारा ही जान सकते हैं। यदि हम अपने साथियों से अलग करने वाली अपनी अन्दर की चीज़ों को पहिचानना चाहते हैं तो अनुभव पूरे तौर पर हमारा निजी होना चाहिये, जिस पर हमारे अनोखे व्यक्तित्व की छाप हो। यदि यह सच है तो ऐसा समाज बहुत अच्छा है जो उपभोग के मानदण्डों पर नियंत्रण रखने से कतराता है। यदि मेहनतकश प्यानो खरीदना चाहता है जिसे वह बजा नहीं सकता तो यह उसका अपना मामला है। अगर व्यापारी चाहता है कि उसका घर ऐसा हो जिसमें अनगिनत शयनागार हों, जिनमें वह रहे भी या नहीं, तो यह उसका और सिर्फ़ उसी का मामला है। सामाजिक नियंत्रण की गुंजाइश उत्पादन के क्षेत्र तक ही है। अगर वह चाहे, जैसा कि चाह सकता है, कि शराब के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, तो इसे उसके उत्पादन पर रोक लगा कर कार्यवाही प्रारम्भ करनी चाहिये। समाज को बचना इस बात से चाहिये कि वह उपभोग के सम्बन्ध में वर्गों के अपने-अपने

मानक न हों। यह क़ानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाये वह सब पर समान रूप से लागू होने चाहियें वरना वे अवैध हैं। मध्यकालीन व्यय विषयक क़ानून जैसी चीज़ें आज लागू होने योग्य नहीं क्योंकि वह ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें लोकतंत्र की परिकल्पना लागू नहीं होती। अगर हमने वास्तव में इन प्रयत्नों को तिलांजलि दे दी है तो भी हमने उन्हें वास्तविक जीवन में पूरे तौर से नहीं छोड़ा है। आज भी उपभोग के मानकों में एक माँग समाज के कमज़ोर वर्गों के लिये मौन ढंग से लागू की जाती है और वह है "अपनी औक़ात पहिचानो।" यह लागू होने योग्य नहीं, क्योंकि समाज के किसी भी सदस्य का अपनी शक्तियों के प्रयोग से प्राप्त स्थान के सिवा और कोई स्थान नहीं।

इसके अतिरिक्त पारितोषिक का विचार समान रूप से समष्टिवादी और असमष्टिवादी दोनों प्रकार के समाज पर लागू होता है। यह न्याय का एक सामान्य सिद्धान्त है जो इस बात से उत्पन्न होता है कि मनुष्य साथ-साथ रहते हैं--बिना इस बात की ओर विशेष ध्यान दिये कि उन्हें अपना सामूहिक जीवन किस प्रकार संगठित करना चाहिये। इसमें इस बात की पूर्वधारणा की जाती है कि (१) सभी समानरूप से पूर्ण जीवन के साधन खोजने के अधिकारी हैं और (२) यह कि उन साधनों से पूरे समाज के सामान्य हित के लिये अन्तर होना लाज़मी है। इस विचार का उद्देश्य मजूरी का ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करना है जिसका आधार सभी की सहमति हो। इसके कारण असुरक्षा और अभाव का डर दूर हो जाता है जिसके कारण अधिकतर लोगों का जीवन विषाक्त हो जाता है। इस के कारण कुछ लोगों को वे आराम प्राप्त हो जाते हैं जिनकी क़ीमत उस मूल्य द्वारा चुकानी पड़ती है जो वे समाज को देते हैं और वह भी ऐसे क्षेत्र में जहाँ मूल्य का अनुमान मोटे तौर पर ही लगाया जा सकता है। आदर्श तो यह है कि लोग अपने साथियों को सहायता देने में सुख मान कर ही भरसक परिश्रम करें। परन्तु साथ ही यह भी तो आदर्श है कि प्रकृति ऐसे संसार का सृजन करती जिसमें दुःख और ख़तरे का नामोनिशान भी न होता। अभी ऐसी परिस्थितियाँ हमारे सामने नहीं आई हैं। हमारे पास जो कुछ है हम उसे खून पसीना एक करके ही कमा सकते हैं। हम ऐसे श्रम-विभाजन द्वारा ही अपनी सभ्यता का पलड़ा भारी रख सकते हैं जिसके कारण---तनिक भी असावधानी होने पर---बहुत से लोगों का नैतिक स्तर गिर सकता है। हमें अपने आदर्श उन तथ्यों के आधार पर ही निश्चित करने चाहिएँ जो हम मालूम करें। अन्य किसी हल से अन्ततोगत्वा हमारी प्रगति में सहायता नहीं मिलेगी, बल्कि हमारी आशाओं पर पानी फिर जायगा।

---४---

सम्भव है समाज को कि अपने सदस्यों को न्यायोचित पारितोषिक दे और फिर भी सारतः अस्वतंत्र रहे। इससे आसान और कोई काम नहीं कि लोगों को भौतिक आराम के बदले में अपनी शक्तियाँ छोड़ने पर राज़ी कर लिया जाय। सम्पत्ति के अधिकारों की नींव दृढ़ होने के लिए औद्योगिक संगठन का सिद्धान्त भी उतना ही ज़रूरी है जितना कि पारितोषिक का। इस में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि औद्योगिक क्षेत्र में व्यक्तित्व की स्वतंत्रता हो जैसे कि राजनीति के क्षेत्र में होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अनुशासन को समाप्त कर दिया जाय। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि उद्योग का प्रयोज़न सभी

की भलाई के अनुरूप हो और आदेश उसी प्रयोजन को ध्यान रख कर दिए जायं। भलाई में केवल उत्पाद ही नहीं, वे तरीक़े भी आ जाते है हैं जिससे उत्पाद प्राप्त किया गया हो।

उद्योग में सम्पत्ति का अर्थ है वह पूंजी जो सूद पर ली जाती है और इसके अधिकारों की चर्चा उन शक्तियों की चर्चा है जो इसे उधार देने वालों को होनी चाहिए। यहाँ प्रारंभ में ही उसपर वह सीमा लागू हो जाती है जोकि पारिश्रमिक के बारे में हमारी धारणा में निहित है। यह कहा गया है कि व्यक्ति का ऐसे धन पर अधिकार नहीं है जो उसने कमाया न हो। इसलिए किसी व्यक्ति के पास ऐसी पूंजी किराए पर देने के लिए नहीं होगी जो उसके व्यक्तिगत परिश्रम का परिणाम नहीं है। वंशानुगत व्यापारिक उद्यम का न्याय की धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनमें लगा व्यक्ति उससे निवृत्त होना चाहता है तो उसका पुत्र उसे सम्भाल लेता है और यह नहीं देखा जाता कि उस पुत्र में सामर्थ्य भी है या नहीं।

सच तो यह है कि उद्योग को एक पेशा बनाना चाहिए। इस में सार्वजनिक सेवा का सिद्धान्त रखा जाना चाहिए। यह ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं होना चाहिए जो मुनाफ़ा कमाने के लिए माल तैयार कर रहे हों। यह ऐसे व्यक्तियों का समूह होना चाहिए जो सूक्ष्म काम के कुछ मानकों के अनुसार कुछ कृत्य करते हों, चाहे उस काम को करने में वे बाहर वालों की अनुचित प्रतिस्पर्धा से अपने साथियों को बचाते ही हों। उन्हें सफलता प्राप्त करनी चाहिए, जिसका परिणाम सम्भवतः धन के रूप में होगा परन्तु वह सफलता एक अच्छे वकील या कुशल डाक्टर की नाईं अपने आप को धनी बनाने के आधार पर होनी चाहिये। पेशे के विचार में सेवा का भाव अभिन्न अंग के रूप में सन्निहित है। परन्तु यह अभी व्यवसाय का अभिन्न अंग नहीं है। हम एक बूट बनाने वाले व्यवसायी को इस प्रकार के चमड़े की किस्मों के प्रयोग पर बाध्य नहीं कर सकते, जिससे बूट अच्छे बने। हम इसकी पूछताछ नहीं करते कि सिले हुये कपड़े बेचने वाले ने अपने यहां से बेचे जाने वाले सूटों में घटिया माल लगाया है। हम इस प्रकार के व्यापारिक गठ-जोड़ और इजारेदारियां स्थापित होने देते हैं, जिनका उद्देश्य जनता को बिना उनकी ज़रूरतों की परवाह किये धोखा देना होता है। परन्तु हम न्यायाधीश को न्याय का खोटा सिक्का नहीं चलाने देते। हम डाक्टरों से यह माँग करते हैं कि वे कुछ मानकों पर चलें। उनकी सत की कसौटी उस पेशे से होने वाला आर्थिक लाभ नहीं होता बल्कि वह साध्य होता है जिसकी साधना में वे लोग हुए हुये हैं और हम यह माँग करते हैं कि वे अपने निजी हित को उस साध्य के अधीन रखें।

हमें यह बिल्कुल मान लेना चाहिये कि हमारी सफलता सापेक्ष है। हमें यह भी मान लेना चाहिये कि किसी पेशे के सबसे निकृष्ट पहलू और एक उद्योग के सर्वोत्तम पहलू के बीच कहीं कोई रेखा आसानी से नहीं खींची जा सकती। उदाहरण के लिये, स्कूल मास्टर होना एक पेशा है परन्तु ऐसे अध्यापक भी हैं जो चाहें किसी पेशे में हों उसे बदनाम कर देंगे। वकालत एक पेशा है परन्तु ऐसे वकील भी हैं जो अपने पेशे की दृष्टि से हमेशा निकृष्ट हरकतें करते हैं। इसी प्रकार ऐसे व्यवसायी भी होते हैं जिनका आदर्श जनता की सेवा

करके ही मुनाफ़ा कमाना होता है। तो भी यह साधारण तौर पर सच है कि किसी उद्योग का उद्देश्य धन लाभ ही होता है, जबकि यही उद्देश्य एक पेशेवर आदमी के साथ आंशिक रूप से होता है क्योंकि पेशेवर के लिये धन-लाभ कार्य-प्रणाली की दृष्टि से बनाये गये किन्हीं नियमों का पाबन्द होता है और उस कार्य-प्रणाली का उद्देश्य होता है समाज-सेवा।

अगर उद्योग को पेशेवर बनाना है तो कुछ ऐसे परिवर्तन हैं जिनका होना तुरन्त आवश्यक बन जाता है। मोटे तौर पर इन्हें तीन बड़े विभागों में बाँटा जा सकता है। (१) धन के मालिक के स्वरूप में एक ऐसा परिवर्तन होना चाहिए जिससे कि वह एक ऐसा व्यक्ति रह जाय जिसे उसके धन के इस्तेमाल के लिए एक निश्चित लाभांश दे दिया जाय। अर्थात् वह उस व्यवसाय पर नियंत्रण करने वाला न रह जाय, जिसमें उसकी सम्पत्ति लगी हो। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सरकारी प्रतिभूतियों के मालिक को आय-व्ययक के अधिरेक का कोई फ़ायदा नहीं दिया जाता और वह सरकारी प्रतिभूतियों का मालिक होने के नाते सत्तारूढ़ मंत्रिमंडल की नीति पर कोई असर नही डाल सकता, उसी प्रकार औद्योगिक पूँजी के मालिक को भी उसकी पूँजी के लिए बाज़ार के दर से लाभांश दिया जायगा और उसके अतिरिक्त कुछ भी नही दिया जायगा। वह जैसा कि आजकल आम तौर पर होता है, प्रबन्ध की विशेष योग्यता के कारण या कीमतों के चढ़ जाने के कारण या इजारेदारी के कारण लागू विशेष सहूलियतों के कारण उद्योग का शेष भागी नहीं रहेगा। (२) उद्योग पर किये जाने वाले नियंत्रण के स्वरूप में भी परिवर्तन होना चाहिए। जिस प्रकार पेशे में नियम, समाज की संकल्पना के अधीन रहते हुए उन लोगों द्वारा बनाये जाते हैं जो उसमें लगे होते है, उसी प्रकार उद्योग के नियम उद्योग को चलाने वाले लोगों द्वारा बनाये जाने चाहिएँ। निस्संदेह ये नियम ठीक उसी प्रकार नहीं बनाये जा सकते। आवश्यक रूप से उद्योग में अपने ढांचे में किसी पेशे के मुकाबिले-जैसे कि कानून का पेशा है—सोपानतंत्र की व्यवस्था अधिक रहेगी। लेकिन एक बार अगर पूँजी के क्रियाहीन मालिक को हटा दिया गया तो उद्योग एक समझ में आने वाली चीज बन जायगा और उसमें काम करने वाले प्रत्येक तत्व के काम के आधार पर उसके प्रबंध के लिए नियम बनाये जा सकेंगे। अर्थात् हम एक प्रबंधक और मशीन पर काम करने वाले के बीच ऐसा संबंध बना देंगे जिसमें कोई तुक होगी क्योंकि प्रत्येक को अपना-अपना काम करना है। परन्तु एक बार भी यदि स्वामित्व का तत्व आ जाय तो फिर तालमेल की संभावना समाप्त हो जायगी। और, यह सच है कि औद्योगिक पूँजी को बाजार की सही क़ीमत से अधिक देने में ठीक उसी प्रकार कोई तुक नहीं, जिस प्रकार कि श्रम को वेतन के रूप इतना देना स्वीकार करने में नहीं है जिसे उद्योग बर्दाश्त ही न कर सके। हम औद्योगिक संबंधों को उसी सूरत में रचनात्मक बना सकते हैं जब सत्ता का प्रयोग कार्य के प्रकृत फल के रूप में किया जाय। परन्तु यदि हम आज की तरह उद्योग में वह तत्व लाने की चेष्टा करें जिसमें वह तथ्य नहीं है जिसके कारण कृत्य का एक विशेष प्रयोजन बनता है तो यह ऐसी बात होगी जैसी कि पुरातन व्यवस्था के फ्रांसीसी किसान को यह कहा जाय कि अभिजात वर्ग–जिसे बिना कर्त्तव्य अपने ऊपर लिये कुछ विशेषाधिकार प्राप्त है—उसकी भलाई के लिए आवश्यक है और उसके उत्पाद का अधिकांश उस अभिजात वर्ग को मिल जाना चाहिए। परन्तु किसान, चाहे वह देर में बात

समझता है, जल्दी ही इस बात पर विश्वास करना बन्द कर देगा।

हमें औद्योगिक समीकरण में सामाजिक तत्व को पहिले से बड़ा स्थान देना चाहिए। मेरे विचार से इसमें तीन बातें होनी चाहिए। सबमे पहिले इसका मतलब है कि जो तत्व समुदाय की खुशहाली के लिए आवश्यक है, उनका उत्पादन समाजीकरण के आधार पर हो। समाजीकरण से मेरा तात्पर्य राष्ट्रीयकरण नहीं है, हालांकि वास्तव में यह भी उसका एक रूप है। मेरा तात्पर्य कुछ अत्यावश्यक चीजों के एक प्रकार के उत्पादन से है, जिसका एक खासा उदाहरण विद्युत शक्ति है जिसमें व्यक्तिगत लाभ के लिए गुंजाइश नहीं रहे। इसके लिए सरकारी उत्पादन की विधि हो सकती है या उपभोक्ताओं की सहकारिता या इस प्रकार का नियंत्रण जैसा कि १९१९ के कोयला कमीशन ने खान-उद्योग के लिये सुझाया था। तरीका चाहे जो भी हो, मुख्य बात यह है कि उसमें कमाया गया लाभ समुदाय को फ़ायदा पहुंचायेगा न कि व्यवसायी को। दूसरे, इसका अर्थ है कि वह उद्योग जिसका समाजीकरण किया जा चुका है और वे जो अब भी व्यक्तिगत प्रबंध के अन्तर्गत चल रहे हैं, दोनों में एक विधान को लागू किया जाय। उनमें काम के निश्चित घंटे होने चाहिएँ और निश्चित वेतन-दर। प्रबंधकों के निरंकुश नियंत्रण (जैसा कि कर्मचारियों को काम पर रखने और निकालने के सिलसिले में होता है) के स्थान पर कुछ ऐसे तरीके बर्ते जायं जिनका रूप अधिक जनवादी हो। मशीन औद्योगिकीय और जोखिमदारी पर काम करने के सिलसिले में किये जाने वाले परिवर्तनों को एकतर्फा संकल्पना के दायरे से निकाल कर प्रतिनिधिमूलक सरकार के दायरे में रखा जाय। तरक्की देना, मिसाल के तौर पर फोरमैन का चुनाव, प्रबन्धक की सनक पर नहीं, बल्कि योग्यता के किसी स्वीकृत मानदंड के आधार पर होना चाहिए और उनकी सम्मति से होना चाहिए जिन पर यह विशेष फ़ोरमैन नियंत्रण रखेगा। तीसरे इसका अर्थ है उद्योग के सम्पूर्ण क्षेत्र में योग्यता और प्रचार पर ज़ोर। अर्थात् जिस तरह वकालत करने या डाक्टरी पेशा शुरू करने के लिए या खान का व्यवस्थापक या जहाज़ का मास्टर बनने से पहिले मनुष्य को योग्यता के प्रमाण-पत्र देना आवश्यक हैं, ठीक उसी प्रकार कारखाने या परचून की दूकान का अध्यक्ष बनने से पहले उसे इसी प्रकार अपनी योग्यता का सबूत देना चाहिए। अगर व्यापार-कारबार को एक पेशे जैसा सम्मान प्राप्त करना है तो उसके अवसर की असमानता और परिवार पोषण का अन्त करना चाहिए।

प्रचार भी कुछ कम ज़रूरी नहीं है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में हम धीरे-धीरे सीख रहे हैं कि उत्पादन-लागत और मुनाफ़े की दरों जैसे मामलों में गोपनीयता, उद्योग में सार्वजनिक भावना के लिये सांघातिक रुकावट है। व्यापारी का अपने धंधे का अपने ही ढंग से प्रबंध चलाने का दावा ऐसा दावा है जो नये ज्ञान और सार्वजनिक मत की उपेक्षा करता है। जिस तरह हम कोयला कम्पनियों और कोयला-व्यापारियों से, कपड़े बनाने और सीने वाली कम्पनियों और इमारत बनाने वालों से उनकी लागत के प्रकाशन की मांग करते हैं, तो यदि हम उद्योग को पेशे जैसा बनाना चाहते हैं उसी प्रकार हमारे पास ऐसे साधन होने चाहिएँ जिनसे कि उसमें काम करने वालों की कुशलता को मापा जा सके। यह सिर्फ़ जनता के हित के लिये ही ज़रूरी नहीं है। यह मेहनत-कशों के लिए भी ज़रूरी है जिनकी रोजी का

ज़रिया उनको काम पर रखने वाले की मूर्खता से घपले में पड़ सकता है। उन चालाकी भरे हथकंडों को भी रोकना ज़रूरी है, जिनके आधार पर औद्योगिक कारबार ऐसे पैमाने पर चालू किया जाता है जिसमें ठीक ढंग से काम करने पर ख़ासी दर पर ब्याज मिलना असंभव है। उस प्रचार को लागू करना और उसके परिणामों के प्रयोग का अर्थ होगा नई औद्योगिक संस्थाओं का निर्माण। लेकिन उत्पादन का वैज्ञानिक संगठन और उसका वैज्ञानिक आधार पर निर्णय ही हमें इस प्रकार का उद्योग बनाने योग्य बनायेगा कि वह सामाजिक जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उद्योग को उस दृष्टि से देखने का मतलब—जहाँ सम्पत्ति का अधिकार नियंत्रण का अधिकार नही रहता—यह है कि यह रूप परिवर्तन कई भिन्न तरीक़ों से किया जा सकता है। ऐसे उद्योग हैं जिनमें मालिक व्यवस्थापक भी है और पूँजी का मालिक भी; इनका उल्लेखनीय उदाहरण इमारती उद्योग है। प्रबन्धक की स्थिति में उस के अधिकारों को सीमित करने का यह अर्थ नहीं कि आप उसे मालिक के अधिकारों से भी वंचित कर देते हैं। उसका प्रयोग उसी के उद्योग में परिवर्तित रूप में भी किया जा सकता है। सिर्फ़ इसलिए क्योंकि उसने इसमें सीधे मेहनतकश के रूप में अपना स्थान बनाये रखा है। इमारत बनाने वालों ने स्वयं इस बात का उल्लेख अपनी १९१९की चिरस्मरणीय रिपोर्ट में किया था।[1] परन्तु दूसरे उद्योगों में यह स्थिति नहीं हैं। उदाहरण के लिये, कोयला उद्योग में, और लोहा उद्योग में यह स्थिति नहीं है। उदाहरण के लिए, कोयला उद्योग में, और लोहा और जहाज बनाने वाले उद्योगों में संगठन ने ख़ासतौर पर पिछले वर्षों में काफी भिन्न रूप धारण कर लिया है। मालिक और व्यवस्थापक की श्रेणियाँ शायद ही कभी सम्मिलित होती हैं। मालिक एक पूंजी वाला मनुष्य होता है, जिसका प्राविधिक क्रियायों से कोई संबंध नहीं होता। वह तो निष्क्रिय रूप में लाभांश पाता रहता है या अपने लिये और दूसरे लोगों के लिये लाभांश पाने की व्यवस्था में लगा रहता है। उसका वहाँ होना मुनाफ़े के लिए है और किसी उद्देश्य के लिये नहीं। वह उद्योग की क्रियाओं के प्रबंध में कोई सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि आज के औसत कोयला स्वामी की नाईं उसने उन क्रियाओं की ज़िम्मेदारी एक सनद-याफ़्ता प्रबन्धक के ऊपर छोड़ दी है और स्वयं उनके बारे में कुछ नहीं जानता। उद्योग में वह अपनी शक्ति यथार्थ संचालक से निर्देशक बन कर मेहनतकशों में नहीं बाँट सकता क्योंकि वास्तव में वहाँ बटाने को है क्या? दूसरे सेवा देने के लिए संयुक्त हो सकते हैं। वह वहाँ देने के लिए नहीं लेने के लिये है। उसके साथ कोई संयुक्त नियंत्रण नहीं हो सकता क्योंकि वह नैतिकता की दृष्टि से कारबार के संचालक से संबंधित नही है। वह जिस चीज़ को सिर्फ़ माँग सकता है वह है उसको देय ब्याज। यदि कारबार के संचालक में उसका व्यावहारिक दख़ल उत्पादित वस्तु के लिए ज़रूरी है तो वह, खान-व्यवस्थापक की तरह, एक प्रविधिज्ञ है जिसे कारबार के परिवर्तित रूप में खपाया जा सकता है। यदि वह केवल एक मुनाफ़ाख़ोर है, तो जब तक वह मुनाफ़ा पाता है, उसकी मौजूदगी और नियंत्रण, वास्तव में निरर्थक हैं।

---

१. देखें 'दी इंडस्ट्रियल काउंसिल फार बिल्डिंग इंडस्ट्री', गार्टन फाउन्डेशन १९१९

शायद यहाँ पर यह कह देना उचित है कि पूंजीपति—उद्यमी की सफ़ाई में पुराने समय से जो कुछ कहा जाता है वह सिद्धान्त और व्यवहार के एक महत्वपूर्ण भ्रम पर आधारित है। उस सफ़ाई की धुरी यह तथ्य था कि जब तक आर्थिक-शक्तियों का सामंजस्य विशेष साध्य की दिशा में करने वाला कोई व्यक्ति नहीं होगा तो श्रम-विभाजन एक अव्यवस्था बन कर रह जायगा। संसार आवश्यकताओं का एक गोलमाल है और प्रत्येक प्रकार का उद्यम उन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिये स्रोतों को प्राप्त करने की होड़ में लगा हुआ है। कारोबारी का काम उन स्रोतों के बँटवारे का नियंत्रण करना है। वह उत्पादन की सभी क्रियाओं में तालमेल रखता है। वह बाज़ार की मांग के नाजुक उतार-चढ़ाव से अपनी प्रतिक्रिया मापता है। उसके बिना अकथनीय गड़बड़झाला हो जायगा, क्योंकि समाज में जितना अधिक भेद-भाव होगा, उसका क्रियाकलाप उतना ही आवश्यक होगा। इसलिए वह जो कमाता है वह आवश्यक उत्पादन लागत है क्योंकि यह आर्थिक संगठन के स्वरूप में निहित है। इसलिए यह तर्क दिया जाता है कि उसे बेकाम का कहकर टाल देना, उस संसार को जिसमें हम रहते हैं, बिल्कुल ग़लत समझना है।

परन्तु वर्तमान व्यवस्था के कट्टर से कट्टर पक्षपाती अपनी इस सफ़ाई उस आदर्श के पास पहुँच पाने की रूप रेखा से कुछ और कह कर पेश नहीं करता। वह यह मानता है कि आवश्यकताओं की ओर तभी उचित प्रतिक्रिया होती है जब परिस्थितियाँ उसके लिए उचित हों। कीमत-संबंधी आदर्श संसार में मुनाफ़ा और सामाजिक मूल्य के आनुपातिक होंगे। आदर्श संसार में सब प्रकार के स्रोत से जिसमें श्रम भी सम्मिलित है, पूर्णरूप में चलायमान होंगे। और यदि वे इतने आनुपातिक और चलायमान नहीं हैं, तो यह उसका कसूर नहीं। वह सभी रुकावटों के बावजूद अपना भरसक प्रयत्न कर रहा है। उसकी क्रियाओं को रोकने का अर्थ उस काम के होने में बाधा डालना है जिसके लिये किसी रूप में व्यवस्था होनी ही चाहिए।

यह असंदिग्ध है। मेरी इस आलोचना का तात्पर्य यह है कि यदि उद्योग की व्यवस्था वैसी रहे जैसी आजकल है तो वह सेवा के स्थान पर लाभ का एक ज़रिया ही बना रहेगा। क्योंकि वर्तमान व्यवस्था की विशेषता यह है कि मांगों को पूरा करने के संघर्ष में शामिल होने वालों की स्थिति एक सी नहीं है। मुख्यतः वह असमान स्थिति समाज के वर्ग पर आधारित ढांचे का परिणाम है। यह इस तथ्य के कारण है कि अधिकांश लोग इस स्थिति में नहीं होते कि वे अपनी आवश्यकताओं को प्रभावशील माँगों का रूप दे सकें। इसलिए जहाँ अमीर और ग़रीब अपनी माँगों की संतुष्टि के लिये कोशिश करते हैं, अमीर की अपेक्षाकृत अच्छी आर्थिक शक्ति उपक्रमी कारोबारी को अपनी व्यवस्था बनाने पर अमीरों की आवश्यकता के अनुकूल मजबूर कर देती है। इसलिए कीमत-प्रणाली पर सच्ची उपयोगिता की प्रतिक्रिया नहीं होती बल्कि वह उन उपयोगिताओं का प्रतिफल होती है जो आय का प्रतीक होती हैं और क्योंकि नक़द आय की प्रत्येक अतिरिक्त "मात्रा" संतुष्टि प्राप्त करने में एक भेदात्मक लाभ है, उपक्रमी कल्याण की दृष्टि से सोची गई वस्तु नहीं प्रस्तुत कर रहा बल्कि वह ऐसी वस्तु का संभरण कर रहा है जो वर्गों की अपनी आवश्यकताओं को ज़ोर देकर पेश कर सकने की शक्ति पर आधारित है। और इस प्रणाली की अपूर्णता इसके व्यक्तिवाद

के कारण और भी तेज़ हो जाती है। यह इसलिए कि प्रतियोगिता का होना और उसके आसपास की गोपनीयता बाज़ार के ख़तरों और सन्देहों के द्वारा स्थायी ग़लत अंदाज़ों की ओर ले जाती है। व्यवहारतः इस सच्चाई का तर्क ऐसे समाज में सही उतरेगा जिसमें वर्ग न हों, जिसमें उपभोक्ता की माँगें प्रभावशील ढंग से बराबर हों। बात ऐसी नहीं है। और असमानता का परिणाम यह होता है कि जो लोग बड़ी मुश्किल से गुज़ारा करते हैं उनकी अपेक्षा सम्पत्तिशाली वर्ग की माँगें और भी बढ़ जाती हैं। यह इसलिए कि अर्थ-व्यवस्था पर सम्पत्तिवान का "असर" निरन्तर ग़रीब के ख़िलाफ़ अपनी प्रभावशीलता का भार डालता रहता है। सम्पत्ति और सुरक्षित हो जाती है क्योंकि जितनी अधिक इसकी माँगों की पूर्ति होती जाती है, इसके मुनाफ़े के मार्ग उतने ही व्यापक होते जाते हैं। एक ऐसे वर्ग की संख्या बढ़ रही है जो धन व्यापार में लगाता है। यह पूंजी के स्वामी से जो व्यवस्थापक भी होता है, एक भिन्न वर्ग है। औद्योगिक क्रियाकलाप का मूल वित्तीय बन जाता है। लक्ष्य सिर्फ़ अधिकतम मुनाफ़ा होता है, क्योंकि वित्तीय नियंत्रण का यही उद्देश्य होता है। तब उपक्रमी दिनबदिन कम्पनी का वेतन-भोगी कर्मचारी बनता चला जाता है। औद्योगिक व्यवसाय के निर्देशन में से क्रिया का भाव लुप्त हो जाता है। अन्त में वही पूंजी और श्रम के बीच झगड़े की असली जड़ होती है। एक विशेष उद्योग के उद्देश्य से सीधे-सीधे सम्बन्धित काम और स्वामित्व के बीच नाता टूट जाने का अर्थ होता है कि ऐसा कोई आधार नहीं है जिस पर पूंजी और श्रम के उचित संबंधों की संरचना हो सके।[1]

इसलिए जहाँ कही भी निष्क्रिय सम्पत्ति औद्योगिक उत्पादन में नियंत्रक तत्व है, इसके अधिकारों का उन्मूलन करके ही न्याय किया जा सकता है। उन्मूलन करना आसान बात नहीं और इसके लिये कोई सीधा प्रशस्त मार्ग नही। जिन्होंने यह राय दी है कि सर्वहारा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए क्रिया-रत हो—उदाहरण के लिये वे इस प्रणाली को और अधिक मानने से इनकार कर दें—वे यह भूल जाते है कि आदमी को जीवित भी रहना होता है और सिर्फ़ किसान वर्ग, जो अपना अन्न स्वयं उपजाता है इस स्थिति में होता है कि किसी भी काल तक इस प्रकार की नकारात्मक दृढ़ता जारी रख सके। निस्संदेह यह एक राजनीतिक क्रांति द्वारा भी हो सकता है, जो आनन-फ़ानन में स्वामित्व के अधिकारों को नष्ट कर देगी, जैसे कि १७८९ में स्टेट्स जनरल के कारण एक ही बार से सामन्ती-अधिकार नष्ट हो गये थे। यह कहना व्यर्थ होगा कि राजनैतिक क्रांति असंभव है। हम केवल यह कह सकते हैं कि अधिक से अधिक यह एक ख़र्चीला और संदेहपूर्ण साहसिक कार्य होगा, जो अन्त में वर्तमान प्रणाली के शिकंजों को उन लोगों पर और भी तेजी से जकड़ देगा जो अभी उनसे त्रस्त हैं। और यह भी हो सकता है कि यह इतनी विराट हो कि सभ्यता के पूरे ताने-बाने को नष्ट कर दे, क्योंकि वर्तमान क्रांतिकारियों के इस्तेमाल के लिये आज जो अस्त्र है

---

१. विरोधी दृष्टिकोण के योग्य प्रतिपादन के लिये देखें मि० एच० डी० हेंडरसन कृत 'सप्लाई एंड डिमांड' (१९२१) परन्तु मि० हेंडरसन अपना ध्यान आदर्श स्थितियों पर केन्द्रित रखते है और व्यवहार में उनसे उठ आने वाली प्रतिकूलताओं पर विचार ही नहीं करते।

वे भयानक हानि पहुंचा सकते हैं। वे इतने अधिक स्थाई रूप से हानिकारक हैं जितने पहले कभी किसी समय में नही थे। हमें क्रांतिकारी अस्त्रों का प्रयोग करने का अधिकार तभी है जब शांतिपूर्वक मत-परिवर्तन के तरीकों के मुकाबिले हिंसा का प्रयोग हो। यह इसलिये सभ्यता के साधनों का परित्याग केवल तभी करना चाहिए, जब और कोई चारा ही न रह जाय।

विकल्प यह है कि धीमे गति से सब कुछ किया जाय, परन्तु संभावना इस बात की है कि यह अधिक लाभदायक होगा। वह यह है कि ऐसे उद्योगों के स्वामियों के अधिकारों को क़ानून बना कर खरीद लिया जाय और उद्योगों के ढांचे का रूप बदल दिया जाय। उन्हें तब लाभांश पाने का अधिकार रहेगा, परन्तु वे मुनाफ़ा और नियंत्रण दोनों ही समर्पित कर देंगे। तब यह एक अंश में मेहनतकशों को मिल जायेंगे, जिसमें शारीरिक श्रम करने वाले से लेकर अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिक तक होंगे और एक अंश में समुदाय को, क्योंकि यह अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ पर इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं कि रूप परिवर्तन के बाद उन अधिकारों का बंटवारा कैसे होगा। मेरा ख़्याल है कि औद्योगिक संगठन का कोई ऐसा रूप नही है जो सभी उद्योगों के लिए समान रूप से उपयुक्त हो। न हमें यहाँ इस पर विचार करने की आवश्यकता है कि यह रूप परिवर्तन किस क्रम से होना चाहिए। एक बुद्धिमान समुदाय एक-एक करके और क्रम से आगे बढ़ेगा ताकि वह अनुभव से सीख सके। ज़रूरत की मुख्य मुख्य बातें काफ़ी सीधी-सादी हैं, उनको लागू करना भले ही जटिल हो। सबसे पहले हमें सम्पत्ति अधिकारों के वर्तमान स्वामियों से वे अधिकार खरीद लेने चाहिएँ। फिर किसी व्यवस्था के अनुसार उनमें ऐसी संस्थायें बनानी चाहिएँ, जो प्रत्येक विशेष उद्योग की ज़रूरतों के अनुरूप हों। इन तरीक़ों से हम उत्पादन की प्रक्रिया में उत्तरदायित्व की वह भावना भर सकते हैं, जो आजकल नहीं है। हम पूरे के पूरे समुदाय को उस प्रक्रिया में भागीदार बना सकते हैं। हम ऐसी संरचना बना सकते हैं जिसमें मेहनतकशों को न केवल उत्पादन करने के लिए स्वतंत्रता हो, बल्कि उन सेवाओं का इस्तेमाल करने वालों को आलोचना करने और अपनी आलोचनाओं को प्रक्रिया के संचालन में लागू करवा सकने की भी अनुमति हो। वर्तमान व्यवस्था में ये चीज़ें असंभव हैं क्योंकि वित्तीय लाभ की भावना के अधीन होने के कारण इसमें सेवा के आदर्श की अभिव्यक्ति की कहीं गुंजाइश ही नहीं रह पाती।

तीन और बातों का उल्लेख किया जा सकता है। मुआवज़ा अदा करके अधिकारों को मिटाने से लगता है कि निष्क्रिय स्वामियों का एक वर्ग पूरे ज़ोर-शोर से बना रह जायगा। यह सच है, और शुद्ध तर्क के अनुसार उसका औचित्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु समुदाय का जीवन उसके अनुभवों के अनुकूल होना चाहिए न कि शुद्ध तर्क के। अगर मुआवज़ा अदा नहीं किया गया है तो इन कानूनी अधिकारों को एकाएक मिटाने का फल शायद उस सरकार पर आक्रमण के रूप में प्रकट हो जो ऐसी चेष्टा कर रही हो। जैसा मेक्यावेली ने कहा था, मनुष्य अपने संबंधियों की मृत्यु के लिये ज़िम्मेदार व्यक्तियों को क्षमा कर देंगे परंतु संपत्ति छीनने वालों को नहीं करेंगे। वित्तीय प्रत्याशाओं के पूरा न होने से समाज का वातावरण अधिक विषाक्त हो जायगा और आख़िरकार समुदाय

को प्रतिकार मिल ही जायगा। यहाँ पर जिस व्यवस्था की रूपरेखा बताई गई है, उसमें वर्तमान स्वामी को मिलने वाले शुल्क उनके वंशजों को नहीं मिलते रहेंगे; अधिक से अधिक उसे वार्षिक भत्ता मिलता रहेगा, जो उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जायगा। दूसरे, यह भी अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि इस प्रकार अधिकारों का अन्त करने की क़ीमत आशातीत रूप से एक भार है। अगर ग्रेट ब्रिटेन ने १९१३ में अपने यहाँ के कोयला स्वामियों के अधिकारों को ख़रीद लिया होता तो यह १९२० में अपनी खानों का क्रय-मूल्य कमा चुका होता।[1] कोई भी लगाई हुई रक़म जो साख बनाये रहती है नहीं डूबती। और नई व्यवस्था में परिवर्तन होते समय, हमारे पास जितनी अधिक साख होगी, उतनी ही अधिक इसके सफलता की आशा होगी।

दूसरी बात यह कि यहाँ पर जिसकी रूप रेखा दी गई है उसके लिए सरकारी विभाग के नियंत्रण का कोई ऐसा नपा तुला पैमाना आवश्यक नहीं है। डाकखाना या टेलीफ़ोन सेवा के विरुद्ध दिये जाने वाले तर्क बिल्कुल भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। उसका सीधा सा कारण यही है कि प्रस्तावित ढांचा इस या उस किसी एक प्रकार के नमूने पर नही बना है। हम जो करना चाहते हैं वह है उन उद्योगों के लिए ऐसे संविधान का निर्माण, जिनमें निष्क्रिय स्वामित्व के अधिकारों पर आधारित निरंकुशता सामाजिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति को रोकती हैं। सरकारी नियंत्रण एक ऐसा आवश्यक अवस्थान हो सकता है, जिसमें होकर उद्योगों को संचालन के एक और रूप को ग्रहण करना हो। परन्तु जैसा कि आगे चल कर पता चलेगा, विभिन्नता की संभावनाये उससे कहीं ज्यादा हैं जितनी कि समष्टिवाद के विरोधीगण मानने के लिए तैयार हैं। यहाँ पर प्रयोग उसी प्रकार संभव और न्यायोचित है जिस प्रकार राजनैतिक संगठन के क्षेत्र में होता है। निश्चित है कि यह अनगिनत ग़लतियाँ करेगा। अनिवार्य रूप से इसमें उच्चतर कोटि की उस निपुणता और जन भावना की आवश्यकता पड़ेगी, जो आज की व्यवस्था का विशिष्ट लक्षण नहीं रही है। परन्तु बिना पीड़ा के प्रसव नहीं होता, और जिनके सामने अधिक अच्छे जीवन की आशा है, उन्हें इसलिए एक ओर नहीं मुड़ जाना चाहिए क्योंकि सड़क पर ख़तरे हैं।

तीसरी बात और सबसे मुख्य बात यह ध्यान रखने योग्य है कि वर्तमान व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। अब इसमें मेहनतकशों की निष्ठा को आर्कषित करने की शक्ति नहीं रही। उन्हें इसमें कोई आनन्द नहीं मिलता। वे अपने प्रयत्नों में न तो दिमाग़ लगाते है और न ही शक्ति। नियंत्रण में हिस्सा न ले सकने के कारण उन्हें यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि उद्योग का संचालन एक ऐसे चीज़ है जिसमें उनका कोई भाग नही। उनके मन में यह बात घर कर गई है कि उनके स्वामियों के बीच उत्पादन अनुचित रूप से बाँटा जाता है। वे कार्य क्षमता के अभाव को पसन्द नहीं करते जो उन्हें कोयला उद्योग में दिखाई देता है। वैज्ञानिक प्रबंध, कुल उत्पादन पर कोई बोनस-व्यवस्था, लाभ में साझेदारी—इनमें से कोई भी उपाय सफल नहीं होता। स्वामिभक्त की जडें ही गायब हो गई है। यह व्यवस्था अब नैतिक संभावना का स्रोत नहीं रह गई है और चतुर से चतुर तरीके भी इसमें उस प्रेरणा

---

१. और यह स्वामित्व के एकीकरण के फ़ायदों में अलग चीज़ होती।

को फिर जीवित नहीं कर सकते जो पहले थी। मुनाफ़ा कमाने वाली प्रवृत्ति का पुराना जादू लुप्त हो गया है, जो मकुल्लोच और नासो सीनियर जैसे लोगों की रचनाओं में अब भी दीखता है। शिक्षा बढ़ने के कारण अनुभव के मायाजाल से मुक्ति प्राप्त हो गई है। आधुनिक मेहनतकश वर्तमान व्यवस्था की अमानवीयता और ढोंग से अत्यन्त क्रोधित हो उठा है। वह इसके कथनों पर विश्वास नहीं करता। वह इसकी सफलता की गिरावट देख रहा है। वह देखता है कि श्रम संगठनों की उत्पत्ति के फलस्वरूप पूंजीपति किले की भीतरी गढ़ी की ओर प्रयान संभव हो गया है। वह इसकी नीवों को भी उखाड़ फेंकने की बात सोचने लगा है।

—५—

यदि यह सच है, तो सम्पत्ति की मुख्य समस्या एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। पुरानी व्यवस्था खत्म हो गई है क्योंकि शिक्षा के प्रसार ने उन प्रवृत्तियों का प्रयोग करना असंभव कर दिया है जो आधी शताब्दी पहिले इसके चलाने के लिये काफी थी। अधिकांशत: यह डर पर आधारित थी और डर पर आधारित व्यवस्थायें अपने मुख मंडल पर अस्थायित्व का चिन्ह लिये रहती हैं। ओवेन और मार्क्स जैसे मार्गदर्शकों ने पूंजीवाद की सफलता की चरमावस्था के दिनों में ही, उस धोखे—जिसे शा महोदय ने "नैतिक" धोखा कहा था—का आवरण उतार फेंका था। समय बीतने पर कुछ ही ऐसे लोग होंगे जो अपने बारे में पूर्णत: चैतन्य होने पर भी इस बात को भली प्रकार न समझ पायेंगे। क्या यह संभव है कि जिन सिद्धान्तों का यहां विवेचन किया गया है उनपर आधारित व्यवस्था अपने पूर्व गामी से अधिक उचित होगी? अधिकांशत: यह इस बात पर निर्भर करता है कि यह किस हद तक औसत मेहनतकश के लिये सुख की व्यवस्था कर सके। यह साफ़ तौर से इस बात का बहिष्कार करती है कि लाभ कमाने की प्रवृति ही से वित्तीय काम के लिये एक उद्दीपन है, और यह एक छोटे से अंश को छोड़ कर बाकी सब के लिये विशाल सम्पत्ति एकत्र करना कठिन, बल्कि लगभग असंभव कर देती है। उन दोनों उद्दीपनों ने ही उन्नीसवीं सदी में पूंजीवाद को सफलता प्रदान की। वह और एक प्रकार की निर्दयता उसकी सफलता की मुख्य विशेषतायें थीं। क्योंकि ऐसे लोग कम ही थे जिन्होंने विलियम मौरिस की तरह यह महसूस किया था "जब मैंने अपने काम के लिये करने के सुन्दर घंटों के विपरीत उन बहुतेरे लोगों के काम के बारे में सोचता हूँ, जिन को उस काम करने के सिवा और कोई चारा नहीं, फिर जिसके लिये कोई प्रशंसा नहीं, इनाम नहीं और जो एकरसता की भयावहता से परिपूर्ण है तो मुझे बड़ी शर्म महसूस होती है।[1] कार्ललाइल और अस्किन जैसे लोगों के प्रतिरोध, डिजरायली की 'सेसिल' नामक पुस्तक के चित्रण, १८४० से १८४९ के काल में प्रकाशित मेहनतकशों की जीवनियों की अविस्मरणीय कटुता, पूंजीपतियों की समृद्धि के अप्रतिहत ज्वार को रोकने में समर्थ न हो सकी। क्या यहां पर जिस विशाल परिवर्तन के बारे में कहा गया है, असंभव आदर्शवाद की साधारण और साफ़-साफ़ स्वीकृति है?

१: श्रीमती टाउनसैंड द्वारा लिखित 'विलियम मौरिस' (१९१२) में पृष्ठ १२ पर उद्धृत (फेबियन ट्रेक्ट, संख्या १६७)

मोटे तौर पर, इसका उत्तर आम तौर पर विचार के लिये ज़रूरी समझी जाने वाली बातों से कुछ कम ही बातों पर निर्भर करता है। मेरा ख्याल है, बहुत कुछ परिणाम तो इसी तथ्य से निकल आयगा कि आर्थिक संगठन से ज़हर का स्रोत हटा दिया गया है। मेहनत कश को यह महसूस कराना है कि जिन्हें रक़म दी जाती है उन्हें काम करना चाहिये ताकि उन्हें रकम दी जा सके, इसी को साफ़ तौर पर प्रकट करना है कि उद्योग बिना परिश्रम के प्राप्त वृद्धि नहीं है। पराक्रमी वर्ग का अन्त हर हाल में अच्छा ही होगा। यह आविष्कार के किसी भी ऐसे एक स्रोत से, जो साधारण और सभी कार्यकर्ताओं के पूर्ण सहयोग को जो उत्पादन में वृद्धि का वास्तविक मार्ग है—क्योंकि आखिरकार, अन्याय की भावना किसी को भी अपना भरसक काम करने देने के लिए सांघातिक बन जाती है। यह दिमाग और दिल दोनों को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। यह ऐसी शक्ल प्राप्त करता है जो बहुत ही घातक होती है क्योंकि बहुधा अचेतन होती है। मनुष्य नाराज़गी के कारण अक्सर बुरी तरह से काम करना शुरु करता है और क्योंकि नाराज़गी उदासीनता में बदल जाती है, इसलिये वह बुरी तरह काम करना भी जारी नहीं रखता। उचित और प्रत्यक्ष उद्देश्य को उद्योग में प्रविष्ट कर हम कम से कम नाराज़गी के सब से बड़े स्रोत को को निष्प्रभाव बना सकते हैं।

परन्तु हमें केवल मेहनतकश की नैतिक स्वीकृति ही नहीं पानी, उसकी निरन्तर दिलचस्पी बनी रहनी चाहिए। हम उसे उस तरीक़े से नहीं कर सकते जैसी कि विलियम मौरिस की कामना थी। बड़े पैमाने के उद्योग का समर्पण और उसके स्थान पर व्यक्तिगत कारीगरों का होना जो अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। परन्तु हम फिर भी बहुत कुछ कर सकते हैं। शिक्षा, मेहनतकश के कार्य को एक अर्थ प्रदान करेगी। अपने और पास के जीवन को समझकर वह मशीन का दास बन कर नहीं रहेगा। हम काम में रुचि को कम करने वाले एकरसता के मुख्य कारणों को दूर करने की खोज भी कर सकते हैं। फैक्ट्री दल के विकेन्द्रीयकरण से हम यह जान सकते हैं कि एक आदमी कितना काम करे जिससे उसे आपसी व्यवहार में सहूलियत हो।[1] यह गुण मुद्रण व्यवसाय के लोगों में मिलता है, रेजीमेंट प्लाटून का भी यही आधार है। यही कारण है कि आक्सफोर्ड केम्ब्रिज का छोटा सा कामनरूम प्रेरणा के देने में आज के आधुनिक विश्वविद्यालय विशेषकर अमरीका के एक बड़े विभाग से कहीं अधिक सफल है। इस प्रकार से मिल जुल कर काम करना वास्तविक होता है और गर्व, आत्म बलिदान तथा पहलक़दमी को विकसित करता है। आज की व्यवस्था में ये चीज़ें नहीं पाई जातीं। ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हो रहा है, जिसे हम निगमीय कह सकते हैं। जिस तरह एक नाविक जहाज़ की विशेषताओं से सुपरिचित हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी निगमीय आन्तरिकता में गर्क हो जाता है। उद्योग में स्व-प्रबन्ध स्थापित करके हम ऐसी संस्थायें बना पाएंगे, जिस से मेहनत-कश को यह महसूस हो कि वह नियंत्रण केन्द्र से सीधे साधे सम्बन्धित है। उसके पास उस "स्वतंत्रता" के, जिसे स्टोहक भली भाँति समझता था, साधन होंगे—ऐसे मार्ग जिन में

---

१. वालास, दी ग्रेट सोसायटी (१९१४) पृष्ठ ३५४ से उद्धृत।

होकर आन्तरिक स्वतःस्फुरण को अभिव्यक्ति मिलेगी और जहाँ उपयोगी लगे, वहाँ प्रतिक्रिया भी होगी, उसी तरह जिस तरह गरीब लोग क़ानून की इज़्ज़त इसीलिए करते है कि उनमें से अदना से अदना आदमी को भी अदालत में न्याय मिलेगा, इसी तरह मेहनतकश यह ध्यान में रखकर काम करने की इच्छा प्रकट करता है, कि हो सकता है कभी इसके ज़रिये वह भी शक्ति के स्थान पर पहुँच जाय। श्रमिक संगठनों की सत्ता का यही एक बड़ा प्रेरणा स्रोत रहा है। और फिर उसे इतना दिया जाय कि वह आत्म सम्मान के साथ रह सके क्योंकि यह उन ज़रूरतों पर आधारित हैं जिन्हें उसकी नागरिकता के संदर्भ में पाया गया है। और सब से अधिक, शायद एक तो उसे इतना अवकाश होगा कि एक ओर तो उसकी शिक्षा और दूसरी ओर समानता का नया परिवेश मिले अगर वह ऐसा चाहेगा तो एक नई प्रतिष्ठा और नई रचनात्मकता का निर्माण होगा। पुरानी व्यवस्था में उसे इनमें से बहुत कम चीज़ें प्राप्त थी। उनमें से कुछ भी उनके पास ज़्यादा तादाद में नहीं थीं परन्तु ये सभी चीजें मनुष्य की मानवीग्रता के लिये घनिष्ठ रूप से आवश्यक हैं। यह विश्वास कि वे अपने काम द्वारा उद्योग की सच्ची नागरिकता की एक शाखा बना देंगे" कुछ अधिक नहीं है।

आज मनुष्य की प्रकृति में परिवर्तन की उतनी आवश्यकता नहीं है जिसका टानी महोदय ने उल्लेख किया था,[1] जितनी कि मानवीय प्रकृति के तत्वों पर ज़ोर देने की है जिनकी आज अवहेलना की जाती है। क्या उद्योग में बौद्धिक कार्य करने वाले को यह नया प्रयोजन उसी प्रकार पसन्द आयेगा जिस प्रकार कि शारीरिक श्रम करने वालों को, जैसा कि मैंने कहा है ? मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नहीं देता कि ऐसा नहीं होगा। इस रूप परिवर्तन में ऐसी कोई चीज़ शामिल नहीं जिससे उसकी स्थिति नीची हो। और वैसे तो उसकी स्थिति अपमानजनक है ही। आज क्लर्कों, घूम फिर कर काम करने वाले एजेंटों, बीमा-अभिकर्ता को मुश्किल से उतना वेतन मिलता है कि उनमें और कुशल कारीगर के वेतन में कोई अन्तर हो; परन्तु नाकाफ़ी साधनों से जैसे तैसे जी पाने के संघर्ष में ही उनका जीवन फँसा रहता है। उन्हें निरन्तर ऐसे काम करने पर मजबूर होना पड़ता है जिन्हें कोई भी भला या दयावान आदमी नहीं करना चाहेगा; और उन्हें जीविकार्जन के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती के हुक्म मानने ही पड़ते हैं। दूसरे लोग अक्सर उन आकांक्षाओं को कोरे पक्ष-पात या सीधे सादे परिवार पोषण के सहारे पूरा कर लेते हैं, जब कि वह उन्हें अपने हृदय से सटाये ही रह जाता है। परन्तु साधारणतया शराफ़त के कारण वह संगठित नहीं होते। वह भी खान प्रबंधकों की तरह आखिरी दिन तक न तो संघवादी भावनायें उत्पन्न कर सकें और न ही उचित आत्म-रक्षण का प्रबंध कर सके। उनके बारे में राय उन गुणों से नहीं बनाई गई जिनको वे लाते हैं बल्कि इस आधार पर बनाई गई कि वह कमाते क्या हैं। वे अपने काम देने वालों को अधीन रहे हैं। और अपने अधीनों से काम लेते रहे हैं। वे केवल नाम भर के सर्वहारा रहे हैं। उनमें शारीरिक काम करने वालों में अपने सामान्य हितों को मानने की और इस के फलस्वरूप उनके साथ ही अपने दावे को पेश करने की प्रवृत्ति बढ़ती

१. दी सिकनेस आफ़ एन एक्विज़िटिव सोसायटी (१९३०) पष्ठ ७४।

जाती है। और उन्होंने इस व्यवस्था के अपव्यय और अपमान के विरुद्ध प्रतिरोध प्रारंभ भी कर दिया है, जैसे कि अमरीका में इंजीनियरिंग पेशे वालों ने किया है।[1] एक कार्य-प्रधान समाज में उनकी स्थिति क्या होगी ? वे उसी शक्ति का प्रयोग करेंगे जो उनके काम के अनुरूप होगी। वे उसी प्रकार की अपनी विशेष प्रविधि का प्रयोग करेंगे, जिसका लक्ष्य उपयोगी संबंध होगा। आज की तरह वे आदेश देंगे पर वे एक सिद्धान्त के आधार पर होंगे। आज की तरह ही वे अपने से बड़ों की आज्ञा मानेंगे, परन्तु उनसे बड़े लोग ऐसे होंगे जो उनसे सामान्य कार्य में सहयोग करेंगे और संगत योजना के कारण सत्ता का उपयोग करेंगे। वे अपनी स्थिति उन्नत करने के लिये ऐसे काम करेंगे जो उस पूरे समुदाय के लिये लाभकारी हों, जिसके वे सदस्य हैं न कि ऐसे काम जो मात्र धनलाभ के लिए होंगे और सिवा निजी फ़ायदे के और किसी से संबंधित नहीं होंगे। आधुनिक उद्योग के मुट्ठी भर दिमाग़ी काम करने वालों की तरह उन्हे बड़ी तनख्वाहें नही दी जायंगी, परन्तु उनका वेतन उनकी योग्यता और कार्य के अनुसार होगा और उनकी कार्य-काल की गारंटी होगी। और उनके पास भी शारीरिक श्रम करने वाले की तरह ऐसे साधन होंगे जिनसे कि वे अपना दृष्टिकोण वहाँ पर प्रस्तुत कर सकेंगे, जहाँ कि वे उसे सुनाना चाहते हैं कि उस पर अमल हो।

मेरे ख्याल में यह विश्वास करने के काफ़ी कारण है कि इन विचारों के कारण दिमाग़ी काम करने वालों को भरसक प्रयत्न करने का उद्दीपन मिलेगा। अगर उद्योग को पेशे जैसा ही बना दिया जायगा तो इससे स्वाभाविक रूप से ही उसकी कौशल भावना उद्‌बुद्ध हो जायगी। यह फ़ौज और नौसेना के लिए, अध्यापकों और डाक्टरों के लिए सार्वजनिक सेवाओं और उनके विभिन्न रूपों के लिए उचित साबित हुई है। जैसा लार्ड हाल्डेन ने लिखा है,[2] दिमाग़ी काम करने वाला जब यह "चाहता है कि वह राज्य की सेवा में दूसरों से कुछ अच्छा काम दिखाये" तो इस भावना की पीछे एक "प्रबल प्रयोजन", अपना भाग्य बनाने की इच्छा होती है। लार्ड हाल्डेन आगे लिखते हैं, "अगर वह यह समझे कि अपनी सार्वजनिक भावना और काम की लगन के कारण उसे मान्यता मिलेगी और सार्वजनिक भावना और कर्त्तव्य-निष्ठा उसे दूर करने योग्य बनायेंगी, तो ऐसा कोई त्याग न होगा, जो वह न कर सके।" यह उस मनुष्य के बारे में सदैव सच होगा जो यह महसूस करता है, कि उसे कुछ महत्वपूर्ण कार्य करना है। निस्संदेह बहुत से लोग ऐसे होंगे जो सिर्फ़ भौतिक भूख मिटाने के लिए ही काम करेंगे। इसी प्रकार ऐसे शारीरिक काम करने वाले भी होंगे जिनकी सर्वोत्कृष्ट भावना को ये प्रयोजन आकृष्ट नहीं करेंगे। संगठन की जो व्यवस्था मन चाहे फलों में से आधे भी पा लेती हैं वह भाग्यवान है। परन्तु जिन लोगों ने सर्वोत्तम प्रारंभिक कक्षाओं की पढ़ाने वाले अध्यायों की लगन और ओज देखा है और यह भली भाँति समझ लिया है कि उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उन्हें ही इस बात का अंदाज़ा हो सकता है कि इस प्रयोग से क्या संभावनायें है। हम किसी भी समाज से स्वार्थ

---

१. वेस्ट इन इंडस्ट्री शीर्षक फेडरेटेड इंजीनियरिंग सोसायटीज़ की रिपोर्ट देखे।
२. दी प्राब्लम आफ़ नेशनलाइजेशन, (१९२१) पृ० २०।

या ढिलाई सिर्फ़ उन संस्थाओं का पुनर्गठन करके नहीं दूर कर सकते, जो समाज पर हावी हैं, परन्तु हम उन्हें इस प्रकार तो पुनर्गठित कर ही सकते हैं कि मनुष्यों के दिमाग़ उन गुणों की ओर मोड़े जा सकें, जिनकी हमें ज़रूरत है। हम इस विश्वास से कि जितना उच्च आदर्श होगा उतना ही बढ़िया काम होगा, सेवा के भविष्य को महान साम्य के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं। जिन्होंने युद्ध क्षेत्र में फ़ौजों को देखा है, वह यह मान कर सकते हैं कि हमारा विश्वास उचित ही है।

—६—

आजकल के युग में सबसे अधिक संदेह तब किया जाता है जब कोई संपत्ति के विद्यमान अधिकारों की आलोचना करे। यह ग़लत है क्योंकि यह ध्वंसात्मक है। यह निरर्थक है क्योंकि यह कोरी आदर्शवादी बात है। यह ग़लती पर आधारित है क्योंकि यह मानवीय स्वभाव के शाश्वत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। परन्तु सम्पत्ति के वर्त्तमान अधिकार अन्ततोगत्वा इतिहास में एक अवस्थान मात्र ही हैं। वे पहले जैसे थे वैसे आज नहीं हैं और कल भी आज जैसे नहीं रहेंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक संस्थाओं में चाहे जो परिवर्तन हों, सम्पत्ति के अधिकार स्थाई रूप से अक्षुण्ण रहने चाहिए। सम्पत्ति एक सामाजिक तथ्य है और सामाजिक तथ्यों का स्वरूप ऐसा है कि वे बदलेंगे अवश्य। इसने विविध रूप धारण किये हैं और इसमें और आगे परिवर्तन हो सकते हैं।[१]

वर्त्तमान व्यवस्था को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखिए यह समुचित नहीं है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह समुचित नहीं; क्योंकि इसमें डर का दबाव रहता है इसलिए वे गुण प्रयोग में नहीं आते जिनके कारण लोग संपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह नैतिक दृष्टि से अपूर्ण है क्योंकि कुछ तो उन लोगों को अधिकार दिए जाते हैं जिन्होंने उनके अधिकारी बनने के लिए कुछ नहीं किया है और कुछ इसलिए जब ऐसे अधिकारों का परिश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तब सामाजिक महत्व के अनुपात में ये संगत नहीं होते। इसके कारण समुदाय का एक भाग बाक़ी समुदाय पर पराश्रयी बन जाता है। इससे बाकी समुदाय सम्पूर्ण जीवन बिताने के अवसर से वंचित हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं, क्योंकि इस में जिस धन का सृजन होता है उसका वितरण ऐसा नहीं होता कि इस की प्रक्रिया से जीने वालों के लिए स्वास्थ्य और सुरक्षा की परिस्थितियाँ बन सकें। कुछ इस से घृणा करते हैं, अधिकतर में इस के प्रति उपेक्षा का भाव है। इसमें वह गुण नहीं रहा कि यह राज्य के उद्देश्य की भावना जागृत कर सके और उसी भावना के बल पर राज्य समृद्ध हो सकता है।

व्यक्तिगत समृद्धि के विचार में आधारतः कोई बात ग़लत नहीं है। एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्तित्व की सच्ची अभिव्यक्ति और उसको ऊँचा उठाने में सहायक होती है। यदि इस को ऐसा समझना है तो यह समृद्धि ऐसे ढंग से किये गये परिश्रम का फल होनी चाहिए जिससे सर्वसाधारण का कल्याण होता हो। इस का परिणाम इतना

१. दाक्तरिन दे सेंत साइयां (१८८२) पृष्ठ १७९ में सम्पति के विकास को

नहीं होना चाहिए कि इसका स्वामी केवल स्वामित्व के बूते पर शक्ति का प्रयोग करे और इसका परिमाण इतना कम होना चाहिए कि इसका स्वामी अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति न कर सके। इस का वितरण जितना अधिक समानता के आधार पर होगा, नागरिक का योगदान सामाजिक महत्व के रूप में समझा जाने की और उद्देश्य से सम्बद्ध होने की उतनी ही अधिक सम्भावना है। इसे कृत्य का परिणाम समझा जाय तो यह इतिहास में अपना प्रकृत स्थान पा लेती है। फिर यह हमारे दिलों पर हावी नहीं रहेगी। इसके आधिक्य से निकम्मापन और अपव्यय नहीं होगा, न गुज़ारे योग्य कमाने की असफलता से लोगों में डाकू बनेने या औरों के प्रति द्वेष का भाव कभी नही जागेगा। व्यक्ति समाज के विरोधी नही रहेंगे; न तो वे उससे लाभ का अवसर छीनने की चेष्टा करेंगे और न उस का शोषण ऐसे साध्य के लिए करने की चेष्टा करेंगे जिसे उनकी अन्तरात्मा समाज विरोधी और सम्मानरहित काम समझती हो। इससे विविधता समाप्त तो नहीं होती; हाँ, भौतिक की बजाय आध्यात्मिक वस्तुओं में विविधता ज़रूर आयेगी। इससे एकीकृत कार्यवाही का आवश्यक आधार समाप्त नही होता क्योंकि कृत्य के समन्वय के कारण ऐसा धरातल बन जाता है, जहाँ सभी लोग एक से होकर मिल सकते हैं। इसमें संगठन का ताना बाना किसी एकरूप योजना के आधार पर नही बुना जाता। तरीके की विविधता रहेगी । खज़ाने के नौकरशाही प्रवृत्ति वाले अधिकारी से लेकर कारीगर तक—जिसके हाथ के बुने कपड़े शायद कुछ ही लोग पहनना पसंद करेंगे—सभी रहेंगे। इसमें संदेह नहीं कि नैतिक मूल्यों का मापदंड वर्तमान व्यवस्था की अपेक्षा भिन्न होगा। इतने बड़े परिवर्तन का यह परिणाम अवश्यम्भावी है कि अच्छे और बुरे के संबंध में हमारे विचार बदल जायें। हम रचनात्मक काम में लगे कलाकार की बात अधिक सोचेंगे क्योंकि अधिक व्यक्तियों में आत्मा की वह शांति होगी जो उसकी क़द्र कर सकें। और मेरा विचार है कि हम उस आदमी की बात कम सोचेंगे जो इस आधार पर अपने बारे में राय मांगता है कि उसने कितना धनोपार्जन किया है। संभव है कि प्रारम्भ में यह समाज भौतिक दृष्टि से निर्धन मालूम हो। यह इसलिए कि लोगों को नये सिद्धांतों के अनुसार आदतें डालने का प्रशिक्षण देने में समय लगेगा। कुछ यह सीखने से इन्कार करेंगे और निस्संदेह अपने प्रयत्नों में वैसी लगन से काम नही लेंगे। संभव है कि यह ऐसा समाज बन जाय जिसमे बहुत कम अमीर व्यक्ति हों। उनके समाज में न होने से वह प्रदर्शन लुप्त हो जायगा, जिसके कारण हमारे सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा भाग भद्दा लगता है। परन्तु ऐसे समाज में आध्यात्मिक मूल्यों का बाहुल्य होगा क्योंकि आदमी पर आदमी का जुल्म ख़त्म हो जायगा। यह इसलिए कि भाईचारा तभी हो सकता है जब आदमी एक साझे काम में लगें और वे तभी मिल कर काम कर सकते हैं जब उनकी जीविका के साधन न्याय पर आधारित हों।

नोट—सम्पत्ति के वितरण पर आनुवंशिकता के क्या प्रभाव पड़ते हैं, इसके लिए सि० जे० वेजवुड की दिलचस्प पुस्तक 'दी इकॉनामिक्स आफ् इनहेरिटेन्स (१९२९) देखिये।

अध्याय—६

राष्ट्रीयता और सभ्यता

—१—

अगर आज की दुनिया केवल आर्थिक दृष्टि से अपने संगठन का मामला निपटा सके तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संक्रमण कोई दुर्गम कठिनाई नहीं रह जायगी। साख व्यवस्था के फलस्वरूप एक दूसरे पर निर्भरता का कुछ ऐसा प्रसार हुआ है कि उसने सारी भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण कर दिया है। और आर्थिक अनुसंधान द्वारा जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, उसे आधुनिक वैज्ञानिक विकास पूरा कर रहा है—विशेषतः संचार-साधनों के विकास द्वारा। व्यवहार रूप में देखें तो आज मुख्य मुख्य अनिवार्य पण्यों के लिए एक विश्व-मंडी और विश्व-भाव का अस्तित्व है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक ऐसी संगठित व्यवस्था है जिसमें हर क्षेत्र विशेष फ़ायदे की परिस्थितियों में अपने यहां जो माल तैयार करता है, उसका इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में तैयार होने वाले माल से विनिमय चाहता है। १९वीं शती के आरम्भ में उन्मुक्त व्यापारियों ने इसी व्यवस्था का भावन किया था। काब्डन ने १८४२[१] में लिखा था : "उन्मुक्त व्यापार व्यवहार को पूर्णता देकर और देशों की एक दूसरे पर निर्भरता की सिद्धि करके अनिवार्यतः सरकारों से अपनी जनता को लड़ाई में झोंक देने की शक्ति छीन लेगा।"

परन्तु घटनाओं का प्रवाह इस दिशा में नहीं हुआ। १९वीं शताब्दी की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि वह राष्ट्रीयता के विकास का युग था और अपने ज़माने की घटनाओं से यह प्रकट हो गया है कि उसके प्रभाव का अन्त होने की संभावना अभी कहीं दूर-दूर तक नहीं दिखाई पड़ती। मोटे तौर पर, आधुनिक राष्ट्रीयता का उद्भव पोलैण्ड के प्रथम विभाजन से पहले नहीं हुआ था और उसकी मूलभूत विचारधारा ने इससे पहले जो-जो रूप ग्रहण किये, उनसे सबसे यह भिन्न है क्योंकि यह अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रभुराज्य के अधिकरणों की अपेक्षा करती है। अतः उसे आत्म-निर्भरता के आधार की वांछा रही है। उसने हर राष्ट्र के लिए स्वतंत्र और स्वायत्त सरकार चाही है, इतालवी आस्ट्रियाई की सेवा नहीं करेगा, इसी तरह बल्गारिया-वासी तुर्कों की सेवा नहीं कर सकता। उसने ऐसी सीमाओं की खोज की है, जो सामरिक सुरक्षा का साधन बन सकें; जर्मन आक्रमण के विरुद्ध अन्तरायक के रूप में फ्रांस को राइन ज़रूर ही चाहिए। इसने काल्बर्टवाद के सिद्धांतों का पुनरुत्थान और विकास किया है और शुल्क-व्यवस्था द्वारा हर राष्ट्र को एक संपूर्ण आर्थिक इकाई बनाने का प्रयास किया है। एक बार अस्तित्व में आने के बाद उसका आग्रह यह रहा है कि विकास जीवन का सहवर्त्ती है। उपनिवेश, संरक्षित प्रदेश, प्रभाव-क्षेत्र, वैध उमंगों का विस्तार—ये सब भावना के अतिरेक की अभिव्यक्ति हैं जिसका मतलब होता है कि वह राष्ट्र प्रौढ़ राष्ट्र

१. मारले—लाइफ़ आफ़ काब्डन (एवर्स्ले संस्करण)—१,२४८

है। यह कोई नगण्य बात नहीं कि आधुनिक यूरोप में एक भी ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र नहीं जिसने कोई उपनिवेश जीता या खोया न हो। हर हालत में उसका फल यह हुआ कि संबद्ध क्षेत्र पर स्थायी या अस्थायी संरक्षण क़ायम हो गया है। इस प्रकार की घटनाएँ भी कम नहीं कि ऐसे क्षेत्रों के निवासियों ने—अमरीका की तरह—स्वयं ही उपनिवेशवाद की बेड़ियों से मुक्त होने का प्रयत्न किया है और वे राष्ट्रीय राज्य की पूरी सज्जा में उभरे हैं या उभरने के लिए सचेष्ट रहे हैं।

राष्ट्रीयता की परिभाषा आसान नहीं है क्योंकि अतीत के गर्भ में ऐसा कोई स्फुट तत्त्व दीख नहीं पड़ता जहाँ से उसका इतिहास शुरू हुआ माना जा सके। अमरीका की प्रखर राष्ट्रीयता ने साबित कर दिया है कि जातीयता का महत्त्व संदिग्ध है और सच तो यह है कि प्राचीनतर यूरोपीय राष्ट्रों में कोई भी गंभीरतापूर्वक जातीय विशुद्धता का दावा नहीं कर सकता : भाषा अतर्क्य महत्त्व का तत्त्व है पर विविध भाषाओं की कठिनाई स्विट्ज़रलैण्ड के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकी। राजनीतिक निष्ठा से भी कोई बात हल नहीं होती। १९वीं शती का इतिहास अधिकांशतः राष्ट्रीयता की दृष्टि से निष्ठा के परिवर्तनों का ही इतिहास है। राष्ट्र को अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के प्रति सचेत बनाने के लिए एक मातृभूमि भी होना आवश्यक है लेकिन यहूदी इस बात के साक्ष्य हैं कि राष्ट्रीयता की भावना के लिए उस पर आधिपत्य होने की बजाय उसकी पुनराप्ति की उमंग ही शायद अनिवार्य है।

मोटे तौर पर राष्ट्रीयता का विचार—जैसा कि रेनाँ ने एक प्रसिद्ध निबन्ध में ज़ोर देकर कहा है—मूलतः मानसिक है। उसमें एक खास तरह की ऐक्य-भावना होती है जो उस भावना की अनुभूति करने वालों को शेष मानवता से अलग करती है। यह इकाई एक समान इतिहास का—संगठित प्रयत्नों द्वारा जीती हुई लड़ाइयाँ और प्रतिष्ठित की हुई परम्पराओं का—परिणाम होती है। उनमें सगेपन की एक ऐसी भावना उदित हो जाती है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँध देती है। वे अपनी समानताओं को पहिचानते हैं और दूसरों के साथ अपनी असमानताओं पर ज़ोर देते हैं। उनकी सामाजिक परम्परा बिल्कुल उनकी अपनी हो जाती है —जैसे किसी आदमी के घर में उसका अपना व्यक्तित्व झलकता है। उनकी कला, उनके साहित्य इस तरह विकास करते हैं कि दूसरे राष्ट्रों से एक प्रकट अन्तर उनमें पाया जाता है। शेक्सपीयर और डिकन्स को इंगलैण्ड ही जन्म दे सकता था; इसी तरह हम मानते हैं कि वोल्टेयर और कॉट में ऐसे गुण हैं जिनमें फ्रांस और जर्मनी की राष्ट्रीयता परिलक्षित होती है।

इस प्रकार विभेद करने वाले गुण के रूप में राष्ट्रीयता का आधार निस्संदेह यूथचारी भावना है। उसमें जो ऐक्य निहित है, उसका प्राणरक्षा की दृष्टि से, तब बड़ा महत्त्व होगा जब खानाबदोश आदमी शिकार के अच्छे अच्छे ठिकाने ढूढ़ता हुआ भटकता फिरा करता था। जिन दलों में यूथचारिता की प्रबल वृद्धि थी, वे ही अस्तित्व के संघर्ष में जीतते थे। उनके पास ऐसे प्रदेश हो गये, जिन्हें वे अपना कह सकते थे। जो उन पर धावा बोलते, उनसे वे लोहा लेते, जीत से मातृभूमि की महत्ता और भी बढ़ जाती थी और ऐसी परम्परायें बन रही थीं जिनकी प्रतिक्रिया से उनके वंशजों की दृष्टि में इतना मूल्य चुका कर पाई हुई चीज़ और भी मूल्यवान होती जा रही थी। लगता है कि आधुनिक राष्ट्र के निर्माण में लड़ाई

ही प्रमुख तत्त्व रही है। कुछ बातें अतीत के गर्भ में समा गई हैं। हम यह नहीं बता सकते कि इंगलैण्ड की देशीय जन-जातियाँ फ्रांसक आक्रांताओं से कैसे ऐसी घुल-मिल गईं कि उसके फल-स्वरूप अंग्रेज़ी राष्ट्र का उद्भव हुआ या यह कि आयरलैण्ड पर आक्रमण करने वाले अंग्रेज़ किस तरह उन लोगों में खप गये जिन लोगों के ऊपर उनका आधिपत्य स्थापित हो गया था। ख़ैर, इससे एक जो तथ्य उभरता है और जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है वह यह कि राष्ट्रीयता का स्वरूप एकदम पृथक्कारी है। यह कोई कोरी आर्थिक घटना नहीं है हालाँकि आर्थिक प्रयोजनों के लिए इसका उपयोग हो सकता है। आस्ट्रिया-हंगरी का विभाजन आर्थिक दृष्टि से बरबादी ही थी लेकिन उसके दोनों ही भाग पृथकता की अभिव्यक्ति के रूप में स्वायत्तता की माँग करते थे। हो सकता है कि ब्रिटेन की प्रशासन-योग्यता के अभाव में मिस्र को नुकसान ही उठाना पड़े, लेकिन मिस्र फ़ायदे की अपेक्षा स्वायत्तता को पसंद करेगा। अमरीका के साथ मिल जाने से कैनाडा को, आर्थिक पक्ष में, शायद लाभ ही होगा पर वह अडिग भाव से ब्रिटेन से अपने संबंध क़ायम रखना चाहता है। इंगलैण्ड के भारत छोड़ देने से—अगर यह घटना निकट भविष्य में घटी—कुछ समय के लिए अराजकता फैल जाना प्रायः निश्चित ही है पर ऐसे हज़ारों भारतीय हैं जो ब्रिटेन द्वारा स्थापित शांति से भारतीयों द्वारा फैलाई गई अराजकता को अधिक वांछनीय समझते हैं। देश-भक्ति—अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम—ग़लत-सलत राहों पर भटका सकता है, पर, मूल में वह एक ख़ास वर्ग के साथ सगेपन की सहज-सच्ची अभिव्यक्ति प्रतीत होता है : एक ऐसे वर्ग के साथ जिसकी सचेष्ट प्रयत्नों के कारण, अनन्य सामान्य प्रकृति होती है और अनन्यसामान्य होने के नाते ही वह स्वायत्तता चाहता है, भले ही इसके लिए उसे आर्थिक हितों का बलिदान करना पड़े।

जब राष्ट्रीयता अपने अधिकार के रूप में स्वायत्त शासन की कामना करती है, तभी सभ्यता की आवश्यकताएँ परिस्फुट होती हैं। आज की दुनिया में स्वायत्तता माँगना यथार्थ में प्रभुराज्य की समूची सज्जा की माँग करना है। कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण लें—इसका मतलब हुआ कि अपने नियत क्षेत्र में राष्ट्र-राज्य जीवन के समस्त उपकरणों का सर्वांग नियंत्रण चाहेगा। जब तक कि लड़ाई ही न छेड़ दी जाये, तब तक वह अपने से बाहर किसी के प्रति जवाबदेह नहीं होगा। अपनी सीमाओं का निर्धारण, अपने शुल्क तय करना, अपनी चौहद्दी में बसने वाले अल्पसंख्यकों को क्या विशेषाधिकार दिये जायें, किन अजनबियों को आने दिया जाय, किन विश्वासों का बहिष्कार किया जाय, शासन का क्या स्वरूप हो—इन सबका निपटारा वह स्वयं करने का दावा करेगा। इस बात पर भी हमें ध्यान देना चाहिए कि राष्ट्र की एकता—अतः उसकी अनन्य-सामान्यता—का सचेष्ट पोषण किस तरह किया जाता है। शिक्षा द्वारा यह काम हो सकता है। अमरीका में राष्ट्रीय परम्परा के गौरव ने अत्यंत विषम तत्त्वों को एक सगर्व आत्म-चेतन इकाई में गुम्फित कर दिया है। बाहरी ख़तरे की भावना से भी यह काम किया जा सकता है। फ्रांस और जर्मनी के सीमांत पर शक्तिशाली और विरोधी राष्ट्रों के विद्यमान होने के कारण ये दोनों राष्ट्र अपने पड़ौसियों और अपने बीच के भेद के विषय में अत्यंत जागरूक रहे हैं। अख़बार भी इसी साध्य को पूरा करते हैं। वे हर राष्ट्र की यूथ-वृत्ति की परिपुष्टि करते हैं। जो राष्ट्र के मित्र समझे जाते हैं, उनकी वे प्रशंसा करते हैं और जो शत्रु समझे जाते हैं, उन पर आघात।

और अनन्यसामान्यता की वह भावना, एक ऐसा लगाव पैदा कर देती है जो पारिवारिक स्नेह की भाँति सत्य या न्याय से निरपेक्ष रह कर जीता है। उदाहरण के लिए, लड़ाई छेड़ने के मसले को लेकर किसी राष्ट्र में मतभेद हो सकता है पर एक बार लड़ाई घोषित हो जाने पर यूथ-वृत्ति क्रियाशील होती है और सारे मतभेद उसी में घुल जाते हैं। जो लोग फिर भी मत-भेद पर ज़ोर देते रहेंगे, उन्हें निश्चय ही ग़द्दारी का फतवा दिया जायेगा; जब राष्ट्र-राज्य को कोई खास खतरा न भी हो—जैसे दक्षिण-अफ्रीका युद्ध में—तब भी सरकारी नीति के विरुद्ध होने का अर्थ नागरिकता के दायित्त्व निभाने की अक्षमता ही बताया जायेगा।

इस स्वरूप को मानें तो राष्ट्रीयता इतिहास में अपेक्षाकृत एक नयी शक्ति ही है—जब उसने राज्यत्व की स्पृहा की वह समय पोलैण्ड के प्रथम विभाजन से पहले का नहीं माना जा सकता। राष्ट्रीय राज्य के दमन और अमरीका में राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा फ्रांस में राष्ट्रीय प्रभुता की प्रतिष्ठा की घटनाएँ लगभग एक साथ ही घटित हुईं। ये दोनों ही विचार एक प्रकार के राजनीतिक विस्फोट का कारण बन गये। पहले-पहल तो फ्रांसीसी क्रांति की शक्तियों न ऐसी धारणा पैदा की मानो वह राष्ट्रीय की बजाय यूरोपीय आन्दोलन ही हो, लेकिन यूरोप की प्रतिक्रियात्मक शक्तियों के विरोध ने फ्रांसीसियों में एक विशेष महत्त्व की चेतना को जन्म दिया—राष्ट्रीयता की शक्ति ने उसे एक अप्रतिम गौरव से आविष्ट कर दिया। वह चेतना नेपोलियन के रूप में फलीभूत हुई पर उसकी विजय में नेपोलियन ने पराजित सेनाओं में राष्ट्रीयता की ज्योति जगा दी। तब से एक नये सत्य का आख्यान हुआ। वह इटली की तरह चाहे लोकतंत्र के नाम में आगे बढ़े, अथवा टर्की के पराधीन जनों की भाँति अपनी राष्ट्रीयता पर धर्म का रंग चढ़ा ले। पर हर अवस्था में आग्रह यही था कि एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र का शासन राजनीतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है और नैतिक दृष्टि से ग़लत। १९वीं शताब्दी में यह एक धारणा बन गई कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं से संगठित राज्यों में एक भोंडी संकरता होती है जिसकी कोई सफ़ाई नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए—आस्ट्रिया के विरुद्ध इतालवी जिहाद में विक्टोरियाई इंगलैण्ड की उत्कट सहानु-भूति इसी भावना का परिणाम थी। शासन के लोकतंत्रीय सिद्धांतों में यह बात विवक्षित थी क्योंकि जैसा मिल ने कहा था—यह समझ में नहीं आता कि 'अगर मानव जाति का कोई अंश यह निर्णय करने के लिए स्वतंत्र नहीं है कि उसे मानवों के किन सामूहिक निकायों से संसर्ग करना चाहिए तो फिर वह किस बात में स्वतंत्र है?.........' आमतौर से स्वतंत्र संस्थाओं की यह आवश्यक शर्त है कि शासन की चौहद्दी मुख्यतः वही होनी चाहिए जो राष्ट्र की।[१] एकता और स्वाधीनता इस विचार के आवश्यक परिणाम थे और यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था—जैसा कि हीगल और माज़िनी जैसे परस्पर भिन्न विचारकों ने निकाला—कि राष्ट्र-राज्य मानव-संगठन की चरम इकाई हैं; फलतः वही मानव-निष्ठा की भी चरम इकाई हो सकती है।

इस मत को मानने में जो नैतिक कठिनाइयाँ हैं उनका विवेचन मैं आगे चल कर

---

१. मिल—रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट (१८६१) पृष्ठ २९६, २९८

करूँगा। पर पहले इस युग की दो परस्पर बड़ी-बड़ी विरोधी शक्तियों पर विचार करना आवश्यक है जिन्होंने मिल कर राष्ट्रीयता की शक्ति को दृढ़ता भी दी है और उसका उच्छेद भी किया है। पहली शक्ति तो वह रूप है जो आजकल युद्ध ने ले लिया है और दूसरी शक्ति है उद्योग-व्यवस्था का विवक्षित स्वरूप। एक तरह से देखा जाय तो दूसरी शक्ति ही पहली की जननी है और हम जिस ग्रंथिल संश्लेष पर पहुँच गये हैं, उसमें मुख्य कारण मान कर इस दूसरे तत्त्व पर ही विचार करना सहज होगा।

यह तत्त्व है आधुनिक उद्योग का स्वरूप। इसने समूची दुनिया को एक 'मंडी' बना दिया है और उसका मतलब है दूसरे देशों से प्रतियोगिता। मोटरकार तैयार करने वाले अंग्रेज़ को इसी काम में लगे हुए अमरीका से प्रतियोगिता करनी ही पड़ेगी। लंकाशायर की सूती कपड़ा मिलों को भारत, फ्रांस, अमरीका, जर्मनी और जापान—इन सबका मुकाबला करना पड़ता है। कोई भी राष्ट्र जो कुछ भी उत्पादन करता है, उसे अपने ही यहाँ नहीं रख सकता। उसे अपने अतिरिक्त माल के लिए मंडियाँ ढूंढनी ही पड़ती हैं। किसी भी व्यापार में उत्पादकों के वर्ग विशेष को यह अभीष्ट होता है कि अपने प्रतिद्वंद्वियों की प्रतियोगिता कम कर दे। देश में यह प्रतियोगिता घटाने का प्रयत्न संरक्षण-शुल्क का रूप लेता है, विदेशों में उसके अनेक रूप होते है: उपनिवेश स्थापित करना, अनुन्नत देशों में रियायतें देना, वाणिज्य संधियों में कुछ राष्ट्रों को अधिमान्यता देना आदि। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतंत्रता राष्ट्रीयता की मांगों से सीमित हो जाती है। यह तथ्य इस श्रेण्य वाक्य में अभिव्यक्त हुआ है: "व्यापार झंडे का अनुसरण करता है।" राष्ट्र-राज्य की शक्ति का प्रयोग किसी ऐसी मंडी को बस में करने के लिए किया जा सकता है जिसमें किसी ख़ास राष्ट्र-वर्ग की प्रधानता हो। भारत और मिस्र में हमारा यही इतिहास है, मराकों में फ्रांस जर्मनी के झगड़े का भी बहुत कुछ यही इतिहास है। व्यापार पूंजी-निवेश का भी रूप ले सकता है; ऋणी देश को बन्धधारी के हित में संरक्षकत्व स्वीकार करने पर मजबूर किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि वह बिल्कुल या लगभग उसी देश की मंडी बना दी जाये। जैसे-जैसे शक्ति बढ़ती है, राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का रूप धारने लगता है।

यह साम्राज्यवाद अक्सर आर्थिक घटना ही होती है। वर्ग-विशेष के हितों की जड़ें सींचने के लिए देशभक्ति की रोमानी छाया का लाभ उठाया जाता है—जैसे दक्षिण-अफ्रीकी युद्ध में। यह धारणा ग़ायब हो जाती है कि किसी ख़ास क्षेत्र के भौतिक साधन ऐसा विषय हैं जिनसे सारी दुनिया को सरोकार है। वे उसी क्षेत्र के होते हैं। राष्ट्र-राज्य जैसे उसका ठीक समझे, उपयोग करे। बुद्धिमानी से करे या बरबाद कर दे। उसमें दख़ल देना राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर हमला करना है। यह समस्या फिर सम्मान का मामला बन जाती और अगर जैसे बगदाद-रेलवे के साथ किया गया, वैसे ही समझौता नहीं किया जाता तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-सम्मान की समस्यायें किसी न्यायालय के सामने निर्णय के लिए पेश नहीं की जा सकतीं। तब फ़ैसला होता है कि सिर्फ़ एक तरह से—लड़ाई द्वारा।

मैं इस बात पर ज़ोर दे रहा हूँ कि जब तक राष्ट्र राज्य की सत्ता वाणिज्य हितों से परिचालित होती है, ये परिणाम टल नहीं सकते। यूथ-वृत्तियों को इस तरह मोड़ा जाता कि वे कुछ लोगों की विशेष ज़रूरतों को ही पूरा करें। राजनीतिक सत्ता और वाणिज्य के

संपर्क में आत्म-निर्भरता का आदर्श, नये उद्योग की विशेष संरक्षा, राष्ट्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक चीजें उत्पादन करने वालों का सापेक्षिक महत्त्व आदि सभी बातें निहित हैं। अमरीका से प्रवासन को व्यापारियों क हितों को दृष्टि में रख कर नियमित किया जाता है क्योंकि उन्हें सस्ते मजदूर चाहिए; जब मज़दूर अपना संगठन करता है, तब उसके प्रदेश पर प्रतिबन्ध लगा कर उसकी मत-शक्ति को सीमित रखा जाता है। मोटरकारों के अंग्रेज़ी निर्माता विदेशी निर्माता के विरुद्ध विशष शुल्क लगवात है। शस्त्रास्त्र की फ़र्मों को उनके काम के निर्वहण के लिए सहायता के रूप में युद्ध पोत दिये जाते हैं। भारत विशेष संरक्षण चाहता है ताकि उद्योओं का विकास हो सके जो कि खुले बाज़ार की परिस्थितियों में संभव नहीं। १९१४ के महायुद्ध से जो विशेष परिस्थितियाँ पैदा हुई, उनके कारण इस वातावरण को और भी प्रखरता मिल गई है। नाकेबन्दी का महत्त्व जब से प्रकट हुआ है तब से यह भी सिद्ध हो गया है कि जो जीवन के लिए आवश्यक चीज़ें उत्पन्न करते हैं वे ही आत्म-निर्भर रह सकते है और अगर कोई और विचार बीच में न हो, तो इसका मतलब यह होगा कि व्यापार का इस तरह विकास किया जाये कि लड़ाई के ख़तरों से अधिकाधिक संरक्षण प्राप्त हो।

यहीं बस नहीं है। आधुनिक युद्ध के स्वरूप से सभ्यता के लिए और भी कठिनाइयाँ हैं। उसकी ध्वंस शक्ति इतनी विपुल होती है कि राष्ट्र-राज्य को युद्ध के ख़तरों से अपनी रक्षा करने की दृष्टि से अपने साधनों को व्यवस्थित करना पड़ता है। उसे अपने सीमान्त ऐसे बनाने पड़ते हैं कि हमला करना भरसक कठिन हो जाये। अगर हो सके, वह उनकी सीमाओं को इस तरह बाँटता है कि ऐसी चीज़ें तुरन्त उपलब्ध हों जिनका सम्भरण युद्ध के लिए अनिवार्य होता है—जैसे गेहूँ, कोयला, लोहा आदि। अपने साधनों से अधिक ख़र्चा बर्दाश्त करके उसे सेनायें रखनी पड़ती हैं—और उस हद तक वह अपनी सुरक्षा के लिए जान बूझ कर ग़रीबी स्वीकार करता है। लेकिन उसके पड़ोसी भी सब यही करते हैं—शक्ति-संग्रह की एक होड़ सी शुरू हो जाती है, जिसके फलस्वरूप शांति ख़तरे मे पड़ जाती हैं, घबराहट और वैर-भावना का वातावरण प्रचंड हो उठता है और छोटे राज्यों को अपने शक्तिशाली पड़ोसियों से गठबंधन करने का लोभ होता है, ताकि उस परिवर्धित शक्ति से उन्हें सुरक्षा मिल सके। राष्ट्र-राज्यों की इस तरह की गुटबन्दी की अगर सबसे अच्छी उपमा दी जा सकती है तो वह एक बारूद भरे शस्त्रागार से जिसे १९१४ के युद्ध की तरह संयोग की एक छोटी-सी चिनगारी विनाश की लपटों में भभका देने के लिए काफ़ी होती है।

मैं समझता हूँ कि यह मान लेने का भी कोई कारण नहीं कि राज्य द्वारा अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ही प्राकृतिक साधनों का नियंत्रण किये जाने से वातावरण की विस्फोटकता किसी तरह घट जायेगी। यह हो सकता है कि ज़रूरी कच्चे माल पर सामाजिक नियंत्रण रहे तो उसका कोई अनुचित लाभ न उठा सके। सामाजिक नियंत्रण साम्यवादी राज्य का भी रूप ग्रहण कर सकता है—जैसे रूस में। लेकिन जब तक उसकी प्रकृति अकम्प रूप से राष्ट्र-वादी रहती है, और वह ऐकान्तिक प्रभुता के माध्यम से क्रियाशील रहता है तब तक वह अपने साध्य प्रयोजन के लिए अधिकाधिक सशक्त होता जायेगा। रूसी साम्यवाद में इतनी साम्राज्यवादिता तो थी ही कि उसने जार्जिया को पदाक्रांत किया। समाजवादी हो जाने

पर भी इंगलैण्ड को कपास और तेल तो चाहिएगा ही और उसके लिए अगर ज़रूरत पड़े तो वह लड़ेगा भी। यहां तक कहा जा सकता है कि ऐसे समाजवादी राज्य अपनी लड़ाइयाँ अपूर्व सहजता से संचालित करसकेंगे क्योंकि उनमें कोई यह तो कह नही सकेगा कि लड़ाई निजी हितों के लिए लड़ी जा रही है। समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय तो बस इसीलिए है कि पूजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। अगर दुनिया में सब राज्य समाजवादी हो जाये और एक दूसरे से स्वतंत्र तथा प्रभुत्व-संपन्न हों तो वे ही आसानी से उसी प्रकार एक दूसरे से वैर मान सकते हैं जैसे इस युग के राज्य।

अतः आत्म-निर्णय के प्रभु अधिकार से संपन्न राष्ट्रीयता एक ऐसा सिद्धांत है, जिसके परिणाम उससे कहीं भिन्न होते हैं जिसकी मात्सिनी और मिल जैसे लोगों ने कल्पना की थी। इसमें प्रतिष्ठा की राजनीति निहित रहती है और उसके फलस्वरूप दुनिया एक ऐसी दुनिया का रूप ले लेती है जिसमें राष्ट्रों के आपसी संबंध ऐसे मामले नहीं रह जाते जिनका न्याय से निर्णय हो सके। इस बात को समझने के लिए कि राष्ट्रीयता की अनुभूति ऐसी बातों पर आधृत है, जो आज की सभ्यता के वातावरण को देखते हुए गम्भीर खतरों से अपूर्ण है; उसकी वास्तविकता से—अथवा उसकी मान्यता से भी—इन्कार करने की ज़रूरत नहीं है। अंग्रेज होना अच्छा है, इसमें संदेह करने की किसी को ज़रूरत नहीं —पर यह भी जानना आवश्यक है कि किसके लिए अच्छा है और क्यों ? जब अंग्रेजों की—या किसी और राष्ट्र की—राष्ट्रीयता के फलस्वरूप ऐसा राज्य बनता है जो अपने प्रति निष्ठा की मांग करता है—चाहे उसका उद्देश्य कुछ भी हो—तो इसमें ऐसी बातें विवक्षित हैं जो राजनीति दर्शन के मूल तक पहुंचाती हैं। किसी भी राष्ट्र को जीने का अधिकार है। लेकिन चूंकि वह अपने आपमें सिमट कर नहीं जी सकता, इसलिए वह कैसे रहे—इस सवाल का फ़ैसला अकेले कर लेने का उसे हक नहीं। क्योंकि जिस राजनीतिक व्यवस्था का वह अंग है, उसमें ऐसे नैतिक प्रयोजन का अन्तर्भाव है जिसके सामने राष्ट्रीय हित—यहां तक कि राष्ट्र का अस्तित्व भी—गौण है। नागरिक में देश-भक्ति का मतलब यह नहीं कि वह अपने राष्ट्र-राज्य का अन्धा होकर अनुसरण करे, और राष्ट्र-राज्य के अधिकार इस बात में निहित नहीं कि वह दूसरों का अहित करके अपने हित की रक्षा करे। यह तो शक्ति की राजनीति है जो राज्यों के आपसी संबंधों में अधिकारों की धारणा को स्वीकारती ही नहीं। और यह बात अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए कि—जैसा कि बर्क ने वारेन हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध अभियोग लगाते समय कहा था—विदेश में अधिकारों के निषेध का मतलब है, कभी न कभी देश में भी अधिकारों का निषेध। आदमी अजनबी के साथ अन्याय करने में तब तक निष्णात नही हो सकता, जब तक कि वह अन्ततोगत्वा अपने बन्धुओं को भी न्याय देने से इन्कार नहीं करने लगता।

—२—

अस्तु, अब समस्या राष्ट्रीयता और अधिकार के संतुलन की है। 'अधिकार' से मेरा मतलब लोकातीत आचार की किसी रहस्यात्मक धारणा से नहीं। मेरा अभिप्राय सिर्फ़ इतना है कि जिन हितों की सिद्धि करनी है, उनका माप उन सब लोगों के लिए समान है जो साथ-साथ रहने के अभ्यस्त हो गये हैं। मेरी दलील यह है कि चूंकि मेरा पड़ोसी ही मेरे लिए [illegible] संसार है, अतः मुझे अपने हित का इस प्रकार भावन करना चाहिए कि उसमें उनका

भी हित आ जाये, जिनके साथ मुझे रहना है। एक पुराने सत्य को कि कोई भी आदमी अपने आपमें सिमट कर नहीं रह सकता, वैज्ञानिक खोजों ने नई परिस्थितियाँ दे दी हैं। इसका मतलब यह है कि राष्ट्र कहे जाने वाली मानसिक व्यवस्था की पृथक्ता को हम चाहे जितना मान लें, पर उनके काम करने मे एक 'साहित्य' (सहित होने का भाव) भी है और उसमें उस 'साहित्य' की संस्थाओं के निर्माण की बात भी आ जाती है। वे संस्थाएं समान हित के मामलों पर संयुक्त निर्णय के आधार पर ही बनाई जा सकती हैं। मिसाल के लिए जैसे ही इंगलैण्ड के किसी काम पर फ्रान्स का सीधा असर पड़ने लगता है, वैसे ही इस बात की जरूरत पैदा हो जाती है कि जिस क्षेत्र में दोनों के काम टकराते हैं, उसका हल दोनों देश संयुक्त रूप से करें। और स्पष्ट है कि जब उस समस्या को इस रूप में रखते हैं तो निर्देश की इकाई दो राष्ट्रों तक ही सीमित नही रह सकती। तर्क सिद्ध बात यह है कि सभ्यता की सामान्य समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न या तो अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर होना चाहिए, अन्यथा वह व्यर्थ है।

ऐसे फ़ैसले जिनकी लपेट में मैं भी आता हूँ, तब तक कारगर फ़ैसले नहीं हो सकते जब तक उनके करने में मेरा भी सहयोग न रहा हो। व्यक्तियों के संबंधो के बारे में यह बात जितनी सच है, उतनी ही राष्ट्र-राज्यों के संबंधों के विषय में। मुझ पर दबाव डाल कर मुझसे ऐसे काम कराये जा सकते हैं जिन्हें मै पसंद न करता होऊं पर उस हालत में मेरा काम सृजनात्मकता खो देता है क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं होता। राष्ट्रों पर भी यही बात लागू होती है। वे एक दूसरे के साथ मिलकर काम कर सकते हैं, अगर वह एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते है तो वह उनका सहज उत्कृष्ट रूप नहीं हो सकता। जिस शक्ति का वे प्रयोग करते है वह दूसरे के सहकार्य से जनित शक्ति होनी चाहिए, दूसरों पर दबाव डालने से जनित नहीं। उन्हे अपने पड़ौसियों को यह प्रत्यय कराना चाहिए कि उनके जो संबंध है, उनको बनाये रखना एक दूसरे के हित में है। हर एक को उससे परिपुष्ट सामंजस्य की भावना मिलनी चाहिए जो आत्म-सम्मान पर आधृत सेवा से उत्पन्न होती है। विवशता के सहारे टिका हुआ आदेश कभी स्थायित्व नही पा सकता। आयरलैण्ड और भारत, आस्ट्रिया-हंगरी और बरसाई की संधि द्वारा विकृत जर्मनी के इतिहास से, कम से कम, यही सबक मिलता है। जो आदेश दिये जायें और जो संबंध स्थापित किये जाये, उनमें उन हितों की स्वीकृति तो होनी चाहिए जिन पर उनका प्रभाव पड़ेगा वरना वे कभी मान्य नही हो सकते।

इसका मतलब है कि प्रभुता-संपन्न राष्ट्र-राज्य जैसी कोई चीज़ नही रह जाती। इसका अर्थ है कि सभ्यता की कोई भी इकाई विश्व-व्यवस्था को—और उसी व्यवस्था में आज वह अपनी सार्थकता पाती है—अपनी मर्ज़ी के अनुसार मोड़ने का अधिकार नही माँग सकती क्योंकि कोई भी इकाई अब आत्म-निर्भर नहीं रह गई अपने व्यापक कार्यों के अन्तर्गत वह जो फ़ैसले करती है, उनमे अनुषंग से वह विश्व-व्यवस्था भी लपेट में आ जाती है। अगर इन फ़ैसलों पर सफलतापूर्बक अमल होना हो तो वह एक तरह से—जैसा कि श्री लियोनार्ड वुल्फ ने कहा था—'समूचे विश्व के लिए विधान बनाने' जैसी बात होगी। यह कोई आसान मामला नही है। इसमें इन बातों का समावेश है: (क) ऐसे कार्यो का पता लगाना जिनका होना सार्वभौम हो; (ख) उन कार्यों के परिचालन के लिए उपयुक्त संस्थाएँ

बनाना; (ग) ऐसी संस्थाओं के शासन में जो राष्ट्र-राज्य भाग लेंगे, उनके उचित प्रतिनिधित्व का तरीक़ा। एक शब्द में कहें तो आधुनिक परिस्थितियों की विवक्षा है विश्व-सरकार। इसका काम एक राज्य के शासन से कहीं अधिक जटिल होगा और यह स्वाभाविक भी है। सहयोग की मानसिक परम्परा अभी स्थापित करनी पड़ेगी, भाषा की कठिनाई पार करनी होगी, फ़ैसलों को लागू करने के लिए कोई ऐसी सर्व-सम्मत प्रविधि ढूँढ़नी होगी जिसके विषय में अभी तक कोई विशेष खोज नहीं की गई। आश्वस्त होने का अगर कोई कारण है तो सिर्फ़ एक यह कि धीरे-धीरे सभी इस बात को मानते जा रहे हैं कि आधुनिक युद्ध सचमुच आत्मघात के ही बराबर है और फलस्वरूप हमें सहयोग या सत्यानाश में से एक को वरण करना है। इसी भावना से १९१९ में वरसाई संधि के कर्णधारों ने राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) को स्वीकार करके उसके अन्याय के परिहार का प्रयत्न किया था। यह उस भवन की झाँकी भर है, जो अभी अस्तित्व में नहीं आया। लेकिन इसका बड़ा भारी महत्त्व यह है कि यह निर्देश का ऐसा अधिकरण होगा जो कि किसी भी राज्य की आज्ञाओं से परे होगा। यह या तो वृथा होगा या फिर इसका मतलब होगा विश्व के मामलों में राष्ट्र के प्रभुत्त्व का निषेध।

जिन कार्यों का होना सार्वभौम है, उनका पता लगाना एसा मामला नहीं जो पूर्व-सिद्ध आधारों पर निपटाया जा सके। जिस स्याही से ये सिद्धांत लिखे जायेंगे उसके सूखने के पहले ही वैज्ञानिक खोज इस प्रयत्न को गतयुगीन बना देगी। बुद्धिमानी तो इस बात में होगी कि ऐसी समस्या के भावन का प्रयास किया जाये जिसका कोरा राष्ट्रीय स्वरूप नहीं रह गया हो। ऐसे कुछ वर्ग तुरन्त ही सामने आते हैं :—

(क) संचार की समस्याएँ
(ख) प्रादेशिक सीमाओं की समस्याएँ
(ग) जातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की समस्याएँ
(घ) जन-स्वास्थ्य की समस्याएँ
(ङ) उद्योग और वाणिज्य की समस्याएँ
(च) अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन की समस्याएँ
(छ) लड़ाई के सीधे प्रतिषेध से सम्बद्ध समस्याएँ

इनमें से हर वर्ग में, हमारे पास केवल ऐसा ही अनुभव ही नहीं है, जिसके आधार पर हम आगे बढ़ सकते हैं, वरन् केवल प्रशासन के नियंत्रण को छोड़ कर ऐसी संस्थाएँ भी हैं जो अपने व्यावहारिक काम द्वारा परखी जा चुकी हैं। इस अनुभव और इस व्यावहारिक कार्य से निष्कर्ष क्या निकलता है ? मैं दो सबसे महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करूँगा। पहली तो यह कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन और विधान संभव है। अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री विधान और अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ जैसी जटिल व्यवस्थाएँ इसे सिद्ध कर चुकी हैं; अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय जितना कुछ काम संपन्न कर चुका है उससे भी यहाँ स्पष्ट है; १९०२ के सम्मेलन द्वारा नियोजित चीनी आयोग के महत्त्वपूर्ण काम से भी यही बात सिद्ध होती है। इनमें—और ऐसे ही अनेक उदाहरणों में—हमने जो कुछ पाया है, सो है राष्ट्रीय हितों पर अन्तर्राष्ट्रीय मानकों को लागू किया

जाना—और ये राष्ट्रीय हित प्रायः इन मानकों से कतरान की या उनके अतिक्रमण की कोशिश करते हैं। दूसरे, यह बात स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आदत से परस्पर प्रतिकूल और प्रायः विरोधी अनुभव के लोग भी समान समाधान खोजने के लिए अपने अनुभव का समाहरण कर सकते हैं। थोड़े में—वे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से सोचना-विचारना सीखते हैं। वे अंग्रेज़, जर्मन या फ्रांसीसी न रहते हों, सो बात नहीं—वे अपनी राष्ट्रीयता को अधिक समृद्ध परिपार्श्व में समंजित करना सीख लेते हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है क़ानून का वर्द्धमान एकीकरण। सभ्यता के वश हमें आचरण के सामान्य नियम खोजने पड़ते हैं जिन पर पेरिस और टोकियो में, लन्दन और न्यूयार्क में सभी जगह अमल किया जा सकता हो। हम सर्वत्र हफ़्ते में ४८ घंटे काम का सिद्धांत लागू कराने का प्रयत्न कर सकते हैं, रोगन में सफ़ेद शीशा मिलाने का सर्वत्र निषेध करा सकते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी राष्ट्र-राज्यों के लिए—जिनके व्यवहार का विश्व-व्यवस्था पर थोड़ा भी गम्भीर असर पड़ता हो—सभ्य जीवन का एक सामान्य कम से कम स्तर होना चाहिए। हमें इस बात का अनुभव करना चाहिए कि एकीकरण की प्रक्रिया जिस हद तक पहुँची है, उससे कहीं आगे उसे जाना चाहिए। उद्योग के कच्चे माल के वितरण में हमें इसका उपयोग करना चाहिए; शुल्क-प्रतिबन्धों के निपटारे में करना चाहिए। हमें अमरीका को अपने आप ही इस तरह का फ़ैसला करने से रोकना चाहिए कि फिलिपीन-वासी स्वशासन के योग्य नहीं; हमें भारत को संसद के फ़ैसले के विरुद्ध राष्ट्र संघ में संगठित दुनिया की सामान्य संकल्पना के सामने अपील करने की इजाज़त देनी चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि हमें एक राष्ट्र-राज्य को दूसरे से लड़ाई छेड़ने से रोकना चाहिए—हमें यह आग्रह करना चाहिए कि उनके झगड़े किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के सामने रखे जा सकते हैं और वहाँ से उनका फ़ैसला होना चाहिए और जो राज्य अपने झगड़े न्यायाधिकरण के सामने रखने और उसके फ़ैसले का पालन करने से इन्कार करे, उसे आक्रांता करार देना चाहिए और दण्डित किया जाना चाहिए। जब इस एकीकरण-प्रक्रिया की सब बातें समझ लेते हैं, तो हमारे सामने संसार का जो चित्र उभरने लगता है, वह उससे बिल्कुल भिन्न है जो उसे अलग-अलग और स्वतंत्र समुदायों का योग भर समझता है। और अलग-अलग तथा स्वतंत्र समुदायों की बात हम कुछ तो इसलिए अस्वीकार करते हैं कि वह संघर्ष की जड़ है और कुछ इसलिए कि उसकी विवक्षाएँ उन तथ्यों से मेल नहीं खातीं, जिनके साथ अब हमें अपनी संस्थाओं का सामंजस्य करना है।

लेकिन क्या ऐसी उचित संस्थाएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं जिनके द्वारा यह एकीकरण की प्रक्रिया पूरी हो सके? इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। मैं इस किताब में बाद में एक संस्था के ढाँचे का सविस्तार विवेचन करूँगा, जिसकी कम से कम, रूपरेखा उचित प्रतीत होती है। हमे जानना यह है कि क्या लोकतंत्रीय सरकार के विशिष्ट उपकरण—इस विधानांग, नागर-सेवा से युक्त एक कार्यांग और एक न्यायांग—इतने नम्य बनाये जा सकते हैं कि वे दुनिया के मामलों की पेचीदगियों को देखते हुए भी व्यवहारार्य हो सकें। इसमें निश्चय ही आशावादिता के लिए भी गुन्जाइश है और प्रयोग के लिए भी। यह तो माना ही जा सकता है—जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय के काम से स्पष्ट है—कि

कठिन से कठिन समस्याओं पर भी काफ़ी हद तक सहमति पाई जा सकती है। संसदीय शासन की पुरानी संघटना का अन्धानुसरण करना तो समस्या के स्वरूप को ही ग़लत समझना होगा। हम, कम से कम मनसा भविष्य में जितने पैठ सकते हैं, उसके बल पर, इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि कभी विश्व राज्य का एक प्रधान मंत्री होगा जो जेनेवा में, जनता द्वारा निर्वाचित संसद् के सामने अपनी नीति का उद्घाटन करे। परन्तु हम यह भावन कर सकते हैं कि सरकारों के आपस में बराबर विचार-विमर्श होते रहेंगे जिसमें एक ओर कारगर समझौतों के लिए व्यवस्थाएँ होंगी और दूसरी ओर जो असहमत हों, उन्हें बाध्य करने की। इसका यह मतलब नहीं कि बहुमत-शासन के सरल सूत्र से काम चल जायेगा। पर मैं समझता हूँ कि इसका यह मतलब ज़रूर है कि सर्व-सहमति के सिद्धांत को—जिस पर लीग आफ़ नेशन्स की वर्तमान संघटना आधारित है—छोड़ देना होगा। हमारे सामने जो स्थिति है, उसमें सरकार की आवश्यकता तो होगी ही और सरकार की धारणा में ही यह बात निहित है। खुल कर और स्वतंत्र रूप से विचार विमर्श होने के बाद जो फ़ैसले हों, वे अल्पमत वालों के लिए भी बाध्य करने वाले हों। उनमें से अधिकांश फ़ैसले स्वभावत: अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने यहाँ लागू किये जायेंगे; उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू नहीं किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की नागर सेवा (सिविल-सर्विस) अभिलेख और सूचना भर के लिए होगी, फ़ैसले लागू करना उसका काम नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपने फ़ैसले राष्ट्रीय अदालतों को भेजेगा और उन्हीं की मार्फ़त उन पर अमल कराया जायेगा—वह स्वयं उन्हें क्रियान्वित करने के लिए पुलिस नहीं रखेगी। अन्तर्राष्ट्रीय विधानांग में किसी राज्य की सरकार जो दृष्टिकोण अपनायेगी। वह इस शक्ति पर आधारित होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय विधान-सभा द्वारा उसे पहले ही स्वीकार करा ले। अगर वह सही दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करती तो उसे सत्ता से हाथ धोना और इस्तीफ़ा देना पड़ सकता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की संकल्पना उत्तराधिकारी सरकार के लिए भी बाध्यकारी होगी। अमरीका ने शासन और प्रभाव में जो भेद किया है, वह घरेलू मामलों में जितना आवश्यक है, उतना ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी।

अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता में प्रतिनिधित्व की समस्या भी कोई सीधी-सरल समस्या नहीं। जिस समय राज्य के प्रभुत्व का मताग्रह अपनी पराकाष्ठा पर था तब राज्यों की बराबरी का निष्कर्ष निकालना और फलत: बराबर प्रतिनिधित्व पर जोर देना तर्क-संगत था। लेकिन कटु अनुभवों द्वारा हमने यह जाना है कि राज्यों की समानता के आधार पर व्यावहारिक फ़ैसले नहीं हो पाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में बराबर प्रतिनिधित्व देकर हम अमरीका और युगोस्लाविया को बराबर नहीं बना सकते। अगर दक्षिणी अमरीका गणराज्यों के वोट शक्तिशाली देशों से अधिक हो जायें तो जो निर्णय होंगे, उन पर अमल नहीं हो पायेगा। हमारी समस्या समान चुनाव प्रदेश पा लेने की नहीं है—जैसे लोकतंत्र में होता है—जहाँ एक खास धरातल पर व्यक्तियों को बराबर माना जाये। हमें तो यह व्यवस्था करनी है कि जो राज्य सदस्यता के योग्य हों, वे सभी आज़ादी के साथ अपनी आवाज़ बुलन्द कर सकें और इंगलैण्ड, अमरीका, रूस जैसे राज्यों को दुनिया के मामलों में अपनी विशेष स्थिति के कारण, विशेष सत्ता प्राप्त हो। मैं समझता हूँ कि इसका हल यह हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय

सत्ता के विधान-मंडल में सब राष्ट्रों के लिए बराबर जगह हो पर कार्यांग में केवल कुछ ही राष्ट्रों को स्थायी जगहें प्राप्त हों। बाकी देश बड़े देशों के प्रतिनिधियों के सहयोग के लिए अपने प्रतिनिधि चुन सकते हैं—लेकिन उनका उसमें पहुँचना निर्वाचित होने पर ही निर्भर होगा और यह कार्यांग-निकाय एक तरह का ऊपरी सदन होगा जिसे किसी फ़ैसले को स्थगित करने के लिए वीटो का अधिकार होगा जिसका बहुत ही ख़ास ख़ास परिस्थितियों में अति-क्रमण हो सकेगा। ये विवरण निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है पर आखिर विवरण ही। एक बार अस-मान प्रतिनिधित्व का सिद्धांत मान लिया जाय तो ऐसा चौखटा तैयार हो सकता है जिसमें आधुनिक समुदायों का जटिल रूप-आकार भी समा जाये। असमान प्रतिनिधित्व के आग्रह का अन्ततः अर्थ है राज्य-प्रभुत्त्व के सिद्धांत का परित्याग और इस परित्याग से ही सृजना-त्मक प्रयोग का द्वार उन्मुक्त होता है।

—३—

कोई चाहे तो कह सकता है कि इस सबमें देश-भक्ति के इतने बड़े तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है, और देश-भक्ति का वह तत्त्व हर मूल्य पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता बनाये रखने की दृढ़ता में व्यक्त होता है। जो लोग यथावत् स्थिति बनाये रखना चाहते हैं, उनके लिए देश-भक्ति एक सहज वृत्ति हो जाती है और सविवेक प्रयोजन से पुष्ट समाज-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास आपूर्व बेकार-सा हो जाता है। यह दलील महत्त्वपूर्ण जरूर है पर असल में उतनी अतर्क्य नहीं जितनी लगती है क्योंकि अगर यह अपनी संपूर्ण अनम्यता में सत्य होती तो अन्त-र्राष्ट्रीय प्रबंधों के विषय में बातचीत करना भी असंभव हो जाता और अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहमति का जो विशाल ताना-बाना फैल गया है, वह सब बेतुका और असंगत हो जाता। यह बात भी भूल नही जाना चाहिए कि आदमी की सहज वृत्तियाँ भी विवेकपूर्ण नियंत्रण का विषय बन सकती है। कालविन ने सर्विटस से जो सलूक किया उसके लिए आज कोई भी उसका पक्ष नही लेगा पर आज से मुश्किल से दो सौ वर्ष पहले अधिकतर आम आदमी से उसे इस व्यवहार के लिए प्रशंसा मिलती। आज आदमी फाँस-जाल और स्प्रिंगदार बन्दूकों को कोई प्रोत्साहित नहीं करता पर अभी एक शताब्दी भी नहीं गुज़री जबकि हाउस आफ़ कामन्स में मानो प्रकृति की चिरन्तन व्यवस्था का अंग मान कर ही उनकी सफ़ाई दी गई थी। मानव की सहज वृत्तियों के साथ जब तक प्रयोग न किये जायें तब तक यह पता नहीं चल सकता कि उनसे क्या काम बनाये जा सकते है और क्या नही और जैसा मैं अभी बताऊँगा, इस विश्वास के लिए आधार है कि देशभक्ति का ऐसे रूपों में उन्नयन किया जा सकता है, जो समाज-कल्याण के लिए कम ख़तरनाक हों।

देश-भक्ति का आधार कुछ अंशों में तो आदमी की यूथ-वृत्ति होती है और कुछ अंशों में शासन की विवेकपूर्ण इच्छा। मैंने जिस संघटना को अनिवार्य बताया है, वह उन दोनों में से किसी भी पहलू के प्रतिकूल नहीं। उसमें यह लक्षित नहीं होता कि कोई अंग्रेज़ अपने बन्धु-अंग्रेज़ों को प्यार करना छोड़ देगा; उनके साथ रहेगा नहीं, काम न करेगा और यहाँ तक के उनके लिए मरने को भी तैयार न होगा। यह भी माना गया है कि वह अपने मामले स्वयं सँभाले। उसे यह अक्षय अधिकार होगा कि वह चाहे तो गणतंत्र से राजतंत्र को पसंद कर सकता है, संसदीय सरकार से सोवियत-प्रणाली को और मद्य-निषेध की अपेक्षा शराब

बेचने की उन्मुक्त व्यवस्था को अभीष्ट मान सकता है। वह चाहे तो शिक्षा में धार्मिकता का पुट रहने दे सकता है और इस पर किसी फ्रांसीसी, अमरीकी या जापानी को टीका-टिप्पणी करन का अधिकार न होगा। वह चाहे तो कलाओं को राज्य की ओर से मान्यता देने से बराबर इन्कार करता रहे; तलाक के क़ानून बनाये रक्खे, जिससे कपट के कपाट उन्मुक्त हो जायें; जहाँ तक उसके फ़ैसलों का संबंध ऐन आन्तरिक मामलों के क्षेत्र से है, उसकी वर्तमान स्थिति बिल्कुल ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

लेकिन अपने मामलों का प्रबन्ध करने के अधिकार का मतलब दूसरों के मामले का प्रबन्ध करने का अधिकार नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून और परम्परा का विकास इस अहसास के कारण हुआ कि हम दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते कि और चूँकि हमारे कुछ फ़ैसलों का असर औरों पर भी होता है, इसलिए यह अच्छा है कि उन्हें करते वक्त हम उन लोगों से भी सलाह ले लें। १८३२ में अंग्रेज़ों की देश-भक्ति भावना का इससे कुछ अपमान नहीं हुआ कि मध्यम वर्ग से भी उसके शासकों के चुनाव में सलाह ले ली जाये। १९१८ में जब अन्त में श्रमिक वर्ग को भी इस अधिकार में शामिल किया गया, तब वह भी कोई अपमान की बात न थी। इस विभावन ने पहले की प्रणालियों की तंग दीवारों को धराशायी कर दिया कि जो सबको प्रभावित करे उसका निर्णय सभी करें—अंग्रेज़ी शासन का यह एक ऐतिहासिक सिद्धांत है। पिछली शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धों का इतिहास भी इससे कुछ बहुत भिन्न नहीं रहा—यद्यपि यह उतने बड़े पैमाने पर संभव नहीं हुआ। जो प्रयोग किये गये, उनका आधार इस बात की अनुभूति थी कि जहाँ सामान्य हितों पर प्रभाव पड़ता हो, वहाँ शासन के अधिकरणों में भी सभी का हिस्सा होना चाहिए। डैन्यूब कमीशन का यही प्रयोजन था। इससे कहीं बड़े पैमाने पर इम्पीरियल कांफ्रेंस का भी यही प्रयोजन था—हालाँकि वह अधूरा ही रह गया। और इन प्रबन्धों पर अमल होने से जो ठोस नतीजा निकला है, वह इस बात की जानकारी है कि अगर सब ओर से सद्भावना मिल जाय तो इन्हें एक प्रभावपूर्ण विश्व-संगठन का रूप दिया जा सकता है। जो आवश्यक एकताओं की व्यवस्था करेगा और साथ ही मानव-साहचर्य की स्वाभाविक और बुद्धिसंगत विविधताओं के लिए भी गुन्जायश रखेगा। वह अपनी अनेकता में एक होगा, पर उसकी एकता पर ज़ोर दिये जाने का मतलब उसकी अक्षुण्ण अनेकता का निषेध नहीं। इतना ही बस नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय शासन का सर्वोच्च गुण यह है कि आधुनिक राज्य-पद्धति की भौगोलिक सीमाओं में जितना कुछ संभव है, उससे कहीं अधिक यथार्थ बल वह जन साधारण की खुशहाली पर देता है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के अभिसमयों में यही बात विवक्षित है; वे पिछड़े हुए राज्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के ऐसे स्तर लागू करते हैं जिनकी माँग दुनिया का लोकमत करता है। किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में वे शक्ति की विशिष्ट संघटना द्वारा लोक कल्याण का छद्म रूप धारे हुए वैयक्तिक हितों को दबा कर सच्चे राष्ट्रीय हितों को उभारते हैं। मिसाल के लिए कोई भी आदमी गंभीरतापूर्वक यह नहीं कह सकता कि मराको में मानेस्मान बन्धुओं की रक्षा में साठ लाख जर्मनों का इतना बड़ा हित निहित था कि मराको के सवाल पर फ्रांस से लड़ाई छेड़ना उचित होगा। उनकी रक्षा की जाती या नहीं, इससे बहुत ही थोड़े-से लोगों को फ़र्क पड़ता—उनको जिन्होंने कुछ रियायतें पाकर अपनी पूँजी वहाँ

लगाई होगी। इस तरह के मामलों में जिसे 'राष्ट्रीय हित' कहते हैं, वह प्रायः कुछ गिने-चुने आर्थिक साहसोद्यमियों की रक्षा का सवाल होता है जो राष्ट्रीय विदेश-दफ़्तर के संरक्षण में अपनी पूँजी जोखिम में डालते हैं। कुशल प्रचार उन्हें "इंगलैण्ड", "फ्रांस", या "अमरीका" का प्रतीक बना देता है, पर यह जनता के अज्ञान को ही परिलक्षित करता है, उसकी आवश्यकता की वेदी पर किसी के बलिदान को नहीं।

अतः जब यह कहा जाये कि अन्तर्राष्ट्रीय शासन, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को आक्रांत करके दश-भक्ति की चट्टान से टकराता है तो सबसे पहले हमें यह जानने की ज़रूरत है कि किसी ख़ास वक्त कौन सी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा लपेट में आती है। आम अंग्रेज़ को अगर यह बता दिया जाये कि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का मतलब उन बन्धधारियों का संरक्षण है, जिन्होंने जारवादी स्वेच्छाचारी शासन को कर्ज़ दिया था, तो इस बात पर वह रूस से लड़ कर अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के तथाकथित रक्षण में हिचकेगा। जो अमरीकी मैक्सिको की सरकार बदलने के लिए उत्कंठित है, उन्हें अगर यह बता दिया जाये कि जिसे 'अमरीका का असह्य अपमान' कहा जा रहा है वह असल में कुछ मैक्सिको के एक अमरीकी तेल कम्पनी की अधीनता से इन्कार करने भर की घटना है तो वे उस मसले में हस्तक्षेप करने के सवाल पर अपना रुख़ बदल देंगे। राष्ट्रीय भावना का ऐसे मौकों पर उभर आना तो समझ में आता है जैसे अगर सब अंग्रेज़ों के अमरीकी न्यायालयों में जाने का निषेध कर दिया जाये या सब जर्मनों को इटली में यात्रा करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाये—जबकि दूसरे राष्ट्रों का यह अधिकार ज्यों-का-त्यों बना हो। लेकिन आज अधिकतर मामलों में देश-भक्ति की जो भावना क्रियाशील होती है, वह चाहे जितनी औदार्यपूर्ण हो,—और वह प्रायः औदार्यपूर्ण ही होती है—परन्तु वह कुछ ग़लत दिशा में उन्मुख होती है। वह जिसकी संरक्षा करती है सो भौगोलिक संप्रदाय का समग्र हित नहीं बल्कि वह उस समुदाय में एक ऐसे छोटे-से गुट की शक्ति की संरक्षा करती है जो शोषण द्वारा किसी काम से अधिक से अधिक लाभ कमाने की आशा लगाये होता है। और इसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है देश के जवानों को। देश की जवानी बड़ी बहुमूल्य है, उसे इस प्रकार के अशुभ अनर्थ का शिकार नहीं बनने दिया जा सकता।

मैंने कहा है कि प्रभुत्त्व संपन्न राष्ट्र-राज्य का घोर प्रादेशिक स्वरूप अपने सदस्यों के एक छोटे-से अंश को अपने साध्य के लिए उसकी शक्ति का प्रयोग करने का मौका देता है—अपने सह-नागरिकों के हितों क विरुद्ध भी! इस ख़तरे से सबसे बड़ा और ठोस संरक्षण मिल सकता है, अन्तर्राष्ट्रीय सरकार द्वारा। लेकिन एक और भी महत्त्वपूर्ण पहलू है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। राष्ट्र के राज्य-रूप धार लेने पर यह आवश्यक तथ्य पीछे पड़ जाता है कि समाज जिन विभिन्न वर्गों में विभाजित है, राज्य उनमें से एक ही है—चाहे उसकी कितनी ही महत्ता हो। मैं पहले विवेचन कर चुका हूँ कि (१) दैनिक प्रशासन में राज्य का मतलब है सरकार और सरकार किसी विशेष हित के अधीन हो सकती है और (२) यह अनिवार्य है कि उसके लिए दूसरे वर्गों से व्यवस्थित ढंग से सलाह मशविरा करना आवश्यक कर दिया जाय ताकि जिस संकल्पना की पूर्त्ति हो उसमें कम से कम प्रतियोगी संकल्पनाओं का एक संगत समन्वय तो परिलक्षित हो। वास्तव में हम सरकार की प्रादेशिक

सर्वोच्चता का संतुलन करते हैं उससे कारणिक अभिकरणों के द्वारा काम करवा के। अन्तर्राष्ट्रीय शासन के भी इसी तरह के फ़ायदे हैं। उसके कारण हम इतना कर पाते हैं कि उसकी संकल्पना केवल राजनीतिक राज्य के प्रति सचेत न होकर वर्ग-हितों के प्रति भी सचेत हो, जिन्हें अगर केवल राजनीतिक राज्य ही होता तो, शायद अपर्याप्त मान्यता ही मिल पाती।

इस सम्भावना से जो लाभ है वह अन्तराष्ट्रीय श्रम कार्यालय के काम से पहले ही प्रकट हो चुका है। राष्ट्रीय प्रतिनिधि-मंडलों की त्रिविध—सरकार, मालिक और मज़दूर—संघटना वर्ग-हितों की अभिव्यक्ति को ऐसी तनम्यता प्रदान कर देती है, जिसका साधारण राजनीतिक संबंधों में अभाव रहा है। इसे और बल मिलता है किसी वर्ग के साधारण प्रतिनिधि की जगह समस्या विशेष के किसी अच्छे जानकार के नियुक्त किये जाने की संभावना से। लेकिन इस प्रणाली को और बढ़ाया-फैलाया जा सकता है। राष्ट्रीय प्रतिनिधिमंडलों के उप-सम्मेलन करके श्रम-कार्यालय की सभा में संयुक्त दृष्टिकोण रखना भी संभव हो सकता है। यह भी हो सकता है कि प्रतिनिधिमंडलों को स्थायी आयोगों का रूप दे दिया जाय जो तत्कालीन राष्ट्रीय सरकार के साथ सलाहकार के रूप में संबद्ध रहें। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की मार्फ़त विशेष कार्यों के बारे में स्थानीय प्रशासकीय आयोग भी बनाये जा सकते हैं जिन्हें उसी तरह की शक्तियों से संपन्न किया जा सकता है, जैसी अब चीनी-संघ आदि के पास हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय के अन्तर्गत जो क्षेत्र आता है, उस तक इसी प्रकार की संभावनाएँ सीमित हों—सो बात भी नहीं है। स्वयं राष्ट्र संघ (लीग आफ़ नेशन्स) में स्पष्ट है कि लोगों के प्रवासन, अधीन जातियों के साथ व्यवहार, ज़हरीली औषधियों का व्यापार दबाना आदि के प्रति एक ही सा रवैया होता है। अगर राज्यों के फ़ैसले केवल अधिकाधिक व्यवहार व्याप्ति पर ही आधृत न होकर ऐसी व्याप्ति पर भी आधृत हों जिसके पर्याप्त औचित्य का आपूर्व प्रत्यय हो तो बिगड़ने वाला तो कुछ है नहीं और लाभ बहुत कुछ हो सकता है। आज की दुनिया में जो निकाय प्रभावशाली होना चाहते हों—जैसे सहकारी संघ, श्रमिक संघ, वाणिज्य मंडल आदि—उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना संगठन करना पड़ता है, ताकि उनका प्रभाव महसूस किया जाये। वे बराबर बढ़ते हुए ऐसी स्थिति में आते जा रहे हैं, जहां राज्य को बाध्य होकर उनकी शक्ति पर ध्यान देना पड़ता है। यहाँ जोर इस बात पर दिया जा रहा है कि उस शक्ति को अगर प्रच्छन्न के बजाय प्रत्यक्ष बना दिया जाय तो यह प्रत्यय हो जायगा कि विश्व व्यवस्था ऐसे अनुभव पर आधृत है, जिसमें अपने-अपने प्रयोजन की अभिव्यक्ति चाहने वाले सभी हितों का सामंजस्य है। इससे साधनों में परस्पर रस्साकशी होने के बजाय उनके समेकन का अवसर मिलता है। इससे उन हितों के बीच संबंध के मार्ग खुल जाते हैं, जो एक राज्य की चौहद्दी को पार कर जाते हैं पर फिर भी भौगोलिक संगठन की प्रविधि से उन्हें इस प्रकार समंजित और सीमित किया जाता है जो कृत्रिम भी होता है और बरबादी भी जिसमें होती है। मैं यह भी कह दूँ उन अन्तर्राष्ट्रीय दलों से इस युक्ति को कभी सहारा नहीं मिलता कि उनके करने में राष्ट्रीय राज्य के हितों का समर्पण करना पड़ता है। अन्त में वे ही हल लागू होते हैं जिन्हें करने में दोनों पक्षों का लाभ

हो । इसका मतलब है—अनिवार्यतः—समझौता; और मिल बैठ कर विचार-विमर्श द्वारा किया हुआ समझौता। ऐसा संहित विचार विमर्श—कम से कम एक स्थायी और कारगर तरीके से—तब तक संभव नहीं है जब तक उसके लिए बाध्य करने वाली संस्थाएँ न हों। और हम संबद्ध पक्षों के हितों का सन्तुलन तब तक नही कर सकते जब तक कि—अपनी संकल्पना क्रियान्वित करने की उनकी शक्ति के समाघात से अडिग रह कर—जो कुछ उचित है, उसे अभिव्यक्ति का अवसर नही दिया जाता।

कहा जा सकता है कि यह जितना कुछ विवेचन है, उसने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के चरम प्रश्न को तो छुआ तक भी नही ! हो सकता है कि इस प्रकार जो अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता बने वह किसी राज्य में न सिर्फ प्रादेशिक फेरबदल वरन् उसका कतई तिरोभाव भी चाह सकती है। पहले, आस्ट्रिया-हंगरी ने बोस्निया और हर्जेगोविना को हड़प लिया था; अब लीग आफ़ नेशन्स को यह फैसला करने से कौन रोक सकता है कि उन्हें अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हस्तान्तरित कर दिया जायेगा। नया रूस फिनलैण्ड, लाटविया, लिथुआनिया और एस्थोनिया पर अपनी सत्ता के पुनःसंस्थापन के बदले में संघ की सदस्यता क्यों न स्वीकार करे ? इस तरह की शंकाओं का जवाब कई तरह से और आसानी से दिया जा सकता है। ठीक जैसे अमरीकी संविधान में है कि किसी राज्य को बिना उसकी अपनी सहमति के सेनिट में बराबर मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता; वैसे ही किसी परिवर्तन के सुझाव पर राज्य-विशेष की सहमति आवश्यक मानकर प्रादेशिक अखंडता पर आक्रमण होने से रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त किसी राज्य की स्वतंत्रता की, संकल्पना को दबा देना कौंसिल चैम्बर में सौदेबाजी करने का ही मामला नही है। वह तभी हो सकता है जब राज्य मुक्त भाव से उसके लिए अपनी सहमति दे दे। जैसे सेवर्स-सन्धि के कारण ही लासेन संधि करनी पड़ी वैसे ही न्याय्य राष्ट्रीयता की उपेक्षा भी दण्डित हुए बिना नही रह सकती। जो राजनीतिज्ञ अगले युग के अन्तर्राष्ट्रीय समाधान दे रहे है वे इस बात को पिछली पीढ़ी के राजनीतिज्ञों से कम नहीं समझेंगे। अनुभवजन्य तर्क-बुद्धि के कारण वे अधिकाधिक उन समुदायों की स्वीकृति पर निर्भर रहने लगे हैं, जिनके लिए वे विधान बनाते हैं। उन्हें या तो ऐसे अधिकरण खोजने पड़ेंगे, जिनके द्वारा उस स्वीकृति को अर्थवान बनाया जा सके, या फिर उसके हल उपेक्षित तथ्यों के कारण वृथा हो जायेंगे। इटली और आस्ट्रिया, अलसेस-लारेन, बल्कान प्रायद्वीप के इतिहास इस प्रकार के साक्ष्य हैं जिनसे आशा होती है कि किसी मसले का हल जब ताकत पर छोड़ दिया जाता था, अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता वास्तव में संहित समाधान ढूंढने में तब की अपेक्षा सचमुच अधिक सावधानी बरतेगी।

और, कम से कम, विकल्प बिल्कुल स्पष्ट है। या तो राष्ट्रीय राज्यों को होड़ की बजाय सहयोग करना सीखना पड़ेगा अन्यथा सम्भावना इस बात की है कि हर छोटा राष्ट्रीय राज्य वास्तविक स्वतंत्रता खो बैठेगा। वरसाइ-शांति-संधि के बाद का जो छोटा-पर अति व्यस्त अन्तराल रहा, उसने प्रकट कर दिया कि यूरोप के नये राज्य जीवन के मार्ग खोजने की जल्दी में हार कर बड़े राष्ट्रों की कठपुतलियाँ बन जाते हैं। जिसमें उनकी सच्ची आजादी निहित हैं उसे वे सैनिक सुरक्षण के लिए बेच डालते है। उनकी योधन-शक्ति,

उनके गठबन्धन, यहाँ तक कि उनके आर्थिक जीवन का अन्तस्तत्त्व भी, उनकी अपनी ज़रूरतों की अभिव्यक्ति नहीं रह जाते; उनमें उसके शक्तिशाली पड़ौसी की इच्छा प्रतिबिम्बित होती है। अगर यह क्रम बेरोकटोक चलता रहा तो दुनिया में जल्दी ही शायद सिर्फ़ आधे दर्जन बड़े-बड़े साम्राज्य रह जायेंगे जिसमें से प्रत्येक, अपनी सुरक्षा के प्रयत्न में, सभ्यता के समूचे ताने-बाने को नष्ट-भ्रष्ट करने पर उतारू रहेगा।

अगर हमें अपनी समृद्ध परम्परा का कुछ भी ख़्याल है तो हम इस क्रम को चलते नहीं रहने दे सकते। और हम इस मनः कल्पना का समर्पण करके ही इसका विकास रोक सकते हैं कि समाज के जीवन में व्यष्टि-राज्य की संकल्पना से बढ़ कर कुछ भी नहीं। हमें पूर्ण स्वाधीनता और पूर्ण पराधीनता का कोई मध्यम मार्ग निकालना पड़ेगा। अन्वेषण से इतना स्पष्ट है कि ऐसा रास्ता खोजा जा सकता है। राज्य-प्रभुत्व की मरीचिका को तिलांजलि देकर भी कैनाडा और दक्षिण अफ्रीका दोनों ने पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को सत्य कर दिखाया है; उनके नागरिक वसे ही महाप्राण हो सकते हैं, उनकी स्थिति वैसी ही गरिमामय हो सकती है जैसी पोलैंड या रुमानिया के किसी नागरिक की। आधुनिक विश्व के संगठन में राष्ट्रीय आकांक्षाएँ जिस-जिस अर्थ में न्याय्य हो सकती हैं, उन सभी अर्थों में उनका पूर्ण परितोष संभव है। इस मसले की आशु-सम्पाद्यता भी हमें समझ लेनी चाहिए। जिस दिन वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप इसपात के जहाज और विमान बन उठे उसी दिन उदासीनता का युग समाप्त हो गया। अब वे स्वप्न-सुलभ कमल-वन तिरोहित हो चुके जहाँ आदमी अपने चारों ओर के जीवन से बेख़बर होकर रमा रहे। दुनिया एक और अखंड हो गयी है—यह एक अटल तथ्य है और अब हमारे सामने सवाल सिर्फ़ यह है कि उसकी एकता के दिग्दर्शनका ढंग क्या हो।

दो बातें और कह दी जायें। राष्ट्र-राज्य का दूसरे राष्ट्र-राज्यों के प्रति वही व्यवहार होगा जो अपने नागरिकों के प्रति—वैदेशिक नीति अन्ततोगत्वा घरेलू नीति का प्रतिबिम्ब और उसका एक समंजित रूप ही होती है। जब किसी राज्य में दास-प्रथा होती है तो उस राज्य की लड़ाइयाँ भी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को गुलाम बनाने के लिए होती हैं। जहाँ घोर वर्ग-संघर्ष होता है, वहाँ का प्रधान वर्ग दूसरे देशों के प्रधान वर्गों के व्यापार में बाधा डालने और उसे सीमित करने में रत रहता है। विश्व-शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि हम दूसरों के लिए भी वही बनते प्रतीत होते हैं जो एक-दूसरे के लिए होते हैं। अलस्टर ने, जिसने यह नहीं समझा कि उन्नीसवीं सदी के आयरलैंड के विप्लव के पीछे आइरिश आत्मा का विद्रोह छिपा था, जब अन्ततः उस स्थिति का उपचार ढूँढ़ा गया तो, क़ानून की ठीक वही अवमानना अपनाई जिसकी वह शिकायत करता रहा था। जबतक हम कोई ऐसी संस्थाएँ नहीं ढूँढ़ते जो राज्य के घरेलू जीवन में संघर्ष का अन्त कर दें तब तक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के क्षेत्र में भी वैसी संस्थाएँ सम्भव नहीं हो सकतीं।

घृणा-भाव ऐसी विषम संवेदना है जो अपने आघाता को धीरे-धीरे खाती चली जाती है। उसके फलस्वरूप हम अपने में उसी आचरण का विकास करते हैं जिसके दूसरों में होने की निन्दा। बर्क की ऐतिहासिक चेतावनी कि अंग्रेज़ों ने चूँकि भारत में स्वतंत्रता का दमन किया फलतः वे कभी न कभी अपनी स्वतंत्रता भी नष्ट कर डालेंगे—एक विशेष उदाहरण

है। इसी का सामान्य रूप हमारे सामाजिक जीवन का प्राण बना हुआ है। इसीलिए व्यवस्थित सभ्यता की सिद्धि के लिए यह आवश्यक भूमिका है कि पहले यह समझ लिया जाये कि लोकतंत्र में क्या विवक्षित है ? अलग-अलग से एक-एक करके उसकी सिद्धि हो नहीं सकती क्योंकि हर राज्य बाहर की दुनिया के साथ इतना बँध गया है कि दोनों एक संयुक्त संबंध के दो पहलू हैं। लेकिन यह स्पष्ट है एक ही राज्य के नागरिकों के आपसी संबंध अच्छे करने के लिए जो कुछ चाहिए, उसी में विभिन्न समुदायों के नागरिकों की मैत्री की प्रत्याशा भी निहित होती है। सार यह है कि अन्ततोगत्वा उस संहित आत्मा की —जिसे हम राष्ट्र कहते हैं—शुद्धता तभी बनी रह सकती है जब आत्मा की शक्तियाँ उसके जीवन को अनुशासित करें। जब वह शक्ति के अन्य रूपों के आगे समर्पण कर देता है तो उसका अधोगमन ही होता है—और उन्नयन से अधोगमन हमेशा ही आसान होता है।

कहा जा सकता है कि बड़ी-बड़ी सेनाएँ ही विजय पाती हैं और जो राष्ट्र भौतिक शक्ति की उपेक्षा करता है वह उस आदमी की तरह है जो लड़ाई के मौके पर अपनी तलवार फेंक दे। लेकिन यह तो इस पूर्व प्रश्न की उपेक्षा करना हुआ कि लड़ाई अनिवार्य थी या नहीं और फ़ैसले के दूसरे साधन मिल सकते थे या नहीं ? आज की दुनिया में अगर स्थायित्व पाने के विषय में आश्वस्त होना हो तो बल को न्याय का आवरण पहनाना पड़ता है। यूरोप का मानसिक जीवन सीजर और नेपोलियन का नहीं, ईसा का है; पूर्व की सभ्यता पर चंगेज खाँ और अकबर की अपेक्षा बुद्ध का प्रभाव कहीं गहरा और व्यापक है। अगर हमें जीना है तो इस सत्य को सीखना-समझना पड़ेगा। घृणा को प्रेम से जीता जाता है, असद् को सद् से; अधमता का परिणाम भी उसी जैसा होता है। अगर हमें व्यापक स्वप्न को सत्य बनाना है तो पहले अपने-अपने घरों की व्यवस्था सुधारनी होगी।

दूसरे, हमसे यह भी विश्वास करते नहीं बनता कि अन्तर्राष्ट्रीय शासन द्वारा संघर्ष रोक दिये जाने पर जीवन अपनी रंगीनी और रोमानियत खो बैठेगा। युद्ध का चकाचौंध भी वैसा ही असत्य है जैसा वेश्या का खरीदा हुआ प्रेम —उसका अस्तित्व केवल उन लोगों नादानी और नासमझी में होता है जिन्होंने उसकी सर्वग्रासी लपटों को नहीं देखा। कुछ, को तो अपने पराक्रम के प्रदर्शन का मौका मिल जाता है पर उधर लाखों-करोड़ों को मृत्यु रोग और विकृत जीवन का सामना करना पड़ता है। सच में देखा जाये तो उसकी आहें और वेदनाएँ उसके संचालनकर्ताओं को छू भी नहीं पातीं और असली योद्धाओं के लिए इसका मतलब होता है उस सब-कुछ का बाकायदा और सचेष्ट विनाश जो मानवता को बहुमूल्य और स्पृहणीय बनाता है। नागरिक जनता पर भी उसका समाघात न होता हो सो बात नहीं। भूख के, विषैली गैस के या विमान के रूप में अवतरित होकर काल अकस्मात् कुछ लोगों को अपना शिकार बना लेता है—जैसे रात में चोर चोरी कर ले। अन्य लोग कर्त्तव्य से कतराने या अवैध लाभ पर टूट पड़ने के कारण मानो नैतिक कुष्ट के रोगी बन जाते हैं। मानस में युद्ध जो अपनी विरासत छोड़ जाता है—घृणा, त्रास, द्वेष, प्रतिकार—उसे भी हमें भूल नहीं जाना चाहिए। इस परम्परागत धारणा से हमारा विश्वास उठ चुका है कि युद्ध आदमी की आत्माओं को पोषण देता है—इसका सबसे बड़ा कारण है यह जानकारी कि अपने आधुनिक रूप में युद्ध शांति को भी अपनी विकट छाया में

ग्रसे रहता है।

परन्तु इस बात का तनिक भी कारण नहीं कि कोई आदमी राष्ट्र-राज्य को अपनी अनन्य निष्ठा न दे सके। उसकी सच्ची निष्ठा उन आदर्शों के प्रति है जिन्हें वह अपने अनुभव के आधार पर बनाता है। सच्ची लड़ाई जिसमें वह सैनिक बन कर लड़ता है उन आदर्शों को व्यापक, उदार और मान्य बनाने की लड़ाई है। वहीं से आधुनिक सभ्यता का सच्चा रोमांस शुरू होता प्रतीत होता है; इस सच्चे सहकारी प्रयत्न में हम अपनापन खोकर जुट सकते हैं। ज्ञान की विजय ही हमारे लिए भावी आशा का सबसे बड़ा सूत्र है—आम आदमी को वह जीत ले और उसमें प्रसार पाये। द्वन्द्व और संघर्ष की असली जड़ है अज्ञान। संकीर्ण मन और अप्रबुद्ध मन राष्ट्रीय घृणा के चेरे होते हैं—युग की असत् शक्तियाँ उन्हीं का अनुचित लाभ उठाती हैं। ज्ञान और अज्ञान के बीच की दीवारों को अगर ढाना हो तो शिक्षा की ज़रूरत है। इस कार्य में हर नागरिक का सहयोग और सेवा उपलब्ध हो, तभी हम अपनी अबूझ कठिनाइयों को पार कर सकते हैं; और आदमी को अपने आस-पास की दुनिया को देखने-समझने की शिक्षा देकर ही सच्चे मानें में नागरिक बनाया जा सकता है। जब जन-साधारण में समझने की शक्ति होगी तो अपनी समझ के अनुसार काम करने का साहस भी उनमें आयेगा। जैसा कारलाइल ने कहा था : बुद्धि आलोक के सदृश है; वह प्रलय को सृष्टि में बदल देती है।

अध्याय—७

सत्ता : सान्धानिक* के रूप में

पिछले अध्यायों में राज्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किया गया है, उसमें सत्ता की समस्या के प्रति एक नया दृष्टिकोण निहित है। निस्सन्देह उसमें यह निहित है कि शक्ति का प्रयोग व्यक्तियों द्वारा होगा और उसमें यह बात भी स्वीकार की गयी है कि जिन लोगों को क़ानूनी रूप से शक्ति सौंपी जायेगी, उनकी संख्या कम ही रहेगी। लेकिन इसका सम्बन्ध उन लोगों के सवाल से उतना नहीं है जो समाज में वैधानिक सत्ता के स्रोत हैं, जितना कि उन सम्बन्धों से जो ये लोग इसलिए स्थापित करते हैं कि उनके फ़ैसले व्यापक-तम प्रयोग-सिद्ध निष्कर्षों पर आधारित नियमों के अनुसार हों। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि उनकी शक्ति उन सब व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित होनी चाहिये जिन पर इनके प्रयोग का असर पड़ता है। सत्ता को यह अनुभव समेकित करने में जितनी सफलता मिलेगी उसी हद तक यह शक्ति सीमित होगी।

इस तर्क में यह बात विवक्षित है कि राजनीति में सहमति के सिद्धान्त की फिर से व्याख्या की जाये। इसलिये इसमें यह बात भी शामिल है कि प्रतिनिधित्व के उस सिद्धान्त की फिर से व्याख्या की जाये जिस पर हम आज कल निर्भर करते हैं। सहमति का आधुनिक सिद्धाँत बहुत कुछ मानों में एक बौद्धिक छलावा है। हम अपने शासक चुनते हैं तो इसका मतलब यह नहीं होता कि हम जानबूझ कर कुछ खास-खास व्यक्तियों से सक्रिय रूप में अपने ऊपर शासन कराने जा रहे हैं। हम उनके विधान को इस माने में स्वीकार नहीं करते कि वह हमारी आवश्यकताओं की भावना के साथ अभेद की अभिव्यक्ति है। हमारे और हमारे शासकों के बीच एक चौड़ी खाई रहती है जो शक्ति और उसके विभिन्न अंगों द्वारा जनित साधनों से पाटी जाती है। हमें बताया जाता है कि लोकमत अमुक बात चाहता है और उसकी अमुक इच्छा है। किन्तु हमारे पास ऐसा कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है जिससे कि हम जनता का मत एकत्र कर सकें अथवा उसके सामने ऐसी सामग्री रख सकें जिसके आधार पर वह इस प्रकार की माँगें प्रस्तुत कर सके जो उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप हो। व्यवहार रूप में सहमति का मतलब एकान्त मूक जड़ता से उत्पन्न घोर अज्ञान से लेकर जान-बूझ कर डाले गये दबाव तक कुछ भी कर सकता है। यह भी सम्भव है कि उसका मतलब किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिये संकल्पनाओं का संश्लेष न हो जो तथ्यों को देखते हुए वांछनीय हो बल्कि ऐसी संकल्पनाओं का पराभूत करना हो जो कभी सक्रिय और कभी निष्क्रिय रूप से अनुभव करती हो कि प्रस्तावित बात ग़लत है या काफ़ी नहीं है। यह भी हो सकता है कि ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाय जो वास्तव में इसलिये असह्य हो कि जिस बात की घोषणा की गयी है, उस पर इस तरह अमल किया गया हो कि विचार को साकार रूप देना असम्भव हो जाये।

---

* फ़ेडरल (संज्ञा)—देखिए परिशिष्ट—पारिभाषिक शब्दावली।

इसीलिये हमें सहमति के सिद्धान्त में ऐसी असुविधाजनक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिये जो वर्तमान पद्धति पर छाई हुई है। हम अपना विधान अपने परिवेश की विशेषज्ञों द्वारा की गयी व्याख्या के आधार पर बनाते है। लेकिन विशेषज्ञ की व्याख्या पर भी उसकी अपनी प्रतिक्रिया की छाप होती है और जैसी उसकी प्रतिक्रिया होती है वैसा ही परिवेश प्रतीत होने लगता है क्योंकि उसकी वैसी ही व्याख्या की गयी है। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई भी परिवेश सदैव गतिशून्य नहीं रह सकता। हम इस परिवेश में रहते हैं और इसे बनाते हैं। हमारे अनुभव से यह अपना बन जाता है और क्योंकि यह प्रत्येक का अपना परिवेश है इसलिए यह हरेक का अलग-अलग होता है। परिवेश के बारे में हमारा दृष्टिकोण सदैव बिलकुल व्यक्तिगत होता है। हम जिस तरह अनुभव करते हैं, उस तरह दूसरे नहीं कर सकते। इसकी हम पर जैसी प्रतिक्रिया होती है वैसी दूसरों पर नहीं होती। संसार में ऐसा नहीं होता कि कुछ निरासक्त विशेषज्ञ वस्तुपरक दृष्टि से परिस्थितियों पर विचार करके विधान बनाने वालों के सम्मुख अपने निष्पक्ष परिणाम प्रस्तुत कर दें। प्रस्तावित हल तभी सफल होते हैं जब कि वे हमारे अनुभवों से बहुत कुछ मिलते-जुलते अनुभवों की व्याख्या हों। उदाहरण के लिये विधान तैयार करने की बात को ही लीजिये जिसके बारे में कहा जाता है कि यह काम समाज के किसी एक ही वर्ग को नहीं सौंपना चाहिये। और इसका कारण स्पष्ट है। आवश्यकताओं के सम्बन्ध में किसी भी वर्ग का दृष्टिकोण उसके अपने विशेष हितों से अवश्य प्रभावित होगा और क्योंकि उससे अन्य वर्गों के हितों के साथ अपने हितों को जोड़ने के लिये कभी नहीं कहा गया, इसलिये वह उन हितों को उचित तो कभी मान ही नहीं सकता और अगर उनके अस्तित्व को स्वीकार भी न करे, तो कोई बड़ी बात नहीं है। पिछले वर्षों में कोयला उद्योग के विवाद उसके सबूत हैं। जहाँ खनिकों ने यह अनुभव किया है कि उनके रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है, वहाँ खानों के स्वामी अपने मुनाफ़े की कम दर से असन्तुष्ट हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्धों में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। जर्मनी तो १९१८ के बाद से अपने घोर अपमान की ज्वाला में झुलसता रहा, और फ्रांस कुछ तो युद्ध काल में अपने अपमान के कारण और कुछ जर्मनी के क्रोध से अपनी रक्षा करने की आवश्यकता के कारण परेशान रहा। जर्मनी का यह क्रोध उसके अपमान के कारण स्वाभाविक ही था। यदि कोई तीसरा पक्ष दोनों से अपने-अपने पड़ौसी की स्थिति को ध्यान में रखने के लिये कहे तो उसने समस्या को उसके सही रूप में नहीं समझा है। वे तो एक दूसरे की समस्या को तभी समझ सकते हैं जब कि वे दोनों समस्या को हल करने में भाग लें। लेकिन उनके वर्तमान सम्बन्धों में इस प्रकार की सत्ता की स्थापना की गुंजाइश नहीं है। इसी प्रकार खनिकों और खानों के स्वामियों के भी हित तभी एक से हो सकते हैं जब कि वे अपने हित समान बनायें। समस्या के हल के लिये उनकी सहमति तभी वास्तविक होगी जब कि उस हल में दोनों पक्षों के अनुभव की व्याख्या को बराबर मान्यता मिले। इस समय राज्य संबंध और इससे भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दोनों पक्ष जब न्याय की माँग करते हैं, तो वास्तव में उनका अभिप्राय होता है कि उनके साथ न्याय किया जाये। हम इस ऐकांतिकता से तभी बाहर निकल सकते हैं जब

कि किसी संबद्ध पक्ष में अपन हितों की उपलब्धि की प्रक्रिया में भाग ले कर उनकी रक्षा कर सकें ।

स्वशासन के पक्ष में यह सबसे बड़ा तर्क है । स्वशासन में सहमति प्राप्त करना—उन लोगों की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है जो अपने हितों को अच्छी तरह समझत हैं। इसीलिय जिन लोगों के हितों पर प्रभाव पड़ता है, स्वशासन में उन पर समुचित ध्यान देने की व्यवस्था है । इस प्रकार सत्ता संबंधों का कृत्य है और उसकी वैधता उस तरीक़े पर आधारित होती है जिस तरीके से ये संबंध व्यवस्थित किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि हम इन संबंधों को गतिशील समझें । संबंधों में कार्रवाई के कारण परिवर्तन आता है और वे लागू होने के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक बात दूसरी से गुम्फित होती चली जाती है । एक दूसरे पर समाघात होने से हितों का स्वरूप ही बदल जाता है । हल कार्य-रूप देने योग्य बन जाते हैं क्योंकि उनमें हल निकालने वालों के अनुभव एकत्र करने की क्षमता होती है। बाहर से थोपी गयी सत्ता एक लम्बे समय तक ऐसी सफलता प्राप्त नहीं कर सकती । इसके मूल्य फ़ैसला करने वालों के व्यक्तिगत मूल्य होते हैं । बाहर से थोपी गयी यह सत्ता अपने फ़ैसलों से प्रमाणित अनुभव को संगठित करने में अन्त में असफल रहती है । इसलिये एक ऐसा समय आता है कि अगर निर्णय करने वाले प्रशासन को रचनात्मक बनाये रखना है तो उसे विकेंद्रित करना होगा । इन निर्णयों को लागू करने का प्रभाव हर संबद्ध क्षेत्र में उसके सार-तत्त्वों पर अलग अलग पड़ेगा । जब यह सार उस परिवेश के संपर्क में आता है जो प्रभावित होता है तब यह वास्तव में एक भिन्न वस्तु हो जाती है । साथ ही वह अपने परिवेश पर भी अपना सीधा प्रभाव डालता है । वह दृश्य देखते ही बनता है जबकि म्युनिसिपिल संस्थाओं में समिति के सदस्य किसी ऐसे निर्वाचित परामर्शदाता को जिसे ख़र्च की अन्य मदों पर भारी आपत्ति होती है, इस आशय के संकेत देकर उसकी सहमति प्राप्त करते हैं कि जिन मामलों की बागडोर उसके हाथ में है उन पर काफ़ी ध्यान नहीं दिया जारहा है । सत्ता का आधार कार्य से उद्भूत संकल्पना होनी चाहिये, न कि निष्क्रिय स्वीकृति पर आधारित संकल्पना ।

इसलिये सत्ता मनुष्यों के अनुभवों को समस्याओं के हल के रूप में संगठित करती है जिनसे उन आवश्यकताओं में समन्वय स्थापित होता है जो मनुष्य अपने अनुभव से महसूस करता है । यह मैं बाद में बताऊँगा कि इन अनुभवों का सामाजिक संगठन में किस प्रकार सामना किया जाता है । इस समय तो मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि इसके अतिरिक्त किसी और तरह सत्ता को सच्चा सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता यानी उसके द्वारा प्रस्तुत समाधानों के तत्त्व और किसी भी तरह समर्थित नही हो सकते । मैं तो यह भी नहीं कहूँगा कि इन परिस्थितियों में प्राप्त सहमति का समन्वय अन्तिम होगा क्योंकि जिस समय वह सहमति दी भी जाती है, उसी समय से वातावरण भी अपना स्वरूप बदलने लगता है । इस बात का कभी पूरा आश्वासन नहीं दिलाया जा सकता कि क़ानून का सम्मान किया ही जायेगा । हम तो केवल इतना ही प्रयत्न कर सकते हैं कि इसका कम से कम अपमान हो । हमें अपने फ़ैसले इस आधार पर नहीं करने चाहिये कि हम दूसरों

को कितना भयभीत कर सकते हैं या इस आधार पर कि लोग उन्हें मान ही लेंगे। हमे तो ये फ़ैसले अनुभव के आधार पर ही करने चाहिय। इस सिद्धांत का जितना पालन किया जायेगा, क़ानून के अपमान की आशंका उतनी ही कम होगी लेकिन अलग-अलग व्यक्ति इस अनुभव की अलग-अलग व्याख्या करते हैं इसलिये यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि संघर्ष होगा ही नहीं, यद्यपि इसकी संभावनायें कम की जा सकती हैं। हम यह यकीन कर सकते हैं कि अधिकतर आज्ञाओं का पालन किया जायेगा। लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि इतिहास अधिकांश रूप में ऐसी आशाओं के उल्लंघन का लेखा है जिनमें लोगों ने अपने अनुभव के सबसे अधिक निश्चित तत्त्वों का निषेध देखा।

अगर यह हम चाहते हैं कि संघर्ष कम से कम हो तो हमें अपनी जानकारी का भंडार निर्भ्रान्त रखने का प्रबंध करना होगा जिसके आधार पर हम फ़ैसले करें। बहुधा हमारी कठिनाइयों का कारण यह होता है कि किसी मामले से संबद्ध पक्षों में न केवल संघर्षों के परिणामों के बारे में मतभेद होता है, बल्कि उनमें इस बात पर भी मतभेद होता है कि यह संघर्ष किस बारे में है? ऐसी स्थिति में विशेषज्ञों द्वारा तथ्यों का पता लगवाना बड़ा आवश्यक है और इन विशेषज्ञों में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होना चाहिये जिसका झगड़े से सीधा संबंध हो। उदाहरण के लिये खनिकों को आनुषंगिक व्यय के बारे में खानों के स्वामियों का विचार शायद ही कभी स्वीकार्य हो। इसी प्रकार खानों के स्वामी वेतन-दरों के बारे में खनिकों के आंकड़ों को सही मानने में साधारणतः घोर प्रतिरोध करते हैं। बाहर का जो विशेषज्ञ मामले की जांच करके प्राप्त सूचना प्रस्तुत करता है वह इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह विशेषज्ञ ऐसी सामग्री एकत्र करता है जिसके आधार पर फ़ैसला किया जायेगा। और यह सामग्री उसके अतिरिक्त और कोई व्यक्ति ठीक तरह से नहीं जुटा सकता। लेकिन फ़ैसले का निर्धारण उसे नहीं करना चाहिये। यदि झगड़े से संबद्ध पक्षों के अतिरिक्त कोई और व्यक्ति फ़ैसला देता है तो वह बहुधा दोनों पक्षों के विचारों के बीच एक प्रकार का समझौता होता है कि जो किसी भी पक्ष को स्वीकार्य नहीं होता। या अगर वह किसी पक्ष के कुछ विरुद्ध पड़ता है, तो वह उसे पक्षपातः-पूर्ण फ़ैसला बताकर उसकी निन्दा करता है। विशेषज्ञ को सदा यह चाहिये कि वह फ़ैसल के लिये सामग्री जुटाये, पर स्वयं फ़ैसला भी न दे। क्योंकि ऐसी हालत में फ़ैसला एक प्रकार से आत्मपरक हो जाता है जिस से उसका वह स्वरूप ही नष्ट हो जाता है जिसके आधार पर वह स्वीकार करने योग्य होता है। ऐसी स्थिति में उसका विशेषज्ञता का तत्त्व क्षीण हो जाता है। वह आक्षेप का विषय बन जाता है ताकि उसे अस्वीकार किया जा सके।

सर विलियम हारकोर्ट ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से इन शब्दों में इस बात की ओर संकेत किया है: "विभागों के जन-प्रतिनिधि अध्यक्षों का महत्व इसी बात में है कि वे कर्म-चारियों को यह बतायें कि जनता क्या-क्या बात सहन नहीं करेगी!" लेकिन यह सिद्धान्त इतना ही कह देने भर से पूर्ण नहीं बनता। यह बात भी कुछ कम महत्व की नहीं है कि विभाग के जन-प्रतिनिधि अध्यक्ष के विचारों का आधार क्या है। यदि कोई वित्त-मंत्री कर लगाने के विषय में केवल धनवानों से ही परामर्श करेगा तो उसे जनता की राय

का ठीक-ठीक पता नही लग सकता। भारत का वाइसराय ऐंग्लो-इंडियनों की पत्नियों से पूछताछ करके भारतवासियों का मत कैसे जान सकता है ? हमें अपने को राजनीतिज्ञ तक ही सीमित न रख कर उस अनुभव को जुटाना होगा जिसकी वह व्याख्या करने की कोशिश कर रहा है। उसको हमें उस अनुभव में समाहित संकल्पनाओं से अवगत कराना है। हमें ऐसी निश्चित व्यवस्था करनी है जिससे ये संकल्पनाएँ राजनीतिज्ञ तक पहुँचाई जा सकें और इतना ही काफ़ी नही है। जहाँ तक संभव हो हमें ऐसे संबंधों की स्थापना में इन संकल्पनाओं को महत्त्व देना होगा ताकि उनके बारे में ठीक तरह अनुमान लगाया जा सके।

इस दृष्टिकोण में सत्ता के औचित्य के विषय में कुछ ऐसी सीमाएँ निहित हैं जिन पर सावधानी से विचार करन की आवश्यकता है। सर्वप्रथम यह बात स्पष्ट है कि राज्य के प्रत्येक सदस्य का अनुभव—चाहे वह व्यक्तिगत अनुभव हो अथवा दूसरों के संसर्ग में आकर हुआ हो—अभिव्यक्ति के योग्य बताया जाना चाहिए। उसे न केवल अपने बारे में अभिज्ञ ही होना चाहिए बल्कि उसे जिन बातों का ज्ञान है उसे वव्यक्त करने के साधन भी उसके पास होने चाहिएँ। इसमें मर विचार में अधिकारों की प्रणाली का प्रश्न निहित है जिसकी पहले ही विवेचना की जा चुकी है। अधिकारों की प्रणाली के बिना नागरिक के पास पर्याप्त अभिव्यक्ति का साधन नहीं होता और इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह सत्ता वैधानिक नही है जो इन अधिकारों को मान्यता नही देती और उन्हें लागू नही करती। सत्ता जो कुछ है, और जो कुछ भी करती है, वह इन्हीं के कारण महत्त्वपूर्ण है। जितना वह इनका निषेध करेगी, उतना ही वह न केवल अपना ज्ञान सीमित करेगी, बल्कि नागरिकों की आवश्यकताएँ पूरी करने की उसकी क्षमता भी उतनी ही कम हो जायेगी। इस प्रकार की सीमितता—शुरू में उसकी स्थिति चाहे अनजाने में ही क्यों न हो—आगे चलकर शायद अनजाने मे ही क्रमबद्ध हो जाती है। जहाँ लोग इसलिए चुप रहते है कि उन्हें अभिव्यक्ति का साधन प्रदान नही किया गया वहाँ सदा यह मान लिया जाता है कि उनके पास कहने के लिए कुछ है ही नही।

अनुभव व्यक्त कर सकने की शक्ति में आवश्यकताओं के विषय में सलाह लिये जाने का अधिकार निहित है। यदि मेरा अनुभव मुझे परितुष्टि की माँग करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता तो वह अनुभव ही निरर्थक है। यहा मै इस बात पर फिर ज़ोर दूंगा कि आवश्यकताएँ अनुभव की एक व्यक्तिगत शृंखला होती है जिसमें दूसरों की पैठ बहुत ही कम होती है। इसलिए अनुभव से परामर्श करने का मतलब होता है फैसले में भाग लेने का अधिकार। यदि कोई ऐसा आदेश जारी किया जाता है जिसके निर्धारण में मेरा कोई हाथ नही है, तो यह आदेश उन लोगों का ही प्रतिनिधित्व करता है जिन्होंने यह फैसला किया है, यह मेरा प्रतिनिधित्व कदापि नहीं करता। उदाहरण के लिये यदि हम अपने देश की भूमि व्यवस्था के इतिहास की ही विवेचना करे तो पता चलेगा कि इसमे और चाहे जो अनुभव निहित हों पर उस में किसान का कोई योग नहीं रहा। इसी प्रकार भारत का राजद्रोह कानून भी विजेता जाति की इस इच्छा पर आधारित है कि साम्राज्य को ध्वंसात्मक आलोचना के ख़तरे से बचाया जाना चाहिए। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि शक्ति उस अनुभव से सीमित होती है जो उसके पीछे निहित होता है। इसमें भी कोई संदेह नही कि इस शक्ति का प्रयोग उन्हीं

पर वैध समझा जा सकता है जिनका कि उस अनुभव में हाथ हो। इसीलिए लोकतंत्र सरकार का मुख्य आधार यह होता है कि उसके नागरिक उसकी कार्रवाइयों में सक्रिय रूप से भाग लें। राज्य की संकल्पना उन भिन्न-भिन्न चतनाओं का सम्मिश्रण होनी चाहिए जिन पर उसके संकल्पन का प्रभाव पड़ता हो।

यहाँ सचमुच एक पेचीदा समस्या उपस्थित होती है। प्रश्न यह उठता है कि संतोषजनक परिणाम प्राप्त करने के लिए कम से कम कितना योग आवश्यक है। यदि हम अपने वर्तमान राजनीतिक ढाँचे में परामर्श के विचार को साकार रूप देने के लिए प्रत्येक विधान और प्रत्येक प्रशासनिक आदेश को ऐसे लोगों के सम्मुख रखने की सोचें, जिनमें उन्हें ठीक तरह समझने की क्षमता नहीं है, तो बड़ा ही हास्यास्पद प्रतीत होगा। इसमें कोई शक नहीं कि भाग लेने का मतलब विविध प्रकार के मामलों पर मतदान लेना है और यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि लोगों को समय-समय पर अपन शासक चुनते रहना चाहिए। लेकिन मेरे विचार में वास्तविक योग चुनाव-व्यवस्था में संभव नहीं हो सकता। इसके लिए हमें कोई दूसरा तरीक़ा ढूँढ़ना होगा। यदि हम एक बार अपने अधिकारी चुन कर उन्हें पदच्युत करने के लिये अवसर की बाट जोहें, तो यह सच्चे अर्थों में नागरिकता नहीं कह जा सकती। विशुद्ध राजनीतिक मामलों में भाग लेना इतना आवश्यक नहीं है जितना कि आर्थिक और प्रशासनिक क्षेत्र में। और फिर इनका राजनीतिक कार्रवाइयों से संबंध जोड़ा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि कृत्यों के संगठन में कोई मौलिक परिवर्तन किया जाये और ऐसी कोशिश की जाये कि इन कृत्यों में सत्ता केवल शृंखला बनकर ही न रह जाये जिसमें एक के ऊपर एक अधिकारी की कड़ी हो। जहाँ कहीं और जब कभी लोगों को किसी बात से अलग रखा जाता है तो वह संघर्ष का कारण बन जाता है। जिस निकाय में शक्ति का स्रोत उन लोगों से पृथक् होता है जिन पर उसका प्रयोग किया जाता है तो शक्तिस्रोत अपना एक अलग जीवन और आत्म-हित अपनाने लगता है जो उसके निर्दिष्ट उद्देश्य से बिल्कुल ही भिन्न होता है। वास्तव में यह पृथक्ता उद्देश्य ही बदल देती है क्योंकि यह अपने परिवेश पर अपना प्रभाव डाल कर एक नया ही वातावरण पैदा कर देती है और एक नई दिशा की ओर मुड़ जाती है।

इससे यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक सामाजिक संगठन में व्यक्ति राज्य से किस प्रकार सम्बद्ध है। इससे एक सवाल खास तौर पर पैदा होता है जिसे मैं विधि की वैधता का नाम दूँगा और जो शब्दों की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक नागरिक के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हैं। सर्वप्रथम उसका मानव-पक्ष जो दूसरों में अपना व्यक्तित्व खोना नहीं चाहता, जिसके लिये अपनी जाति के अन्य लोगों से विविक्त रहना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और जिसकी रक्षा के लिए वह अपने प्राणों तक की भी बाजी लगाने के लिए तैयार रहता है। मनुष्य का धर्म इस पक्ष का एक विशिष्ट अंग है हालाँकि यह जितना कि अभी पिछले कुछ दिनों में दृष्टिगोचर हुआ है उतना पहले कभी देखने में नहीं आया था। लेकिन आधुनिक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति हर मामले में अंत में अथनासियस सिद्ध होता है। वह मर जाना पसन्द करेगा पर अपनी बात नहीं छोड़ेगा। राज्य नागरिक के इस नाजुक पक्ष के लिए जो फ़ैसले करे उनमें इतनी गुंजाइश अवश्य होनी

चाहिए कि वह जैसे ठीक समझे चल सके। राज्य, उसके समूचे अनुभव को उसके लिए अमान्य किये बिना, उसकी अन्तरात्मा को विचलित नहीं कर सकता और अगर वैसा हुआ तो इसका मतलब उसकी अन्तरात्मा की हत्या। मेरे विचार में यही अनुभव उसके लिए क़ानून बनाता है। नागरिक के इस पक्ष पर किसी बाह्य सत्ता के फ़ैसलों का तभी प्रभाव पड़ सकता है जबकि उसके परिणाम उसके अनुभव से मिलते-जुलत हों। दूसरा पक्ष यह है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो संसर्ग चाहता है—वह अमुक धर्म का अनुयायी है, फलाँ मजदूर संस्था, ढिकाँ अन्तर्राष्ट्रीय निकाय अथवा मालिकों की अमुक संस्था का सदस्य है। ये सब स्वयं उसके कृत्य हैं। ये व नैगम संस्थाएँ हैं जिनक द्वारा उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इन संस्थाओं के फ़ैसले उसके लिए महत्त्व रखते हैं, चाहे वे नागरिक पक्ष से सम्बद्ध मामलों के विषय में ही क्यों न हों जिसके बारे में मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि वह राज्य का ही क्षेत्र है। नागरिक के तीसरे और अंतिम पक्ष के लिए राज्य समूचे समाज के संचालन के हित में सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करता है। यह व्यवहार की चरम अन्विति नहीं है, बल्कि आवश्यक अन्वितियों का निर्माण करना है या यों कहिये कि व्यवहार में उतना समंजन लाना है जितना कि नितान्त आवश्यक है। आधुनिक काल में नागरिक के इन दूसरे और तीसरे पक्षों मे ही समन्वय करने का अधिकतर प्रयत्न किया जा रहा है।

—२—

अब सत्ता की मुख्य समस्या उपस्थित होती है। इस समस्या के दो अंग है: एक तो चरम अन्वितिकारी सत्ता के हल ऐसे हों कि नागरिक अपनी इच्छा से निष्ठावान रहे और दूसरे कोई ऐसा तरीका ढूँढ़ा जाये जिससे सत्ता नागरिकों की अधिक निष्ठा प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

यह स्वीकार करना होगा कि यह समस्या राजनीति-शास्त्र की अब तक की मान्यताओं से अलग पथ पर चलने की है। मान्य सिद्धान्त के अनुसार अंततः अन्विति स्थापित करने वाली सत्ता इसीलिए सर्वोच्च है कि वह अन्विति स्थापित करती है।

इसीलिए हॉब्स ने समाज में संस्थाएँ रखने के लिए इसी आधार पर अनुमति देने से इंकार किया था और उनकी तुलना "प्रकृत मानव की अंतड़ियों में कीड़ों" से की थी।[1] हॉब्स का कथन है कि संथाएँ नागरिक को राज्य की निष्ठा से विचलित करती हैं और इस प्रकार से उसके फ़ैसलों की स्वीकृति में बाधक बनती है। यही बात रूसो के संबंध में कही जा सकती है। रूसो संथाओं को आम संकल्पना में एक व्यक्तिगत संकल्पना का हस्तक्षेप समझते हैं जब कि राज्य का हित आम संकल्पना पर ही अवलंबित है। इसी आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि सार्वजनिक संस्थाओं में हड़ताल की ग़ैर-सरकारी सस्थाओं की हड़ताल से तुलना नहीं की जा सकती। राज्य को कानून बनाने वाली संस्था माना गया है जो अपने सभी निकायों और संस्थाओं को अपना स्वरूप प्रदान करती है। यदि राज्य ने उन्हें बनाया भी नहीं है तब भी उनका मूल आधार तो राज्य ही है। राज्य के क़ानून का

---

१. लेवियाथन २, २९

उल्लंघन करना, चाहे वह अनुचित ही क्यों न दिखाई पड़ता हो, उस ढांचे को ही हिलाना है जिस पर कि समाज अपने वर्तमान रूप में टिका हुआ है। हमें केवल इतना ही नहीं बताया जाता कि राज्य के कानून का उल्लंघन करने से न केवल अराजकता फैलने का डर है, बल्कि उस स्थिति में सामाजिक व्यवस्था के बारे में फ़ैसला विरोधी पक्षों की ताकत पर ही निर्भर होगा और इसीलिए हमें समाज में राज्य की संकल्पना को और सब संकल्पनाओं से सर्वोच्च मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में मेरे विचार में राज्य की सत्ता न केवल वैधानिक दृष्टि से बल्कि नैतिक दृष्टि से भी सामाजिक शांति का स्रोत है क्योंकि कोई भी वैधानिक व्यवस्था तब तक नहीं बनायी रखी जा सकती जब तक कि उसके समर्थक अपने निजी नैतिक आधारों पर उसका समर्थन नहीं करते। इस प्रकार सत्ता की समस्या के पक्ष का आपूर्व समाधान सम्भव है। राज्य अन्ततः एकता स्थापित करने वाली संस्था है, इसीलिए मुझे इसके आदेश स्वीकार करने चाहिए और अन्य सब निकायों की अपेक्षा उसके प्रति ही निष्ठावान रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में दूसरे पक्ष का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता।

मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि प्रस्तुत दृष्टिकोण में समस्या को जितना आसान माना गया है, वह सचमुच उतनी ही आसान है। सबसे पहले हमें राज्य-संकल्पना का न केवल एक प्रयोजन के रूप में वरन् कृत्य के रूप में भी विश्लेषण करना होगा। हमें राज्य के स्वरूप के बारे में अपना मत उसके कथन के आधार पर निश्चित नहीं करना चाहिए बल्कि इस आधार पर करना चाहिए कि वह लोगों के लिए क्या करता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि साधारणतः सरकार ही राज्य होती है और सरकार के फ़ैसले ही लागू किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार की सत्ता के विषय में जाँच करनी चाहिए और जब हम यह जाँच करते हैं तो न केवल इस बात पर विचार करते हैं कि सरकार क्या होती है बल्कि इस बात की भी जांच करते हैं कि आधुनिक सामाजिक स्थिति में किस प्रकार की सरकार की सम्भावना हो सकती है। मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि हमें इस विषय में अपना यह मत मुख्य रूप से इस आधार पर निश्चित करना चाहिए कि उसकी सम्पत्ति-व्यवस्था कैसी है। उस राज्य में सम्पत्ति वितरण का सिद्धान्त चाहे कुछ भी हो, उसकी सम्पत्ति-व्यवस्था से यह पता चल जायेगा कि किसके पास कितनी सम्पत्ति है। साधारणतया जिन लोगों के पास शक्ति होगी, वे उसका प्रयोग अपने हितों की वृद्धि के लिए करेंगे। मैं यह कह चुका हूं कि इसे तभी रोका जा सकता है जबकि सत्ता के आधार–विशिष्ट अधिकारों को–लागू किया जाये। मैंने यह भी कहा था कि वर्तमान व्यवस्था शक्ति की असमानता को प्रतिष्ठित करती है। अतएव मैं दो निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ। पहली बात तो यह कि सत्ता नैतिकता की वृद्धि का जितना प्रयत्न करेगी उतना ही अधिक उसका मुझ पर दावा होगा। दूसरी बात यह है कि अगर सत्ता मुझ पर अधिक से अधिक दावा रखना चाहती है तो यह आवश्यक है कि उसके फ़ैसले मेरे अनुभव के अधिक से अधिक निकट हों और उसमें घुलमिल जायें।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सामाजिक शांति का सूत्रपात क़ानून से ही हुआ है और मैं सामाजिक शांति के महत्त्व को मानने से कदापि इंकार नहीं करता लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि जब तक मुझे यह मालूम न हो जाये कि इसमें क्या निहित है, तब तक मै इसे

और स्थितियों से मूल रूप से बेहतर मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। मै इसमें निहित बातों को परखूंगा अपने जीवन में उनके परिणामों के अनुभव की कसौटी पर। मुझे यह देखना होगा कि इसके बनाये रखने से किस प्रकार के अनुभव की रक्षा हो रही है और किस प्रकार का अनुभव इसके संरक्षण से अलग रखा गया है। साधारणतया किसी नागरिक को क़ानून तभी वैधानिक प्रतीत होगा जबकि वह उसे नैतिक व्यवसाय का सच्चा प्रतिबिम्ब मालूम पड़े। वह उसे केवल आपूर्व आधारों पर वैधानिक स्वीकार नहीं कर सकता। इससे उसका अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से होगा जिसमें उन अधिकारों को स्थान और मान्यता मिलती है जिन्हें वह सही मानता है।

जहाँ यह बातें होंगीं वहाँ वह यह महसूस करेगा कि उसे क़ानून के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि नागरिकों का अनुभव ही क़ानून का सच्चा निर्माता है। जो कुछ वे इस अनुभव के अनुकूल पायेंगे, वही उनके लिये सत्ता होगी। उनसे ऐसे फैसलों का पालन करने के लिये कहना बेकार होगा जिनमें वे वह वास्तविकता नहीं पाते जिसकी वह क़द्र करते है। हो सकता है कि वे ताकतं के सामने या डर के कारण झुक जायें। हो सकता है कि वे उन्हें इसलिये स्वीकार कर लें कि उन्हें समझते नही हैं। यह भी सम्भव है कि वे यह महसूस करें कि विरोध करने पर जो सज़ा मिल सकती है, उसे ध्यान में रखते हुए इस समय विरोध करना उचित नहीं है। लेकिन वे किसी और शर्त पर राज्य के प्रति वह निष्ठा नही रख सकते जो अपनी स्वेच्छा से और समझ से उत्पन्न होती है और जो वास्तव में निष्ठा है।

इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इसमें यह सिद्धांत निहित है कि जहाँ सत्ता का प्रयोग होता है, उसके इर्दगिर्द अराजकता की काली छाया रहती है। क्या इस सत्य को मानने से इंकार करना उचित होगा? लोग क़ानून को किसी विशिष्ट संस्था से स्थायी रूप में संबद्ध शक्ति की आवाज नही मानते, उनके लिये तो क़ानून उस शक्ति की आवाज है जिसे वे स्वीकार करने के लिये तैयार है। जब अलस्टर ने घोषणा की थी कि स्वशासन का क़ानून अवैधानिक है तब उसका यही अभिप्राय था। १९०२ के शिक्षा कानून के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन के पीछे भी यही बात थी। इसीलिये पादरियों ने प्रिवी कौंसिल की न्याय-समिति के फ़ैसलों को वैध मानने से इंकार कर दिया था। दक्षिण वेल्स के खनिकों ने १९१५ के युद्ध-सामग्री-संबंधी क़ानून का जो विरोध किया था, वह उसी पर आधारित था और साम्यवादी समूची वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का जो विरोध करते हैं उसके मूल में भी यह बात है। उनके विचार मे क़ानून उस वैधानिक संस्था की सत्ता नही है जो उसका मूल स्रोत है, उसकी सत्ता उसके अपने सार-तत्त्व हैं। इसलिये समाज में जितने निकायों को लोगों की सहमति प्राप्त होती है, सत्ता की उतनी ही संस्थायें होती हैं। यदि मुझे अपने अनुभव पर चर्च या मज़दूर सभा के मुकाबले राज्य का प्रभाव काफ़ी नहीं मालूम देगा तो मैं राज्य के विरुद्ध चर्च अथवा मज़दूर सभा का साथ दूंगा। मेरी कार्यवाही ही क़ानून को वैधानिकता प्रदान करती है।

इसलिये यदि लोगों से क़ानून को स्वीकार कराना है तो इसके लिये उनके मस्तिष्कों पर प्रभाव डालना होगा। और प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क पर प्रभाव अलग-अलग पड़ेगा

क्योंकि प्रत्येक का अनुभव और पद्धति, और इसलिये उसकी आवश्यकताएँ, भिन्न भिन्न होती हैं। इस प्रकार सत्ता की पोषक अनुज्ञप्तियाँ सदैव एक से अधिक होती हैं क्योंकि ये आवश्यकताएँ स्वरूप में सामान्य होने पर भी कभी एक सी नहीं होतीं। इसलिये हम क़ानून का सम्मान किये जाने का कभी आश्वासन नहीं दे सकते। उदाहरण के लिये हम यह कभी नहीं कह सकते कि संसदस्थ बादशाह ने कोई बात कही है, इसलिये उसकी संकल्पना अवश्य ही शिरोधार्य होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि साधारणतया हमें यह आश्वासन दिया गया है कि घोषित फ़ैसला स्वीकार किया जायेगा क़ानून बनाने में असली समस्याएँ उसके वृत्त की परिधि पर नहीं, उसके बाहर चतुर्दिक पैदा होती हैं। लेकिन ये बड़े ही आवश्यक होते हैं और जो भी राजनीति-दर्शन अपने समूचे परिवेश के प्रति सच्चा रहना चाहता है उसमें इसका बड़ा ही महत्त्व होता है। व्यक्ति के लिये क़ानूनी अधिकार का वही अर्थ है जो वह उसे प्रदान करता है। इसकी पोषक अनुज्ञप्ति वह सत्ता है जिसे वह अपने अनुभव से परिमार्जित करके उसे देता है। हम उसी हद तक राज्य के प्रति निष्ठावान रहते हैं जिस हद तक कि इस क्रिया से ऐसे कार्य हों जिनसे हम परितुष्ट हों।

यह बात लक्ष्य की जानी चाहिए कि मैं आज्ञापालन की आवश्यकता से इंकार नहीं करता। उल्टे मेरा विचार तो यह है कि इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि आज्ञा-पालन वह संबंध नहीं है जो फ़ैसले के सक्रिय स्रोत और फ़ैसले को निष्क्रिय रूप से ग्रहण करने वाले के बीच होता है, बल्कि जहाँ यह रचनात्मक होता है वहाँ दोनों ही पक्ष अपने संबंध द्वारा निर्मित परिवेश में भागी होते हैं। अगर हम चाहते हैं कि हमारी निष्ठा वास्तविक अर्थों में निष्ठा हो तो हमें राज्य के सम्मुख अपना ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करना होगा जो उसके आदेशों में योग दे और उन्हें अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करे, न कि ऐसा स्वरूप जो आज्ञाओं को केवल जड़ता से ग्रहण करता हो। अर्थात् जो राज्य चाहता है कि उसका क़ानून वैध हो, उसे अपने नागरिकों के अनुभवों को मिलाकर उसमें वह वस्तु ढूँढनी चाहिए जिसे मैंने क़ानून की वैधानिकता की संज्ञा दी है। ऐसा वह उन्हें क़ानून बनाने की प्रक्रिया के संसर्ग में लाकर ही कर सकता है। जब हम यह कहते हैं कि राज्य क़ानून बनाता है तब हम यह भूल जाते हैं कि राज्य को अपने अभिकर्त्ताओं की मार्फ़त ही काम करना होता है, और वे भी मनुष्य ही होते हैं। उनकी आवश्यकताएँ और प्रयोजन उनके अपने जीवन के अनुभव कर आधारित होते हैं और वे स्वभावतः अपने लिये वैध होते हैं क्योंकि वे उस अनुभव की विवक्षाओं को परितुष्ट करती हैं। लेकिन वे सिवा उनके जो उनमें शामिल हैं, औरों के लिये काफ़ी नहीं होते। इस स्थिति के अलावा अन्य स्थिति में उनमें उस सत्ता का अभाव होता है जो उनकी आवश्यकताओं और प्रयोजनों को इस कारण से स्वीकार किये जाने के लिये विवश कर दें कि वे स्पष्ट रूप से हमारी जान पड़ती हैं। और यह मान्यता तभी संभव है जबकि हम यह जानते हों, कि हमने उनकी सत्ता न केवल प्रादुर्भाव के समय निर्मित की, बल्कि हम सरकार की प्रक्रिया के हर दौर में अपनी कार्यवाहियों से उसमें योग देते रहे हैं। ये हमारी उन आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें हम उस रूप में जानते हैं जिस रूप में कि हम ही जान सकते हैं। अन्यथा

हमारे अस्तित्व में सत्ता की कोई गहरी जड़ें नहीं हैं।

कुछ समसामयिक उदाहरणों से यह बात शायद और स्पष्ट हो जाये। वर्साई संधि जिस ढंग से की गई, वह इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। इस बात पर आम तौर से सब सहमत हैं कि १९१८ की जर्मन क्रांति के बाद जर्मनी में यह भावना बड़ी व्यापक थी कि एक न्यायोचित संधि की जाये। लेकिन इस न्यायोचित संधि शब्द का अभिप्राय एक ऐसी संधि से था जिसमें विजेताओं के साथ-साथ विजित पक्ष के हितों का भी उतना ही ध्यान रखा जाये। लेकिन वास्तव में जो संधि हुई, उसमें न केवल विजित पक्ष के हितों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया बल्कि उन्हें इस बारे में भी अपने विचार प्रकट करने की मनाही थी कि संधि का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्हें इस डर से यह संधि स्वीकार करनी पड़ी कि अगर हमने इसे स्वीकार न किया तो न जाने क्या परिणाम भुगतना पड़े। आखिर नतीजा वही हुआ जिसकी आशंका थी। एक आम जर्मन संधि की रक्षा करना अपना कोई दायित्व नहीं समझता। उसे यह महसूस नही होता कि संधि के साथ उसका संबंध किसी ऐसे अनुभव पर क़ायम है जो उसके लिये मान्यता रखता हो। वह उसी हद तक संधि को स्वीकार करता है जिस हद तक कि शक्ति, चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा प्रच्छन्न, उसे संधि का उल्लंघन करने से रोकती है। किन्तु वास्तव में उसके मन पर निरन्तर यही बात छायी रहती है कि संधि फिर से की जाये। वास्तव में वह ऐसे पुनर्स-मंजनों के निकाय के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है जो इस प्रकार के दायित्व निर्धा-रित करे जिन्हें वह उचित समझ कर उनका पालन कर सके। और ऐसे समंजन उसे तब तक उपलब्ध नहीं हो सकते जब तक कि वह उनकी खोज में भाग नहीं लेगा। समंजन करने की इस प्रक्रिया मे उसका, उनकी खोज में, रचनात्मक योग अवश्य होगा। मेरे विचार में तो यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि जो राजनीतिज्ञ संधि को एक पवित्र आलेख मानते हैं, उनका दृष्टिकोण अधिकांश में इस मान्यता से उद्भूत होता है कि इसकी सत्ता काफी नहीं है। ये राजनीतिज्ञ हल की खोज में नही थे बल्कि जर्मनी पर अपनी ज़ोर रखना चाहते थे। वे किसी ऐसे साधन पर ज़ोर नही दे रहे थे जो अब तक के परस्पर विरोधी अनुभवों को समंजित करता बल्कि वे एक ऐसा साधन चाहते थे जिसमें उनका अपना अनुभव निहित हो। जो बात सिखाई जाती है, वह सीधे-सादे तौर पर यह है कि जिस साधन की सृष्टि हमने की है उसकी सत्ता हमारे लिये हैं, जर्मनों के लिये नहीं। वे तो इसके लिये जर्मनों के स्वभाव की प्रकृतिदत्त अनैतिकता को दोषी ठहराते हैं, लेकिन वास्तव में यह एक सरल मनोवैज्ञानिक परिणाम है जिसे लोगों के रोज़मर्रा के संबंधों से सिद्ध किया जा सकता है।

इसी प्रकार युद्धोत्तर काल में, विशेषकर ब्रिटेन में, पूँजीपतियों और श्रमिकों में पार-स्परिक संबंध भी हमारे कथन का एक और ज्वलंत उदाहरण है। एक प्रमुख पूँजीपति ने हाल ही में हाउस आफ़ लार्ड्स में कहा था कि उद्योगपति अपने श्रमिकों के कल्याण के लिए जितने आज उत्सुक हैं, उतने पहले कभी नहीं थे। पर दूसरे पक्ष से इस भावना की जितनी कम प्रति-ध्वनि आज होती है, उतनी पहले कभी नहीं। लेकिन केवल सद्भाव द्वारा ही यह प्रतिध्वनि

---

१. ७ जुलाई १९२४ को हाउस आफ़ लार्ड्स में लार्ड ऐमट का भाषण

तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि जिन वस्तुओं के प्रति यह सद्भाव रखा जाता है, वे सहयोग द्वारा निर्धारित न हों। आज पूंजीपतियों और श्रमिकों में इस प्रकार के सहयोग का अभाव है और न ऐसी कोई संस्थाएँ हैं जिनके माध्यम से सहयोग की भावना का संचार हो सके। आज का औद्योगिक संसार शांति के लिए नहीं, बल्कि संघर्ष के लिए संगठित किया गया है। प्रत्येक पक्ष अवसर देखकर दूसरे पर अपनी शर्तें थोपता है। और न वास्तव में उसकी दूसरे पक्ष के मन में पैठ ही हो पाती है। न दोनों में से कोई पक्ष प्रयत्न के समान उद्देश्यों पर ही सहमत हुआ है। मालिक ने, जो अपने श्रमिकों से उत्पादन में वृद्धि की माँग करता है, कभी यह बात जानने की कोशिश नहीं की कि उत्पादन किन परिस्थितियों में बढ़ सकता है। उसने यह कभी महसूस करने की कोशिश नहीं की कि यह एक ऐसा मामला है कि जिसमें अनेक बातें शामिल हैं। वह अक्सर इतना ही सोच कर अपना काम खत्म समझ लेता है कि अगर उत्पादन बढ़ने से वेतन में वृद्धि होती है तो फिर इस मामले मे श्रमिकों का और कोई संबंध नहीं रहता। उसने यह कभी नहीं समझा कि श्रमिक के लिए मालिक क व्यवहार का कोई एक पहलू नही, बल्कि उसका समेकित व्यवहार महत्त्वपूर्ण होता है। उत्पादन में वृद्धि से न केवल वेतन बढ़ाने का सवाल उठता है, बल्कि छुटपुट कामों के लिए उचित दरों का सवाल, कितने श्रमिकों को काम मिलता है, लगातार काम मिलता है या नहीं, उन्हें कितनी थकान आती है और उस थकान से उत्पन्न बीमारी का सुरक्षा से क्या संबंध है—ये और ऐसे ही अन्य प्रश्न भी आते हैं। इनमें से किसी भी प्रश्न को मालिक अकेला हल नहीं कर सकता। अगर इन सवालों को संतोषजनक रूप से हल करना है तो इसमें से प्रत्येक मामले में श्रमिक के अनुभव को भी उतना ही महत्त्व दिया जाना चाहिए जितना कि मालिक के अनुभव को। लार्ड ऐमट के वाक्य के 'कल्याण' शब्द का इस समय दोनों पक्षों के लिए बिलकुल अलग अलग अर्थ है। और इस सारे संबंध में सबसे भारी त्रुटि यह है कि लार्ड ऐमर और अकेले लार्ड ऐमट ही क्यों, बल्कि अन्य बहुत से मालिक भी, यही मानते हैं कि श्रमिक द्वारा हमारी भावना का समुचित प्रत्युत्तर न दिये जाने का कारण है उसका युद्ध-उन्माद अथवा गैर-ज़िम्मेदारी से उत्पन्न शिथिलता। सच तो यह है कि युद्ध ने तो केवल इतना ही किया है कि उसने श्रमिक की इस भावना को और तीव्र कर दिया है कि अब वह बाहर से शासित होने के लिए राज़ी नहीं है, चाहे उस स्वेच्छाचारिता की मनोवृत्ति उदार ही क्यों न हो। इसका कारण यह है कि उदार से उदार मनोवृत्ति वाले स्वेच्छाचारी भी उस अनुभव कोन हीं समझ सकते जो उन्हें कभी नहीं हुआ। वह उसके सुखों और दुखों, दोनों से, समान रूप से अनभिज्ञ रहता है। औद्योगिक क्षेत्र में आजकल जो कुछ देख रहे हैं, उसे हम नई व्यवस्था ही के प्रसव की पीड़ा कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि इस नई व्यवस्था के जन्म से पहले ही संघर्ष उसका गला घोंट दे। वास्तव में नई व्यवस्था तब तक स्वस्थ व्यवस्था नहीं हो सकती जबतक कि उस परिवेश का, जिसका कि उसे सामना करना है, उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण न किया जाये।

और यहाँ हमारे सामने एक ऐसा तर्क आता है, जिसका इसलिए विशेष महत्त्व है कि मैं सत्ता की समस्या के प्रति जिस दृष्टिकोण पर बल देने का प्रयत्न कर रहा हूँ, उसकी इस तर्क से अधिक स्पष्ट व्यवस्था होती है। लोग कहते हैं कि हम ऐसे उद्योगों में होने वाली

हड़तालों को तो समझ सकते हैं, जिनका कुल मिला कर समाज पर ज्यादा गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। अगर तेल-फुलेल तैयार करने वाले काम बन्द कर दें तो कोई परवाह नहीं क्योंकि समाज इत्र और लेवेंडर के बिना रसातल को नहीं चला जायगा। लेकिन उनका कहना है कि अगर रेलवे और पुलिस कर्मचारी हड़ताल करें तो यह एक बिल्कुल ही जुदा बात होगी क्योंकि इन सेवाओं का सीधा सार्वजनिक प्रयोजन है। जहाँ ये सेवायें बन्द हुई कि सीधे सामाजिक संगठन के मर्मस्थल पर प्रहार हुआ। यह कहा जाता है कि इसलिए ऐसी सेवाओं में किसी प्रकार की गड़बड़ सहन करना संभव नहीं है। समाज के प्रति राज्य का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि ये सेवायें सदा चालू रहें। ऐसी हालत में या तो राज्य को इस प्रकार की सेवाओं में हड़तालें स्पष्ट रूप से ग़ैर-क़ानूनी ठहरा देनी चाहिए, या फिर उसके पास ऐसे साधन होने चाहिएँ कि हड़ताल के समय वह इसका स्वयं संचालन कर सके। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि हड़तालों से ऐसे कार्यों में जो अव्यवस्था पैदा होती है, वह बड़ी गंभीर होती है। लेकिन मैंने जो कुछ कहा है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि क़ानूनी तौर से हड़तालों को निषिद्ध करने से उस सत्ता की प्रतिष्ठा भी नहीं बढ़ेगी जिसका उद्देश्य ऐसी हड़तालों को रोकना है। यह कहना कि इन कामों का प्रयोजन सेवा को निरन्तर चालू रखना है, और इसलिए उनमे हड़ताल करना उनके मूल आधार के विरुद्ध है, मुझे इस समस्या के प्रति बिल्कुल ही बेकार दृष्टिकोण मालूम पड़ता है, क्योंकि किसी कृत्य का प्रयोजन कुछ शब्दों में ही सीमित नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोजन तो यह है कि इससे जिनका संबंध है, उनके दैनिक जीवन के लिए इसका क्या महत्त्व है? अव्यवस्था को फैलने से रोकने का तरीका यह नही है कि उसे निषिद्ध कर दिया जाये। सही तरीक़ा तो यह है कि ऐसा प्रबन्ध किया जाये कि इससे संबद्ध व्यक्ति इसके कार्य में भाग ले सकें क्योंकि तब उस पर उनका नियंत्रण उनके अनुभव की अभिव्यक्ति होगा। उस स्थिति में वह जो अनुशासन स्वीकार करते हैं, उसका स्वभावतः उन आवश्यकताओं में ही उद्भव होता है, जिन्हे वह जानते हैं। हड़तालों के निषिद्ध होने से ही लोग, उदाहरण के लिए रेलवे में, हड़-तालें करना कम नहीं कर देंगे, उल्टे हड़ताल करने के बाद उनका रोष और बढ़ जायेगा। न मेरे विचार में किसी अस्थायी विकल्प की व्यवस्था से समस्या में कोई वास्तविक सहा ता मिलती है, क्योंकि या तो ऐसा अस्थायी विकल्प वर्साई संधि जैसे हल की ओर ले जाता है, जो दायित्त्व की भावना लाने में असफल रहता है या फ़िर वह संघर्ष में एक पक्ष की ओर से शक्ति का प्रयोग कराके प्रश्न में निहित वास्तविक तथ्यों पर विचार करने की ओर से ध्यान हटा देता है और उसी तरीक़े के सवालों पर केन्द्रित कर देता है, जिनका वास्तव में कोई संबंध नहीं होता। उद्योगों में इस प्रकार की गड़बड़ न होने देने का यही उपाय है कि सहमति की आवश्यक संस्थाएँ शुरू से ही होनी चाहिए, यह नही कि ज्यों-ज्यों कठिनाइयाँ खड़ी हों, त्यों-त्यों उनकी व्यवस्था की जाये। शुरू में तो सहमति पर अविच्छिन्न ज्ञान से उद्भूत सत्ता का बाना होता है और यह ज्ञान हमारे समस्त उपलब्ध अनुभव का कृत्य होता है। उस समय हम मतभेदों के उत्पन्न होने के पहले ही हलके तत्त्वों का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम प्रार्थना को माँग का, और माँग को धमकी का रूप धारण करने के पहले ही उस पर विचार कर सकते हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम

सम्मिलित रूप से विचार कर सकते हैं। हमारी वर्तमान व्यवस्थाओं में सदैव सहमति के क्षेत्र की बजाय, मतभेदों की रेखाएँ ही उभार कर दिखाई जाती हैं और अगर ये व्यवस्थाय बनी हैं तो फिर वैसा होना स्वाभाविक ही है।

मैं यह नहीं कहता कि इस तरीके से हड़तालें रोकी जा सकती हैं, मेरा तो केवल यही कहना है कि इससे हड़तालों की संख्या इतनी कम हो जायगी जितनी और किसी तरीके से नहीं हो सकती। लेकिन यहां एक नयी समस्या पैदा होती है जिसके संबंध में कुछ कहना ही होगा। अब तक मैंने मुख्य रूप से व्यक्ति की ही चर्चा की है, मानः कि सामाजिक प्रक्रिया में व्यक्ति और राज्य ये दो ही तत्त्व हों। वास्तव में यह प्रश्न इससे कहीं अधिक पेचीदा है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मनुष्यों की संसर्ग की प्रवृत्ति राज्य में ही समाप्त नहीं हो जाती। वे अपनी उन अनुभूत आवश्यकताओं की अभिवृद्धि के लिए अपने को दल के रूप में संगठित करते हैं जिनकी तुष्टि वैयक्तिक क्रिया-कलाप से नहीं हो सकती। दल किसी ऐसे हित की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है जिसमें उसके सदस्य अपने अनुभव की पूर्ति महसूस करते हैं। वे परिवेश के मूल कृत्य हैं। वे इस बात का प्रयत्न हैं कि व्यक्ति की जो प्रवृत्तियाँ अतृप्त है, या जिनका पूरी तरह पोषण नहीं होत ा, उनको यह इनके माध्यम से परितुष्ट कर सकें। जिस प्रकार राज्य वास्तविक है, उसी प्रकार दल भी वास्तविक है यानी इसे भी किसी हित की अभिवृद्धि करना है, कोई कृत्य करना है। यह राज्य द्वारा निर्मित नहीं होता। क़ानून की श्रेणियों के बाहर वह राज्य पर निर्भर नहीं है। इसका समूचे परिवेश के तत्त्वों के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में विकास होता है। इसका अस्तित्त्व और विकास उसी रूप में रहता है और होता है, जिस रूप में कि वह आसपास के परिवेश को देखते हुए अपेक्षित है।

हम कहते हैं कि दल यथार्थ है—पर किस रूप में? जिस तरह जोन्स स्मिथ या रोबन्सन यथार्थ हैं, क्या उसी तरह दल भी यथार्थ है? अर्थात् क्या वह एक ऐसा पूर्ण ससीम अस्तित्व करके है, जिसे अन्य पूर्ण और ससीम अस्तित्वों से तुरन्त ही अलग करके पहचाना जा सके। मेरे विचार में दल एक संबंध या प्रक्रिया के रूप में वास्तविक है। यह उसके विभिन्न भागों का ऐसे विशेष प्रकारों के व्यवहार से एक संबंध जोड़ता है जिनसे उन्हें उन हितों की अभिवृद्धि की आशा दिखाई पड़ती है जिनसे उनका संबंध है। उस दृष्टि से दल का अपना व्यक्तित्त्व होता है। इसकी समेकित व्यवहार में परिणति होती है। यह अपने सदस्यों के परितोष के लिए क्रिया-कलाप के मार्ग ढूंढ़ने में समर्थ बनाता ह जो वैसे संभव नहीं हैं। उसमें केवल इसी व्यवहार के कारण जीवन होता है। दल का अस्तित्त्व अपने सदस्यों से अलग किसी रूप में नहीं है। बल्कि उसके सदस्य जो कुछ करते हैं, उसी में और उसी के द्वारा उसका अस्तित्त्व है। दल अपने सदस्यों में ऐसी वृत्तियों का विकास करता है जो कमोबेश उन आवश्यकताओं को पूरा करतीं है, जो उनके अनुभव से अपेक्षित होती हैं। यह उनके जीवन की भूमिका की रचना करता है और साथ ही, वह उस माध्यम का भी काम देता है, जिसके द्वारा ये सदस्य स्वयं इस रचना में योग देते हैं। यह आचरण के समग्र उपकरणों को उस अनुभव क्षेत्र के लिए एक व्यवहार-सूत्र में पिरोता है, जिस पर वही नियंत्रण रखना चाहता है। दल के अभाव में वे यह महसूस करेंगे कि वे अपने और

बाह्य संसार के बीच संपर्क स्थापित करने वाली कड़ी से वंचित कर दिये गये हैं।

इस दल-जीवन के बड़े ही विविध रूप हैं। राजनीतिक दल, धार्मिक संप्रदाय, मज़दूर संघ, मालिकों की संस्थाएँ, मित्रों की संस्थाएँ गाल्फ़ क्लब, इंस्टीट्यूट आफ़ फ्रांस जैसी अनुसंधान संस्थाएँ और नाट्य-संस्थाएँ आदि कुछ ऐसे उदाहरण है जिनसे पता चलता है कि सामाजिक संगठन म उनका क्या स्थान है? पर हाँ, यह बात नहीं है, कि व्यक्ति की निष्ठा इन्हीं पर आकर ख़त्म हो जाती है। व्यक्ति एक केन्द्र बिन्दु के समान है, जहाँ से उन दलों की संपर्क रेखाएँ गुज़रती हैं, जो उसके अनुभवों को अपेक्षित होती हैं। अधिकांश में ये दल ही यह निर्धारित करते है कि व्यक्ति किन्हें अपना मित्र बनायें, कौन से अवसर ढूंढ़ें, और कौन-सा व्यवसाय चुनें ? ये दल उसके जीवन में वे मार्ग प्रशस्त करते है, जिनके सहारे वह डरते-डरते और अटकते-अटकते अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है । अधिकतर लोग दलों को प्रयत्नों की मितव्ययता का प्रतीक मानते हैं जो बड़ा आवश्यक है। दल उसक क्रिया-कलापों के लिए योजना बनाते हैं और अपनी आयोजना में उसकी इच्छा की अभि-व्यक्ति के लिए स्थान रखते हैं। उनकी सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे परितुष्टि के लिए उसके प्रयत्नों के प्रति कितने सचेत हैं! वे उसी हद तक इसमें सफल या असफल होते हैं, जिस हद तक कि वह व्यक्ति को वह स्फूर्त्ति प्रदान करते हैं ।

ये दल इस बात की कोशिश करते हैं कि व्यक्ति घटना क्रम पर काबू पा सके और अपने जैसे मन वाले लोगों के साथ मिल कर परिवेश को अपनी इच्छा के अनुसार नियंत्रित कर सके। बहुधा ये दल व्यक्ति के लिए विशेष मान्यता रखते हैं क्योंकि ये उसकी अपनी पसंद के साधन होते हैं। वे एक ऐसी परंपरा को ढालते हैं जिसकी वह बड़ी आवश्यकता महसूस करता है और जहाँ वह स्पष्ट रूप से एकरूपता का अनुभव करता है। इसलिए वे उसमें ऐसी निष्ठा जागृत करते हैं, जिसकी जड़ें उसके अस्तित्त्व में बड़ी गहरी जाती हैं। ये उसे यह भावना देती हैं कि उसने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है—कि उसने अपने को जानने की शक्ति पा ली है जो वैयक्तिक समंजन की उपलब्धि में एक अमोल तत्त्व है। जहाँ दलों के बिना उसे सब कुछ अस्त-व्यस्त दिखाई देता है, वहाँ दलों के होने से उसे मालूम होता है कि उसे वह अवसर प्रदान किया गया है जिसमें वह अपने जैसे अनुभव वालों के साथ मिल कर कुछ ऐसा काम करे, जिसे वह उपयुक्त समझता है।

इस तरह इस बात पर जो ज़ोर दिया गया है कि दल व्यक्ति के लिए आवश्यक है, उसका मतलब यह नहीं कि इसके संभाव्य दोषों की ओर से आँखें मूँद ली जायें। राष्ट्र-राज्य की तरह दलों की भी प्रवृत्ति अपनी रक्षा के लिए पृथकत्त्व का सहारा लेने की होती है। वह अपनी परम्पराओं के हित में दूसरे निकायों की परम्परा को नष्ट करने के लिए भी तैयार रहता है। वह अपने सदस्यों से माँग करता है कि वे दल के स्वर और परिवेश के आगे समर्पण करें। दल व्यक्ति से यह भी माँग करता है कि वह उसके गुणों का बखान करे और उसके दोषों पर या तो ध्यान न दे या फिर, उन पर चुप्पी साध ले। दल के भीतर तीव्र आलोचना के अभाव में उसमें लचीलापन नहीं रहेगा और दूसरों के विचार वह नहीं सुनेगा। और वह यह महसूस करने योग्य नहीं रहेगा कि वह भी ग़लती कर सकता है। इससे दल में स्वस्थ संघ-भावना की जगह एक प्रकार की कट्टर हठधर्मी आ जायेगी और उसके

सदस्यों में जो कुछ नमनशीलता है वह नष्ट हो जायेगी। वह विमति प्रकट करने वालों को तंग करेगा और आज्ञापालन करने वालों की सराहना करेगा—उनके तत्त्व पर कोई ध्यान नहीं देगा। वह इस बात पर जोर देगा कि उसका एकांगी सत् ही समग्र सत् है और सत्य के बारे में उसका विवेचन ही संपूर्ण सत्य है। अगर दल के सदस्य समस्याओं के बारे में दल द्वारा प्रस्तुत हल के अलावा अन्य दलों के हलों पर विचार करने के लिए रज़ामन्द होंगे, तो दल व्यग्र हो उठेगा। दूसरे दलों के साथ संघर्ष के अवसरों पर तो यह बात विशेष रूप से लागू होगी। दल के नेताओं में, उदाहरण के लिए राज्य के शासकों में, अपने प्रयोजनों और हितों को साधारण सदस्यों के प्रयोजनों और हितों से भिन्न, और कभी-कभी तो इसके एकदम विरुद्ध समझने की प्रवृत्ति आने लगेगी। श्री कोल ने लिखा है, "किसी संमिति के सदस्य चाहे कितनी ही ईमानदारी से अपने सदस्यों के प्रति अपने समग्र कर्तव्यों का पालन क्यों न करें, उनकी कार्यवाहियों में समिति के प्रति वफ़ादारी का भाव आये बिना नहीं रह सकता।"[1] वह मंत्रिमंडल जिसका स्वभाव वास्तव में दल से भिन्न है, ऐसी एकता पर ज़ोर देने का प्रयत्न करेगा, जिसका अस्तित्व ही नहीं है। उसमें असमंजस की जो भावना होगी, उसी के कारण वह यंत्रवत् आज्ञा-पालन पर और ज़ोर देता, चाहे उसके सदस्य उतने से ही संतुष्ट क्यों न हों। किसी दल में लय होने का मतलब होता है व्यापक दृष्टिकोण की जगह संकीर्णता और नमनशीलता की जगह कट्टरता को अपनाने की, और सविवेक सहमति की जगह बिना कहे सुने हर बात को स्वीकार करने की प्रवृत्ति।

लेकिन यह सब कहने का अभिप्राय यही है कि दलों का निर्माण मनुष्यों से होता है और वे उसी तरह कार्य करते हैं जैसे कि राज्य। सब कोई नवीनता की अपेक्षा परिपाटी पर चलना ही ज्यादा पसंद करते हैं। हर किसी को विवाद की अपेक्षा आज्ञा-पालन में अधिक सुविधा रहती है। हर कोई यह चाहता है कि उसने जो समाधान प्रस्तुत किया है, उसे सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाये। और राज्य को छोड़ और सभी दलोंमें एक बड़ी अच्छाई है जो बड़े ही महत्त्व की है। वे ऐच्छिक संस्थाएँ हैं। उनके पास अन्त में दबाव डालने के लिए साधन नहीं होते। अगर मुझे अपना क्लब पसंद नहीं आता तो मैं उससे इस्तीफ़ा दे सकता हूँ। यदि मैं अपने चर्च से सहमत नहीं हूँ तो मैं उससे अलग हो सकता हूँ। औद्योगिक निकाय तक भी अपने सदस्यों पर अधिक से अधिक इतना ही दबाव डाल सकते हैं कि वे निकाय से मानसिक रूप से सहमत रहें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राज्य अपने सदस्यों की इच्छाओं पर जितना ध्यान देता है, दल को उससे कहीं अधिक अपनी परिस्थितियों से चालित होना पड़ता है। उसे मिल कर कार्य करने के लिए उनकी सचेत रज़ामन्दी का कहीं अधिक सहारा लेना पड़ता है। उसे उदासीन भाव से स्वीकार करने के जड़ स्वभाव का सहारा कम ही लेना चाहिए। अगर दल को सफल होना है तो उसे सहमति पर कहीं अधिक निर्भर करना होगा। यह सहमति सचेष्ट मानसिक क्रिया-कलाप से उत्पन्न होती है। दल को नयी परिस्थितियों के अनुसार ज्यादा जल्दी जल्दी पुनर्समंजन का कार्य करना होता है। राज्य की अपेक्षा इसे अपने सिद्धांतों में संशोधन करना होता है

---

[1] सोशल थ्योरी, पृष्ठ १२०।

ताकि प्रयोजन की और व्यापक व्याख्या की जा सके। उसका दंड उसी को अधिक महँगा पड़ता है। और अगर वह फिर से समंजन करने में असफल रहे, तो उसे और भारी दंड भुगतना पड़ता है। दल के सदस्य उससे इसलिए संबद्ध होते हैं कि वह जिन हितों की अभिवृद्धि करता है, उन्हें वे मूल्यवान समझते है। लेकिन वे स्वयं उन हितों को उतना मूल्यवान बिल्कुल नहीं समझते। इन हितों का उनके लिए सीमान्तिक उपयोग है और उनके सामने यह बात रहती है कि आगे चलकर यह निष्ठा इसकी जगह किसी और के प्रति रखी जा सकती है। अगर ब्रिटेन का चर्च ज़रूरत से ज़्यादा राज्य के अधीन है तो उसके अनुयायी उसे छोड़ कर कैथोलिक चर्च में चले जायेंगे। अगर लिबरल पार्टी की औद्योगिक नीति अनिश्चित सी है तो उसके सदस्य लेबर पार्टी में शामिल होते नज़र आयेंगे। "सर्वदा समान" की गर्वोक्ति भी रोमन कैथोलिक चर्च को इस बात के लिए प्रेरित नहीं करती कि वह अपने अनुयायियों से १८६४ के सिलेबस का परिपालन कराने की कोशिश करे। एक विशिष्ट कैथोलिक समाजवाद का विकास इस बात का प्रमाण है कि पोप के अच्युत होने का सिद्धांत शिष्टाचार के नाते ही मान्य है, उसका पालन नही होता। अगर रिपब्लिकन पार्टी अपने सदस्यों का ध्यान अपने भावी कार्यक्रम की अपेक्षा अपने अतीत की ओर आकर्षित करती है तो वह अपने सदस्यों को अपने प्रति विद्रोह के प्रयत्न में संलग्न पायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्त में दल इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनकी जीवन शक्ति और चेतना का आधार यह है कि उसके बारे में उसके दल के सदस्यों की क्या धारणा है। जो निष्ठा अपनी उपयोगिता सिद्धि नहीं करती, वह कभी स्थायी नहीं हो सकती। अगर उनके दायित्व ऐसे अनुभव से सहज अनुभूत नहीं होते जिनकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी हो, तो वे जड़ हो जाते हैं।

फ़ादर टाइरैल ने यह बात बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त की है। उन्होंने कहा है[1] "कार्डिनलों के सम्मान का कारण उनकी लाल पोशाक नहीं बल्कि मेरा यह निर्णय होता है कि वे सम्मान के योग्य हैं। एलिजाबेथ के समान मेरे निर्णय ने उन्हें प्रतिष्ठित किया हैं और मेरा निर्णय ही उन्हें अपदस्थ कर सकता है। संकट में हम नहीं, बल्कि वे हैं।" वास्तव में किसी दल की सत्ता इस बात पर निर्भर होती है कि वह किस हद तक सप्राण और सहज विश्वास प्राप्त कर सकता है। यदि वह अपने को धोखा देता है तो फिर उसे वह वफ़ादारी नहीं मिलती जो उसका मुख्य आधार होता है। और जग की तरह से यहाँ भी स्पष्ट है सामाजिक क्रिया-कलाप का वास्तविक क्षेत्र व्यक्ति का अपना मस्तिष्क है। उसका अनुभव उसे निर्णय करने के लिए बाध्य करता है और देखा जाये तो सारे निर्णय एक विकल्प मात्र ही तो होते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इस विकल्प के साथ ही दण्ड की संभावना है। जिस सैनिक का यह विश्वास हो जाये कि दबाव डालना नैतिक दृष्टि से ग़लत है, उसके लिए अपने हथियार रख देने के अलावा और कोई चारा ही नही है। लेकिन उसे अपने इस फ़ैसले के कारण कष्ट भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार जिस पादरी का अपने धर्म से विश्वास उठने लगे उसके लिए अपने पद से

---

१. एम. डी. पेट्रे द्वारा रचित जार्ज टाइरैल का जीवन-चरित पृष्ठ १९६।

इस्तीफ़ा देने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है। व्यक्ति के अनुभव में एक समय ऐसा आता है जबकि टाइरैल[1] के शब्दों में "वह अपने जीवन के प्रबल प्रभाव का अनुसरण करने के लिए उन्मुख होता है, चाहे इससे सारे संसार का ही दिल क्यों न टूट जाय।" यह एक ऐसी बात है, जिससे सब प्रकार की सत्ता, चाहे वह ऐच्छिक हो अथवा अनैच्छिक, प्रभावित होती है। वफ़ादारी एक ऐसी चीज़ है, जो हमारे हृदय जीत कर प्राप्त की जाती है, वह हम पर थोपी नहीं जा सकती। यह हमारे अपने अनुभव से सहज ही उत्पन्न होनी चाहिए और जो निकाय हमें अपने प्रति वफ़ादार बनाये रखना चाहता है, उसमें अपने को इस अनुभव के अनुरुप, जो सदैव परिवर्तनशील है, निरन्तर ढालते रहने की क्षमता होनी चाहिए। इसमें उसे पूर्ण सफलता कभी नहीं मिलेगी। इंसान अल्लाह का कलाम बन कर कभी संतुष्ट नहीं रह सकता। अपने साथियों से उसमें जो अन्तर होता है, वह उसे समाहित होने से रोकता है। हमारी चेतना है कि हम अपनी सिद्धि एकता में नहीं, विविधता में करते हैं। हम दूसरों से अपनी पृथक्ता और घनिष्ठता, दोनों के प्रति सचेत रहते हैं। हम उस पृथक्ता को उन असमंजसताओं से वास्तविक सिद्ध कर देते हैं, जिनसे हमें यह अवगत कराती हैं। हम इस भावना के बिना कार्य नहीं कर सकते कि हम आंशिक रूप से ही अपने साथियों के साथ हैं और सो भी कुछ अंशों में ही जिससे अन्त में एकता स्थापित नहीं हो पाती। हमारी पृथक्ता चाहे कितनी ही असुविधाजनक क्यों न हो, वह बहुत ही व्यापक है और इससे बचा नहीं जा सकता और इस कारण हमें संपूर्ण सृष्टि में कोई एक ऐसी वर्णमाला प्रतीत नहीं होती जिसके हम सब क्रमबद्ध अक्षर हों, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि जगह-जगह अनेक असंबद्ध चिन्ह अंकित कर दिये गये हैं जिनके कुछ अंश ही हमारे लिए ऐसा अर्थ रखते हैं, जिसे हम स्वीकार कर सकते है।

अगर यह सच है तो इसका मतलब यह निकलता है कि समाज में आवश्यक अन्विति नहीं है। इसके ढांचे में कहीं-कहीं कुछ अन्वितियाँ हैं, जिनमें कुछ कम क्षणिक हैं और कुछ अधिक। लेकिन ये अन्वितियां सदा बाहरी हैं और केवल अपनी चौहद्दी पर आपस में मिलती हैं। ये वे साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपनी सिद्धि करते हैं, वे लक्ष्य नहीं जिनमें वे अपने आपको पाते हैं। मनुष्य होने के नाते हम किसी संबंध में पूर्णत: शामिल नहीं होते, हमारे चारों ओर एक ऐसा परिवेश होता है, जो हमें दूसरों से अलग करता है या अधिक से अधिक उसके साथ हमारा मिलन आंशिक होता है क्योंकि हमारे मन, कम से कम जहाँ तक सामाजिक सिद्धांत का सवाल है, ससीम मन हैं। हम सब चीज़ें नहीं, केवल कुछ ही चीज़ें जानते हैं। और हम जो कुछ जानते भी हैं, वे सब आपस में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। हमें चेतना के संसार को उसी रूप में स्वीकार करना होगा, जिस रूप में कि हम उसे देखते हैं। हमें उसके लाभों व हानियों और उनके संघर्षों और विजयों को स्वीकार करना होगा और यह मानना होगा कि जिस संसार में हम रहते हैं वह देश-काल समन्वित यथार्थ जगत है। हमें जो बुराई दिखाई देती है, उसे यथार्थ मानना होगा न कि केवल उसका आकार, जिसे अच्छाई के साथ समंजित किया जा सकता है। सामाजिक तथ्य की हमें जो संसार में

---

१. वही २-१४२।

अन्विति दिखाई पड़ती हैं, वह कभी पूर्ण अन्विति नहीं है। हम सब एक ऐसे लक्ष्य की खोज में हो सकते हैं, जिसे समान लक्ष्य कहा जा सकता है, लेकिन यह केवल कहने भर को ही समान है। मेरे लिए जो जीवन अच्छा है, वह आपके लिए अच्छा नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसमें सादृश्य होते हैं। एक सुव्यवस्थित समाज में इतना सादृश्य होता है कि वह सामाजिक शांति को कारगर बनाने के लिए काफ़ी होता है। लेकिन सादृश्य में समानता निहित नहीं है। हम जो चीजें चाहते हैं, वे एक-दूसरे के साथ मेल नहीं खातीं। हम जो कुछ देखते हैं, वह एकवादिता नहीं, अनेकवादिता है। ऐसा कोई स्तर नही जहाँ पर मतभेदों को भुला कर किसी प्रकार पूर्ण एकता स्थापित की जा सके।

अगर यह सच है तो निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारे संबंधों में जो ऐक्य है, उसकी आपूर्व स्थिति नहीं है। हमारे विविध वर्ग एक व्यापक अद्वैत पूर्णता में पर्यवसित नहीं हो जाते। हमसे जब और जैसे बन पड़ता है, हम उनका साथ-साथ विकास करते हैं। हम एक-से प्रयोजन खोज कर, विभेद में समता ढूँढ़ कर और एक-से स्रोत की दुहाई देकर संबंधों के साधन जुटाते है। हम जो एकता पा लेते हैं, वह हमारा अपना योगदान है—पर केवल आंशिक रूप से। मैं 'क' के साथ उद्योग में सहयोग कर सकता हूँ जबकि यह भी संभव है कि दूसरी ओर मैं उसे धार्मिक अधिकार से वंचित करने का प्रयत्न कर रहा होऊँ। आस्ट्रिया-हंगरी को उनको पहले वाला रूप देकर चैकोस्लवेकिया को उसकी पुरानी जगह पहुँ-चाने का इच्छुक होते हुए भी मैं चैकोस्लावाक-साहित्य के अध्ययन का सच्चा हिमायती हो सकता हूँ। कहने का मतलब यह कि मैं संपूर्णताओं में अपने आपको फँसाये बिना भी अंशों से अपना संबंध जोड़ सकता हूँ—अथवा यों कहूँ कि हम एक सृष्टि में नहीं, अनेक सृष्टियों में रहते हैं। हम किसी अन्तिम संश्लिष्ट अन्विति के दावों को मान्य नही समझते, उन अन्वितियों के दावों को समझते है, जिनके प्रति हमें सहानुभूति होती है। उन दावों के प्रति हमारी अनुकूल प्रतिक्रिया होती—पर वे हमें किसी ऐसी महान व्यवस्था के अंग नहीं लगते जो किसी तर्क-सम्मत अनुक्रम से अपने खंडों से पूर्णता की ओर बढ़ती हो। हमारे संबंध किसी महान् स्वर-साधना में तारों जैसे नहीं होते जिसमें असली महत्त्व उस अन्तिम प्रभाव का होता है जो कि श्रोता पर पड़ता हो। हमारे प्रत्येक अनुभव-खंड हमारे लिए यथार्थ होता है—इसलिए हमारी निष्ठाओं को रूप देने मे हर अनुभव-खंड की आस-क्तियों का हाथ रहता है। निष्ठाओं के उस क्रम में संतुलन कैसे रहे? कब और कहाँ ज़ोर दिया जाये—यह फ़ैसला हम में से हर एक को अलग अलग करना पड़ता है क्योंकि वह संपूर्ण क्रम हमारा है—बिल्कुल हमारा अपना। हमारे लिए उसका समाधान दो-टूक फ़ैसला कराने वाला होता है। हमारे लिए उसकी सत्ता इस कारण से है कि वह हमारे मन, हमारे अन्तःकरण में विकसित हुआ है—यानी अन्ततोगत्वा वह हमारा ही अंश है। किसी और क्रम को मान लेना अपने अनुभव को दूसरे के अनुभव का गुलाम बनाना है। इसका मतलब है मैं अपने व्यक्तित्त्व को—जिसके कारण मैं 'मैं' हूँ—किसी और की इच्छाओं पर और उन इच्छाओं पर आधारित संकल्पना पर निछावर कर दूँ। परन्तु मुझमें और किसी और में कभी इच्छाओं की इतनी समानता होती ही नहीं कि इस तरह का कोई सच्चा हल निकल सके। मैं अपने लिए जिस तरह के सहयोग की ज़रूरत महसूस करता हूँ, उसका स्वरूप जेम्स

के शब्दों[१] में सान्धानिक है, साम्राज्यिक नहीं। मैं जो खोजता हूँ वह ऐसी सक्रिय संकल्पना का केन्द्र नहीं, जिसमें मैं स्वयं ही खो जाऊँ बल्कि ऐसा केन्द्र है जिसकी संकल्पना में मैं अपनेपन का—अपने विशिष्ट तत्त्व का—योग दे सकूँ।

अगर यह सच है तो इसकी मैं जो विवक्षाएँ समझता हूँ वे राजनीति-दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अब प्रमुख महत्ता अन्विति की खोज की नहीं रह जाती, बल्कि इस बात की हो जाती है कि उस अन्विति का फल क्या है? और उसको जो कुछ फल हो उसमें वे नतीजे भी शामिल होने चाहिएँ जिन्हें मैं अपनी आवश्यकता का अभिव्यंजक मानता हूँ और इससे भी अधिक वे नतीजे जिनके निकालने में मैं समझता हूँ कि मेरा भी योग रहा है—ऐसा होगा तभी उसके प्रति मेरी निष्ठा हो सकती है। अगर मैं अपनी आवश्यकताओं को सार्थक नहीं बनाता तो वे अनभिव्यक्त रह जायेंगी। जो फ़ैसले मेरे व्यवहार को बाधित करते हैं उनमें मेरा व्यक्तित्व भी परिलक्षित होना चाहिएँ। अगर ऐसा नहीं तो जो सामंजस्य होता है, वह न केवल मेरे लिए ही बल्कि उन वर्गों के लिए भी सांयोगिक अर्थ ही रखेगा जिनके माध्यम से मैं आत्म-अभिव्यक्ति करना चाहता हूँ। मेरे योग के बिना जो अन्विति सिद्ध होगी वह अपने बनाये हुए नये परिवेश से मेरा सामंजस्य भले ही करा दे परन्तु वह सृजनात्मक सामंजस्य न होगा। एक बार यह महसूस कर लिया जाये कि जो संघटना हो रही है वह मेरे क्रिया-कलाप का आधान करने के लिए है तो यह प्रकट है कि उसे बनाने में मेरा हाथ होना ही चाहिए। इसके बिना जो कुछ भी बन कर तैयार होगा वह पूर्ण नहीं बन सकता। "जो कुछ संश्लेषण होगा उसमें मेरा कुछ न कुछ अंश ज़रूर ही उपेक्षित रह जायेगा। परन्तु अगर उसमें मेरा भी हिस्सा उतना ही रहा है, जितना किसी और का तो ज़ाहिर है कि उस संश्लेषण में मुझे उतना विश्वासघात अथवा उतना कतरा जाने का प्रयत्न नहीं दीख पड़ेगा। अपने घर में और जेल की कोठरी में रहने में जो फ़र्क है, वही इसमें है। एक में मेरा स्वत्व जुड़ जाता है—वह ऐसी चीज़ हो जाती है जिसमें और जिसके द्वारा मैं जीवन के संबंध में अपनी विशिष्ट समझ का योग दे सकता हूँ। दूसरे में मुझ पर ऐसी एकरूपतायें थोप दी जाती हैं, जिन्हें बदलने की सामर्थ्य मुझमें नहीं होती। रूप और क्रिया-कल्प की नित-चर्या मुझे उस हालत में माननी ही पड़ती है। मेरा स्वत्व जुड़ जाने से उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। यह बराबर मेरे व्यक्तित्व से बाहर की चीज़ रहती है। यह दुनिया में मुझे जगह देने की बजाय दुनिया से मेरा विच्छेद ही करती है। ऐक्य बढ़ाने की बजाय वह अव्यवस्था का ही निश्चित कारण बनती है।

मैं समझता हूँ कि इसका राजनीतिक निष्कर्ष बिल्कुल साफ़ है। सामाजिक संगठन का स्वरूप सांधानिक होना चाहिए—तभी वह उचित और पर्याप्त होगा। उसमें मैं और राज्य—अथवा मेरे वर्ग और राज्य—ही नहीं समाये रहते वरन् ये सब और इनके अन्तर्-संबंधों का भी अन्तर्भाव उसमें रहता है। जब मैं राज्य की माँग का जवाब देता हूँ तब मेरे और राज्य के बीच ऐसी प्रक्रिया शुरू हो जाती है जो माँग और जवाब दोनों को ही बदलती है। उस प्रक्रिया पर राज्य के और मेरे संबंधों का ही प्रभाव नहीं पड़ता वरन् उस

---

१. 'पोलिटिक यूनिवर्स'—पृ० ३२१

समूचे परिवेश का पड़ता है, जिसमें मैं अपने आपको पाता हूँ। राज्य मेरी निष्ठा की वाछा भर करके धर्म से, श्रमिक संघ से और समागम की ऐसी ही अनेकानेक संस्थाओं केसाथ मेरे संबंधों मे परिवर्तन ला देता है। यह परिवर्तन उसे मान्य बनाना चाहिए। उसे मेरे सामने यह साबित करना चाहिए कि वह मुझसे जो सामंजस्य करने के लिए कहता है, उससे मेरी परितुष्टि बढ़ेगी। ऐसा वह यह प्रदर्शित करके ही कर सकता है कि जो परिवर्तन किये जाते हैं वे उन अन्य समागम संस्थाओं पर थोपे नहीं जा रहे वरन् अनुभव-जन्य हैं। उसे यह साबित करना होगा कि उसकी माँग के फलस्वरूप दोनों ओर ही कल्याण होगा—और कल्याण का मतलब है मेरा कल्याण, और दूसरों का भी। उसकी सृष्टि सहयोगमूलक होनी चाहिए जिसमें मैं महसूस कर सकूँ कि मैंने भी हाथ बँटाया है। वह कल्याण ऐसा होना चाहिए जिसे मै विरागपूर्वक स्वीकार न करूँ, बल्कि जिसके प्रति मेरी प्रतिक्रिया ऐसी हो कि अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि करते-करते मैं प्रयोग भी करता चलूँ। वह सिद्धि मेरी अपनी होनी चाहिए—सबसे बड़ी बात तो यह है। जब अपनी जानकारी के बल पर मैं यह अनुभूति करने लगता हूँ कि मैं क्या हो सकता हूँ, तभी मेरी अपनी नैसर्गिक शक्तियों की सच्ची उद्बुद्धि शुरू होती है।

— ३ —

सत्ता की समस्याओं में मैंने इसी अध्याय में पहले जिन दो मसलों की रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उनके हल का और नही तो रास्ता तो यह है ही। राजनीति के श्रेण्य सिद्धांत की तरह यह समाज की आवश्यक अन्विति को पहले से ही मान कर नहीं चलता, और उस अन्विति के अधिकरण के रूप में राज्य की सर्वोच्चता का आग्रह भी नहीं करता। इस हल में यह माना गया है कि जीवन के समीकरण में जो विविध तत्त्व है, उन्हें देखते हुए असमानताओं को मानना अनिवार्य हो जाता है। उसमें यह भी माना गया है कि अन्विति है नहीं, उसे बनना पड़ता है। वह प्रोक्रयूस्तेस† की अन्विति नहीं माँगता जिसमें आदमी के व्यक्तित्व को किसी ख़ास वक्त राज्य पर प्रभत्व रखने वालों के सूत्र के अनुकूल ढालने के लिए चाहे जैसे ठोक पीट लिया जाता है। अन्विति तो वह है, पर कैसी?—हिंस्र पशु और उसके शिकार केबीच जैसी होती है। वह तो हितों के ऐसे संसर्ग से जनित एकीकरण पर ज़ोर देता है, कि जो हल निकले उसमें प्रत्येक को, परिणामों को लेकर, प्रयोग करने के लिए, काफ़ी रियायत मिली हुई प्रतीत हो। उसमें यह भी दलील नहीं दी जाती कि वह हल सफल रहेगा या यह कि वह मान लिया जाना चाहिए क्योंकि वह हल है। उसके अनुसार अधिकार कोई गतिशून्य चीज़ नहीं है—अनुभव के पात्र में पड़ कर उसके नित नये रूप निखरते रहते है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि उसके अनुसार लोग अपने विविध संबंधों में उसके दावे के नतीजे को परखते हैं और उस दौर में वह जो अपनी महत्ता सिद्ध करता है, वही उसकी महत्ता होती है। उसमे माना गया है कि आज्ञाकारिता वांछनीय है क्योंकि आम तौर से संघर्ष की अपेक्षा व्यवस्था अच्छी चीज़ है। लेकिन उसमें यह भी है कि आज्ञाकारिता सृजनात्मक तभी होती है

---

†एक यूनानी दस्यु जो अपने बन्दियों के पैरों का हिस्सा काट देता था ताकि वे पलँग में समा जायें।

जब वह अपने ऊपर अपने ही आप लागू किये गये अनुशासन मे उद्‌बुद्ध हो। उसके अनुसार क़ानून का अत्यावश्यक तत्त्व उन लोगों से नही लिया जाता जो उसे क़ानून के रूप में घोषित करते हैं वरन् उस आदेश से प्रभावित लोगों पर उसके सार-तत्त्व के समाघात से गृहीत होता है। अतः नैतिक दृष्टि से आदेश निष्पक्ष होते हैं—लोगों की ज़िन्दगियों में उनका जो कुछ असर होता है, उसी हिसाब से वे सही या ग़लत हो जाते हैं। और उनके अधिक कारगर होने की सम्भावना इसलिए है कि उनके लागू करने में जो कुछ निहित होता है उसकी निष्पत्ति और संचालन उन लोगों द्वारा ही होता है जिनके लिए वे आदेश जारी किये जाते हैं। वह अपना आधार इस बात को बना कर चलता है कि प्रत्येक अनुभव सीमित होता है, कि जो मैं चाहता और करता हूँ, वह ऐसा निष्कर्ष है जो मेरे संकीर्ण ज्ञान-क्षेत्र से सीमित है और उसी आधार से फिर वह मेरे अनुभव को इतना विस्तार देता है कि वह ज्ञान के व्यापकतम उपलब्ध भंडार के अनुकूल हो जाये और उसका अंग बन जाये।

इस स्थल पर पहुँच कर वह निश्चित ही प्रतिनिधित्व का सिद्धांत बन जाता है। वह समन्वय की आवश्यकता भी स्वीकार करता है यद्यपि उसका यह भी आग्रह है कि कितना ही समन्वय क्यों न हो जाये, वह हमेशा आंशिक ही होता है। परन्तु किसी राज्य के विधानांग द्वारा लागू किये गये समन्वय के उस सीधे-सरल दृष्टिकोण को वह नही मानता जो मिसाल के के लिए, जान स्टुअर्ट मिल की, 'प्रतिनिधि सरकार' में अन्तर्हित है। अमरीका की मिसाल देते हुए श्री लिपमैन[1] कहते हैं "सिद्धांत यह है कि हर प्रदेश का श्रेष्ठ व्यक्ति अपने निर्वाचकों का श्रेष्ठ विवेक केन्द्र में ले आता है और जब ये सब विवेक पुंजीभूत हो जाता है तो उससे अधिक विवेक कांग्रेस को और क्या चाहिए?" जाहिर है, इस तरह की कोई बात नहीं होती। अधिकांश लोगों का विवेक इतनी आसानी से केन्द्रीय विधान-मंडल में उनके प्रतिनिधि को मुहैय्या नहीं हो जाता। जो चुनते हैं, वे प्रायः यह नहीं कह सकते कि वह विवेक है क्या? जो चुने जाते हैं वे भी—कभी स्वार्थवश, कभी मूर्खतावश—उस विवेक की व्याख्या नहीं कर पाते जो स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करता है। हमारे सामने जो भी तथ्य मौजूद हैं, वे इस विचार का खंडन करते है कि मेरी संकल्पना और मेरा अनुभव, किसी रहस्यमय ढंग से मेरे प्रतिनिधि की संकल्पना और अनुभव में मूर्तिमन्त रहते हैं। जैसा कि रूसो ने कहा था—मेरी संकल्पना का कभी प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता, और मेरा अनुभव स्वत्व से इतना ओत-प्रोत रहता है कि वह केवल मेरा अपना अनुभव होता है। किसी भी औसत विधान-सभा में, जिन लोगों के कार्य-कलाप में मैं वही प्रयोजन निहित देखूं, जो बहुत कुछ मेरा है, तो वे मेरा सहयोग पा सकते हैं। उस कार्य-कलाप से मैं उन हितों का पता लगा सकता हूँ, जो मेरे हितों से मिलते-जुलते हों, उन अनुभवों का पता लगा सकता हूँ जो मेरे अनुभवों के अनुकूल हों। प्रतिनिधित्व की समस्या मुझे उन लोगों से संपर्क रखने योग्य बनाने की समस्या है।

यह बात समझ रखनी चाहिए कि मेरा संपर्क अक्सर सीधा और घनिष्ठ न होगा। राजनीति के बदलते हुए दृश्यों में एक दूसरे की आंशिक से अधिक झांकियाँ पाने का अवसर ही नहीं होता। राज्य में इतने लोग होते हैं और इतना कुछ करनेको होता है कि केन्द्रीय विधान-

१. पब्लिक ओपीनियन, पृ० २८८।

मंडल जो समन्वय करता है वह बहुत ही मोटा, अनिश्चित अन्दाज़ा भर होता है। वहाँ जो विचार अभिव्यक्ति पायेंगे वे सशक्त और मुखर विचार ही होंगे। उनमें समाज के हितों की समष्टि प्रतिबिंबित न होगी क्योंकि—सच्ची बात तो यह है कि—वैसा होना संभव ही नहीं। आधुनिक राज्य के आकार-विस्तार के कारण लोगों के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि वे सिद्धांतों और प्रशासन का सीधा नियंत्रण समर्पित कर दें। बड़े-बड़े आम फ़ैसलों के बारे में वे 'हाँ' या 'ना' कह सकते हैं—वे उन्मुक्त व्यापार की हिमायत और बच्चों के श्रम का विरोध कर सकते हैं। पर आम तौर से उन्हें अपनी तरफ़ से 'हाँ' या 'ना' कहने वालों का चुनाव करके अपनी संकल्पना व्यक्त करनी पड़ती है। उन्हे यह समझ रखना चाहिए कि इस तरह चुने हुए लोग इस अर्थ में प्रतिनिधि न होंगे कि (१) वे पहले से अपने विचारों की जानकारी सबको करा दें; या (२) नयी समस्यायें उठने पर अपने प्रस्तावित विचार जाँच-परख और मंज़ूरी के लिए अपने चुनने वालों के सामने रखें। काम का दबाव उन्हें इस तरह आराम-आराम से चलने नहीं दे सकता। औसत नागरिक इसी प्रत्यक्ष शक्ति की आशा कर सकता है कि एक तो समय-समय पर उसे, यदि वह चाहे, तो समन्वयी सत्ता को बदलने का अवसर दिया जाये, और बीच-बीच में जिन वर्गों का वह अंग है, उनका उपयोग करके उस संस्था पर दबाव डालने का।

यह विवेचन आदमी को ऐसी अवश अवस्था में ले आता है कि बहुतों ने समन्वय-कार्य के लिए और ही आधार सुझाया है। मिसाल के लिए श्री कोल समाज को कृत्यों का पुंज मानते हैं और वे किसी अप्रत्यक्ष अधिकरण को अन्तिम समन्वयी सत्ता बनाना पसंद करेंगे जिनमें उन कृत्यों की ओर से प्रतिनिधि रखे जायें।[1] मैं इस विचार को पहले ही रद्द कर चुका हूँ।[2] मुझे तो यह बात बिल्कुल प्रकट दिखायी पड़ती कि समन्वयी निकाय में चुनाव का आधार वैयक्तिक होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति विभिन्न कृत्यों के साथ उपबन्धनों का एक क्रम मात्र ही तो नहीं होता; मैं यह भी नहीं मानता कि सामाजिक जीवन के सामान्य सिद्धांत के अनुकूल रहते हुए किसी विशिष्ट वरणात्मक दृष्टिकोण से उसका आख्यान किया जा सकता है। यह बात तो बड़ी अजीब और अभिभूतकारी लगती है कि एक अति समर्थ और सीधा निर्वाचित निकाय विविध मामलों के बीच से प्रवृत्तियों की एक धारा खींचता हुआ सा चला जाये। यह सच है कि नागरिक की हैसियत से मेरा पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता परन्तु यह भी सत्य है कि इंजीनियर, डाक्टर या बढ़ई के रूप में भी मेरा पूर्ण प्रतिनिधित्व संभव नहीं। और जो सरलता मुझे व्यक्ति के रूप में निर्वाचन करने का मौक़ा देती है, उसे रद्द करके एक ऐसे दृष्टिकोण को नहीं माना जा सकता जो समन्वयी निकाय को मुझ—नागरिक—से हाउस आफ़ कामन्स की अपेक्षा और भी दूर कर दे। समन्वयी निकाय की परितोष देने की सफलता इस बात पर निर्भर नहीं कि उसका प्रादेशिक आधार अस्वीकार कर दिया जाये। उसका निर्माण तो दूसरे से भिन्न और जटिल तत्त्वों पर हुआ है।

मैं समझता हूँ कि मोटे तौर पर इनकी तीन श्रेणियाँ हो सकती है। केन्द्रीय विधान-मंडल के सदस्यों के चारित्र्य और योग्यता का निस्संदेह महत्त्व है। कौन संस्था उन्हें उम्मीदवार

---

१. सोशल थियोरी, अध्याय ८, गिल्ड सोशलिज़्म रिस्टेटिड—अ० ७-९।

२. अध्याय २।

के रूप में नामजद करती है, किन शर्तों पर लोगों को उम्मीदवार किया जायेगा—इन सबका निश्चय ही महत्व है। आस्ट्रोगार्स्की और ग्राहम वालस जैसे लोगों के काम से सांसदिकता के वीभत्स स्वरूप पर बहुत प्रकाश पड़ा है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण अधिकांश में यही है कि हमारी सभ्यता सेवा के नहीं, अर्जन के दृष्टिकोण से संगठित है। उसमें इसी विचार की प्रधानता है कि सफलता का मतलब है धन—फलतः समाज में प्रवृत्ति की सामान्य धारा के उद्गम-स्रोत में ही विष घुला हुआ है। यहाँ फिर अधिकारों की उस प्रणाली का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है जिसकी रूप-रेखा म पहले दे चुका हूँ। प्रतिनिधित्व की उचित प्रणाली के विकास में यह दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वह समन्वयी निकाय के काम पर एक रोक-सी लगा देता है—वह उसके काम की परिसीमाएँ निर्धारित कर देता है। इसका मतलब यह है कि उसके बाहर एक शिक्षित अतः जागरूक—निर्वाचक-मंडल है और उसके फ़ैसलों को प्रभावित करने की शक्ति संपत्ति में हो भले ही, पर उसे बहुत सचेष्ट रूप से सीमित किया गया है। कहने का मतलब यह है कि वह सम्मति की अभिव्यक्ति में दखल नहीं दे सकती। इस प्रकार ऐसी पार्टियों का ही अस्तित्व होने की संभावना है, जिनके लक्ष्य अधिक यथार्थ होंगे और उनके बीच अगर संघर्ष भी होगा तो उसके फलस्वरूप राज्य के सामान्य प्रयोजनों को कदाचित् कोई आघात न पहुँचेगा।

तीसरी श्रेणी उस सूचना की है जो समन्वयी सत्ता के अधिकार में हो। मैं समझता हूँ कि उसका महत्त्व जितना भी आंका जाये, कम ही होगा। आप कांग्रेस या हाउस आफ़ कामन्स की किसी आम बहस में दिये जाने वाले भाषण पढ़िये और उनकी तुलना भौतिकी-विदों द्वारा की गई किसी भौतिकी सिद्धांत की आलोचना से करिये—आप यह देख कर सहम जायेंगे कि हम सामाजिक फ़ैसलों के लिए किस कोटि के प्रमाणों पर निर्भर रहते हैं। वह तीन तरह से सदोष होता है और ये तीनों ही बातें महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे पहले तो उसका जो क्षेत्र है, उसकी दृष्टि से वह अपर्याप्त है। मिसाल के लिए अगर कोई इंगलैण्ड की आवासन समस्या का अध्ययन करे तो उसे पता चलेगा कि वह जिन-जिन तत्त्वों पर निर्भर है, उनमें से किसी के भी बारे में सही-सही सूचना हमारे पास नहीं है। इसी तरह एक कोयला उद्योग ही ऐसा है, जिसके संगठन का व्यवस्थित सर्वेक्षण किया गया है। बिल्कुल सीधे-सीधे आँकड़े भी मौजूद नहीं जिन पर सफल शिक्षा-नीति निर्भर होती है। श्री लिपमैन[1] का कथन है, "सामाजिक प्रक्रियाओं का लेखा यदा-कदा होता है—और सो भी प्रायः प्रशासन की सांयोगिक घटनाओं के रूप में। जो आदमी दिये हुए आँकड़ों के बल पर सामान्य तथ्यों की घोषणा करता है, उसे इस बात का प्रायः बिल्कुल ज्ञान नहीं होता कि वे आँकड़े कैसे जुटाये गये हैं, अतः यद्यपि उस लेखे का संबंध उसके सह-नागरिकों के सचेत जीवन से होता है, पर फिर भी वह सब इतना घोर तमसाच्छन्न रहता है कि कुछ भी पता नहीं चल पाता। अगर हमें ऐसी सूचनायें जुटानी हैं, जिनसे निर्भ्रांत निष्कर्ष निकाले जा सकें तो निर्दोष तथ्य अन्वेषण के काम का बड़ा विकास करना होगा और यह भी कह दें कि यह एक महत्त्व पूर्ण रास्ता है जिससे सार्वजनिक प्रेस द्वारा पैदा की हुई धारणाओं को पुरा-कथाओं के से वातावरण से व्याप्त किया जा सकता है।

---

१. पब्लिक ओपीनियन, पृष्ठ ३७४

परन्तु तथ्यों का अन्वेषण एक बात है, उनकी व्याख्या करना और बात। तथ्यों का मूल्याकन वे करते हैं जिनके लिए उनका सीधा महत्त्व होता है। यहाँ तो महत्त्व उस तरीक़े का है जिनसे समन्वयी सत्ता अपने सेव्य अनुभव-पुंज से जुड़ी रहती है। अभी तो यह संपर्क अधिकांश में संबंधों का एक अस्त-व्यस्त वर्ग मात्र है। जो राय छन-छन कर आती है, और फलत: समन्वयी सत्ता को जो महत्ता मिलती है, वह हर बिन्दु पर आकस्मिक है और अस्त-व्यस्त है। समन्वय का औचित्य दो बातों पर निर्भर है—एक तो उस तरीक़े पर जिससे वह उस अनुभव से निर्मित होता है जिसका समन्वय करना हो और दूसरे उस उपाय पर जिसके द्वारा तय किये हुए हल को बादमें क्रियान्वित किया जायेगा। मै इन सवालों का थोड़ा-बहुत विवेचन तो कर ही चुका हूँ और बाद में सविस्तार बताऊँगा कि मुझे इनमें कौन-कौन सी संस्थाएँ निहित प्रतीत होती हैं। यहाँ तो उन आधारों का इंगित कर देना भर काफ़ी है जिनके कारण मैं इस संपर्क की महत्ता पर ज़ोर दे रहा हूँ—अगर प्रतिनिधित्व को कारगर होना है।

मैं यह कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि लोगों के लिए काम करने का एक ही ढंग है कि उनसे ख़ुद ही अपने लिए काम कराया जाये और जो लोग किसी स्थिति से बाहर खड़े हों उन्हें उसके विषय में ज़िम्मेदार बनाने का यही तरीक़ा है कि उनके दिमाग़ों को जो स्थिति में फँसे हुए हैं उनके दिमाग़ों के क़दम-ब-क़दम चलाया जाये। पर उन्हें ऐसे लोगों को न छाँट लेना चाहिए जिन्हें वे स्थिति विशेष में पड़ा हुआ समझते हों—जैसे, मिसाल के तौर पर आज[illegible] की सरकारें, जो जाँच-पडताल करती है, उनमें श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने [illegible]ए ऐसे श्रमिक-संघियों को चुन लेती हैं जो मज़दूरों के मन से बिल्कुल संपर्क खो चुके रहते हैं, इस प्रकार चुने जाने वाले लोग वे ही होने चाहिएँ जो उन हितों द्वारा मनोनीत किये जायें जिनसे परामर्श करना होता है। संक्षेप में, हमें ऐसे स्थायी और सतत अधिकरण चाहिएँ जिनमें फ़ैसले किये जाने से पहले सलाह मशविरा किया जाये। अगर खानों के बारे में विधान प्रस्तुत किया जाये तो हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि खान मंत्री ने खान से सीधा संबंध रखने वाले सभी हितों की राय और तथ्यों को अच्छी तरह तोला समझा है। एक बड़ा स्फुट उदाहरण लें—हमें ऐसी प्रणाली चाहिए जो सरकारी बिलों के लिए भी वहीं करे जो हाउस आफ़ कामन्स में आज ग़ैरसरकारी बिलों के लिए किया जाता है। —और अधिक संगत और व्यवस्थित ढंग से वैसा करे यानी समन्वयी सत्ता और उससे प्रभावित वर्गों के संबंध में एक ताना-बाना कस देने की ज़रूरत है क्योंकि तब जो फ़ैसला होता है उससे उस वर्ग की भी साझेदारी हो जायेगी। हम उससे उस फ़ैसले का भलीभाँति विवेचन-विश्लेषण कराते हैं, ताकि जिस संकल्पना को क्रियान्वित किया जा रहा है, उसमें उसका अनुभव भी घुल-मिल जाये। अपने निर्माण की आवश्यक नींव जब तक वह न खोज ले, तब तक हम उस संकल्पना को साकार नहीं रहने देते। प्रत्येक सामाजिक करण के प्रयोजन को हम ऐसे एके में ढाल लेते हैं कि वे अपने प्रयोजन को इस प्रकार देखें कि इस ऐक्य के औचित्य को भी मानें। अपने सामाजिक फ़ैसलों को यथासंभव अधिक से अधिक व्यापक क्षेत्र से उद्भूत करा के हम आविष्कार-वृत्ति की अभिवृद्धि कर सकते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि हल ढूँढने की इस पद्धति से हम हर प्रकार की असहमति

का परिहार कर पायेंगे। समाज में हितों की इतनी विविधता होती है कि लोगों का विचार-विमर्श द्वारा अपने मतभेदों को दूर कर पाना हमेशा ही सम्भाव्य नहीं होता। धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के सम्बन्ध में कृतनिश्चय समन्वयी सत्ता स्पष्टतः ही रोमन कैथोलिक चर्च के प्रतिनिधियों को अपने विचार मान लेने पर राजी नहीं कर सकती। लेकिन मैं यह समन्वय मानता हूँ कि अगर संयुक्त रूप से मतभेदों का विश्लेषण किया जाय तो कोई न कोई ऐसा समझौता मिल जायगा जहाँ दोनों ही यह अनुभव करें कि उनके प्रयोजन की मुनासिब उपलब्धि हो गई है। यह भी असम्भाव्य नहीं कि यह बात उन बहुत-सी समस्यायों पर लागू हो जिन्हें हम आज बिल्कुल परस्पर-भिन्न विकल्प माने बैठे हैं। मैं समझता हूँ कि यह सम्भव है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के हिमायती और विरोधी अगर विचार-विमर्श करें तो कोई ऐसी योजना ढूँढ सकते हैं जिसमें एक ओर तो नौकरशाही की आशंकाओं का निराकरण हो जाय और दूसरी ओर अनुत्तरदायी पूँजी का भी डर मिट जाय। मैं मानता हूँ कि ऐसी समस्यायें भी आयेंगी जहाँ विभिन्न पक्ष यह सोचेंगे कि उनके साथ अन्याय किया गया है और वे समर्पण कर देने की बजाय संघर्ष करना अधिक पसंद करेंगे। ऐसे भी अवसर होंगे जब अन्याय की यह शिकायत सच्ची होगी और उनका संघर्ष का इरादा समझ में आने वाला होगा। पर हम, कम से कम, उस खतरे को कम जरूर कर सकते हैं।

पर जब कोई हल हो जाता है तो उस पर अमल करना होता है। मैं समझता हूँ भावी आविष्करण के लिए यही सबसे बड़ा क्षेत्र है। समन्वयी सत्ता के फ़ैसलों में जितनी कम पेचीदगियाँ और बारीकियाँ होंगी, जितनी अधिक नम्यता होगी—जिससे सृजनात्मक समंजन सम्भव हो सके—उतने ही अधिक फ़ैसले सफल हो सकेंगे। सहायता-अनुदान के सिद्धांत में हमने इस तथ्य को कुछ हद तक स्वीकारा है। जहाँ डुमीनियनों की संकल्पना सम्बद्ध हो, वहाँ संसदीय प्रभुत्व के निरसन में हमने इस सिद्धांत को और भी अधिक माना है। जरूरत तो इस बात की है कि ऐसे रास्ते अधिक से अधिक हों जिससे आम नागरिक स्तरों की स्थानीय रूप से लागू संविधियों में व्यापक क्रियान्विति हो सके। उस आम स्तर की परिधि में हम सूती कपड़ा उद्योग को अपने लिए विधान बनाने देंगे जो स्थूलतः समाज का लक्ष्य हो। हम उसे ऐसे अधिकरणों का विकास करने देंगे जो उसकी ओर से व्यापक रूप में पहलक़दमी कर सकें। युद्ध के अनुभव ने इस तरह की सम्भावनाओं पर बहुत प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ सूत-नियंत्रण बोर्ड एक ऐसी मिसाल है जहाँ तय किए हुए हल कारगर हुए क्योंकि उन्हें वे ही लोग लागू करते थे जो सीधे उनके परिणामों पर निर्भर थे और अगर व्यवस्थित किये जाने वाले हितों की प्रायः परस्पर-प्रतिकूल प्रकृति ध्यान में रखी जाय तो और भी अधिक सफलता मिलती है।[1] लड़ाई के दौरान में निर्माण-समिति के काम के लेखे से सीधा सबक यह मिलता है कि अपने आप अपने ऊपर थोपी गई सत्ता के फलस्वरूप जो हल होते हैं वे बाहर से लादी गई सत्ता के द्वारा किये गये हलों से कहीं ज्यादा अच्छे

१. देखिए—एच. डी. हेण्डरसन—दी कॉटन कण्ट्रोल बोर्ड (१९२२) और अधिक सामान्य रूप से ई. एच. एम. लॉयड—एक्सपेरिमेण्ट्स इन स्टेट कण्ट्रोल्स

रहते हैं।[२] शाप-स्ट्यूअर्ड आन्दोलन की शक्ति का आधार मुख्यतः यह तथ्य था कि साधारण जनों के साथ उनका संबंध भीतर से बाहर की ओर उन्मुख था, बाहर से भीतर की ओर अभ्युदिष्ट नहीं।[३] वे अपने संघटक अवयवों के साथ अपने सम्बन्ध इस भाँति समेकित कर सके कि दूसरे लोगों के लिए वैसा कर पाना सम्भव नहीं। उनकी वाणी कारख़ाने वालों के मन को इतने निकट से छू लेती थी जो कि और किसी की वाणी के लिए सम्भव न था क्योंकि वे स्वयं वहीं के थे। उनकी माँगों को भरपूर समर्थन मिला क्योंकि वे उसी प्रकार के अनुभव के आधार पर विकसित हुईं थी। हमें करना यह है कि राज्य की सापेक्षता में अपने औद्योगिक संगठन को इस प्रकार आयोजित करें कि राज्य के सामने जो आवाज़ उठाई जाय वह सचाई की और यथार्था की आवाज़ हो।

अगर मैं यह कहूँ तो मेरी बात शायद अधिक स्पष्ट होगी कि चूँकि समाज का स्वरूप मूलतः सन्धानीय है, अतः जो निकाय आवश्यक समानताएँ लागू करना चाहे उसका निर्माण इस ढंग से होना चाहिए कि असमानताओं के लिए भी उसमें जगह हो। अगर, जैसाकि मैंने कहा है, यह सच है कि मैं समग्रतः किसी भी संस्था में अन्तर्भूत नहीं तो कोई भी संस्था मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए सफलतापूर्वक विधान नहीं बना सकती। इसलिए कोई भी निकाय जो सीधे मुझ से निर्मित होता है किसी भी व्यक्ति से निःसृत होने वाले विविध सम्बन्धों को समन्वित नहीं कर सकता जब तक कि उसका उन सम्बन्धों के साथ कोई व्यवस्थित संसर्ग न हो। मैं समझता हूँ उस निकाय को करणों का करण बनाना व्यवहार्य नहीं है—इस माने में कि समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से उसकी निर्मिति हो। ऐसा निकाय बड़ा बेसँभाल और विच्छिन्न-सा हो जायेगा। उसे जिन सवालों का निपटारा करना पड़ेगा उनका उन क्षेत्रों से कोई संबन्ध न होगा जिनमें उसके सदस्य अपने निर्वाचन से पहले काम करते रहे होंगे। उदाहरण के लिए इंजीनियरों की किसी संस्था के विदेश-नीति के बारे में कोई आम विचार नहीं हो सकते—इंजीनियरी के सम्बन्ध में उसके अपने विचार अवश्य हो सकते हैं और विदेश नीति के ऐसे फ़ैसलों के सम्बन्ध में जिनका इंजीनियरों पर इंजीनियरों की हैसियत से असर पड़ता हो। प्रादेशिक राज्य का मामला अंतिम ऐसा मामला है जिसे वह हल्की-हल्की झाँकियों की स्थिति से ऐसी स्थिति में ले आता है जहां वह अपनी समग्रता में आलोकित हो उठे और उसमें वे सब हल्की-हल्की झाँकियाँ समा जाती हैं। यह समग्रता अपने आप में पूर्ण नहीं होती, पर्याप्त भी नहीं होती। पर यहाँ दी गई परिस्थितियों में उसके अधिक प्रभावी होने की सम्भावना है. ऐसे वर्गों से निर्मित तदर्थ निकायों में उसके इतनी प्रभावोत्पादक होने की सम्भावना नहीं जो प्रादेशिक संस्थाओं से जिनपर हम आज निर्भर करते हैं—किसी तरह कम कृत्रिम नहीं होते। और वह ऐसी एकमात्र भूमिका भी प्रस्तुत करती

---

२. तु० निर्माण–समितियों के सम्बन्ध में श्रम-मंत्रालय की रिपोर्ट (१९१९) विशेषतः पृष्ठ ३२, ११७.

३. तु० जी. डी. एच. कोल—वर्कशाप आर्गेनाइजेशन (१९२३) विशेषतः अध्याय ४, ५, १०, ११.

जिसपर लोग समानता की परिस्थितियों में मिल सकते हैं और वही उन अंतिम हलों को मान्य बनाती है जिन्हें हम स्वीकार करते हैं।

परन्तु चूँकि समाज सन्धानीय है, इसलिए सत्ता भी सन्धानीय होनी चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि इसमें यह बात निहित है कि उन्हीं हितों द्वारा फ़ैसले किये जायें जिन पर उन फ़ैसलों का असर पड़ता हो और फिर उनके द्वारा वे अमल में लाये जायें। इसका मतलब हुआ खनन-उद्योग को भी लंकाशायर की भाँति प्रशासन की एक इकाई बना दिया जाये। इसका मतलब यह हुआ कि शिक्षा-मंत्रालय चारों ओर से ऐसे निकायों से घिर जाये जिन्हें शिक्षा-प्रक्रिया में भाग लेने वाले विविध पक्षों की ओर से बोलने का अधिकार हो और इस बोलने के अधिकार के बल पर ही उनसे परामर्श लेना भी ज़रूरी समझा जाये। इसका अर्थ हुआ उस माने में प्रभु राज्य का उत्सर्ग जो उसे समाज के बराबर का दर्जा देता है और उसी नाते उसे समाज के अन्तर्गत आनेवाली संस्थाओं को आदिष्ट करने का अधिकार देता है। और प्रभुता के सिद्धान्त का उत्सर्ग करने का मतलब है सोपान-तन्त्र के सिद्धान्त का भी उत्सर्ग। वह आदमी की निष्ठा का भावन ऐसे समकेन्द्रक वृत्तों के क्रम के रूप में नहीं करता जिनमें सबसे बड़ा और सबका अन्तर्भाव करने वाला वृत्त राज्य होता है। हर नयी समस्या पैदा होने पर आदमी अपने अनुभव के अनुसार आज यहाँ बँध जाता है, कल वहाँ। यहाँ आग्रह इस बात का है कि उसकी चरम निष्ठा अपने से इतर किसी सामूहिक अस्तित्व के प्रति नहीं वरन् उन आदर्शों के प्रति होती है जो अनुभव के आधार पर उसके अन्तर्गत स्वीकार कर लिये हों। इसके अनुसार फ़ैसले करना उसका काम है, उसकी अपनी मर्ज़ी पर निर्भर है। ऐसा इसलिए कि अन्यथा मानवीय मूल्य अधिकांशतः खो जाते हैं और आत्म-कल्याण की भावना—जो अन्ततः सबसे अधिक मूल्यवान है—नष्ट हो जाती है। हमारी सिद्धियाँ अगर वास्तविक हैं और अगर ठोस और स्थायी हैं तो उन्हें प्रत्येक नर-नारी के आनन्द की वृद्धि करनी चाहिए। किसी धर्म के अनुयायियों का अगर उद्धार न हो तो धर्म की गरिमा बढ़ने से क्या लाभ हुआ? अगर किसी समाज के नागरिक व्यक्तियों की हैसियत से उसके लाभ में साझीदार नहीं रहते तो ऐसे समाज को समृद्ध बनाने से क्या फ़ायदा है?

इस बात से इन्कार करने की कोई ज़रूरत नहीं कि इस तरह जिस संगठन का उदय होता है, वह उससे कहीं अधिक जटिल होगा जो हमने विरासत में पाया है। इस जटिलता के कारण तथ्यों में निहित हैं। हमारी सभ्यता का आधार अधिकांशतः यह धारणा है कि शक्ति कुछ इने-गिने लोगों की चीज है और हमारी संस्थाएँ भी इसी बात को दृष्टि में रखकर बनाई गई हैं कि वे लोग शक्ति को अपने हाथ में बनाये रह सकें। मोटे तौर पर, वे लोकतन्त्रीय संस्थाएँ नहीं हैं क्योंकि वे इस बात का विचार नहीं करतीं कि उनके क्रिया-कलाप का कितनी प्रभूत अनुभूतियों पर असर पड़ता है। उनका दर्शन—जैसा—कुछ भी वह होता है—इतिहास के किसी पूर्व अवस्थान से ग्रहण किये हुए सिद्धान्तों से घिरा रहता है जब इतिहास की गतिविधि आम आदमी की उपेक्षा कर सकती थी। हमारे साध्य कुछ और ही हैं। स्वाधीनता से हमारा तात्पर्य है कि सभी को पहलक़दमी का अवसर हो, सिर्फ़ कुछ लोगों को नहीं; समानता से मुराद यह है कि हर व्यक्ति को उतना महत्त्व मिले,

जितने का वह अधिकारी हो और यह कि वह अन्य व्यक्तित्वों का दास बनकर न रहे। बिना बड़े-बड़े परिवर्तन किये हम राज्य-प्रयोजन के क्षितिज को इतना विस्तार नहीं दे सकते। हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसकी प्रक्रियायें सामान्यतः फ्रांसीसी क्रांति के अनुभवों से प्रेरित हैं। उसकी विधिवत्ता हमारे लिये अधिकांश में समाप्त हो चुकी है—या यह कहें कि उसकी पराकाष्ठा पर अनुभव की जितनी संपदा उसके सर्वेक्षण के दायरे में आ सकी, उससे कहीं अधिक व्यापक अनुभव पर वह लागू होती है। इस विस्तार के लिए हमें कुछ व्यवस्था करनी है।

यहाँ जिस संगठन का भावन किया गया है उसका आधारभूत सिद्धांत सरल है; उसे अमल में लाना भले ही जटिल काम हो। यह मानते हुए कि नैतिक मूल्य व्यक्तिगत होते हैं और यह कि हर व्यक्ति को अपनी प्रबुद्ध चेतना के आदेश के अनुसार कार्य करने का हक है, प्रस्तुत सिद्धांत 'कृत्य' के विचार में सामाजिक प्रणालियों के सिद्धांत को निहित पाता है। कृत्य का अर्थ है वह प्रयोजन जिसे स्त्रियों और पुरुषों का कोई निकाय साथ-साथ काम करते हुए अपने समक्ष लक्ष्य-रूप में रखता है। उसकी युक्ति है कि कृत्य विधिवत् होता है अतः उसे स्वीकृति मिलनी चाहिए क्योंकि वह ऐसे अनुभव से उत्पन्न होता है जिसे वे सिद्ध कर चुके होते हैं। उसमें एक अभाव परिलक्षित होता है, जिसकी पूर्ति का अर्थ है आनन्द। वह यह नहीं कहता कि सब कृत्यों को संश्लिष्ट करके एक इकाई का रूप दिया जा सकता है जिसमें सभी का अन्तर्भाव हो जाये। वह स्वीकारता है कि बहुतों में संघर्ष रहता है; कभी अज्ञानवश, कभी वास्तविक और स्थायी असंगति के कारण। वह ऐसी समन्वय-योजना की जरूरत को भी स्वीकार करता है, जिससे एकरूपताओं का समावेश हो सके—वे ज़रूरी हैं क्योंकि लोग बड़े-बड़े समाजों में साथ-साथ रहते हैं। लेकिन उसका ज़ोर इस बात पर है कि समन्वय का उदय भीतर से होना चाहिए, वह ऊपर से थोपा न जाये। उसकी दलील है कि आदमियों के किसी भी दल का अनुभव इतना व्यापक या इतना सच्चा नहीं होता कि चरम शक्तियाँ किसी भी ढंग से उनके हाथों में सौंप दी जायें। वह मानता है कि किसी दबाव डालने वाली सत्ता का होना आवश्यक है, पर वैसी सत्ता के प्रति उसका अविश्वास-भाव है। अविश्वास का कारण यह है कि दबाव डालने की शक्ति को जो मनोवैज्ञानिक छाया घेरे रहती है वह प्रयोक्ताओं को दूसरों की ज़रूरतों और अभावों के प्रति नितान्त अन्यमनस्क बना देती है। उस निर्णय का आधारभूत अनुभव भी सीमित हो जाता है। उसका प्रयोग उन थोड़े से लोगों के हित के लिए होता है, जिनके हाथ में उसके उपकरण होते हैं अथवा जिनकी वहाँ तक पहुँच होती है। वह कुछ गिने चुने लोगों के कल्याण को समुदाय के सुख की समता देकर आवश्यकताओं की मान्यता को सीमित बना देता है।

सजनात्मक समन्वय के प्रयत्न में वह ऐसी सत्ता खड़ी करता है जो प्रतिभूतियों या प्रतिबन्धों की प्रणाली को समन्वित करती है। मानी हुई बात है कि यह प्रणाली जटिल है। उसका ढाँचा ऐसे अधिकारों से बनता है जो प्रकृत माने जाते हैं क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि सफल जीवन के लिए उनका होना एक आवश्यक शर्त है। कोई आदमी अगर अपनी कम से कम भौतिक ज़रूरतें पूरी करने के लिए ही दिन रात संघर्ष करता रहे तो निश्चय ही वह अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि नहीं कर पायेगा। अतः ज़रूरी है कि उसे अपने

प्रयत्न के फलस्वरूप पर्याप्त वेतन मिले, मेहनत के मुनासिब घंटे हों, और आश्रय की ऐसी परिस्थितियाँ मिलें कि उसका मन उन अभावों से ऊपर उठ सके जो वैसे हेय होती हैं। लेकिन चूँकि उसका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप मूलतः मानस-जगत की चीज़ है, अतः उसके अधिकारों का प्रसार नैतिक आवश्यकता के परे भी होता है। उसे अपने आप और अपने लिए यह व्याख्या करनी चाहिए कि ज़िन्दगी का उसे क्या अर्थ प्रतीत होता है। इस विषय में उसका दृष्टिकोण उसका अपना है और अपने सहचारियों से उसके अलग-थलग रहने का अर्थ है कि उसकी ओर से कोई भी उसकी अभिव्यंजना नहीं कर सकता। अतः उसे वाक्-स्वातंत्र्य होना चाहिए कि वह दूसरों तक अपने विचार पहुँचा सके और संसर्ग-स्वातंत्र्य होना चाहिए कि वह दूसरों के साथ मिल कर उसे व्यवहार रूप दे सके। जिस समाज में वह रहता है उसके प्रबन्ध में हाथ बँटाने का अधिकार उसे होना चाहिए। उसके लिए सबसे पहले तो शिक्षा पाने का अधिकार अनिवार्य है, क्योंकि शिक्षा के बिना कोई भी अपने जीवन-अनुभव के अर्थ को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। जिनको उसपर शासन करना है, उन्हें चुनने के लिए मतदान का अधिकार भी उसे होना चाहिए—और इसीका एक स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि अगर उसके संगी-साथी उसे शासक चुनना चाहें तो इस प्रकार चुने जाने का भी अधिकार उसे होना चाहिए। लेकिन स्वशासन राजनीतिक ताने-बाने का स्वरूप निर्धारित कर लेने भर तक का ही मामला नहीं है। हम जिस उद्योग धंधे के सहारे जीते हैं, उसमें हमारी ज़िन्दगी इस तरह घुल-मिल जाती है कि हम यह कभी नहीं मान सकते कि उसका स्वरूप हमारे अनुभव से निरपेक्ष रह कर ही निर्धारित हो जाये—अतः औद्योगिक लोकतंत्र राजनीतिक लोकतंत्र का अनिवार्य पूरक है। एक क्षेत्र में स्वशासन दूसरे क्षेत्र में स्वशासन की प्रक्रिया को पूरा कर देता है। उसकी प्रकृति के अनुसार उसका संगठन दूसरी ही तरह का होगा। उसमें प्राविधिक दक्षता के आधार पर शक्ति के शिखर की ओर जाने वाली लम्बी-लम्बी सीढ़ियाँ होंगी। सार्वजनिक गुणों के लिए उसमें कम गुन्जाइश रह जायेगी—विशेष ज्ञान के लिए प्रचुर अवसर होंगे। लेकिन दोनों में अधिकारों के निर्वहण से जिस प्रयोजन की पूर्ति होगी, वह तत्त्वतः समान ही है।

यह भी कह देना ज़रूरी है कि इन अधिकारों का निर्वहण अपने आप ही नहीं हो जाता। इतिहास का यह बहुत ही साफ़ सबक है कि ऐसे समाज में उनका निर्वहण नहीं हो सकता जहाँ धन की लोलुपता ही प्रमुख हेतु होती है। भिन्न-भिन्न सदस्यों के पास जो संपत्ति है वह अगर लगभग बराबर नहीं है तो उनके अधिकार स्थूलतः उनकी संपत्ति के अनुपात में ही होंगे। अतः मुख्य सामाजिक हेतु होना चाहिए सेवा और संपत्ति व्यक्ति की अपनी सेवाओं का ही परिणाम होना चाहिए। मुझे स्वयं अपने आप सेवा करनी चाहिए, किसी और की सेवा से जो कुछ मिलता हो, उस पर अधिकार जमा कर मुझे जीवन-यापन नहीं करना चाहिए। इससे—कम से कम जितने समय को हम अपने विचार-विमर्श की परिधि में आबद्ध करना ज़रूरी समझते हों, —उतने समय के लिए कठोर साम्यवाद की संभावना ज़रूर खत्म हो जायगी; पर इतना अवश्य है कि संपत्ति के साथ आज जो क़ानूनी अधिकार जुड़े रहते हैं, उनका बहुत कुछ हद तक रूपान्तर हो जायगा। इसमें यह माना गया है कि जिन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के बिना समाज नहीं रह सकता, उनकी व्यवस्था सीधी समाज के हाथ

में होनी चाहिए। यह भी माना गया है कि सभ्य जीवन के निम्नतम आधार के रूप में जो मानक बनाये जायें और लागू किये गये हों, बाकी उत्पादन भी उनके ही अनुरूप होना चाहिए। जहाँ कोई नियत क्षेत्र निजी उद्योग के नियंत्रण में छोड़ दिया जाता है, वहाँ वह कुछ कठोरता से ऐसी शर्तें लागू कर देता है, जिनमें रह कर ही निजी उद्यम काम कर सकता है। उसका आग्रह है कि हर प्रतिफलात्मक प्रयत्न में जनता अदृश्य साझीदार होती है और साझीदारी के प्रलेख में उसकी इच्छाओं का सम्मान होना चाहिए। मिसाल के तौर पर वह किसी निजी उद्यम के मालिक को मनमाने ढंग से मज़दूर को काम पर लगाने या निकालने नहीं दे सकता। वित्तीय मामलों में उसे वह गोपनीयता नहीं रखने दी जा सकती जो उद्योग के स्वरूप को ही विकृत कर डालती है। जहाँ किसी की निजी पूँजी लगी हुई हो, वहाँ उसे औद्योगिक नीति निर्धारित करने का या उद्योग के अवशेष दायभोगी होने का उतना ही अधिकार हो सकता है जितना राष्ट्रीय ऋणबन्ध के धारकों को विदेश-नीति निर्धारित करने का या राजकोष में होने वाले किसी असाधारण अधिशेष को हजम कर जाने का। वह इस आधार पर दायाधिकारों को कठोरता से सीमित कर देता है कि किसी भी व्यक्ति को सामाजिक उत्पादन की समष्टि में अपने योगदान से कतराने के हक नहीं है। उसका विश्वास है कि मूल्यों में ऐसे परिवर्तन हो जान से पहलक़दमी और उत्साह नष्ट होने का तो सवाल ही नहीं बल्कि ऐसे अवसर मिलेंगे जिनका आज तक के इतिहास में वे शायद ही कभी लाभ उठा सके हों। उसका दावा है कि व्यक्तित्त्व को इतना उचित महत्त्व, जिसका वह अपने विशिष्ट गुणों के कारण अपने आपको अधिकारी सिद्ध कर दे, और कोई भी प्रणाली नहीं देती।

इस प्रकार के मत में स्वाधीनता के प्रति श्रेण्य लेखकों की अपेक्षा कुछ भिन्न दृष्टिकोण होगा। यहाँ स्वतंत्रता को नियंत्रण का अभाव भर नहीं समझा जाता। इस मत के अनुसार जब लोग एक बार बृहत् समाज में इकठ्ठे रह लेते हैं तो आचरण की ऐसी आवश्यक एकरूपताएँ विकसित होती है, जो उन आदतों को सीमित कर देती हैं जिनकी अभिव्यंजना हो सकती है। परन्तु वह स्वाधीनता का मतलब यह भी नहीं बताता कि कुछ लोगों द्वारा निर्धारित ऐसे नियम का पालन किया जाये जो उन कुछ लोगों को संरक्षण देने वाली व्यवस्था विशेष के ही हित में हों। यहाँ जिस सामाजिक सिद्धान्त पर ज़ोर दिया जा रहा है, उसमें स्वाधीनता का अर्थ है कि हर आदमी अपने सर्वोकृष्ट स्वरूप की सिद्धि के प्रयत्न में पहल करने की शक्ति का प्रयोग कर सके। इसका मतलब है कि उसे ऐसी राहें दी जायें, जिनके माध्यम से वह शक्ति अपने नियत साध्य तक पहुँच सके। अतः स्पष्ट है कि स्वाधीनता समानता से अलग नहीं की जा सकती क्योंकि आपूर्व विभेद, जो पहुँच की राहों की विभिन्नता के द्योतक होते हैं, राज्य में स्वाधीनता का अवसर अच्छी स्थिति वाले कुछ भाग्यवानों के लिए ही सीमित कर देते है। जिस समाज में लोगों को आत्म-उन्नयन के बराबर अवसर दिये जाते हैं, न्याय भी उसी समाज में होता है क्योंकि न्याय से हमारा तात्पर्य होता है—जैसा कि प्रसिद्ध परिभाषा में कहा गया है—हर आदमी को अपना-अपना प्रा तव्य दिया जाये। सामाजिक प्रबन्धों को इस प्रकार व्यवस्थित करने से ही इस बात को यथासंभव अधिक से अधिक गारंटी मिल सकती है कि पूर्यमान आवश्यकताओं की समष्टि में हर आदमी की आवश्यकताओं को उचित मान्यता दी जायेगी। कहने का

मतलब यह नहीं कि इस तरह की मान्यता निर्दोष होगी, या हो सकती है। हमारे जीवन के पैमाने जितने विस्तृत हैं, उनको देखते हुए गड़बड़ और भूल होना निश्चित ही है। लेकिन हम, कम से कम, वर्तमान प्रणाली की निहित संभावनाओं से आगे तो बढ़ेंगे।

न्याय में क़ानून का भी समावेश है पर यहाँ क़ानून की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसमें उसकी परिभाषा के प्रति एक रूढ़िमुक्त दृष्टिकोण अपनाया गया है। जैसा कि विनोग्रदोफ़ ने कहा है[1] क़ानून "ऐसे नियमों का संयोग है जो उसके (राज्य के) सदस्यों के संबंध और आचरण को निर्देशित करते हैं।" यहाँ महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि कुछ विशेष नियम ही क्यों चुने और अपनाये जाते हैं और समाज के जीवन में किस प्रकार क्रियाशील रहते हैं। इस प्रकार क़ानून नैतिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं; वे फ़ैसले मात्र होते हैं जो सामाजिक शक्तियों के प्रभाव से स्वीकार कर लिये जाते हैं। इसका मतलब है कि हम क़ानून के संबंध में वह दृष्टिकोण नहीं स्वीकारते जो सिर्फ़ उसके उद्गम स्रोत के कारण ही उसे न्याय मानता है। उसके दावे के निरूपण में हम इस बात को भी बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नहीं मानते कि वह सद्भाव से उद्भूत है। हो सकता है कि सद्भाव अज्ञान-जन्य ही हो अथवा किसी भूल पर अवलम्बित हो। हो सकता है कि वह तथ्यों के प्रति ऐसे संकीर्ण दृष्टिकोण से जनित हो, जिसमें औचित्य की आशा नहीं की जा सकती। जिन शक्तियों का परितोष करना उसका काम है, हो सकता है कि उसके विस्तार के संबंध में वह बिल्कुल अज्ञ हो क्योंकि क़ानून का साध्य तो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही है। इसका मतलब कुछ ही लोगों की आवश्यकताओं से नहीं है, न उन आवश्यकताओं से ही है जिन्हें क़ानून लागू करने वाले उचित समझते हों वरन् उन समग्र आवश्यकताओं से है जिनका सामना क़ानून को करना पड़ता है। अतः क़ानून को अगर न्याय बरतना है तो वह उन संबंधों की अभिव्यक्ति होगा, जिन्हें मानव के अनुभव ने उचित पाया है।

पूछा जा सकता है कि उस औचित्य के निर्णय करने वाले कौन होंगे? मैं समझता हूँ कि इस सवाल का एक ही जवाब हो सकता है। वे सभी निर्णायक होंगे जो चाहते हैं कि उनकी इच्छाएँ पूरी हों अर्थात् समाज के सदस्यों की समष्टि—अतः क़ानून में औचित्य तभी पाया जा सकता है जब वह यथासंभव अधिकाधिक अनुभव से निगमन के आधार पर निर्मित हो। उसका प्रयत्न यह होना चाहिए—जैसा कि मिस फ़ालेट ने सुन्दर शब्दों[2] में व्यक्त किया है—"ज़रूरतों की एक दूसरी के साथ पारस्परिक संगति बैठा दी जाये।" एक बार पारस्परिक समंजन का यह काम शुरू हो जाता है तो हम संविदा के क्षेत्र से परिष्ठा या संबंध के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। समाजों की गति तब—जैसा मेरा विचार है—परिष्ठा से संविदा की ओर नहीं रह जाती वरन संविदा से संबंध की ओर उन्मुख हो जाती है। उसमें प्रयत्न यह होता है कि निहित कृत्यों से ही कर्तव्य और अधिकार स्वतः उद्भूत हों। मिसाल के लिए वह मालिक का दायित्व उसकी संकल्पित वस्तु पर निर्भर नहीं रहने देता बल्कि उस संकल्पना पर आधारित करता है जिसे अनुभव समाज के सामान्य ताने-बाने[3] में मालिक के संबंधों में निहित सम-

१. हिस्टॉरिकल जुरिसप्रुडेन्स—(i) ५२।
२. क्रिएटिव एक्सपीरिएंस—पृष्ठ २६४।
३. तु० मेरी कृति फ़ाउण्डेशन्स आफ़ सावरेण्टी—अध्याय ८।

ज्ञता हो। अभिकरण में हम समाज्ञा के संविदा की विवेचना नहीं करते बल्कि अभिकार्य और अभिकर्ता के संबंध से जनित अधिकारों और कर्तव्यों की समूची व्यवस्था की विवेचना करते हैं। यह सामन्तशाही के धरातल पर लौट कर जाना हुआ—रोमीय क़ानून की मूल धारणा से इसमें बड़ा अन्तर है। वहाँ किसी घटना-विशेष में कर्ता की संकल्पनाओं की क्रियान्विति का प्रयत्न होता है।[1] संबंधों के इस सिद्धांतमें हमारे लिए जो महत्त्व की बात है, वह है संबद्ध पक्षों की आनुपातिक शक्ति। कहने का मतलब यह हुआ कि क़ानून को परखने में हमें सिर्फ़ यही बात नहीं देखनी है कि हित एकान्वित हैं, बल्कि यह भी देखना है कि वह किस ढंग से एकान्वित है, क्योंकि जो संबंध स्थापित होता है उसका निर्धारण करने वाला यह ढंग ही है। अगर एक पक्ष दूसरे पक्ष की अपेक्षा अच्छी स्थिति पा गया है, तो क़ानून का पलड़ा उसके हक में झुक जायगा। उदाहरणार्थ, खेल के कानूनों में यह बात साफ़ हो जाती है; सेवक-सेव्य क़ानून के आम आधार भी इसी बात को स्पष्ट करते है। अगर क़ानून में 'आवश्यकताओं की पारस्परिक संगति' परिलक्षित होती है, तो जैसा कि एक्टन[2] ने कहा था, यह उचित नही हो सकता कि एक पक्ष 'कानून बनाने, परिस्थितियों का प्रबन्ध करने, शांति बनाये रखने, न्याय लागू करने, कर-वितरण और व्यय-नियंत्रण का अधिकार एकान्ततः अपने हाथ में रखे।' पारस्परिक संगति वहीं हो सकती है, जहाँ उन सभी पक्षों में समान शक्ति हो, जिनमें सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अतः अगर क़ानून को मानवीय संबंधों की सही ढंग पर व्यवस्था करनी है तो वह मानवीय अनुभव से सही निगमन पर आधृत होनी चाहिए। लेकिन ऐसे किसी अनुभव की तब तक सही व्याख्या नहीं हो सकती जब तक कि उसका व्यवस्थित ढंग से संगठन और अभिलेख न किया जाये। असंख्य और प्रायः परस्पर विरोधी सामाजिक हितों को तरतीब देने के लिए एक पर्याप्त पूर्णता में ढाल कर समन्वित कर देना बड़ा ही सूक्ष्म और नाजुक काम है। यह हम मान ले सकते है कि कोई एक आदमी या आदमियों का कोई एक वर्ग उनके विस्तार और अर्थ से पर्याप्त परिचित होने की आशा नहीं कर सकता—और इसकी अब तो पहले से भी बहुत कम संभावना है, क्योंकि श्रम के विभाजन में भी बहुत अधिक विशेषीकरण निहित रहता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि इस समन्विति के लिए औद्योगिक वर्ग से कम उचित और कोई वर्ग नही—जो कि १९वीं शताब्दी के आरम्भ से मुख्यतः इसे निष्पन्न करता आया है या उसकी निष्पत्ति को नियंत्रित करता रहा है। इस वर्ग के ऐसे लोग होते हैं जिनकी प्रतिभा विश्व-मंडी की जटिल परिस्थितियों में धनार्जन की विशिष्ट क्षमता प्राप्त कर चुकी है। उनका रुझान जीवन को केवल या मुख्य रूप से धनार्जन का संघर्ष समझने की ओर होता है और यह स्वाभाविक भी है—उस अर्जन की शर्तें भी वे ही पूरी तरह समझ सकते हैं क्योंकि वे ही उनके निर्माता होते है। इन शर्तों से उनका क्या मतलब है, यह मुग़ल स्टीमशिप के बनाम मैकग्रेगर[3] के मामले में न्यायालय के निर्णय में बिलकुल स्पष्ट हो

१. तु० फाउण्ड—दि स्पिरिट आफ़ दी कामन लॉ—विशेषतः व्याख्यान १, जहाँ इस विचार की भली भाँति विवेचना की गई है।

२. मेरी ग्लैडस्टन को लिखे गये पत्र—पृष्ठ १९४-९५।

३. (१८९२) ए. सी. २५।

गया है। मोटे तौर पर इसका मन्तव्य यह है कि व्यापार संबंधों मे सामाजिक तत्त्व बिल्कुल नदारद रहता है। औद्योगिक वर्ग जैसे भी और जितने में भी बेच सकता है अपनी सेवायें बेचेगा और अगर उनकी कार्यवाहियों से जनता को कोई कठिनाई होती है, तो इससे उसे कोई सरोकार नहीं। अगर विधान उन पर प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश करता है तो उनसे बचने या उन्हें वृथा करने की वे असीम कोशिशें करेंगे जैसा अमरीका के अनुभव से स्पष्ट हो चुका है। इसमें कोई भी बात ऐसी नहीं जिसमें यह इंगित हो कि वे प्रशंसनीय पति नहीं या आदर्श पिता नहीं या यह कि वे ऊँचे से ऊँचे धरातल पर काम नहीं करते। पर चूँकि वे विशेष हित के संकुचित दायरे में आबद्ध होते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि इतनी संकीर्ण होती है कि वे उस बहुविध संबंध को ग्रहण नहीं कर पाते जिसकी अभिव्यक्ति क़ानून को होना चाहिए। यानी वे राज्य को शासित करने के अयोग्य हैं क्योंकि अपने एकांगी अनुभव को समग्र सामाजिक आवश्यकता के समकक्ष रखने की उनकी शक्ति अनिवार्यतः अनुचित और अनावश्यक संघर्ष उभारती है—उससे कारगर सामंजस्य नहीं हो सकता।

इसीलिए मैंने कहा है कि संपत्ति के लगभग बराबर होने पर ही हर व्यक्ति अपने अनुभव को उचित सम्मान दिला सकता है। और इसलिए उसके अनुभव का जब अपने सहचारियों के अनुभव से संसर्ग होता है तब राज्य के साथ उसका व्यवस्थित संबंध पैदा करने की ज़रूरत होती है—अगर क़ानून को न्याय से परिपूरित रखना हो, क्योंकि क़ानून कहीं मिलता थोड़े ही है, बनाया जाता है। वह उनके अनुभव के आधार पर बनाया जाता है जिनके हाथ में उसकी अन्तिम हदबन्दी होती है। सामाजिक क्रिया-कलाप की समग्र गतिशीलता में जिन इच्छाओं और अभावों की अभिव्यक्ति होती है उनसे उसे वे परिव्याप्त कर देते हैं। वह न्यायिक या विधानीय गतिशीलता की निरपेक्ष परिणति नहीं है। किसी की आवश्यकता ने ही उसे एक विशेष रूप में ढाला है, दूसरे रूप में नहीं है। जैसा कि श्री जस्टिस होम्स ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है। उसका जीवन उसके अनुभव में है, तर्क में नहीं और उसका 'निर्व्यक्त पूर्वपक्ष' सदा ही वह संकल्पना रही है जो इतनी शक्तिशाली हो कि उस जीवन को नियंत्रित करती रही हो। सामन्ती युग में इतना शक्तिशाली मुख्यतः भूस्वामी-वर्ग था; हमारे ज़माने में, मुख्य रूप से, वह शक्ति औद्योगिक पूंजी के स्वामियों में है। और चूँकि उनकी संकल्पनाओं में परिपूर्त्ति के लिए संघर्ष करने वाली आवश्यकताओं का एक अंश भर परिलक्षित होता है, अतः क़ानून का पलड़ा उनके खिलाफ़ झुक जाता है जिसकी वारणी, जब क़ानून बनाया जाता है, तो मुखर भी नहीं हो पाती। वह अपनी सत्ता खो बैठता है क्योंकि वे यह नहीं मानते कि उनमें उसकी इच्छाओं का सार-तत्त्व भी अन्तर्भूत है। वह उनकी निष्ठा नहीं पा सकता क्योंकि जो कुछ व्यवस्था वह करता है, उससे उन्हें नहीं, दूसरों को लाभ होता है। जब वह ऐसे निष्कर्ष पर आधारित होता है, जिसमें समाज के प्रत्येक हित का योगदान रहा हो, तभी वह वास्तविक परितोष—क्योंकि वह सभी के लिए समान होता है—पैदा करके सच्चा समन्वय कर सकता है।

अतः मेरा कहना यह है कि क़ानून बनाने में हिस्सा लेने का सभी को बराबर अधिकार है और हमारे सामाजिक प्रबन्ध जब इस तरह की साझीदारी की व्यवस्था करें तभी वे नागरिकों की निष्ठा पा सकते हैं। अन्यथा, जो नियम क़ानून का रूप पा जायेंगे, उनका

उद्गम राज्य कहलाने वाली समन्वयी सत्ता से न होकर उस वर्ग विशेष से होगा, जिसके नियमों में एक या एकाधिक नागरिकों को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षाकृत अधिक परितृप्ति होती दीख पड़ेगी। क़ानून बनाने की प्रक्रिया को जो स्वीकृति मिलनी चाहिए, उसके लिए यह साझेदारी वाली बात बड़ी ज़रूरी है। उसके सहारे हम ऐसे तरीक़े ढूँढ़ सकते है, जिससे इच्छाओं का एक ताना-बाना सा बनाया जा सके। इसके फलस्वरूप हम ऐसी स्थिति में आ जाते है कि हमारा क़ानून हमारे समक्ष आनेवाली समग्र आवश्यकताओं में से ही उद्भूत हो सके—बजाय इसके कि किसी ऐसे ख़ास हल से उसे अभिभूत कर दिया जाये, जिसके तत्त्व एकांगी और संकीर्ण हों। इसके कारण यह संभव होता है कि न्याय-शास्त्र की अवधारणाएँ जीवन के तथ्यों में से ही उभरें और वह इसे इस योग्य बनाता है कि वह उन तथ्यों के कारण अपने में होने वाले परिवर्तनों से और अच्छी तरह सामञ्जस्य रख सके। इस तरह न्यायज्ञ को हम ऐसे अनुभवों और आदर्शो के संपर्क में लाकर जो उसके अपने परिवेश के लिए अपरिचित होते हैं, उसके विशेष दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाते हैं। मोटे तौर पर मैं यह बात कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि इसके बिना क़ानून हमारी नैतिकता की भावना को बाध्य नहीं कर सकती। क़ानूनी व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति होने पर ही मान्य हो सकती है और सामाजिक व्यवस्था में किसी एक शक्ति की गिनती नहीं, वे सब असंख्य शक्तियाँ आ जाती हैं, जो अपने अभावों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्नशील होती हैं।

यहाँ मैं एक बात और कह देना चाहूँगा। कभी कभी कहा जाता है कि किसी भी काल की क़ानूनी व्यवस्था नियमतः नैतिक दृष्टि से उसके आदर्शो से हीनतर होती है पर वह हमेशा इस खाई को पाटने में प्रयत्नशील रहती है। कहते हैं कि मानववादी स्वभाव न्याय का बल और नये तथ्यों की अदम्य शक्ति विधानांग और न्यायाधीश को अपने आप नवोदित आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने पर विवश कर देते हैं। इसमें वास्तविक सचाई है। अनतिपात नीति की पराकाष्ठा के युग में फ़ैक्ट्री एक्ट बनाये जाते है। लार्ड एल्डन जिन्होंने संसद् में समाज सुधार के हर विधेयक का विरोध किया, न्यायालय[1] में बड़े ही सुधार करने वाले न्यायाधीश बने—चाहे कुछ जाने और चाहे कुछ अनजाने में ही ऐसा हुआ हो। इसी तरह कार्य की आवश्यकता के दबाव से संविदा के क्षेत्र में राज्य का अनुत्तरदायित्व घट गया है, और आपातिक परिषद फ्रांस सरकार को उसकी भारी भूलों पर उन शासकीय अदालतों में संरक्षण नहीं देती जो क़ानून के शासन से भी परे बताई जाती थीं[2] पर अब भी यह अपर्याप्त है। एक प्रवहमान प्रक्रिया के रूप में वह अब भी इतनी सांयोगिक और अस्तव्यस्त है कि यह निश्चय नहीं हो सकता कि जो सामंजस्य किये गये हैं, वे लगभग उतने ही विविध हैं,

---

१. लॉयड बनाम लोरिंग ६, वेसी ७७३ में एल्डन के निर्णय के कारण ही १९वीं शती में निकम-कानून का विकास संभव हुआ। तु. मेरी कृत फाउण्डेशन आफ सावरेण्टी अध्याय ४।

२. वही, अध्याय ३, विशेषतः पृष्ठ १४०।

जितनी कि हमारे समक्ष आने वाली आवश्यकताएँ। श्री जस्टिस होम्स यह समझ भी पायें कि नये विचारों में सांविधानिक प्रयोग निहित रहता है, पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय में उनके अधिकतर सहयोगियों की दृष्टि तो उसी अनुभव से सीमित रहेगी जिसका नये विचारों से दूर-दूर तक का कोई वास्ता नहीं।[1] लंदन काउण्टी कौंसिल इस बात को स्वीकार कर सकती है कि शिक्षा के क्षेत्र में यह बड़ा बहुमूल्य प्रयोग होगा कि स्कूली बच्चों को शेक्सपीयर के नाटक दिखाये जायें लेकिन उसकी शक्तियों का संविधि में जो उल्लेख है उसमें उस नई सूझ की लिखत न होने से अदालतों की शिक्षा संबंधी धारणा पुराने और अधिक औपचारिक दृष्टिकोण तक ही सीमित रखनी पड़ेगी।

इसीलिए मैंने इस बात पर ज़ोर दिया है कि अनुभव का व्यवस्थित लेखा-जोखा और संगठन हो। समन्वयी सत्ता का निर्वाचन फिर भी ऐसे लोग कर सकते हैं जिनमें कोई विभेद न किया गया हो क्योंकि वे उन व्यवसायों के अनुसार निर्वाचन करते हैं, जिन्हें उन्होंने अपना लिया है। विभेद का यह अभाव, मैं समझता हूँ, कि ज़रूरी है क्योंकि यह सरल भी है और इसमें शासन का प्रादेशिक आधार निहित है। लेकिन सामाजिक और औद्योगिक जीवन में हम जो वर्ग देखते हैं, उनका सरकार के साथ संस्थानीय संबंध होना चाहिए—तभी सरकार के फ़ैसले बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकते हैं। इसका मतलब है उन वर्गों के लिए सरकार पर व्यवस्थित और पूर्व-प्रभाव के साधन जुटा देना—इससे पहले कि वह समन्वय की समस्याओं के संबंध में कुछ कहे। इसका अर्थ हुआ उनकी राय को महत्त्व देना, उनकी टीका-टिप्पणी की जानकारी करना, उनकी विशेष ज़रूरतों को पूरा करना। इसका यह भी मतलब है कि उनके जीवन के विषय में उन्हीं को उत्तरदायित्व सौंप देना—वह उत्तरदायित्व जो अपने अन्तरंग मामलों पर अधिकार के कारण पैदा होता है। इसका अर्थ यह है कि मानचेस्टर में बिना संसद की स्वीकृति के नगरपालिका का मंच बन सकता है। इसका यह भी मतलब है कि (कि थोड़ी देर के लिए मैं एक निस्संग शब्द का प्रयोग करता हूँ) खनन-उद्योग की शासिका-सभा अगर चाहे तो अपने अवयवों पर राष्ट्रीय परम्परागत पेंशन से अलग और ऊपर खनिकों के लिए एक पेंशन-योजना लागू कर सकती है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि इसका मन्तव्य यह है कि राज्य द्वारा सीधा प्रशासन कम हो और विविध परिस्थितियों के अनुसार उसकी संविधियों की क्रियान्विति में अधिक नम्यता रहे। अतः वह राज्य-संविधियों को कम से कम हल समझता है और उनका जिन हितों पर प्रभाव पड़ता है, वे जैसे-जैसे व्यवस्थित होते हैं, उन्हीं को शक्ति दे दी जाती है और प्रायः उनकी वृद्धि का कर्तव्य भी। इसके फलस्वरूप दुनिया अधिक पेचीदा अवश्य हो जायेगी पर वह अब से अच्छी होगी क्योंकि उसमें सृजनात्मक प्रयासों के लिए कहीं अधिक अवसर होगा।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह राज्य के समन्वय कार्य को सबसे प्रथम बार एक सिद्धांत की बात बना देगा। अब की तरह वह यह न कहेगा कि किसी न किसी तरह व्यवस्था रखी ही जानी चाहिए और राज्य केवल वह संस्था है, जिसे व्यवस्था बनाये रखने का काम

---

१. तु. दी कांस्टीट्यूशनल ओपीनियंस आफ़ मिस्टर जस्टिस होम्स—हार्वर्ड ला रिव्यू—जून १९१६।

सौंपा गया है क्योंकि व्यवस्था बनाये रखना महत्त्वपूर्ण ज़रूर है परन्तु हो सकता है कि समाज के प्रयोजनों में जो कुछ मूल्यवान हो, उस सभी को वह अपने आधीन कर ले और जिस राज्य का रूप मुख्यतः या पूर्णतः इसी इच्छा के आधार पर विकास पा रहा हो, वह अपनी शक्ति का प्रयोग अपने नागरिकों की नैतिक काया को छोटा बनाने में करेगा। यह बात बार-बार कही जा सकती है कि शक्ति अपने प्रयोक्ता के लिए बड़ी विषैली होती है—आवश्यक टीका-टिप्पणी द्वारा और अगर ज़रूरत पड़े तो अन्ततः प्रतिरोध करके भी उनकी सत्ता को बाँधे रखा जाना चाहिए। वह शक्ति इतनी विस्तृत विशाल है कि आज जो हथियार मिले हुए हैं, वे सब बने रहें तो वह प्रयास करते ही आसानी से और निश्चयपूर्वक आदमी के व्यक्तित्त्व में जो कुछ है, उसे भस्मसात् कर सकती है। अगर हम जागरूक नहीं हैं तो उसकी प्रवृत्ति यह मान लेने की ओर होती है कि मौन का अर्थ है संतोष और अगर कोई उथल-पुथल होती है तो उसका मतलब यह नहीं कि उसके मन में जो दुःख-दर्द है, उसकी जाँच-परख की जाये बल्कि यह है कि उसने जो अस्तित्व धारण किया उसके लिए दण्ड दिया जाये। वह लोगों को निरुत्साह, एकरस, जड़ और अज्ञानी बना डालती है। वह क्रांति से पहले के रूस की तरह रेगिस्तान बना कर उसे शांति का प्रतीक कह सकती है। इस तरह प्रयुक्त किये जाने पर शक्ति और भी सत्यानाश का कारण बन जाती है क्योंकि वह उस दिन को टालती भर रहती है जबकि कोई दो टूक फैसला हो जाये। उसमें कोई व्यापक प्रयोजन तो रहता नही, अतः उसके अधिकरण अवशेषों की आशा में ही संघर्ष के विषय बन जाते हैं। फिर उन पर भीतर से ही आघात होते हैं और उनके हिमायती और विरोधी दोनों ही सत्ताधारियों की कतारों से बाहर सहयोग ढूँढ़ते है—वह तब तक भूले हुए सिद्धांतों के नाम पर उनसे गुहार करते है। और लोगों के मन नेक इच्छाओं के अक्सर अनुकूल हो जाते हैं—अतः ऐसी गुहार वृथा नहीं जाती।

यहाँ जिस राज्य की रूप-रेखा दी गई है, उसमें मै समझता हूँ, ऐसे दोष उतनी आसानी से घर नहीं कर सकते। वह दावा कर सकता है कि वह एक प्रकृत कार्य संपन्न करता है। उसका निर्माण अधिकारों के एक सम्यतानुरूप निम्नतम धरातल की रक्षा के लिए होता है, जिसके बिना, जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, कोई भी आदमी अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि नहीं कर सकता। उसके क्षेत्र की कोई निश्चित हदबन्दी नही होती क्योंकि ज़िन्दगी को गणितीय शुद्धता के अनुरूप वर्गो में नही बॉटा जा सकता। वह स्वयं भी अपने क्रिया-कलाप के किसी क्षण-विशेष में, पूर्वसिद्ध शब्दावली में उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि उसका प्रयोजन किसी तरह कम यथार्थ होता है क्योंकि किसी भी प्रयोजन का, दूसरे प्रयोजनों से सामंजस्य करने के लिए, उनक साथ ही बढ़ना होता है ताकि उसका साध्य पूरा हो सके। राज्य मानव के उन अंगों के अतिरिक्त जो अपनी अभि-व्यक्ति विशिष्ट स्वरूप वाले वर्गों के माध्यम से कर लेते हैं, उनकी समग्रता और संपूर्णता की रक्षा करता है। वह उनसे अलग और निरपेक्ष कुछ बन कर ऐसा नही करता है। वह उनसे संपर्क करके उनके साथ समन्वय करता है, वह ऐसा साधन बनता है, जिसके सहारे वे अभिव्यक्ति का आम माध्यम पा जाते हैं। इसके लिए वह व्यापक से व्यापक उपलब्ध निष्कर्षों को आत्मसात् करता है। वह कुछ का नहीं, सबका प्रवक्ता बनता है। वह कुछ के

लिए नहीं, सबके लिए निर्णय करता है। वह अनुभव का समाहार करता है, तिरस्कार नहीं। मिसाल के लिए रोमन कैथोलिक चर्च अपने सदस्यों के अलावा किसी और का उद्धार करने से इन्कार करे तो यह उसके लिए बिल्कुल वैध है; उसके अस्तित्व की शर्त ही यह है। लेकिन राज्य को तो, जो उसकी नागरिकता पाये हुए हैं, उन सभी का भौतिक दृष्टि से उद्धार करना पड़ता है क्योंकि इस धरातल पर उसके लिए यहूदी और यूनानी में, बन्धनग्रस्त और बन्धनमुक्त में कोई अन्तर नहीं। उसे अपनी आम खुशहाली की धारणा को अपने समग्र परिवेश के सहारे ही विकसित करना और ढालना चाहिए।

इस प्रकार राज्य सामाजिक एकीकरण की सच्ची खोज का रूप ले सकता है। वह केवल कुछ लोगों का उपकरण न रह जायेगा क्योंकि उसकी संकल्पना अनेकों की इच्छाओं से दीप्त होगी। वह केवल उन लोगों के प्रयोजनों के प्रति सचेत न होगा, जिनकी शक्ति उनकी माँगों को सबसे अधिक आवश्यक और आशु-सम्पाद्य बना देती है बल्कि उन सभी का सम्मान करेगा जिनका अपना व्यक्तित्व हो और जो उसे महत्तर बनाना चाहते हों। वे अपनी इच्छाओं को अर्थवान बना सकेंगे। वे यह अनुभव कर सकेंगे कि उनकी इच्छाओं को आर्थिक दबाव के बांटों से नहीं, वरन् सामाजिक मूल्य के बाटों से तोला गया है। उनके जीवन का अनुभव, उन्होंने उसमें तो अर्थ पाया वह—उचित मान्यता पायेगा। ऐसा राज्य किसी भी समुदाय का सच्चा अधिकरण बन सकता है; ऐसा मिलन-स्थल बन सकता है, जहाँ इसकी सामान्य समृद्धि के लिए समुचित ऐक्य के माध्यम की नीव रखी जा सके। वह एकरूप नियम नहीं थोपेगा—वह यह मानेगा कि उपादान की विविधता ऐसे सरल हल से काम नहीं चलने देगी। वह एक दृष्टि से सद्भाव से खूब भरा-पूरा होगा—जिस दृष्टि से हमारे जमाने में राज्य में यह गुण नाम को भी नहीं दीख पड़ता।[1] निस्संदेह ही वह इस माने में कम सुरक्षित होगा कि न्याय्य के संबंध में उसकी घोषणाओं को विजयी होने के लिए अधिक कठिन राह से गुजरना पड़ेगा; वे उतने चुपचाप मौन भाव से न स्वीकारी जायेंगी, जैसे आज। लेकिन इससे तो वह अपने नियम बनाने में और भी सावधान हो जायगा—वह एक साथ ही उसकी नींव जमाने में अधिक ईमानदारी बरतेगा और नियंत्रणीय शक्तियों के साथ उनका सामंजस्य करने में अधिक नरमी।

परन्तु ये सब बातें दो शर्तें पूरी होने पर ही खरी उतरेंगी। जिस राज्य को इतनी ऊँची आकांक्षाएँ पूरी करनी हैं उसे पहले अपनी आलोचना के लिए समुचित व्यवस्था करनी होगी। उसे भूल-चूक को तो अपनी नींव मान लेना चाहिए। उसे यह मान लेना चाहिए कि जो कुछ वह करता है सो इसलिए उचित नहीं कि वह उसकी संकल्पना का परिणाम है बल्कि इसलिए कि उससे साध्य पूरा होता है। और वह यह जान सकता है कि उसकी संकल्पना तज्जन्य परिणामों का उन लोगों के जीवन में अंकन करके ही न्यायपूर्ण रूप से परिपालित होती है जिनपर उनका प्रभाव पड़ता है। इस तरह की जानकारी में दो बातें

१. मैं समझता हूँ कि इसलिए आधुनिक राज्य के संबंध में श्री इलियट का यह मत सही नहीं कि वह मूलतः सामाजिक संघर्ष में निर्णेता होता है। वह अपने अभिकर्ताओं की निष्पक्षता ग्रहण कर लेता है।

निहित हैं। एक तो ऐसा नागरिक वर्ग जो सरकार की ग़लतियों के प्रति खूब सचेत हो। उसके सदस्यों के मस्तिष्क इतने अभ्यस्त होने चाहिएँ कि जो संश्लेषण किया जाये उसको वे समझ और सराह सकें और उसकी निष्पत्ति में स्वयं सीधे भी योगदान कर सकें। जिस राज्य में राजनीति कला को; आम तौर से, गिने-चुने लोग ही समझते हों वह अनेकों के जीवन को कभी समृद्ध नहीं कर सकता—क्योंकि उसे अनेकों की आवश्यकताओं की सच्ची जानकारी ही कभी नहीं हो सकती। वह अपने निदेशकों की आवश्यकताओं से तुलना करके उनका मोटा अंदाज़ा भर लगा सकता है। और आवश्यकताओं की यह समानता एक असिद्ध परिकल्पना मात्र है—असिद्ध इसलिए कि वह अधिकांशतः असत्य है। और जिस हद तक यह ग़लत व्याख्या की जायगी उसी हद तक वह अज्ञान रहेगा। अतः चूँकि यह जानकारी इतनी बहुमूल्य है इसलिए वाक्-स्वातंत्र्य राज्य का प्राण है। मन के प्रयत्न की हदबन्दी कर देना अन्ततः उसके प्रयत्न को ध्वस्त कर देने जैसा ही है। असुविधाजनक विचार को राजद्रोह, पाखंड, बदी आदि का फतवा दे देना, देर-सवेर, विचार का गला घोंट देने के ही बराबर हो जाता है। असुविधाजनक विचार का अर्थ रुढ़िमुक्त विचार के अतिरिक्त और कुछ प्रायः नहीं होता और रुढ़िमुक्त विचार सामाजिक अन्वेषण का जनक होता है।

दूसरी शर्त यह है कि हम उस सूचना की क़िस्म सुधारने का अधिकाधिक प्रयत्न करें जिसके आधार पर हम कार्य करते हैं। हमारे फ़ैसले शून्य मे नहीं किये जाते। हम जो कुछ करते हैं उसकी परिणति ऐसे कार्यों में होती है जिसका प्रभाव असंख्य मानवों के जीवन पर पड़ता है। जैसे—किसी राजनीतिज्ञ की कल्पना में जापान के इरादों का जो चित्र हो, वह पासंग का काम करके तराजू की डंडी को शान्ति या युद्ध की ओर झुका दे सकता है। हमें अपने परिवेश का विश्लेषण करना पड़ता है, उसके परिणामों को मापना पड़ता है। हमे अपने आत्म-केंद्रित अनुभव और उससे जनित पूर्वाग्रहों से ऊपर उठना पड़ता है। और इसके लिए अपने चारों ओर की दुनिया को वस्तुपरक दृष्टि से देखना होता है; उस पर से आत्मपरकता का पर्दा हटाना पड़ता है। मिसाल के लिए, हम खनिकों के वेतन के आंकड़े चाहते हैं, उसके संबंध में खान-मालिकों के विचारों के आँकड़े नहीं; इन सबसे हम ऐसी युक्तियाँ निकालते हैं जिनसे उन फ़ैसलों की पुष्टि होती है जो हम हम बिना इसके ही कर चुके थे। स्वार्थ में आत्मपरकता का पुट रहता ही है—उसकी जितनी परीक्षा की जाये घोर स्वार्थता की परिपाटी का उद्घाटन होता जायेगा। अख़बार, पार्टी, चर्च, राज्य सब धोखा दे सकते है क्योंकि हमारे पास समन्वित जानकारी की कोई व्यवस्था नही। हम अपनी कार्यवाहियों का ही मतलब नहीं समझते क्योंकि हम उनके अभिलेख का कोई गंभीर प्रयत्न नहीं करते। पर बिना उस अभिलेख के आधुनिक सामाजिक जीवन के द्वंद्व अँधेरे में भटकने की तरह हैं।

मैं न तो यह मानता हूँ और न कहना चाहता हूँ कि इस तरह की राजनीतिक प्रणाली हमारे सन्देहों और कठिनाइयों का अंतिम रूप से हल कर देगी। जीवन एक गतिशील धारा है—इधर हम हल करते हैं तो उधर नयी समस्याएँ पैदा होती जाती है। इच्छाओं की परितृप्ति नयी इच्छाओं को जन्म देती है। लेकिन में यह ज़रूर समझता हूँ, कि ऐसा राज्य अपने फ़ैसलों को मनवाने की आशा अवश्य कर सकता है जबकि अभी इस तरह की आशा करने

का उसको कोई हक़ नहीं। वह यह दावा कर सकता है कि उसमें पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विशद-व्यापक, गहन और सुमित अनुभव पुंजीभूत हो गया है। उसमें बहुत अधिक एकान्वित राज्य की अपेक्षा, जिसके किनारे हम धीरे-धीरे कट कर गिरते देख रहे हैं, व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए काम की कहीं अधिक गुंजाइश रहेगी। वह लोगों की ऐसी गहरी और अदम्य निष्ठा पा लेगा जैसी उस महान् नेता के प्रति होती है जिसकी वाणी में उन्हें अपने दिल की धड़कनें प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती हैं।

लेकिन फिर भी उसके फ़ैसले हमेशा ही माने नहीं जायेंगे। मनुष्य प्रकृति का विद्रोही है और उसकी संकल्पना को जो कोई भी बांधना चाहता है उसके प्रति वह विरोध प्रकट करता है। जहां सहमति देने से इंकार होता है, हमें यह न मान लेना चाहिए कि वह इंकार ग़लत ही है—सरकार का स्वरूप चाहे कुछ भी हो। दुःख-दर्द तब तक विद्रोह का रूप कभी नहीं धरता जब तक उसके साथ अन्याय का शिकार होने की भावना न मिली हुई हो। उसका मुकाबला उसके लक्षणों को दबा कर कभी नहीं किया जा सकता। राज्य का स्वरूप और प्राण-तत्त्व चाहे कुछ भी हो—उसकी नीति पर निर्णय देना, द्वन्द्व का समाधान, जहां उसका प्रतिरोध हो, ये व्यष्टि-मन की ही बातें हैं। सिर्फ़ वहीं कारगर चुनाव किये जा सकते हैं। वही प्रत्यय की नींव पर निष्ठा-भावना जागती है। अथनासिउस आदेश जारी कर दिये जाने भर में ही अपने आपको उसके अनुकूल नहीं पाता; वह पाता है कि क़ानूनी आज्ञा को इस प्रकार समंजित किया जा सकता है कि इसकी इच्छाओं का भी उसमें अन्तर्भाव हो जाय। अथनासिउस के सही होने की संभावना किसी भी हालत में तभी की जा सकती है कि हम सत्य से सत्ता को अभिमत समझें और अन्ततोगत्वा सत्य से सत्ता को ऊंचा समझने की आदत का नतीजा होता है सत्ता से भी अपने को ऊपर समझना। और यही अराजकता का सीधा और निश्चित मार्ग है। सामाजिक व्यवस्था के वास्तविक विनाश का कारण अदम्य अस्वीकृति का अस्तित्व नहीं होता बल्कि परितृप्ति के अवसर की अस्वीकृति के निषेध का संकल्प होता है और वह निषेध, प्रायः इस सन्देह का आधार बन जाता है कि सत्य उस अस्वीकृति के ही पक्ष में है।

राज्य के आन्तरिक संबंधों के बारे में जो कुछ कहा गया है, वही उसके बाह्य संबंधों के बारे में भी उतना ही सच है। राष्ट्र-राज्य सामाजिक संगठन की चरम इकाई नहीं है एक प्रभुता-सम्पन्न संस्था के रूप में उसकी शक्ति ऐतिहासिक अनुभव का एक अवस्थान मात्र है और विश्व-शक्तियों के दबाव ने किसी सृजनात्मक प्रयोजन के लिए उसके प्रभुत्व को विलुप्त कर ही दिया है। राष्ट्र-राज्य को उन सभी मामलों में स्वायत्तता होनी चाहिए जिनका प्रभाव साफ़ तौर से स्थानीय होता है लेकिन जो कुछ वह चाहता और करता है उसका बाहर की दुनिया के हितों पर तुरंत असर पड़ता है—फ़ैसला करने में जो अनेक कारण हैं, उसकी संकल्पना उनमें से एक है—सिर्फ़ एक। वह अपना प्रधान मंत्री निर्वाचित कर सकता है पर वह अपनी यौवन-शक्ति का पैमाना नियत नहीं कर सकता। वह अपने कोयले की खानें खोद सकता है पर वह अपने कोयले की बिक्री में ऐसा मनमाना कदम नहीं उठा सकता कि उससे किसी और राष्ट्र-राज्य के हित खतरे में पड़ जायें। आधुनिक समस्या की परिस्थितियों—विशेषतः आर्थिक परिस्थितियों की मांग है कि संगठित अन्तर्राष्ट्रीय

सहयोग की आदत डाली जाये। वह आदत डालने के लिए ऐसी संस्थाएँ बनानी पड़ेंगी कि वह अपने नियत प्रयोजन तक पहुँच जाये। ऐसी संस्थाओं की उन राज्यों के अस्तित्त्व के साथ संगति नहीं बैठती जो दूसरों की संकल्पना से निरपेक्ष केवल अपनी सँकल्पना पर ज़ोर देते हैं। यह असगति और भी बढ़ जाती है क्योंकि प्रायः जिस पर वह आधृत होती है वह अनुभव इतना संकुचित होता है कि दरअसल अपनी निहित आवश्यकताओं की भी काट कर देता है। हम तो इस ख़तरे का उपचार कर सकते हैं कि राज्य की शक्ति उसे अपने से परे किसी नियंत्रण की अधीनता में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के क्षेत्र में निवृत हो जाती है। इसके लिए हमें राज्य-समानता की मृत कल्पना को जीवित करने की ज़रूरत नही लेकिन हमें, कम से कम, राज्यों को यह आश्वासन दे देना चाहिए—चाहे उनका आकार-विस्तार कितना ही हो—कि उनके दावे शक्ति के नही, न्याय के आधार पर पूरे किये जाते हैं। अतः युद्ध का तो बिल्कुल विधान-बहिष्कार कर दिया जाना चाहिए और सभ्यता के समूचे प्रयत्न उन राज्यों के विरुद्ध उन्मुख होने चाहिएँ जो युद्ध को अपनी प्रयोजन-पूर्ति का उपकरण मानते हैं। इसका तात्पर्य है राज्यों का सन्धानीय संगठन—विचार-विमर्श से हितों के एकीकरण पर निर्मित संकल्पना। इसका अर्थ यह निस्संदेह है कि महान् राज्य अपने से बाहर के साध्यों के आधीन हो जाता है और उनके इस सम्मान का समर्पण करा लेना मुश्किल है। पर अगर हम एक ओर युद्ध रोकना चाहते हैं और दूसरी ओर राष्ट्रों के बीच आर्थिक न्याय भी करना चाहते हैं तो इसके अतिरिक्त और कोई नही।

—५—

जिनके लिए क़ानून एक सीधा-सा आदेश है; जिस स्रोत से उसका उद्‌गम होता है उसी के नाते विधि-विहित—उन्हें ये जटिलताएँ शायद ही प्रिय होंगी। हमने इस बात पर ज़ोर दिया है कि क़ानून, असल में, राज्य की संकल्पना नही बल्कि वह है जिससे राज्य की संकल्पना को नैतिक बल प्राप्त होता है—जितना कुछ भी नैतिक बल हो। माना हुई बात है कि यह सरलता का परित्याग है। इसमें यह माना गया है कि आज्ञाकारिता का समाधान सामाजिक संगठन के सब जटिल तथ्यों में है, तथ्यों के किसी एक वर्ग में नहीं। इसमें एक साथ ही राज्य के प्रभुत्व का निषेध किया गया है और उस सूक्ष्म सिद्धान्त का जिसके कारण राज्य अपने आपको आचरण के कछ परखे हुए नियमों तक सीमित करके एक साथ ही क़ानून का स्वामी भी होता है और सेवक भी। यहाँ आग्रह इस बात का है कि क़ानून में जो महत्त्वपूर्ण है वह आदेश देने की बात नही बल्कि यह है कि उस आदेश का साध्य क्या है और उस साध्य को वह किस प्रकार पूरा करता है। वह समाज को एक पिरामिड की तरह नही मानता जिसकी चोटी पर राज्य सिंहासनासीन हो बल्कि सहयोगी हितों की एक प्रणाली मानता है जिसके द्वारा और जिसमें व्यक्ति अपनी मूल्यों की योजना को मूर्त्तिमन्त कर पाता है। उसका विचार है कि इस प्रकार पाई हुई हर वैयक्तिक योजना क़ानून को नैतिक औचित्य देती है। कहने का मतलब यह है कि क़ानून उसके संबंध में मेरे अपने अनुभव के कारण मान्य होता है, इसलिए नहीं कि वह मेरे सामने क़ानून के रूप में रखा गया है। यह अनुभव प्रायः एक ही जैसा होता है—यद्यपि उसकी मात्रा हमेशा भिन्न-भिन्न होती है।

क्योंकि समाज पर छाप डालने के प्रयत्न में सबके साथ ही वह अनुभव आदमी करता है। वह ऐसी रुचि के रूप में प्रकट होता है जो अनुभूति की वस्तुपरकता खोजती है। वह अपनी आवश्यकता की भावना से क़ानून को भर देना चाहती है। उस भावना की जैसी-जितनी पूर्ति होती है उसी के आधार पर वह क़ानून को परखती है। अतः वह ऐसी सामाजिक परिस्थितियों की माँग करती है जिसमें साध्य इतना महत् भी हो कि उसकी सिद्धि की जाये और अपने अनुरूप भी हो। अधिकारों के विचार का महत्व यहाँ प्रकट होता है क्योंकि वे ही क़ानून के पथ को ऐसा बनाते हैं कि इच्छा-पूर्ति की मंज़िल की ओर उन्मुख रहे और जो इच्छा-पूर्ति चाहते हैं उन्हें यह हक है कि वे अपनी ज़रूरतों को दूसरों की ज़रूरतों के बराबर ही महत्वपूर्ण समझें। तब क़ानून हितों के गुम्फन द्वारा हितों के मूल्यांकन के रूप में उदित होता है। यह समूचे सामाजिक ताने-बाने का कृत्य है, उसके किसी एक पहलू का नहीं। वह समूचा सामाजिक ताना-बाना जो अपनी इच्छाएँ बताये, उसमें जिस हद तक क़ानून मदद देगा, उसी हद तक वह शक्ति-सम्पन्न होगा।[1]

क़ानून को हितों का मूल्यांकन मानने की अवधारणा से हम समाज में व्यक्ति के स्थान के संबंध में सबसे सफल उपलब्ध दृष्टिकोण तक पहुँचते हैं। हम यह मान सकते हैं कि कुछ हित आदमी के लिए इतने वैयक्तिक होते हैं कि उनकी पूर्ति अलग-थलग रह कर ही हो सकती है। इस तरह हम उस दर्शन के मिथ्यापन से बच सकते हैं जो आदमी की अर्थवत्ता सामाजिक पूर्णता का अंग होने में ही मानता है। हम यह भी मानने को तैयार हैं कि हित नितान्त असमंजस हो सकते हैं और जहाँ सामंजस्य सम्भव हो भी वहाँ भी उसका प्रयत्न बड़ा लम्बा और नाज़ुक होता है। जहाँ कहीं समन्वय होगा वहाँ कुछ न कुछ बलिदान करना पड़ता है और यह बात समझ लेना आवश्यक है कि इसका फ़ैसला व्यक्ति ही कर सकता है कि जो बलिदान किया गया है उसकी क़ीमत मिली है कि नहीं।

उनके फ़ैसले निस्सन्देह अलग-अलग होंगे क्योंकि उनके संबंध कभी एक-से नहीं होते। उसका परिपार्श्व मानो असंख्य व्यक्तित्वों के बदलते हुए बहुरूपदर्शी यंत्र से बनता रहता है। इस निर्णय की सत्यता उस सावधानी और ज्ञान पर निर्भर होगी जिसके बल पर लोग अपनी ज़रूरतों का समेकन दूसरों की ज़रूरतों से करेंगे। वह निर्णय कभी पूर्ण या निर्दोष न होगा क्योंकि वह ऐसी प्रक्रिया का अंग है जिसकी जड़ें अतीत में बिखरी हुई हैं और जो अज्ञात दिशा की ओर उन्मुख है। हर आदमी जो संश्लेषण करता है वह कुछ खास आदतों में प्रतिफलित होता है और ये जब, दूसरों की आदतों के साथ सार्थकता प्राप्त करना चाहती हैं तो निश्चय ही दुःख-दर्द और दबाव का अनुभव कराती हैं। अतः जब जीवन-संघर्ष में हित एक-दूसरे को आघात पर आघात देते हैं तब जो द्वंद्व चलता है उसे कम करने की ज़रूरत है। कोई भी ऐसा सामंजस्य सारवान् नहीं हो सकता जिसे उसके परिणामों से प्रभावित अधिकांश मन उचित न बतायें।

---

१. कैब—मॉडर्न आइडिया आफ़ स्टेट (१९२२) में अनुवादक की भूमिका। इसका बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है—विशेषतः पृष्ठ ४५ और देखिए इकानौमिका नवम्बर (१९२९) में मेरा निबन्ध 'दी स्टेट एण्ड का'।

परन्तु इस औचित्य से यह लक्षित नहीं होता कि वह कोई वैयक्तिक या स्वार्थपरक बात है। इसका मतलब यह है कि घटना-चक्र में जिस चीज़ का आदमी मूल्य समझता है वही मूल्यवान मान ली जाती है। इसका अर्थ है कि उसकी औचित्य की भावना वही है जो उसके लिए सामाजिक संगठन के मानों को मान्य बनाती है और किसी भी तरीक़े से उससे किसी चीज़ को मान्यता नहीं दिलाई जा सकती। अतः मैं नहीं मानता कि समर्पण कभी भी नैतिक दायित्व हो सकता है जब तक कि उसके करने में व्यक्ति की औचित्य-भावना का समावेश न हो —वही उसे नैतिकता देती है। राज्य की ओर से 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला व्यवहार लोगों को जिस धरातल पर विवश कर सकता है वह नैतिकता से इतर धरातल होगा—हां, उसके साथ एक तोषप्रद नैतिक अनुरोध हो तो बात और है। ऐसा होगा—इसे हम निश्चित नहीं मानते। हम यही आशा कर सकते है स्वीकृति के लिए जो फ़ैसले तैयार किये जायें उनकी जाँच-परख जिम्मेदारी के साथ और उनमें समग्रतः जो कुछ निहित है उसका सम्मान करते हुए की जायेगी।

हमारे सामने जो तथ्य हैं, और किसी दृष्टिकोण की उनसे संगति नहीं बैठती। और कोई दृष्टिकोण दबाव डालने वाली सत्ता मे नैतिक तत्त्व का ऐसे आधार पर समावेश करने का प्रयत्न भर कर सकता है जिसमें विश्लेषण करने पर दबाव डालने की शक्ति के तथ्य का ही उद्घाटन होता है। वह शक्ति बढ़ती हुई जीत की मंज़िल तक पहुँच सकती है पर इसी बात से वह नैतिक माध्यम नहीं बन जाती। हम तो यह बात कहते हैं कि हमारे आचरण वहीं तक न्याय्य होते है जहाँ तक अपनी क्रियान्विति में वे हमारे मन में निष्ठा-भावना जगा सकें। जब तक प्रभावित जन यह न कहें कि वे नियमों को ठीक इसी आधार पर मानने को तैयार ह तब तक परिणाम जाना नहीं जा सकता। और जो प्रभावित जन हैं वे तब तक ऐसा न कहेंगे जब तक उनमें अपनी बात का सम्मान करा लेने की शक्ति न हो। वे तभी ऐसा कर सकते हैं जब कि फ़ैसले से पूर्व होने वाली बातचीत में उन्हें उनका उचित स्थान मिल जाये। वह स्थान उन्हे मिल सकता है अगर हम उसे बल से नहीं वरन् आदान-प्रदान से पाया हुआ मानें—जिसमें हितों का असमान दबाव हमारे इस ज्ञान से कम हो जाता है कि अमुक चीज़ —जैसे सम्पत्ति—असामंजस्य की जड़ है। इसके यह माने नहीं कि हम बेंथमवादियों के समान हर आदमी को अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ पारखी मानते है लेकिन मैं समझता हूँ इसमें इस बात की स्वीकृति अवश्य विवक्षित है कि अपने हितों के बारे में प्रत्येक व्यक्ति की भावना की उपेक्षा हम नहीं करेंगे। अतः हमें उन अधिकरणों तक पहुँचने की पूरी छूट उसके व्यक्तित्व को देनी होगी जो अंतिम फ़ैसले करते है। हमें ऐसा कुछ करना होगा कि वे अधिकरण उस संकल्पना के प्रति अधिकाधिक जागरूक हों जिसकी अभिव्यक्ति वह करना चाहता है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि अभावों की अभिव्यक्ति उसके मन को संयत बना दे और उसे ऐसा समृद्ध बना दे कि उन अभावों की पूर्ति में कोरे वैयक्तिक कल्याण से कुछ अधिक निहित रहे। हम सफल तो होंगे पर आंशिक रूप से ही क्योंकि आधुनिक प्रशासन के पैमाने और दबाव को देखते हुए उसकी आवश्यकता की एक आंशिक झाँकी ही मिल सकती है। अतः प्रकट है कि हम जितनी दृढ़ता से उसकी आवश्यकता की भावना को व्यक्त कराने की व्यवस्था करेंगे उतनी ही उसके अपनी शक्तियों

को पूरी-पूरी कर लेने की अधिक संभावना होगी। और किसी भी आधार पर शासन का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

दो बातें और कह दी जायें। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे निष्कर्ष निकलता है कि जो राज्य लोगों को आत्म-सिद्धि नहीं करा पाता उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का उनको अधिकार है। अतः जैसा कि टी. एच. ग्रीन ने ज़ोर देकर कहा है, विद्रोह नागरिक का आनुषंगिक कर्त्तव्य हो जाता है। कइयों को यह अराजकता का सिद्धान्त प्रतीत हुआ है—फलतः उन्होंने इसकी उपलक्षणाओं से या तो यह दलील देकर कतराने की कोशिश की है कि मैं राज्य के माध्यम से ही आत्म-सिद्धि कर सकता हूँ या ग्रीन की ही तरह यह कह कर कि मुझे तब तक प्रतिरोध नहीं करना चाहिए जब तक कि लोगों की एक अच्छी खासी संख्या मुझसे एकमत न हो और मेरे साथ काम करने को तैयार न हो। मैं समझता हूँ इन दोनों में से एक भी विचार दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित नहीं। मेरी निष्ठा पर सिर्फ़ उसी राज्य का दावा हो सकता है जिसमें मुझे नैतिक औचित्य प्रतीत हो और अगर कोई राज्य इस शर्त को पूरा नहीं करता तो अपनी नैतिक प्रकृति से सामंजस्य रखने के लिए मुझे प्रयोग करना ही चाहिए। मैं मानता हूँ यह बात सच है कि मैं आत्म-सिद्धि एक आदर्श राज्य में ही कर सकता हूँ या जब तक राज्य अपनी शक्ति के प्रयोग से सिद्ध न करे तब तक हमें यह मान लेने का कोई हक नहीं कि राज्य उस आदर्श को पालने का प्रयत्न कर रहा है। ग्रीन का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत बुद्धिमत्तापूर्ण है पर उसका जिस बात पर ज़ोर है वह अधिक उपयुक्त ज़रूर है पर अनम्य तर्क से सम्मत नहीं। इस तरह का अधिकांश काम अनिवार्यतः अल्पसंख्यकों की कार्यवाही होती है। अल्पसंख्यकों की कार्यवाही के पक्ष में कम से कम अगर असंख्य जनों की मूक जड़ता भी न हो तो वह निश्चय ही असफल हो जायेगा। हमारा पहला कर्तव्य है अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चा होना और इस कर्तव्य को हम जिस हद तक पूरा कर पायेंगे उतना ही राज्य को न्याय की सेवा करने पर बाध्य कर सकेंगे। हो सकता है इसके लिए हमें दण्ड भुगतना पड़े। संभव है हम अपने आपको ऐसे व्यापक-विस्तृत प्रयास में उलझा हुआ पायें जिसकी हमने कल्पना भी न की हो। लेकिन जो कुछ हमें करना है, वह अगर हम न करें तो हमारी नागरिकता ठीक वहीं से वृथा हो उठती है जहाँ उसे महत्त्वपूर्ण बन जाना चाहिए। हम जो कुछ करते हैं सदा ही अपने को जोखिम में डाल कर, पर हो सकता है आज्ञाकारिता में जो जोखिम हो वह अन्ततोगत्वा विद्रोह के दण्ड से कहीं अधिक साबित हो जाये।

यह भी कहा गया है कि व्यक्ति को, जिसके यथासंभव अभ्युदय के लिए राज्य का अस्तित्व होता है, ऐसा कोई योगदान करना नहीं होता जिसे हम महत्त्वपूर्ण मान सकें। वह जो है और जो करता है उसकी मानव जाति के इतिहास पर कोई छाप नहीं पड़ती। सामाजिक प्रयत्न की प्रकृति को औसत लोगों के अनुकूल ढालना किसी राह चलते को राजगद्दी पर बिठा देने जैसा है। हमें तो यह बात जाननी और माननी चाहिए कि उत्कृष्टता कुछ ही लोगों की चीज़ है और उस उत्कृष्टता के अनुकूल ही हमें कार्यों का निर्धारण करना चाहिए क्योंकि अन्यथा चलने का मतलब यह होगा कि हम अलग-अलग कामों की महत्ता के भेद का निषेध कर रहे हैं और विशेषतः हम कला और विज्ञान जैसी कठिनता से समझ में

आने वाली चीज़ों को उचित महत्त्व नहीं दे रहे जब तक कि वे उपयोगितावादी कसौटी पर ही खरी न उतर आयें। बहुमत का शासन क़ायम करना उस सबका परित्याग कर देना है जो जीवन के श्रेष्ठतम तत्त्वों को उसके अनुसन्धेय विशिष्ट गुणों से सम्पन्न करता है। हमें करना तो यह चाहिए कि शक्ति का स्वामित्व उन गिने-चुने लोगों तक सीमित कर दें जो उसका उपयोग करने के योग्य हों। वे, अपनी अन्तर्हित क्षमता के कारण, मानव जाति के न्यासधरों के समान काम करेंगे।

जब से प्लेटो ने पहले-पहल अभिजात-तन्त्र का आदर्श प्रस्तुत किया है, उसमें बराबर एक आकर्षकता रही है। फिर भी, अगर बारीकी से जाँच की जाये तो ये गुण उतने परिस्फुट नहीं जितने सरसरी निगाह से देखने पर प्रतीत होते हैं। इतिहास साक्षी है कि कोई भी मानव-वर्ग दूसरों के जीवन संचालित करने में लम्बे अरसे तक पर्याप्त नैतिक ईमानदारी नहीं बरत सकता। देर-सबेर वे उनके जीवन को विकृत करके अपना मतलब साधने में लग जाते हैं और तेज़ी से सर्वेक्षण करने पर भले ही अधिकांश लोग अपने संगी-साथियों से अभिन्न प्रतीत होते हों पर उनके लिए तो विभेद की बात का ही प्रमुख महत्त्व है। वे दूसरों के आनन्द से ही आनन्द लाभ नहीं कर सकते—उन्हें अपने हृदय और बुद्धि से उसकी अनुभूति होनी चाहिए। उन्हें अपना जीवन स्वयं बनाना चाहिए क्योंकि उनमें जो कुछ सूक्ष्म और उदार है उसकी सिद्धि वे सृजन-कला में ही कर सकते हैं। न हमारे पास उन गुणों के मापने का कोई साधन है जिन्हें हम उन लोगों में देखना चाहेंगे जो हमारे ऊपर शासन करते हैं और उससे पहले देखना चाहेंगे जब कि हम उन्हें उभरने का अवसर देते हैं। वे अपने आपको किसी जाति या वर्ग-विशेष तक सीमित नहीं रखते। वे ज्यों-ज्यों अपना प्रमाण देते हैं, हम उन्हें पहचानते जाते हैं और उन्हें प्रमाण के लिए अधिक से अधिक क्षेत्र देकर हम उनके लिए सबसे समृद्ध व्यवस्था कर सकते हैं। इस तरह देखें, तो आदमी अपने आपको घटना-चक्र का नियन्ता बनाने का प्रयत्न कर सकता है क्योंकि उन्हें जीवन की चुनौती स्वीकार करने का अवसर होता है। अनात्म जगत उनके लिए रहस्यमय बना रह सकता है पर उनके अन्तर में उस रहस्य को भेद लेने का आवाहन अवश्य होता है। इस आवाहन में बलिदान की ललकार परितृप्ति से किसी प्रकार कम नहीं होती। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि वह बलिदान की राह पर तृप्ति की मंजिल तक पहुँचने का आवाहन होता है। यह इस बात का तकाज़ा है कि हम आत्मा के वरदानों का संग्रह करें; कि हम आम आदमी के स्वभाव को सृजनात्मक प्रयोजन से भरा-पूरा बना दें; कि हम स्वामित्व के छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर न लड़ें-झगड़ें वरन् मन-मस्तिष्क के बड़े मसलों को विचार का विषय बनायें। अगर हमें स्वतंत्र मानवों की तरह इस चुनौती का सामना करना है तो अपनी सारी कल्पना और विचार-शक्ति को समेटकर यहाँ केंद्रित कर देना होगा। इससे कठिन और दुर्गम और कोई जीवट का काम नहीं। पर जैसी —स्पिनोज़ा की उक्ति है—अच्छी चीज़ें जैसी दुर्लभ होती हैं, वैसी ही दुरुह भी। अगर हम आगे बढ़ने का साहस सँजो पायें तो आखिर में चोटी पर पहुँच ही सकते हैं।

खण्ड २

अध्याय—८

राजनीतिक संस्थाएं

व्यवहार दृष्टि से देखें तो आधुनिक राज्य में ऐसे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है जो आदेश देते और उन्हें क्रियान्वित करते हैं और उनका असर जिन लोगों पर पड़ता है उनकी संख्या बहुत है—उनमें वे स्वयं भी शामिल हैं। उसके स्वरूप का यह एक मूल तत्व है कि उसके नियत प्रदेश में वे आदेश हर नागरिक के लिए क़ानूनी दृष्टि से बाध्यकर होते हैं।

वे रूप कौन-से हैं जिनके द्वारा वे अपने नियत साध्य की ओर अग्रसर हो सकते हैं? अरस्तू के समय से यह प्रायः माना गया है कि राजनीतिक शक्ति को मोटे तौर पर इन श्रेणियों में बांटा जा सकता है: पहली तो है विधान-शक्ति। वह समाज के आम नियमों का विधान करती है। वह ऐसे सिद्धान्त नियत कर देती है जिन्हें सामने रखकर समाज के सदस्यों को अपना रास्ता निर्धारित करना होता है। दूसरी है कार्यकारी शक्ति। यह उन नियमों को विशेष स्थितियों पर लागू करती है। उदाहरण के लिए जहां वृद्धावस्था में पेंशन देने का क़ानून बना दिया गया है, इस शक्ति को धारण करने वाला उन लोगों को निश्चित रकमें अदा करा देता है जो उन्हें पाने के अधिकारी हैं। तीसरी है न्यायिक शक्ति। यह उस तरीक़े को परखती है जिसके द्वारा कार्यांग ने अपना काम पूरा किया हो। यह देखना उसका काम है कि कार्यांग-सत्ता का प्रयोग विधानांग द्वारा बनाये हुए आम नियमों के अनुसार हो; वह यह फ़ैसला दे सकती है कि कोई विशेष आदेश दरअसल शक्ति-परस्तात् है—जैसे एक्स पार्टे ओ ब्रायन[1] में। जहां कहीं भी कोई ऐसी समस्याएं खड़ी होती हैं जिनका हल समझौते द्वारा नहीं हो सकता वहां यह शक्ति एक ओर तो नागरिकों के पारस्परिक संबंध तय करती है और दूसरी ओर नागरिकों और सरकार के संबंधों का फ़ैसला करती है।

यह बात हम पहले ही मान लें कि ये श्रेणियां आदमी की बनाई हुई हैं, प्रकृति-जन्य नहीं। अगर एक ही संस्था द्वारा या एक ही व्यक्ति के नाम पर इन सब कृत्यों के सम्पन्न किये जाने की बात सोची जाये, तो वह बिल्कुल असम्भव है और सच तो यह है कि आज के लोकतन्त्रात्मक राज्य में उनके बीच का भेद हमेशा बनाये नहीं रखा जा सकता। विधानांग अक्सर कार्यांग के काम भी पूरे करता है—उदाहरण के लिए अमरीका की सैनिट जब प्रेज़ीडैण्ट की नामज़दगी की पुष्टि करती है तो यही होता है। वे न्यायांग के काम भी सम्पन्न करते हैं। हाउस आफ़ लार्ड्स हाउस आफ़ कामन्स द्वारा अधिकृत प्राभियोग को कार्यान्वित करने वाली अदालत की तरह है। कार्यकारी संस्थाएं—खासकर इन दिनों—ऐसे काम भी करने लगी हैं जिनका एक ओर तो विधान बनाने के काम से और दूसरी ओर

---

१. प्रसंग पूर्व पृष्ठों में।

से तुलना की जा सके—और, चाहे कुछ भी हो, आम सान्धानिक विधान-मंडल पर जो दबाव होता है, वह संसद से किसी तरह कम नहीं होता—अपने विवेच्य क्षेत्र के सीमित होने के कारण उसे जो फ़ायदे होते हैं, अपने नियत क्षेत्र में गहरी पैठ की आवश्यकता के कारण उतना ही नुकसान हो जाता है। असल में, यह दबाव तो निषेधात्मक राज्य के विध्यात्मक राज्य मे रूपान्तरण का स्वाभाविक परिणाम है। इसके अतिरिक्त अगर कोई उन विषयों की सूची पढ़े, जो स्थानीय विधान-मंडलों को सौंपे जाने है, तो इस बात की ओर उसका ध्यान जरूर जायेगा कि वे अपेक्षाकृत कितने महत्त्वहीन है।[1] शिक्षा, जेलों और सार्वजनिक स्वास्थ्य को छोड़ दें तो उनमे से अधिकांश ऐसे है जो संसद के समय का बीसवाँ हिस्सा भी नहीं लेते। और इनमें से भी आवासन और राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा मे ऐसे बड़े-बड़े वित्तीय सवाल उठते है कि जिन्हें कोई भी स्थानीय विधान-मंडल हल नहीं कर सकता—अतः उनके फ़ैसलों पर केन्द्र का नियंत्रण रहेगा और संसद की पुनरीक्षा भी। इसके अलावा शक्तियों के ऐसे बँटवारे का मतलब होगा कि अधीनस्थ विधान-मंडलों में जो भी क़ानून बनाये जाये, उनकी हर स्थल पर अदालती पुनरीक्षा हो—इस तरह अदालतों का काम बेहद बढ़ जायेगा।[2] इसके साथ ही असैनिक नौकरी करने वालों की संख्या बहुत बढ़ेगी क्योंकि अब जो काम केन्द्र द्वारा किये जाते है, उनके लिए तिहरे अमले की ज़रूरत पड़ेगी। और गौण सवाल तो उपेक्षित ही रह जाते है–जैसे चुनावों का बढ़ जाना और संसद के बाहर उनमें स्थानीय रुचि को उद्दीपित करना बड़ा मुश्किल हो गया है। इतना निश्चय है कि मुख्यतः प्राविधिक क़िस्म के नये मसले उनके सामने रखने से—कि बैठे गुत्थियाँ सुलझाते रहें—वह रुचि बढ़ेगी नही।

मैं समझता हूँ राजनीति मे यह एक सामान्य सत्य है कि उचित विधान-मंडल पाने के लिए दो बातें ज़रूरी हैं। एक तो यह कि विधान-मंडल को महत्त्वपूर्ण सवाल सुलझाने की शक्ति होनी चाहिए और दूसरे यह कि ग़ैर-सरकारी सदस्य की स्थिति को महत्त्व दिया जाये। आधुनिक राज्य की संसद इन दोनों शर्तो को पूरा करती है और मैं समझता हूँ प्रस्तावित स्थानीय विधान-मंडल इनमें से एक भी पूरी नहीं कर सकते। जैसा मै पहले कह चुका हूँ जहां शिक्षा और आवासन जैसे महत्त्वपूर्ण मामले आयेंगे, वित्त के कारण उसका असल नियंत्रण फिर केन्द्रीय विधान मंडल के हाथ में चला जायगा; आम सदस्य की दिलचस्पी लायसेंस देने की और धर्म की कार्यवाहियों में होगी—फलतः औसत सदस्य में वह गौरव-भावना उद्‌बुद्ध न होगी, जो बड़े-बड़े सवालों से जूझने के कारण आती है। हम जिस तरह की समस्या इस वक्त सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं, उसमें प्रादेशिक सत्ता-केन्द्रों की संख्या बढ़ती

---

१. कांफ्रेन्स आन डिवोलूशन—१९२०, परिशिष्ट ३—पृष्ठ १६-१७ देखिए, इकॉनामिका, मार्च, १९२५ में हेण्डरसन और लास्की, और चिआओ—डिवोलूशन इन ग्रेट ब्रिटेन (१९२२)

२. चाहे भले हो अदालती समिति को सौंपने के बारे में मुरे मैकडानल्ड की योजना (वहीं पृष्ठ १३) मान ली जाये और वह ग़ैर-सरकारी लोगों को अदालत की शरण लेने से न रोके।

जाने से कोई मदद नहीं मिलेगी। इसमें शक नहीं कि कुछ सवाल सचमुच प्रादेशिक होते हैं; और क्षेत्र की समस्या को छोड़ दें तो स्थानीय और केन्द्रीय का दोहरा विभाजन उनकी ज़रूरतों को देखते हुए बिल्कुल उचित लगता है। जहाँ दूसरे ममले पैदा होते हैं, मैं समझता हूँ यह मालूम होगा कि उसमें निहित विचार कुछ और ही हैं। आम सिद्धांत के बारे में अब की तरह केन्द्र का ही संकल्प होना होगा लेकिन आम सिद्धांत को लागू करना प्रादेशिक नहीं, कारणिक विदान का मामला है। हमारा भविष्य यह खोज निकालने पर निर्भर है कि सच्ची औद्योगिक इकाइयों का केन्द्रीय विधान-मंडल से उसी प्रकार संबंध कैसे जोड़ा जाये, जैसे प्रादेशिक इकाइयों का जोड़ते हैं। उन इकाइयों और विधान-मंडल के बीच शक्ति के बँटवारे में ऐसे मसले पैदा नहीं होते जो उनसे कुछ खास भिन्न हों जिन पर हम इसी अध्याय में पहले विचार कर चुके है। जब तक हम अपनी औद्योगिक संस्थाएँ बनाना न चाहें, तब तक इस परस्पर संबंध के बारे में विचार स्थगित करना ही अच्छा है।

—२—

किसी राज्य का विधान-मंडल नागरिकों द्वारा चुना जाता है। यह चुनाव कैसे किया जाता है? चुने हुए व्यक्तियों और निर्वाचकों के बीच क्या संबंध रहेंगे? मैं इसी ग्रंथ में पहले कह चुका हूँ कि आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्य में सार्वभौम बालिग मताधिकार के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। राज्य अपने हर सदस्य का वशवर्ती होता है ताकि वह अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि कर सके और युक्ति-सम्मत बात है कि उसे वोट देने का अधिकार हो ताकि राज्य कार्यों के बीच रह कर उसने जो कुछ अनुभव किया है, उसे अभिव्यक्ति दे सके। मैं यह नहीं कहता कि सार्वभौम मताधिकार में कोई ऐसे व्यावहारिक गुण हैं जिनके कारण वह और प्रणालियों से अपने आप ही अच्छा हो—लेकिन सिद्धांत की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिये—अपवर्जन की कोई ऐसी कसौटी दिखाई नहीं देती जो राज्य को अपना साध्य आगे बढ़ाने में मदद दे। अगर संपत्ति को मताधिकार का अधिकार मान लें तो राज्य का हित केवल संपत्ति के स्वामियों तक ही सीमित हो जाता है। ऐसी कोई तरकीब अब तक मालूम नहीं हुई कि शैक्षिक योग्यता को राजनीतक योग्यता का पर्याय बना दिया जा सके। इस आधार पर अपवर्जन करना तो, कि कोई आदमी सरकारी सहायता पा चुका है, आर्थिक दुर्भाग्य को अपराध की कोटि में घसीट लाना है। किसी अदालत द्वारा दंडित होने के आधार पर अपवर्जन समझ में आता है, बशर्ते कि वह अपराधों के एक छोटे से दायरे तक सीमित हो। परन्तु यहाँ भी अवधि-सीमा ज़रूर लागू होनी चाहिए। क्योंकि हम यह नहीं चाहते कि जियाँ वाल्जियन जैसे लोग नागर जीवन में अपना पूरा हिस्सा लेने से रह जायें। पागलपन और दिमाग की कमज़ोरी आदि और ही बातें हैं। वहाँ अपवर्जन का सीधा-सहज आधार यह होता है कि सामाजिक अर्थ से पुष्ट किसी भी दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि असंभव है।

लेकिन चुनाव करने के लिए निर्वाचक मंडल सुव्यवस्थित तो होना ही चाहिए। समूची बालिग आबादी किसी बहुत बड़ी सूची से उनका चुनाव नहीं कर पा सकती, जिन्हें वह पसंद करती है। स्पष्ट है कि विधान-मंडल के सदस्य और उसके मतदाताओं के बीच किसी न किसी तरह का स्थानीय संबंध अवश्य होना चाहिए। वह संबंध कैसा होना चाहिए? मोटे

तौर पर, हमारे सामने दो पद्धतियाँ है जिनमें से किसी एक को हम अपना सकते हैं। एक तो यह कि बराबर के चुनाव-हल्के हों और हर एक से एक सदस्य चुना जाये; दूसरा यह कि कुछ बड़े-बड़े बराबर के क्षेत्रो को हम इकाइयाँ मान लें और उनमें से हर एक से समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर कई-कई सदस्यों का चुनाव किया जाये।

यह बात शुरू में ही समझ लेनी चाहिए कि विधान-मंडल का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी पार्टी या दल के सदस्य की हैसियत से ही चुना जायगा। लोकतंत्र राज्य का जीवन पार्टी-पद्धति पर ही निर्मित होता है और इसका विचार प्रारम्भ में ही कर लेना जरूरी है कि मामलों के प्रबन्ध में पार्टी क्या काम अंजाम देती है। संक्षेप में, उनके योगदान की सबसे अच्छी परिभाषा यह है कि पार्टियाँ उन मसलों को व्यवस्थित रूप देती हैं, जिन पर लोगों को वोट देना होता है। जाहिर है कि आधुनिक राज्य की उथल-पुथलमय और बिखरी हुई स्थिति में कुछ न कुछ समस्यायें ऐसी छाँटनी ही पड़ेंगी जिन्हें हम अन्य समस्याओं की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण और जरूरी समझें। ऐसी समस्यायें छाँटनी होंगी जिनका हल हम समझते हों कि तुरन्त ही होना चाहिए और उनके जो हल हम पेश करें, वे नागरिक-निकाय को मान्य होने चाहिए। छाँटने का यही काम पार्टी करती है। श्री लावेल के शब्दों में: वह विचारों के दलाल का काम करती है। मत-सम्मतियों, भावनाओं, विश्वासों के अपार पुंज से—जो निर्वाचक मंडल को प्रभावित कर सकते हैं—वह उन-उनको ग्रहण कर लेती है, जिनके बारे में उसकी धारणा हो कि उन्हें आम तौर से मान लिया जायेगा। वह ऐसे व्यक्तियों को पकड़ती है, जो उनके अर्थ के संबंध में उसके अपने दृष्टिकोण को आगे बढ़ा सकें और उस दृष्टिकोण को ही ऐसा मसला बताती है, जिस पर मतदाता को अपना निर्णय करना होता है। अपनी शक्ति के कारण वह उन लोगों को चुनाव के लिए खड़ा करती है, जो उसके दृष्टिकोण से तादात्म्य करने को तैयार हों। चूँकि उसके विरोधी भी यही सब करते हैं अतः निर्वाचक-मंडल एक समुदाय की तरह मत दे पाने में सफल होता है और वे ही फ़ैसले जो अन्यथा अन्धेर खड़ा कर देते, एक सामंजस्य और दिशा पा जाते हैं।

पार्टियों के उद्भव का विवेचन करने के प्रयास में बहुत सा समय गँवाया जा चुका है। कुछ का मत है कि पुरातन के साथ चिपके रहने वालों और नवीन का अभिनन्दन करने वालों के सहज विरोध के फलस्वरूप उनका जन्म हुआ। अन्यों का मत है कि उनका आविर्भाव आदमी की यूयुत्सु वृत्ति के कारण हुआ है। एक बात स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी एक अकेला कारण पर्याप्त नहीं है। समाज में संकल्पनाओं का द्वंद्व चलता है और उस द्वंद्व का निपटारा होता है उस मध्यवर्त्ती समूह के फ़ैसले से जिसे किसी सामान्य कारण की सचाई में दृढ़ विश्वास नहीं होता। समर्थन पाने के लिए अपना दृष्टिकोण विज्ञापित करना ज़रूरी होता है। पार्टियाँ इस साध्य की पूर्ति का एक सहज ढंग होती हैं। उनका रूप अधिकांश में समय-समय की परिस्थितियों पर निर्भर होता है। वे धार्मिक मसलों को लेकर अपना संगठन कर सकती हैं—जैसे १६वी शताब्दी के फ्रांस में; वे आर्थिक समस्याओं की की नींव पर भी विकास पा सकती है—जैसे आजकल के इंगलैंड में। स्वभावतः वे युयुत्सु-वृत्ति को उभारती हैं; और यह भी स्वाभाविक ही है कि अति मौलिक हल जवान

खून को आकर्षित करेंगे। इतना अवश्य निश्चित है कि पार्टियों के अभाव में हमारे पास जनता का फ़ैसला इस ढंग से हासिल करने का कोई साधन न रह जायेगा, कि जो हल हम पायें, उन्हें राजनीतिक दृष्टि से संतोषजनक कहा जा सके।

हाँ, पार्टियों का अस्तित्व सहज-स्वाभाविक है, कहने का मतलब यह हरगिज़ नहीं कि उनमें कोई कमी नहीं। उनमें दल-विभाजन की वे सभी बुराइयाँ मौजूद रहती हैं, जिन पर मैं पहले के किसी अध्याय में विचार कर चुका हूँ। वे जो मसले खड़े करती हैं, उन्हें तोड़-मरोड़ कर पेश करती हैं। वे निर्वाचक-मंडल में विभाजन पैदा कर देती हैं—जिस राय की दरअसल जितनी ताकत होती है, उसका बड़े ही ऊपरी तौर पर उन विभाजनों में द्योतन होता है। उनके प्रति जो वफ़ादारी होती है, वह हद-से-हद एक समझौता-सा होती है; अपूर्ण होती है। अपने पैदा किये हुए मसलों को वे ग़लत परिपार्श्व में प्रस्तुत किया करती हैं। वे लोगों में ऐसी निष्ठा-भावना जगाती हैं, जो उनके विचारों में जड़ें जमा लेती हैं—वे उनके अचेतन मन को अभिभूत करती हैं और आदमी के विवेक का अपने पूर्वाग्रहों के पोषण के लिए उपयोग करती हैं। फिर भी, उनकी बड़ी-से-बड़ी आलोचना कर लीजिये, लेकिन एक बात सही है कि लोकतंत्र राज्य के प्रति उनकी सेवायें भी अनमोल हैं। वे लोक-मन की अंट-संट उमंगों को संविधि पुस्तकके पन्ना तक नहीं पहुँचने देतीं—सीज़रवाद[1] के खतरे से रक्षा करने वाली वे सबसे सुदृढ़ चट्टान हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे निर्वाचकों को ऐसे विकल्पों में से अपना चुनाव कर लेने का अवसर देती हैं जो सरकार बनाने का एकमात्र संतोषजनक तरीक़ा होते हैं—चाहे भले ही वे एक कृत्रिम विभाजन का द्योतन करते हों। बात यह है कि आधुनिक राज्य में लाखों-करोड़ों वोटर प्रायः हर मसले पर हद से हद यही कर सकते हैं कि उनके सामने जो हल रखे जायें उन्हें या तो स्वीकार करलें या रद्द कर दें। यह मंच इतना विशाल होता है कि मात्रा-भेद की थोड़ी-बहुत बारीकियाँ लोक-मन पर अपनी छाप नहीं डाल सकतीं। उसके पास न तो इतना अवकाश होता है—और न ही वह इतना उद्बुद्ध होता है—कि अपनी संकल्पना से आम रुझान के इंगित से अधिक कुछ कर सके। सूक्ष्म समंजन जो होने हैं, वे तो होने चाहिएँ विधान बनाने की प्रक्रिया के दौरान में।

अगर यह सच है तो निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई राजनीतिक प्रणाली उतनी ही अधिक संतोषजनक होगी, जितना वह अपने आपको दो बड़ी पार्टियों की प्रति-पक्षता द्वारा अभिव्यक्त कर पाये। दोनों में कुछ हद तक मतों की विविधता हो सकती है। हो सकता है कि दोनों अपने में उन कुछ ही गिने-चुने सक्रिय लोगों को समेट पायें जो राज-नीतिक काम-काज में अपना समय लगाने को राज़ी हों। लेकिन इस सबसे यह स्पष्ट है कि अनेक छोटे छोटे दलों की अपेक्षा दो पार्टी-पद्धति कहीं अच्छी है—वही एक ऐसा तरीक़ा है जिससे लोग निर्वाचन के वक्त सीधे सरकार का चुनाव करने का मौका पा सकते हैं। इस पद्धति के कारण सरकार अपनी नीति को संविधि का रूप दे सकती है। अपनी असफलताओं के परिणाम भी वह ज़ाहिर करती है और सबको समझाती है। उससे एक वैकल्पिक सरकार तात्कालिक अस्तित्व में आ जाती है। अनेक दलों की पद्धति अपनाने का मतलब यह है कि

[1] सीज़र निरंकुशता.

जब तक लोग विधान सभा न चुन लें तब तक सरकार नहीं बनाई जा सकती। उसका मतलब यह है कि कार्यांग किसी विचार-समष्टि का द्योतन न करेगा; उसके मतवादों के मजमे में कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा होगा—मतवादों के उन थिगड़ों में हर एक शक्ति हथियाने की ख़ातिर अपनी ईमानदारी की कुर्बानी करने को तैयार रहेगा। इसका यह भी मतलब होगा कि हर सरकार की ज़िन्दगी बहुत छोटी-सी रहा करेगी; सरकार का तख्ता पलटने के लिए दलों की नई-नई गुटबन्दियाँ होंगी क्योंकि विधान-मंडल के लिए यही सबसे दिलचस्प कसरत हुआ करती है। और सरकारें थोड़े-थोड़े समय पर बदलते रहने का मतलब यह है कि कोई सामंजस्यपूर्ण नीति अमल में नहीं लाई जासकती, इसमें शक नहीं कि अनेक दल-पद्धति शायद इस बात का द्योतन ज़्यादा सही ढंग से करती है कि लोक-मन सचमुच किस ढंग से विभाजित है लेकिन एक व्यावहारिक कला के रूप में वह शासन के लिए घातक है। प्रशासन में एक चीज़ अनिवार्य है और वह है अनिश्चय का अभाव। यह ज़रूरी है कि कार्यांग नीति की एक सुव्यवस्थित योजना के सहारे अग्रसर होता रहे। इसका अर्थ है कि किसी एक दल का बहुमत हो क्योंकि तभी स्थायी सरकार बन सकती है। अन्यथा विधानांग कार्यांग पर इस तरह हावी हो जाता है कि उसे कोई बड़ा क़दम उठाने का मौक़ा ही नहीं मिल सकता और जो वक्त बड़े-बड़े कामों में लगाया जाना चाहिए वह पदों के लिए कुचक्र रचने में बीतता है—फल अन्त में यह होता है कि पद हाथ में आने से पहले ही छिन जाया करते हैं।

इस विवेचना के आधार पर, किसी भी निर्वाचन-पद्धति में चार आम बातें ज़रूर होनी चाहिएँ। उसमें ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि विधान-सभा जनता की दिलचस्पी के बड़े-बड़े मसलों पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की रायों का द्योतन कर सके। इस बात की ज़रूरत नहीं कि वह गणितीय विशुद्धता लाने की कोशिश करके उस राय की समग्र प्रवणता को द्योतित करे—दरअसल अगर उसे कारगर रहना है तो वह ऐसा कर भी नहीं सकता। उसे यह तो व्यवस्था करनी होगी कि हर दल की बात सुनी जाये पर उसे लोक-निर्वाचन को केवल प्रधान दलों तक ही सीमित रखना होगा ताकि सरकार का काम अविच्छिन्न और सामंजस्यपूर्ण रहे। दूसरी बात यह कि जिन क्षेत्रों से विधान-मंडल के सदस्य चुने जाते हैं, वे इतने छोटे होने चाहिए कि उम्मीदवारों से निर्वाचकों का सचमुच परिचय रह सके और चुनाव के बाद उम्मीदवारों की अपने निर्वाचकों से और भी निकटता रहे ताकि उनके बीच एक निजी संबंध का विकास हो। तीसरे, चुनावों के बीच में मतदाताओं की राय की रुझान जान कर आम चुनाव के नतीजों की जाँच का भी कोई साधन रहना चाहिए—इंगलैण्ड और अमरीका में उपचुनाव की पद्धति से इसकी स्तुत्य सिद्धि की गई है। चौथे, यह पद्धति इस तरह विकसित होनी चाहिए कि सत्तारूढ़ सरकार से मतदाताओं का यथा-संभव सीधा संबंध रहे। वे यह महसूस करें कि वह अपनी उनकी चुनी हुई सरकार है और जब विधानीय पद की अवधि निकल जायगी, तो वह सरकार के रूप में अपने कार्यों की सूची के साथ फिर उनके सामने जाँच और पुनर्विचार के लिए पेश होगी।[1]

---

१. डा० एच. फाइनर की पुस्तिका 'दी केस अगेन्स्ट प्रोपोरशनल रिप्रेज़ेण्टेशन' (फ़ाबियन सोसायटी, १९२४) में इसका बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

इन कारणों से हम समानुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति अस्वीकार करते है जिसके द्वारा बहुमत-सिद्धांत से उत्पन्न कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। मैं यहाँ उन युक्तियों की विस्तारपूर्वक विवेचना नही कर सकता जो उसके पक्ष में पेश की जाती है—यहाँ तो उसके अस्वीकार करने के आम कारण बता देना भर काफ़ी होगा। ये पहले ही समझ लेना चाहिए कि ये कारण मूल रूप से व्यावहारिक है। इस समय के चुनाव-क्षेत्रों की बजाय ऐसे चुनाव-क्षेत्र बनाये ही जाने चाहिएँ जिनसे कई सदस्य चुने जायें और इस प्रकार हमें चुनाव की जटिलता को गहन कर देना चाहिए और राजनीति में पेशेवर संगठनकर्त्ता की शक्ति को बढ़ाना चाहिए। हमें सदस्य और उसके निर्वाचकों के बीच व्यक्तिगत संबंध की प्रत्याशा का समूल नाश कर देना चाहिए—वह सूची में एक शीर्ष भर बन कर रह जायगा जिसको केवल पार्टी का सदस्य होने के नाते वोट दिया जायेगा। हमें कमज़ोर सरकार बनानी चाहिए और उसे वह समर्थन कभी मुहय्या न होने देना चाहिए जिसके बल पर सरकारें बड़े-बड़े कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया करती ह। हमें उन ऊल-जलूल कल्पनाओं की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए जो समय-समय पर—टिशबार्न दावेदार और श्री बटमाली के समर्थकों की तरह—असली मसलों के द्वन्द्व को आच्छन्न कर लेती हैं। सम्मति बदलने की कसौटी के रूप में उपचुनावों की कोई व्यवस्था हमें नहीं करनी चाहिए और हमें किसी एक पार्टी मे विसंवादियों को स्वतंत्र समूह का रूप ले लेने का बढ़ावा देना चाहिए—जिसका मतलब है अन्ततोगत्वा वही दल-पद्धति। इस तरह जहाँ सरकारें बनती हैं, वह जगह हमें बदल देनी चाहिए—समग्र देश की बजाय अब उनका निर्माण विधान सभा के अबूझ अन्तराल में हो। और फिर सबसे अधिक, वैयक्तिक सदस्य की ज़िम्मेदारी भी हमें घटा देनी चाहिए—उनमें यह भावना उभार कर कि उसका अपना प्रयत्न भले ही कुछ भी हो, उम्मीदवारों की सूची बनाने वाले पार्टी के संगठनकर्त्ता इस बात की व्यवस्था किसी न किसी तरह कर ही लेंगे कि उसका चुनाव हो जाये। मै समझता हूँ, चुनाव व्यवस्था में इस तरह की कोई भी पेचीदगी लाने का नतीजा निश्चय ही यह होगा कि राजनीतिक प्रक्रिया में नागरिकों की दिलचस्पी घटती चली जायगी।

इन कमियों और दोषों को दूर करने के लिए समानुपातिक पद्धति में किसी निस्तार की व्यवस्था है? कहा जाता है कि उसमें राष्ट्रीय विचार का अब की अपेक्षा ज्यादा अच्छा और सही प्रतिनिधित्व होगा। परन्तु सच तो यह है कि राष्ट्रीय विचारों की शायद ही कोई ऐसी बारीकियाँ होंगी, जिनकी अभिव्यक्ति अब विधान सभा में नहीं हो जाती। और विविधता पाने के लिए जो त्याग किया जाता है, वह तो नितान्त सन्देहास्पद है। यह भी कहते हैं कि इस पद्धति में स्वतंत्र व्यक्तियों को अवसर मिल जाते हैं जबकि अब उनका बहुत हद तक अभाव रहता है। मै समझता हूँ कि इस विचार में कोई ख़ास तथ्य नहीं कि क्योंकि इस पद्धति में निहित बड़े चुनाव-क्षेत्र में अलग-अलग उम्मीदवारों का महत्त्व नहीं होता, महत्त्व होता है उस सूची द्वारा उत्पन्न समग्र प्रभाव का जिसमें उस उम्मीदवार का नाम शामिल हो। इस पहलू से देखें तो जितना ही कोई उम्मीदवार स्वतंत्र होगा, उतना ही निर्वाचक मंडल पर सूची के ठोस प्रभाव पड़ने का कम अवसर होगा और पार्टी के संगठनकर्त्ता की प्रवृत्ति उन लोगों को उम्मीदवार चुनने की होगी, जिन पर यह आस्था हो कि वे नियमित

नितचर्या में हेर-फेर करने का प्रयत्न न करेंगे। मेरा दृढ़ विचार है कि यह मत भी निराधार ही है कि एक सदस्य वाले चुनाव-क्षेत्र में अल्पसंख्यकों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता जबकि समानुपातिक पद्धति में यह ख़तरा भी दूर हो जाता है। डा० फ़ाइनर ने सुन्दर शब्दों में इस तथ्य का आख्यान किया है : "अल्पसंख्यकों का क्षितिज-पटल चुनाव-क्षेत्र की चौहद्दी में आबद्ध नहीं होता"। विधान सभा के सामने ऐसे विकल्प रख कर—जिन्हें या तो पूरी तरह मान लिया जाये या रद्द कर दिया जाय—सरकार नहीं चलाई जा सकती। वहाँ पर जो आदान-प्रदान चलता है, उसमें हर संगठित अल्पसंख्यक वर्ग को यह मौक़ा मिलता है कि अपने विचारों को अभिव्यक्ति दे; दबाव की उस समग्रता में अपने 'वजन' का उपयोग करे जिसका प्रतिफलन किसी प्रस्ताव क रूप में होता है। राजनीतिक फ़ैसले नोट गिन कर और उनका हिसाब-किताब लगा कर नहीं किये जाते। क़ानून बनाने की प्रक्रिया में प्रभावों का पलड़ा किस ओर झुकता है—इसका महत्त्व कहीं अधिक है। और उसमें अल्पसंख्यकों को अपनी राय और इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए उचित संस्थाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

इस पद्धति के एक पहलू के बारे में दो शब्द कह दिये जाये—उस पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। दलील दी जाती है कि एक सदस्य वाले चुनाव-क्षेत्र में हो सकता है कि मुझे कोई भी ऐसा उम्मीदवार न मिले, जिसका मै समर्थन करना चाहूँ। लेकिन यह बात तो अनेक सदस्य वाले क्षेत्र में भी घटित हो सकती है : 'दूसरी ओर, एक-सदस्य वाले चुनाव-क्षेत्र में मै कम से कम अपने वोट का पूरा वज़न उस पार्टी के पक्ष में तो लगा ही सकता है, जिसे मैं सत्तारूढ़ देखना चाहता हूँ; अनेक-सदस्य वाले क्षेत्र में तो मै सिर्फ़ उसका एक अंश भर दे पाऊँगा, और जो बाद की तरजीहें, मै दूँगा, उनका मेरी प्रत्यक्ष इच्छा से कोई समानुपातिक संबंध न होगा। एक सदस्य वाले चुनाव-क्षेत्र में—जहाँ ऐसी तीन पार्टियाँ हों जिन्हें निश्चय ही स्थायित्व मिल जाना हो—वैकल्पिक वोट के बारे में थोड़ा-बहुत कहना आवश्यक है। परन्तु वहाँ भी जो तरजीहें अभिव्यक्त की जाती हैं, उनमें कोई सच्चा सम्बन्ध नही होता—और हो सकता है, इस पद्धति के फलस्वरूप किसी ऐसे व्यक्ति के बजाय जिसके पक्ष में लोकमत का सच्चा गहन संघात हो, कोई गया-गुज़रा व्यक्ति चुन लिया जाये। उसमें यह भी खतरा है कि निर्वाचन-प्रवृत्ति की प्रमुख धाराओं से असम्बद्ध ख़ास मसलों को लेकर लड़ने वाले उम्मीदवारों की संख्या जितनी अधिक होगी, उतनी ही इस बात की सम्भावना ज्यादा होगी कि अगर व चुन लिये गये तो विधान सभा की संघटना आणविक होगी और अगर हार गय तो यह कि उन्होंने अपने समर्थकों के अपने आपको तत्कालीन सरकार से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों को पराभूत कर दिया है।

इस सम्बन्ध में एक आख़िरी बात और कह दी जाये। यह तो नहीं लगता कि आधुनिक राज्य की कठिनाइयाँ कुछ ऐसी हैं कि चुनाव-व्यवस्था में सुधार करने से उनका कोई ख़ास उपचार हो सके। वे कठिनाइयां मुख्य रूप से नैतिक है। हम लोक-प्रज्ञा का स्तर ऊँचा उठा कर आर्थिक पद्धति में सुधार करके उन्हें पार कर पायेंगे; —लोगों से सम्मति के क्रमबद्ध परिमाण के समानुपात में चुनाव कराके नहीं। जहां कही भी समानुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को आज़माया गया है, उसने लोक-जीवन के स्तर को कोई ख़ास ऊँचा नही उठा कर दिखाया। बेल्जियम में तो इसके कारण आज़ादी से हाथ धोने तक की नौबत पहुँच

गई। स्विटज़रलैण्ड में छोटे-छोटे दलों की ऐसी बाढ़-सी आ गई कि कोई संगत-सामंजस्यपूर्ण राय उभर नहीं पाई। उसका मतलब हमेशा ही होता है कमज़ोर सरकार और कमज़ोर सरकार का अन्ततः अर्थ होता है अनुत्तरदायी सरकार। अल्पसंख्यक राज्य में अपने उचित प्रतिनिधित्व के बारे में तब तक आश्वस्त रह सकते हैं, जब तक वे अपने विचारों को अभिव्यक्ति दे सकें, और उन्हें सुव्यवस्थित कर सकें जिससे उन्हें प्रेरणा-शक्ति हासिल हो। और आम तौर से, दो-पार्टी प्रणाली एक ऐसा तीव्र द्वंद्व पैदा कर देती है, कि दोनों ही ऐसे विचारों के लिए उत्कंठित रहती हैं जो जनता का समर्थन पा सकें। अतः विचारों की गति प्रायः पार्टियों की व्यापकता की ओर होनी चाहिए, दलों की सृष्टि की ओर नहीं। हाँ, हो सकता है ऐसा समय आये जब यह स्पष्ट हो जाये कि एकान्वित रहना असंभव हो गया है और आत्म-सिद्धि का एकमात्र रास्ता यही है कि मतदाताओं से स्वतंत्र अपील की जाय। इंगलैण्ड में १९०६ से लेकर लेबर पार्टी के साथ यही हुआ था। लेकिन लेबर पार्टी के औचित्य की कसौटी इस बात में है कि उसमें नया दो-पार्टियों का संतुलन पैदा करने की कितनी योग्यता है—और यह बात सभी विद्रोहियों के बारे में सच है।

—३—

अतः ऐतिहासिक अनुभव का आम सबक यही प्रतीत होता है कि राज्य बराबर-बराबर के चुनाव-हल्क़ों में विभाजित हो और उनमें से हर एक में से विधान सभा के लिए एक-एक सदस्य चुना जाये। अपने निर्वाचिकों के साथ उस सदस्य का सम्बन्ध क्या होना चाहिए? सबसे पहले एक धारणा को अपास्त कर देना ज़रूरी है जो विधानांग के समुचित होने के लिए घातक होती है। किसी चुनाव-क्षेत्र के सामने यह प्रतिबन्ध न होना चाहिए कि वह अपने ही क्षेत्र में किसी निवासी को चुने—जैसा कि अमरीका में है। संकीर्णता के प्रसार के लिए इससे अच्छा और कोई साधन नही हो सकता। इस जानकारी से ज़्यादा कि हार का अर्थ होगा राजनीतिक जीवन का अन्त और कोई भी चीज़ आदमी को अशुभ अनिष्टकारी हितों के सामने घुटने टेकने के लिए बाध्य नहीं करती। दूसरे पहलू में भी इसका अर्थ होता है भारी बरबादी। राज्य में योग्यता की जो समष्टि होती है, वह चुनाव-खंडों में कोई गणित के अनुसार सही-सही वितरित नहीं होती। डेलावेयर और नेवडा की अपेक्षा न्यूयार्क में ऐसे लोगों की संख्या अधिक होने की संभावना है, जो सैनिट के कार्य में महत्त्वपूर्ण योग देने की क्षमता रखते हों। जिस सिद्धांत में हार का मतलब हो राजनीतिक क्षेत्र से लगभग स्थायी निर्वासन वह समुदाय के लाभों में कोई वृद्धि नही करता। आक्सफ़ोर्ड में मात खाने के बाद अगर श्री ग्लैडस्टोन को दक्षिण लंकाशायर में शरण मिल जाये, और श्री चर्चिल मानचैस्टर से डैण्डी चले जायें, तो इसमें कोई बुराई नहीं—यह अच्छा ही है। और दृष्टिकोण राजनीति में अनुभवी नेतृत्त्व का मूल्य बेहद कम आँकते हैं—हो सकता है मूल में वे इस निर्व्याज अन्ध विश्वास पर आधृत हों चूँकि सब लोग योग्यता में लगभग बराबर ही होते हैं, अतः विधान-मंडल की संघटना कोई बड़ा गम्भीर मामला नहीं है। यह ग़लती बहुत बड़ी और गहरी है—मिसाल के लिए, अमरीकी कांग्रेस के घटते हुए सम्मान का यह कारण कतई नहीं है कि उसमें जनता के प्रकृत नेताओं का अभाव है। निर्वाचकों की पसंदगी

की परिधि जितनी ही विस्तृत होगी, उतनी ही राजनीतिक संस्थाओं के सुचारु परिचालन की अधिक संभावना रहेगी।

कभी-कभी सुझाव दिया जाता है कि विधान-सभा का सदस्य या तो कोई प्रत्यायुक्त हो या प्रतिनिधि; वह या तो उस तरह वोट दे जैसी उसे ताकीद हुई है अथवा जिन मसलों पर उसे फ़ैसला करना है, उनमें अपने विवेक और समझ से काम ले। यह नितान्त गलत प्रतिपक्ष है। कोई भी आदमी अपने समग्र विचारों का आख्यान नहीं कर सकता—कुछ तो इसलिए कि ऐसा करने का वक्त नहीं होता, और कुछ इसलिए कि नये मसले तो पैदा होते ही रहते हैं। और उनमें एक-एक मसले पर अलग-अलग वह अपने मतदाताओं से इस तरह परामर्श नहीं कर सकता कि उनका सुविचारित निर्णय पा जाये। हर निर्वाचन-क्षेत्र को अधिकार है कि वह किसी सदस्य की सामान्य प्रवृत्ति की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्राप्त करे। युगीन प्रश्नों पर उसके विचार जानने का पूरा हक निर्वाचन-क्षेत्र को है। कोई निर्वाचक अगर सदस्य के किसी राजनीतिक कार्य के लिए उससे जवाबतलब करे तो वह मुनासिब ही होगा। लेकिन सदस्य अपने निर्वाचन-क्षेत्र के सामने बहुमत वाली पार्टी का दास नहीं होता। उसका चुनाव इसलिए होता है कि अपनी बुद्धि और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार जो कुछ सबसे अच्छा समझे, करे। अगर वह किसी स्थानीय गुप्त गुट से ताकीद पाया हुआ प्रत्यायुक्त मात्र होता तो न तो उसके कोई नैतिक बन्धन होते, और न कोई व्यक्तित्त्व ही होता। ज़ाहिर है, उसे यह हक नहीं कि उन्मुक्त व्यापार के हिमायती के रूप में चुना जाये और फिर तुरन्त ही संरक्षण-शुल्क का समर्थन कर उठे। उसे यह अधिकार नही कि चुना जाय और फिर साल भर के लिए दुनिया की सैर पर निकल पड़े। उसे गरिमा के साथ स्थिरमति रहना चाहिए और अपना कर्तव्य निबाहने में उचित परिश्रम करना चाहिए। इन बातों में जितना कुछ निहित है, उससे अधिक की आशा करना किसी निर्वाचन-क्षेत्र के लिए संगत नहीं और जो निर्वाचन-क्षेत्र अपने सदस्य में आस्था रखता है उसे पता चलेगा कि कुल मिलाकर सदस्य की ओर से उसका संतोषजनक उत्तर मिला है। इस संबंध के बारे में बर्क की श्रेण्य व्याख्या आज भी उतनी ही सत्य है, जितनी तब थी जब ब्रिस्टल के भ्रान्त निर्वाचकों के सामने पहली बार उसका आख्यान किया गया था।

लेकिन मैं समझता हूँ कि एक और सुरक्षण की आवश्यकता है। किसी चुनाव-क्षेत्र ने अपना जो सदस्य चुना है, अगर उसके काम से वह संतुष्ट नही तो अगले चुनाव में उसे अस्वीकार करने का अवसर हमेशा ही उसके पास रहता है। अगर अमरीका की तरह चुनावों के बीच में सिर्फ़ दो ही साल का अन्तर होता है, तो ग़लत चुनाव के कोई ख़ास भयंकर परिणाम होने की संभावना नहीं होती। परन्तु—जैसा कि मैं बाद में विवेचन करूँगा—विधान-मंडल के लिए दो साल का समय बहुत ही थोड़ा होता है—इस छोटे से अरसे में वह किसी व्यापक नीति को संविधि का रूप नहीं दे पा सकता। इसके लिए पाँच वर्ष का समय बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है। और इस अरसे में निर्वाचक या तो स्वयं सदस्य के प्रति या उसके द्वारा समर्थित सरकार के प्रति सुविचारित असंतोष व्यक्त करने की इच्छा का अनुभव कर सकता

१. स्पीच टु दि इलैक्टर्स ऑफ़ ब्रिस्टल—संग्रह (संस्करण १८१५)—अध्याय ३, पृष्ठ ११

हैं। मैं समझता हूँ कि उनके पास ऐसा साधन होना चाहिए कि उनके उस विचार को सभी जानें-समझें।

अतः मै समझता हूँ कि प्रत्यावाहन कहे जाने वाले उपाय को किसी न किसी रूप में मान लेने से हमारी चुनाव-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्द्धन हो जायेगा। स्पष्ट है कि यह ऐसा शस्त्र न होना चाहिए जिसे मनचाहे तब आसानी से इस्तेमाल कर लिया जाय। अगर वैसा हुआ, तो वह सदस्य तुरन्त प्रत्यायुक्त का रूप ले लेगा, और यम-पाश (डैमोक्लीज़ की अशुभ तलवार) की काली छाया के नीचे रहेगा—और यह बिल्कुल निश्चित-सा ही है कि कि वह तलवार उसके सिर पर गिराने की व्यवस्था करेंगे, उसक अपने चुनाव-क्षेत्र के सबसे अधिक अवांछनीय तत्त्व। लेकिन उचित सुरक्षणों की व्यवस्था की जा सकती है—और उससे निर्वाचक सदस्य और उसकी पार्टी की वर्तमान पद्धति की अपेक्षा कहीं ज़्यादा बारीकी से जाँच कर सकेंगे। सदस्य को चुने जाने की असली तारीख से ज़ब तक एक साल पूरा न हो जाये, तब तक प्रत्यावाहन लागू नहीं होना चाहिए; और विधान-मंडल की सत्ता की अवधि पूरी हो जाने से पहले के १२ महीनों के भीतर भी उसे कारगर नहीं किया जाना चाहिए। कहने का मतलब यह कि वह उन तीन बरसों के लिए कारगर होगा जब संसद ज़ोर-शोर से अपने काम में रत होगी और ऐसे प्रस्तावों पर विचार कर रही होगी जिनकी कसौटी पर बाद में उसे परखा जायेगा। ज़ाहिर है, प्रत्यावाहन की तब तक कोई कोशिश नहीं की जायेगी, जब तक उसकी माँग के पीछे कम से कम आधे निर्वाचकों की राय का बल न हो। उसके बाद उन्हें चुनाव-क्षेत्र में उप-चुनाव कराने का आवेदन करने का हक होगा लेकिन ऐसा उप-चुनाव जिसमें वोटर यह फ़ैसला करेंगे कि वे अपने सदस्य को काम करते रहने देना चाहेंगे या नहीं। मैं समझता हूँ उसका तब तक प्रत्यावाहन न किया जाये, जब तक वोट देने वालों का कोई दो-तिहाई अनुपात उसे बदलने के पक्ष में न हो। अपने इस सीमित रूप में प्रत्यावाहन कुछ ख़ास-ख़ास बहुत ही आत्यंतिक मामलों पर लागू होगा और उसका एक बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि वह समूचे राज्य का ध्यान उसमें निहित समस्या की ओर आकृष्ट करेगा। इसका उस सदस्य पर जो, सचमुच अपना काम निष्ठापूर्वक कर रहा हो, तब तक कोई असर नहीं पड़ेगा जब तक कि जिस पार्टी की वह हिमायत कर रहा है वह जानबूझ कर जनता की राय के आम रुझान के प्रतिकूल ही न काम कर रही हो। उस हालत में यह इस बात का बड़ा महत्त्वपूर्ण संकेत हो जायगा, कि अगले आम चुनाव में पार्टी की तकदीर कैसी रहने की संभावना है। प्रत्यावाहन के हथियार का जब इस प्रकार उपयोग किया जायगा, तो वह प्रतिनिधि सरकार में अविश्वास का सबूत न होगा, बल्कि विधान-मंडल को यह चेतावनी देने का साधन होगा कि उसे अपने आपको विश्वस्त बनाना चाहिए।[1]

बड़ा व्यापक विश्वास है कि जन-निर्देश और उपक्रम में बहुत मूल्यवान निर्वाचन-तन्त्र निहित हैं। ये विशिष्ट मसलों पर लोकमत की सीधी अभिव्यक्ति पाने की

१. प्रत्यावाहन पर प्रतिकूल टिप्पणी के लिए देखिए—लॉवेल : पब्लिक ओपीनियन एण्ड पॉपुलर गवर्नमेण्ट, पृष्ठ १४७

निषेधात्मक और विध्यात्मक इच्छा का द्योतन करते हैं—यह नीति-विषयक सामान्य और व्यापक विचार से भिन्न है जो विधान-सत्ता को नया रूप देने में निहित रहता है। जन-निर्देश और उपक्रम दोनों का अब अच्छा-ख़ासा इतिहास है—विशेष रूप से स्विट-ज़रलैण्ड और अमरीका में ऐसे उत्साही विचारक भी हुए हैं, जिन्होंने कहा है कि लोकतंत्रीय शासन की सारी कमियों का इलाज ये ही हैं। इनके विकास का कारण कदाचित् विधान-मंडलों के प्रति बढ़ता हुआ अविश्वास है जो गत आधी शताब्दी की राजनीति का एक विशेष लक्षण रहा है। इसके अलावा उनके पक्ष में एक ख़ास बाहर से दीख पड़ने वाले सत्य का आभास भी है। अगर लोक-संकल्पना की ही व्याप्ति होनी है तो इस तर्क-संगत आधार को मान लेना नामुनासिब नहीं लगता कि उस संकल्पना की सीधी अभिव्यक्ति के लिए गुंजाइश रखनी चाहिए। अतः जब कभी निर्वाचकों की काफ़ी संख्या कोई विशेष परिवर्तन चाहे या उसका विरोध करे, तो उन्हें चाहिए कि वे इस योग्य हों कि अपने विचारों की स्वीकृति के लिए लोगों का मत हासिल कर सकें।

इन पद्धतियों पर विचार करने का आधार प्रथम सिद्धांतों की अपेक्षा उनके अमल से प्राप्त अनुभव होना चाहिए। सबसे पहले तो यह बात स्पष्ट है कि उनके कारण कोई व्यापक परिवर्तन नही हुए—इसके विपरीत, जैसा कि उनके कुछ बड़े प्रबल पोषकों ने स्वीकार किया है, इसी बात की अधिक संभावना है कि वे समाज की प्रगतिशील की बजाय रूढ़िवादी शक्तियों को अपने पक्ष में संगठित कर पायें। लोक की दिलचस्पी तो उनकी ओर प्रायः कभी होती नहीं। जितने लोग किसी पद के लिए होने वाले आम चुनाव में लोगों को वोट देंगे, औसतन इससे आधे इनमें वोट देते हैं। और ऐसे मौके भी कम नहीं होते कि वोट देने वालों की संख्या इतनी कम हो कि वोट से विरत रहने वालों की असंख्यता देख कर यह कहना भी कठिन हो जाता है कि निर्णीत प्रश्न पर कोई लोकमत भी है या नहीं। यह नहीं लगता कि प्रत्यक्ष शासन से—विधानमंडल की कोटि में—उसके सुधरने या बिगड़ने की दृष्टि से कोई ख़ास अन्तर आया है। लोक-निर्णय के लिए पेश किये गये अनेक प्रस्तावों पर उस अव्यावहारिक उत्साही की छाप लगी रहती है जो विधान-मंडल की भर्त्सना का लक्ष्य बन चुका होता है। जहाँ तक प्रत्यक्ष शासन की असली क्रियान्विति का संबंध है, यह मानने का कोई कारण नही दीख पडता कि हमारी समस्याओं में उसका कोई विशेष योगदान हो सकता है।

और मैं समझता हूँ, इसके असली कारण खोजने के लिए हमें दूर जाने की जरूरत नहीं। सामूहिक वोट के द्वारा लोक-निर्णय के लिए पेश किये जाने योग्य विशिष्ट सवालों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। क्योंकि उनसे जो मसले पैदा होते हैं, उनमें प्रायः जो महत्त्व-पूर्ण होता है, वह 'हाँ' या 'ना' क जवाब की सहज वांछनीयता नहीं बल्कि अपनी संपूर्ण जटिल सांविधिक शब्दावली मे आख्यात हल-विशेष की वांछनीयता का कहीं अधिक पेचीदा सवाल है। किसी आदमी से यह पूछ लेना कठिन नहीं कि वह संरक्षण-शुल्क के पक्ष में है या नहीं पर अगर मदवार महसूलनामा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए पेश कर दिया जाये तो उससे किसी भी माने में सच्चा लोक-मत प्राप्त नही हो सकता। कोई व्यक्ति कह सकता है कि वह आयरलैण्ड के लिए डमिनियन होम-रूल (स्वराज्य) का पक्षपाती है लेकिन

उसकी इच्छा जितने रूपों में साकार हो सकती है, वे इतने विविध है कि हो सकता है उसके सामने जो रूप पेश किये जायें, उसके बारे में वह इन्कार ही कर दे कि उसमें उसकी इच्छाओं का समुचित समाहार हुआ है। असल मे, प्रत्यक्ष शासन में जो कठिनाई है, वह यह चरम कठिनाई है कि वह स्वभावतः इतना असंस्कृत उपकरण है, जिसमें उन बारीक भेदों के लिए गुजाइश ही नहीं होती, जो शासन-कला में निहित हैं। आप विधान सभा में संशोधनों और परिवर्तनों को क्रियान्वित कर सकते हैं मगर तब वैसा करना संभव नहीं होगा जब उसके सदस्यों की संख्या लाखों-करोड़ों हो जाये। अधिकांश क़ानूनों में कोई एक सिद्धांत निहित रहता है और वह प्रशासनिक विवरणों के पुंज से आच्छन्न रहता है। वह सिद्धांत अपेक्षाकृत सरल हो सकता है, पर उससे अभिज्ञता हो सकती है सिर्फ़ उन्हीं धाराओं के माध्यम से, जिनमें उसके तत्त्व मूर्तिमन्त हुए हों। उन धाराओं में प्रायः हमेशा ही प्राविधिक ज्ञान का अन्तर्भाव रहेगा और सामान्य निर्वाचक के पास उसका होना सम्भव नहीं।

इतना ही बस नहीं। ऐसे बहुत से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय हैं, जिन पर कोई राय बनाने के लिए स्वभावतः बड़े लम्बे और कठिन अध्ययन-परीक्षण की ज़रूरत होती है। जनता बिजली की सप्लाई के बारे में राष्ट्रीय नियंत्रण के सिद्धांत पर, सहमत हो सकती है परन्तु वह राष्ट्रीय नियंत्रण असल में कैसे लाया जाये, इसके तरीके मालूम करने के लिए जो खोज जरूरी है, वह जनता नहीं करेगी। कोई क़ानून उतना ही संतोषजनक होगा जितना वह अपनी क्रियान्विति की प्रविधि के सन्दर्भ में अपने सिद्धांत पर निर्भर होगा और यह लाज़मी तौर पर विशेषज्ञों की परख का मामला है। यहाँ दो बातें और पैदा होती हैं। आमतौर से यह देखा जाता है कि जहाँ प्रत्यक्ष शासन का आन्दोलन अत्यंत व्यापक होता है, वहाँ विधान सभा के प्रति अविश्वास भी बहुत अधिक होता है लेकिन सच यह है कि अनुपयुक्त विधान-मंडल का इलाज समूची व्यवस्था को फैला देना नहीं होता। वह समस्या तो एक नैतिक समस्या है जहाँ यांत्रिक प्रतिबन्ध असंगत होते हैं। दूसरे, यह बात भी साफ़ है, कि प्रत्यक्ष शासन की एक प्रम्थमिक धारणा यह है कि प्रशासन एक सीधा-सरल मामला है, जिसके बारे में हर निर्वाचक, बिना किसी खास परिश्रम के, अपने अपने विचार रख सकता है। किसी भी आधुनिक राज्य की संवि-धियों की वार्षिक जिल्दें पढ़ने वाले को ये निश्चय हो जायेगा कि यह दृष्टिकोण अपर्याप्त है। और जो प्राविधिक मसले पैदा होते रहते हैं, उन पर वोट देने वालों में काफ़ी दिलचस्पी रखने वालों की संख्या कभी इतनी बड़ी नहीं होती जिससे प्रत्यक्ष शासन की सैद्धांतिक मान्यताएँ सही सिद्ध हो सकें। मै इस बात पर ज़ोर कतई नहीं दे रहा कि अगर उन पर अमल किया जाये तो इस बात की संभावना है कि वे विधान-सभा की उत्तरदायित्त्व की भावना को ही नष्ट कर देंगीं। उसमें जनता के सामने कोई मामला पेश करने का काम उससे कहीं अधिक बार करना पड़ेगा, जितना कि अन्यथा होता। लेकिन मै समझता हूँ कि प्रत्यक्ष शासन के हिमा-यती उत्साहियों के उस विचित्र वर्ग के प्राणी होते हैं जिनका मन इस करुण विश्वास से ओत-प्रोत रहता है कि कहीं न कहीं सारी राजनीतिक बुराइयों का कोई न कोई उपचार ज़रूर है जो इस्तेमाल करने पर रामबाण सिद्ध हो सकता है। यह बात सच है—परन्तु यह मान लेने पर ही कि वह सच्चा रामबाण है समूची जनता के नैतिक और बौद्धिक धरातल का उन्नयन।

तो, आम चुनावों के बीच जो अन्तराल पड़ जाता है, उसमे वोटर क्या करें ? प्रत्यक्ष शासन को तो हम अस्वीकार कर ही चुके, और परिसीमित प्रत्यावाहन को हमने ऐसा तरीक़ा माना है जिस पर उसी हालत में अमल किया जाना चाहिए जब और कोई तरीक़ा बाकी न रह जाये। मैं समझता हूँ कि यह बात तो मानी ही जा सकती है कि अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में वे कुछ भी नहीं कर सकते। यह दुनिया इतनी बड़ी और जटिल है कि औसत आदमी के क्रिया-कलाप का उसके ढंग पर कोई गंभीर असर नहीं पड़ सकता। निस्संदेह, कोई यशस्वी राजनीतिज्ञ अथवा कोई प्रतिष्ठित विचारक ऐसा विवाद खड़ा कर सकता है जिसका असर पड़े—युद्ध के संबंध में लार्ड लैण्ड्सडौन का पत्र, श्री कैनेस की कृति 'इकानामिक कान्सीक्वेन्सिस आफ़ दी पीस' (शाति के आर्थिक परिणाम) दोनों ही अपने-अपने ढंग से ऐतिहासिक घटनाएँ थी। लेकिन आम आदमी के देखे अगर कोई ऐसी कार्यवाही करनी हो जिसके कुछ परिणाम हों तो वह संगठित कार्यवाही होनी चाहिए और संगठित कार्य का मतलब है कि संबंधों का विकास सामान्य की बजाय विशिष्ट कृत्यों की ओर उन्मुख हो। इसका कम से कम, एक अपवाद ज़रूर है। मैं समझता हूँ कि यह संभव है कि राजनीतिक पार्टियों की कार्यवाहियों को अपनी समूची जमात की संकल्पना के प्रति अब के मुकाबले अधिक जागरूक और दायित्वपूर्ण बनाया जा सके। इंगलैण्ड में लिबरल (उदार) और कंज़र्वेटिव (रूढ़िवादी) पार्टियों के होम-रूल (गृह-राज्य) और टैरिफ़ रिफ़ार्म (शुल्क-सूची-संशोधन) को स्वीकार करने के ढंग में जो अन्तर था, वह किसी का भी ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। ब्रिटिश लेबर पार्टी के आदर्श जिस प्रकार सूत्र-बद्ध किये गये हैं, वह भी सबका ध्यान आर्कषित करता है। एक में तो, नेता की संकल्पना उसके अनुयायियों पर लगभग थोप दी गई, अनुयायियों को चुपचाप उसे स्वीकार कर लेने या श्री गोश्शेन अथवा चर्चिल की तरह पार्टी छोड़ देने के अलावा और कोई चारा ही न रह गया। दूसरे मामले में, सलाहकार समितियाँ और सम्मेलनों की एक पेचीदा व्यवस्था द्वारा नेताओं और अनुयायी वर्ग के बीच विचारों का प्रवाह निरन्तर जारी रहता है जिससे हर संगठित राय, अगर अपने आपको स्वीकार नहीं करा सकती तो, कम से कम इसके लिए संघर्ष जरूर कर सकती है। वह अभिव्यक्ति अपूर्ण ज़रूर होती है, और वह हमेशा ही उस रहस्यमय परिसीमा से घिरी रहती है, जिसका कारण होता है व्यक्तित्व का प्रभाव। लेकिन मेरा विचार है कि इसमें शक की कोई गुन्जाइश नही कि ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने ऐसा तरीका निकाल लिया है, जिससे पार्टियों को अपने आम सदस्यों की संकलपना के प्रति अतीत की अपेक्षा कहीं अधिक जागरूक और दायित्वपूर्ण बनाया जा सकता है।

पार्टी के बाहर, वोटर के काम का मुख्य क्षेत्र अन्य दिशाओं में होगा। कोई सोचे तो इसे तीन मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकता है। पहले तो विशिष्ट मसलों को लेकर प्रचार करने वाली तरह-तरह की संस्थाएँ होंगी। वे अब की तरह विच्छेद-विभेद ख़त्म करने, पिछड़े हुए देशों में आदिवासियों के प्रति उचित व्यवहार करने, वर्तनी को सरल बनाने आदि के लिए आग्रह करेंगीं—सच तो यह है कि उन सभी असंख्य प्रयोजनों के लिए उनका आग्रह होगा जिन की सर्जना हमारे अपने समाज जैसा कोई भी समाज करता है। दूसरे, उत्पादक, इंजीनियर, डाक्टर, अध्यापक, खनिक आदि के रूप में भी

उनकी अलग-अलग संथाएँ होंगी। ये अपने व्यवसाय की ख़ास समस्याओं से सम्बद्ध उपचारों के लिए विधान-सभा पर दबाव डालने की जुगाड़ में रहेंगीं। परन्तु, जैसाकि मै बाद में दर्शाऊँगा, उनका क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से उतना राजनीतिक न होगा जितना अब है ; वे अपने व्यवसाय के प्रबन्ध से सम्बद्ध कारणिक संस्थाओं को प्रभावित करने की ओर ज़्यादा ध्यान देंगीं। कहने का मतलब यह कि उनका प्रयास अपेक्षाकृत एक संकुचित क्षेत्र में सिमट जायेगा और वे विधान सभा तक सीधी अपील के बजाय उन बीच की कारिणक संस्थाओं की मार्फ़त पहुँचा करेगी। मैं समझता हूँ तीसरे वर्ग में हम कार्यवाही के सब से ज्यादा बढ़ने-फैलने की उम्मीद कर सकते हैं। जैसे उत्पादकों के वर्ग अपने ख़ास हितों की रक्षा के लिए मिलकर एक हो जाते है वैसे ही उपभोक्ताओं के वर्ग के लिए भी सम्भव है कि आवश्यक परिवर्तनों के साथ वे—स्थानीय और राष्ट्रीय धरातल पर—इसी प्रकार के प्रयोजनों के लिए एक सूत्र में बँध जायें। शायद कुछ मिसालें देने से यह बात और स्पष्ट हो जाये। दुनिया में कोई ऐंसा कारण नही कि टेलीफ़ोन इस्तेमाल करने वाले टेलीफ़ोन सेवा के परिचालन पर निगरानी रखने के लिए संस्थाबद्ध न हों सकें—जैसे फ्रांस में। वे इस बात का ध्यान रख सकते हैं कि नये-नये आविष्कारों का समुचित प्रयोग किया जाये। वे यह आग्रह कर सकते है कि शिकायतों की ठीक-ठीक जाँच की जाये। वे लागत की समस्या पर निगरानी रख सकते हैं। चालू सेवा की कार्य-क्षमता को परखने के लिए वे अपने निरीक्षक रख सकते है। जहाँ टेलीफ़ोन का राष्ट्रीयकरण हो गया हो—जैसे इंगलैण्ड में—वहाँ वे डाकघर की सलाहकार टेलीफ़ोन समिति में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं अथवा जहाँ ग़ैर सरकारी टेलीफ़ोन व्यवस्था हो वहाँ इस सेवा के विकास के लिए उसका संचालन करने वाली कम्पनी के साथ काम करने के वास्ते वे एक मंत्रणा समिति नियुक्त कर सकते हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा के जैसे काम के बारे में भी यही बात सच है। अभी इंगलैंड में बीमा किये हुये आदमी के लियें बीमा-समितियों के अतिरिक्त और कोई इस बात की गारंटी नहीं कि उसके हितों का समुचित सुरक्षण हो गया और ऐसे मौके बड़े विरले होते है कि कोई शिकायत करने वाला अपना पक्ष पूरी तरह प्रस्तुत कर पाने की स्थिति में हो और इस बात की परख कर सके कि उसकी जो छानबीन हुई है वह पर्याप्त है। लेकिन अगर बीमाकृत व्यक्तियों की एक संस्था होती—उनके अपने कानूनी जानकार होते, अपने निरीक्षक होते तो स्थिति बहुत ही भिन्न होती। शिकायत की जाँच-पड़ताल करने वाले भी वे ही लोग होंगे जिनका काम होगा शिकायत करने वाले की रक्षा करना। वे चिकित्सा-वृत्ति की उचित निगरानी द्वारा सेवा के ऊँचे स्तर का विधान कर सकते हैं। वे इस तरह की व्यवस्था कर सकते हैं कि कोई भी डाक्टर जितने मरीज़ों की अच्छी तरह देखभाल कर सकता है उससे ज़्यादा की ज़िम्मेदारी न ले। बीमा कमिश्नरों के सामने जो अपीलें जायें उनमें सलाहकारों का काम कर सकते हैं। वे इस बात का प्रबन्ध कर सकते हैं कि बीमा किये हुए

---

[१] मैं समझता हूँ हाल ही में (१९२४) ब्रिटेन में भी एक ऐसी संस्था बनाई गई है।

लोगों को जितने लाभ पाने का अधिकार है वे सब उन्हें मिलें। अथवा, एक कतई भिन्न क्षेत्र में, मिसाल के तौर पर हम आधुनिक राज्य की कला-सेवा को ले सकते हैं। अभी राष्ट्रीय कला-वीथियों और संग्रहालयों में ऐसे न्यासधरों का प्रबन्ध होता है जो प्रायः प्रतिष्ठित तो होते हैं पर उस कृत्य विशेष में, जिस की पूर्ति उस संस्था का साध्य होता है, उनका कोई विशिष्ट स्थान अक्सर नही होता। इंगलैंड मे हम अक्सर ही उन परोपकारी अभिजात जनों को न्यासधर चुनते है जो कला के संरक्षकों के रूप में जाने जाना चाहते हो; अमरीका में ऐसे लोगों को चुनने की प्रथा है जिन से संस्था को नये-नये कोष मिलने की आशा हो सकती हो। अगर—खास तौर से स्थानीय वीथियों और संग्रहालयों के बारे में—ऐसे लोगों की संस्थाएँ होतीं जिनके लिए जीवन में कला का महत्त्व हो तो हम उसे राजकीय कला की समाधि बन जाने से बचा लेते—जो कि वह अक्सर हो जाया करती हैं। कुछ अंशों में तो संथा स्वयं चीज़ों को खरीदने का प्रबन्ध करती, कुछ अंशों में वह जो कुछ खरीदा जाता उसकी, कला के नमूनों के विन्यास की, संस्था से जो कुछ काम लिये जा रहे हों उनकी, आलोचना करती। वह संस्था के प्रबन्ध निकाय में अपने प्रतिनिधि नामज़द करती, वह संस्था की नीति के सम्बन्ध में प्रतिवृत्त देने के लिए यशस्वी विशेषज्ञों को नौकर रखती—खास तौर से विदेशों के लोगों को। अगर कभी ऐसा हो कि लोकतंत्र राज्य राष्ट्रीय और नगरपालिका के कार्य-क्षेत्र का महत्त्व समझ ले तो ज़ाहिरा तौर पर उसके उपयोग का क्षेत्र और बढ़ जायगा। विश्वविद्यालयों के बारे में भी यही बात सच है। इसका कोई कारण नही दिखाई देता कि आक्सफ़ोर्ड, कैम्ब्रिज और मानचेस्टर के छात्र अपने-अपने विश्वविद्यालयों की सेवा करने के लिए क्यों न संगठित हों—जैसे अमरीकी विश्वविद्यालयों के होते हैं। विश्वविद्यालय के जीवन का ऐसा शायद ही कोई पहलू होगा जिसमें उनकी मदद और सुझाव सहायक सिद्ध न हो पर एक आधारभूत शर्त है कि वहाँ जो विचार उन्हें पढ़ाये जाते हैं उनकी आलोचना की कोशिश वे न करें। और यहाँ भी विश्वविद्यालयों की प्रबन्ध संस्था में उनके प्रतिनिधियों की नामज़दगी बाहर की दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कड़ी होगी।

सार्वजनिक उपयोग की शायद ही कोई ऐसी सेवाएँ हों जिनमें किसी न किसी हद तक इस तरह का संगठन न हो सके। इसके तिहरे लाभ हैं। एक तो विचारों को ऐसी सरणियों में प्रवाहित करने का साधन मिल जाता है जहाँ उसके लाभप्रद सिद्ध होने की सब से ज्यादा आशा की जा सकती है। उस सेवा विशेष में काम के लिए जिस तरह के प्रयत्न किये जाते हैं उन पर बाहर से जाँच भी रखी जा सकती है। इससे वह दारुण स्थिति खत्म हो जाती है जिस सेवाओं के उपभोक्ता को उन चीज़ों से ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाने के लिए छोड़ दिया जाता है जिन पर प्रायः उसका कोई बस नहीं होता। और, ज़ाहिर है, कि उन नतीजों के फलस्वरूप ऐसी राय पैदा होती है जिस का असर सीधे राजनीतिक पार्टियों के प्रयत्नों पर पड़ता है और उनके माध्यम से स्वयं विधान सभा पर। विधान सभा पर तो इसका असर दो तरह से पड़ता है। एक तो इसका असर नीचे से पड़ता है—जैसे-जैसे संथाएँ राजनीतिक पार्टियों को अपने विचार जानने-समझने के लिए

बाध्य करती हैं; दूसरे इसका असर ऊपर से पड़ता है—जैसे-जैसे वे कार्यांग से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करती जाती है। यह कार्यांग तक पहुँच जाना कोई असम्भव काम नहीं है। आज की प्रशासन सत्ता वैसे भी सलाहकार समितियाँ बनाती है जिसमें उस काम से सम्बद्ध पक्षों के भी प्रतिनिधि रहते हैं। युद्ध-काल में इंगलैण्ड में खाद्य-मंत्रालय की उपभोक्ता-परिषद् ने महत्त्वपूर्ण सेवा की—वह अधिकारियों के समक्ष एक ऐसा निकाय प्रस्तुत करती थी जिन पर कोई भी नीति आम तौर पर लागू किये जाने से पहले आज़मा कर देखी जा सके।[1] इस बात की ज़रूरत है कि प्रशासन के हर विभाग में यह प्रयोग करके देखा जाये—जहाँ कहीं भी इसके रचनात्मक होने की आशा हो। राजनीति की सरगर्मियों में नागरिक समुदाय की सीधी दिलचस्पी के सम्बन्ध में हम उन को जितना अधिक प्रत्यय करा सकेंगे, राजनीतिक प्रयास का परिणाम उतना ही अच्छा होने की आशा की जा सकती है।

परन्तु अगर यह मान लिया जाये कि ऐसे संगठन के साथ-साथ सार्वजनिक शिक्षा का स्तर भी ऊँचा उठता है तो राजनीतिक प्रविधि में दिलचस्पी के व्यापक रूप से बढ़ने की आशा करना बेकार सा ही है जब तक कि इस बात का अच्छा-खासा गहरा ज्ञान न हो कि उसका मतलब क्या है। हम उस चीज़ में लोगों की दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकते जिसे समझने की उनको शिक्षा ही न मिली हो। फ़िलहाल, वोट देने वालों का असंख्य बहुमत यही धारणा बनाये बैठा है कि राजनीति ऐसे नियमों और विचारों पर आधारित रहस्यमयी घटनाओं का अम्बार है जो—उनका ख्याल है कि—उनके जीवन से दूर-दूर तक का सम्बन्ध नहीं रखते—और उनकी यह धारणा बिल्कुल ग़लत है। इस धारणा को हमें ख़त्म करना है। यह तभी हो सकता है जब राजनीतिक प्रक्रिया उनके लिए सुबोध बना दी जाए और उसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा का काल इतना लम्बा हो और उसका स्तर इतना ऊँचा हो कि औसत आदमी की नागरिकता उसके लिए एक जीवन्त सत्य बन जाये। जो लोग सार्वजनिक शिक्षा के इतिहास से परिचित हैं, वे जानते हैं कि यह कोई असम्भव कल्पना मात्र नहीं है। कठिन ज़रूर है क्योंकि आदमी चिन्तन करने के लिए प्रेरित किया जाना कम ही चाहता है। परन्तु एक बार प्रेरित होने पर वे देखेंगे कि चिन्तना में कितना आनन्द है—जिन्होंने पहले यह प्रयास किया है, उनका यही अनुभव है। हमारी आशाओं के अंकुरित होने के लिए यही सच्ची भूमि है।

—४—

इस प्रकार निर्वाचित विधान-सभा कैसी होगी? राजनीति-शास्त्र का यह तो एक मतवाद-सा है कि वह दो सदनों से मिलकर बननी चाहिए। यह माना जाता है कि एक सदनी सरकार लोकतन्त्र में जल्दबाज़ी की प्रवृत्ति को गरिमा से आविष्ट करने के बराबर है। हमें इस चक्र में कहीं एक रोक की ज़रूरत है। हम किसी ऐसी व्यवस्था की ज़रूरत है जो उस निकाय की प्रथम, अपरिष्कृत प्रेरणाओं को अटका रखे—उस निकाय का निर्वाचक मंडल से ताज़ा ही ताज़ा सम्पर्क रहता है और अपनी अनुभवहीनता में वह हर तरह के

१. तुलना कीजिए—बेवरिज, 'दी पब्लिक सर्विस इन वार एण्ड पीस'

नयपन को ग्रहण करने के लिए तैयार रहता है। दूसरे सदन से ठीक यही सुरक्षण प्राप्त होता है और यह बात ध्यान देने की है कि आधुनिक संसार में लगभग सभी महत्त्वपूर्ण राज्यों ने दुसदनी व्यवस्था को ही अपनाया है।

फिर भी यह बात नहीं भूल जानी चाहिए कि दुसदनी व्यवस्था अधिकांश में इतिहास का एक संयोग मात्र है। द्विभाजन की प्रेरणा सर्वत्र अंग्रेज़ी संविधान की प्रवृत्तियों से ग्रहण की गई है लेकिन अंग्रेज़ी इतिहास में भी ऐसे क्षण आये हैं जब यह लगा है कि संसद के शायद तीन या चार सदन होना अच्छा रहेगा। दूसरे सदन की समस्या का विवेचन करने के लिए उसके सम्भावित रूपों पर विचार करना शायद सब से अच्छा रहेगा। तब हम उसके पुनरीक्षण की ज़रूरत और उसकी विधि-संगतता पर ज़्यादा अच्छी तरह निर्णय कर पायेंगे। किसी संधान-राज्य में केन्द्रीय विधान सभा की समस्या इससे बिल्कुल ही अलग है और मैं उस पर आम मसले से अलग विचार करूँगा।

दूसरा सदन निर्वाचन-आश्रित हो सकता है—उसका चुनाव या तो उसी समय हो सकता है जब पहले का हो या बीच की अवधि में किसी समय हो सकता है। और इस प्रकार के सदन को वही शक्तियाँ हो सकतीं हैं जो पहले को प्राप्त हों या फिर उससे कम शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। मैं समझता हूँ इस प्रकार का संविधान साफ़ तौर से असन्तोषप्रद है क्योंकि ज़ाहिर है कि बराबर की शक्तियाँ होंगी तो कभी-न-कभी गतिरोध पैदा होगा और गतिरोध होगा तो सिद्धान्तों पर असन्तोषजनक समझौता भी कियाजायेगा। एक साथ दोनों सदनों के चुने जाने का मतलब है सिर्फ़ उनकी सदस्यता को दोहरा बनाना; अलग-अलग वक्त पर उनका चुनाव करने का मतलब है क़दम-क़दम पर कार्यांग की कार्य-क्षमता को घटाना—अमरीका के अनुभव ने यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है। जहाँ दूसरे सदन को हीनतर शक्तियाँ प्राप्त होती हैं वह सिर्फ़ एक स्थगित करनेवाली या पुनर्विचार करने वाली सभा का काम कर सकता है और मैं बाद में यह दर्शाऊँगा कि ये कृत्य कतई असम्भव मान्यताओं पर आधृत हैं।

इंगलैण्ड में दूसरा सदन बिल्कुल आनुवंशिकता पर आश्रित होता है—अलबत्ता उसमें कुछ थोड़े बहुत सदस्य क़ानून के ज्ञाता होने के नाते अवश्य रखे जाते हैं। इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में जो कुछ स्थापना की गई है उसके आधार पर देखें तो इस प्रणाली के पक्ष में कहने योग्य कोई भी बात नहीं। इसमें यह निहित है कि राज्य में एक छोटेसे वर्ग को स्थायी रूप से बिल्कुल अलग समझ लिया जाये और नीति-नियंत्रण की विशेष शक्ति उसे दे दी जाये। यह तो समान नागरिकता का निषेध हुआ और राज्य का तो आधार ही यह है कि वह अपने निर्णयों में सदस्यों के समान हितों की रक्षा करे। हाउस आफ़ लार्ड्स का इतिहास एक ऐसी सभा का इतिहास रहा है जिसने अपनी दृष्टि बड़ी दृढ़ता से सदैव अतीत की ओर रखी है—और उसके निर्माण-सिद्धान्त को देखते हुए यह स्वाभाविक ही है। रूढ़िवादी (कंज़र्वेटिव) सरकारों के अधीन वह मानो निद्रामग्न रहा है और उदारदलीय सरकारों के अधीन सक्रिय। जब तक उसकी संघटना संख्या की दृष्टि से बिल्कुल उपहास्य ही न कर दी जाये तब तक उसमें श्रम (लेबर) पार्टी के उचित प्रतिनिधित्व की कोई गुंजायश नहीं हो सकती। और उसकी शक्तियाँ संसद-अधिनियम

(पार्लियामेंट एक्ट) जैसी किसी संविधि से भले ही सीमित कर दी जायें पर उसके सदस्य अपने सिवाय और किसी का प्रतिनिधित्व नही कर सकते ।

दूसरा सदन पूरी तरह से नामज़द किया हुआ भी हो सकता है जिसमें मूलतः सदस्यों का चुनाव कार्यांग द्वारा किया जायेगा और उसमें जब-जब और जो-जो जगहें खाली होंगी उन्हें भरेगा भी कार्यांग ही। सदस्यता जीवन भर के लिए भी हो सकती है और एक निश्चित अवधि के लिए भी—एक ही व्यक्ति का फिर से चुनाव हो भी सकता है और नहीं भी। चुनाव करने के लिए क्षेत्र असीमित भी हो सकता है या वह उन्हीं लोगों तक के लिए सीमित भी किया जा सकता है जिन्होंने विशिष्ट क्षेत्रों में—जैसे उद्योग, व्यवसायों और सरकारी नौकरियों—में नाम कमाया हो। लेकिन जाहिर है इस सदन के पास वह सत्ता जो लोक द्वारा निर्वाचित सदन के हाथों में हो सकती है—यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि वह नामज़द किया हुआ है, निर्वाचित नहीं। वह ज़्यादा-से-ज़्यादा या तो पुनरीक्षा कर सकता है या स्थगन। उसके एक ऐसी सभा बन जाने की आशंका सदा रह सकती है जो किसी भी संबंध में अपने ही अनुभव को समस्त समाज का तद्विषयक अनुभव मान बैठें। नामज़द सभा का एक रूप तो वह हो सकता है जो कैनाड़ा की सैनिट का है जिसे शायद स्वयं अपना विश्वास भी प्राप्त नही। और कैनाडा की सैनिट से यह चेतावनी भी मिल जाती है कि नामज़द किये हुए दूसरे सदन में खाली होने वाली जगहों को कार्यांग अपने ही समर्थकों से भर ले सकते हैं। और जब उसकी संघटना इस प्रकार की होगी तो इस बात की सम्भावना नहीं कि वह प्रथम कोटि के महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों का विरोध करे। अगर वह ऐसा करता है तो वह या तो कार्यांग को कमज़ोर बनाता है अथवा उचित परिस्थितियाँ होने पर लोकमत को सम्भावित चुनौती देते हुए आम चुनाव करा देता है। इस तरह के निकाय का कोई ठोस महत्त्व हो सकता है—ऐसा नहीं लगता।[1]

दूसरा सदन अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित भी हो सकता है जैसे आजकल फ्रांसीसी सैनिट या जैसे १९१३ से पहले अमरीकी सैनिट हुआ करती थी। लेकिन इस हालत में भी अगर ऐसा सदन चुनाव के वक्त तत्कालीन सरकार के प्रतिकूल हो तो वह उसके काम का स्तर गिरा कर उसे मिट्टी में मिला देता है और अगर अनुकूल है तो शायद वह बेकार ही है। और अनुभव ने यह बात कतई साबित कर दी है कि भ्रष्टाचार को बढ़ाने के जितने भी तरीके हैं उन सब में अप्रत्यक्ष चुनाव सब से खराब है। यही कारण है कि अमरीका ने संविधान में संशोधन करके जनता द्वारा चुनाव की व्यवस्था की। यह बात मालूम हो गई थी कि उस से पहले के तरीके में औसत सदस्य के किसी न किसी बड़े व्यापारिक गुट का गुर्गा होने का डर रहता था। अगर अप्रत्यक्ष चुनावका आधार हीनतर विधान-मंडल न होकर, जैसा

---

१. लार्ड ब्रायस ने हमारे देश के लिए जिस तरह के जटिल संघटना वाले दूसरे सदन की सिफारिश की, उस पर मैं यहाँ विचार नहीं करूँगा। मुझे तो वह एकदम ऊलजलूल-सा लगता है और वर्त्तमान सभी दूसरे सदनों की जितनी कमियाँ और बुराइयाँ हैं, लगता है वे मानो एक जगह पुंजीभूत कर दी गई हों। इन सुझावों पर विवेचना के लिए पढ़िए—श्री. एच. बी. लीस स्मिथ का 'सैकिण्ड चैम्बर इन थियोरी एण्ड प्रैक्टिस' पृष्ठ २१६।

श्री ग्राहम वालस ने सुझाया है,[1] व्यापार और व्यवसाय हो तो एक और अबूझ समस्या हमारे सामने आती है और वह यह कि हर एक व्यापार और व्यवसायका एक-दूसरे के साथ इस तरह का सन्तुलन कैसे हो कि एक समुचित प्रतिनिधित्व वाली सभा की स्थापना हो सके। और तब भी एक कठिनाई यह तो रह ही जाती है कि मान लीजिए कि डाक्टर-सदस्य चुना गया है डाक्टरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए और वह चलमुद्रा और अधि-कोषण (बैंकिंग) पर राय देता है तो उसमें क्यों कोई खासियत हो ? और यदि उसकी राय में यह गुण नही तो सभा के निकट उसका महत्त्व ही कोई नहीं और अगर है तो उसका कारण यह नही कि डाक्टरी पेशे से उसका सम्बन्ध है।

एक और तरीक़ा हो सकता है—जो नार्वे में अमल में लाया जाता है और जिस की हिमायत हाल ही में श्री लीस स्मिथ[2] ने की है। इस विचार के अनुसार दूसरा सदन पहले द्वारा निर्वाचित एक छोटा-सा निकाय होगा और मोटे तौर पर उसकी सदस्यता पहले की संघटना के अनुपात मे होगी। इस प्रकार सत्तारूढ़ पार्टी की संकल्पना अपना प्रभाव जमाने के सम्बन्ध में आश्वस्त हो सकेगी और चूँकि दूसरे सदन का कार्य-काल अपना निर्माण करने वाली सत्ता के साथ ही समाप्त हो जायेगा अतः आपूर्व संघर्ष का कोई खतरा न रह जायेगा। उसके एक मात्र कार्य होंगे—स्थगन और पुनरीक्षण और उसका महत्त्व इस बात में निहित होगा कि वह जल्दबाजी या ग़लती का तो निवारण कर सकेगा पर हानि पहुँचाने की शक्ति उसमें नहीं होगी।

आम मसले पर इतना कहा जा सकता है। जहाँ कहीं किसी राज्य में विधान-मंडल दो सदनों का होगा, उनमें से एक न एक तो नेतृत्व करेगा ही। अतः उनमें में से कोई एक महत्त्व का केन्द्र भी बन जायगा और राजनीतिक मेधा प्रायः उसी सदन की ओर आकर्षित होगी। परिणाम यह होगा कि दूसरा सदन या तो एक स्थिर अगतिशील जीवन जियेगा या फिर अपनी ओर थोड़ा-बहुत ध्यान आकर्षित करने के लिए उन सभी प्रस्तावों का विरोध करेगा जिसका श्रेय पाने की वह आशा नहीं कर सकता। अपने को अशक्त-असहाय देखने की बजाय तो वह यही करेगा कि—बेंथम की सबल शब्दावली में कहें—जो बिल वह पास करना चाहता हो उन्हीं को 'हेत्वाभासों के अमोघ बाणों से तमसाच्छन्न कर दे।'[3] वह बेकार बहसों में समय बरबाद करेगा और इस तरह कार्यांग के अधिकारियों को दूसरे और कहीं ज्यादा ज़रूरी काम सम्पन्न न करने देगा। मोटे तौर पर कहा जा जा सकता है कि दूसरा अगर पहले से सहमत रहता है तो वह वृथा और फ़ालतू है, अगर असहमत रहता है तो वह परेशानी पैदा किये बिना नहीं रहेगा। जो यह दलील देता है कि एक अकेली निर्वाचित विधान-सभा की जल्दबाज़ी को रोकने का कुछ न कुछ तरीक़ा होना ही चाहिए उसमें आधुनिक राजनीति की परिस्थितियों को या तो ग़लत समझा है या वह उनकी उपेक्षा करता है। विधान शून्य में से पैदा नहीं हो जाता—वह अकस्मात् अनभ्र आकाश से वज्र की भाँति, संविधि-पुस्तक में

१. दी ग्रेट सोसायटी १९१४-१४७ ५.२८८
२. सैकिण्ड चैम्बर्स इन थियोरी एण्ड प्रैक्टिस
३. कान्स्टीट्यूशनल कोड—भाग १, अध्याय १६

प्रवेश नहीं पा जाता। जो कोई विधयक स्वीकार किया जाता है, वह विचार-विमर्श और विश्लेषण की एक लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप ही कानून का रूप लेता है। आयरलैण्ड में गृह-शासन (होम रूल) की समस्या पर—उसकी सार-स्वीकृति से पूर्व—तीस बरस तक बहस चलती रही; हाउस आफ़ लार्ड्स के सुधार का प्रश्न पूरी एक पीढ़ी से लोक-मन पर छाया हुआ है। न्यूनतम वेतन, निर्धनों को सहारा देने के क़ानून का उन्मूलन, नगर-आयोजना, खानों का राष्ट्रीयकरण—ऐसे बड़े-बड़े सवाल बरसों जनता के दिमाग में चक्कर काटते रहते हैं, तब जाकर कहीं पार्टियाँ विधान बनाने के उद्देश्य से उन्हें स्वीकार करती हैं। १९०२ के शिक्षा-अधिनियम और उसकी संघटना को पूर्ण बनाने की श्री फ़िशर की कोशिशों के बीच १३ वर्ष का लम्बा समय बीत गया था। आस्ट्रेलिया-संधान बनाने में कोई बीस बरस लग गये थे। आँकड़ों का विश्लेषण करने वाले किसी भी प्रेक्षक का ध्यान जिस बात की ओर आकर्षित होगा वह है विचारों के भावन और उसके अमल के बीच के अरसे की दीर्घता, उसकी स्वल्पता नहीं।

और, यह बात भी निश्चित है कि दूसरे सदन के कारण जिस तरह की रोक लगायी जा सकती है वह किसी तरह भी, उपलब्ध रूपों में सब से अधिक वांछनीय नहीं। राजनीतिक पार्टी जैसी कोई भी बड़ी संस्था जिस कदर धीरे-धीरे कोई नयी बात मानने की ओर प्रवृत्त होती है, आवश्यक बिलम्ब करने के लिए उसकी वह धीमी गति ही पर्याप्त है। और आवश्यक पुनरीक्षण का सब से अच्छा तरीका यह है कि सरकार प्रस्तावित विधान से प्रभावित होने वाले हितों से पहले ही परामर्श कर ले। दूसरे सदन में जो कुछ भी उसकी टीका-टिप्पणी होगी उसमें वे ही दलीलें दुहराई जायेंगी जो पहले सदन में दी जा चुकी हों। उसे जो कुछ भी कहना होगा वह विशेष ज्ञान से समन्वित तो होगा नहीं—संयोग की बात दूसरी है। वह विचार या ज्ञान के ऐसे सूत्रों को तो टटोलेगा नहीं जिन से पहले सदन का सम्पर्क न हो। ऐसे प्रयत्नों की सच्ची जगह तो सलाहकार-निकायों में है जिन से कार्यांग के विभाग घिरे रहते हैं। मिसाल के लिए, वहाँ गृह-मंत्री दुकानों के काम के घण्टों से सम्बन्ध रखने वाले अधिनियम (शाप्स आवर्स एक्ट) सचमुच दुकानदारों, उनके कर्मचारियों और उपभोक्ताओं के परामर्श से बना सकता है। वहाँ वह अपनी योजना के सम्भावित परिणामों को जितनी अच्छी तरह समझ सकता है, उतनी अच्छी तरह किसी बहस में नहीं। उनके विशेष ज्ञान से फ़ायदा उठा कर वह उसमें आवश्यक फेर-बदल कर सकता है। सदन का पुनरीक्षण या तो विशुद्ध रूप से मसौदा बनाने का प्रश्न होता है—और इस हालत में संसदीय परिषद् जैसे किसी दफ़्तर को यह काम सौंप देना सब से अच्छा रहेगा; या फिर वह सार-तत्त्व का मामला होता है और यह काम एक सदन में भी उतनी ही अच्छी तरह सम्पादित हो सकता है जैसे दो में। स्थगित करने की शक्ति, असल में, उन परिवर्तनों को पराभूत करने की शक्ति है जिन्हें निर्वाचक-मण्डल द्वारा पद के लिए चुनी हुई पार्टी आवश्यक मानती है। यह शक्ति तो सिर्फ़ निर्वाचकों के पास हो होनी

---

१. तु० सिस्टम्स आफ़ गवर्नमेंट विदिन दि ब्रिटिश एम्पाइर प० ४१ में दी हुई सारिणी से।

चाहिए और सो भी तब जब वे यह कूतने बैठें कि पार्टी अपनी सत्ता का क्या और कैसा प्रयोग करती रही है। पुनरीक्षण की शक्ति या तो अधिकांश में शाब्दिक होती है—और इस हालत में दूसरे सदन जैसी किसी महती संस्था की ज़रूरत नहीं; या फिर महत्त्व-पूर्ण—और उस दशा में वह निर्वाचित-सभा के बीच पदारूढ़ पार्टी को सीधी चुनौती होनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि पदारूढ़ पार्टी गलतियाँ करेगी और ख़ास तौर से यह कि वह वैसे ही मान बैठेंगी कि निर्वाचक अमुक-अमुक विधान के इच्छुक हैं जबकि असलियत में वह चाहे उसके विरोधी ही हों। लेकिन इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि निर्वाचक-मण्डल की संकल्पना को परखने में दूसरा सदन पहले की अपेक्षा ज़्यादा सही होगा। आवश्यक प्रतिरोध समूह की प्रगतिशीलता में और सरकार की ऐसे बड़े-बड़े परिवर्तनों से बचने की इच्छा में विद्यमान रहते ही है जो विनाशकर साबित हों। और कोई रोक अगर लगाई गई तो अनिवार्यतः उससे सुधार की नहीं वरन् निहित स्वार्थों की ओर से विरोध की दुष्प्रेरणा मिलेगी।

और अगर हम यह बात मान भी लें कि एक सन्तोषजनक दूसरे सदन का निर्माण हो सकता है तब भी यह बात उतनी ही सच है। मैं यह पहले ही कह चुका हूँ, कि वसे इस बात की कोई सम्भावना नहीं। सब से अधिक सन्तोषजनक तरीक़ा है नार्वे का, लेकिन वह एक प्रभावशाली सभा का नि प्राण कंकाल मात्र है—और कुछ नहीं। आनु-वंशिक दूसरे सदन की बात तो राज्य-प्रयोजन के प्रथम सिद्धान्तों के कारण ही ख़त्म हो जाती है। निर्वाचित सदन—यदि उसका निर्माण पहले के साथ ही साथ हो तो—उसकी पुनरावृत्ति मात्र बन जायेगा। अगर अलग समय पर निर्वाचित हो तो वह नीति-निर्धारण की राह में बाधा मात्र बन कर रह जायेगा। नामज़द किये हुए दूसरे सदन में यह कमी होगी कि अगर कैनाडा की तरह पार्टी-सिद्धान्तों के आधार पर उसकी नामज़दगी की जाये तो वह एकदम घातक होगा और अगर विशिष्ट सेवा के सिद्धान्त पर की जाये तो वह जिस सेवा को वैशिष्टय प्रदान करता है उसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से राजनीतिक प्रक्रिया से नहीं जोड़ता। लार्ड लिस्टर बहुत बड़े सर्जन थे लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह समाज बीमा के विषय पर बहस में कोई बहुत बड़ा योगदान करने के योग्य हों। लार्ड पिरी महान् पोत-निर्माता थे लेकिन इसी कारण अफ्रीकी दासता के सम्बन्ध में उनके विचार कोई विशेष महत्त्व के नहीं हो सकते। ऐसी सैनिट में हर धनाढ्य व्यक्ति समृद्ध वर्ग के स्वार्थों का ही प्रतिनिधि होगा; हर बड़े लोक-सेवक को—भारत या मिस्र से आने वाले अवकाश-प्राप्त प्रोकौंसुल की तरह या तो चिन्तन के स्वतन्त्र लोकतन्त्रीय स्वभाव के विरुद्ध पक्की तरह भर दिया जायेगा अथवा हाउस आफ़ लार्ड्स मे नामज़द किये हुए भूतपूर्व कोषाधिकारियों के समान वे विधेयकों पर बहस के बजाय जाँच-समितियों में अधिक महत्त्वपूर्ण होंगे। इसलिए सीधे एकसदनी शासन की व्यवस्था करना और सदन का निर्वाचन करने वाले निर्वाचक मण्डल तथा उसके क्रिया-कलाप का निदेश करने वाले कार्यांग पर नियंत्रण का भार डाल देना ही श्रेयस्कर है।[1]

---

१. स पूरे प्रश्न पर श्री जे. रैमसे मैकडानल्ड का वक्तव्य देखिए—सोशलिज्म एण्ड गवर्नमेंट—भाग २ पृ० ५०।

सान्धानिक राज्य में इस समस्या का स्वरूप ज़ाहिरा तौर पर कुछ भिन्न होगा उसमें आकार में अलग-अलग क्षेत्रों का संघ होता है और प्रायः उनके हित भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वे एक होकर इस ख़तरे से ख़ास सुरक्षण चाहते हैं कि कहीं वे अपने अधिक आबादी वाले पड़ोसियों के नीचे दब कर न रह जायें। अमरीका और आस्ट्रेलिया में उन राज्यों का सैनिट में बराबर प्रतिनिधित्व रख कर यह कठिनाई दूर की गई—और जर्मनी ने बुंदेसरात (सांधानिक परिषद) के द्वारा। फिर भी यह याद रखने की बात है कि जर्मनी को छोड़कर (क्योंकि यहां पर राजतन्त्रीय सिद्धान्त पर अमल होने के कारण कुछ ऐसी बातें आ गई जिन का अन्यत्र अभाव है) और सब जगह राज्यों की समानता का असर पार्टी-पद्धति के क्रियान्वय द्वारा बहुत हद तक खत्म कर दिया गया है। अमरीकी सैनिट में भी रिपब्लिकन प्रायः वैसे ही वोट देते हैं जैसे (हाउस आफ़ रिप्रेज़ेण्टेटिव्स) प्रतिनिधि सभा में। आस्ट्रेलिया की सैनिट में उदारदलीय सदस्य अपनी पार्टी को भी उतना ही याद रखते हैं जितना अपने राज्य को। सच तो यह है कि एक बार सन्धान राज्य स्थापित हो जायें तो फिर राष्ट्रीयता की एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है, जो संचार साधनों के विकास से पुष्टहोकर, प्रतिनिधित्व की असली इकाइयों को बहुत कुछ हद तक भुला-बिसरा देने की ओर प्रवृत्त होती है। इसीलिए, मिसाल के तौर पर, मैसेच्युसेट्स के हितों का अटलाण्टिक सीबोर्ड के राज्यों के हितों से भेद करना कठिन ही है; मिनेसोटा के हित खेतिहर राज्यों के मध्य-उत्तर-पश्चिमी खण्ड के हितों से अभिन्न हैं। पश्चिम वरजीनिया को जिस तरह अपने मूल राज्य में से काँट-छाँट कर पृथक् रूप दिया गया था, उससे राज्य की चौहद्दी की अवास्तविकता बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। दोनों डकोटा बिल्कुल एक भी हो सकते हैं और उन्हें नेब्रास्का और मिनेसोटा के साथ भी कतई जोड़ा जा सकता है। सच तो यह है कि अमरीका और आस्ट्रेलिया का यह सौभाग्य समझिए कि उनकी सान्धानिक समस्याओं में जातीयता का कोई पहलू नहीं—कैनाडा, जर्मनी और स्विट्ज़रलैण्ड में ऐसी बात नहीं। फ्रांसीसी-कनाडियन के सचमुच कुछ ऐसे ख़ास हित होते हैं जिन की सुरक्षा की जाये, दक्षिण-जर्मन प्रशियाई से भिन्न होता है, स्विट्ज़रलैडवासी को ख़ास धार्मिक विचारों का संराधन करना पड़ता है। परन्तु फिर भी जहाँ ऐसी विषमताएँ भी समस्या का एक अंग हों, मैं समझता हूँ दूसरे सदन से कोई सहायता नहीं मिल सकती।

स्पष्टतः कैनाडा का मामला ऐसा नहीं है। सर जे० एस० विलीसन ने[1] लिखा है: "राष्ट्रमण्डल का संगठन होने से अब तक सैनिट इस सिद्धान्त पर चली है कि कन्ज़र्वेटिव विधान के औचित्य और न्याय-संगतता पर सन्देह करना उत्तर अमरीका में ब्रिटिश संस्थाओं के साथ खुले आम गद्दारी करना है।" सृजनात्मक महत्त्व की दृष्टि से देखें तो आस्ट्रेलियाई सैनिट टूट-सी ही चुकी है। अमरीकी सैनिट राज्यवार न सही परन्तु प्रादेशिक आर्थिक हितों के आधार पर विभक्त रही ही है—कम से कम गृह-युद्ध के बाद तो ऐसा अवश्य ही रहा है। इसी आधार पर प्रतिनिधि-सभा में भी उतना ही मतभेद रहा है। मेरा अपना

---

१. सर विलफ्रिड लॉरियर एंड दी लिबरल पार्टी (i) ४१२—मैकडानाल्ड में उद्धृत।

विश्वास है कि सन्धान की अंगभूत इकाइयों के लिए जो सुरक्षण ज़रूरी है उनमें दूसरे सदन के रक्षा-कवच की कतई आवश्यकता नहीं। मैं मानता हूँ कि वे सारे सुरक्षण (१) संविधान में निहित शक्तियों के वितरण की शर्तों द्वारा और (२) अदालतों को प्राप्त न्यायिक पुनरीक्षा के अधिकार द्वारा उपलब्ध हो सकते हैं। उस वितरण में संशोधन अगर जरूरी हों तो विधान सभा में उसके पास होने के लिए दो-तिहाई बहुमत की माँग करके और अंगभूत राज्यों में से या तो बहुमत की या दो-तिहाई की स्वीकृति से किया जा सकता है। फिर उनके पास अपनी रक्षा के लिए काफ़ी सुरक्षण रहेंगे। उनके प्रतिनिधि अपने वोटों के द्वारा उनकी रक्षा करने के लिए विधान सभा में रहेंगे ही। ख़ास तौर पर से बनाये गये राष्ट्रीय अधिनियम के बिना उनकी सभा में कोई फेर-बदल नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिट में बराबर प्रतिनिधित्व का उनका अधिकार जाता रहेगा परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पार्टी-पद्धति के कारण ऐसा अधिकार प्रायः मरीचिका मात्र होता है। फ्रांसीसी-कैनाडियनों के अधिकार जैसे पेचीदा जातीय मसलों में भी ऐसे साधनों द्वारा समुचित सुरक्षा का प्रबन्ध हो सकता है।

श्री और श्रीमती वेब[1] ने दुसदनी सरकार के एक बिल्कुल ही अलग तरीक़े की रूपरेखा प्रस्तुत की है जो निश्चय ही बड़ी मनोमोहक है। दूसरे सदन को उसके वर्तमान रूप में रखने के वे भी पक्षपाती नहीं हैं। लेकिन आधुनिक विधान सभा के इन्तहा बोझ को देख कर वे इतने प्रभावित है कि उनका सुझाव है कि उसके काम को दो भागों में बांट दिया जाये और उसमें हर एक भाग के नियंत्रण के लिए एक संसद हो। उनका कथन है[2] : "जिसे हम राजनीतिक लोकतन्त्र कहेंगे और जिस के दायरे में राष्ट्र-रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और न्याय के परिपालन का समावेश रहेगा, उसे सामाजिक लोकतन्त्र से अलग रखना चाहिए जिसे राष्ट्रीय उद्योगों और सेवाओं का प्रबन्ध सौंपा जायेगा जिनके द्वारा और जिनके माध्यम से सम्प्रदाय जीता है। एक के क्षेत्र में प्रशासन राज-सत्ता और पुलिस शक्ति आती है; दूसरी के में घरेलू अर्थ व्यवस्था और गृह-प्रबन्ध। अतः भावी सहयोगी राष्ट्रमण्डल में केवल एक राष्ट्रीय सभा नहीं, दो सभाएँ होंगी—हर एक का परस्पर कोई सम्बन्ध न होगा : उनका परस्पर-सम्बन्ध कैसा क्या हो इसका अन्वेषण किया जायेगा, वे सब तरह समान होंगी, स्वतन्त्र होंगी, और उनमें पहली-पिछली का कोई भेद नहीं होगा। हम मानते है कि दो समन्वित राष्ट्रीय सभाओं का होना जिन में एक तो फ़ौजदारी क़ानून और राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित होगी और दूसरी आर्थिक और सामाजिक प्रबन्ध सँवारेगी—संसदीय काम के वर्तमान दबाव को दूर करने का एकमात्र कारगर उपाय ही नही वरन वैयक्तिक पूंजीपति का स्थान धीरे-धीरे समुदाय को दिलाने का भी है और उस दिशा में पूर्णता पाने की यह एक आवश्यक शर्त है।"

---

१. ए कांस्टीट्यूशन फ़ार दी सोशलिस्ट कामनवेल्थ आफ़ ग्रेट ब्रिटेन, भाग २, अध्याय १ पृ. १०८

२. पूर्वोद्धृत कृति—पृ. ११२

श्री वेब और श्रीमती वेब ने जो योजना प्रस्तुत की है उसके अधीन राजनीतिक सस्था तो उसी तरह निर्वाचित होगी जैसे अब होती है और उसके काम-काज का निर्देशन अग्रेजी मन्त्रिमण्डल के आदर्श पर बने हुए कार्यांग द्वारा किया जायेगा। सामाजिक ससद का भी चुनाव इसी तरह होगा पर उसके काम करते रहने की एक निश्चित अवधि होगी—उसे भग करना खास परिस्थितियो में ही सम्भव होगा। उसका काम मुख्य रूप से समितियो द्वारा होगा जिसकी अध्यक्षता करने वाले सभापति होगे—यह जरूरी नही कि वे एक-दूसरे के विचारो से सहमत ही हो, वे सिर्फ अपनी अपनी सम्मतियो के लिए जिम्मेदार होगे—असल में इनकी गठन लन्दन काउण्टी कौंसिल के नमूने पर होगी। एक बात गौर करने की है कि सामाजिक ससद को वे सभी आर्थिक अधिकार सौंप दिये जायेंगे जो अभी हाउस आफ कामन्स के पास है। यह बात तो सभी मानेगे कि दोनो निकाय एक-दूसरे से बिल्कुल अलग निरपेक्ष जीवन नही जी सकेगे। एक सदन के कुछ फैसले दूसरे के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण कर जायेंगे। मिसाल के लिए, राजनीतिक ससद फैसला करे भी कि अपने अधीन विषयो के लिए वह कितना खर्च मजूर करती है पर उसे खर्च का वह बिल सामाजिक ससद के सामने रखना पडेगा। लगता है श्रीमती और श्री वेब को इस बात पर एतराज है कि उसकी विस्तृत जाँच-पडताल की जाय। वे चाहेंगे कि उसे या तो स्वीकार कर लिया जाय या अस्वीकार कर दिया जाये। अगर असहमति हो तो सम्मेलन होगा और अगर सम्मेलन व्यर्थ साबित हो तो दोनो ससदो का मिला-जुला अधिवेशन होगा और उसमें कुल वोटो के मुताबिक मामला तय किया जायेगा। सविधान में फेर-बदल करनी हो तब भी यही रास्ता अपनाना पडेगा। वित्तीय मामलो को निपटाने के लिए मिला-जुला सालाना अधिवेशन करना भी जरूरी हो सकता है और एक स्थायी सयुक्त वित्त समिति भी बनानी पडेगी जो प्राक्कलन तैयार करेगी। अगर कोई ऐसा गतिरोध पैदा हो जाये जो निपटाया न जा सके तो उसका रास्ता या तो यह हो सकता है कि जन-निर्देश लिया जाये या फिर दोनो सदनो को भग कर दिया जाये।[1]

लगता है इस योजना में बुनियादी विचार कुल मिला कर दो हैं। पहली तो यह धारणा है कि सरकार को जो काम निपटाना है उसे दो भागो में विभक्त कर देने से ही शायद विधान-सभा को एकदम दब जाने से रोका जा सकता है। दूसरे इसमें यह विश्वास निहित है कि इस प्रकार स्वतन्त्र सभाओ के निर्माण से शक्ति का जो सन्तुलन हो जाता है वह आजादी को जन्म देता है। श्रीमती और श्री वेब[2] लिखते हैं "सामाजिक ससद को यह हक होगा कि जिस तरह उचित समझा जाये वह लोक-सेवाओ का सगठन करे (लेकिन) राजनीतिक ससद की सहमति प्राप्त किये बिना सामाजिक ससद को यह शक्ति न होगी कि वह दण्ड-विधान के अतर्गत किसी लोक सेवा का प्रयोग कानूनी तौर से अनिवार्य कर दे या उस सेवा का किसी और तरह से काम में लाया जाना अपराध घोषित कर दे।" इसी प्रकार सामाजिक ससद की सहमति के बिना राजनीतिक ससद को शस्त्रास्त्र बढ़ाने या

---

१ पूर्वोद्धृत कृति—पृष्ठ ११०–२८

२. पूर्वोद्धृत कृति—पृष्ठ १२९

अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार की नीति नही अपनानी चाहिए—वह अपनी योजनाओ को आगे बढाने के लिए राज-कोष का सचालन करती है।[1]

आधुनिक राज्य में विधान सभा की समस्या से सुलटने के लिए जितनी योजनाएँ रखी गई है, मै समझता हूँ कि यह उन सबसे कही अधिक गम्भीर है। लेकिन मै यह भी कहूँगा कि अपनी बडी-बडी खूबियो के बावजूद इसमें कुछ ऐसे तत्त्व है कि इस पर कतई अमल नही किया जा सकता। सबसे पहली बात तो यह है कि इतिहास के अनुभव का यह बडा सीधा-सादा निष्कर्ष है, जिस ससद के हाथ में कर लगाने की शक्ति होगी, देर-सबेर वास्तविक नियत्रण उसी के हाथ में चला जायगा और मेरा विश्वास है कि राजनीतिक ससद बडी तेजी से एक मातहत सभा का रूप ले लेगी, जिसका एक सकुचित क्षेत्र में आशिक नियत्रण भर रह जायेगा। श्रीमती और श्री वेब ने सत्ता के विभाजन की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है, वह सहज स्वाभाविक भी नही है। विदेश नीति को आर्थिक नीति से अलग नही किया जा सकता शुल्क-सूची योजना, राज्य द्वारा कच्चे माल की खरीद, किसी अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की आशिक गारटी—इन सब कार्य-व्यापारो का क्षेत्र ऐसा है जिसके सपादन की क्षमता दोनो ही सभाओ में बराबर हो सकती है। आप यह नही कर सकते कि इधर तो सामाजिक ससद से यह कहे कि वह विदेश विभाग के लिए धन इकट्ठा करने के निमित्त कानून पास करे और उधर उससे यह भी चाहें कि वह वैदेशिक मामलो के सचालन की कोई आलोचना न करे, और सो भी तब जब उसके अपने क्षेत्र में आने वाले मामलो में उसका गहरा प्रभाव पडेगा। १९१८ से लेकर पाँच वर्ष तक हाउस आफ कामन्स में श्रमिक (लेबर) पार्टी ने बार-बार प्रतिवाद किया कि आग्ल-रूसी करार बेरोजगारी का आशिक उपचार है—उक्त योजना के अधीन आग्ल-रूसी मामले निपटाना तो एक ससद का काम होगा और बेरोजगारी दूसरी के क्षेत्र में आयेगी। राष्ट्रीय बिजली सभरण की वाछनीयता पर—अभिधात्मक या व्यजनात्मक रूप से—विचार किये बिना राजनीतिक ससद प्रभावी तौर पर यह तय नही कर सकती कि राष्ट्रीय बिजली सभरण का फायदा उठाने से इन्कार करने को दडनीय अपराध करार दिया जाये या नही। कहने का मतलब यह है कि ज्योही हम कानून बनाने की बात गभीरता से सोचने लगते है,त्योही उसे खानो में बाँट देने की बात कोरी शाब्दिकता-सी प्रतीत होने लगती है। और भी कठिनाइयाँ है। अगर सामाजिक ससद राजनीतिक ससद के सेना विषयक प्राक्कलनो को रद्द कर दे, फिर भी हो सकता है कि सयुक्त अधिवेशन में वे स्वीकार कर लिये जायें परन्तु राजनीतिक सदस्यो के वोट से नही, बल्कि उनके बहुमत में दूसरी ससद के अल्प मतो के जुड जाने से। उस हालत में राजनीतिक ससद को इस्तीफा देना पडेगा—ध्यान देने की बात है कि उसे इस्तीफा इसलिए नही देना होगा कि उसकी नीति उन लोगो को स्वीकार्य न थी, जिनके प्रति वह जिम्मेदार है बल्कि इसलिए कि वह उन लोगो को पसद नही आयी जिनमें उनके ब्योरे पर टीका-टिप्पणी करने की क्षमता नही और जो उसे अमल में लाने के लिए भी जिम्मेदार नही।

---

१ पूर्वोद्धृत कृति—पृ १३६—और विशेष रूप से समाजवादी राज्य में पार्टियों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण टिप्पणी—पृ १४४

इतना ही नही, मै समझता हूँ कि इस आयोजन के अधीन ही हर महत्त्वपूर्ण विषय पर दोनो ससदो की सयुक्त समितियाँ रखनी पडेंगी और सयुक्त समितियो का मतलब यह है कि या तो दोनो सदन उनकी रिपोर्ट मजूर कर लें—जिसका मतलब यह होगा कि सच्ची शक्ति संयुक्त समितियो के साथ में ही रहेगी, और या उसे रद्द कर दें—इस हालत में दोनो सदनो को लगभग बराबर सयुक्त अधिवेशन ही करते रहना पडेगा। लेकिन दोनो ही हालतो में एक बडा भारी दोष स्पष्ट है कि अन्तत जो नीति लागू की जायेगी, वह कोई नीति तो होगी नही वरन् किन्ही सामान्य सिद्धातो से अपुष्ट विसवादी सविधियो की एक लडी-सी होकर रह जायेगी। यह तो हो नही सकता कि आपकी नीति एक साथ ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में तो उदार हो और शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिक्रियावादी। लेकिन श्रीमती और श्री वेब की योजना में यही सभावना परिलक्षित होती है। उन्होने यह भी नही बताया कि सामाजिक ससद किन प्रश्नो के आधार पर निर्वाचित होगी। जब तक वह निर्वाचित न हो जाये, यह भी पता नही चल सकता कि उसके नेता कौन होगे और इस बात से उसकी नीति पर लोक-नियत्रण का अधिकाश में निषेध हो जाता है। अगर दोनो ससदे साथ-साथ न चुनी जायें, तो हो सकता है कि उनका नैतिक ताना-बाना एक दूसरी से इतना भिन्न हो कि—और कठिनाइयों की बात तो जाने दीजिए—उनमें से एक दूसरी के प्रयोजनो पर ही कुठाराघात कर उठे। और अगर उनका चुनाव एक साथ होता है तो वे प्राय एक ही ऐसी सभा के दो बडे-बड़े पक्षों की तरह काम करेंगी, जिसे राज्य-नीति को समन्वित करने का कभी मौका नही मिलता। इसके अतिरिक्त मै यह भी नहीं मानता कि महज इसलिए वैयक्तिक स्वातत्र्य अधिक सुरक्षित हो जाता है कि एक ससद लोकसेवाओ का नियत्रण करती है और दूसरी न्याय की क्रिया-व्यवस्था का। राष्ट्रीय स्वामित्व के अधीन अगर डाक-कर्मचारी, खनिक और रेल कर्मचारी हड़ताल कर दें तो सिर्फ इस बात से कि वे सामाजिक ससद के प्रति ज़िम्मेदार है, राजनीतिक ससद के प्रति नही, मामला कुछ कम पेचीदा नहीं हो जाता। फिर भी कानून और व्यवस्था उसे बनाये रखनी होगी और सो भी बडी कठिन परिस्थितियो में—वह हडताल खत्म नही कर सकती क्योकि वह सामाजिक ससद की स्थायी समिति का काम होगा। और वह सामाजिक ससद द्वारा माँगी गई सहायता से भी इन्कार नही कर सकती। इसके अलावा कानून और व्यवस्था बनाये रखने की बात कहाँ जाकर खत्म होती है ? यहाँ जो मिसाल ली गई है[१] उसी में देखें तो क्या सार्वजनिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य होने के नाते डाक, खानो और रेलो का प्रबन्ध उसके अन्तर्गत नही होना चाहिए ? और अगर स्थिति यह है तो वैयक्तिक स्वातत्र्य के लिए बडे इत्मीनान से विभाजित की गई स्वतत्र शक्तियो का क्या बनेगा ?

अत नीति-निर्माण के लिए यह जरूरी-सा प्रतीत होता है कि एक ही विधान सभा हो और प्रशासन के समूचे क्षेत्र के निरीक्षण की ज़िम्मेदारी उसी पर रहे। मैं श्रीमती और श्री वेब की यह बात मानता हूँ कि उस सभा का अब जितनी बातो से सरोकार है, उनमें से बहुत सी बातें उसकी क्षमता की परिधि से हटा लेना वाछनीय है। मैं इस बात से भी सहमत हूँ कि स्वातंत्र्य को अधिकाधिक करना बहुत अहमियत रखता है। लेकिन प्रशासन में अनन्य

[१] पूर्वोद्धृत कृति—पृष्ठ १३२। यह श्रीमती और श्री वेब द्वारा ही दी गई मिसाल है।

श्रेणियो का समावेश करने में तो वे ही कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी, जो हम देख चुके हैं, शक्तियों के विभाजन में निहित है। सच तो यह है कि सामजस्य-सेतु बनाने ही पडते है और जो उनके रक्षक होते हैं, वे ही समूचे क्षेत्र के स्वामी बन जाते हैं। लक्षित ध्येय दूसरे तरीके से भी प्राप्त किये जा सकते है और द्वैध शासन की इस योजना से जनित पेचीदगियो के बिना ही। इस योजना में तो ऐसा लगता है जैसे स्वातत्र्य किसी सीधी-सरल यान्त्रिक युक्ति से पैदा हो जाता है—यह निश्चय ही गलत बात है। अमरीका में ऐसे अपराधो के लिए लोगो को जेल भेजा गया है जो साफ तौर से सविधान के पहले सशोधन के क्षेत्र में आते है और अदालतो ने कार्यांग की कार्यवाही पर एतराज करने से साफ इन्कार कर दिया है। ऐसे घोर मर्यादा-तिक्रमो का सच्चा उपचार सविधानो के रूप मे कभी नही मिल सकता, वह अन्तत. हमेशा ही नागरिक निकाय की भावना में बसता है। यहाँ यह भी कह दिया जाये कि लदन काउण्टी कौंसिल जैसे निकाय की क्रियाविधि की सफलता का कारण यह है कि उसकी क्षमता की परिधि सीमित होती है। बात यह है कि उसे जिस क्षेत्र मे चलना पडता है वह प्राय ज्ञात होता है, वह शासन के क्रियात्मक अभिकरण के रूप में समिति प्रणाली को अमल में ला पाती है। विधान सभा का मामला ऐसा नही—वहाँ सत्ता का क्षेत्र मोटे तौर पर अनिर्धारित होता है—तब सीमित रेखाएँ उन लोगों द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए जो अपने द्वारा तय की हुई चौहद्दियो का सर्वेक्षण बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण से करें। वे अपना काम इस तरह कर सकें कि अपनी हर कार्यवाही के लिए प्रवृत्ति की एक पृथुल धारा के अग क रूप में उत्तरदायी बन सकें। वे अधिक तनख्वाहें चाहें क्योकि वे बेहतर शिक्षा चाहते है, बेहतर शिक्षा चाहे क्योंकि वे औद्योगिक स्वशासन चाहते है। श्रीमती और श्री वेब के यहाँ इस सामञ्जस्य की कोई राह नही। समितियो के अध्यक्षो के राजनीतिक ससद की मन्त्रि-परिषद् के साथ मिलने से उनके आयोजन के अन्तर्गत भी यह प्राप्त हो तो सकता है, परन्तु तब वे ऐसा मन्त्रि-परिषद् बनायेंगे, जो सामान्य दृष्टिकोण में एकमत होने पर ही प्रभावशाली होगी और जो अपने समझौतो को दोनो सभाओ में पास करा सके। लेकिन इस आयोजन में यह निहित है कि इनमें से एक भी बात का वहाँ कोई आश्वासन नही। तब निश्चय ही नीति असबद्ध विचारो के थिगडो जैसी चीज बन कर रह जायेगी। परन्तु इस प्रकार से भावित कानून-निर्माण सुप्रशासन के लिए घातक है और विधान-सभा का पहला काम यह है कि वह सुप्रशासन को सभव बनाये।

—५—

निष्कर्ष यह निकला कि आधुनिक राज्य की जरूरतो को पूरा करने के लिए इकहरा सदन और बहुक्षम विधान सभा का निर्माण ही सबसे अच्छा रास्ता प्रतीत होता है। उसके सदस्य कौन चुने जा सकने चाहिएँ ? अगर मर्यादायें रखनी ही हो तो वे ऐसी होनी चाहिएँ कि वे सब पर सामान्य रूप से लागू हो और नागरिको के किसी भी वर्ग-विशेष का पलडा भारी न कर दें। लेकिन इसका कोई कारण प्रतीत नही होता कि हम, लोगों को उनके काम-काज के अनुभव पर ध्यान दिये बिना चुन लिया जाने दें। मर्यादा के होने से हो सकता है हमें पिट कनिष्ठ (यगर) जैसी कोई विभूति मिल जाये, परन्तु ऐसे भी अनेक सदस्य मिलते हैं जो विधान सभा में सिर्फ इसलिए जाते हैं कि उसकी सदस्यता में एक शान है।

एक धनिक व्यक्ति किसी चुनाव-क्षेत्र को इस बात पर राजी कर लेता है, वह उसके लड़के को उम्मीदवार के तौर पर खड़ा करे क्योंकि वह चुनाव का खर्च देने में समर्थ है, कोई अवकाश-प्राप्त व्यापारी अपनी महत्त्वाकांक्षिणी पत्नी की सामाजिक शर्तें पूरी करने के लिए स्वय उम्मीदवार बन जाता है, हाउस आफ लार्ड्स का सदस्य बन जाने वाले किसी सदस्य की पत्नी भावुकता की लहरो पर सवार होकर उसका स्थान ले लेती है और उसकी योग्यता का प्रश्न बिल्कुल दर-किनार रह जाता है। सदस्यता के लिए छोटी-सी योग्यता की माँग करना निश्चय ही श्रेयस्कर है ताकि चुनाव चाहने वाले कम-से-कम राज-काज में अपनी सच्ची दिलचस्पी का सबूत तो दे सकें। ऐसी योग्यता पाना कोई मुश्किल काम भी नही। किसी की उम्मीदवारी वैध घोषित करने से पहले अगर यह जरूरी कर दिया जाये कि वह तीन वर्ष किसी स्थानीय सस्था में काम करे तो उसे ऐसी सस्थाओ की 'नस' समझ में आ जायगी जो उसकी सदस्यता को सफल बनाने के लिए बहुत आवश्यक है। तो, हमें उनकी ओर से सार्वजनिक काम-काज के स्वरूप को समझने की सच्ची इच्छा का कोई सबूत मिलना चाहिए और मैं समझता हूँ, राष्ट्रीय सभा में प्रवेश पाने के लिए स्थानीय जीवन को ही आवश्यक माध्यम बना कर हमें उसमें स्फूर्त्ति और प्राण भरने के लिए भी काफी-कुछ करना चाहिए। लेकिन ऐसा नही होना चाहिए कि इस प्रकार हम किसी गभीर गरिमावान व्यक्ति को राजनीतिक जीवन में प्रवेश पाने से रोक दें और उन लोगो के लिए, जिनको स्थानीय सस्था की सदस्यता आपूर्व असभव रही हो, वैकल्पिक योग्यताएँ निश्चित कर देना कोई कठिन काम नही है—जैसे नागर-सेवा की सदस्यता आदि।

मैं समझता हूँ कि यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि एक बार चुन लिये जाने पर विधान सभा के सदस्य के लिए पुन निर्वाचन के सबध में अवधि का कोई बन्धन नही होना चाहिए। जिस प्रणाली में उसकी सेवा की अवधि तब समाप्त हो जाती है, जब वह अनुभव अर्जित करना शुरू करता है, वह अपने आपको एक अच्छे खासे उपयोगी उपकरण से वचित कर लेती है। बात यह है कि विधान सभा में अनुभव की कमी का स्थान शायद ही कोई और चीज भर सकती है। कार्य-विधि तो अनिवार्यत प्राविधिक होती ही है और इस तरह का कोई बन्धन रखने का मतलब है उसके कार्य-काल को ऐसे समय समाप्त कर देना, जब उसकी उपादेयता अपनी चरम-सीमा पर होती है। यह तो मशहूर ही है कि अमरीकी प्रतिनिधि-सभा जैसी सभाओ में—जहाँ कहा जा सकता है कि प्रभूत वैधानिक कार्य सपन्न होता है,—समय की अधिकाश बरबादी का और उनके प्रति लोक-सम्मान के अभाव का काफी-कुछ कारण यह है कि अपने शक्ति-अधिष्ठान के प्रत्येक युग में वे मानो नयी सभाएँ-सी होती है। हाउस आफ कामन्स जैसे सदनो का बल बहुत-कुछ इस बात के कारण रहा है, वहाँ के प्रमुख व्यक्ति लगातार बरसो तक उस मच के यशस्वी अभिनेता रहे है। एडमण्ड बर्क की तीस साल की सदस्यता, श्री ग्लैडस्टन की साठ बरस की सेवा और श्री डिज़रायली के चालीस वर्ष—इस सबका मतलब था शासन की प्रविधि में एक गहरी एव अद्वितीय पैठ। नई पार्टी के सत्तारूढ होने—जैसे ब्रिटेन का श्रमिक पार्टी के सत्तारूढ होने—की अवस्था में भी उसके नेता सरकारी काम-काज के केंद्र से बीस बरस से परिचित थे। और अवधि-असीमित पात्रता की शर्त पूरी होने पर ही विधानाग अपना वरण-कार्य अच्छी तरह सपन्न कर सकता है।

किसी भी आदमी के लिए वहाँ सहसा चमक उठना आसान नही है। विधान-मडल की बहस का वातावरण दुनिया के और किसी भी वातावरण से भिन्न होता है। हो सकता है कि ब्राइट जैसे कुछ असाधारण व्यक्ति जल्दी अपनी धाक जमा लें और यश कमा लें लेकिन अधिकतर लोगो को सभा में अपनी अभिव्यक्ति करने में और उसके माध्यम से बाहर की जनता के सामने अपने आपको ऐसे व्यक्ति साबित करने में, जिन्हें राज्य का नेतृत्व नि सकोच सौंपा जा सके, बडा समय लगेगा।

किसी विधान-मडल को शक्ति का उपयोग करने देने की सबसे अच्छी अवधि क्या हो सकती है ? —कम से कम चार साल और अधिक से अधिक पाँच। चार बरस से कम तो इसलिए नही कि उसमें दो बडी भारी खामियाँ रहेगी—नये सदस्य को विधान-मडल के रग-ढग समझने का काफी मौका नही मिलेगा और इसमें किसी अच्छे खासे कार्यक्रम का प्रव र्त्तन भी नही हो सकता। यहाँ पर यह कह दिया जाये कि इस दिशा में अमरीका का जो अनु-भव है, उसके आगे और कोई बात कहने को नहीं रह जाती। दो वर्ष का कार्यकाल इस दृष्टि से बडा घातक है कि जब काग्रेस का सदस्य अपने काम को समझने लग पडता है, तभी से पुनर्निर्वाचन में अपनी शक्ति लगा देनी पडती है जिसमें उसके सफल होने की कोई आशा नही होती, और कार्यांग को तो बहुत ही नुकसान होता है—उसे अपने वे सारे सबध फिर नये सिरे से बनाने पडते है, जिनके कारण उसके प्रयत्न फलीभूत होते है। पाँच साल से ज्यादा की अवधि रखना भी भूल है क्योकि सबसे बडी बात तो यह है कि इससे अधिक समय हुआ तो विधानमडल का निर्वाचक-मडल से सबध टूट जायेगा। हर पार्टी को यह समझ रखना चाहिए कि वह लोक-निर्णय से इतने अरसे तक बची नही रह सकती कि यह मान बैठे कि उसकी लतियाँ भुला दी जायेंगी। मै नही मानता कि अवधि निश्चित कर देना वाछ-नीय है। ऐसे नये मसले बराबर खडे होते रहते है, जिनके आधार पर विधान-सभा में नए प्राण फूंकना वाछनीय होता है। कोई सरकार, जिसे विधान-मडल का विश्वास प्राप्त न हो, यह सोचने का अधिकार महसूस कर सकती है कि आम चुनाव से उसे शक्ति का नया पट्टा मिल जायेगा। मिसाल के लिए, जब १९०९ में हाउस आफ लार्ड्स ने उस वर्ष के वित्त-विधेयक को अस्वीकार कर दिया तो श्री एस्क्विथ को दोनो सदनो में शक्ति के सतुलन में इतना बडा परिवर्त्तन करने के लिए आवश्यक सत्ता केवल आम चुनाव से ही मिल सकती थी, १९१० के आम चुनाव के बारे में भी यही बात सच है जिसके द्वारा १९ ११ के ससद-अधिनियम के लिएसमादेश प्राप्त किया गया। जिस विधान-मडल को अपनी पदावधि की समाप्ति के बाद भी जीवित रखा जायेगा, उसमें दो अवाछनीय तत्त्व स्फुट हो उठेंगे। एक तो वह कार्यांग पर अपनी ऐसी वरिष्ठता जमायेगा कि उसे अपने हाथ की कठपुतली बना लेगा और दूसरे वह लोकमत की ओर कोई ध्यान नही देगा क्योकि वह जानता है कि उसके अपने रवैये को प्रबल वैधानिक सरक्षण प्राप्त है।

इन बुराइयो को रोकने के लिए भग करने का अधिकार अमूल्य साधन है। लेकिन हाँ, यह बडा ही नाजुक साधन है, जिसके उपयोग के बारे में गहरे मतभेद हैं। मेरा अपना

---

२ इस समूचे प्रश्न पर विस्तृत विवेचन के लिए देखिये—मेरा 'स्टेट आफ पार्टीज एण्ड दी राइट आफ डिस्साल्यूशन।' फेबियन सोसायटी, १९२४।

विश्वास है कि इस अधिकार के प्रयोग की शक्ति तत्कालीन कार्यांग को सौंपना नितान्त आवश्यक है। उसके दुष्प्रयोग के विरुद्ध सुरक्षण भी बडे सबल और स्पष्ट हैं। कोई कार्यांग अकारण विधान-मडल भग नही करेगा क्योंकि उसे परिणामस्वरूप अपना पद खो बैठने का डर रहेगा। उसे डर रहेगा कि कही उससे समर्थक बुरा न मान जायें। उसे यह भी पता रहेगा कि निर्वाचक-मडल आम-चुनाव के कारण निजी व्यापार में पैदा हो जाने वाली अव्यवस्था पर नाराज़ होता है। वह यह भी महसूस करेगा कि अगर उसके पास ऐसी कुछ ठोस उपलब्धियाँ नहीं, जिनके कारण व्यापक लोक-समर्थन की आशा की जा सके, तो अनागत के सयोगो पर विश्वास करना वृथा है। श्री ग्लैडस्टन ने १८७४ में अकारण ससद भग करने का खतरा मोल लिया था—नतीजा यह हुआ कि रूढिवादी पार्टी का इतना अधिक बहुमत हुआ जितना निकट अतीत में कभी नही रहा। १९२३ में श्री बाल्डविन ने भी यही किया—फलस्वरूप श्रमिक पार्टी पदारूढ हुई। भग करने का यह अधिकार विधान-मडल के हाथ में नहीं छोडा जा सकता।—यह सिर्फ इसीलिए नही कि शायद किसी विधान-मडल पर यह विश्वास नही किया जा सकता कि वह अपनी कब्र खुद खोदने पर राज़ी होगा बल्कि इसलिए भी कि अगर भग करने का प्रस्ताव सभा में अस्वीकार कर दिया गया तो ज़ाहिर है कि वह नये कार्यांग की माँग करने के बराबर होगा। न कोई बाहरी अभिकरण ही ऐसा हो सकता है जिस पर यह विश्वास किया जा सके क्योकि भग करने के अधिकार में जो शक्तियाँ निहित हैं, उनका मतलब यह है कि कार्यांग के भाग्य और नीति दोनो की डोर उसी के हाथ में रहेगी—और यह ऐसा अधिकार है जो केवल निर्वाचक-मडल को ही मिल सकता है। भग करने की यह शक्ति अगर न हो तो कार्यांग का मनोबल लुप्त हो उठेगा। विधान-मडल के समुद्र से जब जैसी हवा उठेगी, तब उसी के अनुकूल उसे अपने बादबानो को दिशा देनी होगी। वह ऐसी असहाय अवस्था को प्राप्त होगा जैसी अवस्था में प्रेज़ीडेंट विल्सन ने वरसाई सधि पर हस्ताक्षर होने के बाद अमरीका लौटने पर अपने को पाया था। भग करने की शक्ति इस बात की स्वीकृति है कि अन्ततोगत्त्वा राज्य में निर्वाचक-मडल ही सर्वोपरि सत्ता है। और जब तक इस सत्ता की मजूरी न मिले, किसी भी कार्यांग को शक्ति के आसन पर नही विराजना चाहिए। जब तक ससद भग करने का परमाधिकार उस समय की सरकार को न हो तब तक किसी सामजस्यपूर्ण प्रतिनिधि प्रणाली का होना असंभव है।

सामञ्जस्यपूर्ण प्रतिनिधि प्रणाली की आवश्यकता में ही हमें विधान-सभा के सग-ठन और कार्यांग शक्ति के साथ उसके सबध का निर्देश मिलता है। विधान मडल के आकार के बारे में भी दो शब्द कह दिये जायें हालाँकि आमतौर से वह व्यावहारिक मामला है और इसमें सैद्धातिक बातें प्रासगिक नही होती। कोई विधान-मंडल इतना छोटा न होना चाहिए कि उसके प्रतिनिधि अपने चुनाव क्षेत्रो के आकार के कारण निर्वाचक-मंडल के साथ सच्चा व्यक्तिगत सबध न रख सकें। इतना बडा भी न होना चाहिए कि उसके सदस्य कोई कारगर विचार-विमर्श ही न कर सकें। हाउस आफ कामन्स की भाँति अगर कोई छह सौ से अधिक का निकाय हो तो ज़ाहिर है कि उसका मतलब यह होगा कि या तो बहस इतनी सीमित रहे कि कोई युक्ति सम्यक् रूप से प्रस्तुत न की जा सके, या उसे कुछ गिने-चुने सदस्यो तक ही सीमित कर दिया जाये और बाकी सदस्य मौन श्रोता बने रहें। परन्तु

प्रत्येक प्रणाली का यही अनुभव रहा है कि अगर उसके अधिकाश सदस्यो को मौन रहने के लिए विवश किया जाये, तो वे अधिक समय तक श्रोता बने नही रह सकते। वे अपने वोट देने आयेंगे, लेकिन बहस तो बहुत हद तक ऐसी चीज है जो निर्वाचिक-मडल के ज्ञान के लिए की जायेगी और आम तौर से इसका फैसला करने वालो के वोटो पर कोई असर नही पड सकेगा। मोटे तौर पर, मैं तो यह कहूँगा कि किसी भी विधान-मडल की सदस्यता पाँच सौ से ज्यादा कभी नही होनी चाहिए---तभी वह अपना काम कुशलता से चला सकता है।

विधान-मडल के प्रयोजन का उल्लेख मै पहले ही कर चुका हूँ—आम नियम निर्धारित करना उसका कर्तव्य है। यह प्रयोजन पूरा कैसे हो ? इसके लिए सभी पद्धतियाँ कार्यांग से विधानाग के सबध और उससे जनित परिणामो की ओर उन्मुख होती हैं। अगर आधुनिक अनुभव को अपनी कसौटी का उचित आधार मानें, तो इसकी तीन सभावनाएँ प्रतीत होती है। (१) किसी व्यवस्थित सबध का नितान्त अभाव हो जैसे अमरीका में, (२) पूरी तरह व्यवस्थित सबध हो, जिसमें अनेक प्रकार से विधानाग कार्यांग पर हावी रहे—जैसे फ्रास में (३) पूरी तरह व्यवस्थित सबध हो जिसमें कार्यांग विधानाग को निदेशित करे लेकिन उस पर पूर्णता से हावी होने का उसे कोई दम्भ न रहे।

अमरीकी प्रणाली कानून बनाने की सभी कठिनाइयो को बहुत बढा देती है। विधानाग का सगठन किसी सामजस्यपूण योजना के आधार पर न हो, ऐसा कोई भी नहीं होता जिस पर विधान पास कराने में पहलकदमी करने की सच्ची जिम्मेदारी हो। कानून लागू करना औरो का काम होता है--फलस्वरूप उसके सदस्य बहुत हद तक शून्य में विधान बनाया करते हैं। कार्यांग के पास यह आशा करने का कोई कारण नहीं होता कि जो जरूरतें वह महसूस करता है, उस पर काफी सहानुभूति से विचार किया जायेगा—और सफल प्रशासन के लिए यह अनिवाय है। वित्त पर उसका नियत्रण हो नही सकता—नतीजा यह होता है कि सदस्य व्यय को बराबर ऐसे लक्ष्यो की ओर उन्मुख करने में तत्पर रहते हैं, जिनका राज्य की आवश्यकताओ से कोई सबध नही होता—होता भी है तो बहुत दूर का। बहस में यथार्थता का कोई पुट भी नहीं रह जाता क्योकि उसका कार्यांग के जीवन पर कोई असर पड नही सकता—अत उसका प्रशासन की प्रवृत्तियो पर भी कोई खास प्रभाव नही पडता। ऐसे अनम्य विच्छेद का मतलब यह भी हो सकता है कि दोनो अधिकरणो पर अलग-अलग पार्टियाँ हावी हो जायें जिससे कि एक के प्रयत्नो की जड पर दूसरी पार्टी कुठाराघात करती रहे। इसके अतिरिक्त सदन वरण-कार्य भी कोई विशेष यथार्थता से सपन्न नही कर सकते, --इसका सीधा-सा कारण यह है कि उनमें विशिष्टता पा लेने से कार्यांग में कोई बडा पद पा जाने का कोई अवसर नही हो सकता। काग्रेसीय-प्रणाली का मूलभूत दोष यह है कि वह राजनीतिक जीवन में नाटकीय तत्त्वो का सन्निवेश नही कर सकती। नतीजा यह होता है कि उसके विधान-मडल को एक घातक जडता अपने अगो में समेट लेती है। जो कुछ होता है उसमें लोकमन को आलोकित करने की क्षमता नही रहती। उसकी अखबारो में कोई महत्त्वपूर्ण आलोचना नही हो सकती क्योंकि उसके काम करने के ढग से कोई स्फुट अर्थवान् परिणाम ही पैदा नही होते। इस प्रणाली में अधिकारी-वर्ग के गुण भी नष्ट हो जात है क्योकि अपनी स्थिति से वे कार्यांग को एक अविच्छिन्न-रचनात्मक नीति अपनाने के लिए प्रभावित नही कर

सकते। विधानाग को निरन्तर कार्यांग के क्षेत्र में दखल देने का लोभ रहता है ताकि वह इस तरह अपने पद की गौरव-वृद्धि कर सके और कार्यांग का बहुत सारा समय उस आलोचना को बेकार करने के निस्सार प्रयास में नष्ट हो जाता है। सक्षेप में, इस प्रणाली में जिम्मेदारी से कतई बरी होने का पूरा सरजाम है। कोई खास ऐसा निकाय नही जो असफलता का दोष अपने सिर पर स्वीकार करने को तैयार हो। कार्यांग सदा इस बात का बखान कर सकता है कि विधान बनाना उसकी क्षमता की परिधि में नही आता। विधानाग को यह मालूम होता है कि उसका रुख चाहे कुछ भी रहे, उसकी पदावधि तो नियत और निश्चित ही है। स्थानीय निवास के नियम से जो जटिलता उत्पन्न होती है, वह तो बस इन कठिनाइयो के साथ ही जुडी हुई है, लेकिन इससे उन शर्तों को—जिनसे वैधानिक सफलता सभव हो सकती है—पूरा करने की विफलता पूर्णता को प्राप्त हो जाती है।

फ्रासीसी प्रणाली में शायद ही इन दोषो में से कोई हो जो अमरीकी आयोजन में निहित है। उसकी अपर्याप्तता निस्सदेह बहुत कुछ इस बात के कारण है कि प्रतिनिधि-सदन (चैम्बर आफ डेपुटीज़) की सघटना अनेकानेक दलो से होती है। इससे सरकार की पदावधि एकदम अनिश्चित हो जाती है। मन्त्रिमडल जानता है कि उसका काम चाहे जितना प्रशसनीय रहे, दो साल से अधिक पदारूढ़ रहने का सयोग उसके लिए बहुत ही कम है। जिस दिन सरकार शासन की बागडोर सँभालती है, निश्चय ही उसी दिन से उसके पतन के लिए आयोजन हो उठते हैं। सभा के कार्यों का प्रभावी नेतृत्व भी उसे करने नहीं दिया जाता। उसकी प्रायोजनाएँ भी सदन के कमीशनो की ठीक उसी प्रकार मुखापेक्षी होती है, जैसे किसी ग़ैर-सरकारी सदस्यके प्रस्ताव। उनमें वैसे ही घोर परिवर्तन भी होते हैं,उसके वित्तीय प्रस्तावो तक में भी इस कदर सशोधन किये जाते है कि मूल से उसका कोई सबध ही न प्रतीत हो—योजना की समजसता की ओर कोई ध्यान भी नही दिया जाता। फ्रासीसी प्रणाली की कठिनाइयाँ मुख्यत दो है। शायद किसी भी फ्रासीसी मन्त्रिमडल को कभी भी इतना वक्त नही मिलेगा कि वह किसी अच्छे बडे कार्यक्रम का परिपालन कर पाये और उसके पीछे कमीशनो की छाया-मन्त्रिपरिषद् हमेशा ही अस्तित्व में रहती है—वे विधि-विहित मन्त्रिमडल पर जिस हद तक असर डाल कर पाते है, उसी हद तक वे प्रभाव अर्जन कर लेते हैं। फलत उसका प्रतिनिधि हाउस आफ कामन्स आदि के सदस्य की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है। लेकिन उसका यह महत्त्व तभी है कि मत्री अपने सच्चे दायित्व को तिलाजलि दे दे और विधान में कोई सच्चा सामजस्य न रह जाये। इस पहलू के लिए वित्त से अधिक सरल और कोई कसौटी नही। फ्रासीसी गणराज्य के ५० वर्ष के जीवन में सिर्फ एक मत्री ने कर लगाने और उसके परिणामो के मसले का गम्भीरता से सामना करने का प्रयत्न किया है क्योकि ऐसा करते ही विधान-सभा के क्षितिज पर वैकल्पिक मन्त्रिमडलो की असख्यता स्फुट हो उठती है। इस प्रणाली का एक और नतीजा होता है जिसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। हालाँकि उसको कभी सामने नही लाया जाता। चूँकि विधान बनाने की आशिक जिम्मेदारी ही मन्त्रिमडल पर होती है, अत उसे फ्रासीसी नागर-सेवक से वैसी निष्ठापूर्ण या महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त नही होती जिसकी कि आशा इगलैण्ड का कोई मत्री कर सकता है। फ्रासीसी नागर-सेवा का सदस्य जानता है कि उसके स्वामी का शासन कितना क्षण-स्थायी

है—इसलिए उसे—खासकर राजनीतिक मामलो में—यह लोभ होता है कि प्रतिनिधि-सदन और प्रेस दोनो में अपनी नीति और सबधो का विकास करे, ताकि वह उन स्वामियो के नियत्रण से बच सके, जिनसे उसका मतभेद हो।

मैं दिखाऊँगा कि ब्रिटिश प्रणाली भी दोषो से मुक्त नही। पर दूसरी जो प्रणालियाँ हमारे सामने है, उनसे उसकी श्रेष्ठता अतर्क्य है। उसके आधार तीन बडे सिद्धात है। यह काम कार्यांग का माना जाता है कि वह काम-काज को एक खास प्रवृत्ति-धारा में प्रेरित कर दे। वह विधान-मडल के समक्ष एक कार्यक्रम पेश करेगा, जिसकी स्वीकृति पर उसका जीवन निभर होगा—अगर किसी गभीर बात को लेकर उसे अस्वीकार कर दिया जाये, तो उसे या तो इस्तीफा दे देना पडेगा या निर्वाचक-मडल का दरवाजा खटखटाना पडेगा। दूसरी बात यह कि वित्त के क्षेत्र में वह अन्तिम सत्ता होती है। कोई और सरकारी सदस्य न तो कोई वित्तीय विधेयक पेश कर सकता है, और न उन प्राक्कलनों में वृद्धि करने की कोशिश कर सकता है (घटाने की कोशिश भले करे) जिन्हें तत्कालीन सरकार ने उचित माना हो। तीसरी बात यह है कि इन दोनो सिद्धातो के फलस्वरूप गैर-सरकारी सदस्य की पहल-कदमी के लिए बडा छोटा-सा कार्य-क्षेत्र रह जाता है। वह अमरीका और फ्रास की तरह असख्य विधेयक पेश कर सकता है लेकिन वह यह जानता है कि सभा के समय की व्यवस्था और कार्य-विधि पर सरकार का नियत्रण है और यह भी कि मोटे तौर पर किसी ऐसे महत्त्वपूण विधेयक के सविधि-पुस्तक में पहुँच जाने की विशेष आशानही की जा सकती जिसे सरकार का अभिभावकत्व प्राप्त न हो गया हो। इस प्रणाली की खूबियाँ स्पष्ट है। पहली बात तो यह कि उससे न सिर्फ एक सामजस्यपूर्ण वैधानिक सघटना हासिल होती है, वरन् यह भी निश्चय रहता है कि जिन्होंने उसका आयोजन किया है, वे ही—अगर वे उसे स्वीकार करवा पाते हैं—उसे लागू भी करेंगे। दूसरी बात यह कि उसमें दायित्व तात्कालिक, सीधा और निश्चयात्मक होता है। सभी देख सकते है कि कौन प्रशसा का पात्र है और कौन दोषी। सब जानते है कि विधेयको का स्रोत कहाँ है—सब समझ सकते है कि दड किसे दिया जाये। तीसरे, विधान और वित्त का एक निश्चित परस्पर सबध होता है। कोई भी अपने अभिमत उपाय को श्रेयस्कर घोषित कर लाद नही सकता, एक अपने चुनाव-क्षेत्र को ही फायदा पहुँचाने की आशा नही कर सकता। अमरीकी विधान-मडल की तरह से आपाधापी करने वाले गठबन्धनो की सम्भावना तो शुरू में ही समाप्त हो जाती है।

मगर इस प्रणाली में जो स्पष्ट खूबियाँ है, उनकी वजह से हमें इसकी खामियो की ओर से आँखें नही मूँद लेनी चाहिए। निश्चय ही यह कार्यांग को स्वेच्छाचारिता का अवसर देती है। अगर वह चाहे तो एक निहायत छोटे-से मसले को विश्वास का प्रश्न बना सकता है और ये विकल्प उपस्थित कर सकता है कि या तो समर्थन दिया जाये—जो हार्दिक नही होगा, और या सभा को भग किया जाये—जो असुविधाजनक साबित होगा। इस तरह यह प्रणाली वाद-विवाद को अयथार्थ बनाने की ओर उन्मुख रहती है, सत्तारूढ पार्टी के सभी वर्गों को अनुशासित रखने पर बहुत-कुछ निर्भर रहता ह, इसलिए यह भी असभव नही कि सदस्य अपने भाषणो में किसी नीति का विरोध करें और वोट देते समय उसका समर्थन करें—महज इस डर से कि कही उन्हे वहाँ पर रोष का भाजन न बनना पडे। शक्तिशाली कार्यांग गैर-

सरकारी सदस्य की पहलकदमी को इतना सीमित और प्रतिबन्धित कर दे सकता है कि वह प्राय अस्तित्त्व-शून्य ही हो जाये। वह विद्रोह करके ही अपने व्यक्तित्व को बनाये रह सकता है और विद्रोह करके हो सकता है वह अपने विरोधियो की शक्ति हथियाने का साधन बन जाये। फलत हो सकता है कि विधानाग फैसले अंकित करने का अधिकरण भर होकर रह जाये—वह वास्तव में अशक्त हो, न आलोचना कर सके, न कोई सशोधन-परिवर्तन श्री लायड जार्ज के प्रशासन के अधीन यही हालत थी। अपना वरण-कार्य सपादन करने की योग्यता तो शायद उसमें वैसी हालत में भी रहेगी, लेकिन मैं समझता हूँ कि सावधानी से विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जायगा कि एक खास मौके पर, विधान सभा के अशक्त हो जाने पर, कार्यांग अपनी अमला-सबधी जरूरतो के लिए अन्यत्र दृष्टिपात करने लगता है।[१]

इन दोषो के होते हुए भी मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश प्रणाली को ही नमूना मान कर हम विधानाग और कार्यांग के सबधो की पद्धति बना सकते है। नीति के आम निर्धारण के लिए हमे कार्यांग को जिम्मेदार बनाना पडेगा ही। अत यह जरूरी होगा कि उसके सदस्य विधान सभा के निर्वाचित सदस्य हो, वे जो महत्त्वपूर्ण विधेयक प्रस्तुत करेंगे, उन्ही के माने न माने जाने पर उसका भविष्य निर्भर होगा। वित्त की पूरी जिम्मेदारी भी उन्ही पर रहनी चाहिए, सिवाय तब जब कि उनके तरीके ही अस्वीकार कर दिये जायें। अत विधान-मडल की समय-सारिणी पर भी उसी का नियत्रण होना चाहिए, गैर-सरकारी सदस्य की किसी महत्त्वपूर्ण विधेयक को पेश कर सविधि-पुस्तक तक ले पहुँचने की शक्ति का अधिकाश में अनस्तित्त्व ही रहेगा। समय के व्यय के बारे में वे जो आयोजन बनायें, उसमें उन तीन बडे बडे क्षेत्रो के लिए काफी गुंजाइश रहनी चाहिए, जिसमें गैर-सरकारी सदस्य अपना सबसे बडा योगदान करता ह। सवाल-जवाब के तौर पर कार्यांग से सूचना प्राप्त करने का पूरा अवसर होना चाहिए और जाहिर है, ऐसे मौके भी आयेंगे जब जवाब से इन्कार करने पर उसे कार्यांग में विश्वास का मसला बनाया जा सकेगा और वैसा करना उचित होगा। दूसरे, परिवेदनाओ की अभिव्यक्ति का भी कोई समय होना चाहिए। वहाँ शिकायत पेश करने का मौका होता है, —यह भी एक कारण है, जिससे विधानमडल का खास महत्त्व होता है और आम तौर से कहा जा सकता है कि यह मौका जितना अधिक होगा, उतना ही वह अधिक कारगर होगा। तीसरे, बहस के लिए ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि विरोधी पक्ष को विवादास्पद समस्या पर अपने विचार व्यक्त करने का सच्चा अवसर मिले। हम यह मानते है कि काम का दबाव बहुत होने के कारण बहस की कोई सीमा होना अनिवार्य है और निश्चय ही जो कार्यांग विधान-मडल की समय-सारिणी को नियन्त्रित नही कर सकता, वह नीति के प्रवर्त्तक के रूप में हमेशा असफल ही रहेगा।

लेकिन अगर तीन तरह से इन्हें अनुपूरित न किया जाये तो अपनी इस सरलता में ये सिद्धात अपर्याप्त ही साबित होगे। पहली बात तो यह कि कानून बनाने के विवरणो के बारे में विधान-मडल में मत-वैभिन्य के लिए गुजाइश रखना अनिवार्य है। वैयक्तिक सदस्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि वह सभा को समझाए कि उसके सुझाव असल में सुधार हैं,

[१] देखिए—'नेशन' (अक्तूबर-दिसम्बर १९२०) में मेरा विवेचन।

जिन विचारों की व्याप्ति हो, वे एकान्तत मन्त्रियो के ही विचार नही होने चाहिएँ। इसका मतलब हुआ कार्यांग के इस अधिकार का निराकरण करना कि वह चाहे जिस सवाल को विश्वास का सवाल बना ले जिस पर तत्कालीन सरकार का अस्तित्व ही निर्भर होता है —मिसाल के तौर पर ब्रिटिश मत्रिमडल आज इस अधिकार का उपयोग करता है। इसके फलस्वरूप जो असगतियाँ पैदा होती हैं, सभी जानते है। १९०० में बाल्फोर प्रशासन मे सचमुच इस प्रश्न को विश्वास का मामला बना दिया गया कि पिलर-बक्स का रग हरा होना चाहिए या नही। और कार्यांग के एक किस्मत के मारे आलोचक को (जो असल में उसका एक समर्थक था) विवश होकर रग की अपनी तरजीहो का भी निषेध करना पडा। कोई भी सकल्पना कभी इतनी सही नही होती कि उसे यह शक्ति मिल जाये कि विश्वास के वोट के साथ अनुषगत निहित दडो को वह अपने साथ सबद्ध कर ले। विधान सभा मे कोई ऐसी स्वतत्र-सत्ता होनी चाहिए जो निष्पक्ष रूप से यह तय कर सके कि प्रस्तावित सशोधन सच में इतने आधारभूत हैं कि इस बात की जरूरत है कि उन्हे विचाराधीन मामला बनाया जाये। इगलैण्ड में अध्यक्ष यह कार्य कर सकता है जैसे वह यह घोषित करता है कि अमुक बिल द्रव्य-विधेयक है या नही, ताकि उसे हाउस आफ लार्ड्स के नियत्रण से बचाया जा सके। मैं समझता हूँ, विधान सभा में इस प्रकार कार्य करने की शक्ति एक अमूल्य सुरक्षण हो जायेगी—न केवल विरोध पक्ष को, बल्कि कार्यांग के उन आलोचको को भी जो आमतौर से तो उसका समर्थन करना चाहते हैं, पर सरकारी कामकाज के ब्यौरे के बारे में स्वतत्र रहने का अधिकार भी बनाये रखना चाहते है। मैं यहाँ पर उन कारणो का विस्तारपूर्वक बखान नही कर सकता जिनके बल पर अध्यक्ष जैसा कोई अधिकारी—जो अपने पद की परिभाषा के अन्तगत ही पार्टी-सघर्ष की प्रकृत गर्मागर्मी से दूर होता है—विधान-सभा के उचित रूप से काम करते रहने के लिए अनिवार्य होता है। लेकिन जो कोई भी अमरीकी प्रतिनिधि-सभा की अध्यक्षता के इतिहास का मनन करेगा, वह यहाँ प्रतिपादित मत के आधार समझ जायेगा[1]—ऐसी मेरी धारणा है।

दूसरे, विधान-सभा के सदस्यो का कार्यांग के विभागो के साथ कुछ-न-कुछ अभेद सबध स्थापित करना जरूरी है। कई समितियाँ बनाई जा सकती है—जिनमे से प्रत्येक एक विभाग के काम की जिम्मेदारी ले ले। मेरे भावन के अनुसार वे छाँटे हुए कोई एक दर्जन सदस्यों का निकाय होगी—वे अपनी पार्टियो के प्रतिनिधि की हैसियत से वरित न होंगी—यद्यपि पार्टियो का प्रतिनिधित्व भी उनमें होगा—जितने विशेष प्रश्नो पर विधान-मडल में उपलब्ध विशिष्ट योग्यता के प्रतिनिधि के रूप में। वे पीति के निर्माताओ की तरह से काम नहीं करेंगी जो कि प्रथमत —जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ—मत्रिमडल का कृत्य है, वे कुछ हद तक तो परामर्शदायी अभिकरण होगी और कुछ हद तक प्रशासन-तत्र के परिचालन के सबध में निश्चित सक्षम मत विधान-मडल में प्रस्तुत करने का साधन होगी। उनकी पहुँच सभी कागज-पत्रो तक होनी चाहिए—जो अत्यन्त और विशेष रूप से गोपनीय हो, उनकी बात और है। उन्हें इतनी शक्ति मिलनी चाहिए कि वे विभागो मे जाँच-पडताल

---

१ तु० एम पी फालेट—दी स्पीकर आफ दी हाउस आफ रिप्रैजेंटेटिव्स।

कर सकें। वे इस योग्य हो कि खास सवालो पर गवाही लेने के लिए सरकारी नौकरो को अपने सामने बुला भेजें। उनकी मत्री के साथ नियमित बैठके हो, जिनमें उसकी नीति—और ख़ास तौर से उसके विधान—पर निस्सकोच बहस हो और स्पष्टीकरण किये जायें। वे सभी अध्यादेश उनके सामने पेश किये जायें जो कभी-कभी हर कार्यांग को विवश होकर बिल्कुल अपने बूते पर जारी करने पडते है, उन्हें विधान-मडल की तात्कालिक स्वीकृति नही होती। मै इस बात पर ज़ोर दूँगा कि उनके कृत्य से विधान-मडल के उनके प्रति कोई विशेष कर्तव्य नही हो जाते जब तक कि, जिसे इगलैण्ड में प्रत्यायोजित विधान[1] कहते हैं, उसके जारी किये जाने से पूर्व उनके अनुमोदन को आवश्यक ठहरा देना ही वाछनीय न मान लिया जाये—और मै समझता हूँ, वैसा आवश्यक कर देना उपयुक्त रहेगा। वरना वे कार्यांग के साथ अपनी असहमति बहस के साधारण माध्यम से ही व्यक्त कर सकेंगी। विधान पेश किये जाने से रोकने की उनके पास कोई शक्ति न होगी और मत्रिमडल के तरीको को अनुशासित करने की कोई सत्ता न होगी। इगलैण्ड के बादशाह की तरह उनका काम भी सलाह, प्रोत्साहन और चेतावनी देना होगा—फर्क इतना ही है कि इस प्रक्रिया में वे कुछ सीखेंगे भी।

मुझे तो लगता है कि इस प्रकार की प्रणाली में बहुत ही फायदा है। पहली बात तो यह कि इसके फलस्वरूप कार्यांग विधान-सस्था के मतो के प्रति अधिक सचेष्ट और अनुकूल रहेगा। विधान-सस्था प्रत्यक्ष वैर-भाव दरसाये बिना अपने विचारो के माने जाने का आग्रह कर सकती है, सुझाव दे सकती है, ज्ञान सचय कर सकती है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि बहस में कुछ लोग तो ऐसे रहेंगे, जो मत्रिमडलीय नीति को समझने की सच्ची योग्यता रखते हैं—फिर चाहे वे इससे सहमत हो या नही। मन्त्री को परीक्षा-भूमि मिल जाती है, जहाँ उसे यह पता चल सकता है कि प्रबुद्ध जनता के उसकी योजनाओ की ओर कैसा रुख रहने की सभावना है। वह उसे तानाशाह बन जाने से रोकेगी, जो किसी यन्त्रोद्भूत देवता की तरह से ऐसी घोषणाएँ करता है जिन्हे देव-वाणी की तरह माना जाये। वह अपने अधिकारी-वर्ग को बाहरी दुनिया के सम्पर्क में लाती है और विधान-सभा को अपना स्वाभाविक बैरी मानने की आदत को पनपने से रोकती है जो सर्वत्र नौकरशाही की खासियत है। निर्वैयक्तिक सस्थाएँ हमेशा ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपर्याप्त होती है परन्तु जब वे मांस-मज्जा-युक्त माध्यम का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, तब सहयोग और एक दूसरे को समझने की भावना सभव हो जाती है। मिसाल के तौर पर मेरा विश्वास है कि वैदेशिक कार्यों के बारे में ऐसी वैधानिक समिति बना देना नीति में एक विवेकपूर्ण अविच्छिन्नता बनाये रखने का

---

१ तुलना सी० टी० कार—'डेलीगेटिड लेजिस्लेशन' और 'जरनल आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' अप्रैल, १९२३ में 'एडमिनिस्ट्रेटिव डिस्क्रीशन' पर मेरा निबन्ध। 'पार्लियामेन्ट्री डिबेट्स—पाँचवीं सीरीज, जिल्द १४४, कालम ४२९ भी देखिए जहाँ कुछ दिलचस्प आँकडे किये गये है। श्री डब्ल्यू० ए० राब्सन के 'जस्टिस एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव-ला' (१९२४) और लार्ड हीवर्ट के 'दी न्यू डिस्पोटिज्म' (१९२९) में अपने-अपने अलग ढग से इस जरूरत के तुरन्त पूरे किये जाने का प्रतिपादन किया गया है।

सबसे अमोघ तरीका है—तब समय-समय पर होने वाले रोषमय प्रचार के उन वाग्स्फोटो की जरूरत नही रह जाती, जो अन्तर्राष्ट्रीय सबधो को घोर हानि पहुँचाया करते है।

इस तरह की समितियाँ बनाने का सुझाव देते ही दो बडी कठिनाइयाँ फौरन सामने आती है। क्या कोई समिति मत्री के कार्यों में हस्तक्षेप करेगी ? सभी जानते हैं कि काग्रेस और फासीसी सदनो की समितिया विविध विभागो के प्रशासन में इस कदर दखल देती हैं, कि कोई भी बेहद तग आ जाये। मत्रिमडल की सकल्पना पर वे अपनी सकल्पना को हावी करना चाहती है। तफ्तीशो और जाँच-पडताल मे वे बेहद वक्त बरबाद कराती है। वे पहलकदमी को सीमित कर देती है और दायित्व-भावना को कमजोर। लेकिन मेरी मान्यता है कि जो तथ्य इन सब कठिनाइयो की जड है, उससे उक्त आयोजन मुक्त है। अमरीका और और फ्रास दोनो जगह इन समितियो का विधानमडल के प्रति कुछ कर्तव्य होता है। उनका काम होता है निर्द्वन्द्व होकर मत्री का पर्दाफाश करना—वे मानो उस पर पहरा रखने के लिए ही नियत किये जाते हों। उसकी कार्यवाहियो की वे बाकायदा सूचनाएँ देते रहते है—उसके विधेयको पर वे अपनी सगठित राय जाहिर करते हैं। मेरे द्वारा भावित समितियो को ऐसे कोई अवसर प्राप्त न होंगे। सिर्फ एक प्रत्यायोजित विधान के मामले में वे सभा को रिपोर्ट देंगी अन्यथा नही और सो भी तब जब मत्री से उनकी असहमति हो। उनकी कार्यवाहिया गुप्त हुआ करेंगी। वे कोई ऐसा विधेयक उपस्थित न कर सकेंगी जिसका वह अनुमोदन न करें। अगर कभी पारस्पारक वैमनस्य भी पैदा होगा तो उसके लिए काफी सुरक्षण यह होगा कि विधानमडल में कार्यांग को बहुमत प्राप्त है। समिति-प्रणाली के परिणाम अगर इतने कष्टप्रद है तो अमरीका में तो उसका कारण है कार्यांग और विधानाग के बीच विच्छेद और फ्रास में है बहुदल-प्रणाली।

असली कठिनाइयाँ तो स्वय मत्री पर निर्भर होगीं। अगर वह सशक्त है और प्रशासन की प्रक्रिया को सचमुच अच्छी तरह समझता है तो समिति उसके लिए अमूल्य होगी, वह न केवल मत्रणा के लिए ही उसका उपयोग कर सकता है, वरन् उसे ऐसा माध्यम भी बना सकता है, जिसके सहारे उसकी नीति को विधान सभा में प्रबुद्ध स्वीकृति प्राप्त हो सके। वह अपनी नीति पर लोक के विचारो से अवगत होने में भी उसका उपयोग कर सकता है। उससे वह ऐसे सुझाव और टिप्पणियाँ हासिल कर सकता है जो उसके लिए बहुमूल्य साबित हो। और मैं समझता हूँ उसके अधिकारी भी विधान सभा में कुछ ऐसे सदस्यो को प्रशिक्षित करने का महत्त्व समझेंगे, जो सचमुच मत्री के कृत्यो से पूर्णत अवगत हो। कहने की जरूरत नही कि इससे विधान मडल का वरण-कार्य बहुत ज्यादा खूबी से सपन्न होने लगेगा क्योकि समितिया एक ऐसा छोटा-सा दायरा बन जायेंगी, जहाँ से भावी मत्रियो की प्राप्ति हो सकती है और तब मत्रिमडल बनाने में पदधारी ढूढते समय की मौजूदा दिक्कतें सब दूर हो जायेगी। हाँ, अगर मत्री स्वय कमजोर हुआ तो स्थिति और कठिन हो जायेगी। उसकी प्रवृत्ति निस्सदेह यह होगी कि अपने दायित्त्व का भार समिति पर डाल दे और तब समिति को उसके कृत्यो का उपयोग करने का लोभ होगा—वैसा होना स्वाभाविक भी है। इस खतरे का उपचार बहुत हद तक तो इस बात में निहित है कि सरकारी नौकर किस तरह के है। अगर वे अपने विभाग में रचनात्मक परम्पराओ की स्थापना करें, तो कठिनाई न्यूनतम हो

जायेगी। सर राबर्ट मोरैण्ट जैसे लोग किसी भी मत्री को भीरुता के रोग से बचे रहने के लिए बराबर रसायन देते रह सकते है। लेकिन अगर यह कठिनाई अपनी पराकाष्ठा पर भी रहे, तब भी मै समझता हूँ कि यह प्रयोग तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ही। प्रशासन के अधिकाश मामलो में अपना योग देने के लिए अनधीत जन के पास सामान्य बुद्धि का अपार सचय होता है—वह ऐसी बहुत सी बातें सुझा सकता है जो दैनिक चर्चा के भार से बेतरह दबे हुए विशेषज्ञ ने कभी सोची भी न हो। परस्पर इतने असम मस्तिष्को के समाघात से दैनिक कार्य के विवरणो में अतुल आविष्कारकता का सन्निवेश होगा और छोटी-मोटी बातो में मौलिकता ऐसा गुण है कि अधिकारी-वर्ग को अपनी नितचर्या की मनहूसियत से बचा लेगा जो अपनी ही परम्पराओ की दीर्घसूत्रिता में उसका दम घोट देती है। और, अन्त में, यह बात भी ध्यान देने की है कि जैसी जानकारी ये समितियाँ उपलब्ध करायेंगी, उसे पाने के लिए अगर गैर-सरकारी सदस्य को कोई न कोई राह नही मिल जाती तब और कोई ऐसा रास्ता नही रह जाता कि विधान-मडल निश्चित क्षमता के कोण से विलग करने वालो की लानत-मलामत कर सके। जिस विधान-मडल की प्राविधिक जानकारी तक पहुँच नही होती वह पूरी तरह आत्मविश्वासयुक्त कार्यांग की मनमानी पर निर्भर रहता है। यहाँ, कम से कम, उस विषमता को दूर करने के साधन तो है।[1]

इन सामान्य सिद्धातो का तीसरा अनुपूरक अधिक क्रातिक है। प्रत्येक वैधानिक बहस में कम से कम दो सस्थान होते है। पहले तो आम सिद्धात का विवेचन होता है और फिर जैसे उस सिद्धात को विधेयक की धाराओ में शब्द-बद्ध किया जाता है, उस तरह सविस्तार उसका विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। आधुनिक विधान-मडल के सामने काम का जो प्राचुर्य रहता है, उसके कारण यह दूसरा सस्थान अधिकाधिक विधान-मडल की समितियो को सौंपना आवश्यक हो गया है—वे अपनी उपपत्तियाँ बाद में पूरी सभा के सामने पेश कर देते है। लेकिन ये समितियाँ अपने सगठन और कार्यविधि को समूचे विधान-मडल के नमूने पर ही आयोजित करके अपने काम का महत्त्व बहुत कुछ शून्य कर देती है। सिद्धात का विवेचन करने के लिए जो तरीके आवश्यक है, वे वेही नही जो ब्यौरे के विवेचन के लिए उचित हो सिद्धात पर तो कार्यांग का जीवन ही निर्भर होता है। ब्यौरे की बात तो यह है कि उसमें जो समस्यायें उठाई जाती हैं, वे प्राय हमेशा ही प्राविधिक होती हैं और अक्सर आम पार्टी-सघर्ष की नौबत वहाँ नही आती। मैं समझता हूँ कि प्राथमिक महत्त्व के विधेयको को छोड कर बाकी सबमें समिति-सस्थान का अधिकाधिक सुधार किया जा सकता है। साफ है कि कुछ ऐसे विधेयक भी होते हैं, जिनमें विधान-मडल कोई सशोधन नही कर सकता—हाँ, चाहे तो उसे बिल्कुल अस्वीकार कर सकता है—क्योकि कार्यांग उसके एक-एक विराम-चिह्न तक को यथावत् रखने के लिए बँधा हुआ होता है १९२२ का आइरिश फ्री स्टेट-सन्धि अधिनियम[2] इसका उदाहरण

---

१ देखिए—'दी डेवेलपमेंट आफ दी सिविल सर्विस' में मेरा भाषण जिससे मैंने पृष्ठों में कुछ वाक्य यथावत् ग्रहण कर लिये है।

२ Treats with the Irish free State Act of 1922

है। लेकिन यह बात तो बहुत थोडे से विधेयको पर ही लागू होती है। अधिकाश में परिवर्तन किये जा सकते हैं और उनके सविधि-पुस्तक तक पहुँचते-पहुँचते कार्याग स्वय ही उनमें बहुत से सशोधन कर डालता है।

एक बार कोई विधेयक जब इस प्रकार की वैधानिक समिति को भेज दिया जाये तब, मैं समझता हूँ, उसकी आगे की कार्य विधि को कुछ ऐसा ही रूप दे दिया जाना चाहिए, जैसी प्रक्रिया ब्रिटिश नगरपालिकाओ की समितियाँ अपनाती है। स्मरण रहे, वहाँ बहस के वक्त स्थायी अधिकारी मौजूद रहता है—वह सवालो के जवाब देता है, सुझाव पेश करता है, कठिनाइयां रफा करता है और सूचनाएँ मुहैया करता है। नगरपालिका की अच्छी या बुरी समिति में एक ही भेद होता है—एक तो बैठक में उपस्थित अधिकारी से पूरा लाभ उठाती है और दूसरी निर्वाचित नगरपाल के मुकाबले वेतन पाने वाले अधिकारी की हीनता प्रदर्शित करने पर तुली रहती है। मेरा विश्वास है कि अगर मत्री विधान-मडल की समितियो में अपने स्थायी अधिकारियो को भी ले जायें और बहस में सदस्यो को उनकी उपस्थिति का पूरा लाभ उठाने का अवसर दें, तो यह एक बहुत बडी और सही बात होगी। इससे एक तो जान बूझ कर डाली जाने वाली अडचने दूर हो जायेंगी। और इस बात का प्रत्यय हो जायगा कि जो सवाल पूर्णत —या मुख्यत भी—प्राविधिक थे, उन्हे सुलझाने के लिए प्राविधिक ढग ही अपनाया गया। साझेदारी-भावना का तत्त्व तिरोहित हो जायगा जो अब उन समस्याओ पर छाया रहता है, जहाँ उसकी कतई कोई प्रासगिकता नही। इस बात का भी निश्चय हो जायेगा कि गैर-सरकारी सदस्य के विचारो पर अधिक ध्यान दिया-जायेगा—जितना फिलहाल सभव नही है। क्योकि प्रवृत्ति यह होगी कि उन समितियो को काफी हद तक हाउस आफ कामन्स की गैर-सरकारी विधेयक समिति जैसे निकायो का रूप दे दिया जाये जहाँ हर विधेयक पर, चाहे वह सिद्धात रूप में कितना ही आपत्तिजनक क्यों न हो, ब्यौरेवार और विस्तार से विचार किया जाता है—सिर्फ इसलिए कि उसे एक उचित विधेयक का रूप दे दिया जाये। जाहिर है कि स्थायी अधिकारी तभी कुछ बोल सकता है जब विधेयक से सबद्ध मत्री उसे अनुज्ञा दे दे। लेकिन मेरा ख्याल है कि इस कार्य-विधि को अपनाने से यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा बहुत सा काम असल में विवादास्पद है ही नही, जिसे अब तक विविध पार्टियाँ अनिवार्यत सघर्ष-भूमि माने बैठी है। मै समझता हूँ कि ऐसा होने से विधान का काम एकदम ही अधिक तेजी से होगा और अधिक कारगर होगा। और अवसर के अनुकूल—यानी सिद्धात-विश्लेषण तक—सीमित रहकर वह महान् बहस भी कही बेहतर होगी और उसके फलप्रद होने की अधिक सभावना होगी।

कार्याग और विधानाग के परस्पर सबध की एक और समस्या के बारे में दो-एक शब्द कहना जरूरी होगा। गैर-सरकारी सदस्य पर भ्रष्टाचार के माध्यम से प्रभाव डालने से कार्याग को रोकना हमेशा बडा जरूरी होता है। यह प्रभाव अनेकानेक विविध रूप ग्रहण कर सकता है। अमरीका की तरह वह सरक्षण प्रदान करने में एक सविवेक साझेदारी से उद्भूत हो सकता है—वोट के बदले सदस्य के मित्रो और सबधियो को बडे-बडे पद,—कभी कभी तो बडे-बडे न्यायिक पद तक—दिये जा सकते है। सबसे अधिक खतरनाक रूप वह है जब राजनीतिक कार्याग का आकार इतना बडा हो कि उसके बहुमत पर सदस्यो का सीधा प्रभाव

हो और उसकी नीति चाहे कुछ भी हो, उसे पदारूढ रखने में उनकी सीधी दिलचस्पी हो। मिसाल के लिए, औसत ब्रिटिश प्रशासन में, आज कम से कम कोई पचास एक सदस्य तो होते ही है—फ्रासीसी मन्त्रि-परिषद् में भी शायद ही इससे कम होते हो। जब सत्तारूढ पार्टी के सदस्यो का पाँचवा हिस्सा पद धारण कर ले सकता है, तो जाहिर है कि मन्त्रिमडल के सदस्यो की अधिक से अधिक सीमा निर्धारित करना अनिवार्य है। इन्ही कारणो से, कोई सरकारी नौकर, विधान-सभा का सदस्य नही होना चाहिए—क्योकि उन्हे भ्रष्टाचार की राह पर ले जाने की सुविधाएँ इतनी है कि कोई न कोई उनका उपयोग किये बिना नहीं रह सकता और इतनी मुश्किल है कि उनका पता लगाये बिना नही रहा जा सकता। प्रभाव डालने का एक और रूप कार्यांग के सम्मान-उपाधियाँ देने के अधिकार में निहित है। आदमी बडा वृथा प्राणी है और 'उसके कोट पर सुशोभित फीते का टुकडा' आधिकारिक मत को चुँधिया देता है। राजनीतिक कारणो से उपाधि देने के खिलाफ या तो कोई निश्चित विधान हो अथवा कोई आत्म-निषेधात्मक अध्यादेश हो ताकि उन तक पहुँच होना ही कठिन हो जाये—मै समझता हूँ कि दोनो में से एक बात हो तो उसका बडा महत्त्व रहे। और कार्यांग के लिए विधान-सभा के किसी सदस्य को वैतनिक सरकारी नौकरी देना हमेशा अवैध होना चाहिए। अपवाद-स्वरूप कुछ ऐसी जगहें हो सकती है जहाँ वैधानिक अनुभव का उपयोग स्पष्टत सहायक होता है जैसे किसी उपनिवेश की गवर्नरी। ऐसी जगहो की सूची आसानी से तैयार की जा सकती है।

कहने की जरूरत नही कि विधान सभा के सदस्यो को बहस की अधिकाधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन्हें ऐसी मर्यादाओ से बाँधा नही जा सकता जो अदालत के प्रति निर्देश्य हो। जाहिर है कि अगर उनके सुझाव और वक्तव्य अपलेख और अपवचन क़ानूनो की परिधि में आ जायें तो बहस के दौरान में बहुत सी ऐसी बातें न कही जायेंगी, जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान हो। वे इतने समर्थ होने चाहिएँ कि किसी मामले में भ्रष्टाचार हुआ है—अपने ऐसे विश्वास का इशारा दे सकें चाहे भले ही कानून की दृष्टि से प्रमाणों का क्रम पूरा और पर्याप्त न हो। वे इस योग्य हो कि किसी उपनिवेश के गवर्नर की कार्यवाहियों को स्वेच्छाचारितापूर्ण कह सकें और उसके लिए उनके विरुद्ध नुकसान का दावा दायर न किया जा सके। विधान सभा के बाहर भी उन्हे ऐसा सरक्षण मिले या नहीं—इसका फैसला करना बडा कठिन है। सदस्य का बहुत कुछ काम अखबारो को चिट्ठियाँ लिख कर और आम सभाओ में होता है। हो सकता है उसके कुछ ऐसे विचार और दृष्टिकोण हो जिन्हें व्यक्त करना वह महत्त्वपूर्ण मानता हो और जिन्हें अभिव्यक्ति देने का विधान सभा में अवसर ही न मिलता हो। जाहिर है कि किसी की मनमानी निन्दा-अभिशसा करने की खुली छुट्टी तो उसे नही होनी चाहिए। लेकिन एक ब्रिटिश मिसाल लें—किसी राजनीतिक अपलेख के मुकदमें में लन्दन जूरी से मिलने वाले सभावित सनिश्चय से कुछ सरक्षण उसे मिले[1] इसमें कुछ सगति तो प्रतीत होती ही है। हाउस आफ कामन्स की अभय भूमि पर खडे होकर

[1] इस आम मसले पर कुछ उपयोगी टिप्पणियों के लिए देखिये—सिजविक—एलीमेंट्स आफ पौलिटिक्स, पृ. ४६२-६३

अपने आपको अभिव्यक्त करने का यदि अवसर न हो तो निश्चय ही गवर्नर आयर की नीति के सम्बन्ध में अपने अन्तरतम में गहरा क्षोभ अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए समुचित शब्दावली में उसे अभिशसित कर पाना कठिन ही है।

—६—

आधुनिक राज्य में कार्यांग के आमतौर से तीन पहलू होते है। एक तो यह—जैसे मैं पहले लिख आया हूँ—विधान सभा में सत्तारूढ पार्टी की एक समिति होती है जो उसके सामने सुझाव रखती है और उन सुझावो को स्वीकृति मिलते रहने की शत पर पद धारण करती है। दूसरे, वह विधान लागू करने वाला प्रशासन-निकाय होता है। उसे विशाल अधिकारी-वर्ग का प्रबन्ध करना पडता है जो प्रशासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक होता है। तीसरे, प्रशासक के रूप में अपने कृत्य के माध्यम से उसका नागरिक निकाय के साथ सतत सम्बन्ध रहता है—और मै प्रस्तुत ग्रथ में पहले कह चुका हूँ कि प्रशासन का भला-बुरा होना बहुत अशो में इस बात पर निर्भर है कि वह जो कार्य करता है उनसे नागरिक किस तरह से सम्पृक्त होते है।

हम इन तीनो पहलुओ को अलग-अलग करके लें। राजनीतिक निकाय के रूप में कार्यांग के तीन मुख्य कृत्य होते हैं। एक—विधान-सभा की स्वीकृति के लिए जो नीति प्रस्तुत की जानी हो उसके अन्तिम वरण से वह सम्बन्धित होता है। उस नीति का क्या बनता ह इस बात पर कार्यांग के रूप में उसका अस्तित्व निर्भर होता है और चूकि विधानाग प्राय —और अपने सर्वाधिक कार्य-क्षम रूप में—दो पार्टियो में विभाजित होता है अत स्पष्ट है कि इस प्रसग में कार्यांग, मोटे तौर पर, सत्तारूढ पार्टी का नेता होता है। उसका काम यह है कि पार्टी की घोषित सकल्पना को विधेयको के रूप में मूर्तिमन्त करता रहे। उस सकल्पना की जानकारी उसे कुछ हद तक तो स्वय पार्टी के वक्तव्यो से होती है, कुछ हद तक इस बात से कि उसके समर्थकों की उसकी नीति पर क्या प्रतिक्रिया हुई है और कुछ हद तक राय के उस जटिल दबाव से जिसका सामना उसे अपने रास्ते पर बढ़ते हुए करना पडता है—और यह सबसे बडी बात है। वह नीति निश्चित करता है और एक बार नीति स्वीकार हो जाने पर यह देखना उसका काम है कि जो अर्थ विधान-सभा द्वारा अभिप्रेत था —भावना और विस्तार दोनो में—लोक-सेवाओ द्वारा वह उसी रूप में क्रियान्वित हो क्योकि जिस ढग से उस नीति पर अमल किया जायगा उसकी आलोचना का उसे वहाँ जवाब देना होगा। जो कुछ किया जायगा उस सबकी ज़िम्मेदारी कार्यांग पर ही होगी। भूल होगी तो उसकी, दोष होगा तो उसका भार उसे ही वहन करना होगा। इसके अलावा नीति अपने सम्पूर्ण विस्तार में एक ही केन्द्र से तो लागू हो नही सकती—उसके विविध पहलुओ की सीमा-रेखाए खीचनी होती हैं। जो व्यक्ति स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है, वह नौसैनिक और स्थल सैनिक रक्षा के लिए ज़िम्मेदार नहीं हो सकता। जिसके ज़िम्मे विदेश नीति है, वह शैक्षिक प्रशासन की देख-रेख का भार भी अपने कधो पर नहीं डाल सकता। अत राजनीतिक कार्यांग का तीसरा कृत्य है राज्य के विभिन्न विभागो की पहले तो सीमा-रेखाएँ खीचना और फिर उनकी कार्यवाहियो को समन्वित करना।

कार्यांग के राजनीतिक पहलू को मै मन्त्रि-परिषद् कहूँगा क्योकि अधिकाश आधुनिक राज्यो में उसने यही नाम ग्रहण कर लिया है। उसका वरण कैसे होगा, उसमें कौन-कौन रहेगा और उसका आकार क्या होगा? वैसे तो ये सवाल बिलकुल बाहरी प्रतीत हो सकते है परन्तु वास्तविकता यह है कि ये राजनीति-सिद्धात के अन्तरग का स्पर्श करते है। मिसाल के लिए, क्या राज्य का औपचारिक अध्यक्ष मन्त्रि-परिषद् का मुख्य सदस्य भी रहे?—जैसे अमरीका में। उसके सहयोगी, अमरीका की तरह, क्या उसके मातहत होगे? अथवा एक सामान्य ध्येय की ओर उन्मुख वे सब आपस में बराबर होगे? मै समझता हूँ अनुभव से यह बात स्पष्ट है कि हर राज्य में एक आधिकारिक अध्यक्ष की आवश्यकता होती है जो मन्त्रि-परिषद् का सक्रिय अध्यक्ष न हो। चाहे वह फ्रास की तरह गणराज्य का प्रेजीडेण्ट हो अथवा इगलैंड की भाँति औपचारिक शक्तियो के सिवाय सब शक्तियो से विहीन सावैधानिक सम्राट। अमरीकी प्रणाली के निश्चय ही दो परिणाम होगे—(१) मुख्य कार्यकारी की पदावधि नियत होगी, (२) उसकी शक्ति का स्वरूप ऐसा होता है कि उसके सहयोगी विधिक और वास्तविक सत्ता दोनो की दृष्टि से उसके अधीनस्थ होगे। फ्रास और इगलैण्ड दोनो ही की प्रणाली राजनीतिक पार्टी को अपने नेता चुनने का अवसर देती है और उसे अपने सहयोगियो की एक मन्त्रि-परिषद् बनाने का—और अगर मन्त्रि-परिषद् के रूप में उनकी हार हो जाये तो उन्हें या तो अपने विरोधियो के लिए जगह खाली कर देनी पडती है या शक्ति की पुन प्राप्ति के लिए निर्वाचको के सम्मुख जाना पडता है।

पार्टी का इस प्रकार चुना हुआ नेता प्रधान-मन्त्री बनता है। यह अतर्क्य बात है कि वह अपने साथियो को चुनने के लिए स्वतन्त्र हो—जिन्हें उसके साथ काम करना है, वे पार्टी द्वारा न चुने जायें। पार्टी द्वारा उनके चुने जाने के तरीके में यह बड़ा भारी नुकसान है कि उससे चुनने की क्रिया में जो नम्यता है वह जाती रहती है और इसका मतलब यह भी हो सकता है कि गुण के बजाय प्राप्यता के विचार का ही अभिभव हो। कोई भी पार्टी विविध विचारों की इकाइयो का सम्मिश्रण होती है और प्रधानमन्त्री के साथियों को चुनने का काम उस पर छोड देने का परिणाम यह नही होगा कि नीति-निर्माण के लिए जो सर्वाधिक उपयुक्त है उनका प्रतिनिधित्व हो बल्कि उल्टे हर इकाई का प्रतिनिधित्व होगा जबकि उनसे अपेक्षित यह होता है कि वे एकान्वित नीति बनाने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, करें। विरोध पक्ष में ऐसी एकता स्थापित हो जाना कठिन नहीं जहाँ समान शत्रु के प्रति विद्वेष रखना ही नियम हो जाता है। लेकिन इसमें सबसे अधिक कठिनाई तब होती है जब उस पार्टी का बहुमत हो। और इतना तो निश्चय है कि प्रधानमन्त्री को अपने साथी चुनने की विधिक स्वतन्त्रता दे देने का मतलब यह कदापि नही कि मनमाने तौर पर जिसे चाहे ले ले। हर पार्टी में कुछ ऐसे लोग होगे विधान सभा में जिनके लम्बे अनुभव के कारण यह नितान्त अनिवार्य हो जाता है कि उनके दावे सिर झुका कर स्वीकार किये जायें। श्री ग्लैडस्टन को श्री चैम्बरलेन नही सुहाते थे पर उन्हें चैम्बरलेन को विवश अपनी मन्त्रि-परिषद् में रखना पडा। लार्ड सैलिसबरी को हाउस आफ कामन्स का नेतृत्व अगर लार्ड रैण्डोल्फ चर्चिल को न सौंपना पडता तो वे खुश ही होते पर दरअसल उनके सामने

और कोई रास्ता ही न था। जिस बात में प्रधान मत्री सचमुच स्वतत्र होता है, वह है पदो का वास्तविक वितरण—परन्तु यहाँ भी उसके सामने सीमाएँ होती हैं कि वह अपने साथियो को वे पद स्वीकार करने के लिए राज़ी करे जिसके लिए उसने उन्हें नामाकित किया हो। १८४५ में लार्ड जॉन रसेल का सरकार बनाने का प्रयत्न इसीलिए बेकार हो गया था कि ग्रे और पामर्सटन वे पद स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए जो कि लार्ड रसेल ने उन्हे देने का विचार किया था—यह इस बात का सबूत है कि यह सीमा भी यथार्थ है [1]। मैंने विभागो की जिन वैधानिक समितियो का ऊपर उल्लेख किया है, अगर वे क्रियाशील हो तो गलती पर एक और रोक लग सकती है। उनके काम करते रहने से सदस्य उन्हीं पदो की ओर प्रवृत्त होगे। जिनमें उनकी सच्ची दिलचस्पी हो। वह एक तरह का छँटाई-केन्द्र सा होगा, जहाँ जान ब्राइट जैसे सदस्यो को, जिनकी दिलचस्पी नीति के प्रमुख सिद्धातो में ही हो, ऐसे सदस्यो से अलग किया जा सकता है, जिनमें प्रशासन के विशेष विवरणो को समझने की मेधा निश्चय ही विद्यमान हो—जैसे इग्लैण्ड में सर जेम्स ग्राहम या काडवेल और दूसरे देशो में गैलेंटीन और रून।

इन सीमाओ के बाहर आ जायें तो जितनी ही नम्यता अधिक होगी, प्रणाली-विशेष की क्रियान्विति के लिए उतना ही अच्छा होगा और चुनने की शक्ति प्रधान मत्री के हाथो में केन्द्रित कर देना नम्यता की सबसे अच्छी गारटी प्रतीत होती है। परन्तु इस प्रकार बनाई हुई मन्त्रि-परिषद् दो तरह की हो सकती है। वह या तो चार-पाँच लोगो का एक ऐसा छोटा-सा निकाय हो सकती है, जो सिर्फ आम नीति से ही सरोकार रखते है। अपना और उसे लागू करने का काम अधीनस्थ मन्त्रियो के जिम्मे छोड देते है, जैसे श्री लायड जार्ज की युद्ध-कालीन मन्त्रि-परिषद्, अथवा ग्रेट ब्रिटेन और महाद्वीप की ऐतिहासिक मन्त्रि-परिषद् की भाँति एक बडा निकाय हो सकती है, जिनमें से अधिकाश अपने विभागो के सक्रिय प्रशासन के विषय में सचेष्ट हो।[2] मै समझता हूँ इस बाद के तरीके की श्रेष्ठता के विषय में किसी को कोई विशेष सदेह नही हो सकता। असल में नीति को प्रशासन से अलग नही किया जा सकता —विधेयको का सार तो उनकी क्रियान्विति में ही निहित रहता है। जो लोग विवरणो से कतराते है, वे पायेंगे कि या तो विवरण की उपेक्षा के कारण उनके सिद्धात विफल हो जाते हैं या यह कि यद्यपि वे सिद्धात पर अपना ध्यान इस कदर केन्द्रित करते हैं, फिर भी असल में वे अपना समय न सिर्फ विवरण पर व्यतीत कर रहे हैं, बल्कि विभागो के आपसी झगडे तय करने पर भी कि किस विवरण का सबध किस विभाग से है, जबकि वास्तव में तत्सबंधी ज्ञान उन्हें भी कुछ नही होता—क्योकि ज्ञान तो प्रशासन की प्रविधि का अवगाहन करने से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि विभागीय मत्री हमेशा अधीनस्थ होगे, अत विधान-

---

१ ट्रेवेलयन—लाइफ एण्ड लेटर्स आफ लार्ड मैकाले (नेलसन सस्करण) (II)–१४२

२ श्री लायड जार्ज की प्रणाली के विषय में देखिए १९१७ की रिपोर्ट आफ दी वार केबिनेट और जून १९, १९१८ को हाउस आफ लार्ड्स में दिया गया लार्ड कर्ज़न का भाषण।

सभा का रुख हमेशा उनकी उपेक्षा कर उसके परे स्थित छोटी-सी नीति-निर्मात्री मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख अपील करने का होगा। इसके कारण प्रशासन में सामजस्य का क्षय होगा क्योकि तब मन्त्रि-परिषद् का प्रयत्न अपने अधीनस्थ मन्त्रियो का तिरस्कार करके विधानाग के सराधन की दिशा में उन्मुख होगा। बाहरी हितो के दबाव के बारे में भी यही बात होगी और कार्याग में जो प्रशासन के अध्यक्ष होगे उनका देर-सबेर काम-काज के सँभालने में कोई गभीर योग मिलना बन्द हो जायगा।

अत दूसरे नमूने पर बनाई गई मन्त्रि-परिषद् ही अभिमत प्रतीत होती है। परन्तु यह कोई बहुत बडा निकाय नही होना चाहिए। नीति और प्रशासन को व्यवस्थित करने की सामूहिक जिम्मेदारी उसे उठानी पडेगी। उसे दृष्टिकोण की एकता का विकास करना होगा ताकि जैसे-जैसे उसके निर्णय के लिए समस्यायें उठें, उन पर तुरन्त और कारगर कार्यवाही की जा सके। इसके लिए दस-बारह सदस्यो का निकाय शायद सबसे ज्यादा उपयुक्त रहेगा। यह इतना बडा भी है कि प्रशासन के सामान्य क्षेत्र को नियन्त्रित कर सके और इतना छोटा भी है कि अपने सामने आने वाले बडे-बडे मसलो पर एक सच्ची एकात्म बुद्धि का विकास कर सके। मेरे कहने का मतलब यह नही कि बारह जगहो में उन सब विषयों के क्षेत्र समा जाते है, जिनके प्रशासन के लिए मन्त्रियो की जरूरत है—मेरा अभिप्राय सिर्फ इतना है कि नीति के क्षेत्र को हद से हद बारह बड़ी श्रेणियो में—जिनमें हर एक का अध्यक्ष मन्त्री हो—बाँट देने से सबसे अच्छे परिणामो की आशा की जा सकती है। हाल के अनुभवो की कुछ बातो से यही नतीजा निकलता है। अगर सख्या इससे कम हो तो नीति-निर्माण में बडे विभागो का भी प्रतिनिधित्व न हो पायेगा, अगर सख्या बहुत हो तो मन्त्रि-परिषद् के भीतर एक और छोटी मन्त्रि-परिषद् बन जायेगी, जिसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक हर निर्णय पर अपनी छाप लगाने की होगी। या फिर अधिक सख्या का मतलब यह होगा कि मन्त्रि-परिषदीय कार्य इतना फैल जायगा कि नीति-समन्वय की उपेक्षा होगी और हर मन्त्री अपने क्षेत्र का प्राय अनियन्त्रित आधिपत्य सँभाले बैठा रह जायेगा।

इस तरह की मन्त्रि-परिषद के सदस्यो के आपसी सबध कैसे होने चाहिए? दो अपवादों को छोड कर यह मामला ऐसा है, जिसका सबध राजनीति-कला से है, सिद्धात से नही। स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री को कुछ तो प्रमुखता प्राप्त होती ही है। वह पार्टी का भी नेता होता है और विधान-सभा का भी। राजनीतिक सामरिकता का दायित्व किसी भी और व्यक्ति की अपेक्षा उसी का अधिक होता है। समूचे दल का सचालक वही होता है, विसंवादी साथियो को सामजस्य में प्रवृत्त करने का भार उसी पर होता है, निर्वाचक-मडल के सामने मसलो को सर्वाधिक आधिकारिक रूप में वही पेश करता है। पता लगाने से, मैं समझता हूँ कि, यही मालूम होगा कि सबसे अधिक सफल मन्त्रि-परिषदें वे ही रही हैं, जहाँ प्रधान मन्त्री अपनी सकल्पना अपने साथियो पर लागू कर सका है—उसे जो सत्ता प्राप्त है, उसका दम्भ कोई और सदस्य नही कर सकता। याद रखने की बात है कि फैसले करने में मन्त्रि-परिषद् को रायें गिननी नही होती, उन्हे तोलना पडता है; वोट ले लेने भर से उसकी समस्याओ में दायित्व का समुचित उद्भव नही होता।

प्रधान मन्त्री के विचार का जितना अधिक प्रभाव होगा, दृष्टिकोण की एकता हासिल

करना उतना ही आसान होगा। यह ज़ोर देकर कह दिया जाये कि इसका मतलब यह कतई नही कि प्रधान-मत्री अमरीकी प्रैज़ीडेंट की भाँति अपने साथियो से बहुत ही ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया जाये। उसका परिणाम तो होगा सत्ता का केन्द्रीयकरण जिसका मतलब हमेशा यह होता है कि बिना जाने ही निणय किये जा रहे है, मातहत अपने अध्यक्ष की खुशामदें करेंगे, अपरिहार्यता के सिद्धात की मान्यता होगी जो अन्ततोगत्वा कम से कम आन्तरिक दृष्टि से प्रैज़ीडेंट की अच्युतता के मतवाद का रूप ग्रहण कर लेती है। और अपरिहार्यता का मतवाद असभव है—इसका सहज कारण यह है कि लोकतत्र प्रणाली का तो आधार ही यह है कि कोई भी व्यक्ति अपरिहार्य नही होता।

दूसरे, कुछ प्रधानता वित्त-मत्री की भी होती ही है। कर-आरोप आधुनिक राज्य का मानो प्राण है—और उसकी महत्ता बढती ही जाने की सभावना है। जिस मत्री के पास नागरिको की जेबें टटोलने की शक्ति हो, उसे एक खास तरह की सत्ता सौंपी हुई समझिए। राष्ट्रीय ऋण का नियत्रण भी उसी के हाथ में होता है, अधिवेशन और मुद्रा-व्यवस्था पर प्रभाव होने के कारण उद्योग और वाणिज्य पर भी उसे कुछ अधिकार होता है, जो,किसी भी दृष्टि से देखिये, अभिभावी होता है। अनिवार्यत इस क्षेत्र में राज्य के व्यय के प्रति एक विशेष रुख निहित होता है क्योंकि उसे व्यय को कम से कम उस विवादास्पद विन्दु तक तो नियत्रित करना ही होगा, जहाँ कर-आरोप ज़ब्ती का स्वरूप अख्तियार कर लेता है। दूसरे विभागो की खर्च करने की शक्ति से सबधित होने के नाते उनकी नीति का थोडा बहुत अवेक्षण भी इसमें निहित रहता ही है। कितनी ही निगरानी और देख-रेख रहे, यह तो ऐसे तत्त्वो पर निर्भर है जिनसे यहाँ मेरा कोई मतलब नहीं है। निश्चय ही कोष-नियत्रण की ब्रिटिश-प्रणाली के बडे फायदे हैं—उसमें पहले यह इत्मीनान कर लिया जाता है कि जो वाछित लक्ष्य है, प्रस्तावित खर्च कही उसके लिए पर्याप्त से अधिक तो नही लेकिन मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश राजकोष के बाहर के अधिकाश विशेषज्ञ यह मानेंगे कि प्रतिकार-स्वरूप उसमें दोष भी बहुत है। विशेष रूप से विध्यात्मक राज्य के युग में—जहाँ हम आज पहुँच चुके है—वित्त-मत्री में व्यय करने वाले विभागो का दबाव झेलने के लिए बडे साहस और दृढता की ज़रूरत है लेकिन एक ही प्राक्कलन-निकाय की प्राय कुछ भी व्यय न करने वाले विभाग की दृष्टि से सामूहिक आलोचना स्थिर वित्त-व्यवस्था की कुजी है और ज़ाहिर है कि इससे प्रधान मत्री के बाद बस वित्त विभाग के मत्री का ही महत्त्व होगा।

अन्यथा मत्रि-परिषद् के सभी सदस्य समतुल्य होते हैं और जो विभेद दृष्टिगोचर होते है वे सिद्धान्त और सैद्धान्तिक आवश्यकताओ के परिणाम नही वरन् अबूझ व्यक्तित्व के घात-परिघात का फल समझ जाने चाहिएँ। मत्रि-परिषद उतनी ही अधिक सफल होगी जितने उसके आधारभूत निर्णय सगठित विचार विनिमय के परिणाम होगे। हर विभाग का मत्री ही सर्वशक्तिमान है—इस धारणा को जितना कम सम्मान दिया जायेगा, उतना ही उसके काम के लिए शुभ होगा। क्योंकि अन्यथा दो खतरे सामने आते है जो इधर काफी जोरदार तरीके से स्पष्ट हो गये है। एक तो यह है कि लोगों का कोई ऐसा निकाय नही, जिस पर नीति के सपूर्ण सर्वेक्षण का प्रभावी दायित्व हो और दूसरा यह कि जो नीति मत्री की प्रतीत होती है और इसी रूप में जिसका सम्मान होता है, असल में वह केवल उसके

स्थायी अधिकारियो की नीति होती है। इन दोनो के बीच भेद करना बडा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक नौकरशाही का, चाहे वह जितना उदार होना चाहे, अपने ही तरीको और अपनी ही परम्पराओ को सम्मान देने की ओर रुझान रहता है और जब उसके सामने नये सुझाव आते हैं तो आदतन वह शुरू से ही उनकी असभवता पर जोर देती है और बराबर उनके अविवेकपूण होने का राग गाती रहती है। विभागीय रूढ़िवादिता को पराभूत करने के लिए सशक्त मत्री होना चाहिए और बाहरी अभिकरणो को छोडिए (इस का मैं बाद में विवेचन करूँगा)। मन्त्रि-परिषद् में ही ऐसे साधन होने चाहिए कि इस बात का आग्रह बराबर रहे कि विभागीय रूढिवादिता को कभी अन्तिम न माना जाये। यह तभी होगा कि मन्त्रि-परिषद् विभागो के काम में बीच में पडने के लिए अपने आपको स्वतत्र समझे और अपने निर्णयो की सर्वोपरिता पर डटी रहे। हो सकता है, वैसा करना गलत हो—अक्सर ही वैसा होगा लेकिन नीति जब तक अपने करणीय कृत्य को इस प्रकार व्याख्यात नहीं करती तब तक वह समन्वित नही की जा सकती। अन्यथा वह बस एक ऐसा निकाय रह जाती है, जिसका कार्य विधान-सभा के लिए काम को और उसमें किये गये फैसलो को व्यवस्थित करना हो—और इस तरह उसका आधा महत्त्व तो खत्म ही हो जाता है।

मै पहले ही कह चुका हूँ कि प्रधान मत्री की अपने साथियो के बीच एक विशिष्ट सत्ताधायी स्थिति होती है। इस पद के आधुनिक इतिहास में उस स्थिति से जनित दो निष्कर्ष निहित है। यह जरूरी है कि उस पर विभागीय कार्य का बोझ न डाला जाये। उसका काम तो यह है कि सरकार की आम समस्याओ के लिए अपने दिमाग को ताजा और उन्मुक्त रखे। उसे मन्त्रिमडल में मुलायमियत और समतताके स्रोतका काम करना होता है। राज्यके सभी भागो में घटनाओ की स्थूल रूपरेखा से उसे अपने आपको अवगत रखना होता है। जो प्रधान मत्री इन कामो के साथ अपने ऊपर किसी और पद-विशेष का—जैसे विदेश-मत्रालय के कार्य का—दबाव भी स्वीकार कर लेता है, वह जरूर ही किसी न किसी काम की ओर से जाने-अनजाने उपेक्षा बरतेगा और उनमें से प्रत्येक कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उपेक्षा करना घातक होगा। उसे विधान-सभा का सक्रिय नेता होना चाहिए—वहाँ उसकी उपस्थिति का दोहरा महत्त्व होता है। उसके कारण ऐसे ढग से विधान-सभा में उसके साथियों का काम समन्वित हो जाता है जो अन्यथा सभव नही। अगर वह सभा में कभी-कबाद ही सूरत दिखाता है तो अपनी मन्त्रि-परिषद् के शेष सदस्यों से भिन्न उसे अपील-अदालत समझने की प्रवृत्ति जोर पकडेगी। वह प्रधान-मत्री के बजाय प्रेजीडेंट हो जायेगा। दूसरे, उसकी अनुपस्थिति का एक बडा बुरा प्रभाव यह होगा कि निर्णय-केन्द्र विधान-सभा से दूर स्थानान्तरित हो जायेगा। वह वहाँ नही मिलेगा तो जहाँ वह मिल सकता है, वहाँ उसे ढूँढ़ा जाने लगेगा। जिन प्रभावशाली हितो की उस तक पहुँच हो सकती है, उसका दफ्तर उसके दबाव का केन्द्र-स्थान बन जायेगा। उसे उनके साथ करार करने का लोभ होगा। और वे निष्पन्न तथ्यो के रूप में विधान-सभा में पेश किये जायेंगे और उसके मन्त्रिमडल को इस्तीफा देने पर विवश करके ही उन्हे रद्द किया जा सकता है। जिस सभा की यह अवस्था होगी, वह बडी तेजी से नागरिको का सम्मान और समर्थन खो बैठेगी। उसकी बहसें कृत्रिम-सी हो जायेंगी और लोगो उनसे निर्णय के सच्चे स्रोत पर तो कुछ असर पडता ही नही। नीति का निर्माण दिन-

के प्रकाश में नही होगा और सभा के जीवन का आधार तो वह नीति ही होती है, जिसे वह बनवा ले। यहाँ यह कह दिया जाये कि दो-पार्टी प्रणाली की श्रेष्ठता का यह भी एक कारण है। जो प्रधान-मत्री कई दलो के मेल का नेतृत्व करता है—जो कभी भी नई गुटबन्दी कर सकते है—वह सदा एक अस्थिरता से आतकित रहता है जो उसके काम की ईमानदारी के लिए अत्यन्त घातक है। विचारो की नीति आपा-धापी की नीति बन कर रह जाती है। और जो ध्यान विधान की रूप-रेखा को दिया जाना चाहिए, वह अनिवार्यत छोटी-मोटी चालबाजियो की ओर प्रवृत्त होता है ताकि किसी तरह मिली-जुली सरकार को भग होने से बचाया जाये।

स्पष्टत ही इसमें यह उपलक्षित है कि एक सशक्त कार्यांग हो जो विधान की एक समजित आयोजना को सविधि-पुस्तक तक पहुँचा दे। अत सशक्त कार्यांग द्वारा उत्पन्न समस्याओ के दो पहलुओ की विवेचना करना जरूरी है। एक—विधान-सभा को क्या अवसर दिया जाता है कि वह कार्यांग पर अपना असर डाल सके? दूसरा—यहाँ जिस सघटना की रूप-रेखा दी गई है, उसमें समाज के विभिन्न हितों का क्या स्थान है? मै समझता हूँ विधान-सभा को स्पष्ट ही अपने आप में तीन सुरक्षण प्राप्त होते है। वह मत्रि-परिषद् को कभी भी पदच्युत कर सकती है। हालाँकि बरखास्त करने की इस शक्ति का उपयोग कदाचित् ही कभी हो पर वह अत्यन्त मूल्यवान आनुषगिक धमकी तो रहती ही है। दूसरे, जब तक कोई विशेष परिस्थितियाँ ही न हो—जैसे सभा के दो-तिहाई वोट—उसे ऐसा विधान पास करने को बाध्य नही किया जा सकता जो राज्य की साविधानिक नीव को प्रभावित करे और जब तक कोई बहुत ही गम्भीर आवश्यकता की स्थिति न हो, वैसी परिस्थितियाँ विद्यमान न होगी। यहाँ जिस दृष्टि से हम विचार कर रहे है, उसे बन्दी-प्रत्यक्षीकरण-अधिनियम के निराकरण के लिए, अमरीका के गुप्तचरण-अधिनियम जैसा कोई विधेयक पास करने के लिए या कार्यांग को घोषणा द्वारा विधान बनाने की सत्ता देने का विधेयक स्वीकार करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। तीसरे,—हर विभाग के लिए उसकी वैधानिक समिति होती है जो प्रशासन के विवरणो के बारे में उसे पक्की-पूरी जानकारी करायेगी। इस तरह उसे—औपचारिक और अनौपचारिक दोनो रूपो तरह से—यह पता चल जायगा कि मत्री के दिमाग में क्या बात है। वह यह भी जान जायगा कि किन उपादानो से वह अपने निर्णय पर पहुँचता है। वह ऐसे वातावरण में विरोध और आलोचना कर सकेगा, जिसमें भग करने या इस्तीफा देने की धमकी का कोई भाव नही होगा। यहाँ यह बात कह दी जाये कि समितियो की कोई ऐसी व्यवस्था शायद पर्याप्त नही हो सकती जिसमें विभागीय खर्चे के प्राक्कलनो की परीक्षा का कोई इन्तजाम न किया गया हो। हमें वैसे इन्तिहाई नियत्रण की जरूरत नही जैसा अब फ्रासीसी कमीशनो का अथवा काग्रेस की समितियो का होता है। परन्तु ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स को अब जिस गतिरोध का सामना करना पडता है, उसे दूर करने की जरूरत भी है ही—जब धन खर्च हो जाता है तब उसे राष्ट्रीय व्यय के सबध में कुछ टीका-टिप्पणी करने का मौका मिलता है। अत ऐसी प्राक्कलन समितियाँ जरूरी हैं, जिनका अपने कार्यांग से बिल्कुल स्वतत्र विशेषज्ञो का अभीष्ट अमला हो और जिन्हें विभागो की जाँच करने का अधिकार हो। उनकी आवश्यकता की अब तक जो भी

आलोचना की गई है, उसमे यह महसूस नही किया गया कि उनके न होने में कितना ख़तरा है ?[१] एक और सरक्षण जो विधानाग को चाहिए वह है अपनी ही परिधि मे अमरीका में जिन्हें वैधानिक निर्देश ब्यूरो कहते है, उनका निर्माण।[२] इसके बिना गैर-सरकारी सदस्य को मन्त्रि-परिषद से टक्कर लेने में निचाई पर खडे होना पड जाता है। वह नही जानता कि उसे किस सामग्री का उपयोग करना चाहिए, उसकी परिपृच्छा से सबधित प्रयोगो के बारे में भी उसकी कोई जानकारी नही होती। अपने विशेषज्ञो की ज्ञान-गरिमा से मडित और सरक्षित मत्री कोई ऐसा तथ्य सामने रख कर असली मसले से कतरा जाता है कि अगर सदस्य की दिलचस्पी व्यवस्थित रूप ले ले तो वह स्वय उसका काट कर सकता है।

नागरिक निकाय का सबध कार्यांग से बिल्कुल भिन्न होता है। उनकी समस्या है अपनी सकल्पना को अभिव्यक्ति देने की ताकि न सिर्फ उनकी आवश्यकताएँ जाहिर हो जायें, बल्कि यह भी साबित हो जाये कि उस सकल्पना के पीछे लोकमत का बडा बल है। फिलहाल, नागरिक निकाय के पास दबाव डालने के कई अलग-अलग तरीके हैं। निर्वाचन के समय वह उस पार्टी को पदारूढ करता है, जिसके सामान्य विचारो से फिलहाल उसकी सहानुभूति हो। चुनाव के बाद विभिन्न सस्थाएँ प्रस्ताव पास करती हैं, आवेदन-पत्र तैयार करती हैं, मत्रियो के पास प्रतिनिधिमडल ले जाती हैं। कभी-कभी उनका दबाव इतना प्रबल होता है कि किसी ख़ास समस्या की जाँच करा दें, कभी-कभार वे इतनी सशक्त होती हैं कि कार्यांग को अपनी ओर से कार्यवाही करने पर विवश कर दें—जैसे १९०६ के व्यावसायिक झगड़े सबधी अधिनियम में[३]। लेकिन आमतौर से लोकमत के सम्मुख दो गभीर कठिनाइयाँ होती हैं सरकार के साथ उसके अविच्छिन्न सबध की प्राय कोई व्यवस्था नही होती—उसके सबध सतत-प्रवाही नही होते, मुक्तानुबन्धी होते हैं। इसके अतिरिक्त वह विशेष अधिनियमो के आलोक में ही सरकार के काम की आलोचना कर सकता है और अधिनियम होने के नाते वे पहले ही गरिमा के एक परिवेश में आवेष्टित होते हैं और उनके सबध में जाँच करा लेना कोई आसान काम नही होता। पहली कठिनाई का विवेचन मै बाद में करूँगा क्योकि उसका समाधान कार्यांग के प्रशासक-रूप पर निर्भर है, राजनीतिक पर नही। दूसरी के लिए बडी सरल युक्ति है—राजनीतिक अनुभव के इतिहास में उसके लिए बहुत सारे पूर्व दृष्टात मौजूद है।

मै समझता हूँ यह युक्ति दो रूप ले सकती है। उसमें या तो मैसैच्यूसेट्स में जिसे 'सार्वजनिक सुनवाई'[४] कहते है वह उपलक्षित हो सकती है—यह बात सरकारी विधेयको

---

१ देखिए राष्ट्रीय-व्यय सबधी प्रवर-समिति की नवीं रिपोर्ट (एच सी १२१, सन् १९१८)—ख़ास तौर से साक्ष्य के परिशिष्ट। इसके निष्कर्षों को मोटे तौर पर सरकार-व्यवस्था-समिति की रिपोर्ट में मान लिया गया है—पृ १४-१५।

२ तु पी एस रीन्श—'रीडिंग्स इन अमेरिकन स्टेट गवर्नमेंट' में मैकार्थी पृ ६३

३ Trades Disputes Act of 1906

४ कुछ दिलचस्प विवरणों के लिए तु लावेल—'पब्लिक ओपिनियन एण्ड पापुलर गवर्नमेंट' पृ २५०

पर लागू होती है। उन समस्याओ में जहाँ कोई विधेयक पेश न किया गया हो इस इरादे से जाँच की व्यवस्था की जा सकती है कि उसके परिणाम से निश्चित राय की उपलब्धि होगी। पहले रूप के बारे में अलग से विचार करें। जब कोई विधेयक वैधानिक समिति के पास भेज दिया गया हो और अगर वह फैसला करे तो जनता से—वैयक्तिक रूप में अथवा सगठित सस्थाओ के माध्यम से—साक्ष्य ले सकती है सिद्धात के बारे में नही वरन् उस विधेयक के ब्यौरो के बारे मे। उदाहरणार्थ—किराया सीमित करने की समस्याओ के विषय में वह मकान-मालिको और किरायेदारो के साक्ष्य ले सकती है, व्यवसाय मडल अधिनियम [1] की धाराओ के बारे में वह मालिको और मेहनतकशो के विचार सुन सकती है, अप्रशिक्षित लोगो द्वारा दन्त-चिकित्सा किये जाने पर रोक लगाने के विधेयक पर डाक्टरो और दन्त-चिकित्सको की राय सुन सकती है। इस दौर में स्थायी अधिकारियो की उपस्थिति से, मैं समझता हूँ, इन सुनवाइयो का मूल्य और भी बढ़ जायेगा। श्री लावेल के शब्दो में—समिति अर्ध-न्यायिक रुख अख्तियार करने लगेगी। वे लिखते हैं [2] "वह यह समझने लगती है मानो उसके सामने जो मामले पेश किये जा रहे हैं उन पर वह निर्णय देने बैठी है, यह नही कि वह अपनी पहलकदमी पर ही सारा काम कर रही है और यह प्रवृत्ति कभी कभी इतनी बढी हुई होती है कि आश्चर्य होने लगता है। सही माने में यह कार्यविधि बिल्कुल लोकतन्त्रात्मक है क्योकि समूची जनता को निर्माण की अवस्था में विधान में हाथ बँटाने का अवसर मिल जाता है लेकिन अगर हम इस गलत माने को अपना बैठें कि हर आदमी की राय को बराबर महत्त्व दिया जाता है तो वह लोकतन्त्रात्मक नहीं।" यह साक्ष्य विधेयक के विवरणो तक ही सीमित रहेगा यह तो इस तथ्य से सिद्ध ही है कि मन्त्रि-परिषद् सिद्धात के लिए अपने आप को जिम्मेदार बना चुका है। उसने अपने विवेक द्वारा जो निश्चय किया है वह तो फिर समूचे विधान का निजस्व ही है। लेकिन मैं इसका कोई कारण नही देखता कि विवरणो पर विचार करते वक्त विशेष ज्ञान की सार्वजनिक उपलब्धि में कोई बाधा समझी जाये। कितने गवाह हो, उनका साक्ष्य कैसे लिया जाये आदि तो विवरण-सबधी सवाल हैं और यह बात बहुत सार्थक है कि मैसेच्यूसैट्स में केवल १३ प्रतिशत 'सुनवाइयो' में एक दिन से अधिक लगा।

इस युक्ति के दूसरे रूप की परिधि यथोचित रूप से अधिक व्यापक हो सकती है। अनेक तरह की समस्याएँ ऐसी है जिन के सबध में या तो बहुत ही कम कियत्तात्मक ज्ञान विद्यमान है या उनका स्वरूप ऐसा माना ही नही जाता जिन्हें हल करने के लिए सरकार को कुछ कदम उठाने की जरूरत हो। यहाँ मुझे नागरिको के विवेक को विस्तृत सीमाएँ देना वाछनीय प्रतीत होता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि विधान सभा की समय-सारिणी का नियत्रण आम तौर से तो मन्त्रि-परिषद् के ही हाथ में रहना चाहिए परन्तु गैर-सरकारी सदस्यो की पहलकदमी के लिए भी काफी गुजाइश रहनी चाहिए। मिसाल के लिए पहल-कदमी की यह गुजाइश होती है तभी सदस्य हाउस आफ कामन्स में विधेयक प्रस्तुत करते

१ Trade Boards Act

२ पूर्वोद्धृत कृति—पृ० २५२

हैं—और गैर-सरकारी विधेयक के व्यापकता उपयोग से ही उस सबध की स्थापना का कोई साधन निकल सकता है जिसकी सिफारिश मै कर रहा हूँ। मेरा सुझाव यह है कि जब विधानमडल का कोई सदस्य कोई विधेयक पेश करे तो अगर एक सौ (अथवा कोई और उचित सख्या) अन्य सदस्य उसका समर्थन करें तो वह उसे प्रवर समिति के पास भिजवाया जा सकता है। प्रवर समिति सार्वजनिक सुनवाइयो द्वारा उसकी जाँच करेगी और फिर अपनी उपपत्तियाँ विधान-सभा के सामने प्रस्तुत कर देगी। तब मन्त्रि-परिषद् चाहे तो उसे सविधि का रूप दिलाने में सहायता दे या न दे। फल चाहे कुछ भी हो, विधेयक की विषय-वस्तु के बारे में एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य-समष्टि अभिलेख का रूप ले लेगी और यह मै पहले ही कह चुका हूँ कि सार्वजनिक प्रश्नो पर ज्ञानवर्धन का बडा भारी महत्त्व है। इसमें सदेह नही कि कभी-कभी इस तरह की समिति की उपपत्तियो के फलस्वरूप कार्यांग के लिए तुरन्त कुछ कार्यवाही करना जरूरी होगा। उदाहरण के लिए इस प्रकार का कोई उद्घाटन जैसा पन्द्रह वर्ष पूर्व क्रैडले हीथ में जजीर बनाने वालों की हालत के बारे में किया गया था,[1] कार्यांग को फैसले करने पर बाध्य कर सकता है। शायद अक्सर इसका नतीजा होगा एक आम लोकमत का विकास जिससे एक ऐसा मार्ग प्रशस्त हो जायेगा जिसके माध्यम से बाद में सरकारी कार्यवाही प्रवाहित हो सकती है। उदाहरणार्थ, स्कूल छोड़ने की उम्र चौदह से बढाकर सोलह वर्ष कर देने के नतीजों के बारे में इस प्रकार की जाँच बहुमूल्य हो सकती है। प्रस्तावित पद्धति अपनाने से उस किस्म की जाँच का खतरा जाता रहेगा जिस का विकास किसी अप्रत्याशित सकट का सामना करने के लिए अकस्मात् होता है और जिस में सारा काम एक उत्तेजित वातावरण में सपन्न होता है जो वैज्ञानिक परिणामों के लिए अत्यन्त घातक है।

कहा जा सकता है कि इस योजना के अन्तर्गत जिस किसी सस्था के पास कोई सस्ता-सा भी लटका प्रतिपादार्थ होगा, वह उसकी मान्यता के सबध में जाँच कराना चाहेगी। अब भी कोई सदस्य जो चाहे विधेयक प्रस्तुत कर सकता है—कोई रोक उस पर नहीं। और विधान-मडल का पाँचवाँ हिस्सा इस बात की हामी भरता है कि जाँच की जरूरत है—यह इस बात का सुरक्षण है कि अनावश्यक तूमार नही बाँधा जायेगा। साक्ष्य के निर्णायक तो स्वय सदस्य ही होगे और उनके पास वक्त हमेशा इतना सीमित होता है कि इस विषय में आश्वस्त रहा जा सकता है कि वे हर चलते फिरते आदमी की छानबीन नहीं करते फिरेंगे। मै समझता हूँ कि ऐसी तो कोई आशका नहीं कि खास खास नदियो में खास खास किस्म की मछलियो तक के शिकार सीमित करने के विधेयक प्रस्तुत किये जायें अथवा इजनो पर खास पावर की बत्तियाँ लगाने का अथवा भेडो के बीमे की विशेष व्यवस्था करने का या मादक द्रव्यो में अलकोहल की मात्रा का मानकीकण करने का विधेयक रखा जाय—वैसे ये सब अमरीका या स्विट्जरलैंड में जन-निर्देश या उपक्रम के विषय रह चुके है। किन्तु अगर हम इस साधन से सतति-निरोध और मातृ-कल्याण के सबध अथवा जूरी वाले मामलो में सर्वसम्मति का नियम खत्म करने की वाछनीयता या सामाजिक

१. तुलना कीजिए आर एच. टानी—मिनिमम रेट्स इन चेनमेकिंग इण्डस्ट्री।

बीमे के एकीकरण की जाँच कर सकें तो हम समाज सुधार की राह अब की तुलना में कही आसान कर सकेंगे । और हमें कुछ ऐसा करना चाहिए कि खास अनुभव रखने वाला हर नागरिक विधान-सभा से सीधा सपर्क रखने का साधन पा जाये। हमें यह मान लेने का अधिकार है कि वैसे सपर्क से इस प्रकार का अनुभव अन्तत सफलीभूत होगा।

यहाँ मैंने वैधानिक प्रक्रियाओ पर काफी जोर दिया है। कारण यह है कि सर हेनरी मेन ने न्यायिक कार्य के बारे में जिस सत्य को आग्रहपूर्वक कहा है, वह वैधानिक प्रक्रिया पर भी लागू होता है। वैधानिक कार्यविधि के अन्तश्छिद्रो में ही सामाजिक प्रगति निगूढित रहती है। एक ओर तो अपनी नम्यता के कारण, दूसरी ओर अपनी उपगम्यता के कारण ही विधान-सभा के अपनी सफलता के साधन ढूढ पाने की सबसे अधिक आशा की जा सकती है। कार्यांग से उसे अलग नहीं किया जाना चाहिए क्योकि उस हालत में कार्यांग सचमुच रचनात्मक बनने की शक्ति से वचित हो जाता है, ऐसा भी नही होना चाहिए कि कार्यांग उस पर हावी हो क्योकि जहाँ ऐसा होता है वहाँ गैर-सरकारी सदस्य मत-विभाजन की सूची में बस एक इकाई भर बन कर रह जाता है। उसके पास इतनी शक्ति होना जरूरी है कि वह सरकार के विधेयको की आलोचना और सशोधन कर सके क्योकि उसके काम में कोई गलती न होगी—ऐसा तो कोई आश्वासन नही है। जरूरत इस बात की होती है कि वह आम जनता को अपने प्रयत्न से सयुक्त करे कुछ तो इसलिए कि उसके पास सामान्य बुद्धि और अनुभव की ऐसी अगाध निधि होती है कि उसे वृथा नही होना चाहिए, कुछ इसलिए कि उसका सगठन ऐसा क्षेत्र है जहाँ गैर-सरकारी सदस्य की पहलकदमी की खास जगह होती है और सबसे अधिक इसलिए कि ऐसे सगठन में लोकमत को प्रबुद्ध करने और लोक-आवश्यकताओ पर जोर देने का सबसे पक्का साधन उपलब्ध होता है। और जगहो की तरह यहाँ भी निर्वाचक मडल की बुद्धि के स्तर पर बहुत कुछ निर्भर होता है परन्तु उस स्तर का मैंने जिन सस्थाओ की रूपरेखा प्रस्तुत की है उनसे पारस्परिक सबध होता है। राज्य जिस प्रयोजन को मूर्तरूप देना चाहता है अपने आप मे उसकी सिद्धि का आश्वासन तो वे दे नही पायेंगे लेकिन वे शायद इतना कर पायें कि उस प्रयोजन की पूर्त्ति अब से अधिक सभव हो जाये।

—७—

जब नीति का निर्माण मन्त्रिमडल द्वारा कर लिया जाय और उसे विधानाग स्वीकार कर ले, तब उसे लागू करने की जरूरत बाकी रह जाती है। यहाँ कार्यांग का दूसरा बडा कृत्य राज्य के शासन में समन्वय लाने और उस पर नियत्रण रखने का है। इसकी पहली बडी समस्या उस सिद्धात की है जिसके आधार पर विभागो में काम बाँटा जायगा। निस्सदेह ऐसी कोई कडी व्यवस्था नही है जिसके अनुसार सारे कामो को प्रकृत रूप से श्रेणीबद्ध किया जा सके। परन्तु मै समझता हूँ कि प्रत्येक कार्यांग के लिए यह फैसला करना जरूरी हो जाता है कि उसे काम व्यक्तियो में बाटना चाहिए या सेवाओ में। विभाग इस प्रकार बनाए जा सकते हैं कि उनमें से एक बच्चो के लिए हो एक बेकार व्यक्तियो के लिए, एक बूढो के लिए, एक पेंशन-भोगी सैनिको के लिए और नौसेना के पेंशन पाने वालो के लिए, और इनमें से प्रत्येक उस वर्ग की विविध आवश्यकताओ की पूर्त्ति में लगा रहे

जिससे उसका सरोकार हो। और या इसके स्थान में ऐसे हो सकता है कि रक्षा, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के लिए अलग-अलग मत्रालय हो। मै समझता हूँ कि इन दोनो में से पहले विकल्प के दोष तो स्पष्ट ही है। इसमे व्यक्तियो के प्रत्येक वर्ग के लिए विविध सेवाओ की व्यवस्था करने की चेष्टा की जाती है जोकि विशेषित प्रकार की होती है और जो प्रत्येक दूसरे विभाग में भी होगी। यह अधिक अच्छा है कि एक शिक्षा मत्रालय हो जो बच्चो से लेकर बूढो तक की शिक्षा सबधी आवश्यकताओ की पूर्त्ति करे। उस दशा में क्रियाकलाप का एक काफी विशिष्ट क्षेत्र बन जाता है, जिसमें कार्यांग के प्रत्येक विभाग द्वारा समुदाय की सामान्य आवश्यकताओ से निबटा जा सकता है। इस सिद्धात का पहला बडा लाभ तो यह है कि किसी विभाग के सदस्य बजाय इसके कि इतने बडे क्षेत्र मे प्रयत्न करते रहे जिसमें उनके काम का स्तर ऊँचा न हो सके, एक विशेष क्षेत्र पर अपने सारे प्रयत्न केंद्रित कर सकते है। इसका दूसरा लाभ यह है कि विशेषित ज्ञान ऐसे धरातल पर रहता है जहाँ इसके विभिन्न पहलुओ का एक दूसरे से सगठित सबध रहता है और इस प्रकार इसका अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता है।[1]

इस लिए यह बात स्पष्ट है कि सेवाओ के आधार पर विभागीय सगठन होना चाहिए। परन्तु इसका यह मतलब नही है कि ऐसी सेवाएँ एक दूसरी से बिल्कुल अलग रह सकती है या रहेगी। सम्भव है कि शिक्षा मत्रालय का, स्कूली बच्चो के स्वास्थ्य की समस्याओ से सरोकार रहे जिनका प्रत्यक्ष सबंध आवास की परिस्थितियो और बच्चो के माता पिता के वेतन से होगा। उसे इस सबध का ध्यान रखना पडेगा और अन्य विभागो के साथ उसके सबध स्पष्टतया बहुत आवश्यक हो जायेंगे। प्रत्येक विभाग को यह महसूस होगा कि कुछ बातो मे उसकी दिलचस्पी प्रधान है और कुछ में गौण और यह कि उसे अपने में ऐसे साधन बनाने है जिनसे कि उन जटिल बातों से निबटा जा सके। प्रत्येक के कार्यक्षेत्र की सीमा पर कुछ ऐसी समस्याएँ होंगी जिन्हें समुचित रूप से हल करने के लिए अन्य विभागो के साथ सहयोग करने की आवश्यकता होगी। और बार बार यह निश्चय करने की कठिनाई उत्पन्न होगी (जो प्रश्न कि स्पष्टतया मत्रिमडल के लिए रहेगा) कि कोई कृत्य विशेष किसी खास विभाग का है या किसी दूसरे का। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या नौसेना की विमान सेवा पर नौसेना-कार्य विभाग का नियत्रण रहे या कि वायु रक्षा विभाग का? दोनों तरीकों को उचित ठहराने के लिए बडी बडी दलीलें दी गयी है। मेरा सरोकार तो यहाँ केवल इस बात पर जोर देने से है कि हमारे सामने जो मामले है उनकी विशेषता यही है कि उनके बारे में दो टूक बात नहीं कही जा सकती और इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि साझे हितों के मामलों को समुचित रूप से तभी निबटाया जा सकता है जबकि सम्बद्ध विभागो के बीच सहयोग हो।

परन्तु हम यह मान लेते है कि हमारे विभागो की सीमाएँ निर्धारित है। तो फौरन ही दो समस्याएँ उठ खड़ी होती है। उनमें से प्रत्येक का सगठन किस प्रकार होगा और

---

१. इसके ब्यौरे के लिए देखिए मशीनरी आफ गवर्नमेंट रिपोर्ट पृ० ८ एफ।

उसके कर्मचारी कौन होंगे ? मैं समझता हूँ कि सगठन के सबध म पाँच स्पष्ट सिद्धातो का पालन किया जाना चाहिए। सबसे पहली बात तो यह है कि किसी विभाग के काम के लिए एक मत्री होना चाहिए जो विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी हो। उसे विभाग की ग़लतियो की ज़िम्मेदारी लेनी होगी और उसमें जो गुण होगे सभवत उनका श्रेय भी उसी को मिलेगा। किसी और प्रकार की व्यवस्था से—उदाहरण के लिए किसी सेवा के लिए एक बोर्ड बनाने की चेष्टा से—जिम्मेदारी इतनी छिन्न भिन्न हो जाती है कि यह पता ही नही चलता कि वह है किस पर। विधान-सभा को सदा इस योग्य होना चाहिए कि वह किसी व्यक्ति विशेष से यह माँग कर सके कि वह विभागीय नीति का औचित्य बताए। इसमे सदेह नही कि विधान-सभा उस व्यक्ति की मार्फत मत्रिमडल पर आघात करने के लिए बाध्य हो सकती है परन्तु यह आवश्यक है कि विभाग का ढाचा इस प्रकार का हो कि उसमें किसी स्तर विशेष पर निर्णयों की जिम्मेदारी व्यक्तियो के किसी समूह पर नही बल्कि किसी व्यक्ति विशेष पर डाली जा सके।

दूसरी बात यह आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग में समुचित वित्तीय देखभाल के लिए विशेष व्यवस्था हो। मैं समझता हूँ कि इसका अथ यह है कि विभाग में एक ऐसा अधिकारी हो जो (क) विभाग द्वारा किये जाने वाले सभी भुगतानो और (ख) विभाग से प्रारम्भ होने वाले सभी प्रस्तावो की लागत का लेखा जोखा करने के लिए ज़िम्मेदार हो और विभाग के स्थायी अध्यक्ष को छोड और कोई उससे अधिक महत्वशाली न हो। यह स्पष्ट ही है कि वित्त मत्रालय के साथ उस के विशेष सबध रहेंगे, क्योकि उसका काम यह होगा कि उस मत्रालय के प्रतिनिधियो को अपने विभाग के प्राक्कलनो की व्याख्या बताएँ। यह बात भी स्पष्ट ही है कि वह जो काम करता है उसकी देखभाल इस प्रकार करे कि उसके विभाग की सेवाओ की तुलना दूसरे विभागो की वैसी ही सेवाओ के साथ फौरन की जा सके। उसे यह बताने योग्य होना चाहिए कि उसके अधीन नौसेना के किसी अस्पताल में प्रत्येक रोगी के रहने की व्यवस्था करने पर, सेना के किसी वैसे ही अस्पताल की अपेक्षा क्यो अधिक ख़र्च आता है। और उसे वित्त मत्रालय के लिए यह जानकारी सभव बनानी चाहिए और उसे बताना चाहिए—उदाहरण के लिए—कि स्कूलों में दाँतो की चिकित्सा की सेवा और सेना और नौ सेना में वैसी ही सेवा के ख़र्च में भिन्नता क्यो है। जहाँ भी किसी विभाग के कर्मचारियो की सख्या कम से कम रखने की चेष्टा की जाय, उसके वित्तीय अनुभाग के कर्मचारियो की सख्या में कमी नही की जानी चाहिए क्योकि कर-दाताओं के रखवाले अन्तत वही लोग हैं।

तीसरी बात यह है कि प्रत्येक मत्रालय में विधान सभा के सदस्यों की एक समिति होनी चाहिए जिसके साथ उस का व्यवस्थाबद्ध सबध हो। मै इन समितियो के स्वरूप और कृत्यो पर पहले ही प्रकाश डाल चुका हूँ। यहाँ यह बात और कह देनी चाहिए कि हम ज्यो ज्यो प्रशासन के स्वरूप को समझते जायेंगे, त्यो त्यो इन समितियो का महत्त्व बढ़ता जायगा।

चौथे, इस बात का बड़ा महत्त्व है कि विभागो के बीच परस्पर सहयोग का निश्चित रूप से प्रबध किया जाय। स्पष्ट ही है कि इस सहयोग के भिन्न रूप होगे। उदाहरण के

लिए इस बात की आवश्यकता है कि व्यापार मन्त्रालय (बोर्ड आफ ट्रेड) और श्रम मन्त्रालय जैसे विभागो की समान समस्याओ के हल के लिए उनमें निरन्तर परामर्श की व्यवस्था का विकास किया जाय। आशिक रूप से ये समस्याएँ विशिष्ट है, जैसे कि ऐसे विधेयक के सबध में जो इन दोनो विभागो के हितो से सबद्ध हो, और साथ ही किसी हद तक ये समस्याएँ सामान्य भी हैं—उदाहरण के लिए ऐसी दशा में जब कि प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष ऐसे मामलो को ढूँढ निकाले जिस से दोनो विभागो का सरोकार हो। मै समझता हूँ कि आधुनिक राज्यो द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले तरीको का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह महसूस करेगा कि अनुभव को एकत्रित करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। निस्सदेह इस साध्य की पूर्त्ति के लिए व्यवस्था है जैसे कि इगलैड की साम्राज्यिक रक्षा समिति। परन्तु विदेश व्यापार विभाग के अधिकारियो को सामान्यतया यह आदत डालनी चाहिए कि वे विदेश विभाग के अधिकारियो से मिलते जुलते रहें। यदि सरकारी सेवाओ के सदस्यो को अपनी विशेष योग्यता को नितचर्या नही बनाना है तो उन्हें परस्पर मिलते रहना चाहिए और विचार विनिमय करते रहना चाहिए। निस्सदेह यही बात विभागो के भीतर भी लागू होती है। इस सबध में ब्रिटेन के एक मन्त्रालय[1] ने अपने अधिकारियो की महान सक्षमता का उपयोग एक ही धरातल पर करने के उद्देश्य से एक निश्चित रूप से अपने को सगठित किया है। औपचारिक ढग से काफी हद तक जो बातचीत होती है उसका महत्व तो है परन्तु यह अच्छा होगा कि प्रशासन में सभी को इस प्रकार की बातचीत की आदत पड जाय और उसके लिए एक निश्चित स्थान हो, बजाय इसके कि हम यही मान कर सतोष कर लें कि लोग अनुभव की सीधी सादी बातो के आधार पर ही ऐसी बातचीत के महत्व को महसूस कर लेंगे।

अनुसधान और जाँच करने का महत्व भी उतना ही है जितना कि उपरोक्त बातो में से किसी का भी। आधुनिक सरकार की व्यवस्था में एक बडी कमजोरी यह है कि इस प्रकार की सेवाओ के लिए हम बहुत कम स्थान छोडते हैं। सरकार को आगे की बात सोचनी पडती है। उसे शाति की समस्याओ को हल करने के लिए उसी प्रकार काम करने की जरूरत है जैसे कि फौजी कमान के अधिकारी युद्ध की समस्याओ को हल करने के लिए करते है। सरकार को यह योजना बनानी चाहिए कि उसकी नीति किस प्रकार की हो सकती है और उसी दिशा में नीति के विकास के लिए सभी आवश्यक तथ्य जमा कर के उनके महत्व को यथोचित रूप से आँकना चाहिए। जिन अधिकारियो पर शासन-प्रबध का बोझ है वे इस में से कोई भी काम अपनी साधारण दिनचर्या में नही कर सकते बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि मोर्चे पर लडने वाले किसी अफसर को अपने लिए आवश्यक गोला-बारूद जुटाने का काम नही सौंपा जा सकता। बल्कि हम विभागो के अध्यक्षो को नीति के परस्पर सबधो को सुलझाने की जितनी अधिक छूट देंगे, नीति उतनी ही अच्छी बनेगी। परन्तु हमें प्रत्येक विभाग में अधिकारियो के ऐसे समूह की भी आवश्यकता है जिनका मुख्य काम विभाग की समस्याओ के सबध में अनुसधान करना हो और विभाग से ही प्रभाव रखने वाली जाँच पडताल के अतिरिक्त ऐसी प्रणाली की भी आवश्यकता

---

१ बोर्ड आफ ट्रेड, देखिए १९१८ की मन्त्रिमडल दस्तावेज ८९१२

है जिसका स्वय विभागो से गहरा सपर्क हो, जो विशष अनुसधानो में तालमल रखे और ऐसी जाँच का काम सभाले जिसका महत्व उस जाँच की अपक्षा कही अधिक होगा जो तात्कालिक नीति के निर्माण के लिए करनी पडेगी। इगलैड और अमरीका दोनो में इस आवश्यकता को समझा जाता है—जहाँ चिकित्सा सबधी अनुसधान की प्रिवी कौसिल है और जहा—वाशिगटन में—भूगर्भीय सर्वेक्षण जैस कामो के लिए निकाय है। परन्तु सभी जगह ऐसी सस्थाओ के काम में समन्वय का अभाव है। और अभी तक वह विभागीय काम के साथ ऐसे सपर्क नही बना पाई है जिनसे—उदाहरण के लिए—वाणिज्य बोर्ड चिकित्सा-अनुसधान-समिति से यह कह सके कि वह समुद्री जहाजो के नाविको के स्वास्थ्य की परिस्थितियो की जाँच करे और या वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान समिति से यह कह सके कि वह इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करे कि कोयला झोकने वालो को गर्मी से कहाँ तक बचाया जा सकता है। किसी राज्य में (क) व्यवस्थाबद्ध और सगठित अनुसधान और (ख) सामाजिक प्रक्रियाओ पर प्रभाव डाल सकने वाली सामग्री के सग्रह के अभाव की पूर्त्ति किसी भी वस्तु द्वारा नही की जा सकती।

ऐसा प्रबध करने के लिये क्या करना पडेगा ? मै समझता हूँ कि ऐसे तीन साम्मान्य तरीक है जिन से सरकार के तत्वावधान में महत्वपूर्ण अनुसधान किया जा सकता है। विभाग स्वय प्रत्यक्ष जाँच कर सकते है। इस प्रकार का बहुत सा काम पहले से ही किया जा रहा है। मोटे तौर पर यह समझा गया है कि आधुनिक राज्य के प्रत्यक विभाग को जिन मामलो से सरोकार है उनके सबध में व्यवस्थाबद्ध ज्ञान उस के काम के लिए होना चाहिए। विभाग इस योग्य भी होना चाहिए कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाल मामलो के सबध में विधान सभा के सदस्यो की ओर से बराबर की जाने वाली पूछताछ का उत्तर देने के लिए आवश्यक सामग्री थोडे से समय में इकट्ठी कर सके। और फिर वह इस योग्य भी होना चाहिए कि उन विषयो के सबध में जाँच कर सके—चाहे किसी खास हद तक ही सही—जिनका उसके काम पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। इस प्रकार के काम का एक अच्छा उदाहरण वह विशेष जाँच है जो इगलैंड में व्यापार मत्रालय (बोर्ड आफ ट्रेड) कर रहा है।

एक दूसरे प्रकार का अनुसधान उतना ही महत्वपूर्ण है। ऐसी जाँच भी हो सकती है जो कि कोई विभाग-विशेष प्रत्यक्ष रूप से न करे बल्कि जिसकी देखभाल वह दूसरे विभागो के साथ मिल कर करता हो। उदाहरण के लिए इगलैड का गृह कार्यालय खानो में सुरक्षा व्यवस्था का विकास करने के उद्देश्य से प्रिवी कौंसिल के अधीन अनुसधान विभाग की खान-रक्षा उपकरण-समिति के साथ सहयोग कर सकता है। सेना की चिकित्सा कोर वैसी ही समस्याओ के सबध में रक्षा-विभाग की मार्फत उसी विभाग के साथ सहयोग कर सकती है। कृषि मत्रालय खाद्य-अन्वेषण-बोर्ड के साथ सहयोग कर सकता है।[१] पहले

१ **देखिए, रिपोर्ट आफ दी मशीनरी आफ गवर्नमेण्ट कमिटी, पृ० ३२१।** इसके लिखे जाने के बाद **कमिटी आन रिसर्च** बन गयी है। मै समझता हू कि उसका आयोजन अधिकतर लार्ड हेलडेन ने किया है और लगभग उसी ढाचे के अनुसार, जिसकी रूपरेखा यहा बताई गई है।

और दूसरे प्रकार के अनुसधान में अन्तर न केवल इस बात में है कि इनको करने वाले कर्मचारी भिन्न-भिन्न हैं बल्कि इस में भी कि दूसरी प्रकार के अनुसधान में रिपोर्ट देने वालो पर उसे लागू करने की कोई जिम्मेदारी नही होती । वे अपने निष्कर्ष उपस्थित कर देते है तो उनका काम समाप्त हो जाता है। न तो वे उन के प्रयोगो पर आग्रह करन में सहायक होते हैं और न उनके निष्कर्षों को लागू करने में उनका हाथ रहता है। वे तो केवल तथ्यो का पता लगाने वाले निकाय के रूप में ही काम करते हैं। तो ऐसे अनुसधान का सगठन कैसे किया जाना चाहिए ? मेरा कहना यह है कि इस के लिए ऐसे निकाय की आवश्यकता है जिसका ढाचा साम्राज्यिक रक्षा समिति जैसा हो और जो अनुसधान का सचालन करे। उसे ये काम सौंपे जायेगे (१) अनुसधान का समन्वय (२) अपने जैसे काम में लगे गैर सरकारी और विदेशी निकायों के साथ सबंधो का विकास और (३) इसके परिणाम और इससे सबधित ज्ञान उन विभागों को पहुँचाना जिन पर उनका मुख्य रूप से प्रभाव पडता हो। स्पष्ट ही है कि यह निकाय अधिकाश रूप में विशेषज्ञो की सरकारी और गैर सरकारी मत्रणा समितियों द्वारा काम करेगा। यह विश्वविद्यालयो और उन स्वतन्त्र अनुसधान निकायो के साथ निकटतम सबध रखेगा जिनका स्वरूप, विश्वविद्यालयो की तरह थोडा सा वैज्ञानिक होता है। इसके काम का महत्व रखने के लिए और यह व्यवस्था करने के लिए कि इसकी अत्यावश्यक खोजो पर सब से ऊँचे क्षेत्रो में उचित ध्यान दिया जाय, यह निकाय प्रत्यक्षत प्रधान मत्री के नियत्रण में रहना चाहिए। सगठन के ऐसे तरीके में यह विशेष गुण है कि अन्वेषण के ठीक तरह किये जाने के लिए प्रधानमत्री विधान सभा के प्रति जिम्मेदार बन जाता है।

तीसरी प्रकार का अनुसधान वह है जिसे प्रोत्साहन तो उस समिति जैसे निकाय से ही मिलेगा जिसकी रूप-रेखा ऊपर बताई गयी है, परन्तु वह अनुसधान उस समिति पर निर्भर रहे बिना किया जायगा। बहुत सा काम, विशेषकर सामाजिक विज्ञानो के सबध में, ऐसा है जिसके लिए अन्वेषण में पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। कोई सरकारी विभाग वन-विद्या या मौसम विज्ञान के सबध में निष्कर्षों की घोषणा कर सकता है और लेशमात्र भी सदेह नही हो सकता कि वे निष्कर्ष पक्षपातपूर्ण हैं। परन्तु जब हम ऐसी समस्याओ पर आते है जिनमें व्यक्तिगत तत्व का बडा महत्व होता है तो उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उन में सरकार का हिस्सा केवल सामग्री इकट्ठी करने या समस्याओ के स्वतन्त्र अन्वेषण के लिए सुविधाओ (जिनमें वित्तीय सुविधाएँ भी शामिल हैं) की व्यवस्था करने तक ही सीमत रहना चाहिए। सभवत एक या दो उदाहरणो से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। कुछ ऐसी समस्याए हैं जिन में स्वतन्त्र रूप से काम कर सकने वाले व्यक्तियो का समूह, जिसे सभी प्रकार की सामग्री उपलब्ध हो, सरकारी विभाग की अपेक्षा शायद अधिक अच्छा काम कर सके। इसका एक उदाहरण श्रमिक सघो में सगठन की इकाई की समस्या है। प्रशिक्षित मजदूरो के स्थान में अप्रशिक्षित मजदूर लगाने और कोयले के परीक्षण के सबध में भी यही बात लागू होती है। हम विश्वविद्यालयो जैसे निकायो को इस प्रकार के काम में निश्चित रूप से लगान और आवश्यक हो तो सरकारी अधिकारियो के काम की पडताल करने के लिए जितना अधिक तैयार कर सकेंगे, हमारे

पास उतनी ही अच्छी जानकारी होगी। हम किसी प्रश्न पर सरकार की रिपोर्ट पर ऐसे सतोष कर लेते हैं मानो उस से अच्छी बात कही ही न जा सकती हो। कम से कम इगलैंड में तो इस सबध में कोई आपत्ति नही हो सकती कि ऐसी रिपोर्टें उपपत्तियो की समष्टि होती है। परन्तु जैसे भौतिक विज्ञान वेत्ता और जीव-वेत्ता अपने साथियो द्वारा किये गये प्रयोगो को निरन्तर दोहराते रहे है, बिल्कुल वैसे ही इस बात की आवश्यकता भी है कि सामाजिक विश्लेषणो की भी पुनरावृत्ति हो। एक बार सरकार को इस बात का विश्वास हो जाय कि काम वैज्ञानिक ढग से किया जा रहा है तो उसे चाहिए कि इस बात की परवाह किये बिना भरसक सहायता दे कि जाँच के परिणाम क्या होगे। और कोई ऐसा तरीका नही है जिस से उन विविध दृष्टिकोणो का पता चल सके जिनका पता चलना चाहिए। आजकल सरकर की प्रवृत्ति यह रहती है कि जहाँ किसी बाहर के विशेषज्ञ की सहायता ली जानी हो केवल ऐसे विशेषज्ञो को बुलाया जाय जो ऐसे निष्कर्ष निकाले जिन्हें सरकार "ठीक" समझती हो। फिर भी, सरकार के किसी विभाग में किसी प्रतिभाशाली उग्रवादी के विचारो से लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिए, सभव है कि ब्रिटेन के कोष विभाग का इस रहस्यपूर्ण सच्चाई में दृढ विश्वास ठीक हो कि मुद्रा सोने पर आधारित होनी चाहिए परन्तु यह जान कर हमें आश्वासन मिलगा कि उसमें एसी अनुसधान शाखा है जो सरकारी तौर पर इस सत्य की सदिग्धता की जाच कर सकती है।

और फिर यह भी बहुत आवश्यक है कि प्रशासक निकाय के रूप मे कार्यांग के साथ जनता के व्यवस्थाबद्ध सम्बन्ध हो। मेरा विश्वास है कि इस क्षेत्र मे प्रयोग क लिए सबसे अधिक गुजाइश है और इसी क्षेत्र में सरकारें अन्य क्रियाकलाप की अपक्षा अधिक रूढ़िवादी साबित हुई है। उनके रवैये में रहस्य का वातावरण रहता है जैसे कि राजाओ का होता था और जो लोकतत्रात्मक राज्य की अपेक्षा नौकरशाही में अधिक जँचता है। हम जो सिद्धात बना रहे हैं, वे बहुत सीधे-सादे है। हम यह मान कर चलते है कि नीति के निर्माण मे प्रभावित हितो से जितना अधिक परामर्श किया जाय, नीति उतनी ही अधिक सफल होगी। सरकार का काम यह है कि उनके अनुभव से लाभ उठाये, उस रूप में नही जिसमें कि सरकार स्वय उसे देखती है, बल्कि उस रूप में जिसकी अभिव्यक्ति स्वय वे हित करते हैं। दूसरी बात यह है कि नीति के लागू करने में उन सभी निकायो से सहयोग प्राप्त करना चाहिए जिनपर उसके फलो का प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। और जहाँ भी सभव हो, नीति को लागू करन का काम विकेन्द्रित होना चाहिए जिससे कि इसे लागू करने में अधिकाधिक नम्यता के लिए स्थान रह जाय।

सबसे पहले हम यह देखेंगे कि कोई आधुनिक सरकार इन सिद्धातो का पालन किस प्रकार करती है और इस सबध में हम इगलैण्ड का उदाहरण लेते है। उसमें कई मत्रालयो की सविहित मत्रणा समितियाँ है जिनके मुख्य उदाहरण शिक्षा बोर्ड और स्काटिश शिक्षा विभाग है। और भी समितियाँ है जो सविहित नही हैं बल्कि जिनका अस्तित्व मत्रालय की समझ के आधार पर होता है। इस प्रकार की समितियो के उदाहरण व्यापारियो की डाकघर समिति और युद्ध काल में खाद्य मत्रालय की उपभोक्ता-परिषद है। शिक्षा बोर्ड की वयस्क-शिक्षा-समिति और गृह कार्यालय की जेल शिक्षा-समिति जैसी समितियाँ भी है जो कुछ प्रकार की

विशेषित समितियो के अच्छे उदाहरण उपस्थित करती हैं। इन समितियो के सबध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि उनके सदस्यो के सबध मे मत्री का अपना विवेक निरपेक्ष है और उन विषयो के सबध मे भी उसका निरपेक्ष विवेक रहता है, जो वह उन समितियो को सौंपता है। ये समितियाँ मत्री की इच्छानुसार ही काम करती है या हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती हैं। उनके कोई अधिकार नही होते और उनका काम उन्ही विपयो तक सीमित होता है, जिनके सबध मे मत्री उनसे परामश करना ठीक समझता हो। स्पष्टत यह उचित ही है कि मत्री उनकी सलाह को स्वीकार या अस्वीकार करने में स्वतत्र होना चाहिए जैसा कि वह है भी, नही तो मत्री होने के नाते विधान सभा के प्रति उसके उत्तरदायित्व को बहुत क्षति पहुँचेगी। परन्तु इन समितियो के सबध मे सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनका अस्तित्व प्रेत जैसा होता है। उनका होना तो इस भावना से होता है कि उनके होने से विभाग के काम मे जनता का विश्वास बनेगा परन्तु ऐसा कोई प्रमाण नही कि उनका सारत कोई अस्तित्व होता है।

दूसरी बात यह कि हमारे यहाँ ऐसे मत्रालय भी है, जिनमें प्रशासन काय विकन्द्रित है। यह बात एक ओर तो शिक्षा बोर्ड के बारे में सच है, जो स्थानीय शासन के सामान्य अभिकरणा द्वारा काम करता है और दूसरी ओर पेंशन मत्रालय के बारे मे सच है जिसका सगठन बडी शक्तियो वाले स्थानीय मत्रणा न्यायाधिकरणो की सोपानतत्रात्मक व्यवस्था के आधार पर किया गया है और जिसमें चरम सत्ता मत्रालय के हाथ मे ही रहती है। परन्तु प्रशासन के सबध में सामान्यतया ध्यान देने वाली बात केन्द्रीय सरकार की शक्ति है। निरन्तर प्रयत्न इस बात के लिए किया जाता है कि कार्य-विधि और सिद्धात दोनो में एकरूपता लाई जाय। परन्तु यह एकरूपता इतनी अधिक नही आई है जितनी कि फ्रास के केन्द्रीयकरण में स्पष्ट है और जिसका परिणाम लेमेन्य के कथनानुसार यह हुआ है कि केन्द्र के हाथ मे अत्यधिक शक्तियाँ है और स्थानीय अधिकारियो के हाथ में बहुत कम शक्तियाँ है। परन्तु यह केन्द्रीयकरण इतना अधिक तो अवश्य हो गया है कि इस पर विरोध प्रकट किया गया है जो बडा दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण है[1] और इससे सभी सत्ताधारियो की यह स्वाभाविक प्रकृति प्रकट होती है कि वह सारी शक्तिया अपने हाथ में रखना चाहते है और इस बात की परवाह नही करते कि शक्तियो के केन्द्रित होने का परिणाम क्या होगा।

इस बात में सन्देह के लिए कोई स्थान नही कि सलाहकार निकायो का बडा महत्त्व है। लार्ड हालडाने की कमेटी 'कमिटी आन दी मशीनरी आफ दी गवर्नमेंट' ने अपनी रिपोट में कहा है,[2] "हमारा विचार है कि इन निकायो को विभाग के साधारण सगठन का जितना अधिक अगभूत आज समझा जायेगा, मत्री सेवाओ के सचालन में—जो समुदाय के बहुत बडे भाग के जीवन पर अधिकाधिक प्रभाव डालती है—ससद और जनता का उतना ही अधिक विश्वास प्राप्त कर सकेंगे।" सर आर्थर साल्टर ने लिखा है,[3] समितियाँ प्रशासन की

१ अमरीका के श्रम विभाग के बुलेटिन २३७ का पृष्ठ ९ रिपोर्ट्स आफ कमीशन्स आन इण्डस्ट्रियल अनरेस्ट।

२ रिपोर्ट, पृष्ठ १२।

३ दी डेवेलपमेन्ट आफ दी सिविल सर्विस, पृष्ठ २२०।

कार्यवाहियो का आशय जनता को बताने का महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं। आधुनिक काल में प्रशासन के लिए बहुधा ऐसी कार्यवाहियाँ करनी पडती है, जिनका प्रभाव समुदाय के बहुत बडे भाग या सारे समुदाय के हितो पर पडता है और उनके लिए समुदाय की सद्भावना जरूरी होती है। इस आवश्यकता के कारण विस्तारपूर्वक बताये बिना उस कार्यवाही को स्वीकार्य नही बनाया जा सकता और उसके लिए समाचारपत्रो में घोषणा-मात्र कर देना पर्याप्त नही है। ऐसे मामलो में समुदाय के कई भागो के प्रतिनिधियो की समितियो को कार्यवाही का सार पहले से समझाना और उनकी स्वीकृति प्राप्त करना बहुत लाभदायक होगा।" सर एण्ड्रयू ओगिलिवी ने सार्वजनिक टेलीफोनो के सबध में व्यापारियो की मत्रणा समिति के बारे में कहा है,[1] "समितियो ने प्रातो में बहुत अच्छा कार्य किया (उन्होंने) उन मामलो के सबध में, जो उनके सामने आए, समझदारी से काम लिया और यथार्थ रवैया अपनाया। विभिन्न प्रकार के सबद्ध सार्वजनिक निकायो में परस्पर स्पर्द्धा की भावना के कारण अच्छे प्रतिनिधि चुने गये। निराधार शिकायतो को निरुत्साहित किया गया। इस सबध में उनका समाधान हो गया कि प्रबन्ध करने वाले बुद्धिमान है और दूसरो का ध्यान रखते है और राज्य के अधिकारियो के प्रति ब्रिटिश जनता की अविश्वास की जो भावना है, उस पर भी बहुत कुछ काबू पा लिया गया है।"

ऐसे समितियो के कृत्य क्या होने चाहिएँ और उनका गठन कैसा होना चाहिए? पहले मै उन कृत्यो पर ज़ोर दूँगा जो उन्हे नही करने चाहिएँ। उन्हे प्रशासन के सबध में सलाह देनी है, उन्हें न तो उसका सचालन करना है, और न उस पर नियत्रण रखना है। यह किया तो इस कारण से है कि विधान सभा के प्रति मत्री क उत्तरदायित्व की भावना को हानि भी नही पहुँचनी चाहिए, और कुछ इस कारण से कि, मै समझता हूँ कि, प्रभावपूर्ण प्रशासन की कुजी यह है कि जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि इन समितियो को नीति का निर्माण नही करना है। वे नीति के बन चुकने पर सुझाव दे सकती है कि किन विषयो की ओर ध्यान देना चाहिए परन्तु कार्यवाही क्या की जानी चाहिए, यह निश्चित करना अवश्य ही मत्री और उसके अधीनस्थ अधिकारियो का काम है। तीसरी बात यह है कि वे बाहरी निकायो को किसी समझौते पर वचन-बद्ध भी नही कर सकती। वे इस अथ मे प्रतिनिधियो की सस्थाएँ नही है कि किसी योजना-विशेष के सबध में किसी समादेश का पालन किया जाय, उन्हे उनकी सत्ता के कारण नही बनाया जाता बल्कि सलाह देने के लिए कहा जाता है। चौथी बात यह है कि व्यापारी की हैसियत से सरकार को जो सामान खरीदना हो, उसके सबध में इन समितियो को जानकारी नही दी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, इगलैण्ड मे कोष विभाग द्वारा विदेशी मुद्रा के खरीदने या कोष विभाग की हुण्डियाँ जारी किये जाने के मामलों पर विचार किया जाय तो यह समझ में आ जाता है कि ऐसे मामलो में कार्यवाही का गुप्त रखना आवश्यक है। और मै समझता हूँ कि सामान्यतया, सरकार और किसी दूसरे देश के बीच, बातचीत के सबध में भी उनसे सलाह नही ली जानी चाहिए। नाजुक मामलो मे हस्तक्षेप, जिसमें किसी बात का पहले से पता

१ वही, पृष्ठ १०८।

चल जाना घातक हो सकता है, बातचीत से उत्पन्न परिणामो के अनुसमर्थन के सबध मे प्रचार अधिक उपयुक्त है। और सबसे अधिक तो यह होना चाहिए कि ऐसी समितियो की गोपनीयता हो और उन्हे जन-साधारण को अपने सामूहिक सकल्प बताने की शक्ति नही होनी चाहिए। परन्तु इसमें कोई सदेह नही कि मत्री को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि वह कुछ निर्णयो को प्रकाशित करना उचित समझे और समिति भी ऐसा चाहती हो, तो वह उन्हे प्रकाशित कर सके।

ये तो प्रारम्भिक परिसीमन है। इससे पहले कि हम यह सोचे कि ये समितियाँ क्या कर सकती है, यह बात अधिक महत्त्व रखती है कि हम यह फैसला करें कि उनका गठन कैसा होगा। मै समझता हूँ कि सबसे पहले तो यह कह देना चाहिए कि सामान्यतया ऐसी मत्रणा समितियाँ बनाना गलती है जो विभाग के सारे अधिकार क्षेत्र के सबध मे कार्य करती हो। होना तो यह चाहिए कि विशेष हितो पर प्रभाव डालने वालो के सबध मे परामर्श की शक्ति हो। इजीनियरी की प्राविधिक समस्याओ के सबध में किसी व्यापारी की राय का कोई विशेष महत्त्व नही है। शिक्षा-बोर्ड के कार्य-क्षत्र जैसे क्षेत्र में भी जरूरत इस बात की है कि ज्ञान सामान्य न होकर विशेष प्रकार का हो। हमें आवश्यकता है माध्यमिक स्कूलो, विश्व-विद्यालयो और प्रारम्भिक स्कूलो के अध्यापको के अनुभव की, न कि इस बात की कि शिक्षा के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित व्यक्तियो को जमा कर लिया जाय और उनके सामने वे विविध समस्यायें रख दी जायें, जिनसे मत्रालय को सरोकार है। ऐसी समितियो के निर्माण मे दो बातो का महत्त्व है। पहली तो यह कि समितियाँ छोटी होनी चाहिएँ, नही तो अनिवार्य रूप से वे छोटे छोटे सम्मेलनो का रूप धारण कर लेंगी, जिनमें भाषण दिये जाते है, परन्तु विचार-विमर्श नही होता। दूसरी बात यह है कि ऐसी समिति प्रतिनिधि सस्था होनी चाहिए। उसमे वे व्यक्ति होने चाहिएँ जिन पर उन हितो का विश्वास है जिन पर विभाग-विशेष के काम का प्रभाव पडता है। ऐसी समिति में सामान्यत बीस से अधिक व्यक्ति न हो तो इसका आकार ठीक रहेगा। इसके दो भाग होने चाहिएँ (क) अधिक सख्या उन लोगो की होनी चाहिए जिन्हें विभिन्न हितो—जैसे उद्योगो, जिन पर प्रशासन का प्रभाव पडेगा—की प्रतिनिधि सथाओ ने चुना हो, और (ख) कुछ वे लोग होने चाहिएँ जिन्हें मत्री ने जनता और उन विशेष निकायो का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुना हो जिनका सरोकार अप्रत्यक्ष परन्तु इतना अधिक है कि उन्हे सरक्षण की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, प्रारम्भिक स्कूलो के लिए शिक्षा-बोड की समिति में, अध्यापको के राष्ट्रीय सघ, सहायक अध्यापिकाओ की सस्था, और माध्यमिक स्कूलो के अध्यापको के प्रतिनिधि निकायो आदि के प्रतिनिधि होगे। कारखानो सबधी विभागो के बारे में काम करने के लिए गृह कार्यालय की समिति में मजदूर सघों और निर्माताओ के राष्ट्रीय सघ के प्रतिनिधियो के साथ-साथ औद्योगिक क्लान्ति और कानून के विशेषज्ञ भी होगे। एकस्वो के सबध में व्यापार मत्रालय (बोर्ड आफ ट्रेड) की समिति में एकस्वधारियो की सस्था क प्रतिनिधि, एकस्व कानून का विशेष ज्ञान रखने वाले वकील और सभवत रायल सोसायटी और विद्युत इजीनियरो की सस्था जैसे निकायो के प्रतिनिधि भी होगे। सहायक अनुदानो क प्रबन्ध के सबध मे स्वास्थ्य मत्रालय की समिति में काउन्टी कौंसिलो की सस्था, नगरपालिकाओ के कोषाध्यक्षो

की सस्था, स्थानीय शासन अधिकारीयों की राष्ट्रीय सस्था जैसे पेशेवर निकायो और कर-दाताओ की सस्थाओ जैसे उपभोक्ताओ के निकायो के प्रतिनिधि होगे। स्पष्टतया, मेरे लिए यह असभव है कि मै आवश्यक समितियो या उन निकायो की सूची तैयार करूँ, जिनके प्रतिनिधि उन समितियो मेँ होने चाहिएँ। जो भी हो, ये सूचियाँ बनने से पहले ही पुरानी पड जायेंगी। सबसे अधिक तो मै दो सिद्धात बताना चाहता हूँ, एक तो विशेष सक्षमता के सबध में और दूसरा नामजद प्रतिनिधियो के सबध में।

पहले सिद्धात पर तो मै इसलिए ज़ोर देता हूँ कि यह आवश्यक नही कि सामान्य समस्याओ के सबध में किसी वृत्ति विशेष का महत्त्व हो—बिल्कुल इसी आधार पर मै पहल कह चुका हूँ कि यह सस्था किसी वृत्ति विशेष की नही होनी चाहिए। इसी प्रकार मेरा विश्वास है कि सामान्य समितियो का कोई अथ नही है। उन समितियो द्वारा रचनात्मक कार्य के लिए यह आवश्यक है कि उनका कार्यक्षेत्र वही हो जिसमे उनके सदस्यो का बहुत अधिक हित है, और जिसके बारे में इन सदस्यो की राय को नौकरशाही की प्रवृत्ति वाला कोई भी अफसर महत्त्वहीन नहीं कह सकता। जब कभी ऐसी समस्यायें उत्पन्न हों जिनमें एक से अधिक समितियों का हित हो तो उन पर विचार के लिए सयुक्त बैठक की व्यवस्था करना एक सरल सी बात है। नामज़द प्रतिनिधियो के सिद्धात पर मै दो कारणो से ज़ोर देता हूँ। पहले तो मै यह समझता हूँ कि मत्री द्वारा नामज़द कोई सदस्य अपने को उतना स्वतत्र कभी नही समझता, जितना कि वह सदस्य जो अधिकारत समिति का सदस्य है। यह तो पहले ही कह देना चाहिए कि नामजद सदस्य की भावनाओ की जटिलता का महत्त्व बहुत कम है, और फिर मत्री द्वारा चुनाव के कारण पुन नियुक्ति और पदच्युत् किये जाने की समस्या कठिन हो जाती है। मै समझता हूँ कि प्रतिनिधियो को तीन वर्ष क लिए नामजद किया जायेगा और उन्हे इस काल के बाद फिर नामजद करना नियुक्त करने वाल निकाय के निरपेक्ष विवेक पर निर्भर होगा। मत्री इस योग्य नही होना चाहिये कि यदि किसी एस व्यक्ति को चुना जारहा हो, जो उसे पसद न हो तो वह उसे रोक सके। उसे ऐसी समिति की आवश्यकता है, जो जाच पडताल करे, न कि केवल उसकी नीति का अनुमोदन और अच्छा तो यह है कि सदस्यो को नामज़द करने वाले निकाय ही चुने जैसे खान मजदूरो को उनके सघ की कार्यकारिणी, और अध्यापको को अध्यापक राष्ट्रीय सघ ही चुनें। उन्हे इतना पारिश्रमिक मिलना चाहिए जो उन द्वारा किये गये समय की हानि की पूर्त्ति कर दे परन्तु इतना नही होना चाहिए कि वे अपनी आय के कारण ही चुना जाना चाहें। मै समझता हूँ कि चुनाव के इस तरीके का लाभ इस बात में है कि एक तो इससे नामज़द करने वाले निकायके लिए अपने प्रतिनिधियो को अपने विचार बतानेमे सुभीता होता है और दूसरे जिस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व वह करता है, उसके काम मे बराबर दिलचस्पी लेता रहेगा।

इन समितियो के कृत्य क्या होने चाहिएँ ? यह तो मानना पडेगा कि यह बडी नाज़ुक समस्या है क्योकि—जैसा विधान सबधी समितियो के बारे में ऊपर बताया जा चुका है—प्रत्येक मत्री और उसके मुख्य अधिकारियो के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर होगा। मै समझता हूँ कि कोई दृढनिश्चयी मत्री इन समितियो को सुझाव और राय के अमूल्य साधनो के रूप में प्रयुक्त कर सकेगा परन्तु किसी कमज़ोर मत्री को अपनी कायरता के कारण यह लालच

रहेगा कि वह या तो उनसे बच जाय और या उनके साथ मतभेद होने पर वह अपनी सुदृढ़ नीति अपनाने की जोखिम उठाने की बजाय उनकी राय को जनता की राय का प्रतीक मान कर स्वीकार कर ले। परन्तु मै समझता हूँ कि यह उससे बडा खतरा नही है जो कि किसी कमजोर मत्री के अधीन स्थायी अधिकारियो के साथ उसके सबंधो में रहता है। और इस दशा मे समितियो का महत्त्व इस बात में है कि नौकरशाही पर एक और बन्धन रहता है जो बडी आसानी से जनता की राय से बचना जानती है।

इन समितियो के बडे कृत्य चार होगे। इन समितियो को यह अधिकार होगा कि सभी प्रस्तावित विधेयको के सबध में पहले से उनसे परामर्श किया जाय। जब कोई विभाग कोई कानून बनाना चाहेगा तो वह उसे आलोचना के लिए समिति के सामने (निश्चय ही वह गोपनीय होगा) रखेगा। मत्री एक ओर तो अपने स्थायी अधिकारियो और दूसरी ओर समिति के साथ विचार विनिमय करेगा। विधेयक पर प्रकाश डाला जायगा और समिति के अनुभव और ज्ञान को ध्यान मे रखते हुए विधेयक के खडो पर आलोचना की जायगी। और उधर मत्री को जो सुझाव दिये जायेंगे, वह उन्हे स्वीकार करने या अस्वीकार करने में स्वतंत्र होगा। इसमें सदेह नही कि कुछ ऐसे आपातकालीन विधान भी होगे, जिनके सबध में समिति से समुचित ढग से परामर्श लेने का समय नही रहेगा। इस मामले में यह सभव है कि विधेयक के रखे जाने के बाद मत्री को सविहित रूप से इस बात के लिए जिम्मेदार बनाया जाय कि वह समिति के दो-तिहाई (या कुछ ऐसे ही अनुपात में) सदस्यो के कहने पर समिति की बैठक बुलाए और वे लोग भी सुझाव दें। वे समुचित विधान सबधी समिति को भेज दिये जायें जिससे कि वह विधान सभा में विधेयक के किसी समिति के विचाराधीन होने की अवस्था मे उन सुझावो को सशोधन के रूप में रख सके। उससे कम से कम इतना तो हो जायगा कि विधान बन जाने से पहले सबद्ध हित सभी परिपक्व और मूल योजनाओं के सबध में अपने विचार पूरी तरह बता सकेंगे क्योकि विधान बन जाने पर तो वह उस मत्रालय क लिए प्रतिष्ठा का विषय बन जायगा जिसने उसे प्रस्तुत किया हो।

दूसरी बात यह है कि प्रशासन सबधी नीति के बारे में समितियो से परामर्श लिया जायगा। यहाँ भी, उनके सामने कौन से विषय विचार के लिए आते है, यह बहुत कुछ मत्री पर निर्भर होगा। यदि वह बिना परामर्श लिए कार्यवाही करना चाहता है, तो कोई भी बात उसके पथ में बाधक नही है। परन्तु मै समझता हूँ कि प्रत्येक सदस्य के लिए, विचारार्थ मामलो का सुझाव देना सभव बना दिया जाय और उसे यह अधिकार दिया जाय कि वह मत्री द्वारा आपत्ति किये जाने पर उससे अपने विरोधी रवैये पर प्रकाश डालने की म ग कर सके, तो इस सबध में बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जाती है। प्रशासन सबधी सामान्य नीति के उदाहरण कई क्षेत्रो में मिल सकते है। उदाहरण के लिए, यदि शिक्षा मत्री अपनी सविहित शक्तियो के अन्तर्गत स्कूल छोडने की आयु बढा कर १६ वर्ष करना चाहे तो वह अपन विभाग की उपयुक्त समितियो से सलाह लेगा और स्पष्टतया उसका यह कर्त्तव्य होगा कि वह श्रम मत्री को अपने प्रस्ताव की सूचना दे और साथ ही उस विभाग की मत्रणा समितियो से यह कहे कि वे अपने विशेष हितो के दृष्टिकोण से उसकी नीति पर राय प्रकट करें। यदि उद्योग मत्री किसी ऐसे उद्योग में—जहा मजदूरो की स्थिति का अनुचित लाभ उठाया जाता हो—

एक व्यवसाय बोर्ड स्थापित करना चाहता हो तो वह भी उसी ढग से कार्य करेगा । यदि उपनिवेश मत्री किसी उपनिवेश के लोगो के लिए प्रारभिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना चाहता हो तो वह उन मामलो से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी मत्रणा समिति से सलाह लेगा जिसमें उपनिवेशो के लोगो की शिक्षा की समस्याओ के सबध में एक उप-समिति का होना बहुत सभव है । मकानो के बनाने के सबध में भी ऐसी ही बात है । स्वास्थ्य मत्रालय मकान बनाने वालों, मकान बनाने वाले के सघो, वास्तु-शास्त्रियो और डाक्टरो की समितियो के सामने अपनी कठिनाइयाँ रख सकता है । मै समझता हूँ कि नीति का ऐसा कोई पहलू नही है जिसमें मत्री को निर्णय करने पडते हो और जिनमे वह समितियो से सावधानीपूर्वक राय लेकर भी अपनी आवश्यकताओ के सबध में सब कुछ जानने में असफल रहता हो ।

तीसरी बात यह है कि समितियो को सुझाव देने की शक्ति प्राप्त होगी । निस्सदेह यह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें सावधानीपूर्वक छानबीन करने के बाद उनके काम से बहुत लाभ हो सकता है । उनके सुझाव यथासभव अधिक से अधिक बातो के बारे में होने चाहिए । उन्हे चाहिए कि मत्रालय की सूचना-शाखा को बताएँ कि जाँच की कहाँ तक आवश्यकता है । जहाँ उनका सुझाव किसी ऐसी बात के बारे मे हो, जो विभाग के कार्यक्षेत्र से बाहर हो, वह मत्री की सिफारिश के साथ सरकार की अनुसधान समिति को भेज दिया जाना चाहिए और समिति को सदा इस बात की स्वतत्रता होनी चाहिए कि वह अपने मत के अनुसार कार्य कर सके । ऐसी समितियो में काम करने के लिए ऐसे व्यक्ति कम ही चुने जायेंगे, जो ऐसे सुझाव न दे सकें जिनके बारे में छानबीन न की जा सकती हो । जिस किसी ने भी खान मजदूरो के किसी समूह के साथ उनके काम के बारे में बातचीत की है, वह जानता है कि वह खान-उद्योग के प्रत्येक पहलू के बारे में कितने अधिक सुझाव दे सकते है और जिनका उपयोग आजकल नही किया जाता है । अच्छे अध्यापको के सबध में भी यही बात सच है । मै समझता हूँ कि यह उपाय उन थोडे से उपायो में से हैं, जिनसे हम वृत्तियो की रूढिवादिता के खतरे का सामना कर सकते है । उदाहरण के लिए, किसी न्याय-मत्रालय की समिति, जिसमें जनसाधारण और वकीलो के प्रतिनिधि साथ-साथ होगे, कानून में बीसियो ऐसे स्थान बता सकती है, जहाँ पुनरीक्षण या प्रयोग करना बहुत आवश्यक है । दीवानी और फौजदारी, दोनो प्रकार के मामलो[1] में गरीबो के लिए कानूनो द्वारा रक्षा की व्यवस्था, जेलो का प्रबन्ध, ऋणियों से बर्त्ताव, और सनसनीखेज अपराधो में समाचारपत्रो और न्यायालयो के सबध—ये कुछ ऐसी समस्याएँ है, जिनकी ओर ऐसी समिति अनिवार्य रूप से ध्यान दिलाएँगी । आजकल हम इन समस्याओ के बारे में अन्वेषण इसलिए नही करते कि इनका अस्तित्व है बल्कि इसलिए कि किसी विशेष समय ऐसा गन्दा उदाहरण आ खडा होता है, जिसके कारण तत्काल जाँच करने पर विवश होना पडता है । कई साल से इगलैण्ड में यह बात मालूम थी कि पागलपन के सबध में कानून का सशोधन करना बहुत जरूरी है । सरकार जो जाँच कराती थी, उसमें इस

---

१ देखिए आर० हेबर स्मिथ की जस्टिस एण्ड दी पूअर (न्यूयार्क १९१०) जो इस प्रश्न पर जानकारी से भरी पडी है । जहाँ तक मुझे मालूम है, इगलैड में ऐसी पुस्तक तो जज पैरी की "दी ला एण्ड दी पूअर', ही है ।

कानून के वास्तविक प्रवर्त्तन पर लीपा पोती करदी जाती थी परन्तु हारनेट और एडम बाड[1] का मुकदमा ऐसा नाटकीय था कि सरकार को एक राज आयोग नियुक्त करना पडा। यदि हम अपने अनुभव से काम ले तो ऐसे मामलो में पहले से कार्यवाही की जा सकती है। परन्तु ऐसी सस्थाएँ बना कर ही यह काम हो सकता है जो पहले से तैयार रहने के लिए विवश करें।

इन समितियो का चौथा उपयोग अधिक प्राविधिक मामले पर निर्भर है, जिसका विवेचन मै यहाँ करूँगा। यह तो सभी जानते हैं कि राज्य के क्रियाकलाप के क्षेत्र के बढ जाने से यह हुआ है कि अधिकतर विधान विस्तृत और व्यापक होने की बजाय सक्षिप्त अधिनियम बन गये हैं, जिनका ब्यौरा सबद्ध विभाग विविध तरीकों से पूरा करते हैं। इस प्रत्यायोजित विधान का क्षेत्र इतना बढ गया है कि यह उन कानूनो से कही अधिक है जो प्रत्यक्षत विधान सभा द्वारा बनाये जाते है। मै समझता हूँ कि इस बात की आवश्यकता बढ़ गयी है कि नौकरशाही प्रवृत्ति वाले अधिकारियो द्वारा इन शक्तियों के दुरुपयोग से जनता की रक्षा की जाय। यह तो एक नकारात्मक कृत्य है। साथ ही यह भी बुद्धिमानी का काम है कि परामर्श देने वाले ऐसे सक्षम निकाय मौजूद रहें जो प्रत्यायोजित सत्ता के उपयोग के सबध में अपनी राय प्रकट कर सकते हो। प्रत्येक मामले में ये समितिया ऐसा साधन हैं, जो इन निकायो के लिए प्रकृत साधन जँचती हैं। सामान्यतया मैं यह सुझाव दे रहा हूँ कि कोई भी विभाग अपनी प्रत्यायोजित शक्तियो के अधीन ऐसा आदेश जारी न करे, जिसके सबध में समुचित समिति से पहले परामर्श न किया जा चुका हो और यदि वह समिति इस आदेश पर आपत्ति करे तो वह विधान सभा के स्पष्ट अनुमोदन के बिना जारी भी नहीं किया जाना चाहिए।

अब तक मै इन समितियों के केन्द्रीय पहलू की चर्चा करता रहा हूँ—अर्थात् उस रूप में जिसमें कि उनका प्रशासन के सचालन के चरम स्रोत पर प्रभाव पडता है। परन्तु इस प्रकार का साधन ह्वाइट हाल (इगलैण्ड), वाशिंगटन, पेरिस, या बर्लिन तक ही सीमित नही रहना चाहिए। प्रत्येक राज्य ऐसे बहुत से कानून पास करता है, जिनके लागू किये जाने के क्षेत्रों में वहां के लोगो की टिप्पणी और सुझाव बहुत लाभदायक हो सकत हैं। मैं पहले ही सर एण्ड्रयू ओगलिवी का हवाला दे चुका हूँ जिन्होंने युद्ध से पहले टेलीफोन सेवा के सबंध में स्थानीय समितियो द्वारा किये गये काम की प्रशसा की है। ऐसे बहुत से विविध मामलों में, विशेषकर युद्ध काल में, इंगलैंड में अनाज के राशन के सगठन के सबध मे ऐसा साक्ष्य मिलता है। मै यह सुझाव देना चाहता हूँ कि इन समितियो का विस्तार किया जाय, मंत्री के विवेक के आधार पर नामजद करके नहीं, बल्कि सबद्ध प्रतिनिधि निकायों से नामजद करके जैसा कि केन्द्रीय निकायों के संबंध में होता है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार प्रत्येक स्थानीय शैक्षिक सत्ता में अध्यापकों, मां-बाप, डाक्टरों आदि की समितियां होंगी, जिनके जिम्मे यह काम होगा कि वे शिक्षा के प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रत्यक्षत रिपोर्ट दें। वे लोग बतायेंगे कि स्थानीय सत्ता का रुझान इस ओर है कि बहुत से प्रमाण-पत्र रहित अध्यापक रखे जा रहे है, कि स्कूलो की मरम्मत ठीक प्रकार से नही की जा रही और यह कि स्कूलों और सार्वजनिक पुस्तकालय सेवा के

१. हालांकि मैं समझता हूँ कि एक विभागीय समिति पहले बनी थी। इस सारी समस्या पर देखिए एम० लोमैक्स की "एक्स्पीरियन्सिज आफ़ एन असाइलम डाक्टर"

बीच समुचित संपर्क नही है। और मत्री इन रिपोर्टों को स्थानीय शिक्षा सत्ता के सामने रखेगा और मै समझता हूँ कि इससे सबद्ध व्यवस्था से दी जाने वाली सेवा की किस्म में दिलचस्पी बढेगी।

कारखाना अधिनियमो जैसे कानूनो के सबध में भी ऐसा ही होगा। यह तो सभी जानते है कि किसी भी राज्य के निरीक्षण की ऐसी समुचित सेवा नही है जिससे इन अधिकारियों के उपबन्धो से बचने को रोका जा सके। मेरा सुझाव यह है कि प्रादेशिक समितियो की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो कारखानों सबधी कानून के प्रवर्त्तन की देखभाल करें। उन्हे यह अधिकार होना चाहिए कि लोगो की शिकायतें सुन सकें और यदि आवश्यकता हो तो उन्हे स्थानीय न्यायाग के पास भेज सकें जिससे कि वह मुकदमा चला सके। इसी प्रकार कार्य-समितियाँ किसी क्षेत्र विशेष में न्यूनतम मजूरी पर करारोपण, ग्रामीण उधार, कृषि में सहकारिता के सवर्द्धन, पट्टे (काश्तकारी) की परिस्थितियो आदि की समस्याओ को हल कर सकती है। समिति का क्षेत्र इतना बडा होना चाहिए कि उसमें वास्तविक प्रशासनीय कृत्य हो सकते हों। मै बाद के एक अध्याय में बताऊँगा कि आजकल सविधि के अन्तर्गत अधीनस्थ दण्डाधीशो का जो अधिकारक्षेत्र रहता है, उसमें इस प्रकार की समितियो से बनाए गए न्यायाधिकरण अधिक अच्छी तरह काम कर सकते है। वे कारखाना अधिनियमों और व्यवसाय बोर्ड अधिनियमो जैसे कानूनों से बचने का प्रयत्न करने वालो पर जुर्माने कर सकते है। रेलवे सेवा, बिजली के सभरण, बल्कि प्रत्येक कृत्य के सबध में, जहाँ व्यक्तियो पर प्रशासन के प्रभाव के फलस्वरूप अनुभव जनित होता है—जिसमें सुझाव देना शामिल है—स्थानीय मत्रणा निकाय होने चाहिए। ये निकाय सदा इस योग्य होने चाहिएँ कि केन्द्रीय कार्यांग तक इनकी बात पहुँच सकती हो। उनके लिए ऐसी सरकारी सहायता की व्यवस्था होनी चाहिए जो उन्हे प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जरूरी है। उनक पास नियमित रूप से बैठक करने के साधन और स्थान होना चाहिए। उन्हें अपनी टिप्पणी और सुझाव प्रकाशित करने का अवसर मिलना चाहिए। मै समझता हूँ कि वे प्रशासन के वातावरण को बिगडने से रोकने में काफी सहायक होगे जिसमें होता यह है कि एक ओर तो आदेश जारी किये जाते है, और दूसरी ओर उनमें विशेष दिलचस्पी दिखाए बिना उन्हे स्वीकार कर लिया जाता है। इन समितियो से ऐसे व्यक्तियों की सेवाओ से लाभ उठाया जा सकेगा, जो आजकल सार्वजनिक जीवन से कतराते है या तो इसलिए कि वे चुनाव की प्रक्रिया में पडना नही चाहते और और या इसलिए कि उनकी दिलचस्पी सरकारी कृत्यों के सामान्य मिश्रण में नही होती बल्कि उस मिश्रण के किसी एक पहलू में होती है। इनसे प्रशासन की प्रक्रिया लोकप्रिय बन जाती है क्योंकि ऐसे व्यक्तियो का क्षेत्र बढ जाता है जो सक्षमता के दृष्टिकोण से इसके सार की जाँच कर सकते है। उनसे ऐसी व्यवस्था हो जाती है कि सरकार के केन्द्र और उसकी परिधि के बीच निरन्तर विचार-विनिमय हो सके। इनसे सरकार में ऐसी सीधी-सादी और समझ में आ सकने वाली सस्थाओ की आवश्यकता बनी रहती है जिनकी चर्चा मै इस पुस्तक मे पहले कर चुका हूँ। शक्ति के अनिश्चित बँटवारे के कारण सत्ता में अराजकता आ जाने की जो प्रकृति रहती है, वह भी इन समितियो के कारण रुक जाती है। वे सत्ता को, प्रत्येक अवस्था मे, ऐसी राय के दबाव से—जो जानकारी और सक्षमता के आधार पर होती है—निरकुशता

में परिवर्तित होने से रोक देती है। वे व्यक्तियो के व्यवस्थाबद्ध हितो, उनकी धार्मिक सस्थाओ श्रमिक सघो तथा अन्य सगठनो का केन्द्रीय सरकार के साथ निश्चित सबध जोडती हैं। उनके कारण यह सभव हो जाता है कि उस सरकार के क्रियाकलाप पर सदा उससे बाहर के लोगो के विचारो की छाप रहती है। उनके कारण सरकार की सदा आलोचना और उसके क्रिया-कलाप की जाँच होती रहती है। और इस बात का भी कम महत्त्व नही है कि वे अधिकाधिक इस बात की व्यवस्था करेंगी कि कृत्यो का अधिक विकेन्द्रीकरण हो। केन्द्रीय कार्यांग के साथ अपने सघर्षों में स्थानीय अधिकारियो को ऐसा समर्थन प्राप्त होगा, जिसकी उपेक्षा करना मन्त्रियो के लिए कठिन होगा।

ये निकाय मोटे तौर पर तो कानून की व्याख्या करेंगे। प्रोफेसर कोहेन ने लिखा है,[1] "किसी सविधि का अर्थ, इसके फलस्वरूप होने वाले सामाजिक परिणामो या उन सभी सामाजिक प्रश्नो के हल होने में निहित है, जो इस के अन्तगत उत्पन्न हो सकते हैं। ये हल या परिणामो की व्यवस्था, कानून में प्रयुक्त शब्दो के आधार पर ही निश्चित नही की जा सकती बल्कि इसके लिए उन सामाजिक परिस्थितियों के ज्ञान की आवश्यकता है, जिन पर उस कानून को लागू किया जाता है और साथ ही उन परिस्थितियो का जानना भी आवश्यक है, जिनके कारण यह कानून बनाया गया है। तो किसी सविधि का अर्थ, सामाजिक मांगो को ध्यान में रख कर न्यायिक दृष्टिकोण से बनता है। इससे इस बात का निर्णय इतना नही होता कि विधान मण्डल का वास्तविक मशा क्या था। और न यह कि सविधि में प्रयुक्त शब्दो का क्या अर्थ है, जितना कि इस बात का कि किसी मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जनता को किस बात पर चलना चाहिए।" यहाँ जिन समितियों को बनाने का सुझाव दिया गया है, वे इस बात पर प्रकाश डालेंगी कि किसी सविधि के परिणाम क्या हैं। वह अनुभव को ध्यान में रख कर और निश्चित रूप में ऐसी परम्पराएँ बनाएँगी जिनका कानून के अर्थों पर बडा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडेगा। इसके आदेशो में उन लोगो का ज्ञान सम्मिलित होगा, जिन्हे उसके परिणामो से वास्ता पडता है। वे परिणाम उस अनुभव में निश्चित होगे, जिसकी अभिव्यक्ति, अनुभव को निश्चित रूप से अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से बनायी गई सस्थाओ द्वारा की जाती है। जैसा कि मैंने कहा है, ये निकाय सलाहकार निकाय होंगे, परन्तु मैं समझता हूँ कि उनकी राय की उपेक्षा करना आसान नही होगा। यह इसलिए कि वह जो भी सलाह देंगे, वह ऐसे ज्ञान पर आधारित होगी जिसका और कोई दावा नहीं कर सकता। वे कानून की व्याख्या करेंगे और इसलिए कानून बनायेगे भी। इसका कारण यह है कि वे कानून के वास्तविक परिणामो को प्रकाश में लाएँगे—उस रूप में जिसमें कि उन्हें भोगने वाले लोगो का अनुभव होता है। इसलिए ये निकाय इस बात का निर्णय करेंगे कि कानून को किस ढग से लागू किया जाय। और तदनुसार वे बतायेंगे कि कानून में क्या परिवर्तन और सशोधन करने की आवश्यकता है। वे समुदाय के प्रत्येक हित का ऐसा अगभूत सबध स्थापित करेंगे, मानो वह राज्य के साथ सबद्ध है। वे इसके प्रयोजनो में अपने प्रयोजनो

१ अमेरिकन लॉ रिव्यू (१९१४) में प्रकाशित दी प्रासेस आफ जूडिशियल लेजिस्लेशन, पृष्ठ १६१ और १८३। तिर्यकाक्षर प्रो० कोहेन ने दिए हैं, मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि इस प्रतिभापूर्ण लेख से मुझे बडी सहायता मिली है।

की भावना भर देंगे। वे सामाजिक अनुभव के पुज के सबध मे राज्य के आशिक और अपर्याप्त ज्ञान में वृद्धि करने के लिए उसे वह सभी ज्ञान, भावनाएँ और विचार बताएँगे, जिनका भडार वे स्वय है। वे शक्ति के टुकडे-टुकडे करके प्रशासन को जडवत नही बनायेगे बल्कि वे उसे अपने उद्देश्यों तक पहुँचने में सहायिता देकर उसका महत्त्व और गुण बढायेंगे। वे पोर क्षेत्र की प्रधानता को बनाये रखते है जिसके बारे में मैंने यह कहा है कि उसके कारण राज्य को समाज में विशेष स्थान प्राप्त होता है। परन्तु साथ ही वे मतभेद की शक्ति को सगठित करके इस बात पर जोर देते हैं कि किन स्थानो में उस प्रधानता को या तो ठीक से समझा नही जाता और या जानबूझ कर अनदेखा कर दिया जाता है। उनसे कार्यांग को चेतावनी भी मिलती है और प्रोत्साहन भी और विधानाग को उनसे सहायता मिलती है। कार्यांग को चेता-ववी अ र प्रोत्साहन तो इसलिए मिलता है कि ये निकाय खुले आम यह बताते है कि उसके कार्य की क्या सीमाएँ है और विधानाग को सहायता इसलिए मिलती है कि वे उसे ऐसे तथ्य पहुँचाते है जिनसे आलोचना की जा सकती है और कानून बनाए जा सकते है और जो कि विधानाग का काम है।

इस सबध में एक बात और कहनी है। मैंने केन्द्रीय और स्थानीय दोनो प्रकार की समितियो के बारे में कहा है कि हैमिल्टन के शब्दो में उनका काम "प्रबन्ध चलाना नहीबल्कि अपना प्रभाव डालना ह।" वे वास्तव में प्रबन्ध चलाने या कानून बनान की बजाय अपनी राय बताएगी। पहली बात तो इस सम्बन्ध मे यह कही जा सकती है कि इन श्रेणियो के बीच की सीमा वास्तविक नही बल्कि सुविधानुसार बना ली जाती है और दूसरी बात यह कि सभवत अनुभव से यह प्रकट होगा कि उन दोनो प्रकार की समितियो, विशेषकर स्थानीय समितियो, को कानूनो के अन्तर्गत प्रशासन और निरीक्षण के छोटे मोटे काम सौंपे जायेंगे। मै समझता हूँ कि वे नियम बनाने की शक्ति अपने हाथ में ले लेंगी। केन्द्र द्वारा निर्धारित और लागू की जाने वाली न्यूनतम माँगो के अतिरिक्त वे विवेकानुसार अपने सर्वेक्षण के अधीन क्षेत्र में नयी माँगें करेंगी। सक्षेप में वे शक्ति की केन्द्र बन जायेंगी और ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव के प्रकाश में उसका प्रबन्ध चलायेंगी जो और किसी तरह प्राप्त नही हो सकता। वे उस प्रशासन में वे आवश्यकताएँ भर देंगी, जो एकरूप ढग से कभी व्यक्त नही की जा सकतीं। वे सरकार को ऐसा नम्य रूपतत्र देंगी जो अब तक सभव न था क्योकि इसका अर्थ साधारण-तया अमरीका में सधानीय सविधान से पहले और १७८९ से पहले फ्रास में यह रहा है कि समन्वय की आवश्यक शक्तियो का अभाव हो। उसमें एक बडा गुण यह होगा कि जिस विषय का प्रवर्त्तन इसकी विशेष आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए किया जाता है, उसका क्षेत्र बदल जायगा।-इससे नागरिकता की वह धारणा पुनर्जीवित होगी जिसका अर्थ यह है कि शासन करने की भी उतनी ही क्षमता हो, जितनी कि शासित होने की और जो नगर-राज्य की हमारे युग को एक बहुत बडी देन है।

—८—

मैंने बताया है कि कैसे प्रशासन, विधानाग द्वारा बनाए गये कानून को लागू करने की प्रक्रिया है। परन्तु सच तो यह है कि इतना कहने से इसकी व्याप्ति और महत्त्व का वर्णन अपूर्ण रहता है। यह इसलिए कि सारी दुनिया में, प्रशासन मे उन विनियमो को जानने के

लिए जिनके अन्तर्गत नागरिक रहते हैं, सविधि की पडताल से बहुत अधिक काम रहता है। कई बार किसी सरकारी विभाग को बहुत अधिक शक्तियाँ दी जाती है। कई बार ये शक्तियाँ सपरिषद् बादशाह के परमाधिकार द्वारा या फ्रासके राष्ट्रपतिकी अध्यादेश बनाने की सत्ता से जनित होती हैं। कई बार ये शक्तियाँ चिकित्सा महापरिषद् (जेनरल मैडिकल कौंसिल) जैसे सविहित निकायो को दी जाती है आधुनिक राज्य की यह विशेषता सदा रहती है कि कानून बनाने के सामान्य प्राधिकारी के अतिरिक्त और कई अधीनस्थ अधिकारी होते हैं, जिन्हे नागरिको पर बन्धन लगाने की शक्ति होती है मानो वे कानून ही बना रहे हो।

आधुनिक विधानाग मे काम का जो जोर रहता है, उसका अनिवार्य परिणाम इस स्थिति मे प्रकट होता है। इगलैण्ड की ससद्, जमनी की रीखटाग और फ्रास के चैम्बर्स के पास इतना समय ही नही होता कि कि वे इतने ब्यौरेवार कानून बना सकें जो प्रत्येक सभव परिस्थिति पर लागू हो सकते हो। न उनके पास इतना समय रहता है और न ही इतनी क्षमता। यह इसलिए कि एक आधुनिक विधान सभा का आकार ही ऐसा होता है कि वह प्राविधिक ब्यौरे नही बना सकती बल्कि साथ ही उसके लिए पहले से यह बताना भी असभव है कि किसी सविधि के अन्तर्गत किस प्रकार की समस्या उत्पन्न होगी। और बहुत-सी ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती है, जिनके बारे मे पहले से नही सोचा जा सकता कि अमुक प्रकार के विधान से उन्हे सुलझाया जा सकेगा। ऐसे सभी मामलो मे यह आवश्यक है कि कार्यांग को शक्तिया दी जाय और कभी-कभी ——सदा तो नही——यह भी निर्दिष्ट किया जा सकता है कि कार्यांग के किस विभाग को वे शक्तियाँ दी जायँ। ब्रिटेन का कोई भी डाकघर लदन के निवासी को बता देगा कि उसे मारीशस में भेजने के लिए क्या देना पडेगा। यदि कोई व्यक्ति, कोई व्यवसाय चलाना चाहता हो, तो श्रम मत्रालय उसे बता देगा कि वह जिस प्रकार की वस्तुओ के निर्माण में लगना चाहता है उस पर १९०८ का व्यवसाय बोर्ड अधिनियम लागू होता है या नही और यदि होता है तो किस प्रकार। विदश-विभाग उसे बता देगा कि यदि वह हागकाग जाकर बसना चाहता है तो वहाँ एक दर्जन ऐसे अधिनियम लागू हैं, जो विदेशी न्याय व्यवस्था अधिनियम, १८९० के अन्तर्गत सपरिषद् आदेश द्वारा किसी भी ऐसे क्षेत्र पर लागू किये जा सकते है, जिन पर बादशाह का क्षेत्राधिकार है। अदालती फीस के सबध में उसे न्याय-व्यवस्था अधिनियमो से नही बल्कि उच्चतम न्यायालय के नियमो से जानकारी प्राप्त होगी। एसेक्स मे किसी व्यक्ति के क्षेत्र में प्याज में कीडा लग जाय तो उसे कृषि बोर्ड के विनियमो से मालूम हो सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए। किसी व्यक्ति को सरकार द्वारा मान्य विषयो के सबध में किसी सविधि से जानकारी नही मिलेगी बल्कि उन विनियमो से मिलेगी जो गृह कार्यालय और औषधि निर्माण सस्था बनाती है और बदल सकती है। यदि उसका बेटा किसी माध्यमिक स्कूल में पढ रहा है——और वह चाहता है कि उसे छात्र-वृत्ति मिल सके तो वह उसे आक्सफोर्ड भेज दे——तो उसे माध्यमिक स्कूलो से विश्व-विद्यालयो में शिक्षा प्राप्ति के लिए दी जाने वाली छात्रवृत्तियो के सबध में शिक्षा-बोर्ड के विनियम देखने पडगे। यदि वह लन्दन से एम्स्टरडम जाने वाली असैनिक विमान सेवा चालू करके जीविका कमाना चाहता है तो उसे इस सबध में विनियम १९२० के विमान चालन अधिनियम में नही मिलेंगे, बल्कि उन बहुत से सपरि-

षद् आदेशों में मिलेंगे, जो उस अधिनियम के अन्तर्गत जारी किये गये है। यदि वह जानना चाहता है कि ऋण वापिस न देने पर सम्मन जारी कराने के लिए क्या देना पडेगा तो उसे १८३९ की तरह राजधानी-पुलिस अधिनियम से इस सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलेगा परन्तु यह जानकारी गृह कार्यालय द्वारा तैयार की जानेवाली और जारी की जानेवाली सारणियो में मिलेगी। वह अपने को जिस स्थिति में पायेगा, उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि ससद और बादशाह प्रति वर्ष औसतन ८० कानून बनाते है और कार्यांग द्वारा बनाये गये नियमो और दिये गए आदेशो की सख्या उससे लगभग तीस गुनी होती है।

इसका परिणाम कई कानून बनानेवाले निकायो के निर्माण मे ही नही दीखता बल्कि उन सीमाओ मे भी दिखाई पडता है जो न्यायालयो के क्षेत्राधिकार पर लग जाती है। प्रशासक निकाय अपने को न्याय पालन का कर्त्तव्य सभालने के लिए ही विवश नही पाते बल्कि उन्हे वे कर्तव्य ऐसे ढग से निभाने भी पडते है कि न्यायालय उनके कामो की पडताल नही कर सकते। इगलैण्ड के सबसे बडे न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि जब कोई सरकारी विभाग न्याय-पालन जैसे कृत्य सभाल लेता है तो सक्षमकारी सविधि में स्पष्ट उपबन्ध के न होने का अर्थ यही है कि विभाग जो कार्य-विधि ठीक समझे, उसे अपना सकता है। और न्यायालय इस बात की जाँच-पडताल भी नही करते कि ऐसी कार्यविधि से न्याय होगा या हो सकता है या नही।[1] अमरीका के सबसे बडे न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि आवास के सभी मामलो मे श्रम विभाग के सचिव के निर्णय अन्तिम होगे।[2] उदाहरण के लिए अमरीका में जन्मे किसी जापानी को कैनैडा की यात्रा से लौटने पर, कार्यांग के किसी विभाग के आदेशानुसार जो कानून के अधीन नही रहता, अमरीका से बाहर निकाला जा सकता है। वही यह निर्णय भी दिया गया है कि किसी विशेषज्ञ आयोग की उपपत्तियाँ अन्तिम होगी और उन पर कोई न्यायालय फिर विचार नही कर सकेगा।[3] इसी प्रकार फ्रास के राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर न्यायालय अपनी राय प्रकट नही कर सकते। और कई बातो में इग्लैण्ड में बीमा-आयुक्त भी न्यायालयो की शक्ति के अधीन नहीं आते। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की बात के लिए पर्याप्त सुरक्षण होने चाहिए। नही तो सार्वजनिक स्वतत्रता पर कुठाराघात होगा। इस बात को ध्यान में रखा जाय कि इग्लैण्ड में, जहाँ सदा कानून का राज्य रहा है, साम्राज्य की रक्षा अधिनियम में एक विनियम विशेष के होने के कारण यह निर्णय दिया गया था कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण जैसी मूल सविधि रद्द हो गया है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।[4]

---

१ आर्रलिज बनाम लोकल गवर्नमेन्ट बोर्ड (१९१५) ए० सी० १२०

२ यू० एस० बनाम जू तोय, १९८ यू० एस० १५३

३ बाल्टीमोर एण्ड ओहिओ, आर० आर० सी० ओ० बनाम पिट के यर्न कोल कम्पनी, २१५, यू० एस० ४८१, आई० सी० सी० बनाम यूनियन पेसिफिक आर० आर० कम्पनी, २२२ यू० एस०, ५४१।

४ आर० बनाम हॅलीडे (१९१७) ए० सी० २२६। परन्तु लार्ड शॉ की राय भी पढ़िए जो न्यायालय की राय से भिन्न है।

इसमें से बहुत-सा घटना चक्र तो पूरी तरह समझ में आ जाता है। उदाहरण के लिए जब सरकारी बीमे की समस्याओ जैसी समस्याओ से वास्ता पडता हो, इस बात में निस्सदेह बडी सुविधा रहती है कि उनके निर्वचन का काम अधिकारियो पर छोड दिया जाय, जिन्हें समझाना उनका प्रति दिन का काम है। उन्हें अपने दिन प्रति दिन के काम में ऐसी विशेषज्ञता प्राप्त हो चुकी है, जिसका दावा कोई न्यायिक निकाय नही कर सकता, और उनकी राय में इतना वज़न होता है कि कोई समुदाय उसकी उपेक्षा नही कर सकता। सच तो यह है कि किसी भी राज्य का काम व्यक्तिगत काम से इतना मिलता-जुलता है कि ——प्रो० डाइसे ने इस बात पर ज़ोर दिया है—'उसके अधिकारियो को काम में उस स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी मामले निपटाने में अवश्य ही प्राप्त होती है,'[1] इतना तो स्पष्ट ही है। परन्तु इतिहास में ऐसा उदाहरण मौजूद है, जिससे यह पता चलता है कि नियमो को लागू करने की शक्ति से कार्यांग द्वारा जिस न्याय का प्रादुर्भाव होता है, उससे किसी व्यवस्था के नौकरशाही व्यवस्था बनने का खतरा बहुत रहता है। इसलिए इन शक्तियो के दुरुपयोग के विरुद्ध सुरक्षण की व्यवस्था करना भी उतना ही अधिक आवश्यक है, जितनी कि स्वय ये शक्तिया। तो इसका इलाज कैसे हो?

इस समस्या को इसके युक्तियुक्त क्रम में देखिए। हमे (क) असहनीय या अनावश्यक नियमो से बचने की व्यवस्था और (ख) न्यायाग के परमाधिकार पर अनुचित अतिक्रमण से पर्याप्त रक्षा की आवश्यकता है। तो स्पष्ट ही है कि सबसे बडी ज़रूरत इस बात की है कि एक बार दी गई शक्ति वापिस ली जा सके। सभव है कि यह मालूम पडे कि इस प्रकार शक्ति के प्रत्यायोजन से ठीक काम नही चला है। सभव है कि यह मालूम पडे कि प्रत्यायोजन तो ठीक है परन्तु ऐसे निकाय को प्रत्यायोजन किया गया है, जो उसके प्रवर्त्तन के लिए उपयुक्त नही है। सभव है कि इन शक्तियो के प्रयोग पर विशेष परिसीमाएँ लगानी पडें। इसलिए सदा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, कि विधान सभा प्रत्यायोजन को रद्द कर सके। दी गई शक्तियो की सीमाएँ बडी कडाई से निर्धारित की जानी चाहिए और कभी यह सत्ता नही दी जानी चाहिए जिससे कि न्यायालय उस सीमा की न्यायिक परिभाषा से वचित हो जायें। इस दूसरे प्रतिबन्ध का कारण लार्ड शा ने बडे अच्छे ढग से व्यक्त किया है। उन्होने इग्लैण्ड की व्यवस्था के सबध में कहा है,[2] "आधुनिक युग में सविहित शक्ति के लिए कार्यांग की कडी के रूप में प्रिवी कौंसिल के प्रयोग का रूप नपा तुला है और विधानाग की घोषणा के अनुसार उसका ठीक-ठीक नाप-तोल होना चाहिए। स्वय यह कही तो आज की सरकार ही हो ...जहा तक किसी समादेश की सीमाओ का उल्लघन हुआ हो, उस हद तक यह खतरा रहता है कि सरकार के स्वेच्छाचारी बन जाने का खतरा है जो कि सविधान और सारी जनता के लिए खतरा है। यदि न्यायाग सरकार की किसी कार्यवाही को स्वतत्र रूप से पडताल करने के दृष्टिकोण से देखने की बजाय उसे मानने के दृष्टिकोण से देखती है तो विधान सबधी प्रयत्नों का

---

१. ३१ ला० क्वार्टरली १०५ (१८१५) पृष्ठ १५०।

२ आर० बनाम हैलोडे पत्रोक्त पष्ठ २८७।

बोझ और यह प्रवृत्ति बढ जायगी कि कार्यांग सपरिषद आदेशो का सहारा ले और इससे वह खतरा दस गुना बढ जायेगा। इससे जनता में असतोष बढेगा और यह समस्या एक सार्वजनिक खतरा बन जायगी। तीसरी बात यह है कि नियम बनाने वाले विभाग को चाहिए कि उन्हे जारी करने से पहले उन हितो से परामर्श कर ले जिन पर उसकी शक्तियो के प्रयोग का प्रभाव पडता है। मै समझता हूँ कि इस सम्बन्ध में उन मत्रणा-समितियो से बहुत लाभ होगा, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। किसी भी विभाग को यह शक्ति नही होनी चाहिए कि वह नियमो को समुचित समितियो के सामने उनकी आलोचना के लिए रखे बिना जारी कर सके। जब उन समितियो में नियमो का अनुसमर्थन कर दिया जाय तब उनकी घोषणा और प्रचार किया जाना चाहिए। यदि समिति उन्हे अस्वीकार कर दें तो वे इस घोषणा के साथ विधान सभा को भेज दिये जाने चाहिए कि उन पर आपत्ति की गई है, और ऐसा होने पर वे कानूनी तौर पर तबतक लागू नही होने चाहिए जबतक कि विधान-सभा प्रस्ताव पास करके निश्चित रूप से उनकी पुष्टि न कर दे। इस सुरक्षण में यह खास बात है कि इससे आदेशो की ऐसे व्यक्तियो द्वारा समुचित जाच-पडताल की व्यवस्था हो जाती है, जिन्हे उनके परिणाम झेलने पड़ेंगे। इससे अधिकारियो का कोई निकाय समुदाय पर अपनी सकल्पना लागू नही कर सकता, जिसके पीछे उनके सीमित अनुभव के अतिरिक्त और कोई जोर नही है। चौथी बात यह है कि प्रबन्ध सदा ऐसा होना चाहिए, जिससे कि जारी किये गये आदेशो का पूरा प्रचार हो सके। चाहे सिद्धात रूप में आधुनिक राज्य के सभी नागरिको को इसके सभी कानूनो का ज्ञान होता है, परन्तु व्यवहार में उनके ज्ञान मे एक स्पष्ट त्रुटि रहती है। और मै समझता हूँ कि समझदारी इसी में है कि विभागो से यह कहा जाय कि वे अपने सारे प्रस्तावो पर प्रकाश डालें जिससे कि मत्रणा-समितियाँ उनका प्रकाशन कर सकें। उदाहरण के लिए, लदन के सभी दुकानदार लदन-राजपत्र नही पढते और जहाँ तक हो सके, उनके द्वारा अपनी पसद के अनुसार पढे जानेवाले वृत्ति सबधी साहित्य मे ऐसा प्रकाशन होना चाहिए।

जब हम सरकारी विभागो को छोड ऐसे स्थानीय और विशेष निकायो की बात करते है, जिन्हे नियम बनाने की शक्तियाँ प्राप्त है, तो हमें विभिन्न प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडता है। माचस्टर में उपविधियाँ बन सकती है और इस प्रकार आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के कालिज और सदर्न रेलवे भी बना सकती हैं। वे अपने अवसरो का दुरुपयोग न करें—इसके लिए हम किस प्रकार सुरक्षणो की व्यवस्था कर सकते है? इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि वे अजीब-अजीब बातें करेंगे। इगलैण्ड में एक स्थानीय सत्ता ने इतवार को तीसरे पहर आराम से बैठने की मनाही कर दी है और जर्मनी की नगरपालिकाओ ने लडको द्वारा गलियों में फुटबाल खेले जाने का निषेध कर दिया है। यहाँ कठिनाई यह है कि मूर्खतापूर्ण कानूनों को रोका जाय परन्तु साथ ही किसी स्थानीय निकाय द्वारा पूर्णतया पहलकदमी के प्रयोग पर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाया जाय। उदाहरण के लिए, यदि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एक कानून बनाता है जो अनिवार्य रूप से यूनानी भाषा पढाये जाने के विरुद्ध है तो कही भी ऐसी शक्ति नही होनी चाहिए कि उस कानून को रद्द किया जा सके। परन्तु फिर भी शायद ही कोई इस बात से असहमत होगा कि यह शक्ति इतनी नही होनी चाहिए कि

कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय को यह अधिकार मिल जाय कि वह स्त्रियो को सदस्यता से वचित कर सके। आजकल साधारणतया दो प्रकार के सुरक्षण है। किसी भी उपविधि के कानूनी स्वरूप की परीक्षा न्यायालयो में की जा सकती है और नयी उपविधियाँ किसी विशिष्ट सरकारी विभाग के सामने आनी चाहिएँ जो उनका अनुसमर्थन कर सके जैसे कि इगलैण्ड में रेलवे कम्पनियो की उपविधिया यातायात मत्रालय के सामने रखी जाती है। पहली प्रकार के नियत्रण के सबध में तो कोई आपत्ति हो ही नही सकती। शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धात के लिए हमने जितनी मान्यता स्थापित करने का प्रयत्न किया है, वह तो उसी मे निहित है। मै समझता हूँ कि दूसरी प्रकार के नियन्त्रण पर अधिक आपत्ति की जा सकती है। रेलवे कम्पनी जैसे वाणिज्यिक निकाय के सबध में इससे इतना भेद नही पडता जितना कि ऐसे निकाय के सबध में जिसकी बहुत-सी सत्ता निर्वाचकों की सकल्पना से जनित होती है जैसे कि नगर-पालिका निगम के बारे में है। दोनो दशाओ में अधिकारियो द्वारा नियत्रण का अर्थ है विभाग की सकल्पना उन व्यक्तियो की सकल्पना पर हावी होगी, जिन्हे वास्तव मे प्रयुक्त की जानेवाली शक्तियाँ मिलनी चाहिएँ और इसलिए उनकी पहलकदमी प्रत्यक्षत नौकर-शाही के स्वविवेक के क्षेत्र में ही नही होनी चाहिए। मेरा कहना है कि सुरक्षण दो प्रकार के होने चाहिएँ। किसी वाणिज्यिक निकाय की दिशा में किसी नियम को स्वीकार करने से तभी इनकार किया जाना चाहिए जबकि इस बात की सूचना विभाग की विधान सबधी, समिति को दी जा चुकी हो। इसके बाद उन दोनो मे से कोई भी उस प्रश्न को विधान सभा में उठा सकेगा। नगरपालिका निगमो या विश्वविद्यालयो जैसे निगमो की दशा मे नियम को स्वीकार करने से इनकार एक दो तरीको को छोड और किसी प्रकार नही किया जाना चाहिए अर्थात्, (१) यदि इनकार इस कानूनी आधार पर हो कि प्रस्तावित नियम शक्ति-परस्तात् ह, तो इनकार चेतावनी के रूप में होना चाहिए जिसे किसी सार्वजनिक निकाय को न्याया-लयो के सामने ले जाने का अधिकार है। (२) यदि इनकार करने का आधार यह हो कि प्रस्तावित नियम सारत अवाछनीय है, तो विभाग को चाहिए कि प्रत्यक्षत अपने विचार विधान सभा को बताये, जो यदि ठीक समझे तो नियम को रद्द कर दे। यह इसलिए कि यदि कोई नगरपालिका इतवार को "आराम से बैठने" का निषेध करना ठीक समझती है तो किसी ऊँचे स्थान से आदेश देकर उसकी पहलकदमी को हानि पहुँचाने की बजाय यह अच्छा है कि स्थानीय निर्वाचको को उससे निपट लेने दिया जाय। निश्चय ही, यह अधिक अच्छा है कि स्थानीय निकाय नए विचार रख सकें चाहे भले ही कभी-कभी ये विचार अनोखे रूप धारण कर लेते हो।

मैं समझता हूँ कि इस समस्या के न्यायिक पहलू का निपटारा दो तरीकों से किया जा सकता है। मै पहले ही यह कह चुका हूँ कि किसी विशेषज्ञ आयोग की उपपत्तियो मे वह मान्यता होती है, जिसका दावा उनकी जाँच करनेवाला कोई न्यायालय नही कर सकता। उदाहरण के लिए न्यूयार्क लोक सेवा आयोग का यह निर्णय कि कोई ग़ैर सरकारी कम्पनी किसी विशेष जिले के लिए गैस सेवा की व्यवस्था करे, वैसे ही किसी मामले मे न्यायालयो द्वारा दिये गए निर्णयो से प्राय अनिवार्य रूप से अधिक ठीक हो सकता है। और मैं सम-झता हूँ कि इस उपपत्तियो में हस्तक्षेप करना आवश्यक नही है। आवश्यक तो यह है कि हमें

इस बात का विश्वास हो सके कि ऐसे निर्णय करने के लिए जो तरीके प्रयोग मे लाये जाते है, वे न्याय की दृष्टि से सतोषजनक हों और यह कि—उदाहरण के लिए—किसी मुकदमे की तैयारी के लिए पूरा समय मिला है, साक्ष्य के सम्बन्ध में उचित नियमो का पालन किया गया है, इत्यादि। इसलिए न्यायालयो को यह अधिकार होना चाहिए कि वे ऐसे प्रत्येक निर्णय की जाँच-पडताल कर सके, इस आधार पर नही कि इसका सार क्या है बल्कि इस आधार पर कि इसमे अमुक त्रुटि है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने यही रवैया अपनाया है। जस्टिस क्लार्क ने कहा है[1]—"यह न्यायालय अभिलेखो का ऐसा परीक्षण करेगा जो यह जानने के लिए आवश्यक हो कि कोई सावैधानिक अधिकार नही दिया गया क्या आयोग ने सुनवाई नही की या ऐसी मनमानी कार्यवाही की है जिससे सविधान के समुचित प्रक्रिया सम्बन्धी खण्ड का उल्लघन होता है।" हमें इसी आश्वासन की आवश्यकता है कि समुचित प्रक्रिया का सारत पालन किया गया है। मै समझता हूँ कि इसका अथ यह नही है कि किसी एक काय-विधि को ही केवलमात्र समुचित तरीका मान कर उसे ही एक ढर्रा बना दिया जाय। प्रशासन सम्बन्धी कानून का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमे नम्यता जरूरी है। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि कोई जज किसी मुकदमे का अभिलेख देखकर इस सम्बन्ध में अपना समाधान कर सकता है कि इसकी सुनवाई पूरी तरह और उचित ढग से हुई है।

पहला तरीका अपेक्षतया सरल है और उसमें कोई असाधारण प्रयत्न नही करना पडता, बल्कि एग्लो सेक्शन देशो मे इसे तो यह कहा जा सकता है कि हम कार्यविधि के साधारण मानको को फिर स्वीकार कर चुके है। परन्तु दूसरे तरीके मे तो निश्चय ही नवीनता है, आशिक रूप मे नही बल्कि इसको लागू करने के अधिक क्षेत्र में। मोटे तौर पर मेरा सुझाव यह है कि राज्य कोई जिह्मकारी बात करे तो इसपर वैसे ही मुकदमा चलाया जाना चाहिए मानो वह कोई व्यक्ति हो और यह कि जब भी इसके अधिकारी ऐसा काम करे जो उनकी शक्ति से बाहर हो तो न्यायालयो को चाहिए कि राज्य से वैसे ही क्षतिपूर्ति दिलवाएँ मानो अपराध करने वाला कोई साधारण व्यक्ति ही है। यहाँ तो यह बात कही जा रही है—जो अनुपयुक्त भी रही है—कि सरकार के केन्द्रीय क्षेत्र में सेवा करने का यह मतलब नही कि उस सेवा में लगे लोग साधारण मानवो की तरह गलती नही कर सकते। सार्वजनिक उद्यम में भी उतनी ही गलतियाँ हो सकती है जितनी कि व्यक्तिगत उद्यम में और उस आधार पर इसकी जिम्मेदारी को भी उतनी ही कडाई से लागू किया जाना चाहिए। साथ ही यह बात भी है कि राज्य पर कानूनी जिम्मेदारी न डालने के खतरो को भी हम पूरी तरह समझते नही है। यह कानूनी बहिष्कार की तरह प्रारम्भ होता है परन्तु, कभी-कभी वह कानूनी श्रेणी नैतिक क्षेत्र में जा पडती है। किसी काम को कर लेना उस तरीके से अधिक महत्वपूर्ण होगा जिससे कि वह काम किया गया हो। एक बार यह समझ लिया जाय कि कोई साध्य इतना बडा है कि इसको प्राप्त करने वाले कानून की पकड में नही आने चाहिएँ तो स्वतत्रता के वास्तविक सुरक्षण समाप्त हो जाते है। गैर-

---

१ न्यूयार्क इत्यादि बनाम मेककाल, ३८, सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट्स, १२२-१२१४

ज़िम्मेदारी को लोक नीति की सदिग्ध व्याख्या मान लिया गया है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह इस बात की ओर पहला कदम होता है कि किसी बात का अस्तित्व कारण ही उसका गलत आधार बताया जाता है और नैतिक दृष्टि से यह बडी जघन्य बात है। राज्य को कानून की पकड से विमुक्त कर देने का मतलब यह होता है कि उसके अधिकारियो को उन आभारो से विमुक्त कर दिया जाय जो साधारणतया और व्यक्तियों के होते ही है। इस विमुक्ति से नौकरशाही की बहुत बडी बुराइयाँ उत्पन्न होती है। जिन लोगो को विमुक्ति मिल जाती है वे आलोचना से दूर भागते है और जाँच को पसन्द नही करते। अच्छे आचरण के नियन्त्रक तत्व इस प्रकार ढीले पड जाते है और फिर हम देखते है कि जो लोग व्यक्तिगत जीवन में भले और दयावान है, राज्य के अधिकारी की हैसियत से भिन्न व्यक्तित्व वाले बन जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह नही निकलता कि हम इस पहलू के बारे में विभिन्न तरीके से राय कायम करें परन्तु इसका अर्थ यह है कि हम सामान्य न्याय के मानको को और कडाई से लागू करें।

ऐसा न करने का क्या परिणाम होगा, तनिक उसकी ओर ध्यान दीजिए। वाणिज्य बोर्ड द्वारा किसी नागरिक को दिए गए किसी एकस्व का अतिक्रमण ब्रिटेन का नौसेना विभाग तो कर लेता है[१] परन्तु यदि कोई और नागरिक ऐसा करे तो उसे फौरन क्षतिपूर्ति देनी पड जायगी। पोस्ट मास्टर जनरल की मोटर गाडी मिस बेनब्रिज को कुचल सकती है परन्तु राज्य की गैर-जिम्मेदारी के कारण उसे केवल गाडी के ड्राइवर के वेतन में से ही क्षतिपूर्ति मिल सकती है[२], अन्यथा नही। सरकार किसी ऐसे व्यक्ति को नौकरी से हटा सकती है जिसे उसने अपना व्यवसाय छोड कर निश्चित अवधि के लिए नौकरी करने पर राज़ी कर लिया हो। और ऐसा करने पर सरकार के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही हो सकनी[३]। यदि वह व्यक्ति जिसे मिस माइहेल अल्बट बेकार समझती रही हो जोहोर का सुल्तान निकलता है तो वह उससे वचन भग का कोई हरजाना वसूल नही कर सकती[४]। अमरीका मे भी स्थिति भिन्न नही है। वहाँ के घटकअवयवो पर उनकी अनुमति के बिना मुकदमा नही चलाया जा सकता, सघानीय सरकार भी इसी प्रकार दावे से विमुक्त है[५]। फ्रास में राज्य की ज़िम्मेदारी की एक श्रेणी बडी झिझक के बाद बनी है। परन्तु मोटे-तौर पर यह फिर भी सच है कि सभी क्षेत्राधिकारो में, यदि अधिकारी-वर्ग राज्य के सम्पूर्ण प्रभुत्वशाली होने के आवरण का सहारा लेता है तो अधिकारियो पर न्यायालयो की आज्ञाएँ लागू नही हो सकती। और फिर यह कितनी अयुक्त बात है कि नगरपालिकाओ और उनके कर्मचारियो के सम्बन्ध में यह सच नही है[६] हालाकि वे भी राज्य के ही अग है जैसे

१ फेदर बनाम रेजीना ६ बी० एण्ड एस० २५७
२ बेनब्रिज बनाम पोस्ट मास्टर जनरल (१९०६) १ के० बी० १७८
३ डन बनाम रेजीना (१८९६) १ क्यू० बी० सी० ए० ११६
४ माइहेल बनाम सुल्तान आफ जोहोर (१८९४) १ क्यू० बी० १४९
५ यू० एस० बनाम सी १०६ यू० एस० १९६, जहाँ ५४२०६ पर यह मान लिया गया है कि दावे से विमुक्ति का आधार कोई ठोस सिद्धान्त नहीं।
६ देखिए आर० डा० मेग्वायर, स्टेट लाइबिलिटी फॉर टॉर्ट, ३० हारवर्ड ला रिव्यू पृष्ठ २०

कि केन्द्रीय सरकार है। और हम स्थानीय निकायो को छोड किसी बन्दरगाह की गोदी के व्यक्तियो जैसे अर्द्ध-सरकारी निकाय को देखते हैं तो यह पाते हैं कि गलती और गलत काम की जिम्मेदारी उन पर वैसे ही डाली जाती है जैस कि गैर-सरकारी व्यक्ति पर।[1]

तो इस सिद्धान्त का आधार क्या है ? व्यावहारिक रूप में इसका आधार यह सिद्धान्त है कि कानून बनानेवाला होने की हैसियत से राज्य उन लोगो की पहुँच से बाहर है जिनके लिए कानून बना है। राज्य गलत काम नही कर सकता क्योकि यह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है और इस प्रभुता का सीधा सा चिन्ह यह है कि उससे उसके काम के लिए जवाब नही मागा जा सकता। इगलैण्ड में बादशाह राज्य का द्योतक है और इसके ऐतिहासिक कारण हैं। परन्तु इसकी स्थिति के सम्बन्ध में एक सशक्त न्यायालय ने जो कुछ कहा है वह अन्य स्थानो पर भी प्राधिकारियो के कार्यों पर लागू होता है। न्यायालयो ने इस बात पर ज़ोर दिया कि[2] "यह सिद्धान्त कि बादशाह कोई गलत काम नही कर सकता, व्यक्तिगत और राजनीतिक दोनो पहलुओ पर लागू होता है। यह सिद्धान्त सम्राट द्वारा निजी रूप से किये गये गलत कामो (यदि ऐसी बात सम्भव मानी जाय) पर तो लागू होता ही है, साथ में सम्राट की सत्ता के अन्तर्गत एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को पहुँचाई गयी हानि पर भी लागू होता है। इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष भी अवश्य निकलता है कि बादशाह किसी गलत काम के किये जाने की अनुमति भी नही दे सकता। क्योकि गलत काम के करने का अधिकार देना स्वय गलत काम करने के बराबर है। और यदि किया गया गलत काम कानून की दृष्टि में उन लोगो का काम है जिन्होने इसे करने का अधिकार दिया हो, इस का निष्कर्ष यह है कि बादशाह या उसके कमचारियो द्वारा किये गये गलत या जिहनकारी काम की शिकायत करने वाले अधिकार-आवेवन का मतलब यह नही है कि उसके निर्वाण के लिए माँग करने का अधिकार है। यह इसलिए कि जब कानून की दृष्टि मे ऐसा गलत काम हो ही नही सकता तो यह अधिकार भी उत्पन्न नही होता।" इसका अर्थ यह है कि राज्य के सामने प्रजा असहाय है, यद्यपि यह बात ध्यान देने योग्य है कि सविदा के मामले में व्यवसाय-सम्यता की आवश्यकताओ के कारण राज्य को जिम्मेदारी स्वीकार करने पर विवश होना पडा है।

सीधा सा इलाज यह है कि राज्य पर भी वैसे ही मुकदमा चल सके जैसे कि किसी नागरिक पर चलाया जा सकता है। इसके लिए सम्भवत सरकारी विभागो का सगठन ऐसा बनाना पडेगा कि यह मालूम हो सके कि दायित्व किस पर है। तब अधिकारी ऐसे अनस्तित्ववान् अस्तित्व के आडम्बरपूर्ण आवरण में नही छिप सकेगे जिसमें कानून के प्रतीयमान तथ्यो का सामान्य आकर्षण भी नही रहता। तब न्यायाधीश साधारण नागरिक की अन्यायपूर्ण कामो से रक्षा कर सकेगे चाहे वह काम किसी भी क्षेत्र से किया गया हो। एक ही उदाहरण से इस सिद्धान्त के परिणाम स्पष्ट हो जायेंग। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को गलत ढग से किसी अपराध का दोषी ठहरा कर जेल भेजा गया हो तो वह राज्य

---

१ मरसे डाक्स बनाम गिब्स, ११ एच० सी० एन० सी० ६८६।

२ फदर बनाम रेजीना, ६ बी० एण्ड एस० २५७

पर अन्याय से बन्दी बनाए जाने के लिए हरजाने का दावा नही कर सकेगा । मै समझता हू कि यह स्पष्टत न्याय यही है। यह चूकि कभी-कभी होता है, इसलिए इसके परिणामो को और स्पष्ट कर देना ठीक ही है । साथ में यह भी कह देना चाहिए कि यह सिद्धान्त हाल के घटनाक्रम के विरुद्ध भी नही है । फ्रास और जर्मनी में विकास की दिशा इस ओर है कि ज़िम्मेदारी को अधिक मान्यता दी जाय । और यह बात ध्यान देने योग्य है कि इगलैण्ड में एक राज आयोग ने भारत-स्थित असैनिक कर्मचारियो के भय दूर करने के लिये यह निर्धारित किया कि किसी सविदा की पूर्ति के लिए जो अदालत द्वारा प्रवर्तित की जा सकती हो, विदेशमत्री पर दावा किया जा सकता है[1] । विहित राज्य की धारणा के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ज़िम्मेदारी का कत्तव्य स्वीकार किया जाय । यह इसलिए कि कोई भी राज्य अपने अधिकरियो को यह अनुमति नही दे सकता कि वे लोगो के जीवन को क्षति पहुँचाते रहें और साथ ही अपनी गलतियो का फल भोगने से बचते चले जायें[2] ।

—९—

यहाँ जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कष निकलता है कि प्रत्येक राज्य बहुत कुछ अपने सार्वजनिक अधिकारियो के गुणो पर निर्भर है । प्रशासन ही राज्य का सार तत्व है और यह अनिवाय है कि जो वास्तव में कानून लागू करते है वे प्रशासन के गुणो को अक्षुण्ण रखें । ऐसे अधिकारियो को कैसे चुनना चाहिए ? क्या वे स्थायी निकाय के रूप में होने चाहिएँ जिसे राजनीतिक कार्याग बदल नही सकता ? क्या वे एण्ड्रयू जैक्सन की धारणा के अनुसार प्रशासन की सकल्पना के अधीन अपने पद सम्भालें जिससे कि प्रशासन को उनकी सहानुभूति और सहयोग का विश्वास रहे ।

इस बात में सदेह का कोई युक्तियुक्त आधार दिखाई नही देता कि स्थायी अधिकारियो की नियुक्ति पर राजनीतिक कार्याग का जितना कम नियत्रण रहे राज्य के लिये उतना ही अच्छा है । केवल यही नही है कि कार्यकाल सुरक्षित न होने के कारण सार्वजनिक सेवा की पदाली मे अनुभवी व्यक्ति नही रहते जिनका रहना इसके कुशल सचालन के लिए आवश्यक है । योग्य और चरित्रवान लोगो को ऐसा काम करने का प्रोत्साहन नही मिलेगा जिसमें निरन्तर जीविका की कोई गारटी नही है । किसी निरन्तर परम्परा के अभाव के कारण राजनीतिक कार्याग को उस कानून को तोड मरोड कर अपने मतलब का बनाने का बढावा मिलेगा जिसे वह लागू करता है । प्रत्येक आधुनिक राज्य के अनुभव से यह स्पष्ट है कि जहाँ भी सार्वजनिक सेवाओ में नियुक्तियो पर नियत्रण रखने

---

१ देखिए भारत में सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध लॉ कमीशन की रिपोर्ट (१९२४) ।

२ इस सारे विषय पर देखिए मेरी पुस्तक 'फाउन्डेशन्स आफ सावरेनिटी' में 'रिसपांसिबिलिटी आफ दी स्टेट इन इगलैण्ड, शीर्षक लेख' और येल ला जर्नल १९२६-७ में मि० ई० बान्चर्ड का 'स्टेट लाइबिलिटी फार टॉर्ट' । होवर्ट समिति की रिपोर्ट जो १९२४ में दी गयी थी, कम से कम ब्रिटेन के लिए कार्यक्रम के रूप में है ।

की शक्ति राजनीतिक कार्यांग के हाथ में होती है, सार्वजनिक जीवन में बहुत भ्रष्टाचार आ जाता है। ब्रिटेन के विदेश विभाग में नियुक्तियो के लिए खुली प्रतियोगिता न होने के कारण बहुत दिनो तक वह, जान ब्राइट के शब्दो में, "अंग्रेजी आभिजात्य का एक आस्थान" बना रहा। अमरीका में राजनीतिक दलो द्वारा सत्तारूढ होने पर अपने पिट्ठुओ को नियुक्त करने की जो व्यवस्था है उसके कारण समय-समय पर सकट उत्पन्न हुए है जिनमें बडी बेइमानी देखने को मिली है। और शायद बहुत गिरी हुई वाणिज्यिक व्यवस्था में भी ऐसी बेइमानी न होती हो। फ्रास मे मत्रियो को अपने विभागो में अधिकारियो को नियुक्त करने की जो शक्ति प्राप्त है वह सदा बदनामी का कारण बनी है। इस प्रकार की बातो का एक ज्वलत उदाहरण एक महान इतिहासज्ञ के पदच्युत किये जाने मे मिलता है जिसे पुरातत्व विभाग मे आजीवन पद से हटा कर एक ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया गया था जिसे रखने का कारण राजनीतिक ही था।[1] जब तक, अधिकारियो के समूह के रूप में, सरकारी सेवा कार्यांग की पहुँच से बाहर नही होगी, मत्रियो का ध्यान अपने पद की समस्याओं की ओर न जा कर अनिवार्य रूप से इस ओर जायगा कि अपने राजनीतिक अनुगामियो को इनाम के रूप में पद दिए जाय। प्रेसीडेंट गारफील्ड की हत्या के उदाहरण से इस आवश्यकता का और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रत्येक राज्य में ऐसे लोगो का एक वर्ग बन जायगा जो कुछ समय तक अधिकारी बन सकने के लिए राज्य में किसी न किसी दल की सेवा मे सलग्न रहेंगे, यद्यपि अधिकारी होने के लिए, न तो उन्हें प्रशिक्षण प्राप्त होगा और न ही उतनी क्षमता उन में होगी। और यह बात भी स्पष्ट है कि वे उन पदो पर रह कर अपना कर्त्तव्य नही निभाएगे, बल्कि जनता के धन से अपनी जेबें भरेगे। अमरीका में राष्ट्रपति हार्डिंग के शासन काल में इस व्यवस्था के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो पता चल जाता है कि इस व्यवस्था के क्या परिणाम होगे![2]

इसलिए किसी भी राज्य की सार्वजनिक सेवा का अस्तित्व दो निश्चित नियमो के आधार पर होना चाहिए। इस की नियुक्ति उन लोगो द्वारा होनी चाहिए जो मत्रिमण्डल में या उस के अधीनस्थ राजनीतिक पदो पर न हो और साथ ही इसकी नियुक्ति ऐसे नियमो के अन्तर्गत होनी चाहिए जिन से व्यक्तिगत पक्षपात की गुजाइश बहुत ही कम हो। मै समझता हूँ कि इस में कोई सदेह नही कि सभी के लिए खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त से ही इन नियमो का पालन हो सकता है। इस का अर्थ यह है कि कृषि विभाग में पशु चिकित्सक के पद जैसी प्राविधिक नौकरियो को छोड कर बाकी सभी पदो के लिए सेवा में प्रवेश केवल इसी आधार पर होना चाहिए कि जो पद खाली है उसके लिए आवश्यक योग्यता हो। अनुभव से यह प्रकट होता है कि विदेश विभाग में सहायक के पद जैसे किसी विशेष पद के

---

१ इस सारी समस्या पर देखिए मेरी पुस्तक 'अथारिटी इन दी माडर्न स्टेट', अध्याय ५।

२ तेल, युद्धकालीन, हस्पतालों सम्बन्धी गोलमाल और उनके ब्यौरे के लिए देखिए दी न्यू रिपब्लिक १९२३-४ में कई स्थानो पर।

लिए उपयुक्तता आकने की चेष्टा करने की बजाय इन परीक्षाओ की व्यवस्था सामान्य बुद्धि देखने के लिए की जाय तो ये अधिक सतोषजनक रहेंगी। किसी ऐसे खास काम जिसके लिए चिकित्सा विज्ञान या गणित की तरह आवश्यक विशेष प्रकार की क्षमता की जरूरत नही होती, उस की आदत तो वास्तविक अभ्यास से पड सकती है। इसलिए, सार्वजनिक सेवा में प्रवेश साधारणतया उस आयु में होना चाहिए जिस में कि कोई युवक या युवती साधारण परिस्थितियो में जीविका कमाने लगती है। और इन लोगो का चुनाव ऐसे आयोग द्वारा होना चाहिए जिसके सदस्यो को केवल उन्ही परिस्थितियो में हटाया जा सके जिनमें कि किसी न्यायाधीश को हटाया जाता है। इसलिए यह प्रश्न कि कार्यांग के हाथ में क्या शक्तियाँ होनी चाहिएँ, तभी उत्पन्न होता है जब कि अधिकारी अपने विभाग में नियुक्त किया जा चुका हो। चुनाव तो आपूर्व ही इस की क्षमता से बाहर है।

परन्तु यहा कुछ महत्वपूर्ण बाते उठती है। प्रत्येक लोक सेवा को मोटे तौर पर दो बडी श्रेणियो में बाँटा जा सकता है। बहुत से व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि जिसका दायित्व मुख्यत क्रियात्मक होता है। वे चिट्ठियो की प्रतिलिपियाँ बनाते है, फार्म भरते हैं और लेखे की मदें दर्ज करते है। उन से बहुत कम सख्या ऐसे लोगो की होती है जो वास्तव में रचनात्मक कार्य में लगे होते है और जो नीति सोचते हैं, अन्वेषण करते हैं और निर्णय करते हैं। इस दूसरे वर्ग में अधिकतर व्यक्ति ऐसे होगे जिन्हें शिक्षा द्वारा इस प्रकार के श्रम के लिए प्रशिक्षण दिया गया है। और आधुनिक राज्य में ऐसे प्रशिक्षण पर जो खर्चा होता है, उसके कारण, मुख्यत , ये लोग समुदाय को मध्यम वर्ग और ऊँचे वग मे से ही आते हैं। उदाहरण के लिए, यह सभी जानते है कि अभी हाल तक, ब्रिटेन की असैनिक सेवा के प्रशासक वर्ग में लगभग सभी लोग आक्सफोड और केम्ब्रिज के पढे हुए होते थे और किसी साधारण मजदूर का बेटा वास्तव मे योग्य हो तो भी उसे आक्सफोड या केम्ब्रिज नही भेजा जा सकता था। इसलिए, मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जब तक किसी राज्य की शिक्षा-पद्धति इतनी लोकतत्रात्मक न हो कि इस प्रकार की परिसीमाओ को दूर किया जा सकता हो, तब तक वास्तविक लोक सेवा समुदाय के अच्छे खाते-पीते वर्गों के व्यक्तियो तक ही सीमित रहेगी। इसके दो मतलब है। एक तो यह कि इस सेवा के सदस्यो का अनुभव सारे समुदाय का अनुभव नही होगा और जो नए तथ्य उन के सामने आयेंगे उन को भी वे उसी विशेष अनुभव के प्रकाश में देखेंगे। दूसरी बात यह है कि जब तक उन में बहुत अधिक अन्तर्बुद्धि वाले लोग नही रहेंगे—जो कभी-कभी ही होते हैं—तब तक उनके द्वारा राज नीतिक कार्यांग को दी गयी सलाह की व्याप्ति सकुचित ही होगी। तो हम इस प्रकार की त्रुटियो को कैसे दूर करें ?

स्पष्ट ही है कि कुछ हद तक तो यह समस्या ऐसी है जो कुछ समय बीतने पर ही सुलझेगी। मै ने इस पुस्तक में पहले समुचित प्रशिक्षण के जिस अधिकार की चर्चा की है उसे हम जितनी जल्दी मान लेंगे, वह क्षेत्र जिस से प्रशासक वर्ग के सदस्य आते हैं, उतनाही अधिक विस्तृत होता जायगा और इसलिए वह वर्ग सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओ का अधिक प्रतिनिधित्व कर सकेगा। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह इलाज मुख्य रूप से मत्रणा समिति की उस व्यवस्था से हो सकता है जिन की चर्चा ऊपर की गयी है। यह इसलिए कि

अधिकारियो को आज की अपेक्षा अधिक विविध और अधिक परिमाण में ज्ञान और अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता होगी । वह रिपोर्ट पढ कर उन से निष्कर्ष निकालने और किसी दफ्तर में दलीलें सोचने की अपेक्षा व्यापारियो, श्रमिक सघो के कार्यकर्ताओ, डाक्टरो और स्कूलो के अध्यापको के साथ अपने व्यक्तिगत सम्पर्क से अधिक निष्कर्ष निकालेगा और उसी के आधार पर उसे युक्तियाँ सूझेंगी । दफ्तर की दिनचर्या का कवच पहले की अपेक्षा उस की कम रक्षा कर सकेगा, जिसे कि वह आजकल बाहर के सम्पर्क से बचने के लिए काम में लाता है । उसे पहले की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत आलोचना का सामना करना पडेगा । और जैसा कि विलियम जेम्स ने बडे अच्छे शब्दो में कहा है "ठोस वास्तविकता की तीखी भावना" उस की राय का आधार बनेगी जैसा कि आजकल कम ही होता है । किसी विभाग में एक कोने में बैठ कर बन्दरगाह की गोदी में काम करने वाले मजदूर के लिए भोजन भत्ते की रूप-रेखा तैयार करना एक बात है और किसी ऐसी समिति के सामने उस भत्ते के सबन्ध में सच्चाई पेश करना दूसरी बात है जहाँ गोदी मजदूर उस पर जिरह कर सकते है[1] । और इस से शिक्षा भी मिलती है । सम्भव है कि अधिकारी ने जैसा कि सर विलियम बेवरिज ने कहा है, फ्रासिस्कन की तरह "दरिद्रता, अज्ञात रहने और आज्ञा पालन" की शपथ ले रखी हो[2] । परन्तु अधिकारी को यह नही भूलना चाहिए कि फ्रासिस्कनो का प्रभाव और महत्त्व इस बात के कारण था कि वे दुनिया के सम्पर्क में रहते थे—विशेषकर सम्पत्तिहीन जनता के साथ सम्पर्क रखते थे । मै समझता हूँ कि वह अपने को, राज्य का नेतृत्व नये वर्गों के हाथ में आने के जितना अनुकूल बनाने की चेष्टा करेगा वह उस से उतना ही सीखेगा । यह इसलिए कि ये नये वर्ग अपने साथ नये विचार और नया अनुभव लेकर आयेंगे और उन की आवश्यकताओ की पूर्ति करने की चेष्टा में वह नये दृष्टिकोण से अपनी आवश्यकतओ को देखने लगेगा । पहले समय में उसे ऐसा सौभाग्य शायद ही कभी प्राप्त हुआ हो । उदाहरण के लिए १९१४ से पहले के १०० वर्षों में ब्रिटेन के मत्रियो की सूचियाँ देखी जाय तो मैं समझता हूँ कि उन से यह बात निकलती है कि उन में अधिकतर व्यक्ति एक ही प्रकार के अनुभव वाले थे । सत्ता चाहे किसी भी दल के हाथ में रही हो, उस के मत्रिमडल में ईटन और आक्सफोर्ड के पढे हुए लोग, वकील, भूमि स्वामी, प्रतिष्ठित कुलो के व्यक्ति, और बडे-बडे व्यापारिक उद्यमो के स्वामी रहे हैं ।[3] १९०६ तक कामन्स सभा के सम्बन्ध में भी यही बात बहुत हद तक ठीक थी । और समुचित सशोधनो के साथ, इस बात को प्रमाणित करने के लिए जर्मनी और फ्रास के भी उदाहरण दिए जा सकते है । और यदि अमरीका की सस्थाओ में अधिक विविधता रही है तो उन के स्वरूप में निहित कई कारणो से, उस का प्रभाव अधिकारियो के अनुभव पर नही पडा है । परन्तु वह परम्परा भग हो चुकी है और हम प्रयोग के क्षेत्र मे प्रवेश करने

---

१ परिवहन श्रम के सम्बन्ध में लार्ड शॉ के आयोग के सामने साक्ष्य, खण्ड १ पृष्ठ १ ८५ एक ।

२ दी डवलप्मेन्ट आफ दी सिविल सर्विस, पृष्ठ २३१, २४४ ।

३ देखिए मेरी पुस्तक 'परसनल आफ दी ब्रिटिश केबिनेट' (फेबियन सोसाइटी १९२८)

को तैयार खडे है। इस पृष्ठभूमि को देखते हुए लोक सेवाओ के लिए ऐसी तन्त्र-प्रणाली आवश्यक है जिस से नयी सूझो का स्वागत करने की भावना को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन मिले।

एक और तरीके से भी कुछ किया जा सकता है। राजनीति के साहित्य का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति, इस बात को महसूस करेगा कि लोक-प्रशासन मे निश्चित रूप से सुधार करने के उद्देश्य से किए गये अध्ययनो की कमी है। सर विलियम बेवरिज ने लिखा है[1] "असैनिक सेवा एक पेशा है और मै चाहता हूँ कि वह विद्वत्ता सम्पन्न पेशे की तरह बने और आत्म सिद्धि प्राप्त करे।" मै समझता हूँ कि इस के लिए सार्वजनिक प्रशासन की प्रविधि के सम्बन्ध मे उस से कही अधिक प्रयोग करना पडेगा जितना कि अब तक ठीक समझा गया है। किसी हद तक इस का मतलब यह है कि प्रशासन की समस्यायो के सम्बन्ध मे सामूहिक रूप से विचार किया जाय और इससे भी व्यापक अर्थ यह है कि उन के सम्बन्ध में उपलब्ध अनुभव का अधिकतम परिमाण में प्रयोग किया जाय। परन्तु साथ ही इस का मतलब यह भी है कि किसी अधिकारी के काम के सम्बन्ध मे विचार को एक वैज्ञानिक अनुशासन बना दिया जाय जिस की शिक्षा दी जा सकती है और जिस के सम्बन्ध में खोज की जा सकती है। इस का अथ यह है कि हमें इस योग्य होना चाहिए कि हम सावजनिक प्रशासन के नियमो को ऐसे कामचलाऊ परिकल्पनाएँ बना सके जो ऐसे अनुभव के आधार पर सशोधित होते है जो अपने प्रति सजग है। मै समझता हूँ कि इस के लिए दो बाते आवश्यक है। पहली बात तो यह जरूरी है कि अधिकारी का अपने पेशे के प्रबन्ध से सम्बन्ध हो। उसे जिन मानको के अधीन काम करना है उसे चाहिए कि वह इन्हें सगठित करे और उनकी अभिव्यक्ति की व्यवस्था करे—बिलकुल उसी प्रकार जैसे कि वकील या डाक्टर करते है। हमें यह भी करना चाहिए कि समुचित परिस्थितियो में, अधिकारी सरकारी सगठन के सम्बन्ध में लिख सके और उसे प्रकाशित कर सकें। स्पष्ट ही है कि हम कोष विभाग के क्लर्क को यह अनुमति नही दे सकते कि वह अपने विभाग के आयव्ययक की आलोचना करे परन्तु इस बात का कोई पर्याप्त कारण नही है कि वह यह न बता सके कि कोष के सगठन के ढाचे में वह क्या परिवर्त्तन वाछनीय समझता है। सर आएन हेमिल्टन ने हाल ही में लिखा है[2] कि इगलैण्ड में सेंसरी का होना कितना मूखतापूर्ण है जिस के कारण सेना का कोई अधिकारी युद्ध-मत्रालय की प्राविधिक आलोचना अपने रिटायर होने तक प्रकाशित नही कर सकता और तब तक वह आलोचना पुरानी पड जाती है। वैज्ञानिक सरकारी प्रशासन का विकास इस प्रकार नही हो सकता कि इस का निर्माण ऐसी परम्परा के आधार पर हो जिस के सम्बन्ध में कोई भी सजग नही है और या इस प्रकार कि बाहर के लोग चाहे वे कितने ही बुद्धिमान् क्यो न हो, सिद्धान्तो का निर्माण करें। यह तभी हो सकता है जब कि उनकी समस्याओ के सम्बन्ध में विशेषज्ञो के अनुमानो की पडताल जनता की आलोचना द्वारा की जा सकती हो। व्यक्तियो के किसी भी समूह के लिए ऐसी स्थिति में

---

१ दी डेवलपमेंट आफ दी सिविल सर्विस पृष्ठ २४२। "विद्वत्ता सम्पन्न" शब्द सर विलियम बेविज ने तिर्यकाक्षरों में दिये है।

२ दी सौल एण्ड बाडी आफ एन आर्मी पृष्ठ २१ एफ

होना हानिकारक है जहाँ सगठित विश्लेषण न हो सकता हो। फिर भी ऐसा लगता है कि हम आधुनिक सरकारो के अन्तर्गत ऐसा विश्लेषण होने से रोकने के लिए विशेष प्रयत्न करते है। प्रशासन के तरीके अधिकतर गुप्त और अज्ञात आदतो का समूह हैं। और इन की आलोचना अनिवार्य रूप में किसी हद तक अज्ञान पर आधारित होती है। यह सरकारी अधिकारी के लिए बुरी बात है, क्योकि आलोचना का पता चला सकने और उसका भण्डा-फोड कर सकने से वह उन आदतो के सम्बन्ध में आत्मतुष्टि की भावना से काम लेने लगता है। वह उन्ही पर चलता रहता है क्योकि वह उन्हें जानता है और पहलकदमी करने को प्रोत्साहित होने की बजाय वह यह समझने की आदत बना लेता है कि वह गलती नही कर सकता। इस प्रकार सोचने की आदत खतरनाक है, विशेषकर हमारे ससार में जहाँ परिवतन की आवश्यकता बडी व्यापक और तात्कालिक है। यदि हमें अधिकारी का सेवाओ से पूरा लाभ उठाना है तो हमे उसकी आदते छुडाने की आदत डालनी चाहिए।

मै समझता हूँ कि यदि हमें वह पूरा लाभ प्राप्त करना है तो उसके लिए तीन महत्व-पूण तरीकें हैं जिनका प्रयोग हमें अधिक करना पडेगा। सबसे पहली बात जिसका महत्व कम नही है, यह है कि सरकारी अधिकारियो के लिए एक छुट्टी का साल हो। यह इस-लिए कि सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि उसका मस्तिष्क ताजा रहे, वह इस योग्य हो कि नये सम्पक स्थापित कर सकें और नये अनुभव कर सके। कुछ मार्के के आदमियो को छोडकर, बाकी सभी लोगो के लिए प्रत्येक वष दफ्तर में लगे रहने से, जहाँ समस्याएँ कागजो पर उसके सामने आती है, उनके मस्तिष्क की ताजगी खत्म हो जाती है। उसके लिए काम और उसका क्षेत्र बदल जाना बहुत आवश्यक है। वह इस योग्य होना चाहिए कि दिनचर्या के ब्यौरे की घबराहट से बचकर एक गठडी में अपना सामान बाँध ले और किसी पहाड की ऊची चोटी पर बैठकर चारो ओर के दृश्य का आनन्द ले सके न कि यह कि सदा उन्हीं कमरो में घुसा रहे जिनमें उसे अपना काम करने के लिए जाना पडता है। इस बात का एक पहलू खास तौर पर बहुत आवश्यक है। जिस आदमी को ह्वाइट हाल से कैनेडा को पत्र लिखने है उसे चाहिए कि कैनेडा अवश्य जाए। वर्ष में एक बार कैनेडा से लदन आनेवाले अधिकारियो और सार्वजनिक कार्यकर्ताओ के साथ बात-चीत करने मात्र से वह उन लोगो की विचारधारा को नही समझ सकता जिनसे उसका वास्ता पडता है। जिस व्यक्ति को राष्ट्र सघ (लीग ऑफ नेशन्स) सम्बन्धी समस्याओ का कार्य भार सम्भालना है उसके लिए यह जरूरी है कि उसे एक वष जेनेवा मे काम करने के लिए भजा जाय। वह वहाँ जाकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे काम करनेवालो के विचारो को समझकर राज्य की अधिक सेवा कर सकता है बजाय इसके कि वह लिखी गयी चिटिठयो को पढ कर या सघ की सभा में कभी-कबाद जा कर उसकी बात समझने का प्रयत्न करे। जिस अधिकारी को खेती के उत्पादो की बिक्री के सम्बन्ध में कृषि मत्री को सलाह देनी है वह दूसरे लोगो के पयवेक्षण के फल रिपोर्टों में पढने की बजाय अन्य तरीको का ज्ञान प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त करे तो वह अपने काम को अधिक रचनात्मक ढग से कर सकेगा। जब हम सभ्य राज्य को समस्याओं को छोड आदिम तथा सभ्य जातियो की अभिरक्षा की समस्याओ पर आते हैं तो उन सब बातो पर और अधिक ज़ोर देना आवश्यक हो जाता है।

परन्तु इस व्यवस्था की चर्चा मैं बाद के किसी अध्याय में करूँगा।

दूसरी बात यह है कि सार्वजनिक सेवा और विश्वविद्यालयो के बीच आज की अपेक्षा अधिक अभिन्न सम्बन्ध होना चाहिए। इसका महत्व दो बातो में है। पहली बात तो यह है कि विश्वविद्यालय ऐसा स्थान है जहाँ प्रशासन की समस्याओ पर अन्य स्थानो की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण ढग से राजनीति-विज्ञान के धरातल पर विचार किया जा सकता है। वहाँ वे समस्याएँ अपने तात्कालिक मानसिक परिवेश की परेशान करनेवाली अडचनो से मुक्त होती है। वहाँ उन्हे उनके अमूर्त रूप मे युक्ति-युक्त आधार पर रखा जा सकता है और बाजार में या विभाग में ऐसा करना सम्भव नही है। वे अपनी समुचित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखी जा सकती हैं। दूसरे मुझे विश्वास है कि विश्वविद्यालय अधिकारियो के प्रशिक्षण में बहुत योग दे सकते है। यह इसलिए कि अधिकारियो को जो समस्याएँ हल करनी पडती हैं उन्हें विश्वविद्यालय में अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है जबकि विभाग में उन्हें तत्काल निबटाने की जरूरत पडने के कारण उनपर उतनी अच्छी तरह विचार नही किया जा सकता। व्यक्तियो और विशेष हितो के कारण समस्याओ के सम्बन्ध में जो पूर्वधारणायें रहती है, वे विश्वविद्यालयो में नही रह सकती। कुछ हद तक तो यह बात हमारे पहले अनुभव से स्पष्ट ही है। इगलैण्ड की सावजनिक प्रशासन सस्था, अमरीका की प्रबन्ध अनुसधान सस्था और फ्रास की इकोल दे साइसे पोलितिके (राजनीति विज्ञान सस्था) जैसे निकायो मे अधिकारी वर्ग और विद्वान परस्पर विचार विनिमय कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप कुछ ही समय में बहुत महत्वपूर्ण काम हुआ है। और एक महान् युद्ध मत्री ने अपन साक्ष्य में कहा है कि व्यावहारिक काम के काल में भी सरकारी अधिकारियो के लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा का बडा महत्व रहा है।[1]

तीसरे, मैं समझता हूँ कि इस बात का बहुत महत्व है कि अधिकारियो के औसत कार्य-काल में कमी होनी चाहिए। सार्वजनिक सेवाओ के लिए एक बडा खतरा वह स्थायित्व है जो कि इसकी विशेषता है क्योकि इसके कारण, कम-से-कम, ऊँचे अधिकारियो का वर्ग तो ऐसा बन ही जाता है जिनकी आदते लम्बे अनुभव के कारण अनिवार्य रूप से ऐसी अनम्य बन जाती कि वे नयी बातो को नही आने देते। जैसा कि मैंने कहा है इसका इलाज बहुत कुछ इस बात में है कि मत्रणा-समितियो और छुट्टी का एक वर्ष रखने जैसे साधन अपनाए जाएँ। परन्तु यह खतरा फिर भी बना रहता है कि (क) कुछ व्यक्तियो को बहुत अधिक दिनो तक सेवा में रखा जायगा, या तो इसलिए कि बहुत बूढे हैं या इसलिए कि वे स्पष्टतया इसके विशेष वातावरण के लिए उपयुक्त नही हैं और (ख) यह कि लोग रचनात्मक जिम्मेदारी के काम में काफी आयु बीत चुकने पर आते हैं जबकि उनके मस्तिष्क की शक्तियाँ परिवर्तनशील नही रहती और वे अपने आदतो के कारण रोजमर्रा का काम करने के लिए अधिक उत्सुक होते है न कि इस बात के लिए कि

---

१. देखिए कोयला उद्योग सम्बन्धी साम्राज्यिक आयोग, १९१९ के सामने लार्ड हाल्डाने का साक्ष्य, जो प्राब्लम ऑफ नेशनलाइजेशन में पृष्ठ ९ पर छापा गया है।

वे पुराने ढर्रे से अलग हट कर काम करें। यह भी कह देना चाहिए कि यह दूसरा खतरा मत्रियो की ज़िम्मेदारी के सिद्धान्त से और इस बात से और भी बढ जाता है कि अधिकारी अपने राजनीतिक अध्यक्ष के प्रति वफादार बन जाता है। क्योकि सारी गलतियो की ज़िम्मे-दारी मत्री पर आती है इसलिए अधिकारी को यह प्रलोभन रहता है कि ऐसा निर्णय करे जिसपर कम-से-कम मतभेद हो। वह ठीक काम करने की चेष्टा करता रहता है। वह किसी नयी सूझ के अनुसार काम करने से कतराता रहता है जिसका परिणाम यह होता है कि जब वह उन्नति के शिखर पर होता है उसके पास कोई नयी सूझ रहती ही नही। इसमें सदेह नही कि कोई कुशल मत्री प्रयोग करने पर ज़ोर देकर और अपने विभाग द्वारा स्पष्टतया गलती होने पर भी उसकी रक्षा करके रूढि के अनुसार चलते रहने के इस रुझान को रोक सकता है परन्तु सभी मत्री तो कुशल नही होते।

मत्री को तो छोडिए, मै समझता हूँ कि हम इन कठिनाइयो को तीन तरीके अपना कर दूर कर सकते हैं। सबसे पहले तो हम यह कर सकते हैं कि जो व्यक्ति आठ या दस वर्ष नौकरी करने के बाद यह महसूस करे कि या तो वह उसके उपयुक्त नहीं और या उससे असन्तुष्ट है, उसके लिए हम सेवा से अलग होना आज की अपेक्षा अधिक आसान बना दें। बजाय इसके कि कोई व्यक्ति अपना सेवा काल समाप्त होने के बाद पेन्शन का अधिकारी बन सके, हम ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि इसे सेवा के अनुपात मे पेन्शन पाने का अधिकार हो जिससे कि वह आर्थिक हानि उठाए बिना नया काम ढूढ सके। दूसरे हम ऐसी आदत डाल सकते है कि कुछ प्राविधिक पदोके लिए विशेष नियुक्तियाँ की जाय जिससे कि विभाग में निरन्तर ऐसे नए लोग आते रहें जो विभाग की परम्पराओ से अनभिज्ञ हो और जिन्होने अपना अनुभव मुख्यत भिन्न क्षेत्र में प्राप्त किया हो। हमें ऐसे पदो का सगठन ऐसे ढग से नही करना चाहिए कि वे मत्रियो के चहीते लोगो के लिए सुरक्षित रह जाए। नियुक्ति तो मत्री द्वारा सदा उस सूची में से की जानी चाहिए जो सावजनिक सेवा आयोग ने निश्चित योग्यता वाले प्राथियो में से लोगो को चुन कर बनाई हो। परन्तु उदाहरण के लिए, यदि सरकार ने श्रमिक केन्द्रो की व्यवस्था स्थापित की हो और उसके पास ऐसा व्यक्ति हो जिसने उन केन्द्रो के कृत्यो और सचालन के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त किया हो, तो सरकार इस योग्य होनी चाहिए कि यदि वह उचित समझे तो उस व्यक्ति को रख सके। यदि उसका एक पशु-पालन विभाग हो तो वह इस बात के लिए विवश नही होनी चाहिए कि वह अधीनस्थ अधिकारियो की पदोन्नति करके ही उस विभाग का मुख्य अधिकारी नियुक्त करे। सुरक्षण यह है कि मत्री के लिए यह ज़रूरी होना चाहिए कि वह साधारणतया सार्वजनिक सेवा के रिक्त पदो की पूर्ति करने वाले निकाय का समाधान कर सके। और सामान्य प्रशासन और विशेष विषयो के प्रशासन के बीच स्पष्टतया विभेद किया जाना चाहिए। परन्तु मै समझता हूँ कि उन सुरक्षणो के रहते हुए वह सिद्धान्त स्पष्ट ही है।

तीसरी बात यह ज़रूरी है कि रिटायर होने की आयु को घटा कर कम कर दिया जाय। शायद इस सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से कोई बात कहना ख़तरे से खाली नही परन्तु मेरा सुझाव यह है कि किसी असाधारण व्यक्ति के विशेष मामले को छोडकर कोई भी

व्यक्ति सार्वजनिक सेवा में, विशेष कर जिम्मेदारी के पद पर पचपन वर्ष की आयु के बाद न रहे। यह याद रखना चाहिए कि उस आयु मे उसे प्रशासन कार्य में लगे साधारणतया तीस वर्ष से अधिक समय बीत चुका होगा। यदि किसी ऊँचे पद पर नियुक्ति के समय वह कम आयु का हो तो वह अपने से कम आयु के लोगो के लिए रास्ता रोके बैठा रहता है। यदि रिटायर होने के समीप पहुँचकर उसे उस पद पर नियुक्त किया जाता है तो उसका मतलब यह है कि उसकी नियुक्ति उस के गुणो का ध्यान रखकर नही बल्कि सेवा काल का ध्यान रखकर की गयी है। किसी भी सार्वजनिक सेवा मे यह आवश्यक है कि कर्मचारियो को कम से कम ३५ वर्ष की आयु से पहले स्पष्टतया जिम्मेदारी का काम देने की धारणा बनाई जाय यदि ऐसा न किया जाय तो उन्हें बडी जल्दी हर बात में अपने अफसरो के आदेश लेने की आदत पड जाती है। जब समय आने पर महत्वपूण निर्णय करने का काम उन पर आ पड़ता है तो वे किकत्तव्यविमूढ हो जाते है। उन्हे अपने लिए रचनात्मक ढग से सोचने की आदत नही पडती बल्कि वे दूसरे लोगो के विचार के लिए सामग्री जमा करते करते बूढे हो जाते हैं। इसमे सदेह नही कि उनमे से कुछ आस्टिन डाबसन की तरह, अपने विभाग से बाहर के क्षेत्र को अपने क्रियाकलाप का केन्द्र बना कर इस खतरे से बच निकलते है। सम्भव है कि किसी सरकारी अधिकारी के वेष में गोल्फ का बहुत बडा खिलाडी छिपा बैठा हो। परन्तु ऐसे अपवाद कम ही होगे। और यदि हम चाहते है कि ऐसे सरकारी कर्मचारी हो जिन्हें अपना काम इतना पसन्द हो कि वे पूरा मन लगा कर और अपने मस्तिष्क की सारी शक्ति से इसे करें, तो हमें चाहिए कि हम उसे ऐसा काम शीघ्र ही सौंपें जिसे करने से उसके आत्म-सम्मान की भावना सन्तुष्ट हो जाय। प्राविधिक रुझान आ जाने के बाद यह भावना अवश्य होनी चाहिये कि कोई रचनात्मक काम किया जा रहा है नही तो हमारे हाथ म जो साधन है उन से अधिकाधिक लाभ नही उठाया जा सकता।[1]

एक ऐसी ही समस्या, जिस पर विचार करना जरूरी है, यह है कि सार्वजनिक सेवा की निचली श्रेणियो का प्रशासन-वर्ग से क्या सबध हो? हम यह प्रबन्ध कैसे कर सकते है कि निचली श्रेणियों के लोगो को अधिक जिम्मेदारी के काम के लिए अपनी उपयुक्तता का प्रमाण देने का समुचित अवसर मिले? मैं समझता हूँ कि इस बात में कोई सन्देह नही कि आधुनिक सरकारो में यह पूर्व धारणा बहुत अधिक रखी जाती है कि छोटा अधिकारी स्थायी रूप से अपने अफसरो के लिए परिश्रम करने के लिए ही है। और यह मालूम करने के लिए कोई चेष्टा नही की जाती कि उसमें कितनी प्रतिभा है और न उसे प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जाता है। बल्कि रुझान यह रहता है कि सार्वजनिक सेवा की श्रेणियो और वर्गों का स्वरूप सोपानयत्र जैसा बना दिया जाय जिसमें परिवर्तनशीलता नही रहती और इसका परिणाम यह होता है कि अधीनस्थ अधिकारियो क लिए बहुधा वैसी ही वित्तीय और बौद्धिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका सामना कि आधुनिक सर्वहारा वर्ग को करना पडता

---

१ इस सारे प्रश्न पर विलियम सर बेवरिज की पुस्तक दी 'पब्लिक सार्विस इन वार एंड इन पीस' में बहुत जानकारी और टिप्पणिया हैं। विशेषतया देखिए उस के पृष्ठ ३६-४८।

है। यह समस्या सचमुच बडी जटिल है। जो अधिकारी पदोन्नति का निणय करते है, उनका सम्पर्क अधिकतर उन अधिकारियो के साथ रहता है जिन्हे पदोन्नति की आशा होती है। और पदोन्नति की आशा करने वाले अधिकारी पहले ही प्रशासक-वर्ग के होते है। और यह प्रशासक वग जिस क्षेत्र से आता है, उसके सीमित होने के कारण यह स्थिति और भी विकट हो जाती है। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस वर्ग मे अधिकतर ऐसे सामाजिक वर्ग के लोग होते है, जिन्हे वैसी ही आदते पडी हुई होती है। और इन लोगो के लिए यह समझ लेना न तो कठिन है, और न अस्वाभाविक कि उनकी आदतें सार्वजनिक कार्य के समुचित ढग से किये जाने के लिए जरूरी है। सच तो यह है कि यह बात भी उतनी ही गलत है, जितनी कि यह बात कि धनी वर्ग के वशज ही शासन करने के योग्य है और या यह बात कि अच्छे परिवारो में पैदा हुए लोग ही कूटनीतिक सेवा के कृत्यो का पालन कर सकते है। इगलैण्ड की असैनिक सेवा में—डाकघरो और रक्षा सेनाओ को छोड कर—लगभग दो लाख व्यक्ति हैं। उनमें ऐसे व्यक्तियो का समूह न हो जो कि बहुत ही उच्च कोटि के काम करने का अवसर दिये जाने पर उपयुक्त निकलें तो यह बडे अचम्भे की बात होगी। ऐसे व्यक्तियों की खोज निकालने का प्रबन्ध कैसे किया जाय?

इस बात की आशा नही की जा सकती कि कोई व्यवस्था अपने प्रयोजनो को पूर्णतया पूरा कर सकती है। जैसा कि बडे पैमाने के सभी उद्यमो में होता है, ये प्रयोजन अशत ही पूरे हो सकते है। निश्चय ही यह बात वाछनीय नही है कि निचली श्रेणियो के लोगो के लिए कुछ प्रतिशत स्थान रख लेने की जडवत्त पद्धति अपना ली जाय और हमे प्रवरता के प्रभाव में भी नही आना चाहिए। उसका अथ तो निश्चय ही यह है कि केवल इस बात से कि किसी व्यक्ति ने देर तक काम किया है, यह समझ लिया जाय कि उसे अनुभव भी है। हम जिन गुणो की खोज निकालना चाहते हैं, वे है, ओज और विचारो की मौलिकता, लोगो से काम लेने की शक्ति और विभाग की दिनचर्या के कोरे ज्ञान के स्थान मे बडे बडे मामलो को निबटाने की योग्यता। इसके लिए विविध तरीके है। निश्चय ही बडे अधिकारियो में दृढतापूवक अपनी अन्तर्बुद्धि से काम लेने की योग्यता हो, तो उससे बहुत कुछ किया जा सकता है। यदि वे वास्तव में यह चाहते है कि प्रतिभाशाली लोगो को ढूढ निकाला जाय तो उन्हें प्रतिभाशाली व्यक्ति मिल ही जायेंगे। परन्तु अधिकारियो की इस प्रकार की विवेक-बुद्धि के प्रयोग का जो अनुभव रहा है, मै उस पर अधिक भरोसा करने के लिए तैयार नही हूँ। इन अधिकारियो को बहुत सा काम कराना होता है और स्वाभाविक ही है कि उन्हे इस बात मे अधिक दिलचस्पी रहती है कि यह काम हो जाय न कि इस बात में कि काम किया किसने है। मै समझता हूँ कि विशेषकर निचली श्रेणियो के कम आय वाले अधिकारियो के लिए और शिक्षा के अवसरो की व्यवस्था करने से अधिक लाभ हो सकता है। जो लोग फौरन इन अवसरो से लाभ उठाते है, वे ऊर्जस्वी और उपक्रमशील प्रमाणित होते हैं। और यदि वे अपनी प्रतिभा का सबूत दें तो उनके लिए उन्नति के रास्ते खुले होने चाहिएँ। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सेवा में होते हुए भी विश्वविद्यालय की ऊँची उपाधि प्राप्त करता है तो उसे इसका श्रेय मिलना चाहिए। और यह बात युक्तिसगत ही है कि उसे यह श्रेय या तो इस रूप में मिले कि उसे अधिक जिम्मेदारी के काम पर लगाया

जाय और यदि परीक्षा काल में उसका काम अधिक सतोषजनक रहे तो उसे स्थायी बना दिया जाय और या इस रूप में कि उसे साधारण अवस्थाओ की अपेक्षा कुछ वर्ष बाद प्रशासक-वर्ग में प्रवेश पाने का प्रयत्न करने की अनुमति दी जाय। इसी प्रकार सरकार की दिलचस्पी की समस्याओ पर यदि कोई पुस्तक प्रकाशित हो तो विभाग को चाहिए कि उसके सबध में अन्वेषण करे। जो व्यक्ति लिवरपूल बन्दरगाह की गोदियो में लडकों को मजदूरी पर लगाये जाने के परिणामो के अन्वेषण जैसी महत्त्वपूर्ण जाँच कर सकता है, स्पष्ट ही है कि उसे रोजमर्रा के काम पर फिर कभी नही लगाना चाहिए। कुशल अनुसधान के लिए उसकी *योग्यता निश्चय ही ऐसी है, जिसके सबध में कोई सदेह नही हो सकता।*[1] सरकारी नौकरी में रहते हुए यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रबन्ध पर अच्छी पुस्तक लिखता है, तो उसे पदोन्नति के लिए वैसे ही चुना जाना चाहिए जैसे कि विश्वविद्यालय के किसी युवा अध्यापक को चुन लिया जाता है जो कि किसी विषय की समस्याओ का विश्लेषण करता है। सार्वजनिक सेवाओ में स्वशासन होने पर—जो अभी तक आदर्श ही है—भी बहुत कुछ किया जा सकता है। यदि किसी ह्विटले कौंसिल के दूसरे दर्जे का कोई प्रतिनिधि अपनी योग्यता का परिचय देता है तो वह निश्चय ही इस योग्य होना चाहिए कि उसे परीक्षण के लिए प्रशासन के काम पर लगा दिया जाय। और यह दलील उसे अवसर देने में बाधक नही होनी चाहिए कि विभाग में कर्मचारियो की सख्या पहले ही पूरी है। इसलिए कि सरकार का कोई विभाग स्वतमावत तब तक यह महसूस नही करता कि उसके पास पूरे कर्मचारी हैं, जब तक वह स्वय यह करना न चाहता हो।

यहाँ पर मैं इस प्रकार की सभी समस्याओ का उल्लेख नही कर सकता। परन्तु एक और सुझाव पर विचार करने की जरूरत है क्योकि इससे ऐसे अवसर प्राप्त हो सकते हैं जिनका कोई कुशल प्रशासक लाभप्रद उपयोग कर सकता है। मै पहले ही कह चुका हूँ कि नीति के निर्माण में विभागीय विचार-विनिमय का बहुत महत्त्व है। अनिवार्य रूप से और लगभग पूरी तरह यह विचार विनिमय मुख्य अधिकारियो के बीच होगा। परन्तु मै समझता हूँ कि ऐसा कोई कारण नही कि हम विभागीय समस्याओ के सबध में छोटे अधिकारियो के सम्मेलनो की धारणा का विकास क्यो न करें। ऐसे सम्मेलन का सभापति विभाग का मुख्य अधिकारी होना चाहिए जो कि न केवल अपने कर्मचारियों के साथ अच्छे सबध स्थापित करने के लिए बल्कि इस विचार से उन सम्मेलनो में भाग लें कि उनके कर्मचारी काम में रत न रहने पर कैसे सोचते है। सार्वजनिक काम के समय इस प्रकार कर्मचारियो के विचार नही जाने जा सकते। इंगलैण्ड में सप्ताह के अन्तिम दो दिनो में राजनीतिक आधार पर मेल जोल की जो पद्धति है, उससे विदेशियो को बहुधा अचम्भा होता है। परन्तु यह बुद्धिमत्तापूर्ण मौलिकता इस सत्य पर आधारित है कि कि जब लोग एक रूढ़ि के बन्धनो से अलग होकर आपस में मिलते जुलते है तो वे एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह जान सकते हैं। इगलैण्ड के राजनीतिक जीवन की स्वच्छता और बहुत कुछ उसका रचनात्मक स्वरूप, इस बात पर आधारित है कि जो लोग कामन्स सभा में एक दूसरे का विरोध करते है, उनमें इतना मेल

---

[1] बॉय लेबर एट लिवरपूल डाक्स, १९१९ श्रम (मत्रालय)।

मिलाप रहता है कि वे विकट स्थिति उत्पन्न होने से पहले कठिन समस्याओ के हल के लिए मिल जुल कर सोचते है। मेरा सुझाव यह है कि प्रशासन में लगे लोग आपस में मिल जुल सकें जिससे कि स्थायी सचिव उन लोगो के विचार जान सकें जिन्हे अन्यथा वह ऐसे व्यक्तियो के रूप में ही जानता है, जो उसकी मेज पर कागज रखते है। जिस प्रकार मत्री अपने अधिकारियो के साथ खाना खाकर और सिग्रेट पीकर उन्हे भली प्रकार समझ पाता है, उसी प्रकार अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियो को तभी जान सकता है जबकि वह उनसे दफ्तर से बाहर मिले। और जब तक वह अपने सोपानतत्र के बन्धनो को उस हद तक तोड नही सकता तब तक वह उन गुणो का लाभ नही उठा सकेगा, जिनसे कि वह लाभ उठा सकता है।

मैं यहाँ राष्ट्रीयकृत उद्योग के अधिकारी की समस्या का उल्लेख नही करूँगा। वह समस्या आर्थिक सस्थाओ की है जिस का समाधान अगले अध्याय में है। परन्तु इस बात पर जोर देने का बडा महत्त्व है कि यहाँ केन्द्रीय विभागो के सबध में जो कुछ कहा गया है वह सभी बातो में स्थानीय शासन की सस्थाओ की सार्वजनिक सेवा पर भी लागू होता है। इसका एक कारण तो यह है कि वे भी वैसी ही सार्वजनिक सेवाएँ है जितनी कि केन्द्रीय विभागो की, और उन के लिए भी उतने ही मानको और उतनी ही कठोर साधना की आवश्यकता है जितनी कि ब्रिटेन, अमरीका या फ्रास की सरकारो मे काम के लिए जरूरी है। इसलिए प्रत्येक बडी नगरपालिका को भी सार्वजनिक सेवा आयोग की उतनी ही जरूरत है जितनी कि केन्द्रीय सरकार को। इगलैंड में ऐसे निकाय लदन और मान्चेस्टर में है। अमरीका में भी ऐसा निकाय न्यूयार्क में है चाहे वह उतना कार्यकुशल नही है। परन्तु स्थानीय शासन की सेवा के लिए ऊँचे मानको के महत्व को सबसे बढ कर तो जमनी मे अधिक अच्छी तरह समझा गया है। निस्सदेह उन की दिनचर्या में नौकरशाही की भावना बहुत भरी पडी है, उन में से बहुत-सो को तो यह शिकायत है कि उन्हें बहुत औपचारिकता का सामना करना पडता है। परन्तु उन के काम का स्तर अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक अच्छा है क्योकि सेवा में प्रवेश की परिस्थितियो पर अधिक कडा नियत्रण है और अमरीका की अपेक्षा वहाँ दलबन्दी के आधार पर बहुत कम नामजदगियाँ की जाती है और ब्रिटेन की अपेक्षा पक्षपात बहुत कम किया जाता है।

यह तो निस्सदेह स्पष्ट ही है कि कोई भी स्थानीय सेवा इस परिसीमा के अधीन होती है कि कर्मचारी अधिकतर उसी क्षेत्र के रहने वाले हो। हाँ, बडे पद इस परिसीमा से मुक्त होते हैं क्योकि इसके लिए आवश्यक योग्यता अकसर केंद्रीय सरकार निर्धारित करती है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि उस क्षेत्र के रहने वालो को केवल इसलिए नगरपालिका में नौकर रखा जा सकता है कि वे उस क्षेत्र में रहते है। कम से कम शिक्षित होने की कसौटी तो होनी ही चाहिए और ऐसे व्यक्तियो के लिए इस सेवा में प्रवेश करना कभी सभव नही होना चाहिए जो किसी विश्वविद्यालय में प्रवेश के योग्य नही है। इस सबध में भी बाकी के देश जर्मनी से बहुत कुछ सीख सकते है। १९१४ से पहले वहाँ डस्सलडोफ और कोलोन में और उस के बाद ईसेंगच और नेरचाव में स्थानीय शासन के स्कूल हैं जो कि बडा महत्त्वपूर्ण काय है। ईसानेच में नगरपालिका का कोई अधिकारी दो वर्ष के पाठ्यक्रम में स्थानीय वित्त-व्यवस्था और कराधान, शिक्षा, नगर आयोजन और निर्धनों

की सहायता जैसी समस्याओ का अध्ययन कर सकता है। मै समझता हूँ कि किसी अन्य स्थान का अधिकारी, जिस के लिए ऐसी व्यवस्था नही है, इस प्रकार की शिक्षा के लिए कृतज्ञ ही होगा। इस बात का कोई कारण नही है कि जर्मनी की तरह अन्य राज्यो के उन स्कूलोमें भी जहाँ काम करने के साथ-साथ पढाई होती है उन युवा व्यक्तियों के प्रशिक्षण का प्रबध न किया जाय जो कि स्थानीय शासन की सेवा में प्रवेश करना चाहते हो या कि अधिकारी स्कूलो से एसे परीक्षाधीन छात्रो को नामजद करने के लिए क्यो न कहे जो तीन वर्ष की अवधि के बाद जिस के दौरान में उन्हें सामान्य शिक्षा दी जाय और वे व्यावहारिक काम करे, यदि उन का काम सतोषजनक हो तो उन्हें स्थायी रूप से रख लिया जाय। किसी अन्य योजना के अधीन आवश्यक गुणो वाले अधिकारी नही मिल सकते। और जब तक स्थानीय अधिकारी केन्द्रीय सत्ता के उद्देश्यो और तरीको को नही समझ लेते केन्द्रीय सरकार की नीति को समुचित रूप से अमल में लाना असभव है क्योकि वह अनिवार्य रूप से स्थानीय शासन के सहयोग का सहारा लेती है। नही तो परस्पर सघर्ष और ईर्ष्या जन्म लेती है जिस के कारण उन के प्रयत्नो में समुचित तालमेल नही रहता और परिणाम यह होता है कि या तो शक्तियो का बहुत अधिक केन्द्रीयकरण हो जाता है और या केन्द्रीय सत्ता स्थानीय समस्या के बारे में निष्चेष्ट पडी रहती है जो कि उनके दल के लिए बहुत घातक है।

—१०—

शुद्ध सिद्धात की दृष्टि से तो इस बातका कोई कारण दिखाई नही देता कि सरकार के सभी कृत्य एक ही निकाय द्वारा क्यो न किये जायँ। यह अपने स्थानीय अधिकारी रख सकता है जो प्रत्यक्षत इसी की रिपोर्ट देंगे और इसकी हिदायतें के अनुसार समस्याओ को हल करेंगे। बल्कि वास्तविक अर्थों में फ्रास के स्थानीय शासन का समुचित वणन इसी प्रकार किया जा सकता है। वहाँ ब्यौरे की छोटी मोटी बातो को छोड सभी मामले प्रीफेक्ट के अधिकार क्षेत्र में आते है। वह गृहमत्री द्वारा नियुक्त अधिकारी होता है, उसी ने उसे शक्तियाँ दी होती है और वह उसी को अपनी रिपोर्ट देता है। और यह कहना ठीक ही है कि स्थानीय शासन की नीति मे सभी गभीर परिवर्तन केंद्रीय सरकार के अधिकारियो द्वारा किये जाते हैं और वे ही उन की मजूरी देते हैं। और ऐसा कभी कबाद ही होता है कि कोई आसाधारण व्यक्ति नवीनता ला सके जैसे कि लियोन्स में मोस्यो हेरियो के प्रसिद्ध प्रशासन में हुआ था। परन्तु साधारणतया फ्रास में स्थानीय जीवन पर राजनीति का प्रभाव नही पडता और ऐसा महसूस किया जाता है कि समुचित रूप से एक जैसी व्यवस्था बनाए रखने के लिए वर्त्तमान केन्द्रीकरण जरूरी है। ऐसी बात नही है कि इस के जो परिणाम होते हैं उन पर विरोध प्रकट नही किया जाता। फ्रास में प्रादेशिकता का साहित्य अधिकतर उस विद्रोह का साहित्य है जो केंद्रीय सरकार द्वारा प्रातो पर लागू की जाने वाली जर्जर व्यवस्था के विरुद्ध हुआ है। और वहाँ यह कहा जाता है कि जब तक स्थानीय अधिकारियो द्वारा वास्तविक शक्तियां अपने हाथ में लेना सभव न बना दिया जाय तब तक केन्द्रीय सत्ता न केवल स्थानीय पहलकदमी का गला घोटती रहेगी बल्कि स्थानीय ज्ञान और दिलचस्पी का वह स्रोत भी बन्द हो जायगा जिस के बिना वह अपने कृत्य नही कर

सकती ।[1]

सच तो यह है कि किसी भी राज्य में स्थानीय शासन की सुदृढ व्यवस्था की आवश्यकता इतनी स्पष्ट है कि इस पर वाद-विवाद की जरूरत नही । हम लोकतन्त्रात्मक सरकार से तब तक लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि हम प्रारम्भ में ही यह नही मान लते कि सभी समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नही होती । और साथ में यह भी मानना पडेगा कि जो समस्याएँ केन्द्र की समस्याएँ नही है उन के बारे में निर्णय उसी स्थान पर होना चाहिए जहाँ पर और उन लोगों द्वारा होना चाहिए जिन पर उनका प्रभाव पडता है। इसका मतलब यह है कि किसी विशेष क्षेत्र के निवासियो मे साझे प्रयोजनो और आवश्यकताओ की चेतना रहती है जिस के आधार पर वे अन्य क्षेत्रो के निवासियो से भिन्न कहे जाते है । लदन का निवासी होने के नाते मैं लदन की जल-व्यवस्था और सावजनिक पुस्तकालयो में गहरी दिलचस्पी रखता हूँ और ६० लाख दूसरे नागरिको को भी इन मामलो में मेरी ही तरह दिलचस्पी है । परन्तु यदि हम यह सुनें कि माचेस्टर में जल-व्यवस्था बहुत महँगी पडती है या यह कि ससेक्स के नागरिको को नवीनतम पुस्तकें नही मिलेंगी तो मुझे या उन साठ लाख नागरिको को कोई कठिनाई महसूस नही होती । दूसरे शब्दो में, पडौसी होने के नाते, हम अपने आप उन हितो के प्रति सजग हो जाते है जिन का हम पर दूसरे लोगो की अपेक्षा अधिक प्रभाव पडता है । हम देखते है कि परिमाण और स्वरूप में वे हित अन्य स्थानो के हितो से भिन्न होते है । हम यह देखते है कि आपस में सलाह से हम उन हितो में सतोष का ऐसा गुण लाने का प्रयत्न कर सकते है जिससे हमें इस दशा से कही अधिक सान्त्वना मिलती है जब कि बाहर के लोगो ने वह गुण दिया हो । यह इसलिए कि बाहर वालो के प्रशासन में उस स्फूर्त्तिदायक योग्यता का अभाव होता है जिस के कारण वह स्थानीय लोगों की राय के अनुसार काम कर सके। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्रशासन को उन विचारो और भावनाओ के बारे में अनभिज्ञता रहती है जिन का जानना वास्तव में प्रशासन की सफलता के लिए आवश्यक है। और अनिवार्य रूप से निश्चय ही ऐसा प्रशासन विविधिता की बजाय एकरूपता लाने का प्रयत्न करता है। यह लिवरपूल की विशेष आवश्यकताओ की पूर्त्ति का प्रयत्न नही करेगा, बल्कि उन आवश्यकताओ को पूरा करने की चेष्टा करेगा जो हेयरफोड या लीसिस्टर की आवश्यकताओ जैसी है जिन की पूर्त्ति हाल ही में हुई है । दूसरे शब्दो मे यो कह लीजिए कि ऐसा प्रशासन किसी स्थान की विशेषता को नही समझ सकता । और फिर, चूँकि यह बाहर वालो का प्रशासन है, यह अपने नियन्त्रण के अधीन क्षेत्र के लोगो मे न तो दिलचस्पी पैदा कर सकता है और न जिम्मेदारी की भावना। इसके प्रति क्रोध तो उत्पन्न हो सकता है परन्तु इसे नागरिको का रचनात्मक समथन प्राप्त नही हो सकता । हो सकता है कि यह ठीक नियत से और कुशलता से समस्याओ के हल करने की चेष्टा करे । परन्तु उन से उस क्षेत्र के लोगो में यह इच्छा उत्पन्न नही होती कि वे इन समस्याओ के हल में सक्रिय रूप से योग देकर इनका अच्छे से अच्छा परिणाम निकलने में सहायता दें ।

इसके अतिरिक्त, इस बात के और भी कारण हैं कि सुदढ स्थानीय शासन का होना

---

१ देखिए चार्ल्स ब्रुक की ले रीजनिल्स्मे

लाभदायक है। यदि कोई सेवा किसी विशेष जिले के लाभ के लिए ही चलाई जाती है तो स्पष्टतया यह उचित ही है कि उसका मूल्य उस जिले के निवासी दें। उन से इस सेवा का मूल्य चुकाने के लिए धन लेने का मतलब निश्चय ही यह है कि सेवा का नियन्त्रण अपने हाथ में लेने की माँग करेंगे और इस बात की सभावना भी है कि वे इस की लागत कम से कम रखने के लिए इसका प्रबध कुशलता से चलायेंगे, और यह बात भी स्पष्ट ही है कि हम किसी साधारण व्यक्ति से यह आशा नही कर सकते कि यदि सरकार के साथ उसका सबध केवल इतना है कि प्रत्येक चार या पाँच वर्षों के बाद वह राष्ट्रीय चुनाव में वोट डाल दे तो वह अपनी नागरिकता को किसी प्रकार रचनात्मक बना सकेगा। सरकार के साथ उसका सबध अधिक प्रत्यक्ष बनाना चाहिए नही तो राजनीतिक प्रक्रिया मे उस की दिलचस्पी लुप्त हो जायगी। और यह तो मूल बात है कि नागरिक जितने अधिक निष्क्रिय होगे, राज्य में भ्रष्टाचार और खतरनाक विशेषाधिकारो का उतना ही बोलबाला रहेगा। जो आदमी यह समझता है कि जिस गली में वह रहता है उसमें ईंटें ठीक से नही लगी हुई, क्योकि उस की दृष्टि में और प्रभाव के अधीन होने वाले व्यक्तियो का समूह कार्यकुशल नहीं है, उसे उन हितो की शृखला की अनुभूति होने लगती है जिन से उस का सबध है। दूसरे शब्दो मे, स्थानीय शासन सरकार के किसी भी अन्य अग से अपेक्षाकृत अधिक शैक्षिक महत्व रखता है। और इस बात को याद रखना चाहिए कि नागरिको को उन लोगो के सपर्क में लाने का और कोई तरीका नही है जोकि निर्णय करने के लिए जिम्मेदार हैं। यह स्पष्ट है कि अधिक केन्द्रीयकरण का मतलब यही हो सकता है और होगा कि नौकर-शाही की व्यवस्था स्थापित हो जायगी। ससार की कोई भी विधान-सभा, चाहे वह कितनी ही सत्ता-लोलुप क्यो न हो, स्थानीय समस्याओ की मोटी रूप रेखा के आधार पर निर्णय करने के अतिरिक्त और कुछ नही कर सकती। उनके ब्यौरे को लागू करना विभागो पर छोड दिया जायगा। इसलिए उन पर नियुक्त किये गये अधिकारियो का प्रभुत्व रहेगा और उन तक जनसाधारण की पहुँच वास्तव में कभी नही हो सकेगी। यह इसलिए कि उन के विरुद्ध शिकायतो की जाँच सामान्य तौर पर ही की जा सकती है और इसका परिणाम यह होगा कि सामान्य रूप में नया निर्णय किया जायगा जिसे लागू करने वाले वे ही अधिकारी होगे और निस्सदेह इस निर्णय के परिणाम भी पहले जैसे ही होगे।

इसमें सदेह नही कि स्थानीय क्षेत्रवार दलो को शक्तियाँ देने में बडा खतरा है। एकरूपता रखने में सामान्यतया कम खर्च बैठता है क्योकि विविध प्रकार के हल निकाल कर उन्हें टुकडे टुकडे कर के लागू करने की बजाय एक ही हल निकाल कर उसे बडे पैमाने पर लागू करना लगभग हमेशा आसान रहता है। इस में फिर यह बात भी है कि स्थानीय सत्ता की अपेक्षा केन्द्रीय सत्ता के पास अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान और सामर्थ्य का होना अनिवार्य है और इस ज्ञान और सामर्थ्य की कुछ कुरबानी करनी पडेगी। स्थानीय व्यवस्थाओ में प्रभावशाली व्यक्तियो या निकायो का खतरनाक प्रभाव होने की भी आशका बनी रहती है। अमरीका के नगरो बल्कि राज्यो में भी जो कुछ हुआ है उस से हमें शिक्षा लेनी चाहिए। और साथ ही हमें इस सत्य के परिणाम को भी नही भूलना चाहिए कि शक्ति प्रदान करना वास्तव में शक्ति प्रदान करना ही है। सभव है

कि आप किसी स्थानीय निकाय को अपने शक्तियो के समुचित उपयोग के लिए तैयार न कर सके। सभव है कि कोई पिछडा हुआ निगम अपनी सेवाओ की लागत घटाने के अतिरिक्त और किसी उद्दीपन से प्रोत्साहित न हो। उदाहरण के लिए, सभव है कि यह इगलैड की कुछ कौटीज की तरह सावजनिक पुस्तकालय अधिनियम से लाभ उठाने से इनकार कर दे और या अमरीका में स्थित जार्जिया की तरह बच्चो से मजदूरी कराने की व्यवस्था के उन्मूलन के विरुद्ध अडा रहे। सभी जानते है कि हमें किसी ग्रामीण समुदाय को अपने बच्चो की शिक्षा के लिए समुचित धनराशि रखने के लिए राज़ी करने में कितनी कठिनाई होती है। यह तो मानना पडेगा कि कई बातो में स्थानीय शासन की स्थापना अपने मामलो की डोर भाग्य पर छोड देने के बराबर होता है। यह इसलिए कि सभव है कोई पिछडा हुआ समुदाय प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी हो और ऐसे समुदाय को नवीन ढाचे को अपनाने पर विवश करने का परिणाम शायद ही कभी सतोषजनक होता हो। साधारणतया इस में इस बात की उपेक्षा की जाती है कि जनमत को धीरे-धीरे सिखाना है जो कि वास्तविक स्वतन्त्रता का मूल है और किसी भी सविधि से अधिक महत्त्वपूर्ण है चाहे इसे लागू करने का समर्थन करने वालो को इस की आवश्यकता कितनी ही अधिक क्यो न जान पडती हो।

स्थानीय शासन मे कोई समस्या इतनी कठिन नही होती जितनी कि यह कि स्थानीय शासन के क्षेत्रो की सीमाएँ निर्धारित की जाय। जिस किसी सिद्धात की सिफारिश की गयी है, वह कही न कही हमें धोखा दे जाता है। वैज्ञानिक खोज से ऐतिहासिक परम्परा की सीमाएँ पुरानी पड जाती है। नालियो और पानी की व्यवस्था जैसी आवश्यकताएँ परम्परा की आवश्यकता से कही अधिक दिखाई पडती है। भौगोलिक दृष्टिकोण से जो बातें ध्यान देने योग्य दीखती हैं अन्त में उनका महत्त्व कम ही रहता है, क्योकि पुल बना कर नदी को पाटा जा सकता है और एक सुरग बन जाने से प्रशासन की दृष्टि से किसी पहाडी का महत्त्व नही रहता। परिवहन के आधार पर क्षेत्र बनाने का विचार उन दिनो में तो ठीक था जब कि यातायात के साधनो की दृष्टि से हमारी सभ्यता रोमन सभ्यता से अधिक भिन्न नही थी, परन्तु रेलो और विमानो के फलस्वरूप सभव है कि ब्राइटन लदन की एक बस्ती बन जाय और न्यू हेवन न्यूयार्क का ही एक क्षेत्र बन जाय। मै समझता हूँ कि सब से अधिक सरल और व्यावहारिक साधन आबादी का घनत्व है। उदाहरण के लिए, आधुनिक नगरो के निवासियो के लिए पानी, बिजली और नालियो की ग्रामीण क्षेत्रो के निवासियो की अपेक्षा अधिक अच्छी व्यवस्था की आवश्यकता है। इस कारण सुविधा इसी बात में है कि नगर स्थानीय शासन का ठीक प्रकृत एकाग रहे। परन्तु इस की सीमाएँ अनिवाय रूप में एकतरफा आधार पर निर्धारित की जाती है क्योकि--एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए--ट्राम व्यवस्था नगर को आसपास के ग्रामीण ज़िलो से मिला देती है। यही नही, इस के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि बिजली की व्यवस्था जैसी सेवा के लिए बचत के दृष्टिकोण से, गलियो में ईंटें लगाने की अपेक्षा अधिक बडा क्षेत्र जरूरी है। और शासन की एक समुचित इकाई मे अपने विशेष कृत्यो के अनुसार क्षेत्रो का मिलाना एक कठिन समस्या है। मैं समझता हूँ कि हम केवल यह कह सकते है कि प्रत्येक क्षेत्र मे

चाहे वह शहरी क्षत्र हो या ग्रामीण क्षेत्र, विभिन्न कृत्यो के सम्मिश्रण के आधार पर आयोजन की आवश्यकता है और यह भी जरूरी है कि प्रशासन का ढग ऐसा हो कि विभिन्न क्षेत्रो के बीच अपने सयुक्त हितो की साधना के लिए परस्पर सहयोग के लिए सदा स्थान रहे।

इसका मतलब यह हुआ कि क्षेत्र का निर्माण कृत्य के आधार पर हो और साथ ही ऐसी व्यवस्था की जाय कि पडोसियो के प्रत्येक समूह के विशेष परिवेश की आवश्यकताओ और सभावनाओ के आधार पर उनके विशेष हितो को बनाए रखने का अवसर मिले। स्पष्ट ही है कि उस में दो बातें आ जाती हैं। पहले तो इसका मतलब यह है कि जिन सामान्य सिद्धातो के आधार पर विभिन्न स्थानीय परिस्थितियो का प्रबध किया जाता है उन के लिए जिम्मेदार लोगो का चुनाव होना चाहिए न कि यह कि उनकी नियुक्ति हो। और दूसरे इसका मतलब यह है कि इस प्रकार चुन गये लोग उन सेवाओ के सम्मिश्रण की देख-भाल करें जिन का सम्बन्ध प्रत्येक स्थानीय क्षत्र से है। इससे वे ही व्यक्ति उन निकायो में जा सकेंगे जो किसी कृत्य विशष से सम्बद्ध है और जो उनके चनाव क्षेत्र के लिए हैं। उदाहरण के लिए, सभवत वे गलियो मे ईंटे लगाने और उन की सफाई की सेवाओ पर उन क्षेत्रो में नियत्रण रखेंगे जहाँ किसी छोटे से इलाके मे इनका प्रबध करना हो और जो कुशलता और बचत के साथ किया जा सके। और जहाँ कृत्यो की व्यवस्था इतने बडे क्षेत्र में होनी हो जो स्थानीयता के सिद्धातो से भी बढ कर हो, वहाँ बिजली, विश्वविद्यालय शिक्षा, खेल कूद की सुविधाओ की व्यवस्था और नगर आयोजन जैसी सेवाओ पर उनका नियत्रण अशत ही रहेगा। परन्तु चुने गये व्यक्ति में उसे चुनने वालो की दिलचस्पी इस बात से बनी रहेगी कि उनका चुना हुआ प्रतिनिधि सम्बद्ध विषय से सरोकार रखने वाले किसी भी निकाय का सदस्य हो सकेगा और तदनुसार उन के पास अपनी राय प्रकट करने का साधन बना रहेगा। तब नगरो को निर्वाचन जिलो में बाँटा जा सकेगा जो इतने छोटे होंगे कि चुनने वालो और उन के प्रतिनिधियो के बीच समुचित सम्पर्क बना रहे परन्तु इतने इतने छोटे नही होंगे कि प्रबध चलाने वाली नगर-पालिका का निकाय इतना बडा हो जाय कि वह कुशलतापूर्वक काम चलाने के लिए उपयुक्त न हो। इस बात को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण जिलो में यह आवश्यक हो जायगा कि छोटे-छोटे गाँवो को ऐसी इकाइयो मे सगठित किया जाय जिन का स्वरूप तो नगरो के चुनाव जिलो जैसा ही हो परन्तु जिन की जनसख्या कम हो जैसा कि अवश्य ही होगा। और ये इकाइयाँ मिल कर इतना बडा क्षेत्र बना देंगी कि स्थानीय शासन के सबध मे ग्रामीण जीवन से उत्पन्न होने वाली समस्याओ को सुलझाया जा सकेगा। इस प्रकार निर्धारित प्रत्येक चुनाव जिले का प्रतिनिधि स्थानीय महत्त्व के किसी कृत्य का प्रबध चलाने वाले निकाय में उस जिले के सदस्य की हैसियत से रहेगा। उदाहरण के लिए, वह उन सभी सेवाओ के लिए, जिन में माचेस्टर, शासन की प्रकृत और साधारण इकाई है, माचेस्टर की नगर परिषद् के सदस्य के रूप में रहेगा और इसकी बिजली के सभरण के सबध में उत्तरी इगलैंड की परिषद् के सदस्य के रूप में रहेगा।

ऐसी योजना में क्या बातें निहित हैं? मै समझता हूँ कि पहली बात तो यह है कि

यह आशा नही की जा सकती कि वे उस आय व्ययक को व्यवस्थित दृष्टि से देखें जिस से वे सबद्ध हैं। इस से चुनाव अनिश्चत रूप से होते ही चले जाते है और यह ऐसी स्थिति है जिस का परिणाम सदा यह होता है कि चुनने वालो में उपेक्षा की भावना आ जाती है जैसा कि अमरीका के अनुभव से स्पष्ट है। उन्हें मालूम रहता है कि आम तौर पर जोन्स सक्षम व्यक्ति है परन्तु वे अन्त्येष्टि बोर्डों, पुस्तकालयो, राजपथो और स्कूलो के दृष्टि-कोण से उसकी सक्षमता के सबध में ठीक ठीक अनुमान नही लगा सकते। और ऐसी व्यवस्था का परिणाम सदा यह होता है कि ऐसे लोग उम्मीदार बनते हैं जो प्रशासन के गुणो के लिए सामान्यतया उतने चिन्तित नही होते जितने कि इसके किसी विशेष पहलू में दिलचस्पी रखते हैं। उदाहरण के लिए, इगलैड मे स्कूलो के बोर्डों की व्यवस्था का परिणाम यह हुआ है कि उन में शिक्षा में दिलचस्पी रखने वाले उतने लोग नही चुने गये जितने कि धार्मिक सस्थाओ या रोमन कैथोलिक स्कूलो को बनाए रखने में दिलचस्पी लेने वाले सदस्य। उन की दिलचस्पी या तो इस बात में थी कि पाठ्य-क्रमो मे धार्मिक ग्रथो की पढाई शामिल हो या इस बात म कि उनकी पढाई न की जाय। और जब अधिक बडे हितो के कारण स्कूल बोर्ड का कायक्षेत्र बढ गया तो यह देखा गया कि वह क्षेत्र उसकी सक्षमता से बाहर का क्षेत्र था। इस सुझाव पर—कि इस कठिनाई का सामना तदर्थ निकाय की सयुक्त बैठकें बुलाकर किया जा सकता है—भी आपत्ति की जा सकती है जो कि मि० और मिसेज़ वेब की इस योजना पर कि दो ससदें हो। यह इसलिए कि या तो, स्वास्थ्य और शिक्षा सबधी आयोगो के सबध में, एक सयुक्त समिति होगी जिस के हाथ में वास्तविक शक्ति होगी, और या, सिद्धात सबधी सभी मुख्य प्रश्नो के सबध में दोनो आयोग एक इकाई के रूप में काम करेंगे।

तीसरी बात यह है कि व्यापक सक्षमता वाले ऐसे निकायो के सदस्यो का चुनाव प्रत्यक्ष होना चाहिए न कि अप्रत्यक्ष। सिद्धात का ठोस अनुभव से भी उतना ही सबध है जितना कि कोरे सिद्धात से। एक ही तरीका है जिस से हम ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि नीति बनाने वाल निकायो पर निरन्तर लोकतन्त्रात्मक नियन्त्रण रहे और वह यह है कि चुनने वालो और उनके प्रतिनिधियो के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क रहे, क्योकि यदि ऐसा न हो तो उन मे दूरी आ जाना अनिवाय है, जिस के कारण नीति के निर्माण में सार्वजनिक दिलचस्पी कम हो जाती है। दूसरे शब्दो में, इसका परिणाम यह है कि प्रतिनिधि व्यवस्था का शैक्षिक महत्त्व कम हो जाता है। जो कुछ किया जा रहा है उसके महत्त्व के सबध में लोगो को जानकारी होने की सभावना कम है क्योकि वे प्रत्यक्ष रूप में यह नही जान सकते कि जो कुछ किया गया है उसमें कहाँ तक सफलता मिली है। ऐसी सादगी नही रहती कि वे जिस बात को नापसन्द करते हो उसकी ज़िम्मेदारी फौरन ही किसी पर डाल सकें। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से चुने गये निकाय में दो और ख़तरे है। लगभग अनिवार्य रूप से इसका रुझान नौकरशाही की ओर रहता है। चूँकि इस पर जनमत का बधन नही रहता यह जनमत के महत्त्व को नही समझ सकता। चूँकि यह सार्वजनिक नियन्त्रण से दूर रहता है, इसलिए यह सार्वजनिक नियन्त्रण को पसन्द नही करता। और फिर यह भी स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष चुनावो की व्यवस्था से वे सभी त्रुटियाँ बढ़ जायेंगी जो बहुमत-राज

में रहती है। इस में उन निकायो की समूची राय प्रतिध्वनित नही होगी बल्कि प्रभुत्व-शाली समूह की राय आयगी और जहा—जैसा कि अमरीका और कैनेडा में बहुधा होता होता है—प्रभुत्वशाली समूह की राय धार्मिक रग में हुई हो, नीति के निर्माण में बहुत बुरे विकार आ जाते हैं। और अन्त में, इस व्यवस्था के अधीन इस निकाय की कार्यवाही का समुचित प्रचार करने का प्रबध करना बहुत कठिन हो जाता है। इगलैंड में बोरो और कौंटी की परिषदो के काम क सम्बन्धमें हम बहुत कुछ सुनते हैं परन्तु स्कूलो का प्रबन्ध चलाने के लिए उन की सयुक्त समितियो के सबध में हमें कुछ पता नही चलता। और जहाँ कही यह प्रबध कुशलता हो भी तो उसका कारण यह होता है कि प्रबध की नीति समितिके बाहर किसी के हाथ में है। जो कुछ किया जा रहा है उस में जनता की दिलचस्पी की बलि देकर कार्यकुशलता की व्यवस्था कर भी ली जाय तो भी उस से कुछ लाभ नही होता।

यह तो स्पष्ट ही है कि केन्द्रीय सरकार के पास यह शक्ति अवश्य रहनी चाहिए कि वह सामान्यतया स्थानीय सत्ता के काम पर नियत्रण रख सके। वह शक्ति, कहाँ तक होनी चाहिए? सब से पहली बात तो यह स्पष्ट है कि कई ऐसे विषय हैं कि जिन में किए जाने वाले कम से कम काम के एक से मानक लागू किये जाने चाहिएँ। स्थान य सकल्पना चाहे कुछ ही क्यो न हो शिक्षा, स्वास्थ्य और मकानो की व्यवस्था के सबध में राज्य के लिए यह सभव नही कि वह उस के मानको को इतना गिर जाने दे कि वे नागरिको के अधिकारो की पूर्ति के अनुरूप न रहे। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि विधान सभा इन मानको की परिभाषा करे, और चाहे उन का प्रवर्त्तन स्थानीय निकायो के सहयोग से करने की व्यवस्था हो, निरीक्षण करने, और आवश्यक हो, तो नियत्रण रखने की शक्ति स्थानीय निकायो को नही दी जा सकती। यह भी स्पष्ट ही है कि सामाजिक आवश्यकता में परिवर्त्तन होते रहने के कारण उन स्रोतो में, जहाँ से शक्ति का प्रयोग किया जाता है और उस क्षेत्र में जहाँ वह शक्ति, प्रयोग में लाई जाती है, निरन्तर परिवर्त्तन करना पडेगा। और यह आवश्यक है कि आवश्यक परिवर्त्तन करने के लिए चरम सत्ता विधान सभा को दी जाय। तीसरे कुछ ऐसे विषय है जिन पर स्थानीय निकायो का कोई भी नियत्रण नही रहना चाहिए। निस्सदेह वे इस योग्य नही होने चाहिए कि राज्य के विधान के प्रयोजनो का प्रभाव कम कर सके, सिवाए उस हद तक, जिस तक कि इस सबध में निश्चित रूप में व्यवस्था की गयी हो। उन्हें रेलो और डाक सेवा जैसे विषयो के लिए, जो स्पष्टतया केन्द्रीय स्वरूप वाले है, विनियम बनाने की अनुमति नही होनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि कराधान की शक्तियो की परिभाषा भी कडाई से की जानी चाहिए हालाँकि स्थानीय कराधान के सबध में जर्मनी और फ्रास मे जो अनुभव हुआ है, उसके फलस्वरूप हमें इस शक्ति की सीमाएँ निर्धारित करने में सावधानी से काम लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह सदा वाछनीय है कि केन्द्रीय सरकार के पास यह अधिकार रहे कि वह इन निकायो से रिपोर्ट माँग सके और इनका निरीक्षण कर सके। यह अधिकार उस विषय के सबध में भी होना चाहिए जिस पर नियत्रण पूरी तरह स्थानीय स्वरूप का है। यह इस-लिए कि यह स्पष्ट ही है कि केन्द्रीय सरकार अन्वेषण के सामान्य कर्त्तव्य को तिलाजलि नही दे सकती। वह अधिकतर स्थानीय निकायो की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण से अनुभव

का सर्वेक्षण कर सकती है, तरीको की तुलना कर सकती है और प्रयोग करने का सुझाव दे सकती है। सामान्यत यह परिणामो की व्याख्या करने मे अधिक विवेक से काम लेगी और प्रक्षपात कम करेगी। मै समझता हूँ कि इगलैड की तरह एक अलग मत्रालय की जरूरत नही है जिसे स्थानीय शासन की देखभाल का विशिष्ट कत्तव्य सौपा जाय। अच्छा तो यह है कि प्रत्येक कृत्य का नियत्रण उस विभाग के हाथ में रहे, जिस के कार्यक्षेत्र में वह आता हो। यह इसलिए कि, ऐसे मत्रालय को जिसे सामान्य शक्तियाँ प्राप्त हो अनिवाय रूप से यह प्रलोभन रहता है कि वह अपन अधिकार-क्षेत्र को और व्यापक बना लें। यह अपने को उन विषयो के सबध मे दूसरो को शिक्षा दने लगेगा जिन पर वास्तव मे उस का नियत्रण नही है। उसे ऐसे कामो पर चिन्ता रहेगी जो एकरूपता से अलग हो जिस के कारण उस का काम सरल बन जाता है। उसे ऐसे प्रयोगो के सबध में सदेह रहेगा जो उसने स्वय शुरू न किए हो। सक्षमता के न्यूनतम स्तर को छोड केन्द्र द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप जितना कम हो स्थानीय निकाय उतनी ही अच्छी तरह काम कर सकेंगे।

मै समझता हूँ कि इस के लिए स्थानीय निकायो को उस से कही अधिक शक्तियाँ देनी पडेगी जो कि आज तक उन्हें एग्लो-सैक्सन देशो मे दी जाती है। उन देशो में यह नियम रहा है कि किसी ऐसी शक्ति का प्रयोग नही किया जा सकता जिस के लिए सविधि में विशिष्ट अध्याभूति न दी गयी हो। इसलिए सविधि के क्षेत्र से बाहर का कोई भी प्रयोग स्थानीय निकायो द्वारा किया गया है तो उसके लिए विधानाग से अनुमति दने की प्रार्थना करनी पडी है। केवल यही नही कि इस प्रकार की प्रार्थना का फल देर मे निकलता है बल्कि इस पर खच भी बहुत अधिक होता है। १८९७ से १९१३ तक, ससद के प्रत्येक अधिनियम के लिए लीड्स नगर को लगभग ७,००० पाउड का खर्चा बैठा। १९०१ से प्रारम्भ होकर पाँच वर्षों में, लदन के २८ बोरो को विधान बनाने पर लगभग सत्तर हजार पाउड का व्यय करना पडा। और १९०३ से लेकर तीन वर्षों में लदन की कौटी परिषद् ने विधेयको के समर्थन और विरोध पर एक लाख पाउड से अधिक खर्च किया। स्पष्ट ही है कि विधात बनाने के लिए बहुत खर्च करना पडता है और विधान बनने से रोकने के लिए, इस पर होने वाले खर्च से बढ कर और कोई बात नही है जो इसे रोक सकती हो। उदाहरण के लिए, यदि लीड्स को यह मालूम करने के लिए सात हजार पाउड खर्च करने पडें कि उसकी नगरपालिका का नाटक मडप हो सकता है या नही तो अधिक सभावना इस बात की है कि वह ऐसा नाटक मडप बनवाएगा ही नही।

इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि स्थानीय शासन और केंद्रीय सरकार के बीच परस्पर सबध उसी नमूने के आधार पर होने चाहिएँ जैसे कि अमरीका के सघ में केन्द्रीय सरकार और राज्यो के बीच है। वहाँ सुरक्षित शक्तियाँ सघानीय प्राधिकारियो के हाथ में है और अवशेष शक्तियाँ राज्यो के नियत्रण के अधीन आती हैं, तो इसी प्रकार उन शक्तियो का प्रयोग स्थानीय सत्ता द्वारा हो सकना चाहिएँ जिन के प्रयोग की मनाही स्पष्ट रूप से न की गयी हो। मै समझता हूँ कि इन शक्तियो के दुरुपयोग को रोकने के लिए समुचित सुरक्षणो की व्यवस्था करना आसान होगा। जन-निर्देश की व्यवस्था की जा सकती है। उदाहरण के लिए, मानचेस्टर के नागरिक जनमत प्रकट करके नगरपालिका द्वारा रगशाला

के निर्माण को रोक सकत है। ऐसा हो सकता है कि सभी योजनाओ का स्वरूप अस्थायी आदेशो जैसा हो, जो विधान सभा के सामने रखने पड़ें और यदि विधान सभा सकल्प द्वारा प्रस्तावित योजना को अस्वीकार कर दे तो वे आदेश लागू न हो। साथ मे यह भी किया जा सकता है कि समुचित विभाग का यह कत्तव्य बना दिया जाय कि वह विधान सभा के पटल पर उस अस्थायी आदेश के साथ एक ज्ञापन भी रखे जिस में प्रस्तावित योजना पर, विशेषकर, उसके वित्तीय पहलू पर आलोचनात्मक ढग से प्रकाश डाला गया हो। साथ में यह भी कह देना चाहिए कि ऐसे मामलो में इस प्रकार मजूरी लेना जरूरी नही होना चाहिए जहाँ विधान द्वारा शक्तियो के प्रयोग की शक्ति पहले से ही दे दी गयी हो। उदाहरण के लिए, यदि माचेस्टर यह निणय करे कि स्कूल छोडने की आयु बढा कर १६ वर्ष कर दी जाय, तो उसकी अनुमति देना आवश्यक होने की बजाय उसे बधाई देनी चाहिए। और, विवेक की सीमाओ के अन्तगत रहते हुए यह सभव होना चाहिए कि ऐसे प्रयोग के साथ साथ वित्तीय पहलू में नवीन बाते लागू की जा सके। यदि किसी बस्ती के लोग किसी विशेष उद्देश्य के लिए कोई विशेष दर बढाना चाहते हो तो उन्हें ऐसा करने की अनुमति होनी चाहिए और उदाहरण के लिए यदि वे स्थानीय भूमि के मूल्यो पर कर लगाकर ऐसे विशेष प्रयोजन के लिए धन जुटाना चाहें तो उस की भी अनुमति होनी चाहिए। कोनिसबर्ग में १८९३ मे सामुदायिक कराधान विधि बनी थी जिस के अन्तर्गत सपत्ति के स्वामियो से ऐसे विशेष अशदान लिए जा सकते थे जिन्हें गलियाँ चौडी करने, गन्दी बस्तियाँ साफ करने, पार्कों तथा खुले मैदानो की व्यवथा करने जैसे सार्वजनिक कामो के फलस्वरूप आर्थिक लाभ हुए हो। ऐसे कानूनो का निश्चय ही बहुत महत्त्व है।

यह धारणा कि अवशिष्ट शक्तियाँ, ऊपर बताई गयी सीमाओ के अधीन रहते हुए, स्थानीय अधिकारियो को दी जानी चाहिएँ सोची समझी बात है। पिछले पचास वर्षों में जर्मनी में नगरपालिकाओ की सफलता का श्रेय इसी बात को है। जो लोग एग्लो-सेक्सन व्यवस्था की सीमाओ के अभ्यस्त हो चुके है उन्हें जर्मनी की स्थानीय सत्ता की शक्तियो की व्यापकता पर आश्चय होगा। प्रशिया के सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय के एक निर्णय मे कहा गया है[1]—"ग्रामीण समुदाय मडल, जो अपने ससाधनो का उपयोग करता है, यह दावा कर सकता है कि प्रत्येक ऐसी बात उसके अधिकार क्षेत्र में है जिस से सारे समुदाय का कल्याण होता हो और नागरिको के भौतिक हितो और बौद्धिक प्रगति का सम्बर्धन होता हो। यह अपनी सकल्पना से सभी के कल्याण के लिए कोई सी ऐसी सस्थाएँ स्थापित कर सकता है या उसका प्रबध कर सकता है जिस से ये प्रयोजन पूरे होते हो। इसे अपने नागरिको के नैतिक तथा आर्थिक हितो का सम्बर्धन करने और इस प्रयोजन के लिए उपलब्ध ससाधनो का उपयोग करने का सामान्य अधिकार प्राप्त है। परन्तु इसे इस परि-सीमन के अधीन रहना पडता है—जिस का उल्लघन कर के किये गये सभी काम शक्ति-परस्तात् होगे—कि यह और इस के अग स्थानीय हितो की देखभाल तक ही अपना काम

[1] सितम्बर, १९५६ का निर्णय, और इस सम्बन्ध में टिप्पणी के लिए हर कार्लमान की पुस्तक वेरफासुग अड वेरवाल्तुगसोर्गेनीजेशन देर स्टाइट, खड १, पृष्ठ ५५।

सीमित रखें।" इन्ही शक्तियो के अन्तर्गत जर्मनी के नगरो ने किसी विधायिनी सत्ता का सहारा लिये बिना, अपने नाटक मडप बनाए हैं, ट्रामवे बनाए हैं, नगरपालिकाओ की ओर से व्यापार प्रारम्भ किया है, स्कूलो के लिए डाक्टरी सेवा और स्कूली बच्चो के लिए खाने की व्यवस्था की है, सगीत, नाटक, विद्या आदि का सम्वर्धन किया है, क्षय रोगियो के लिए औषधालय खोले हैं, नगरपालिकाओ के बचत-बैक खोले हैं, मकानो के बनाने की व्यवस्था की है, औरस सतानो के प्रतिपालन का प्रबध किया है, कानूनी सलाह देने वाले कार्यालय खोले हैं और बेकारी तथा आग का बीमा प्रारम्भ किया है। जर्मनी के नगरो के सबध में एक प्रसिद्ध विद्वान ने लिखा है कि जर्मनी के नगर आज बौद्धिक, आर्थिक और सामाजिक उन्नति के क्षेत्र में सबके अग्रयायी है।

इस व्यवस्था का विशेष महत्त्व तीन बातो में है। इससे सामाजिक मामलो में महत्त्वपूर्ण प्रयोग करने का साधन मिल जाता है और साथ ही प्रयोग का आवश्यक क्षेत्र सीमित रहता है जो कि इसकी असफलता का कारण बन सकता है। इसलिए इसमें वह बडा लाभ रहता है जो कि किसी सधानीय व्यवस्था में होता है अर्थात् स्थानीय पहलकदमी को बढावा मिलता है और साथ ही सारे समुदाय के लिए उस पहलकदमी का खर्चा कम बैठता है। दूसरी बात यह है कि इस व्यवस्था का केन्द्रीय विधान-सभा पर स्थानीय मामलों के कारण कम बोझ पडता है, मैं तो यह समझता हूँ कि अधीनस्थ ससदो पर जिम्मेदारी डालने की व्यवस्था में जो लाभ बताये जाते हैं, वे बडी आसानी से इस तरीके से हो सकते हैं। इसमें यह और लाभ है कि इसमें सस्थाओ का सगठन और सरल होता है। इसके अतिरिक्त इससे ऐसा साधन मिल जाता है, जिससे और कार्यों की सफलता पर स्थानीय जनता को गर्व करने का प्रोत्साहन मिलता है और इसका निष्कर्ष यह भी है कि स्थानीय लोग प्रशासन के काम में उससे कही अधिक रचनात्मक ढग से भाग ले सकते हैं जितना कि आजकल सभव है। यदि नगरपालिका का आनुषगिक कार्यक्षेत्र अधिकतर स्थानीय जनता की सकल्पना पर निर्भर हो तो बहुत से ऐसे लोग नगरपालिका के कृत्यो में दिलचस्पी लेने लगेंगे जिन्हे गैस और पानी की व्यवस्था के मामलो में कभी कोई रुचि नही होती। उदाहरण के लिए जब यह सभव हो सके कि नाटक स्थानीय क्रिया कलाप का प्रकृत्त अग बन जाय तो यह मालूम होगा कि उस क्षेत्र के लोगो में बहुत से ऐसे हैं, जो अपनी सारी शक्तियो को इस काम में लगा सकते है और जब ऐसे लोग प्रारम्भ में नाटक तक ही अपने क्रिया-कलाप को सीमित रखते हैं तो शीघ्र ही वे यह देखेंगे कि स्थानीय नाटक मडप के समुचित प्रयोग के सबध में उन्हें स्कूलों में जाकर काम करना होगा और उसके बाद वे लोगो के घरो के सबध में भी कार्य करने लगेंगे।

अब तक मैंने, मुख्य रूप से राज्य के केन्द्रीय विभागो के दृष्टिकोण से ही स्थानीय शासन की समस्या की चर्चा की है। परन्तु मै समझता हूँ कि यह स्पष्ट ही है कि यहाँ जिस ढाचे की रूपरेखा बताई गई है, उसमें दो बातो की और भी गुजाइश है। इसके अगों का सबध एक ओर तो नागरिक के रूप में उपभोक्ता और दूसरी ओर प्राविधिक विशेषज्ञ के रूप में उत्पादक के साथ स्थापित करने की चेष्टा की जा सकती है। इस बात का कोई कारण नही है कि स्थानीय परिषद् के प्रत्येक क्रिया-कलाप के सबध में सलाह देन वाली समिति क्यो न हो। इस समिति में विभिन्न सबद्ध हितो के प्रतिनिधि होगे, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि

राष्ट्रीय निकाय में होते है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार की शिक्षा-समिति में अध्यापको, पढने वाले बच्चो, माता-पिता और स्कूलो के भूतपूर्व छात्रो के प्रतिनिधियो का होना स्वाभाविक ही है। यह इसलिए कि एक दिन इस बात को स्पष्ट समझ लिया जायेगा कि इगलैण्ड या अमरीका के प्राथमिक स्कूल को भी अपने पुराने छात्रो की सस्थाओ की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि ईटन या गिरटन को। और इन सथाओ के सदस्य इसी प्रकार अपनी एक परम्परा स्थापित करने और उसे बनाये रखने के इच्छुक होगे, जिस प्रकार कि सकुचित कार्य-क्षेत्र वाले विद्यालयो के पुराने छात्र चाहते हैं। मै समझता हूँ कि आधुनिक स्कूल क लिए यह बहुत लाभदायक होगा कि उसे छात्रो के जिन माता-पिता से वास्ता पडता है, उन्हे वह सगठित करे और अपने विकास में उनसे समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त करे। अध्यापको एव छात्रों के माता-पिता के परस्पर बौद्धिक सम्पर्क का परिणाम यही होगा कि माता-पिता शिक्षा-प्रणाली को भली प्रकार समझ पायेंगे। और जो लोग किसी स्थानीय शिक्षा नीति सबधी मत्रणा समिति में इन निकायो के प्रतिनिधि होगे वे अपने चुने हुए प्रतिनिधियो के उत्साह और उत्कठा को प्रोत्साहन दे सकेंगे। इसी प्रकार यदि परिषद् की स्वास्थ्य-समिति की मत्रणा-समिति—जिसमे डाक्टर और दातो के डाक्टर, नर्सें, और सफाई के दारोगे, कल्याण कार्य-कर्त्ता और वास्तुविद होगे—प्रबन्ध निकाय की नीति पर सदा निगरानी रखे तो वह वास्तव में बडा महत्त्वपूर्ण कार्य करने लगेगी। उसे चुनी हुई परिषद् को सुझाव देने, जाँच प्रारम्भ कराने और स्थानीय महत्त्व के मुख्य प्रश्नो के सबध में घोषणाएँ करने की शक्ति प्राप्त होगी। यदि कोई नगरपालिका निकाय अपने कृत्यो को भली प्रकार समझता है तो वह—उदाहरण के लिए—अपने पुस्तकालय सबधी काम में अध्यापको की सस्थाओ का सहयोग अवश्य लेगा और यदि उस नगर में विश्वविद्यालय हुआ तो वह उससे कहेगा कि वह पुस्तकालय सबधी काम में सहायता दे। नगरपालिका निकाय को स्थानीय समाचारपत्रो की सलाह के महत्त्व की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए। अपने क्रिया कलाप का समुचित प्रचार करना वास्तव में ज़रूरी काम है। जनता में उपेक्षा की भावना अधिकतर अज्ञान के कारण आती है और समाचारपत्रो का समुचित प्रयोग सबसे सीधा इलाज है।

ये चुने हुए प्रतिनिधि शासन के किस रूप का उपयोग करेंगे? यहा बहुत ही अलग-अलग समस्याएँ हैं। स्थानीय शासन का महत्त्वपूर्ण अग विशेषित प्रशासन है जिसमें सामान्य राय एक ओर तो मोटे तौर पर नीति के सबध में और दूसरी ओर वित्त-व्यवस्था के सबध में ही ठीक हो सकती है। इसी बात के कारण जर्मनी की नगरपालिका-व्यवस्था मे प्रशासन विशेषज्ञो द्वारा किया जाता है और चुने हुए प्रतिनिधियो का विशेष महत्त्व केवल सलाह देने के ही सबध मे है। वहाँ आदर्श यह रहा है कि स्थानीय प्रशासन की प्रत्येक शाखा ऐसे लोगो के साथ में हो जो निश्चय ही विशेषज्ञ हो और जो चुनी हुई परिषद् की अनुमति की प्रतीक्षा किये बिना और जनमत के दबाव मे आये बिना कार्य कुशलता लाने के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सके। व्यवहार-रूप में चुनी हुई परिषद् के साथ उनका सबध ब्रिटिश पार्लियामेंट के साथ सरकार के सबध से कुछ भिन्न नही होता। ससद आलोचना कर सकती है, जवाब माँग सकती है और कोई चारा न हो तो तो किसी कायवाही को रद्द कर सकती है परन्तु कोई काम कैसे करना चाहिए यह बताना तो मत्रिमडल का ही काम है। परन्तु

दूसरी ओर आग्ल-अमरीकी व्यवस्था में, चुने गये व्यक्ति के लिए, जो विशेषज्ञ नही होता, नीति के निर्माण के सबध में सभी शक्तियाँ होती है और इगलैण्ड के सविधान मे बादशाह की तरह विशेषज्ञ अधिकारी का काम तो केवल इतना है कि वह मत्रणा, प्रोत्साहन और चेतावनी देता रहे, परन्तु जो सलाह देने से आगे बढ कर शक्ति का आत्म-निर्णीत प्रयोग नही कर सकता। अमरीका में आयोगो द्वारा प्रशासन की व्यवस्था है। ऐसे आयोगो मे लगभग आधे दर्जन व्यक्ति होते है जो सारा समय विशेषज्ञ प्रशासक के काम पर निगरानी रखने में बिता देते हैं। ऐसा लगता है कि यह व्यवस्था इग्लैण्ड और जमनी के तरीकों के बीच का रास्ता है।[1]

मै समझता हूँ कि सब बातो को देखते हुए और यह मान कर कि चुने हुए प्रतिनिधि और विशेषज्ञ के बीच उचित प्रकार के सबध होगे, सभव है कि आग्ल-अमरीकी नमूना, जो इतने दिनो से चला आ रहा है, अधिक लाभदायक है। इसमे यह बात निश्चित हो जाती है कि सरकार और जनता की राय के बीच निरन्तर और प्रत्यक्ष सबध रहता है। इससे प्रशासन की समस्याओ को सुलझाने के लिए सदा नये विचारो के लोग मिलते रहते है। पेशेवर आदमियो के दृष्टिकोण में जो अनम्यता होती है, इससे वह समाप्त हो जाती है। और विशेषज्ञो में बहुधा जो यह मान लेने की आदत होती है कि प्रविधि के सबध मे उनके पास ऐसी क्षमता है, जिस पर आम व्यक्तियो की राय का कोई महत्त्व नही, उसका भी प्रतिकार हो जाता है। बिना प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियो द्वारा नियत्रण में जो खतरे रहते हैं मैं समझता हूँ कि उन्हे ऐसी व्यवस्था करके दूर किया जा सकता है कि विशेषज्ञो का समुचित उपयोग किया जाय और साथ ही स्थानीय शासन निकायो मे कार्य धीरे-धीरे पूरे समय का और वैतनिक कार्य बन जायेगा, जिससे बिना प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियो के लिए स्थान भी रहेगा जो कि कभी सक्षम नही बनते। इसमें सन्देह नहीं है कि चुने हुए सदस्य और विशेषज्ञ के बीच सबधो की परिभाषा नही की जा सकती, यह तो एक आदत कही जा सकती है या एक परम्परा जिसे देख कर आप पहिचान सकते हैं, परन्तु जो निश्चित रूप से कही नही जा सकती। हम जानते हैं कि यह प्रश्न मि० नपकिन्स और उसके क्लर्क के सबध का नही है, और इगलैण्ड में किसी नगरपालिका के क्लर्क के अत्यधिक प्रभाव का भी प्रश्न नही है जो कि कई बार दिखाई पडता है और जो ऐसे क्लर्क की विशेषता है। परन्तु जिसने भी इगलैण्ड की किसी नगरपालिका का काम देखा है, वह यह अवश्य जानता है कि कार्य-कुशल और अकुशल प्रशासन के बीच अन्तर इसी बात का है कि चने हुए व्यक्ति अधिकारियो का उपयोग रचनात्मक ढग से कर पाते है या नही।

यहाँ जिस ढाचे की कल्पना की गई है, हम उसे रचनात्मक बनाने का प्रबन्ध बडी आसानी से कर सकते है। स्थानीय प्रशासन मुख्यत समितियो द्वारा प्रशासित होता है और सबसे बढ कर वहा वह केन्द्र है, जहा अन्त में नीति का निर्धारण किया जाता है। मैं समझता

१ आयोग द्वारा प्रशासन के लिए देखिए प्रो० डबल्यू० बी० मुनरो की उत्कृष्ट पुस्तकें 'गवर्नमेन्ट आफ अमेरिकन सिटीज' और 'प्रिंसिपल्स एण्ड मैथड्स आफ म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन'

हूँ कि हम इन समितियो की सरचना का रूप इस प्रकार बदल सकते हैं कि उसमें ऐसा प्रबन्ध भी हो जाय, कि विशेषज्ञो की राय को पूरा महत्त्व दिया जाय। प्रत्येक समिति को इस बात के लिए विवश करना चाहिए कि उसके काम से जिन वृत्तियो का सबध है, वह उनके सदस्यो को अपने सहयोजित सदस्य बनाये। इसमें सदेह नही कि वृत्तियो के इन प्रतिनिधियो को वोट देने का अधिकार नही होगा परन्तु वे अपनी बात कह तो सकेंगे और वे इस बात का प्रबन्ध कर देंगे कि अधिकारियो को अपनी योजनाओ के विकास का पूरा पूरा अवसर मिले। इस प्रकार हमें चाहिए कि शिक्षा-समितियो मे अध्यापको, स्वास्थ्य समितियो में डाक्टरो, दातो के डाक्टरो और नर्सों, मकान निर्माण सबधी समितियो में वास्तुवदो, सर्वेक्षणकारो, और मकान बनाने वालो, वित्त समितियो में लेखापालो, और प्रतिष्ठान-समितियो मे स्थानीय व्यवसाय परिषद् और व्यापार मडल के प्रतिनिधियो को लें। मैं समझता हूँ कि ये प्रतिनिधि परिषद् को प्राविधिक व्यक्तियो की सक्षमता के महत्त्व का समुचित आभास करायेंगे। वे चुने हुए निकाय और उसकी मत्रणा समितियो के बीच एक महत्त्वपूर्ण श्रृखला का भी काम देंगे क्योकि वे यह मालूम कर सकेंगे—जो कि आजकल जनता के लिए सभव नही हैं—कि प्रशासन के रचनात्मक विचारो के अभाव की जिम्मेदारी किस पर है।" इस प्रकार का समर्थन जिस अधिकारी को प्राप्त होगा, यदि वह ऐसा प्रबन्ध न कर सके कि उसके विचारो पर समुचित ध्यान दिया जाय तो या तो वह इतना प्रतिभाशाली होगा कि अपने युग से आगे बढा हुआ होगा और लोग उसकी बातो को समझ नही सकते होगे और या अपने काम के लिए सुयोग्य नही होगा। यह इसलिए कि विशेषज्ञ के काम का यह भी महत्त्वपूण अग है कि वह अपने निस्कर्षों का महत्त्व स्पष्ट कर सके। स्थानीय शासन में कासाडरा[1] की तरह काम करना उसके कत्तव्यो मे नही आता।

स्थानीय शासन मे काम करने वालो और उन्हें काम पर लगाने वालो के परस्पर सबधो की चर्चा मैं बाद में करूँगा, क्योकि यह प्रश्न आर्थिक अधिक है और राजनीतिक कम। यहाँ इतना कह देना काफी है कि वृत्तियोके आत्म निर्णयके लिए आज की अपेक्षा बहुत अधिक स्थान होना चाहिए और जैसा कि इस अध्याय में पहले कहा गया है, केन्द्रीय सरकारकी सेना में नियुक्ति की समस्याओ पर जो बातें लागू होती है, वे स्थानीय शासन पर भी उतनी ही अधिक लागू होती हैं। एक विभिन्न परन्तु आवश्यक प्रश्न इन स्थानीय निकायो द्वारा व्यापार-उद्यम के क्षेत्र का है। मेरा कहना यह है कि इस क्षेत्र की सीमाएँ दो बातो से निर्धारित होती है। ऐसे प्रकार के उद्योग है—जिनके स्पष्ट उदाहरण रेलें और बिजली का सम्भरण हैं—जिनका क्षेत्र राष्ट्रीय स्वरूप का है। और जिस चीज़ के लिए एकीकृत सभरण की आवश्यकता है, उसके लिए विविध व्यवस्थाएँ करने के प्रयत्न से लाभ कोई नही होता वरन् हानि बहुत होती है। दूसरे उस प्रकार के उद्योग है—जैसे कि दूध का सभरण, रोटी और कोयले का वितरण आदि, जिन्हे उपभोक्ता सहकारिता द्वारा चलाया जाय तो अधिक अच्छा

---

१ यूनान के धार्मिक साहित्य में एक देवी जिसे भविष्यवाणी करने का वरदान मिला था, परन्तु जिसे यह अभिशाप भी मिला था कि कोई उस की भविष्यवाणी पर विश्वास नहीं करेगा।

है। और उस रूप में यह महत्त्वपूर्ण लाभ है कि दी जाने वाली सेवा की किस्म की जाच स्वतत्र रूप से—उदाहरण के लिए किसी नगरपालिका निकाय के स्वास्थ्य निरीक्षको द्वारा—की जा सकती है। इन दो प्रकार के उद्योगो के बीच बहुत सी ऐसी सेवाएँ है, जिनकी व्यवस्था स्थानीय तौर पर करने में स्पष्टतया लाभ ही लाभ है। उदाहरण के लिए ट्रामवे, गैस और मकानो की व्यवस्था, रोगो के इलाज और उन्हे रोकने आदि की व्यवस्था की सेवायें ऐसी है, जिनमें स्थानीय निकाय अधिक अच्छा काम कर सकते है। मुझे इस बात का भी कोई कारण दिखाई नही देता कि नगरपालिका निकाय उन बहुत से पण्यो के उत्पादन में सहयोग न दे, जिन्हे वे आजकल सयुक्त रूप से बडे पैमाने पर उपयोग में लाते हैं या तो प्रत्यक्ष रूप से उनका निर्माण करके और या इग्लैण्डकी थोक सहकारी समाज जैसी सस्थाओं से प्राप्त करके। उद्यम के इस रूप का विशेष महत्त्व यह है कि यदि इसका सगठन ठीक ढग से किया जाय तो या तो मुनाफा लेने की प्रथा समाप्त हो जाती है, और या मुनाफे को सार्वजनिक प्रयागो के लिए काम में लाया जाता है जैसे कि बहुत सी नगरपालिकाओ की ट्रामवे व्यवस्थाओ के सबध में होता है। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का विकास बहुत आगे तक ले जाया जा सकता है, परन्तु यह बहुत कुछ इस बात पर निभर है कि स्थानीय निकायो की पहलकदमी को वास्तविक और सजीव बनाया जाये। उनके काम पर किसी सरकारी विभाग का प्रभाव नही पडना चाहिए जिसके प्रयत्नो पर भरोसा न हो। यदि एक बार ये निकाय अपने क्षेत्रोमें रहने वालो की प्रतिभा का उपयोग करने के लिए स्वतत्र हो जायें, तो यह आशा न करने का कोई कारण नही है कि वहाँ ऐसी स्थानीय देशभक्ति का विकास नही होगा, जो मध्ययुग में इटली के नगरो या हासा के नगरो में दिखाई देती थी।

अब तक स्थानीय शासन में मुख्य कठिनाई यह रही है कि समुदाय की भावना जागृत करने का प्रयत्न कभी-कभी ही किया गया है। किसी नगर के नागरिक होने का कुछ तो महत्त्व रहा है परन्तु अधिक नही। परन्तु उस नागरिकता को रचनात्मक बनाने की शक्ति कभी नही रही है और शासन की प्रक्रिया से जनसाधारण का सम्बन्ध नही रहा है। नगर का कलाकार अपने प्रबन्धक और कलाकार की समितियो की दिलचस्पी का विषय रहा है, प्रत्येक कला प्रेमी नागरिक ने इसमें दिलचस्पी नही ली है। नगर में शिशुओ की मृत्यु के प्रश्न से स्वास्थ्य पदाधिकारी का ही सरोकार रहा है इसके सम्बन्ध में नागरिको की अन्तरात्मा को कभी जागृत नही किया गया। हमें यह चेष्टा अवश्य करनी चाहिए कि यदि किसी स्थान में किसी काम में सफलता होती है तो वहाँ के रहने वालो को उस पर गर्व हो और यदि असफलता होती हो तो उन्हें लज्जा का अनुभव हो। यदि केन्सिगटन जैसे धनी बोरो में शिशु पोपलार जैसे निर्धन बोरो की अपेक्षा अधिक सख्या में मरते हो तो इस से केन्सिगटन के रहने वालो को चिन्ता होनी चाहिए। लिवरपूल के नागरिको को यह महसूस करना चाहिए कि उनकी परिषद् तो नाटक कम्पनियो के नाटको से ही सन्तुष्ट रहती हैं जब कि उन के पडौसी नगर मान्चेस्टर में नगरपालिका की अपनी स्थायी रगशाला है। हमें आवश्यकता इस प्रकार की भावना को जागृत करने की है कि स्थानीय अधिकारी एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर प्रयत्न करें और उनमें होड लगी रहे। व्यक्तियो में अपने नगर के प्रति भक्ति की उत्कट भावना हो जिसका चित्र मि० चेस्टरटन ने 'नेपोलियन आफ नाटिंग हिल'

में खीचा है। मै समझता हूँ कि यह तभी हो सकता है जब कि स्थानीय अधिकारियो को महान नीतियाँ सोचने और उन्हे बेरोकटोक लागू करने की स्वतत्रता हो। यदि हम स्थानीय जीवन में उत्कृष्टता ला सके तो केन्द्रीय राजनीति के मानको के लिए यह बात महत्व-रहित नही होगी।

यहाँ यह कह देना चाहिए कि इस प्रकार की होड का मतलब यह है कि शासन के के उन दो पहलुओ में अत्यधिक वृद्धि होगी जिनका महत्त्व हमने अभी समझना शुरू ही किया है। यदि हम चाहते हैं कि यह होड रचनात्मक हो तो स्थानीय मामलो का बहुत अधिक अन्वेषण करने की जरूरत होगी और साथ ही यह भी आवश्यक है कि स्थानीय अधिकारियो में परस्पर सहयोग बढे और वे अपने ज्ञान को पुजीभूत करें। पहला पहलू ऐसा है जिसमें केन्द्रीय सरकार बहुत सहायता दे सकती है। इसकी अन्वेषण की शक्ति किसी भी स्थानीय निकाय से अपेक्षाकृत अधिक होती है और इसके पास निरीक्षण का अधिकार होने तक इसे वह सामग्री भी प्राप्त हो जाती है जो आसानी से नही मिलती। यदि हम राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रतिवर्ष यह मालूम कर सके कि प्रत्येक स्थानीय सत्ता को अपेक्षाकृत कितनी सफलता मिली है तो उस सफलता की प्राप्ति का प्रोत्साहन देने मे काफी सहायता मिलेगी और हमारे पास ऐसी कसौटी हो जायगी जिससे यह पता चल सकेगा कि राज्य स्थानीय निकायो से जो न्यूनतम सेवा ले सकता है उसका क्या मानक होना चाहिए। हम पुस्तकालय व्यवस्थाओ की तुलना कर सकते है और देख सकते है कि उनका उपयोग कहाँ तक हुआ, प्रत्येक क्षेत्र मे कितने छात्र प्रारम्भिक स्कूलो से माध्यमिक स्कूलो में गये और माध्यमिक स्कूलो से विश्वविद्यालय में कितने गये। हम यह जान सकते है कि डरहम में रोगियो के लिए किस सेवा की व्यवस्था की गयी और विन्चेस्टर में दी जाने वाली वैसी ही सेवा के साथ उसकी तुलना कर सकते है। हमें यह पता चल सकता है कि सिनसिनाटी और क्लीवलैण्ड मे उपभोक्ताओ के लिए ट्राम सेवाओ की लागत में कितनी कमी हुई। हम बोस्टन और ग्लासगो के स्थानीय सग्रहालयो के सम्बन्ध में रिपोट भी प्राप्त कर सकते हैं। मि० और मिसेज वेब ने जिसे प्रत्येक नगर के गुणो के सम्बन्ध में निष्पक्ष निर्धारण[१] कहा है, मै समझता हूँ कि इसके समुचित प्रबन्ध के लिए वह वास्तव में बहुत जरूरी काम है।

दूसरी आवश्यकता हमें स्थानीय अधिकारियो के सहयोग की है। ऐसा सहयोग कई दिशाओ मे लाभप्रद ढग से विकसित हो सकता है। यही नही कि स्थानीय अधिकारी अपने लिए कुछ स्पष्ट सेवाओ की व्यवस्था मिल जुल कर सकते हैं जिन का सबसे अधिक उत्कृष्ट उदाहरण आग का बीमा है, बल्कि वे—कभी तो सहकारिता के आधार पर प्रत्यक्ष उत्पादन द्वारा, और कभी अधिक बडे पैमाने पर मिलजुल कर माल खरीद कर जो कि एक सत्ता नही कर सकती—अपने लिए और अपने चुनाव क्षेत्रो के लिए उन सेवाओ की लागत

---

२ ए कान्स्टीट्यूशन फार दी सोशलिस्ट कामनवेल्थ आफ़ ग्रेट ब्रिटेन, पृष्ठ २४०। मै इस उत्कृष्ट अध्याय का कितना आभारी हूँ, यह तो इस बात से पता चलेगा कि स्थानीय शासन के सम्बन्ध में मि० और मिसेज वेब के निष्कर्षों को मैने किस हद तक अपनाया है।

घटा सकते हैं जिनकी व्यवस्था वे करते है। वे विश्वविद्यालयो के समर्थन में प्रत्येक क्षेत्र में एक सी दर लागू करने में परस्पर सहयोग कर सकते है। वे मिल जुल कर जीवन-मरण के सम्बन्ध में उससे कही अधिक सर्वांगीन आकडे इकट्ठे करने की व्यवस्था कर सकते है जोकि आजकल किसी भी वर्तमान राज्य को मिल सकते है। वे विशिष्ट और साझी समस्याओ पर विचार करने के लिए चुने हुए व्यक्तियो और अधिकारियो के सम्मेलन बुलाने की आदत डाल सकते हैं और यह प्रबन्ध कर सकते है कि उस विचार के जो निष्कर्ष निकलें, उन पर समुचित क्षेत्रो में जोर दिया जाय। वे किसी प्रदेश में समुचित नगर आयोजन और ट्रामवे जैसी उन सेवाओ की समुचित व्यवस्था के लिए मिलजुल कर कार्य कर सकते हैं जिन्हें आजकल सीमाओ की कृत्रिमता के कारण उत्पन्न बन्धनो से आजकल बडी हानि पहुँचती है। यह आशा करनी चाहिए कि उन्हें अपने अधिकारी एक दूसरे के क्षेत्रो में काम करने के लिए भेजने की आदत पड जायगी जिससे कि उनके तरीके एक ही ढर्रे के और अपरिवर्तनशील न बन जाये। वे मिलजुल कर लागत लेखा सेवा का आयोजन कर सकते है जिससे कि नगर-पालिका के खर्च की प्रत्येक मद की सारे राज्य में तुलना की जा सकेगी। जैसाकि मि० और मिसेज़ वेब ने कहा है, यह स्पष्ट है कि केन्द्रीयकरण की व्यवस्था का विकास इस ढग से किया जा सकता है जिससे कि उसके खतरे न रहें परन्तु लाभ वैसे ही बने रहे जिनमें से एक अच्छा लाभ यह भी है कि मानक अपने आप पर स्वय लागू किये जाते हैं। यहाँ, यह भी कह देना चाहिए कि ऐसे सहयोग का क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होगा उतनी ही अधिक सम्भावना इस बात की है कि स्थानीय निकायो के अधिकारियो का काम उतना ही अच्छा होगा। यह इसलिए कि यदि काम करने वालो को यह मालूम हो कि जो कुछ किया जा रहा है कि वे उसके स्थान में अधिक सफलता से काम कर सकते हैं तो अपने काम पर गर्व की भावना जागृत करने के लिए इससे अच्छी और कोई बात नही है। और फिर इस बात का कोई कारण नही कि अन्ततोगत्वा ऐसी पारस्परिकता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी क्यो न आ जाय। और अनुभव का एक सा आधार जिस से नए विचार जन्म लेते है सारी सभ्यता के सामान्य ज्ञान पर निर्भर है। निश्चय ही सबसे अधिक आवश्यक बात यह समझने की आदत डालने की है कि किसी क्षेत्र को अपने तरीके ससार भर के विचारों के आधार पर बनाने चाहिए। अब तक ऐसा प्रयत्न कम ही किया गया है हालाकि जापान में किए गए सुव्यवस्थित प्रयत्न और अमरीका के नगरपालिका अनुसधान विभाग इस बात का प्रमाण हैं कि लोग इस बात के महत्व को पहले की अपेक्षा अधिक समझने लगे है। निश्चय ही सामाजिक क्रियाकलाप का और भी कोई ऐसा क्षेत्र नही है जिसमें ज्ञान के निश्चित समन्वय से अधिक अच्छे परिणाम निकल सकते हैं।

—११—

इसमें सन्देह नही कि राजनीतिक सस्थाओ की यह योजना उस क्षेत्र के केवल एक छोटे से भाग के लिए है जिसमें राज्य का क्रियाकलाप अवश्य ही गहन होगा। परन्तु यह उस भाग के सम्बन्ध में है जहा राज्य के प्रभाव के प्रत्यक्ष होने की बहुत सम्भावना है। मेरे विचार में इस योजना के लाभ सबसे अधिक तो ये है कि वैधिक पजीयन के अग सादे ही

रहते है, इसमें यह बात मानने की गुजाइश है कि कानून का प्रभाव सामाजिक जीवन के एक छोटे से भाग पर ही पडता है, और इसलिए इस योजना के अन्तर्गत अधिक सक्षमता वाले प्रत्येक अग के साथ ऐसे निकाय हैं जिन्हें सलाह देने का अधिकार है और उनकी रचना ऐसे ढग से हुई है कि उन की रायको महत्व दिया जायगा। उन निकायो की सरचना ऐसे ढग से की गयी है कि वे राज्य को निर्णय के क्षेत्र मे उसके परिणामो द्वारा प्रभावित सभी विभिन्न हितो की राय को विचारो को ले आती है। इसका मतलब यह है कि यह योजना इस सिद्धान्त पर आधारित है कि निर्णय के कई स्रोत हैं और इसलिए उस निर्णय का परिणाम जो सविधि में परिणत होता है, उन कई अगो का काम होना चाहिए जिनका इसके निर्माण में हाथ है। इस योजना द्वारा कानून के निर्माण मे स्वयसेवी निकाय को निश्चित स्थान दिया जाता है और इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि जिन लोगो के हाथो में निर्णय की चरम शक्ति है वे इसके अनुभव और इच्छाओ का ध्यान रखेगे। इस योजना में यह नही समझ लिया जाता कि उस चरम सीमा निर्णय मे कोई ऐसा गुण है जो इसके सार से अधिक अच्छा है। इसमें यह मान लिया जाता है कि ऐसा निकाय गलती करेगा बल्कि कई बार तो यह जान बूझ कर गलती करेगा। परन्तु इसमें यह दलील दी गयी है कि इसमें जाँच और पडताल की जो व्यवस्था है उससे गलती और गलत काम की सभावना कम हो जाती है। मै समझता हूँ कि समाज में अव्यवस्था रोकने के लिए यह बहुत अच्छा नुस्खा है परन्तु यह अन्तिम नुस्खा नही है और न ही ऐसा दावा किया गया है। राज्य के प्रति भक्ति की उत्कट भावना का यही एक तरीका है कि उसे इस भक्ति के योग्य बनाया जाय और इसे क्या मिलेगा यह भी इसी बात पर निर्भर है कि यह साधारण स्त्री पुरुषों के सुख के लिए क्या करता है। यहाँ, कम से कम ऐसी व्यवस्था तो है कि वे साधारण स्त्री पुरुष पूरी तरह जान सकेंगे कि जिन बातो पर वे अपने सुख को निर्भर मानते है वे क्या हैं। राज्य चाहे तो उनकी सकल्पना को ठुकरा सकेगा परन्तु इस व्यवस्था का स्वरूप ऐसा होगा कि उनकी सकल्पना को कराना आज की अपेक्षा बहुत अधिक कठिन और, कई बार, बहुत अधिक खतरनाक जोखम बन जायगा। एक व्यवस्था के रूप में भी इस के प्रत्येक पहलू मे यह चेष्टा की जाती है कि इसकी कार्यान्विति उन लोगो की शिक्षा का साधन बने जिन्हें इसका सामना करना पडता है। यह इसलिए कि यह व्यवस्था इस विश्वास पर आधारित है कि नागरिकता के सम्बन्ध में यूनानी धारणा में—अर्थात शासन करने और शासित होने की सामर्थ्य—ऐसा सत्य निहित है जिसके भुला दिए जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। हम ऐसी सीधी सादी व्यवस्था का सहारा तो नही ले सकते जो कि नगर राज्यो में थी परन्तु इस बात का कोई कारण नही कि हम उसकी अच्छाइयो से क्यो न लाभ उठाएँ।

सस्थाओं की इस योजना में प्रशासन की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया गया है और शक्ति की समस्याओ पर कम। इसमें दलील यह दी जाती है कि राजनीति के अमूर्त्त दर्शन पर उसके कही अधिक समय लगाया गया है जितना कि आवश्यक था क्यो कि जब तक हम अमूर्त्त राज्य की धारणा रखेंगे तब तक हम इस मुख्य बात की उपेक्षा करते जायेंगे कि वास्तव में महत्त्व तो इस बात का है कि जो इसके अभिकर्त्ता के रूप मे

काम करते है उनके सबध कैसे होने चाहिएँ। राजनीतिक चर्चा में वास्तविक बात तो यह हैं कि वे क्या करते हैं और क्या करने मे असफल रहते है, और साथ ही वह प्रक्रिया कौन सी है जो उनके कार्यों का प्रतीक है। दार्शनिक सिद्धात के रूपमें जिस सर्व-प्रभुताशाली राज्य की चर्चा की गयी है उसका अस्तित्व राजनीतिक विचारको की कल्पना में ही था। मैंने यहाँ कहा है कि वास्तविक जीवन में जिसे हम राज्य कहते है वह ऐसे व्यक्तियो का समुदाय है जो आदेश जारी करते हैं और विचार तो उन बातो पर होना चाहिए कि उनके आदेश जिन विषयो के सबध मे होते हैं उनकी व्याप्ति कहाँ तक है और वे तरीके कौन से है जिनके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को समुचित रूप से रोका जा सकता है। मैंने इस बात पर ज़ोर नही दिया है कि शक्ति के दुरुपयोग को सदा रोका जा सकता है। जो व्यक्ति ग़लत काम पर तुले बैठे हो, उनके लिए न्याय के सुरक्षण इतने मजबूत नही होगे जो उनके अपने साध्य की पूर्त्ति मे बाधा बन सके परन्तु मै तो यह कह रहा हूँ कि इन सुरक्षणो को समुदाय के हृदय में अधिक स्थिरता से अधिष्ठापित किया जा सकता है और परिणामत उनकी उपेक्षा पहले से अपेक्षाकृत अधिक ख़तरनाक बनायी जा सकती है।

यहाँ जिस सिद्धात की सफाई पेश की गयी है, उसमे से बहुत कुछ इस बात पर आधारित है कि हम इस बात को नही मानते कि शासक समाज को शासक होने के नाते किसी विशेष प्रतिष्ठा देने की ज़रूरत है। उदाहरण के लिए, इसी कारण इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि शासक समाज के अभिकर्त्ता प्रत्येक अवस्था में कानून के अन्तर्गत आते हैं और इसीलिए राज्य की विधान सभा के लिए वाक्-स्वातत्र्य जैस मूल अधिकार पर कुठाराघात करना बहुत कठिन बना दिया गया है। मैंने इस बात से इनकार नही किया कि किसी राज्य की सरकार सामान्य सामाजिक हितो की न्यायसगत अभिरक्षक होनी चाहिए, परन्तु मैंने अपनी परिकल्पना इस आधार पर बनायी है कि इस कृत्य का किया जाना, इसके परिणामो की सावधानीपूर्वक जाँच के बिना, किसी तरह भी समुचित नही कहा जा सकता। इसी कारण मै समझता हूँ कि किसी कानून के बन जाने मात्र का कोई विशष महत्त्व नही है। महत्त्व तो कानून के सार का है और उस सार के गुण इस बात पर निर्भर होगे कि कानून बनाने वाले राज्य मे प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धी सामाजिक हितो— जो विविध और बहुधा परस्पर विरोधी होते है— का ध्यान कहाँ तक रखने के लिए विवश है।

अन्त में एक बात और कह देनी उचित ही होगा। कई ऐसे व्यक्ति होगे जिन्हें कानून सबधी शक्ति का बहुत से असबद्ध समूहो में बँटवारे के अधिक जटिल प्रबध के मुकाबले मे सगठित परामर्श का विचार बडा थोथा लगेगा। मैं समझता हूँ कि इस आलोचना पर दो बातें कह देना उचित ही है। समूहो द्वारा अलग अलग काम के फलस्वरूप उनके कृत्यो की सीमाओ पर उनके बीच अन्तर्बद्ध सबध होगे और मै समझता हूँ कि इस प्रकार जो सामजस्य लाया जाता है वह उससे अधिक कृत्रिम और कम जिम्मेदार होगा जो कि यहाँ बताए गए तरीक़े से लाया जा सकता है। और दूसरे यह बात भी है कि सगठित परामर्श एक ऐसा हथियार है जिसके गुण और शक्ति पूरी तरह नागरिको की भावना और बुद्धि पर निर्भर है। ऐसे समाज में जो हमारे समाज की तरह धनी और निर्धन वर्गों में बँटा हुआ है और

जहाँ उस विभेद के कारण बुद्धि और ज्ञान के सभी स्रोत धनी व्यक्तियो के छोटे से वर्ग के हाथ में है—इस व्यवस्था का पूरा लाभ उठाया जा सकता है क्योकि पूरा लाभ उस समाज के लिए घातक है जो धनी और निर्धन व्यक्तियो में बँटा हुआ है। परन्तु जो समाज न्याय के सिद्धातो के आधार पर बना हुआ है, मै समझता हूँ कि, उसमें ऐसा सगठित परामर्श उन अधिकारो की रक्षा के लिए जो मानव होने के नाते व्यक्तियो को है उतना ही सुदढ सुरक्षण होगा जितना कि जरूरत है। तब जनता का मत समुदाय की ज्ञान के आधार पर और सुव्यवस्थित ढग से प्रकट की गयी राय होगी और जो लोग इसे अपने प्रयोजन द्वारा पूरा करने से रोकेंगे या इसकी इच्छाओ की पूर्त्ति मे बाधा डालेंगे उनके पास वे हथियार नही रहेगे जो आज हैं। सच तो यह है कि जिस समाज में स्वातन्त्र्य और समानता है वहाँ शक्ति तो पहले से ही विभक्त है। इसकी कठिनाई तो यह है कि स्वातन्त्र्य और समानता लाने के लिए इसे बहुत लम्बा रास्ता, तय करना है।

अध्याय—९

आर्थिक संस्थाएँ

राजनीति के दृष्टिकोण से देखें तो उद्योग की समस्याओ के दो महत्त्वपूर्ण पहलू है। सबसे पहली समस्या तो उद्योग के सारे क्रियाकलाप में उन अधिकारो की रक्षा करने की है जिन्हें मैंने मानव के प्रकृत अधिकार कहा है। औद्योगिक व्यवस्था न्याय के सिद्धान्तो के अनुकूल होनी चाहिए, उसमें ऐसा प्रबध होना चाहिए कि मेहनतकश को निश्चित और पर्याप्त जीविका मिले, उसके काम की परिस्थितिया उचित हो और उसे उन परिस्थितियो के बनाने मे योग देने का पूरा अवसर मिले, जिन पर काम में उसका सुख निर्भर है। उसे यह महसूस नही होना चाहिए कि उसका जीवन किसी दूसरे व्यक्ति की सकल्पना पर निर्भर है। उसे इस योग्य होना चाहिए कि वह अपने प्रयत्नो से आत्मसिद्धि के साधन जुटा सके, कम से कम उस हद तक जहा तक कि उनका जुटाना भौतिक तत्त्वों पर निर्भर है। जिस सत्ता के हाथ मे उस के भाग्य की बागडोर है वह ऐसी होनी चाहिए जो नैतिक सिद्धातो के अनुकूल हो। यह स्पष्ट ही है कि वर्त्तमान व्यवस्था में इन में कोई भी शर्त्त पूरी नही होती। इस व्यवस्था के अनुसार मेहनतकश से उसकी मेहनत ली जाती है और उसकी जो कीमत देनी पडती है वह आशिक रूप से ही उसकी आवश्यकताओ के आधार पर नियत होती है। इसके अतिरिक्त वह कीमत भी तभी दी जाती है जब कि उसे विशेष प्रकार की मेहनत की आवश्यकता होती है, जो कि वह कर सकता हो। यदि उस को काम पर लगाने से लाभ नही कमाया जा सकता तो उसे, चाहे उसकी आवश्यकताए कुछ ही क्यो न हो, काम पाने का अधिकारी नही समझा जाता। और न ही उसे, जब वह काम पर लगा हुआ भी हो, उस की मेहनत के बदले में उत्पादन के सगठन में कोई महत्त्वपूर्ण योग देने का अवसर मिलता है। आधुनिक उद्योग की विशेषता मोटे तौर पर यह है कि प्रबन्ध और श्रम एक दूसरे से नितात अलग से है। दोनो के बीच परामर्श का क्षेत्र मेहनत के मूल्य और मेहनतकशो के काम पर लगाए जाने की भौतिक परिस्थितियो तक ही सीमित है। मेहनतकश को उत्पादन के तरीको पर अपने विचार प्रकट करने का कोई भी अधिकार नही है। अपने सुझाव देने का कोई व्यवस्थाबद्ध अवसर उसे नही मिलता। उस समय भी जब उसे कोई माग करनी होती है या अपनी शिकायते बतानी होती है तो उन्हें करने या बताने में आम तौर पर शक्ति परीक्षा होती है, जिस में महत्त्व इस बात का नही होता कि माग या शिकायत नैतिक कसौटी पर कैसी उतरती है, बल्कि इस बात का होता है कि दोनो पक्षो की परस्पर मुकाबिले की शक्ति कितनी है। और अन्त में, मेहनतकश ने जो कुछ पैदा किया है उस पर भी उसका कोई दावा नही होता। एक बार उसे उसकी मेहनत की कीमत द दी जाय तो उसका सापेक्षिक महत्व समाप्त हो जाता है। वह पूरे अर्थों में ऐसा सजीव साधन है जिसे अरस्तू ने दास का व्यावर्त्तक धर्म कहा था।

कुछ अपवाद हो सकते है, परन्तु इससे उनमें से किसी बात के स्वरूप में कोई परि-

वर्त्तन नही होता। कुछ ऐसे मालिक भी हैं जिन्होने पर्याप्त मजूरी देने की प्रथा बना ली है, जो अपने श्रमिको को काम की परिस्थितिया नियत करने में पूरा हिस्सा देते है---जिन्होने मिल जुल कर मागो और शिकायतो की जाच की व्यवस्था की है और जो अपने श्रमिको के कल्याण को नैतिक आधार पर महत्व देते हैं। बहुत से ऐसे मालिक हैं जिन के बारे में यह सच है, बल्कि कुछ के बारे में तो केवल इतनी ही बात कहना पर्याप्त नही। परन्तु सार उद्योग को देखा जाय तो मालूम होगा कि उन के सख्या औद्योगिक सबधो के सन्दर्भ में बहुत ही कम है। यह बात बडी महत्वपूर्ण है कि औद्योगिक कल्याण में जो कोई भी बडी प्रगति हुई है उसके लिए ऐसे सघर्ष करना पडा है मानो वह उद्योग की समृद्धि के गढ पर आक्रमण हो। ऐसे प्रत्येक आक्रमण के बारे मे सदा यह दलील दी गयी है कि यह बात ऐसे व्यक्तियो के अनुभव का निचोड है, जो यह बताने में कुशल है कि भविष्य में क्या होगा। और ऐसे प्रत्येक आक्रमण के कुछ ही देर बाद इसे आक्रमण कहने वालो की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि औद्योगिक उद्यम में जो नैतिक सबध है, वे व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्धो से बिल्कुल भिन्न है। जो भी जाच की गयी है उससे पता चला है कि इस में से भ्रष्टाचार और अपव्यय का होना आवश्यक और अनिवार्य है। यहा यह भी कह देना चाहिए कि मजदूर के बारे में भी यह बात उतनी ही सच है, जितनी कि मालिक के बारे में। जिन परिस्थितियो में वह रहता है, उन में उसे भी जो कुछ उचित है उससे कतराने का कम प्रलोभन नही होता। वह अपने काम में भरसक प्रयत्न नही करता और आत्मसिद्धि नही कर सकता क्योकि यह व्यवस्था ऐसी है कि इस में न तो सत् की विजय हो सकती है, न उसकी प्रतिष्ठा ही सभव है। आधुनिक कोक टाउन के मि० बाउडरबी का मशा चाहे ठीक हो परन्तु उनका परिवेश ऐसा है कि उनके इरादे आपूर्व ही निष्फल हो जाते हैं।

इस दृष्टिकोण से किसी औद्योगिक व्यवस्था में राज्य की दिलचस्पी तो इस बात में है कि उत्पादक की रक्षा की जाय चाहे औद्योगिक सोपानतत्र में उसका स्थान कुछ ही हो। राज्य को उसकी रक्षा करनी है क्योकि वह नागरिक है और पौर जीवन में वह नागरिक के नाते तब तक काम नही कर सकता जब तक कि उत्पादन की प्रक्रिया में कुछ विशषताए निहित न हो। परन्तु राज्य उपभोक्ता की रक्षा करने को भी बाध्य है। वह जीवित ही इस बात पर है कि कुछ सेवाए उसे उपलब्ध हैं। उसे सदा कुछ ऐसी वस्तुए प्राप्त होते रहना आवश्यक है जिन के बिना जीना असभव है। ये ऐसी आवश्यकताए है जो स्वभावत है ही ऐसी जिन से नागरिक को वचित नही किया जा सकता। उसे ऐसी दूसरी पण्यो की भी आवश्यकता है जिन क न होने से जीवन नष्ट तो नही होता, परन्तु वह तथ्य अवश्य नष्ट हो सकता है जो जीवन में सौंदय और सुख-सुविधा लाता है। और अन्त में, कुछ ऐसे पण्य है, जो राज्य की दिलचस्पी के क्षेत्र से और भी परे हैं और जिन की आवश्यकता सभी को तो नही होती परन्तु जिन से मानवता के एक हिस्से में एक वास्तविक गुण का सन्निवेश होता है। मेरा विचार है कि इस प्रकार के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पहली प्रकार की आवश्यकताओ में राज्य की दिलचस्पी तात्कालिक, प्रत्यक्ष और व्यापक होती है। राज्य को यह प्रबध करना पडता है कि उनका सम्भरण इतना हो जिससे कि समुदाय की सारी

आवश्यकता पूरी हो सके। राज्य को यह भी व्यवस्था करनी होती है कि वे पण्य उचित किस्म हो। ऐसी जटिल सभ्यता मे जैसी कि हमारी है प्राथमिक किस्म के सम्बन्ध में यह सिद्धात लागू नही किया जा सकता कि उसके सबध में खरीदार स्वय सावधान रहे। इन सेवाओ का प्रबध न कर सकना घातक है, इसलिए यह स्पष्ट है कि राज्य उन का उत्पादन गैर सरकारी उद्यम द्वारा कराने का जोखम नही उठा सकता। और न वह यह जोखम उठा सकता है कि उनका वितरण ऐसे सुरक्षणो के साथ न होकर किसी अन्य ढग से हो, जिन से कि यह निश्चित हो सके कि नागरिको का कोई भी भाग इन से वचित न रह जाय। दूसरी प्रकार की आवश्यकताओ के लिए राज्य द्वारा ऐसी कडी देखभाल की जरूरत नही है। उनका पूरा होना वाछनीय है परन्तु उनकी पूर्त्ति आधारभूत आवश्यकता नही है। इस के फलस्वरूप इन के उत्पादन मे राज्य की दिलचस्पी एक ओर तो उत्पादन के फल में है और दूसरी ओर इस बात में कि उत्पादन के तरीको का उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है। आवश्यकताओ के तीसरे समूह—उदाहरण के लिए प्रसाधन सामग्री—के उत्पादन मे राज्य की दिलचस्पी न होने के बराबर है। वहा उस की दिलचस्पी केवल इतनी है कि ऐसे उद्यम में उत्पादक की रक्षा की जाय जिससे कि, वह प्रक्रिया, जिस में वह लगा हुआ है उन मानको के अनुसार हो, जो कि नागरिकता के गुणो के लिए अनिवार्य है।

इस विश्लेषण से यह परिणाम निकलता है कि उद्योग के प्रबन्ध को तीन बडी श्रेणियों में बाटा जा सकता है। कुछ उद्योग निश्चय ही सार्वजनिक स्वरूप के हैं जो एकाधिकार पर आधारित है। उनका सचालन समुदाय के कल्याण के लिए आवश्यक है। उनका सचालन उपयोग के लिए होना चाहिए न कि लाभ के लिए। वे जिस सेवा की व्यवस्था करते हैं उसमें अविच्छिन्नता होनी चाहिए। न केवल उनके उत्पादन की परिस्थितियो पर बल्कि तैयार किये जाने वाले पण्यो के बिक्री मूल्य पर भी कडा सार्वजनिक नियन्त्रणा होना चाहिए, और सभव है कि इन वस्तुओ का उत्पादन ऐसे समय भी जारी रखना पडे जब कि उनके उत्पादन के खर्च के अनुरूप पर्याप्त आर्थिक फल की प्रत्याशा न हो—जैसे कि अनुसन्धान कार्य पर। इस पहली श्रेणी के उद्योगो के प्रबन्ध का तरीका तो केवल यही हो सकता है कि उनके द्वारा जिस सेवा की व्यवस्था की जाती है, उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। राष्ट्रीयकरण से मेरा आशय किसी विशिष्ट रूप से नही है जसा कि आधुनिक राज्यो में डाकघरो के सबध में है। राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रबध के तरीके में प्रयोग की काफी गुंजाइश है। इस में केवल निजी लाभ के विचार के लिए कोई स्थान नही है। उद्योगो की दूसरी श्रेणीमें उन आवश्यक पण्यो का उत्पादन आता है जो निसर्गत एकाधिकार पर आधारित नही होता, बल्कि जिन में व्यक्तिगत उत्पादक के लिए स्पष्टत काफी स्थान है और जिन में राज्य की दिलचस्पी सर्वोपरि है—जैसे कि कृषि में। इस श्रेणी में वे पण्य भी आते हैं जो निश्चय ही वाछनीय हैं परन्तु यह जरूरी नही कि वे उतने ही आवश्यक हो। मेरा विचार है कि इन उद्योगो के प्रबध के तरीके विविध और विभिन्न हो सकते है। परन्तु इस श्रेणी के पण्यो के पहले समूह मे—उदाहरण के लिए रोटी और दूध के सम्भरण में—निजी लाभ के लिए जितना कम स्थान हो उतना ही अच्छा है। और मै यह कहूगा कि क्योंकि इन सेवाओ का प्रभाव प्रत्येक गृहस्थ पर पडता है, इसलिए उपभोक्ताओ के

सहकारिता आन्दोलन के लिए यह स्वाभाविक और उचित क्षेत्र है। इस प्रकार के दूसरे समूह का सगठन व्यक्तिगत ढग पर आधुनिक कम्पनी की तरह या उत्पादको के सघो के रूप में किया जा सकता है, जिन के कि औद्योगिक नियत्रण को लोकतत्रात्मक बनाने के लिए आजकल डाले जाने वाल दबाव के फलस्वरूप पुनर्जीवित होने की आशा है। उनमे सरकार द्वारा काफी हस्तक्षेप होगा किस रूप में और कैसे मानको द्वारा होगा, इस की चर्चा मैं बाद मे करूगा। उद्योगो की तीसरी श्रेणी वह होगी जिन में ऐसे पण्यो का उत्पादन होता है जिनका स्वरूप सार्वजनिक नही है। मेरे विचार में इन उद्योगो के प्रबध के रूप इतने विविध होगे जितने की कल्पना कि मानव की बुद्धि कर सकती है। राज्य की माग तो केवल यह होगी कि मजूरी और काम के घटो आदि के सम्बन्ध में कुछ मानको का पालन किया जाय और यह भी कि ऐसी सस्थाएँ स्थापित की जाय जिन के द्वारा यह प्रबध किया जा सके कि मज़दूरो की सकल्पना की इन मानको के निर्माण पर छाप पडे। परन्तु तीसरी श्रेणी में, लाभ कितना होता है, इससे राज्य का प्रत्यक्ष सबध नही रहेगा। उदाहरण के लिए, यदि कोई फर्म ऐसे खिलौने का आविष्कार करती है जो सभी बच्चो को अच्छा लगता है हो तो राज्य इस के निर्माण से होने वाले लाभ को सीमित करने की चेष्टा नही करेगा, या यदि वह कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित करे जो बहुत बिकती हो तो राज्य के विचार में, लेखक के हितो की रक्षा होने के बाद, प्रकाशक अपने उद्यम से जितना भी पैसा बना सकता हो, बनाने का अधिकारी होगा।

इसलिए मै समझता हू कि व्यक्तिगत उद्यम समाप्त नही होगा। हा, यह अवश्य है कि इसका क्षेत्र पहले से कम हो जायगा। जहा भी व्यक्तिगत उद्यम होगा उस पर पहले की अपेक्षा अधिक कडा नियत्रण होगा और विशेषकर मूल उद्योगो में पहलकदमी को वर्त्तमान व्यवस्था की अपेक्षा अधिक विभिन्न रूपो में अभिव्यक्त होना पडेगा। परन्तु मै यह नही मानता कि कोई विशेष सूत्र—चाहे वह राज्य-समाजवाद हो, सघ-समाजवाद या अभिषदवाद—ऐसा सार्वभौम सत्य नही है जो सभी परिस्थितियो में सभी उद्योगो पर लागू हो सकता हो। मेरा विचार है कि औद्योगिक पहलकदमी के लिए फिर भी स्थान रहेगा परन्तु ऐसी आशा नही है कि यह स्थान उस क्षेत्र में होगा जिस पर जनता का कल्याण निर्भर है। मेरा यह भी विचार है कि बहुत से पेशो—विशेषकर उद्योग के वितरण के पहलू से सबधित पेशो—के लिए उस व्यवस्था में कोई प्रकृत स्थान नही रहेगा। उदाहरण के लिए, विज्ञापन व्यवसाय या व्यापार के बिचौलिये की जगह, जो न निर्माता हैं और न उपभोक्ता, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक ऐसी कडी का सगठन किया जा सकता है जो कम खर्चीली हो। इसकी विवेचना मै आगे चलकर करूगा। परन्तु मै ऐसे ससार की कल्पना नही कर रहा हू जिस में वर्त्तमान व्यवस्था में पाए जाने वाली इतनी अधिक आर्थिक विषमता के लिए कोई स्थान रहेगा। लोग बहुत बडी मात्रा में धन कमा सकेंगे, परन्तु विशेषकर सक्राति काल में उनकी आय पर बहुत अधिक कर लगेंगे और उनकी मृत्यु पर उनकी सम्पदाओ पर और भी अधिक शुल्क लिया जायगा। इस बात पर ज़ोर देना पडेगा कि अधिकारो की कोई व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य को खर्च करना पडेगा, और, विशेषकर परिवर्तन के युग में, इस प्रयोजन के लिए खर्च होने वाला धन अधिकतर धनी

व्यक्तियो पर कर लगा कर ही प्राप्त करना चाहिए। यह सौभाग्य धनवानो का है और जिस से बचा नही जा सकता। मुझे इसमें कोई सन्देह दिखाई नही देता कि प्रारम्भ में इसे बहुत नापसन्द किया जायगा। समाज की आदतो मे परिवर्तन उन लोगो को सदा बहुत नापसन्द होते है जिन पर उनका प्रभाव पडता है। परन्तु जब लोग नयी परिस्थितियो के आदी हो जायेंगे तो मेरा विचार है कि उसका परिणाम यह होगा कि धन की अपेक्षा सेवा का सामाजिक महत्त्व बढ जायगा और लोग यह पसन्द करेंगे कि वे अपने कामो के कारण प्रसिद्ध हो न कि अपनी धन-सम्पत्ति के कारण। बल्कि, जैसा मैंने पहले कहा, सम्भव है कि ऐसा समाज अन्तत आज की बजाय अधिक समृद्ध हो, चाहे देखने में उस के पास धन की वे राशिया दिखाई न पडे जिन का जमा करना आजकल सभव है। क्योकि ऐसे समाज मे न्याय होता है और क्योकि आम तौर पर इस के प्रयत्नो से सहयोग करने वालो की इच्छाए इस में प्रतिबिम्बित होती हैं, इस मे इस बात की अधिक आशा है कि वर्त्तमान व्यवस्था की अपेक्षा इस के अन्तर्गत कुछ को छोड कर, सभी अपनी शक्ति के अनुसार अधिक प्रयत्न करेंगे। इस मे आविष्करण-शक्ति का क्षेत्र अधिक होगा। इस में आज की अपेक्षा कम विपत्तियो का सामना करना पडेगा। हमारे समाज की अपेक्षा जिस की नीव लाभ कमाने की भावना पर स्थित है, ऐसे समाज में आत्मसम्मान का स्तर कही अधिक ऊचा होगा। इस में ऐसे साधन प्राप्त होंगे जिन से लोगों को जीवन के लाभ में भी उतना ही भाग मिलेगा जितना कि श्रम में।

—२—

राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया पर विचार करने से पहले तीन बातो पर जोर देना चाहिए। पहली बात तो यह है कि प्रश्न ऐसे राष्ट्रीयकरण का नही है जो सत्यानाशी हो। जहा तक हमें मालूम है, यह प्रक्रिया कई खडो में बट जायगी और इस का स्वरूप अनुभव के साथ साथ बदलेगा। दूसरी बात यह है कि यह भी मान लेने की आवश्यकता नही है कि प्रत्येक राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रबध का ढाचा एक ही होगा। इस के लिए प्रबन्ध के ऐसे साविधानिक ढाचे की आवश्यकता है जिस में कुछ तत्व और सिद्धात विभिन्न रूपो में सदा रहेंगे। और तीसरी बात यह है कि मेरे पास यह जानकारी हो तो भी मेरे लिए ऐसे उद्योगो की सूची बनाना सभव नही है, जिन्हे ऊपर बताई गयी तीन श्रेणियो के अन्तर्गत स्वभाविक रूप से अलग-अलग रखा जा सके। ऐसी किसी सूची पर किसी भी हालत में मतैक्य नही हो सकता। उदाहरण के लिए, मेरा अपना विचरा यह है कि बैंक सेवा का निश्चय ही राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, परन्तु इस बात के पक्ष में ठोस युक्तिया दी जा सकती है कि इसे गैर सरकारी उद्योग रहने दिया जाय ओर उस पर पर्याप्त सरकारी नियन्त्रण रहे, पर वह अन्तिम नियन्त्रण नही होगा। खानो और तेल के उद्योगो जैसे उद्योग है, जिन के राष्ट्रीयकरण के बारे मे, मै समझता हू कि बहस की गुजाइश नही है। नौवहन जैसे अन्य उद्योग भी है जिनके अधिकाश भाग के राष्ट्रीयकरण के सबध मे मै समझता हू दो मत नही होसकते, परन्तु उनमें भी ऐसा कोई कारण नही है कि उनके अप्रधान पहलू—उदाहरण के लिए, मारगेट और रैम्सगेट के बीच स्टीमर सेवा—व्यक्तिगत उद्यम द्वारा या नगरपालिका द्वारा सचालित न हो सके। यह सचमुच असभव नही है कि कई

राष्ट्रीयकृत उद्योगो के साथ साथ व्यक्तिगत उद्यम का भी कुछ अश बाकी रहता चला जाये—कई बार विशेष वस्तुए बनाने के लिए, कई बार निर्यात के प्रयोजनो के लिए और कई बार ऐसी वस्तुए बनाने के लिए जिनकी माग इतनी नही है कि उनका उत्पादन राष्ट्रीय कारखानों में किया जाय। और न ही राष्ट्रीयकृत उद्योगो की सूची बहुत समय तक जैसी की तैसी रह सकती है। आविष्कार और खोज होते रहने के कारण कुछ उद्योग उस सूची से निकल जा गे और कुछ अन्य उद्योग उसमे शामिल होते रहेंगे। इसलिए हमे ब्यौरे की अपेक्षा मुख्य सिद्धातो पर ध्यान देना चाहिए, हमारा स ोकार मकान की नींव डालने से है न कि मकान खडा करने से।

उद्योग की किसी भी राष्ट्रीय योजना मे यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनो का स्वामित्व राज्य के हाथ मे हो। सके आवश्यक होने के दो कारण है। यह चीज़ इस बात पर ज़ोर देती है कि अन्तत नियन्त्रण किस के हाथ मे हो। इससे हम इस बात पर ज़ोर दे सकते है कि उद्योग मे जो उत्पादक है वे यह न समझने लगे कि उद्योग उन्ही के लाभ के के लिए है। इसलिए वे म ल्यो का ऐसा स्तर रखने की माग नही कर सकते जिससे उन्हें मिलने वाली मजूरी प्रयत्नो की आवश्यकता या उनके परिणाम को तुलना में अधिक हो। इस चीज से इस बात पर भी ज़ोर पडता है कि उद्योग से उत्पादन की लागत और अन्तत उपभोग करनेवालो तक उत्पाद पहुचाने की लागत के अतिरिक्त जो अधिरिक्त मूल्य मिलता है वह भी सा समुदाय के लिए है। इसका अर्थ यह है कि हम औद्योगिक सगठन की किसी भी शुद्ध अभिषदवादी योजना को अस्वीकार करते है। यह निजी स्वामित्व की किसी अन्य योजना से कम आपत्तिजनक नही है। यह मान लेने का कोई कारण नही है कि अमरीका की खानो का स्वामित्व वर्तमान निगमो के हाथ में न होकर अमरीका के खान मजदूर सघ (युनाइटिड माइन वरकर्स) के हाथ में हो तो कोयले के सबध में जनता के हितो का अधिक ध्यान रखा जायगा। सच तो यह है कि इस प्रकार का निरपेक्ष नियत्रण नैतिक दृष्टि से बुरा है। इस से खास तरह के विशेषाधिकार का हक मिलता है जो अपने आप में भ्रष्ट करने वाला है—चाहे यह विशेषाधिकार पाने वाले यही क्यो न समझते रहे कि वे उदात्ततम साध्यो के लिए ही इसका प्रयोग करेंगे। ईसाइयो की धार्मिक सस्थाओ और उनके अधीन सगठनो मे भी ऐसा ही हुआ है। इसका उदाहरण फ्रांसिस्कस है जो इस सिद्धात को लेकर चले थे कि व्यक्तिगत स्वामित्व नैतिक दृष्टि से खतरनाक है। श्रमिक वग के सम्बन्ध में भी यही हुआ है कि जैसा कि मजदूर सघो के पदाधिकारियो के प्रति उनके निर्वाचको के व्यवहार और सहकारिता आन्दोलन द्वारा अपने कर्मचारियो के प्रति सतोषजनक नीति अपनाए जाने मे असफलता से प्रकट है—मि कोल ने कहा है "वास्तविक उत्पादन पर नियत्रण रखना . उत्पादक का काम है, उपभोक्ता का नही"[१] इस कथन में इस बात का बिल्कुल ध्यान नही रखा गया कि उत्पादन की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओ का परस्पर सम्बन्ध कितना जटिल है। प्रारम्भ में ही हम स्वामित्व के मामले को ऐसा बना दें, जिस में चरम शक्ति समुदाय के हाथ में हो, तभी हम उससे आगे उचित सबध स्थापित कर सकते है।

१ सेल्फ–गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्री—(१९१९ का सस्करण) पृष्ठ १५१

समुदाय को राज्य की मार्फत, उत्पादन के साधन अपने हाथ में रखने ही चाहिए परन्तु उत्पादको को प्रबध में हाथ बटाने का अधिकार है। इस हाथ बटाने का क्या तात्पय है ? स्पष्ट है कि इस में उन परिस्थितियो के निर्माण मे हाथ बँटाना भी अवश्य शामिल होना चाहिए, जिन में किसी वृत्ति-विशेष में लगे हुए व्यक्ति—चाहे वे वकील हो, खान मजदूर हो, रसायन-वेत्ता हो या बढ़ई हो—अपना काम करते हैं। उन्हें अपने वेतन, काम के घटे, अपने कारखानो की सफाई, अपने काम के स्वरूप और उन व्यक्तियो का जिनके साथ, वे काम करते हैं उनका और जिनके अधीन वे काम करते है उनका भी निर्धारण करने में सहायता देती है। सक्षेप में उन्हें डाक्टरो और वकीलो की तरह अपनी वृत्ति को एक प्रभावपूर्ण काम बनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मेरी राय में इस में कोई सदेह नही हो सकता कि इन पेशो का स्तर काफी हद तक इन में लगे व्यक्तियो की स्वायत्तता पर आधारित है। वे एक अनुशासन में रहना स्वीकार करते है, क्योकि वह स्वय उन्ही को लागू किया हुआ है। यह रचनात्मक है क्योकि यह उनके इस अनुभव पर निर्भर है कि उन्हे कौन-सी बात उस महान परम्परा के प्रति सचेत करेगी जो न केवल उन्हें बनाए रखनी है बल्कि जिसे उन्हें आगे भी बढाना है। उनकी सम्मान सम्बन्धी मान्यताए आत्म-निर्णय से जनित है। इसी प्रकार कारखानो और दफ्तरो में भी इसी तरह की स्वतन्त्रता के लिए स्थान होना चाहिए। और यह आत्म-निर्णय उदासीनता की भावना से ओतप्रोत मजदूरो द्वारा अपने प्रतिनिधि के रूप में चुने गए कुछ मजदूरो का ही सामान्य अधिकार नही है। यह अधिकार प्रत्येक वर्ग और दर्जे के मजदूरों का अधिकार है जो अपने को एक दूसरे से उतना ही अलग महसूस करते है जितना कि दातों का डाक्टर अपने को और किसी डाक्टर से। जब तक उनका नियत्रण विशेषित नही होगा वह बेकार रहेगा। उन्हें अपने को अपने क्षेत्र के अतिक्रमण से बचाने की आवश्यकता होगी। यह माग की जायेगी कि किसी को उनकी प्रविधि बरतने की अनुमति देने से पहले इस बात की व्यवस्था की जाये कि वे भी किसी दूसरे व्यवसाय में प्रवेश कर सकें। एक बात यह भी है कि काम जितना अधिक प्राविधिक होता चला जायगा, इस प्रकार की विशेषज्ञता और अधिक आवश्यक होती जायगी क्योकि मजदूर एक ऐसे छोटे से समूह का सदस्य है जिसके लिए सामान्य सरक्षण मरीचिका के समान होगा। और न मैं प्रो० ग्राहम वालस[1] की इस बात को ठीक समझता हू कि इन सुरक्षणो से तो वृत्ति सबधी परिरक्षण बढता ही है। एक अर्थ में यह परिरक्षण अनुभव की परम्परा का सबसे अच्छा सुरक्षण है और मोटे तौर पर तो वृत्ति सबधी आत्मनिणय में ही मजदूरो का कोई समूह विशेष अपने प्रति जागरूक हो सकता है। मेरा विश्वास है कि यह चेतना ऐसी जड है जिससे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है परन्तु यह बात जितनी सच है उतनी हम इसे मानते नही है।

हाथ बँटाने का अर्थ यह भी अवश्य होना चाहिए कि उद्योग के लिए नीति के निर्माण में परामर्श देने का अधिकार मिले। नीति का निर्माण दिन प्रति दिन के प्रबन्ध के समान नही है। नीति का निर्माण एक लम्बी योजना के समान है, जिसके अनुसार एक लम्बे काल

१. अवर सोशल हेरिटेज—अध्याय ६

के लिए घटनाओ को सचालित किया जाता है। निश्चय ही इस सम्बन्ध में किसी उद्योग विशेष के मजदूरो को यह अधिकार है कि उनकी बात सुनी जाय, वे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके, उन्हें जो सन्देह हो वे उनपर जोर दे सकें और आवश्यक हो तो निर्णय का विरोध कर सकें। परन्तु वे नीति का निर्माण नही कर सकते, यह काम उनका है जो समुदाय के प्रतिनिधि है। उदाहरण के लिए, यह निर्णय करना खान-मजदूरो का काम नही है कि किसी वर्ष विशेष में कितना कोयला निकाला जाय। वे निर्णय करनेवाले निकाय से यह कह सकते हैं कि खानों में कोयला खोदने वालो के लिए जितने ढब नियत किये गये है वे बहुत अधिक है या यह कि यह मात्रा इतनी कम है कि उससे पर्याप्त जीवन-स्तर बनाए रखने योग्य मजदूरी का पैसा नही निकल सकता। परतु यद्यपि इस प्रकार किये गये निणय मे उनका भी हाथ रहेगा, परन्तु निर्णय जिन विचारो पर निर्भर हैं उनके हित उनका अशमात्र ही है। प्रबध का काम भिन्न बात है। एक बार नीति के सम्बन्ध मे निर्णय हो जाय तो उसे लागू करना प्रविधि का विषय है जिससे सम्बन्धित मजदूरो की प्रत्येक श्रेणी को उसमे सहायता देने का अधिकार है, परन्तु सहायता योग्यता के अनुपात में होनी चाहिए। कोयला काटने वाला उन समस्याओं को हल नही कर सकता जिन्हे निबटाना खान इजीनियर का काम है, क्योकि उसके पास वह ज्ञान नही है जिससे वह ऐसा कर सके। वह अभ्यावेदन करने योग्य होना चाहिए जिसमें उसके दु ख-दर्द या सुझाव हो सकते है। परन्तु ज्यो ही प्रबन्ध किसी श्रेणी विशेष के मजदूर की प्रविधि से आगे बढ जाय, वह इसपर नियत्रण रखने की आशा नही कर सकता, समस्याए निबटाने के लिए सलाह देने के सबध में चाहे उसकी कुछ ही हैसियत क्यो न हो। वह तो वैसी ही बेहूदा बात होगी जैसे कि किसी रोगी को औषधि चुनने के सम्बन्ध में डाक्टर पर नियत्रण रखने दिया जाय।

राष्ट्रीयकृत उद्योग मे शास्त्रीय तरीका ब्रिटेन के डाकघर की व्यवस्था जैसा रहा है, जिस में कि यह मान लिया जाता है कि उसके कार्य सचालन की नीति ससद् के प्रति उत्तरदायी मत्री बनाता है। यह स्पष्ट है कि ऐसा सीधा सादा तरीका हमारी आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त नही है। पहली बात तो यह है कि इस व्यवस्था में डाकघर के काम का वास्तविक ज्ञान नही होता। ससद् में इसके प्राक्कलनो की प्रति वर्ष जाच होती है, कभी कभी इस विषय पर प्रश्न पूछे जाते हैं और शायद ही कभी विशेष वाद-विवाद होता है। इस प्रकार ससद का कथित नियत्रण अधिकतर कल्पना मात्र ही बन कर रह जाता है। और यह मान लेना कि डाकघर के तरीके मत्रिमडल की नीति के विषय हैं, औद्योगिक उधम के उचित स्वरूप से मेल नही खाता। और फिर मत्रियो के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त ऐसे क्षेत्र में नही चल सकता। तत्कालीन सरकार इसका बुरा मनाती है और अधिकारी भी इसे नापसन्द करते हैं, जिन्हें मालूम है कि जिस प्रकार की आलोचना का उन्हें उत्तर देने पड़ता है वह कितनी अज्ञानपूर्ण है। इस सिद्धात से गैरसरकारी सदस्यो को गुस्सा आता है जो यह देखते हैं कि उनके प्रश्नो का उत्तर ऐसे ढग से दिया जाता है कि उनके तत्व उपेक्षित रह जाते हैं। जिन राष्ट्रीयकृत उद्योगो की चर्चा हम कर रहे है उनपर विधान सभा में विचार होना अनिवाय है। परन्तु मेरा विचार है कि तत्कालीन सरकार के

साथ उनका सम्बन्ध भिन्न ही रूप धारण करेगा ।

मैं पहले ही कह चुका हू कि सरकार के काम का वितरण कृत्यो के आधार पर होना चाहिए न कि व्यक्तियो के। उनमें से एक काम पण्यो के उत्पादन पर नियत्रण है, जिसके विभिन्न रूप होगे । यह नियत्रण मोटे तौर पर जितना अधिक एकीकृत होगा, राष्ट्रीय नीति के उतनी ही अधिक अच्छी होने की सभावना है । हमें खानो, कृषि और डाक-सेवाओ के लिए अलग अलग मत्री नही रखने चाहिए । हमें उत्पादन के एक ऐसे मंत्री की आवश्यकता है जो अपने अधीनस्थ कई मत्रियो की नीतियो में समन्वय स्थापित करे और विधान सभा के लिए मत्रिमडल के सामने समन्वित विचार रखे । किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग के सबध में ये मत्री इसके सचालन के लिए प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदार नही होगे। वे उन लोगो को, जो इसका प्रबध चलाते हैं, सामान्य रूप से उन विचारो की सूचना देंगे जिनकी कार्यान्विति विधान सभा चाहती है । प्रबन्धक उन्हें उन तरीको के बारे में रिपोर्ट देंगे, जिन्हें वे उन विचारो की कार्यान्विति के लिये प्रयोग मे लाना चाहते हैं । उसके बाद मत्री उनकी आलोचना करेगा, उन्हें सुझाव देगा और कभी कभी आपत्ति भी उठाएगा। जैसा कि मैं ने पहले कहा, प्रत्येक मत्री की सहायता के लिए एक विधान समिति होगी जिससे वह उस उद्योग से सबधित समस्याओ के बारे में विधान सभा को मत्रणा देने योग्य हो सकेगा। सक्षेप में, मत्रीगण प्रबध नही चलायेंगे बल्कि नियत्रण रखेग, जो स्वय विधान सभा द्वारा स्वीकृत नीति से जनित होगा। मामलो का निदेशन करने मे विभिन्न सुझाव किस प्रकार परिणाम में परिणत होते हैं—इसका ज्ञान उन्हें अपने विभागो के विशेषज्ञो से मिलेगा। ये विशेषज्ञ उन्हें लागत और उत्पादन के आकडे देने, लेखा परीक्षा के परिणाम बताने, निरीक्षणो के परिणामो की सूचना देने और, शायद इससे भी बढकर, नयी बातो के किये जा सकने के सम्बन्ध में अनुसन्धान का ब्यौरा बताने में लगे रहेंगे और मत्री इन बातो की ओर प्रबधको का ध्यान आकृष्ट कर सकेंगे। उनका काम इसी में पूरा हो जायगा कि वे विधान सभा को इस बात का विश्वास दिला दें कि उन्होने जो नीति स्वीकार की है, उसे लागू किया गया है। परन्तु उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यापार मडल टेलीफोन सेवा से असतुष्ट है या कोई पादरी लदन से ईस्टबोर्न जाने वाली गाडी का रास्ते में एक और स्थान पर रुकना पसन्द नही करता, तो इसके लिए वे उत्तरदायी नही होंगे। इन बातो को प्राविधिक समस्याए समझा जायगा जिनके सबध में प्रबध कर्मचारियो की राय को वास्तविक महत्व दिया जाता है।

यहा दो बडे महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं। क्या ऐसे नियत्रण से इस बात का पर्याप्त आश्वासन मिलता है कि सेवा के सचालन मे राज्य के हितो का सुरक्षण किया जायगा ? मुझे यह समझने का कोई कारण दिखाई नही देता कि ऐसा नही होगा। उद्योग के सम्बन्ध में नीति बनाने की विधान सभा की चरम शक्ति वैसे ही बनी रहती हैं, उसमें कोई कमी नही आती। वह उद्योग के सचालन के सद्धातो पर उससे कही अधिक अच्छी तरह नियत्रण रख सकेगी जितना कि आजकल सम्भव है। वह उन सिद्धातों की कार्यान्विति की उससे कहीं अधिक ज्ञान के आधार पर आलोचना कर सकेगी जो कि आजकल काग्रेस या हाउस ऑफ कामन्स के किसी साधारण सदस्य को प्राप्त होता है। इसमें ऐसे सदस्यों

का समूह होगा जो विधान सभा के काम के प्रत्येक महत्वपूर्ण पहलू के प्रति सजग होगा। उसे मत्रणा समितियो से मालूम होता रहेगा कि उस काम का उससे प्रभावित व्यक्तियों पर क्या असर पडता है। मत्री के विभाग का जो प्रचार होगा उससे इसके सचालन की प्राविधिक कार्यकुशलता पर प्रकाश पडेगा। जिस व्यवस्था की रूपरेखा यहा बताई गयी है, उससे राष्ट्रीय स्वामित्व के सुरक्षणो में वृद्धि ही होती है, कमी नही।

दूसरा प्रश्न अधिक जटिल है। यदि, जैसा कि कहा गया है, अन्तिम नियत्रण राष्ट्रीयकृत उद्योग से बाहर किसीके हाथ में दिया जाय तो क्या जिस प्रक्रिया में वह लगा है उसके लोकतत्रात्मक स्वरूप को देखते हुए उत्पादक का स्वप्रबध प्रभावशील बनाया जासकता है? यह तो फौरन ही कह देना होगा कि यदि स्वप्रबध का तात्पर्य यह है कि सारे कार्यों और जिस नीति पर वे निर्धारित है, उस पर उत्पादको का नियत्रण समग्र और निरपेक्ष हो तो, इसे वास्तविक रूप देना असम्भव है। हम किसी डाक सघ को राज्य से यह कहने की अनुमति दे सकते हैं कि चिट्ठिया पहुचाने के लिए क्या शुल्क लिया जाय, परन्तु हम यह नहीं कर सकते कि उसे चिट्ठिया पहुचाने के मूल्य को अन्तिम रूप में नियत करने की अनुमति दें। हम उसे यह अवसर दे सकते हैं कि वह अपने पक्ष को अत्यधिक मजबूत बना ले परन्तु चिट्ठिया पहुचाने में और जिन लोगो का हित हैं, उनकी रक्षा के लिए तटस्थ दृष्टिकोण होना बहुत आवश्यक है। हम खान मजदूरो को यह अनुमति दे सकते हैं कि वे किसी खनिक सघ मे सम्मिलित होने के लिए वह कसौटी निर्धारित कर सके जिसे वे उपयुक्त समझते हो, परन्तु राज्य के पास यह अधिकार अवश्य रहना चाहिए कि वह उस कसौटी का पुनरीक्षण कर सके। मेरा विचार है कि अधिकतर मामलो में राष्ट्रीयकृत उद्योग का प्रबन्ध, व्यावहारिक महत्व के प्रत्येक प्रश्न के सम्बन्ध में, लगभग पूरी तरह उन लोगो के हाथ में रहेगा जो इसे चलाते है। परन्तु यह सुरक्षण सदा रहना चाहिए कि उत्पादक अपने हित के लिए समुदाय का शोषण करने का प्रयत्न न करे। जिन कसौटियों को मि० कोल[1] ने इस बात का पर्याप्त प्रमाण समझा है कि कोई सघ किसी समाज का कभी शोषण नही कर सकेगा, वह मुझे किसी प्रकार भी पर्याप्त दिखाई नही देतीं। उनका विचार है कि सघ शोषण नही कर सकता, क्योंकि उत्पादन के साधनो के उपयोग के बदले उससे आर्थिक किराए का बदल लिया जाता है। परन्तु स्पष्ट ही है कि वह बदल उत्पादन लागत के अनुसार निश्चित होना चाहिए और उस उत्पादन लागत में मजूरी की राशि भी शामिल की जा सकती है जिसके लिए कोई औचित्य नहीं है। मि० कोल का विचार है कि इस प्रकार का सदेह करना मानवीय स्वभाव में विश्वास के अभाव का द्योतक है। मेरे विचार में इस बात का सीधा सा उत्तर यह है कि मानवीय स्वभाव ने हमें इतनी बार धोखा दिया है कि इससे अपनी रक्षा का प्रबन्ध करना आम समझ का काम है। उनका कहना है कि सङ्घो पर कर लगाने से यह समस्या हल हो जायगी क्योकि सक्षम सत्ता इस कर का बोझ उद्योग की उत्पादन शक्ति के अनुसार डालेगी और कि चूकि उत्पादन-शक्ति, मूल्य पर निर्भर है इसलिए "अधिकतर बोझ उन पर डाला जायगा जो उसे सहनकर सकते हो।" ऐसा कहने का मतलब

---

१ सेल्फ गवर्नमेन्ट इन इण्डस्ट्री, पृष्ठ २३७।

यह है कि हम इस बात को भूल जाते हैं कि "उसे सहन करने वालो" का ही सक्षम सत्ता पर प्रभुत्व रहेगा। और न मैं यह समझता हू कि हम औद्योगिक परिवर्तन की आवश्यक व्यवस्था या आवश्यक हद तक उद्योग की लेखा-परीक्षा तब तक कर सकते हैं जब तक कि नियन्त्रण उद्योग से बाहर न रहे। उद्योग में स्वतन्त्रता का अर्थ तो मैं यह मानता हू कि कोई व्यक्ति जिस वृत्ति में लगा हुआ है उसे उसमें अपने व्यक्तित्व को रचनात्मक बनाने का अवसर मिले, और बाद में यह महसूस होगा कि किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग की प्रबन्ध-कारी सस्थाओ में उस रचनात्मक शक्ति के लिए पूरा अवसर है।

तो, अब मैं प्रबन्ध की सस्थाओ की ओर आता हू। प्रत्येक राष्ट्रीयकृत उद्योग के शीर्ष पर एक प्रबन्ध बोर्ड होगा जिसे विधान सभा द्वारा अनुमोदित नीति को लागू करने के लिए पूरी शक्ति प्राप्त होगी। इसका गठन कैसा होगा और इसके कृत्य क्या होगे ? मन्त्रिमडल की तरह इसमें भी कुछ ही व्यक्ति होने चाहिए क्योकि कोई भी कार्य-समिति, यदि उसे वास्तव में किसी हद तक कार्यकुशल होना हो, बडी नही हो सकती। इसमें उद्योग के तीन भिन्न प्रकार के हितो के प्रतिनिधि होने आवश्यक हैं। इसमें वे सदस्य होगे जो प्रबध पक्ष के प्रतिनिधि होगे, जिसमें प्राविधिक पक्ष भी आ जाता है और फिर दूसरे सदस्य विभिन्न वृत्तियो—शारीरिक श्रम करने वालो और लिखा पढी का काम करने वालो—के प्रतिनिधि होगे। और अन्त में, इसमें जनता के और विशेषकर उन उद्योगो के प्रति-निधि होगे जिनका सम्बद्ध सेवा से सरोकार है। इन सदस्यो को कैसे चुना जायगा, इस विषय पर अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता। यह स्पष्ट ही है कि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उद्योग का स्वरूप कैसा है और उसके अन्तर्गत वृत्तियो में कितनी विविधता है। परन्तु मेरे विचार में कुछ सिद्धान्त स्पष्ट हैं। वृत्तियो के प्रतिनिधि सदा उन्ही द्वारा चुने जाने चाहिए। यह आवश्यक नही कि इसका मतलब यही हो कि उस वृत्ति में लगे सभी व्यक्ति उन्हें चुनें। मेरा अपना विचार तो यह है कि इस बात की अधिक सम्भावना है कि इन प्रतिनिधियो को वृत्ति में लगे व्यक्तियो की कार्यकारिणी समिति द्वारा या प्रतिनिधियो की तदर्थ बैठक द्वारा चुनना इससे कही अच्छा होगा कि सभी लोग बिना सोचे समझे वोट दें जिसमें किसी उम्मीदवार के गुणो के बारे में ठीक ठीक राय नही बनायी जा सकती। जो सदस्य प्रबन्ध के प्रतिनिधि हो उनका चुनाव प्रबन्धको और प्रविधिवेत्ताओ को मिल कर करना चाहिए, और इस बात का प्रबन्ध करना अच्छा है कि बोर्ड में प्रत्येक समूह के अपने सदस्य हो। जनता का प्रतिनिधि उस विभाग के अधीनस्थ मन्त्री को नाम-जद करना चाहिए, जिसके अन्तर्गत वह उद्योग हो। परन्तु मेरे विचार में, उसे व्यक्तियो की प्रस्तावित सूची अपने विभाग की विधान-समिति की स्वीकृति के लिए भेजनी चाहिए और उस सूची में उपभोक्ता सहकारिता आन्दोलन द्वारा नामजद एक प्रतिनिधि सदा रहना चाहिए। सदस्यो को कुछ वर्षों की अवधि के लिए नियुक्त किया जाय और उस अवधि के बाद भी उनके फिर नियक्त किये जा सकने पर कोई प्रतिबध नही होना चाहिए। आवश्य-कता इस बात की है कि बोर्ड में अधिक से अधिक योग्य व्यक्ति हो, यह शिक्षुओ को ट्रेनिंग देने के लिए नही है। सदस्यो को उनके काम के लिए पैसा तो मिलना ही चाहिए और उनके काम के लिए जितनी बैठकें आवश्यक हो, होनी चाहिए।

प्रबन्ध-बोर्ड के कृत्यो की परिभाषा तो, कम से कम सिद्धान्त रूप में, अपने आप आसानी से हो जाती है। इस पर विधान सभा की आम नीति को लागू करने का भार है। बोर्ड को इस नीति की व्याख्या मोटे तौर पर करनी चाहिए और यह सोचना चाहिए कि इसके निहित अर्थ क्या है। यह उन भागो के काम के बीच समन्वय स्थापित करेगा जिनमें कि सारे उद्योग को बाटना आवश्यक होगा। इसलिए यह खडो के लिए मत्रणा-समिति के रूप में काम करेगा, उनकी समस्याओ पर विचार करेगा, उनके कामो की आलोचना करेगा और उन्हें सुझाव देकर उनसे प्रत्येक भाग में या सारे राष्ट्र में प्रयोग करने के लिए कहेगा। यह स्पष्ट है कि यदि इस के काम का पर्याप्त एकीकरण करना हो तो इसे तीन आवश्यक काम सौंपने होगे। इसे उद्योग के आकडो के सबध में—अर्थात् प्राक्कलनो, लेखा और लेखा-परीक्षा पर नियत्रण बनाए रखना होगा। लागत के ठीक अनुमान के लिए, और इसलिए मूल्य निर्धारण के लिए, और साथ ही पर्याप्त रक्षित निधि रखने, नयी पूजी लाने आदि जैसी वित्तीय समस्याओ के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए ऐसा करना जरूरी है। दूसरे उद्योगो के साथ सम्बन्ध प्रबध-बोर्ड तय करेगा—इन सम्बन्धो का ब्यौरा नही बल्कि ऐसे व्यवस्थाबद्ध सिद्धान्त जिनसे व्यवहार में उचित एकरूपता लाई जा सके। दूसरी बात यह है कि इसे खडवार निरीक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जब कभी उत्पादन में कमी आ जाय तो बोर्ड को इस योग्य होना चाहिए कि वह किसी दूसरे पर निर्भर किये बिना इस कमी के कारण बता सके। जहा प्रबन्धको और काम करने वालो के परस्पर औद्योगिक सम्बन्ध खराब हो, बोर्ड को खराबी की परिस्थितियो का स्वतन्त्र रूप से सर्वेक्षण करने योग्य होना चाहिए। तीसरा काम यह है, कि इसे एक ऐसा स्वतन्त्र अनुसन्धान सगठन बनाए रखना चाहिए जो खडो को नये तरीको, विदेशो में किए प्रयोगो के परिणामो और नयी मशीनो के लगाए जा सकने आदि के सम्बन्ध में सूचना देता रहे। यह तो स्पष्ट है ही कि इसकी बैठको में सब कोई नही आ सकते, परन्तु इसका हिसाब-किताब सब को मालूम हो सकना चाहिए जैसे कि राष्ट्र का हिसाब-किताब सभी जान सकते है और इसकी कार्यवाही मोटे तौर पर उसके परिणाम के रूप में प्रकाशित होनी चाहिए। वर्ष मे कम से कम एक बार, और हो सके तो अधिक बार, बोर्ड को खड बोर्डों के सम्मेलन बुलाने चाहिए, जिनकी शक्तियो की रूपरेखा आगे चलकर बताई गयी है। बोर्ड को उद्योग की वृत्तियो के सम्मेलन भी बुलाने चाहिए जिनमे बेरोक टोक आलोचना की जाय, सिफारिशें की जाय और विचार-विनिमय हो। इन सम्मेलनो का सम्बन्ध उद्योग के साथ लगभग वैसा होना चाहिए जैसा कि इग्लैंड के मजदूर सघो के सम्मेलनो का सारे मजदूर आन्दोलन से होता है। यह नियत्रण तो नही रखता परन्तु मोटे तौर पर आन्दोलन की सचालक-शक्ति में उस समय की प्रवृत्तियो को दिशा देता है। प्रबन्ध-बोर्ड को चाहिए कि हर साल, अपने काम से सम्बद्ध विभाग के मत्री को अपनी रिपोर्ट दे।

इसके काम के दो और महत्वपूर्ण पहलू है। स्पष्ट ही है कि इसे नियुक्तिया करने की कुछ शक्तिया होगी। जैसा कि बाद में ब्यौरेवार बताया जायगा, बोर्ड खड बोर्डों के जन-प्रतिनिधियो का चुनाव करेगा और इसे अपने लिए कर्मचारी नियुक्त करने की भी आवश्यकता होगी। नियुक्तियो के लिए इसे एक प्रतिष्ठान अनुभाग बनाना होगा जो यह देखेगा

कि कोई ऐसा व्यक्ति किसी पद पर नियुक्त न किया जाय जिसमें अपेक्षित योग्यता न हो। यह योग्यता मुख्यतया वृत्ति सम्बन्धी होगी और यह बात विभिन्न प्रकार के पक्षपात से सुरक्षण का काम देगी। परन्तु मेरे विचार में यह भी महत्वपूर्ण है कि प्रबध-बोर्ड को भी इस बात से रोकना चाहिए कि वह इस प्रतिष्ठान अनुभाग को अपनी सकल्पना पर निर्भर सस्था न बना ले। इस प्रयोजन के लिए मेरा सुझाव यह है कि इस विभाग के सदस्य, जिन की सख्या पाच या सात हो, उद्योग की वृत्तियो द्वारा स्थायी रूप से नामजद व्यक्ति हो और विभाग का मत्री ही इन्हें पदच्युत् कर सके। तब उनका कार्यकाल और स्वरूप उतना ही स्वतन्त्र होगा जितना, कि इग्लैड के असैनिक सेवा आयोग के सदस्यो का। न केवल सारे राष्ट्र के पदो—बल्कि किसी कारखाने या खान के प्रबन्धक के पदो पर—नियुक्ति करने की शक्ति भी इन्ही के हाथ में होनी चाहिए। प्रत्येक मामले में वे योग्यता का प्रमाण भर माग सकते है परन्तु ऐसा प्रमाण मागने की शक्ति उद्योग को ठीक तरह चलाने के लिए आवश्यक है।

और दूसरी बात यह भी स्पष्ट ही है कि प्रबन्ध-बोर्ड को हडताल और तालाबन्दी के सम्बन्ध में शक्तिया होनी चाहिएँ। मेरा विचार है कि राष्ट्रीय उद्योग में जिस तरह की सम्बन्ध-भावना निहित है उसमे एक ऐसी स्थानीय शर्त बना देनी चाहिए कि सारे राष्ट्र मे कोई हडताल या तालाबन्दी तब तक न हो जब तक कि प्रबन्ध-बोर्ड ने समझौते के साधनो को आजमा न लिया हो। खडो में तालाबन्दी या हड़ताल, प्रारम्भ में तो, खडो का ही विषय है परन्तु प्रबध-बोर्ड को यह अधिकार होना चाहिए कि वह विवादग्रस्त विषय के बारे में फौरन रिपोर्ट माग सके, खड-बोर्ड को बता सके कि वह जो समझौता चाहता है उसके सिद्धान्त क्या है, और यदि खड बोर्ड के उस मामले को तय करने के तरीके से सहमत न हो तो उसे अपने हाथ में ले सके। ऐसे सभी विवादो में यह आवश्यक है कि सारे उद्योग में मजूरी की दरे और काम के घटे एक से हो। प्रबन्ध-बोर्ड को कोई ऐसा समझौता नही मानना चाहिए जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध हो। सम्पाद्य काम के स्वरूप या न्यूनतम से अधिक उत्पादन की मात्रा जिसके आधार पर नागरिकता के लिए पूरी मजूरी की व्यवस्था है—को छोड और किसी आधार पर समझौते में विविधता लाने का कोई कारण नही है।

प्रबन्ध बोर्ड का काम स्वय प्रबन्ध करने की बजाय प्रबन्ध मे समन्वय लाने का अधिक होगा। किसी केन्द्रीकृत सेवा, जिस में पूरी एकरूपता हो, में परिवर्तनशीलता के लिए कोई स्थान नहीं रहता और न ही प्रबन्ध बोर्ड के बाहर पहलकदमी की कोई गुजाइश रहती है। ऐसी नीति का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि नौकरशाही निकृष्टतम रूप में स्थापित हो जायगी। खानो और कारखानो के सामने ऐसे विनियमो का जाल बाधा बनकर आ खडा होगा जिससे उन्हें परिस्थितियो का सामना करने में कठिनाई होगी जो कि उनके सामने आती ही है। इसलिए प्रत्येक उद्योग को कुछ प्रदेशो में बाटना पडेगा और उन प्रदेशो की सख्या उद्योग के स्वरूप और उन सिद्धान्तो पर निर्भर होगी जिनपर कि उसका सगठन किया गया है। उदाहरण के लिए, इग्लैड म कोयला उद्योग को खान विभाग ने ६ खण्डो मे बाट रखा है और उसके प्रबध के लिए मि० जस्टिस शैंकी ने जो योजना बनाई थी उसमें उसे १४ खडो में बाटा गया था। इन प्रादेशिक या खड बोर्डों में से प्रत्येक में उन सभी हितो

के प्रतिनिधि होने चाहिए जो कि प्रबन्ध बोर्ड में हो। प्रबन्ध और वृत्तियो के प्रतिनिधि भी वैसे ही चुने जाने चाहिए और जनता के प्रतिनिधियो की नियुक्ति प्रबन्ध बोर्ड द्वारा की जानी चाहिए। जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए जिन व्यक्तियो को चुना जाय उन में सहकारिता आन्दोलन का खड प्रतिनिधि होगा।

प्रादेशिक बोर्डों के कृत्य वैसे ही होगे जैसे कि प्रबन्ध बोर्ड के है हालाकि उनका क्षेत्र उतना विस्तृत नही होगा। वे अपने खड मे उद्योग के प्रबन्ध के लिए जिम्मेदार होगे। वे वहा पर राष्ट्रीय नीति को, उस खड की विशेष परिस्थितियो के अनुसार आवश्यक परिवर्तन के साथ लागू करेंगे। मेरा विचार है कि मूल मजूरी और काम के घटो की दो समस्याओं पर उनका नियत्रण नही रहना चाहिए क्योकि वे ऐसे राष्ट्रीय विषय है जिनके स्वरूप के कारण उनपर एक से सिद्धान्त लागू होने चाहिए। इस बात का कोई कारण नही कि नार्थम्बरलैण्ड का कोई खान मजदूर यार्कशायर के किसी खान मजदूर की अपेक्षा अधिक देर तक काम करे और न ही इस बात का कोई युक्तियुक्त आधार है कि एक ही जैसे परिश्रम के लिए उसे कम पैसा मिले। प्रादेशिक बोर्ड अपने क्षेत्रो मे स्थित विभिन्न खानों या कारखानो के प्रबन्धको को भी नियुक्त करेगा। प्रत्येक व्यक्ति को चुनते समय उन्हें दो सुरक्षणो का ध्यान रखना चाहिए। मेरे विचार में उन्हे ऐसे चुनाव में सभी योग्यता-प्राप्त व्यक्तियो को किसी पद के लिए प्रतियोग्यता में भाग लेने का अवसर देना चाहिए और उन्हें विवश करना चाहिए कि वे जिसे चुनें उसका नाम प्रबध बोर्ड के अनुष्ठान अनुभाग को बताए। और ऐसा होना चाहिए कि अनुष्ठान अनुभाग सिवाए अपर्याप्त योग्यता के और किसी आधार पर, नामजद व्यक्ति को अस्वीकार न कर सके। मेरे विचार मे सबसे अधिक महत्व इस बात का है कि प्रादेशिक बोड को कर्मचारियो के सम्बन्ध में अपने क्षेत्र की समस्याओ के लिए पूरी जिम्मेदारी दी जाय। अपने क्षेत्र में सारे औद्योगिक विवादो के सम्बन्ध मे इससे मुख्य सत्ता के रूप मे काम करना चाहिए। हा, इस की जिम्मे दो परिसीमाएँ होनी चाहियें। पहली यह कि प्रबन्ध बोर्ड को कोई विवाद अपने क्षेत्राधिकार मे लेने का अधिकार होना चाहिए और दूसरी यह कि मजदूर प्रादेशिक बोर्ड के निणय के विरुद्ध प्रबन्ध बोर्ड से अपील कर सके। प्रादेशिक बोड के आधीन किसी विशेष क्षेत्र मे माल खरोदने और उत्पाद को बचने के लिए विभाग होगे जो, स्पष्ट ही है, कि आवश्यक शृखला द्वारा प्रत्येक खान या कारखाने से सम्बद्ध होगे। यह स्पष्ट है कि किसी केन्द्रीय सगठन द्वारा माल खरीदने से बचत होती है और बेचने की सगठित व्यवस्था ही एक ऐसा तरीका है जिससे हम उन बहुत-से बिचौलियो को निकाल बाहर कर सकते है, जो कोई ऐसी वास्तविक सेवा किए बिना, जिसके बगैर काम चल सकता हो, उद्योग मे घुसे हुए है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच जितना प्रत्यक्ष सम्बन्ध होगा, उतना ही अच्छा रहेगा।

प्रादेशिक बोर्डों के नीचे उद्योग की अलग-अलग खानें और कारखाने होगे। मेरे विचार में उनमें से प्रत्येक के सगठन में दो बातें साफ है। कारखाना या खान, मूलत एक प्रबन्धक के नियत्रण में होना चाहिए जो इसके चलाने के लिए प्रत्यक्ष रूप में जिम्मेदार हो और मजदूरो के साथ उसका सम्बन्ध कारखाना-समिति की मार्फत निर्धारित होना चाहि । उत्पादन के प्रत्येक एकाग में, व्यक्तिगत जिम्मेदारी, जो किसी व्यक्ति के नियत्रण की द्योतक

है, का स्थान कोई और चीज़ नही ले सकती। निर्णयो को लागू करने की योजना बनाने के लिए एक ही व्यक्ति होना चाहिये जो उनके परिणामो के लिये ज़िम्मेदार हो। समितियाँ वास्तविक काम चलाने का प्रयत्न करने की अपेक्षा प्रस्तावित कार्यवाही को रद्द करने या नीति की रूपरेखा तैयार करने मे अधिक प्रभावशाली हो सकती है। सचालन का काम तो ऐसे व्यक्ति का है जो, निर्दिष्ट साध्य तक पहुचने के लिये अपना रास्ता बनाने में स्वतत्र हो। उसपर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, उसके प्रयत्न उन्ही के आधीन रहेगे। परन्तु यह निश्चित है कि जब तक किसी एक को व्यक्तिगत रूप मे किसी कारखाने के प्रबन्ध के लिए ज़िम्मेदार नही बनाया जाता वह कारखाना असफल रहेगा।

परन्तु इसका यह मतलब नही है कि प्रबन्धक निरकुश हो और उसे अपने लक्ष्य तक पहुचने के लिए चाहे जो करने की स्वतत्रता हो। किसी साधारण मजदूर पर उसकी नीति का उससे कही अधिक प्रभाव पडने की सम्भावना है जो कि उसपर प्रबन्धक-बोर्ड या प्रादेशिक बोर्ड के निणयो का पडेगा। यदि उसे यह महसूस हो कि वह अपने प्रतिनिधियों की मार्फत, अन्तत नीति के निर्धारण में हाथ बटाता है तो अपने काम में उसकी स्वतत्रता निंस्सदेह बढ जाती है। परन्तु जिस चीज का उसपर और जीवन मे उसके सुख पर अधिक-प्रभाव पडता है, वह उसके प्रतिदिन के जीवन की परिस्थितिया है। वह अपने फोरमैन के आदेश या कारखाने के प्रबन्धक के निर्णय को बहुत गहराई से महसूस करता है। इस प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि वह उन आदेशो और निर्णयों के निर्माण में हाथ बटाए और ठोस सहायता दे। स्पष्ट ही है कि न कारखाना समितियो का स्वरूप एकसा नही हो सकता। जो भी ऐसी समितियो के विभिन्न वर्तमान साचो को देखेगा वह इस बात को महसूस करेगा कि इनमें एकरूपता न लाई जा सकती है और न होनी चाहिए।[1] ऐसी दशाए भी होगी जिनमें प्रबन्ध और श्रमिको की मिलीजुली समिति ठीक होगी। ऐसी भी हैं, जिनमे प्रतिनिधि केवल मजदूरो के ही लिए गए है। कुछ ऐसी भी समितिया दिखाई पडेगी, जिन में अधिकतर विशेष श्रेणी के मजदू ो के ही प्रतिनिधि होगे न कि सभी दर्जों के मिले जुले मजदूरो के। कुछ ऐसे कारखाने होंगे, जिनमें इन तीनो प्रकारो की समितिया आवश्यक होगी और कुछ ऐसे होगे जिन में एक प्रकार की समितियो से ही काम चल जायगा। उनकी शक्ति को केवल यही तक सीमित करना आवश्यक होगा कि वे प्रबन्ध बोर्ड या प्रादेशिक बोर्ड के साथ किए गए राष्ट्रीय या प्रादेशिक समझौतो के सिद्धान्तों को न बदल सके। इन सिद्धान्तों को बदलने का प्रश्न सदा वृत्ति विशेष की सस्थाओ के हाथ में ही रहना चाहिए। हा, स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार सभी सम्बद्ध व्यक्तियो की अनुमति से सिद्धान्तो का उचित अनुकूलन किया जा सकता है।

कारखाना समिति के कृत्य मुख्यता दो प्रकार के होगे। वे प्रबन्धको के साथ दिन

---

[1] देखिये बृटेन सम्बन्धी ब्यौरे के लिए श्रम मंत्रालय की कारखाना समितियों सम्बन्धी रिपोर्ट और अमरीका के बारे में न्यूयार्क के औद्योगिक गवेषणा ब्योरो की तत्सम्बन्धी रिपोर्ट। जर्मनी के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की जनवरी १२२१ की जर्मनी में कारखाना परिषदों सम्बन्धी रिपोर्ट।

प्रति दिन की शिकायतो के सम्बन्ध में बातचीत करेगी जो अनिवार्य रूप से सभी प्रबन्धो मे उत्पन्न होती है—जैसे अन्यायपूर्ण व्यवहार, असाधारणतया अधिक काम, कारखाने में काम का अनुचित बँटवारा, देरी—उदाहरण के लिए —जिसका सामना कोयले के पर्याप्त टब न मिलने पर खान मजदूरो को करना पडता है इत्यादि—और ये समितिया प्रबधको को कारखाने में सुधार या सगठन के बारे में सुझाव देगी। जो कोई भी वर्त्तमान कारखाना समितियो के आजकल के कृत्यो का अध्ययन करता है, इससे वह कम से कम मोटे तौर पर यह समझ जायगा कि औद्योगिक ढाचे में उनका क्या स्थान होगा। और उनका कुछ ब्यौरा देना उपयुक्त होगा क्योकि उनका कार्यक्षेत्र समझ लेने से यह जानने का एक साधन मिल जायगा कि उस प्रक्रिया से मजदूर का जीवन कहा तक आयोजित होता है, जिसका निर्माण करनेवाला मुख्यत वह स्वय ही है। मैं यह और कहता हू कि साविधानिक अधिकार के रूप में उन्हें प्रबन्धक तक पहुचने की शक्ति होनी चाहिए, उन समितियो में काम करना कारखाने में काम के बराबर माना जाना चाहिए और जहा उनके कृत्य बहुत अधिक हो, उनके पदाधिकारी वैतनिक होने चाहिए। इसके अतिरिक्त हम प्रबन्धको के साथ उनके सम्बन्ध की ठीक-ठीक परिभाषा नही कर सकते। परन्तु दो बातें कही जा सकती है। प्रबन्धक उनकी सेवाओ का जितनी अधिक बार उपयोग करेगा, उनसे परामर्श लेगा और उनके दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करेगा, वह उस प्रयत्न की प्रवृत्ति को जिसकी हमे उद्योग में आवश्यकता है—उतना ही अधिक प्रोत्साहित कर सकेगा। इसमें सन्देह नही कि बहुत कुछ तो प्रबन्धको के स्वभाव पर निर्भर होगा, कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें किसी दूसरे से सलाह लेने की आदत बडी मुश्किल से पडती है। परन्तु ऐसे व्यक्ति आदमियो के दल से काम लेने की बजाय किसी विशेष क्षेत्र में विशेषज्ञ होने से अधिक योग्य होते है। हम निरकुशता को सहन नही कर सकते और जहा कही ऐसा प्रयत्न किया जाय, प्रादेशिक बोर्ड से अपील करना सदा उचित रहेगा।

इन बातो को ध्यान में रखते हुए मेरा यह कहना है कि कारखाना समितियां जिन समस्याओं को निबटाती है उनमे कम से कम निम्नलिखित विषय[१] तो आ ही जाते है—(१) कारखानो के नियम (२) काम के समय का बटवारा, आने-जाने के समय का हिसाब रखना, काम के समय में अन्तराल, (३) मजूरी की अदायगी (४) शिकायतो का निबटारा (५) छुट्टियो के प्रबन्ध (६) खानो और कारखानो में शारीरिक कल्याण उदाहरण के लिए, खानो के मुहानो पर स्नानगार, रक्षा के यत्रादि, स्थानो को गर्म रखने तथा सफाई के प्रबन्ध आदि की समस्याए (७) कारखानो और खानो में अनुशासन (८) शिशिक्षुओ का प्रशिक्षण (९) कारखाने मे शिक्षा, प्रविधि, पुस्तकालय और भाषणो आदि की व्यवस्था (१०) काम के ढग और व्यवस्था में सुधार के सुझाव लेने की व्यवस्था, ऐसे सुझावो के परीक्षण की सुविधा देने की व्यवस्था (११) कारखाने के सामाजिक जीवन का सगठन, जैसे खेलकूद, नाटक मडली आदि और (१२) रहने की व्यवस्था,

---

१ देखिए रिपोर्ट आन दी एस्टेबिलशमेंट एड प्रोग्रेस आफ ज्वायट इडस्ट्रियल कन्ट्रोल एच० एम० स्टेशनरी आफिस १९२३ पृष्ठ ७०–१।

स्कूलो का अपर्याप्त प्रबन्ध जिससे कारखाने के उचित रूप से काम चलाने पर प्रभाव पडता हो—आदि के सम्बन्ध में जाचपडताल। मैं यह नही कहता कि यह सूची पर्याप्त है, पूर्ण तो किसी प्रकार भी नही कही जा सकती। परन्तु इससे यह तो पता चल जाता है कि मजदूर के जीवन पर उन सस्थाओ का क्या प्रभाव पडता है जिनमें उसका हिस्सा है।

इस बात में भी कोई सदेह नही हो सकता कि ये कारखाना समितिया बडी प्रभावशाली रचनात्मक शक्तिया है। उनके महत्व के सबध में बहुत से प्रमाण है। उन्होने ऐसी व्यवस्था करवा ली है कि मजदूरी के काम पर पहुचने और आने के समय का हिसाब-किताब पहले से और अच्छी तरह रखा जाने लगा है। उनकी सहायता से उत्पादन की मात्रा अधिक बनाये रखी जा सकी है और उत्पादन में माल का अपव्यय कम हो गया है। समितियो ने सुरक्षा नियमो के उल्लघन को रोक दिया है। ऐसे भी मामले है जहा इन समितियो की कार्यवाही के कारण सामान की चोरी बिल्कुल बन्द हो गयी है। कुछ ऐसे हैं जिनमें समितियो द्वारा मशीनो के सबध में की गयी जाच-पडताल के फलस्वरूप बहुत प्राविधिक सुधार हुए है। कुछ मामलो में समितियो ने उत्पादन तो बराबर पहले जितना रखा है परन्तु मजदूरो को प्रति सप्ताह जितने घटे काम करना पडता था, उन में कमी करा दी है। एक और समिति ने प्रत्येक मशीन पर उत्पादन का चाट लगवा दिया जिससे कि मजदूरो को मालूम हो सके कि उनकी कार्य क्षमता में कितनी कमी या वृद्धि हुई है। ब्रिटिश सरकार[1] की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि किसी प्रतिष्ठान में मालिक मजदूर के प्रत्यक्ष सम्बन्धो का, जो अब नही रहे, स्थान इन समितियो ने ले लिया है। इतना ही नही बल्कि कई मामलो में ये समितिया उद्योग की आर्थिक परिस्थितियो और जिस प्रतिष्ठान मे वे काम करते हैं, उनकी आर्थिक परिस्थितियो को समझने के सबध में मजदूरो की माग भी पूरी करती है। कई मामलो में ये प्रश्न कठिन होते है परन्तु कारखाना समिति के कारण यह तो निश्चित हो गया है कि मजदूरो और मालिको में परस्पर विश्वास बना रहता है जिसके बिना किसी समस्या पर बातचीत करना असम्भव है।

इस बात पर जोर देना चाहिए कि ये कारखाना समितिया कारखाने में स्वतन्त्रता का मूल कारण हैं। आजकल के सगठन का जो विस्तार है उसके सामने व्यक्तिगत रूप में मजदूर असहाय है। वह ऐसी सस्थाओ का विकास करके ही अपना प्रभाव डाल सकता है जिनके द्वारा उस की सकल्पना की अभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिले। मेरा विचार है कि ये समितिया इस बात की गारटी हैं कि यह अवसर मिले तो समितिया मौके पर काम करेंगी और उन में एसे व्यक्ति होगे जो एक ही काम में लगे होने के कारण एक दूसरे को भली भाति जानते होगे। वे चुनाव द्वारा नियुक्त होगे और उनका कार्यकाल बिना किसी बडी कठिनाई के प्रबन्ध बोर्ड या प्रादेशिक बोर्ड की अपेक्षा कम किया जा सकता है। इन बोर्डों के लिए इन समितियो का बहुत महत्व होगा क्योंकि यह बात आम तौर पर सच्ची ही होगी कि जिस प्रबन्धक का अपने कारखाने की समिति से बराबर मतभेद रहता है वह किसी महत्वपूर्ण

---

१ देखिए रिपोर्ट आन दी एस्टेब्लिशमेन्ट एड प्राग्रेस-आफ ज्वायट इडस्ट्रियल कन्ट्रोल एच एम स्टेशनरी आफिस १९२३, पृष्ठ ८३

बात के अभाव के कारण अपने पद के योग्य नही है । इसी कारण इस बात का महत्व है कि समिति के कृत्य न केवल ऊपर बताए गए क्षेत्र तक ही सीमित हो बल्कि उसे प्रादेशिक बोर्ड से प्रबन्धक के प्रति विरोध प्रकट करने का भी अधिकार हो । मेरे विचार में यह अधिकार इन्हें नही दिया जा सकता कि उनकी बात प्रबधक को अस्वीकार होते हुए भी कारखाने मे लागू हो क्योकि कारखाने के सचालन के लिए जिम्मदार तो प्रबन्धक है और वह किसी एसी नीति को लागू नही कर सकता जिस से वह सहमत न हो और जो उससे नीचे दर्जे के कर्मचारियो ने बनाई हो । मेरे विचार में यह कहना भी ठीक नही कि समितियो को यह अधिकार देने से कारखाने में अनुशासन भग होगा क्योकि आम तौर पर यह देखा गया है कि भाईचारे और बराबरी के आधार पर बातचीत की जाय तो सतोषजनक समझौता किया जा सकता है । विरोध का अवसर तो बहुत कम आयगा और यदि यह न आए तो गहरे मतभेद का परिणाम बिना शर्त आत्मसमर्पण या हडताल के सिवाए और कुछ नही होगा । मेरा विचार है कि इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करना गलती है । इससे वह मानसिक वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है जो कि १९१८ के बाद योरुप की औद्योगिक परिस्थितियो में देखने को मिला है और जो औद्योगिक व्यवस्था के ठीक ढग से चलते रहने के लिए अत्यन्त घातक है । विरोध कर सकने के अधिकार के कारण उस पक्षपात रहित सस्था को अपना निर्णय देना पडता है जिसमें मालिक और मजदूर दोनो के प्रतिनिधि रहते है और मेरा विचार है कि कुछ मामलो को छोड, उस सस्था का निर्णय बिना किसी कठिनाई के स्वीकार कर लिया जायगा, परन्तु जहा इसे मानने से इनकार हो, तो सम्भवत उसका अथ यह होगा कि वह समस्या इतनी बडी है कि उसपर विधान सभा द्वारा सिद्धान्त रूप मे निर्णय किए जाने की आवश्यकता है ।

इसके बाद, राष्ट्रीकृत उद्योग में कर्मचारियो की भरती, उनकी नियुक्ति और पदच्युत किए जाने के ढग और आम तौर पर अनुशासन रखने की समस्या रह जाती है । इस सम्बन्ध में मूल सिद्धात बडे सीधे सादे है, यद्यपि यह निश्चित करना कठिन ही है कि उन के विभिन्न रूप क्या होंगे । यह स्पष्ट है कि इन पदो पर नियुक्ति के लिये विज्ञापनो का सहारा लिया जाय और जो लोग नियुक्ति के लिए चुने जाय उन में उस पद के लिए आवश्यक योग्यता हो क्योकि वे जिस वृत्ति में लगे हुए है, वही उस योग्यता का निश्चय करती है । किसी पद पर उस प्रकार पर अधिकार होने का प्रश्न ही नही जिस प्रकार कि आजकल किसी मालिक का बेटा अपने पिता के व्यवसाय में स्वभावत प्रवेश करता है । प्रत्येक कारखाने और खान में या उन के ऐसे समूह में जो सतोषजनक जान पडे, एक ऐसे नियुक्ति विभाग की आवश्यकता होगी जो प्रबन्ध के निकट सहयोग से काम करेगा । यह समूह स्थानीय स्कूलो और कालिजो के साथ अभिन्न रूप से सबद्ध होगा और लोग काम प्रारम्भ करने की आयु में प्रवेश करने पर ऐसे माध्यम से इसमें प्रविष्ट होगे । जहा शिक्षु नही वरन् वयस्क श्रमिको की आवश्यकता होगी, नियुक्ति विभाग रिक्त स्थानो का ब्यौरा वृत्ति के सगठन की स्थानीय शाखा को बताएगा, जो इस क्षेत्र के रोजगार दफ्तर के रूप में कार्य करेगी । जहा तक क्लर्कों आदि का सबध है, मूल रूप में, प्रतियोगिता-परीक्षाओ द्वारा भरती करना ही सब से उत्तम उपाय है, जैसा कि आधुनिक असैनिक सेवा के अनुभव

से प्रकट है। जब हम नियुक्तियो से आगे चल कर पदोन्नति और प्राविधिक पदो के लिए चुनाव के प्रश्न पर विचार करते है तो दूसरी और अधिक जटिल बातें हमारे सामने आती हैं।

प्रत्येक कारखाने मे सारे छोटे-छोटे पद, मोटे तौर पर चार प्रकार के होते है (१) फोरमैन के पद को ही लीजिए। मेरा विचार है कि उनकी नियुक्ति प्रबन्धक द्वारा कारखाना समिति से परामर्श करने के बाद की जानी चाहिए। (२) और फिर प्रबन्ध सहायको के पद हैं, जिनका काम प्राविधिक नही होता परन्तु जिसमें बडे आयोजन और निगरानी की जरूरत पडती है। इनका चुनाव एक विशेष समिति को करना चाहिए जिसमें प्रबन्धक और कारखाना समिति के प्रतिनिधि होने चाहिए और जिसका अध्यक्ष स्वय प्रबन्धक हो। अच्छा तो यह है कि यह समिति काराखाने मे स्थायी समिति के रूप में हो क्योंकि अनुभव से हमे पता चलता हैं कि लोगो के सम्बन्ध में ठीक-ठीक राय बनाने की योग्यता अनुभव से ही आती है। (३) तीसरी प्रकार के पद, रसायन—वेत्ता या लेखापाल के पद हैं जिनका स्वरूप प्राविधिक है। मेरा विचार है कि इन पदो को भी दूसरी श्रणी में ही रखना चाहिए, हा, यह बात है कि इन पदो के लिए व्यक्तियो का चुनाव करते समय सम्बद्ध वृत्ति का एक रास्ता सदस्य स्थायी समिति में रहना चाहिए। (४) अन्त में प्रबधक का पद है। मैं पहले ही कह चुका हू कि प्रबधक की नियुक्ति प्रादेशिक बोर्ड द्वारा की जानी चाहिए। बोर्ड इस सबध मे अपना समाधान करने के लिए, कि चुना जाने वाला व्यक्ति, सम्बन्द्ध कारखाने में पसन्द किया जायगा, सभी प्रकार की पूछताछ कर सकता है परन्तु सबसे बडी समस्या सामर्थ्य की है। मि० कोल के इस सुझाव[1] पर, कि उसका चुनाब सम्बद्ध कारखाने की कारखाना-समिति को करना चाहिए, वे सभी आपत्तिया की जा सकती है जो इस प्रकार के चुनाव पर हो सकती है। इससे षड्यत्र बढते है और सुयोग्य व्यक्तियो के प्रति न्याय नही किया जा सकता। जिस व्यक्ति ने भी इस बात का अध्ययन किया है कि यह व्यवस्था पुरानी स्वशासी वर्कशाप (कर्मशाला) या आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज के कालिजो में कैसे चली, वह इसके सुचारु रूप से चलने की बात पर विश्वास करने के लिए तैयार नही होगा। ट्रिनिटी कालिज, केम्ब्रिज के मास्टरो, जिनकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा की जाती है, के रिकाड की तुलना केम्ब्रिज के किसी अन्य कालिज के मास्टरो के रिकाड से की जाय तो पता चल जायगा कि बाहर की किसी सत्ता की मत्रणा का क्या लाभ होता है। परामर्श तो काफी लिया जा सकता है परन्तु जिसके हाथ मे चरम शक्ति हो, उसे सारे उद्योग के दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार करना चाहिए।

यह सब तो इस बात की ओर सकेत मात्र है कि हमें किस ढग से काम करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि नियुक्ति करने की शक्ति उन लोगो को न दी जाय जिनमें से लोगो को नियुक्ति के लिए चुना जाना हो। उन लोगो से बहुत कुछ परामर्श लिया जा सकता है और लिया जाना चाहिए और अन्य बातो के एक सी होने की दशा में, उनसे अधिक महत्त्व

---

१. सेल्फ गवर्नमेन्ट इन इडस्ट्री पृष्ठ २१७१ परन्तु इस सम्बन्ध में मि० कोल के सुझाव से मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने पारदर्शिता से उतना काम नहीं लिया है।

किसी और की राय को नही दिया जाना चाहिए। परन्तु हमारा अनुभव हमे यह बताता है कि इस बात की सत्यता में कोई सदेह कि नियुक्तियो के सम्बन्ध के बाहरी सत्ता का अभाव होने पर परिणाम या तो अमरीकी अर्थों में यह होता है कि उपलब्धता को योग्यता की कसौटी मान लिया जाता है और या प्रवरता को। और इन दोनो में से कोई भी कसौटी औद्योगिक कामो के लिए ठीक नही हैं। मै यह नही समझता कि काम करने का जो ढग बताया गया है, वैसा ही कोई ढग अपनाया जायगा, परन्तु मुझे विश्वास है कि यह जिस सिद्धान्त पर आधारित है, वह सफल उद्यम की कुजी है।

पदोन्नति एक अलग बात है। मेरे विचार में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि उसकी दो आशाए पूरी हो सकें। उसे यह अधिकार है कि किसी हद तक उसकी सेवा की अवधि का ध्यान रखा जाय और उसे यह भी अधिकार है कि पदोन्नति करते समय उस पर भी विचार किया जाय। शैक्षिक कार्य में यह बात साधारण नही है कि परीक्षणविधि के बाद सेवा के प्रत्येक वर्ष कुछ तरक्की दी जाय और इन सब तरक्कियो का जोड उस वेतन स्तर से अधिक न हो जो कि उससे ऊचे पद के लिए निश्चित है। आधुनिक राज्य की सार्वजनिक सेवा में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इसमें सदेह नही कि यह काम के सतोषजनक होने पर निर्भर है। मेरा विचार है कि सेवा के अभिज्ञान की सबसे सीधी सादी व्यवस्था यही है कि इसका आम तौर पर लागू किया जाना न्यायोचित है। इसके अनुसार हम परिश्रम करने वाले को पुरस्कृत कर सकते हैं, यद्यपि उसकी सामर्थ्य इतनी नही है कि हम उसे अधिक जिम्मेदारी का काम सौंप सकते हो। सामर्थ्य का ध्यान सबसे अधिक तब रखना चाहिए जब कि हम व्यक्तियो की पदोन्नति कर रहे हो। मै एक तरीका बताता हू, उसमें दो बाते हैं। सभी अधीनस्थ पदो पर नियुक्तियो के लिए कारखाना-समिति चुनने वाली समिति के लिए एक उम्मीदवार नामजद कर सकती है। अधिकतर मामलो में वह जिसे चुनेगी उस पर आपत्ति नही की जा सकेगी और उस व्यक्ति की सहमति से पदोन्नति करके उसे रिक्त पद पर नियुक्त किया जा सकता है। परन्तु इस स्तर से आगे पदोन्नति उसी प्रकार होनी चाहिए जैसे कि—उदाहरण के लिए—आज कल नगरपालिका-सेवा के ऊचे पदो के लिए होती है। यदि चुनने वाली समिति कारखाने के किसी व्यक्ति को उपयुक्त समझे तो कारखाने में से किसी को चुन ले, परन्तु यदि उसे ऐसे व्यक्ति की योग्यता पर सदेह तो, या वह यह समझे कि बाहर से किसी अधिक अच्छे व्यक्ति को चुना जा सकता है, तो उस पद के लिए प्रतियोगिता की व्यवस्था करे और जिन लोगो के आवेदन-पत्र आए उनकी तुलना में कारखाने के उस व्यक्ति को आका जाय। मेरा कहना है कि उद्योग के ही व्यक्तियो की अनौचित्यपूर्ण पदोन्नति होने के विरुद्ध यह एक महत्त्वपूर्ण गारटी है। इससे उस जाने बूझे व्यक्ति का पलडा कुछ भारी अवश्य हो जायगा परन्तु इतना नही कि उसके केवल इसी आधार पर चुन लिए जाने की आशका हो जाय कि वह जाना बूझा व्यक्ति है। इसी प्रकार ब्रिटेन के विदेश-विभाग के लिए स्थायी सचिव साधारणतया विभाग में से ही चुना जाता है परन्तु ऐसे उदाहरणो का भी अभाव नही है जब कि किसी अधिकारी को एक विभाग से दूसरे विभाग में भेज दिया जाता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि राष्ट्रीयकृत उद्योग में अनुशासन की समस्या उससे

कही अधिक सीधी-सादी होगी जितनी कि वर्तमान व्यवस्था में है। आजकल जितनी कठिनाइया आती है उनमें से अधिकतर तो इस व्यवस्था की निरकुशता के कारण ही हैं। मालिक किसी व्यक्ति को, उन लोगो की सकल्पना का ध्यान रखे बिना, जिन पर उसे नियन्त्रण रखना है, नियुक्त कर सकता है और इसी प्रकार उसे पदच्युत भी किया जा सकता है। उद्योग के पक्षो की परस्पर मुकाबिले की स्थिति, बेकारी का डर, अपने बारे में प्रबधको की राय ठीक बनाए रखने की अच्छा, आदि के कारण फोरमैन की प्रवृत्ति अपने अधीन कमचारियो को तग करने की बन जाती है और रुझान यह रहता है कि अनुशासन की प्रत्येक समस्या प्रतिष्ठा का विषय बन जाती है जिसमें सभी शक्तिया अपने-अपने पक्ष के लिए लडने के लिए इकट्ठी हो जाती हैं जैसा कि १९१२ में इगलैंड[1] की उत्तरपूर्वी रेलवे की प्रसिद्ध नॉक्स हडताल के समय हुआ था। एक ओर तो लाभ कमाने का उद्देश्य न रहने और दूसरी ओर कारखाना-समिति के होने से—जो कि प्रतिष्ठा का प्रश्न उत्पन्न होने मे बहुत पहले अधिकतर समस्याए सुलझाने में सहायक होगी—राष्ट्रीयकृत उद्योग में इन में से बहुत सी बातें नही रहती। परन्तु सघर्ष तो नि सदेह होगा ही और सघर्ष की घटनाओ मे निबटने का सबसे अच्छा ढग यह है कि एक अनुशासन-बोर्ड हो जिसमे प्रबध और श्रम के बराबर बराबर प्रतिनिधि हो और जिसका सभापति उद्योग से बाहर का कोई तटस्थ व्यक्ति हो। प्रत्येक मामले में औपचारिक सुनवाई हो सकती है और गवाहो के बयान सुने जा सकते है। साथ ही दण्ड की व्यवस्था भी हो सकती है, जिसे अधिकाश दशाओ में तत्वत न्याय समझा जाता है। इस बात का महत्त्व बहुत ही अधिक है कि औद्योगिक प्रबध की सारी प्रक्रिया ऐसी हो जिसमें इस आदत के लिए—जो आजकल है—कोई स्थान न रहे कि लोगो को, उनकी बात सुने बिना, उनके पद से हटने तक की सजा दे दी जाय। बहुधा ऐसे अपराध के लिए चेतावनी देने से अधिक कुछ करने की जरूरत नही होती। मजदूर की गरिमा के लिए, जिसे आधुनिक उद्योग की व्यवस्था में महसूस नही किया जाता, यह बात बहुत आवश्यक है कि ऐसी कडाई न की जाय और या उसे यह महसूस हो कि यह कडाई सोच-विचार के बाद दी गई है जिसमें उसके साथियो ने भी हिस्सा लिया है।[2]

अब तक मैंने उन तरीको की चर्चा नही की है जिनके द्वारा किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग में वेतन की दरें, काम के घण्टे और प्रत्येक वृत्ति में शिक्षा की अवधि निश्चित की जाती है। इसका कारण यह है कि मै समझता हू कि अब तक जिन सस्थाओ का सुझाव दिया गया है, उनके इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त होने की आशा नही है। किसी वृत्ति विशेष के सभी सदस्य किसी एक उद्योग मे नही होगे। खान उद्योग में डाक्टर और इजीनियर, क्लर्क और लेखापाल, रसायन वेत्ता और वकील उसके कर्मचारी-वर्ग में साधारणतया

---

१ जी० डी० एच० कोल और आर० पी० ऑरनट की पुस्तक ट्रेड यूनियनिज्म एड दी रेलवेज के पृष्ठ २३ पर आन दी नाक्स स्ट्राइक।

२ ऐसे अनुशासन बोर्डों के काम के सम्बन्ध में देखिए उसी पुस्तक के अध्याय ९ और १०। शांति काल में सेना के न्यायालयों की व्यवस्था भी लगभग वैसे ही आधार पर होती है।

होंगे। प्रत्येक वृत्ति मे विभिन्न दर्जे होगें और यदि निर्णय करने का भार उन्ही पर रहे तो उनकी विभिन्न सख्या का अर्थ यह होगा कि ऐसे मामलो में उनकी सौदेबाजी की शक्ति बडी भिन्न होगी क्योकि प्रबध-बोर्ड और प्रादेशिक बोर्ड में भी कम सख्या वाले मजदूरो के प्रतिनिधियो के होने की सभावना नही है। इसके अतिरिक्त, एक जैसा काम एक जैसी परिस्थितियो में किया जायगा, चाहे वह किसी उद्योग में किया जाय। इसलिए यह बात साफ दिखाई देती है कि नागरिक की हैसियत से मजदूर के मूल वेतन के अतिरिक्त, प्रत्येक वृत्ति की परिस्थितियो को उस वृत्ति के मजदूर सघ द्वारा उद्योग के प्रबध-बोर्ड से बातचीत करके तय किया जाना चाहिए। न्यूनतम वेतन के ऊपर वेतन की क्या दरें मानी जाती है, यह तो स्पष्टतया सबद्ध उद्योग की उत्पादन शक्ति पर निर्भर होगा। मेरा ऐसा खयाल है कि जहा अधिक परिश्रम करना पडता हो वहा,वेतन में वृद्धि की व्यवस्था की जायगी और विशेष रूप से खतरे वाले काम के सबध में विशेष बातो का ध्यान रखा जायगा। मै यह भी कहता हू कि मै यह नही समझता कि इन प्रश्नो को निबटाने में कठिनाई नही होगी। और न मुझे इस बात में कोई सदेह दिखोई देता है कि कभी कभी ऐसी कठिनाई के फलस्वरूप हडताल भी हो जायगी। परन्तु यह अधिक सभव है कि—चूकि प्रबध-बोर्ड द्वारा वेतन बढाने मे इनकार का मतलब यह नही होगा कि हिस्सेदार का लाभ बढ जायगा जो कि उद्योग की समृद्धि में कोई भी योग नही देता या वित्त का प्रबध करने वाले का लाभ बढ जायगा जिसे उद्योग की सेवा से मतलब नही है, बल्कि केवल इस बात से है कि उससे प्राप्ति कितनी होती है—इस महत्त्वपूर्ण बात के कारण इन विवादो का प्रकोप और कटुता अवश्य कम हो जायगी और प्रबध-बोर्ड को यह भी निर्णय करना पडेगा कि सँयत्र की घिसाई और उसमें पुरानी मशीनो के स्थान में नयी लाने आदि जैसे स्थायी प्रभारो के लिए प्रति वर्ष कितनी राशि अलग रखी जाय। मूल्य, यथासभव, इस प्रकार निर्धारित किये जायेंगे कि उनसे उत्पादन की लागत पूरी हो जाय और जहा, बिक्री से प्राप्त राशि के मुकाबिले उत्पादन की लागत मे कमी हो जाय, प्रबध और श्रम को अपनी कायक्षमता के पारितोषिक के रूप मे विशेष प्राप्ति होगी। परन्तु इस पारितोषिक की कोई सीमा भी होनी चाहिए और जब किसी वर्ष मे, प्राप्त अधिशेष निश्चित आय की निश्चित प्रतिशतता से अधिक हो, तो इसका प्रयोग मूल्य घटाने के लिए किया जाना चाहिए जिससे कि होने वाले लाभ में जनसाधारण को हिस्सा मिले।

मै, किसी और सबध मे, इस बात की चर्चा कर चुका हू कि जो लोग सेवा का उपयोग करते हो, उनकी मत्रणा समितिया बना कर सेवा के सुधार को किस प्रकार बराबर प्रोत्साहन दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उपभोक्ताओ के सहकारिता आन्दोलन मे खड की बैठक जैसे उपायो से खरीदार उन चीजो के प्रति उपेक्षा बरतने से बच सकता है, जिनका उस पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। मेरे विचार में ऐसी सस्थाओ से बहुत कुछ लाभ होने की सभावनाएँ है। मोटरकारो का उपयोग करने वाले बहुत ही कम ऐसे लोग होगें जो उनके निर्माण के सबध में सुझाव न दे सकते हो। टेलीफोन, डाक सेवा, और रेलवे —इन सब मे ऐसी सस्थाए फौरन लाभदायक हो सकती है। स्पष्ट ही है कि कुछ सेवाए ऐसी प्राविधिक है कि उनके सम्बन्ध में उपभोक्ताओ की ठीक ठीक राय को

मगठित करना असभव है परन्तु मेरा विचार है कि हम इस मे सदेह नही कर सकते कि, उदाहरण के लिए, जहाजो के निर्माण में नाविको का सघ अपने अनुभव से महत्वपूर्ण लाभ पहुचा सकता है और रेलवे इजन के चालक और कोयला झोकने वाले से उन इंजनो के बनाने के सबध में राय पूछी जाय तो ठीक ही है। औद्योगिक जीवन के प्रत्येक विभाग में, स्वयसेवी मत्रणा समितियो की वृद्धि से—जो उस व्यवसाय को, जिस का उपयोग वे करती है, अपने अनुभव के परिणाम बताए—लाभ ही होगा। सभव है कि वे पेरिस की सोसाइती दे अबोने औ तेलीफोन (टेलीफोन प्रयोक्ता समाज) की तरह विशेषज्ञो को नौकर रखने लगें जो उन लोगो के काम की पडताल करें और उनकी आविष्कार शक्ति को प्रोत्साहन दे, जो उस सेवा को चलाते हैं। ऐसी मत्रणा समितिया, विशेषकर जहा राष्ट्रीयकृत उद्योग में सवसाधारण के उपयोग के पण्य तैयार होते हो, अनुसधान सस्थाओं की आवश्यकता की ओर भी ध्यान दिलाती हैं जिनमे सरकारी श्रेणियो से बाहर विचारो का विनिमय हो और उनके आधार पर विकास किया जाय। नौ वास्तु वेत्ताओ की सस्था और अध्यापक सघ जैसी सस्थाओ की विशेषता यह है कि वे कही कही ही देखने को मिलती हैं, हालाकि ऐसा लगता है कि अन्य देशो की अपेक्षा जर्मनी[1] में उनको बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा है। हा, इग्लैंड में व्यापार मडलो और अमरीका में निर्माताओ की राष्ट्रीय सस्थाओ जैसे व्यापक सगठन तो हैं परन्तु ऐसा लगता है कि ये तो व्यवसाय की रक्षा करने वाली समितिया बन गयी है, जिन्हें सिवाए इस के और किसी बात से मतलब नही है कि सरकारी उद्यम के विकास को रोका जाय। हमें आवश्यकता ऐसे सगठनोकी है जो गैर सरकारी तौर पर अनुसधान और जाच द्वारा विभिन्न व्यवसायों में सेवा के स्तरो को सचेष्ट रूप से ऊपर उठाने का प्रयत्न करे।

आशा है कि इन का विकास आशिक रूप से वृत्तियो के निकायो की निश्चित शाखाओ के रूप में होगा। इस प्रकार की स्वतन्त्र जाच के लिए मजदूर सघ आन्दोलन में काफी स्थान है। उदाहरण के लिए, इस बात का कोई कारण नही है कि ब्रिटेन का खान-मजदूर सधान खानो में सुरक्षा की समस्या का स्वतन्त्र रूप से क्यो न अध्ययन करे। इसकी जरूरत विशेषकर इसलिए और भी अधिक है कि कुछ पहलुओ में सधान के सदस्यो का अनुभव बडा विस्तृत और अपूर्व होता है—उदाहरण के लिए खान के अन्दर आग बुझाने में। इसी प्रकार, हम यह पसन्द करेंगे कि न्यायजीवियो, सालिसिटरो और बैरिस्टो के क्लर्क—जिन्हें वृत्तियो के किसी अन्य ऐसे समूह की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक ज्ञान होता है और जिन्हें मान्यता कम दी जाती है—वकालत के पेशे के सुधार के लिए सुझाव दें। उनका सधान बनने से, उनके दर्जे में सुधार के अतिरिक्त, विधि के प्रवर्त्तन पर

---

१. देखिए एच० फाइनर की रिप्रिजेंन्टेटिव गवर्नमेन्ट एण्ड पार्लिमेन्ट आफ इडस्ट्री पृष्ठ ५४ और विशेषकर उस पृष्ठ पर टिप्पणी ४ में दिया गया सर्वेक्षण। मि० और मिसेज वेब ने न्यूस्टेट्स मैन दिनांक २ अक्तूबर १९१५ और २१–२८ अप्रैल १९१७ में पेशों की सस्थाओं का सर्वेक्षण किया था परन्तु उसके बाद से स्थिति बहुत बदल गयी है।

बहुत प्रकाश पडेगा। निस्सदेह यह बात महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार की आलोचनात्मक जाच को यह समझा जाने से रोकना चाहिए कि यह अनुशासन भग करती है। हम इस बात की अनुमति नही दे सकते कि ऐसी चेष्ठा में, जैसी कि इँग्लैंड की डाक व तार क्लर्क सथा ने योरुप में डाक-घर चेक व्यवस्था के अध्ययन के सँबध में की थी और जो दुर्भाग्यवश असफल रही, थी डाक घर के अधिकारी इस आधार पर बाधा डाले कि इस का अर्थ यह है कि सरकार के तरीको के उपेक्षापूर्ण होने की आलोचना की जा रही है। डाक्टरो और इजीनियरो ने स्तुत्य ढग से देखा दिया है कि इस प्रकार के सगठित अनुसधान से क्या किया जा सकता है। इसका कोई कारण नही कि बाकी वृत्तियो में लगे लोग भी उनका अनुकरण न करें। प्रत्येक राष्ट्रीयकृत उद्योग के काम से जितनी आलोचना और सुझाव जन्म लेंगे, उद्योग उतना ही अधिक सफल होगा।

और मेरा विचार है कि उद्योग के ससार में सत्ता की जो समस्या है, उस का उत्तर हमें यहा मिलता है। मैंने जिस व्यवस्था की रूप-रेखा बताई है, उसमें यह गुण है कि जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, उन्हें ऐसे धरातल पर लाया जा सकता है कि उन पर कुछ मापदण्डो को सामने रख कर विचार किया जा सके। आवश्यकता के अनुसार ही, जिसे कि आका जा सकता हो, आदेश जारी किए जायगे। मागो का अनुमान सहयोग के वातावरण मे किया जायेगा। उद्योग के काम में लगे प्रत्येक व्यक्ति की सकल्पना को ऐसा रास्ता मिल जायगा जिस पर चलकर वह आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सकती है। जहा पहलकदमी की आवश्यकता होगी, वहा पहलकदमी होगी परन्तु वह पहलकदमी सदा सर्वसहमति के परिवेश में ही क्रियान्वित होगी। उत्पादक का सुरक्षण इस बात से होगा कि वह अपने प्रयत्न के लिए आवश्यक परिस्थितियो का निर्माण करता है। उपभोक्ता की रक्षा पहले तो इस बात से होती है कि नीति का चरम नियत्रण विधान सभा के हाथ में होगा और दूसरे इस बात से कि सलाहकार समितिया होगी, जिन की मार्फत उन की आवश्यकताए प्रत्यक्ष रूप से किसी उद्योग विशेष के नेताओ को बता दी जायँगी। इसका अर्थ यह हुआ कि हम ऐसे सभी लोगो की राय जमा करके, जो सब कुछ जानते है, हर ऐसे कृत्य पर प्रकाश डालते हैं, जो कि प्रत्येक उद्योग पूरा करता है। हम उसके कामो पर वह पर्दा डालना बन्द कर देते है, जिस से हर स्थान पर आवश्यक तथ्यो का पता नही चलता और जिस के कारण इस की कार्यक्षमता के सम्बन्ध में राय बनाना असम्भव हो जाता है। हम कार्यक्षमता के तथाकथित अभाव के सभी मामलो की परीक्षा उन विशेषज्ञो की रिपोर्टों से ले सकेगे जिन का काम तटस्थ रह कर इन तथ्यो का पता लगाने के अतिरिक्त और कुछ नही होगा। हम किसी भी खान या कारखाने के निम्नतम दर्जे के मजदूर को इसके कामो के सुधार में प्रबन्ध से सहयोग करने का अवसर देते है। हम प्रत्येक उस शिकायत के बारे में जिसे वह महसूस करता है उस सत्ता को, जिस के बनाने में उस का हाथ है—न कि उसे जो उस के हितो से अलग है—अपनी राय बनाने का मौका देते है। हमें इस बात से इनकार करने की जरूरत नहीं कि जिन साधनो से इन साध्यो की प्राप्ति होती है वे जटिल है। कोई ऐसी सेवा, जिस का उद्देश्य आधुनिक आकार के राज्यो की आवश्यकताओ का सम्भरण करना हो, स्वभावत जटिलता से बच नही सकती। हम अब भी इस से बचते नही है और आज की स्थिति में

यह अधिक खतरनाक है क्योकि यह निरकुश और रहस्यमय है। यह तो मानी हुई बात है कि पुराने युग की तरह नये युग में भी मजदूर को अपनी सकल्पना दूसरो की सकल्पना के अधीन रखने की उत्कट आवश्यकता मालूम पडेगी। परन्तु वह अपनी सकल्पना का निर्माण कर सकेगा। वह ऐसा प्रबन्ध कर सकेगा कि उस की आवश्यकताओ का ध्यान रखा जाय और यदि वह अपनी इच्छाओ का आदर करवाने में असफल रहता है तो उस की हार की जिम्मेदारी तथ्यो पर होगी। मेरा विचार है कि इस स्थिति को एक स्वतत्र व्यक्ति का दर्जा कह कर परिभाषित करना उचित ही है, क्योकि इसके कारण वह दूसरे आदमियों का नहीं वरन् उस तर्क का दास बन जाता है जो सामाजिक सगठन में निहित है। सच तो यह है कि वह उस तक के निर्माण में सहायक होता है और इस प्रकार उस की सेवा ऐसा कृत्य है जिसे करते समय वह उस पर अपना आधिपत्य जमा लेता है।

—३—

मैं यह पहले ही बता चुका हू कि राष्ट्रीयकृत उद्योगो के जिस रूप की चर्चा ऊपर की गयी है, उस रूप में वे औद्योगिक क्षेत्र का एक भाग ही होगे। मुख्यत वे खानो, रेलो और जहाजो जैसी सेवाओ तक सीमित होगे जिन में प्रकृत एकाधिकार का तत्व आ जाता है। मेरा विचार है कि उद्योगो में दूसरा बडा क्षेत्र स्वभावत उपभोक्ताओ की सहकारिता का है। यहा मुझे उपभोक्ताओ को सहकारिता के ऐसे रूपो से वास्ता नही है जो किसी नगरपालिका द्वारा गैस के सम्भरण की तरह अनिवार्य प्रकार के है। उनमें सेवा के स्वरूप के लिए एकता और अविभाज्यता की आवश्यकता है। उपभोक्ताके सामने कोई विकल्प नही है, उसके सामने एक मानव उत्पाद है जोकि वह एक ही सत्ता से और एक ही रूप में प्राप्त कर सकता है। यहा मेरा वास्ता लोकतत्रात्मक राज्य में उपभोक्ताओ की उस सहकारिता के स्थान और सम्भावनाओ से है जिस की नीव राबर्ट ओवन ने रखी थी और जिस का नमूना १८४४ में प्रसिद्ध राशडेल स्टोर ने हमारे सामने रखा था। इस आन्दोलन में सारे ब्रिटेन के कम से कम एक तिहाई परिवार है और योरुप महाद्वीप और अमरीका में इस ने दिखा दिया है कि यह औद्योगिक उद्यम का एक स्थायी रूप है।[1]

व्यावहारिक रूप से सहकारिता आन्दोलन के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि यह अपने सदस्यो की आवश्यकता की वस्तुओ के उत्पादन के लिए लोकतत्रवादी आन्दोलन है, जिस में उत्पादन और वितरण का तरीका ऐसा होता है जिस मे लाभ कमाने के लिए कोई स्थान नही होता। इसके द्वारा जिन पण्यो का उत्पादन किया जाता है उनकी विविधता उल्लेखनीय है। इस के अपने बैक हैं, बीमा सेवा है, इसके द्वारा अपने फार्म और चाय बागान आप चलाए जाते हैं, जूतो का निर्माण भी किया जाता है, रोटी बनायी जाती

---

१ सारे आन्दोलन के सम्बन्ध में देखिए सिडनी और बीट्रिस वेब की दी कन्ज्यूमर्स कोआपेरेटिव मूवमेन्ट, पर्सी रेडकर्न की दी हिस्ट्री आफ दी सी० डब्ल्यू० एस०, आन्दोलन के सम्बन्ध में सहकारिता सघ द्वारा प्रकाशित पीपल्स ईअर बुक और मैनुअल रिपोर्ट आफ दी इन्टरनैशनल कोआपरेटिव एलायंस भी देखने चाहिए। साथ ही एल० एस० वोल्फ और सी० ओब्रायन की पुस्तक कोआपरेशन इन मैनी लैड्स भी देखिए।

है और दूध, मास और मेज़ कुर्सी बेचने की व्यवस्था की जाती है। मोट तौर पर इस आन्दोलन का क्षेत्र लोगो की सामान्य आवश्यकताओं और अधिकतर एक सी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का है। निस्सन्देह इस की निश्चित सीमाए है। ऐसा लगता है कि पर्याप्त आय वाले लोगो और साथ ही अधिक गरीब वर्ग के लोगो को यह आन्दोलन जँचा नहीं। यह आन्दोलन निश्चय ही सगठित मज़दूर वर्ग का है और इसके उत्पादो में वे गुण हैं जिन पर हम इस वर्ग के प्रभाव की आशा कर सकते है। कोई व्यक्ति सहकारी दुकान से सामान खरीद कर अपने घर को सजा सकता है, परन्तु उस से किसी कुशल घर सजाने वाले को सतोष नही होगा। वह सहकारिता आन्दोलन द्वारा बुने कपडे पहन सकता है, परन्तु उसके कपडे काम चलाऊ लगेंगे और वह उनमें जचेगा नही और यदि उसकी पत्नी अपने सारे वस्त्रादि सहकारी दुकान से खरीद ले तो, जब तक कि वह असाधारण ही न हो, उसके पहरावे में वह अनोखापन नही आएगा, जोकि मानव जाति का सदा ध्येय रहना है। उसके अतिरिक्त सेवा का काफी बडा क्षत्र ऐसा है, जिस में सहकारिता के आधार पर प्रत्यक्ष उत्पादन लाभदायक नही होगा क्योकि इस आन्दोलन के सदस्यों की माग इतनी अधिक और निरन्तर नही रहती कि उसे पूरा करने के लिए प्रत्यक्ष उत्पादन उचित जान पडे। साथ ही यह भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट दिखाई पडता है कि उपभोक्ताओ की सहकारिता की प्रविधि साधारणतया कृषि पर लागू नही होती। सम्भव है कि जहा, जैसे कि गहू के उत्पादन के सम्बन्ध में, आवश्यकता बडे पैमाने पर काम करने की हो, यह सफल हो जाय। परन्तु जहा किसानो के होने के कारण भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व आधारिक बन जाता है, वहा उपभोक्ताओ की सहकारिता उपयुक्त जान नही पडती[1]। बहुधा यह दलील दी जाती है कि सहकारिता निर्यात व्यापार के क्षेत्र मे नही चल सकती। मेरा विचार है कि हाल ही के कुछ वर्षों के अनुभव न इस का खण्डन कर दिया है। और मेरी राय में इस आन्दोलन का स्वरूप सर्वव्यापी होने के साथ-साथ लाभ की समस्या अपन आप हल हो जायगी। क्योकि या तो, जैसे कि जमनी और डेन्मार्क के आन्दोलनो के परस्पर सम्बन्धो से प्रकट है, माल के बदले माल लिया जायगा और या निर्यात व्यापार से होने वाला लाभ समुदाय के प्रयोजनो—जैसे शिक्षा—के लिए प्रयुक्त किया जायगा।

मेरे विचार में उपभोक्ताओ की सहकारिता के व्यवस्था-बद्ध विश्लेषण से हम मोटे तौर पर इस परिणाम पर पहुचते हैं कि यह समुदाय में वर्ग का भेद किए बिना घरेलू आवश्यकताओ को पूरा करने वाले आवश्यक औद्योगिक कार्यों के लिए बहुत उपयुक्त है। यह इस लिए कि सहकारिता आन्दोलन में किस्म की समस्या माग का प्रश्न मात्र है। इस से व्हाइटचेपल की आवश्यकताए भी उसी प्रकार पूरी की जा सकती है जिस प्रकार कि मेफेयर की। यदि लगभग आर्थिक समानता जैसी स्थिति हो तो पसन्द और मानको के भेद, जिन के कारण समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग बट हुए है, नही रहेंगे। समुदाय मे सभी इस आधार पर समान होंगे कि उन की आवश्यकताए एक सी है और समुदाय के सहकारिता आन्दोलन

---

१ देखिए एल० एस० वूल्फ की पुस्तक कोओपरेशन एण्ड दी फ्यूचर आफ इंडस्ट्री, पृष्ठ १०४–५।

में खप जाने से आन्दोलन इस योग्य हो सकेगा कि उसे जिन जिन आवश्यकताओ का सामना करना पडे, उन सभी को पूरा कर सके। परन्तु मै यह मान कर नही चलता हू कि घरेलू आवश्यकताओ के प्रत्येक विभाग में सम्भरण का एक मात्र साधन उपभोक्ताओ की सहकारिता ही होगी। इस बात का कोई कारण नही है कि स्वतत्र रूप से कारीगरों का अस्तित्व क्यो न रहे, जो कि विशिष्ट आवश्यकताओ की पूर्ति करे। मै इस बात की सम्भावना को मानता हू कि वेशभूषा, घरो की साज सज्जा की वस्तुओ, रूपाकन, और कलाओ में ऐसे स्त्री पुरुष रहेगे जो कि कुछ लोगो की पसन्द की वस्तुए बना कर जीविका कमाएगे और ऐसे प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादको के छोटे सघ के लिए स्थान रहेगा जो ऐसे उत्पाद बेचेगे, जो कि लगभग एक ही स्तर के पण्यो से अधिक अच्छे या उनसे भिन्न होगे और उपभोक्ताओ की सहकारिता की चेष्टा यही रहेगी कि ऐसे पण्यो में विशेषज्ञता प्राप्त करे। उदाहरण के लिए, साधारणतया मै अपने घर को किसी ऐसी सीधी सादी योजना के अनुसार सजाऊगा जिस की कल्पना स्थानीय सहकारी दुकान के सम्बद्ध विभाग में की गयी हो, परन्तु यदि मै किसी कमरे या उद्यान में अनोखापन चाहता होऊ तो मै ऐसे कारीगरो के समूह के पास जाऊगा, जैसे कि विलियम मोरिस ने रखे हुए थे।

मेरा विचार है कि राज्य की केन्द्रीय या स्थानीय सत्ता के साथ सहकारिता आन्दोलन के सम्बन्ध की परिभाषा सीधी-सादी की जा सकती है। मेरी राय में खान-उद्योग जैसा उद्योग उस योजना के अनुसार राष्ट्रीयकरण के लिए ही उपयुक्त है जिस की रूपरेखा मैंने पहले अनुच्छेद में की है। ऐसा होने पर, कम से कम घरेलू उपभोग के क्षेत्र में, सहकारी दुकान द्वारा वितरण होना स्वाभाविक ही है। ऐसा होने से हम एक ही धक्के में उन बहुत से बिचोलियो को निकाल बाहर करेंगे जो कि आजकल उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में आकर मूल्यो को बढा देते है। और इस आन्दोलन के कार्यों में लाभ का न कमाया जाना इस के पक्ष में एक और बात है। मैं सोचता हू कि यह समझना जरूरी नही कि सहकारिता पर आधारित उत्पादन और राज्य द्वारा उत्पादन में निश्चित और स्पष्ट भिन्नता है। सम्भव है कि जहा राज्य प्रमुख उत्पादक हो, सहकारिता आन्दोलन द्वारा उस के पण्ये खरीदे जाय और वह अपने सदस्यो की माग के अनुसार उन का वितरण करे। वह स्वय भी निर्माण के प्रयत्न कर सकता है और उत्पादन के दो रूपो में—जिन में लाभ कमाने की भावना का अभाव है— स्पर्धा से कुछ लाभ ही होगा। यह तो स्पष्ट है कि कुछ ऐसी वस्तुओ का उत्पादन इस आन्दोलन के लिए अनुपयुक्त है, जिनके उत्पादन का सचालन राज्य पर छोड दिया जाना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि कोयले और तेल के परिरक्षण में राज्य का हित, ऐसे क्षेत्र की इच्छा से ऊपर है, जिसका हित—जैसे कि सहकारिता आन्दोलन के सदस्यो के समूह की तरह—तत्काल उपभोग में है, यह बात अन्तिम रूप से तय है कि कोयले और तेल पर राष्ट्र का स्वामित्व हो जाना चाहिए। दूसरी ओर मेरी राय यह है कि दूध का सम्भरण सहकारिता के आधार पर चाहने वालों और नगरपालिका की ओर से इसके सम्भरण की व्यवस्था का पक्ष लेने वालो के बीच वादविवाद का निणय सामान्यतया सहकारिता के पक्ष में ही होना चाहिए। इसके बाद नगरपालिका सतत परीक्षण और नियत्रण द्वारा प्रकार का सुरक्षण करने का सब से महत्वपूर्ण काम अपने

लिए रख सकती है। तब वह उपभोक्ताओ के हित में, सेवा के स्तर का परीक्षण करने वाली स्वतंत्र और तटस्थ सत्ता बन जाती है। यह बात कि नगरपालिका बहुत बडी मात्रा में मुफ्त दूध बाटती है, सहकारी अभिकरणो के साथ प्रबन्ध करके पूरी की जा सकती है। इसी प्रकार, यही बात कोयले जैसी अन्य सेवाओ पर भी यथोचित परिवर्तनो के साथ, लागू होती है।

तो वे कौन सी सस्थाए होगी जो सहकारिता आन्दोलन का प्रबन्ध चलाएगी और विशेषकर यह आन्दोलन इस बात का प्रबन्ध किन साधनो से करेगा कि इसके सदस्यो को इसके कामो पर निरन्तर नियत्रण रखने का पूरा अवसर मिले और साथ ही इसके कर्मचारियो को पर्याप्त स्वशासन प्राप्त हो ? मै समझता हू कि पैमाने और ब्यौरे की बातें छोड कर, आन्दोलन की बुनियादी सस्थाए इस की आवश्यकता के लिए उपयुक्त है। प्रत्येक जिले में, जैसा कि अब है, स्थानीय दुकानो की एक शृखला होगी जिसका प्रबन्ध जिले के सदस्यो द्वारा चुनी गयी जिला कायकारिणी चलाएगी। यह आवश्यकता होगी कि उस कार्यकारिणी को पूरा समय काम करने वाली सस्था बनाया जाय जो अपना सभापति स्वय चुने, और आन्दोलन के इतिहास में पहली बार इसके सदस्यो को उन की सेवाओं के लिए पूरा पारिश्रमिक देना पडेगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक शाखा में हिसाब किताब रखने वाले विशेष कर्मचारी होगे, जिन्हें—मुझे आशा है—अपनी पडताल के परिणाम अपने आप प्रत्यक्ष रूप से सारे सदस्यो को बताने की शक्ति होगी। शाखा की कार्यकारिणी छोटी सी होगी, परन्तु मेरा विचार है कि इस के एक तिहाई सदस्य सदा वे होने चाहिएँ जो शाखा के कर्मचारियो के प्रतिनिधि हो। निस्सन्देह यह ऐसा विषय है जिस पर सहकारिता आन्दोलन[1] में गहरे मतभेद रहे है, परन्तु यदि आन्दोलन में वास्तव में लोकतत्रलवाद रखना हो तो जो आदेश दिए जाय उन पर, जिन्हें वे दिए जाय उन को भी उतनी ही जाच करने का अधिकार होना चाहिए, जितना कि उन को जिन के लाभ के लिए वे दिए जाते हैं। कार्यकारिणी की सदस्यता का अर्थ यह होना चाहिए कि सदस्य को फिर से चुने जाने का पात्र माना जाय और गलती और भ्रष्टाचार के विरुद्ध यह वर्त्तमान सुरक्षण वैसे ही बने रहने देना चाहिए कि सदस्यो की विशेष बैठक में दो तिहाई बहुमत से किसी सदस्य को कार्यकारिणी से वापिस बुला लिया जाय। एक श्रम मत्रणा समिति, जैसी कि कई शाखाओं में है, रहनी चाहिए जिसे, कर्मचारियो की ओर से यह शक्ति प्राप्त हो कि वह प्रबन्धकों के साथ श्रमिको की समस्याओ के बारे में वैसे ही बातचीत कर सके जैसे कि राष्ट्रीयकृत उद्योग में किसी कारखाने में की जाती है। शाखा की त्रैमासिक बैठक की व्यवस्था बनी रहने दी जानी चाहिए और मत्रणा समितियो की शृखला द्वारा—जिस में, मै यह सुझाव देता हू कि, स्त्रियो को निरन्तर अधिक स्थान मिलता रहना चाहिए—इस कार्यवाहियो का सवर्धन होता रहे और उन्हें प्रोत्साहन मिलता रहे।[2] जर्मनो द्वारा अपनाए गए समूह—

१ उदाहरण के लिए देखिए "दी रिपोर्ट आफ़ दी जेनरल कोआपरेटिव सर्वे कमिटी, पृष्ठ १४९ (१९१९)

२ देखिए सिडनी वेब की दी कान्स्टीट्यूशनल प्राबलम आफ ए कोआपरेटिव सोसाइटी" (फेबियन पुस्तिका २०२) पृष्ठ १६-१७।

अभिकर्ता जैसे लाभदायक तरीके से समिति के काम में सदस्यो की दिलचस्पी बनाए रखने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। सबसे अधिक सफलता उन सहकारी समितियो को मिलेगी जिन का उद्देश्य यह होगा कि वे अपनी दुकान को न केवल परचून की वस्तुओ का भण्डार बनाने का उद्देश्य अपने सामने रखें, बल्कि उस दुकान को उस महान सामाजिक दर्शन का प्रतीक बनाए जिस की भावना इस रूप में अधिक प्रचलित है कि साधारण सदस्य उसकी समस्याओं के प्रति सजग हैं।

बहुत से ऐसे मामले है जिनमें मत्रणा समितियो और सामान्य सदस्यो से हाथ बटाने के लिए कहा जा सकता है। मत्रणा समितिया शाखा की त्रैमासिक प्रगति के सम्बन्ध में इसके सदस्यों को रिपोर्ट दे सकती है सामाजिक कार्यवाहियो की सगठित कर सकती है, समूह अभिकर्त्ताओ की मार्फत उन सूत्रो के सम्बन्ध में जाच करने का प्रयत्न कर सकती है जिन के उपयोगी होने के सम्बन्ध मे पूरा पता नही लगाया गया और अपनी सेवा में सुधार करने के विचार से अन्य समितियों की कार्यवाहियो की जाच कर सकती है। इन समितियो के सदस्य पण्यो के अपर्याप्त सम्भरण या उन के दोषयुक्त प्रकार के सम्बन्ध में इन से शिकायत कर सकते है। लीड्स सहकारी समिति ने, जिस ने इन में से बहुत से विचार ग्रहण कर लिए हैं, जो प्रयोग किया था उसकी सफलता इस बात का पक्का प्रमाण है कि यह प्रयोग आवश्यक है और इस का महत्त्व भी है। निस्सन्देह इन मत्रणा समितियो के सदस्यो का चुनाव, शाखा के सदस्यो द्वारा प्रतिवर्ष किया जाना चाहिए, और—सिवाए इसके कि उन द्वारा किया गया खर्च उन्हें दिया जाय—उन्हें स्वयसेवक के रूप में काम करना चाहिए। मेरा विचार है कि कोई भी व्यक्ति जो सहकारिता आन्दोलन को भली प्रकार जानता है, इस बात में सन्देह नही कर सकता कि थोडा सा प्रयत्न करने से इस सेवा से बहुत लाभदायक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। और यदि, जैसा कि लीड्स में होता है, सारे क्षेत्र की समस्याओ का सर्वेक्षण करने के लिए प्रत्येक तिमाही के बाद शाखाओ की बैठक हो, तो यह सामान्य विचार विमर्श की एक बहुमूल्य व्यवस्था होगी। इन स्वयसेवी सलाहकारो द्वारा अनौपचारिक रूप से अपनी कार्यकारिणी का चुनाव, जोकि उनके मत्रिमडल की तरह काम करेगी, बडा महत्वपूर्ण प्रयोग होगा। इस से एक ऐसा साधन मिल जाता है जिस के द्वारा समिति की कार्यकारिणी को ऐसी समस्याए निबटानी पडती हैं जिन की ओर या तो वह ध्यान न देती हो या जिन की उपेक्षा करती हो। और साथ ही यह बात भी कम महत्व की नही है कि यह एक ऐसा बहुमूल्य साधन है जिस के द्वारा सदस्य प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते है जिन में से भविष्य में समिति के सचालक चुने जा सकते हैं। सक्षेप मे, इन मत्रणा समितियो की बैठके सहकारिता आन्दोलन के लिए वही काम कर सकती हैं जोकि विधान सभा के वरण-कृत्य द्वारा मत्रिमण्डल के लिए किया जाता है।

शाखा बैठक का क्या लाभ हो सकता है, यह तो मेरे विचार में अधिकतर शाखा समिति और समूह-अभिकर्त्ताओ के उत्साह पर निर्भर है। जिस हद तक वे सदस्यो को इस बात के प्रति सजग बना सकते हैं कि आन्दोलन को ऊपर उठाना उन के हाथ में है और इसे प्रभावी बनाने के लिए उन्हें अपने अनुभव के आधार पर आलोचना करनी चाहिए और सुझाव देने चाहिए, उसी हद तक यह आन्दोलन इस बात की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति होगा

कि वे किस चीज़ को अपने लिए आवश्यक समझते है। मेरे विचार मे यहा भी वह क्षेत्र है जिसमें सहकारिता सघ कहा जाने वाला सगठन बहुत लाभदायक हो सकता है। अब तक तो यह अच्छे अच्छे विचारो वाले सकल्प मात्र पास करने वाला सम्मेलन अधिक रहा है और अपने इतने विस्तृत क्षेत्र के प्रत्येक कोने मे सगत सिद्धातो की भावना भरने वाला सगठन कम। इसे इस बात को अवश्य समझना चाहिए कि सहकारिता का मूलाधार शिक्षा है और इसके साथ ही यह समस्या भी सम्बन्धित है कि कोई व्यक्ति केवलमात्र इस बात के कारण सघ की शैक्षिक अपील को प्रभावी बनाने के लिए उपयुक्त नही है कि उसमें सहकारिता के लिए बडा उत्साह है। यहा यह बात बडी प्रभावित करने वाली है कि अधिकतर लाभदायक काम स्त्रियो के सगठन द्वारा किया गया है, यद्यपि सहकारिता श्रेणी में ५ प्रतिशत से अधिक सदस्य स्त्रिया नही हैं। ऐसे शिक्षा सगठनो के काम पर ही यह बात निर्भर है कि साधारण सदस्यो में कितनी दिलचस्पी पैदा की जा सकती है। यहा यह भी कह देना चाहिए कि इस दिलचस्पी की प्रकार प्रत्यक्ष प्रचार पर उतनी निर्भर नही होगी जितनी कि इस बात पर कि इस में नागरिकता का सामान्य स्तर ऊचा उठाने की जो इतनी बडी शक्ति निहित है उसका उपयोग कैसे किया जाता है।

जहा तक स्थानीय क्षेत्र का सम्बन्ध है, सहकारी समिति की समस्याए सिद्धान्त रूप में अपेक्षतया अधिक सरल हैं। जब तक वे अपने कर्मचारियो को पर्याप्त स्वशासन देने के लिए आवष्श्यक सस्थाए, जैसे कि किसी राष्ट्रीयकृत सेवा में होती हैं, बनाती रहे, जब तक कि वे ऐसा सचालक वग बनाती रहे जिसे इतना वेतन मिलता हो कि उस के कामो के लिए आवश्यक योग्यता वाले व्यक्ति आगे आए, और जब तक वे विशेषज्ञ लेखा परीक्षण और सभी सदस्यो के नियत्रण द्वारा उन की कार्यकुशलता पर निगरानी रख सके, उनकी कार्य-वाहियो का क्षेत्र, वे जितना चाहें विस्तृत बना सकती है। अधिक जटिल समस्याएँ तो, जैसा कि आशा ही है, उन के सम्बन्धो के सधानीय पक्ष मे उत्पन्न होती है। जैसाकि सभी जानते है, लगभग सभी परचून समितिया एक सधानीय सविधान द्वारा एक बडी थोक समिति से सम्बद्ध होती है। स्थानीय समितिया सारा माल, जो कि वे अपन सदस्यो को परचून में बेचती है, थोक समिति से खरीदती हैं और थोक समितिया जो लाभ कमाती हैं है वे उन की अगभूत समितियो को क्रय पर लाभाश के रूप में लौटा दिया जाता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि स्थानीय समितियो मे होता है। थोक समितियो का प्रबन्ध भी उसी प्रकार होता है। प्रत्येक स्थानीय समिति का समिति की हैसियत मे एक वोट होता है और क्रय की राशि की इकाइयो के अनुसार अतिरिक्त वोट होते है। समितिया थोक समिति के सचालकों को चुनती है, जिन की सख्या ३२ होती है, और वे स्थानीय समितियो के प्रतिनिधियो की त्रैमासिक बैठक में अपनी नीति प्रस्तुत करते हैं। क्योकि अन्तिम सत्ता स्थानीय समितियो के हाथ में होती है, वे स्पष्ट रूप से थोक समिति के सचालन में प्रत्येक महत्वपूर्ण मौके पर उन के उत्पादन के तरीको पर नियत्रण रख सकती है।

मेरे विचार में व्यापारी निगम के रूप में थोक समिति की सामान्य कार्यक्षमता दुनिया के किसी भी व्यक्तिगत उद्यम की कार्य क्षमता के मुकाबिले में कम नही है। परन्तु इसे अपनी जो समस्याए हल करनी पडती है, उन का स्वरूप उन से भिन्न है जोकि व्यापार

बढाने मात्र से सम्बन्धित है। कम से कम अन्तत यह ऐसी बात है जिस के भविष्य की वास्तविक बागडोर अगभूत समितियो के हाथ में है। बल्कि इसे जिन समस्याओ का सामना करना सीखना पडता है, उनका सम्बन्ध ही, (१) अपने आप में अपने कर्मचारियो के साथ लोक-तत्रवादी सम्बन्धो की व्यवस्था, (२) नयी आवश्यकताओ को पहले से जान लेने के लिए अधिक समेकित प्रयत्नो और (३) आलोचना करने और सुझाव देने की उससे कही अधिक अच्छी व्यवस्था से है जो कि आजकल विद्यमान है। मै इन तीनो समस्याओ का अलग अलग विवेचन करूगा। पहली बात यह है कि मेरे विचार मे यह स्पष्ट ही है कि राष्ट्रीयकृत उद्योग के कर्मचारियो के लिए जो कुछ ठीक है वही थोक समिति के कर्मचारियो के सम्बन्ध में भी ठीक है। इसलिए उन्हे यह हक है कि उन्ही मे से लोगो को चुन कर सचालक बोर्ड के सदस्य बनाया जाय। जैसाकि राष्ट्रीयकृत उद्योग के सम्बन्ध बोर्ड में होता है, वे लोग एक ओर तो वृत्तियो और दूसरी ओर प्रबन्ध के प्रतिनिधि होने चाहिए। इन लोगो को मिल कर बोर्ड के कम से कम एक तिहाई और हो सके तो आधे सदस्य चुनने चाहिए। और कोई ऐसा उपाय नही है जिस से इतने बडे सगठन में उन के हितो का सुरक्षण समुचित रूप से हो सकता हो। तब भी अगभूत समितिया ही सर्वोपरि होगी, परन्तु वे उन लोगो के साथ बराबरी के आधार पर होगी जिन्हें सहकारिता आन्दोलन में सौतेले बच्चो जैसा समझा गया है। इस प्रकार प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था के अतिरिक्त और भी व्यवस्था होनी चाहिए। कारखानो में जैसे होता है उसी प्रकार सहकारिता में भी कारखाना समिति और नियम भग करने वाले कर्मचारियो के लिए अनुशासन बोर्ड की भी उतनी ही जरूरत है जितनी कि अन्य क्षेत्रो में। जहा तक व्यवस्था का सम्बन्ध है, नियुक्तियो की समस्या भिन्न है, चाहे सिद्धान्त रूप में ऐसा न हो। मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि स्थानीय सहकारी समिति स्कूलो की मार्फत ऐसे लडके लडकियो के साथ सगठित रूप में सबध स्थापित क्यो न करे, जोकि उसकी सेवा में प्रवेश करना चाहते हो और आवश्यक मजदूर सघो के साथ उनके प्रवेश के सम्बन्ध में व्यवस्थाबद्ध योजना क्यो न बनाए। लिखा पढी के काम के लिए उन्हें पहले तो प्रतियोगिता परीक्षाओ द्वारा लोगो को भर्ती करना चाहिए। वे चाहें तो यह शर्त लगा सकती हैं कि सहकारिता के जिन सदस्यो को ठीक समझा जाता हो, उन के बच्चो को ही इन पदो के लिए सुपात्र माना जायगा। प्रत्येक कारखाने में छोटी-मोटी पदोन्नतिया सामान्य कारखाना समिति या किसी विशेष विभाग का काम करने वाले विशेष सगठन की अनुमति से की जानी चाहिए। बडी पदोन्नतियो का विषय बोड के लिए रहना चाहिए परन्तु (क) प्रत्येक पद का विज्ञापन (ख) जहा इच्छित हो, विशेष योग्यताओ का प्रमाण और (ग) उन लोगो से परामर्श, सदा लिया जाना चाहिए, जिन के ऊपर पदोन्नति पाने वाला व्यक्ति अपनी सत्ता का प्रयोग करेगा। यदि ऐसा किया जाय तो सचालक बोर्ड में कर्मचारियो के प्रतिनिधि होने के कारण, नियुक्तियो में कर्मचारियो के हितो का सुरक्षण समुचित रूप से होगा। यहा यह कहना भी असगत नही होगा कि यदि थोक समिति योग्य व्यक्तियो को अपने काम के लिए आकर्षित करना चाहती है तो कम से कम अगली कुछ पीढ़ियो तक, उसे उच्चतम पदो के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक के सम्बन्ध में अपने सकुचित दृष्टिकोण को तिलाजलि देनी पडेगी। इस में

कोई सन्देह नही कि व्यक्तिगत उद्योग की अपेक्षा उसे, कम से कम अपने सचालक बोर्ड के लिए कम वेतन पर अधिक अच्छे व्यक्ति मिल सकेगे परन्तु प्राविधिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पदों के सम्बन्ध में यह बात उतनी सच नही है। अपने कर्मचारियो में से ही ऊचे पदाधिकारी नियुक्त किये जाने के खतरे को उसे समझ लेना चाहिए और इससे बचाव करना चाहिए। ठोस उदाहरण के रूप में, सहकारी बैंक के लिए, अपने सचालक बोर्ड में काम के लिए मि० कीन्स जैसे अर्थ शास्त्री की सेवाए प्राप्त करना उतना ही स्वाभाविक होना चाहिए जितना कि किसी लाभ कमाने वाले बैंक के लिए रिटायर हुए राजनीतिज्ञ की सेवाए प्राप्त करने की चेष्टा स्वाभाविक होती है। और, यथोचित परिवर्तनो के साथ, यह बात इस की कार्यवाहियो के प्रत्येक पहलू पर भी लागू होती है। इसे अपने कर्मचारी, विशेषकर बडे बडे पदाधिकारी, औद्योगिक क्षेत्र की सभी श्रेणियो में से भरती करने चाहिए।

और दूसरे, जैसा कि मैं ने कहा है, आवश्यकता इस बात की है कि नयी उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओ को पूरा करने की योजना बनाने के लिए बहुत अधिक सगठित प्रयत्नों की आवश्यकता है। प्रचार के सम्बन्ध में यह बात विशेषकर स्पष्ट है। थोक समिति की कमजोरी यह रही है कि यह सक्षम और अनुशासनबद्ध मस्तिष्क वाले व्यक्तियो को अपना प्रचार-साहित्य तैयार करने और अपने पण्यो का विज्ञापन करने के लिए प्रयुक्त नही कर सकी है। इसका साहित्य भी उतनी ऊची प्रकार का होना चाहिये जिस की कि उसकी सेवा के आदर्शों से आशा की जाती है। अब तक, इसकी शिक्षा सम्बन्धी सभी कार्यवाहियो में प्रवृत्ति यह रही है कि उन्हे व्यापार के विकास के लिए प्रयुक्त किया जाय। परन्तु सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन करने वाला कोई व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ नही रह सकता कि ये शिक्षा सम्बन्धी कायवाहियाँ व्यापार के विकास की असली कुजी हैं। नयी आवश्यकताओ का सामना पर्याप्त रूप में तभी किया जा सकता है जब कि सदस्यों को उनके अस्तित्व का ज्ञान हो और यह ज्ञान तभी हो सकता है जब कि सहकारिता आन्दोलन के सदस्य को इस बात की ट्रेनिंग मिली हो कि वह निरन्तर उनका महत्व समझता रहे और उनके सम्बन्ध में सगठित ढग से थोक समिति के सचालको को सूचित करता रहे। इसका अथ यह है कि शिक्षा और प्रचार के लिए कर्मचारी रखे जायें, जिन्हें केवल चुनाव द्वारा ही भर्ती न किया गया हो बल्कि जिन्हे विशेषज्ञ वर्ग के रूप में इसके सिवाय किसी और प्रयोजन के लिए नही, बल्कि केवल इसी के लिए रखा गया हो। दो सचालको को विशिष्ट रूप से इसी काम के लिए रखा जाय तो बहुत ही अच्छा होगा। और वे आन्दोलन के साहित्यिक क्रियाकलाप पर निगरानी रख सकते है। यह साहित्य तब तक सन्तोषजनक नही समझा जा सकेगा जब तक कि आन्दोलन के सदस्य इसे अपना कर्त्तव्य जान कर न पढें बल्कि बाहर के लोग इसके अच्छा होने के कारण इसे दिलचस्पी से पढें बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि से मि० जार्ज रसल के प्राविधिक प्रकाशनो को दिलचस्पी से पढ़ते हैं। इस बात का महत्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि सहकारिता आन्दोलन वालों की आत्मतुष्टि भग हो जायगी क्योकि इससे उन्हे आन्दोलन से बाहर के लोगो की आलो-चना का निरन्तर सामना करना पडेगा। उन्हे यह आदत डालनी पडेगी कि वे बाहर से

विशेषज्ञों को लाएँ जो उनके प्रयत्नों का सर्वेक्षण करें और उन पर प्रकाश डालें। जो लोग सहकारिता आन्दोलन में विश्वास नहीं रखते उन पर आन्दोलन के उत्साही सदस्यों की एक सौ पुस्तिकाओं की बजाय मि० और मिसेज़ वेब द्वारा किये गये एक अध्ययन का अधिक असर पड़ता है। परन्तु इस सेवा की सफलता के लिए यह जरूरी है कि इसे सगठित किया जाय, आजकल इस आन्दोलन के लिए जो क्षेत्र वीरान पड़े है, उनमें मे रास्ता निकालने का यही एकमात्र ढग है।

तीसरे, मैं ने यह कहा है कि इस आन्दोलन को आलोचना की उससे कही अधिक अच्छी भीतरी व्यवस्था की आवश्यकता है जो कि आजकल है। इस आन्दोलन का क्षेत्र जैसे जैसे बढ़ता जायगा और इसमें घरेलू पण्यों का व्यापार करने वाले व्यापारी भी खपते चले जायेंगे—जैसा कि होना ही चाहिये—वैसे ही इस व्यवस्था का महत्व बढ़ता चला जायगा। इस प्रयोजन के लिये थोक समिति को स्थानीय समितियों के साथ अपने सम्बन्ध आज की अपेक्षा अधिक व्यापक बनाने पड़ेंगे। जैसे कि मैंने कहा है कि आधुनिक राज्य की केन्द्रीय सरकार को निरीक्षण, आलोचना और सुझावो द्वारा स्थानीय सत्ताओं को सहायता देनी चाहिये बिल्कुल उसी प्रकार थोक समिति को अपनी अगभूत समितियों की सहायता करनी चाहिये। इसके पास प्रत्येक क्षेत्र में उन समितियो के प्रयत्नो के तटस्थ तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत अधिक जानकारी रहती है। इसे न केवल यह दिखाना चाहिये कि उनके व्यापार में वृद्धि कैसी हुई है, उनका लेखा जोखा क्या है, उनके सदस्य कितने है, इसे कई वर्षों के काम की प्रत्येक मद के सम्बन्ध में एक समिति की दूसरी समिति से तुलना करनी चाहिये। इसे वह व्यवस्था करनी चाहिये जिसे अमरीका में औद्योगिक लेखा-परीक्षा कहा जाता है, जिससे प्रयोग में लाए जाने वाले प्रत्यक तरीके के गुणावगुणो का विशलेषण किया जाता है और उनका पता चलता है। यह कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसी लेखा-परीक्षा उन लोगो द्वारा की जायगी जिन्हे उन बातो को लागू करने की सत्ता प्राप्त नही होगी जिनकी शिक्षा वे देते है। वे बातें समिति को बता दी जायेंगी और वह इनका उपयोग अपने सुधार के लिए करेगी। इन बातो को प्रकाशित किया जायगा और वे प्रत्येक समिति को दूसरी से आगे बढ़ने का प्रोत्साहन देने का साधन बनेंगी। मै यह नही कह रहा कि सहकारिता आन्दोलन के सधानवाद को क्षति पहुचाई जाय। अपने कामो में स्थानीय समिति की स्वतत्रता एक ऐसा पहलू है जिसके बारे में कुछ कहना खतरे से खाली नही है। मैं तो यह कह रहा हू कि थोक समिति की स्थिति अपूर्व है और वह इसी रूप में हो सकती है। वह सहकारिता के प्रयत्नो का सर्वेक्षण कर सकती है और बता सकती है कि उसका वास्तविक अथ क्या है और जो वह बताती है वही ऐसा ज्ञान है जिससे प्रगति की जा सकती है और वह ज्ञान इसी प्रकार सम्भव है। इसका अर्थ यह होगा कि थोक समति में एक अनुसन्धान विभाग स्थापित किया जाय जो आन्दोलन के प्रत्येक पहलू के सम्बन्ध में रिपोर्ट देगा। यह बताएगा कि कौन-कौन सी नयी प्रगति की गयी है और कौन-कौन से नए तरीके प्रयोग में आ रहे है। यह इस बात पर प्रकाश डालेगा कि दूसरे देशो में क्या किया जा रहा है। यह ग्लासगो या वूलविच के सम्बन्ध में किये गए अध्ययन जैसा ही एक [illegible] अध्ययन लीड्स के सम्बन्ध में भी कर सकेगा। प्रत्येक स्थानीय समिति जैसे

चाहेगी इससे सहायता ले सकेगी । मि० बेव[1] ने कहा है कि "यदि सफलता की ऐसी कसौटिया हो जिनका काफी प्रचार हुआ हो और जिन्हें आम तौर पर माना जाता हो, तो किसी भी उपक्रम मे लोगो के एक समूह को दूसरे समूह से आगे बढने के लिए स्वेच्छा से प्रयत्न करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है ।" यह निश्चित है कि ऐसी कसौटियाँ निर्धारित करके ही सहकारिता आन्दोलन से यह आशा की जा सकती है कि वह अपन को सामान्य नागरिको के अनुरूप बना सकेगा ।

मै समझता हू कि इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भविष्य के राज्य में उपभोक्ताओ की सहकारिता कितना योग दे सकेगी । इसकी कोई सीमा निर्धारित करना कठिन है । यहा इन दो महत्वपूर्ण बातो पर फिर ज़ोर देना पडेगा कि इस आन्दोलन में ऐसी व्यवस्था हो कि (क) काफी बडे क्षेत्र में, लाभ कमाने की भावना का उन्मूलन किया जाय और (ख) वितरण की प्रक्रिया में से आजकल के बिचोलियो को हटाकर, जो उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में सम्पर्क का काम करते हैं, उत्पादन की सारी लागत को कम किया जाय। हमें इस बात को भी नही भूलना चाहिये कि यह आन्दोलन एक ऐसा प्रत्यक्ष और लोकतन्त्रात्मक तरीका है जिससे उपभोक्ता स्वय यह निर्धारित कर सकते हं कि कौन कौन सी वस्तुओ का उत्पादन हो जिस से वह अपव्यय बहुत कुछ बन्द हो जाता है जो कि वर्तमान व्यवस्था में होता है । एक सीधे से उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्यालो और पिर्चों के उत्पादन को ही लीजिए । व्यक्तिगत उद्यम में उनका उत्पादन केवल इस बात पर आधारित है कि उनका उत्पादन करके लाभ कमाया जा सकता है या नहीं । जनता को मालूम नही होता कि उनके उत्पादन की योजना है । उसे इसकी सूचना तो बहुत बडी विज्ञापन व्यवस्था से मिलती है जिसकी लागत उस मूल्य में शामिल हो जाती है जो कि जनता को देना पडता है । सिवाय प्रयोग के और कोई तरीका नही है जिससे पता चल सके कि किसी चीज की माग कितनी है और व्यापार उद्यम का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस प्रयोग पर बडा खर्च होता है और इसमें अपव्यय भी होता है । उपभोक्ता प्याले और पिर्च चाहे खरीद ले परन्तु उसे उनके सम्बन्ध में केवल वही कुछ मालूम होता है जोकि निर्माता उसे बता देता है । और उनका जो मूल्य वह अदा करता है उसका उत्पादन की लागत से कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नही है । मै समझता हू कि व्यक्तिगत निर्माता के स्थान में उत्पादक श्रेणी में भी उससे स्थिति कुछ अधिक अच्छी नही होती । इस स्थिति में भी यह ठीक ठीक पता नही रहता कि माग कितनी है, यह मालूम नही कि होता उपभोक्ता चाहते क्या हैं और साथ ही उत्पादक और उपभोक्ता के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता । उपभोक्ताओ की सहकारिता में ये सभी कठिनाइया दूर हो जाती है । जब थोक समिति कोई वस्तु बनाने का निश्चय करती है तो उसका निर्माण उस माग के आधारपर होता है जिसके बारे में ठीक ठीक पता लगा लिया गया हो । इसे अपने माल के लिये मण्डिया ढूढनी नही पडती

---

१ दी नीड फ़ार फैड्रल रीआरगनाइजेशन इन दी कोआपरेटिव मूवमेण्ट (फ़ेबियन ट्रेक्ट २०३) पृष्ठ २५

और जनता उसके पण्य से, जो उसने स्वय मागा होता है, कितनी सन्तुष्ट है, इसका पता इसे प्रत्यक्षत और विस्तार मे चल जाता है। मेरे विचार मे उपयोग के लिए उत्पादन का आदर्श औद्योगिक सगठन की किसी अन्य व्यवस्था की अपेक्षा सहकारिता आन्दोलन द्वारा अधिक अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है।

अब दो प्रश्न रह जाते है जिनके सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक है। यह कहा जाता सकता है कि यदि सहकारिता आन्दोलन की सीमायें इतनी विस्तृत हैं तो सारे उद्योग के लिये उपभोक्ता सहकारिता को ही उत्पादन का आदर्श रूप क्यो न मान लिया जाय? सामाजिक सिद्धात पर उत्पादन के अन्य वैकल्पिक तरीको के अध्ययन का बोझ लादना क्यों जरूरी है? मेरा विचार है कि इस प्रश्न का उत्तर इस बात में है कि उपभोक्ताओं की सहकारिता केवल इसलिये सफल है कि यह उन पण्यो के उत्पादन और नियन्त्रण तक ही सीमित है, जिनके बारे में साधारण उपभोक्ताओं की राय से अच्छी राय और कोई नहीं बना सकता। उपभोक्ताओ की सहकारिता द्वारा विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति नही की जाती जैसी कि औजारो और मशीनो के निर्माण की है, बल्कि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। इसका क्षेत्र स्पष्ट है जिसमे तत्काल ही उन प्रक्रियाओ पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है, जिनमें उपभोक्ताओ को प्रत्यक्ष दिलचस्पी है। सामान्य उपभोग की वस्तुओ को छोडकर हम विशेष उपभोग की वस्तुओ पर आयें तो मैं समझता हू कि उन पर यह बात लागू नही होती है। उनका क्षेत्र विभिन्न प्रकार का है। मुझ इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि जो लोग एक विशेष प्रकार की मशीनो का उपयोग करते हैं, वे उन लोगो पर शासन करें जो उनकी ओर से मशीनें बनाते हैं। उन्हे सिवाय तैयार मशीन के और इस की आवश्यकता के मुकाबिले में इसके मूल्य, प्रकार और सभरण की मात्रा के और किसी बात में कोई दिलस्चपी नहीं है। इसलिए एक ओर माग और दूसरी ओर तैयार उत्पाद के निर्माण के बीच की जो प्रक्रिया है, उस पर नियत्रण मोटे तौर उत्पादक का रहना चाहिये। मैं समझता हू कि उपभोक्ताओ की सहकारिता के अधीन इजीनीयरिंग जैसी वृत्तिया उत्पादन की सबसे अधिक कार्य-कुशल इकाइया नही बन पायेंगी। सिद्धात रूप में मि वुल्फ[1] का यह कहना ठीक है कि राष्ट्रीय-करण के अर्थों में रेलो पर सरकारी नियत्रण की कल्पना करना आसान है, परन्तु मेरा विचार है कि व्यवहार में, सहकारिता के जो लाभ है, वे तो उपभोक्ताओ की मत्रणा समितियो द्वारा प्राप्त किये जा सकते है और राष्ट्रीयकृत रूप में उत्पादक के लिये प्रत्येक दृष्टिकोण से अधिक गुजाइश रहेगी। और दूसरी बात यह है कि औद्योगिक सगठन के रूप एक ही प्रकार के बनाने में भी कोई लाभ नही है। विभिन्नता में निश्चय ही लाभ है क्योंकि इसमें प्रयोग किया जा सकता है और यदि यह समुचित न हो तो विधान सभा के तत्वावधान में इसके रूप में परिवर्त्तन करके इस पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

इससे राज्य के साथ सहकारिता आन्दोलन के सम्बन्धो का प्रश्न उत्पन्न होता है।

---

[1] एल० एस० वुल्फ सोशलिज्म एण्ड कोआपरेशन, अध्याय ४, विशेषकर पृष्ठ १०२।

आन्दोलन का विस्तार होने पर उस पर राज्य को क्या शक्तिया प्राप्त होगी ? यह स्पष्ट ही है कि सहकारिता आन्दोलन को न्यूनतम नागरिक अधिकारो की वे सभी अपेक्षतायें पूरी करनी पडेंगी जिनके बारे में मैंने यह कहा है कि उनको लागू करना केवल राज्य का ही काम है। यह आन्दोलन चाहे किसी दर पर वेतन दे, परन्तु उसे उस दर पर अवश्य वेतन देना पडेगा जिसका निर्धारण राज्य ने न्यूनतम दर के रूप में किया है। उदारहण के लिये, यदि यह मालूम हो कि परीक्षण के प्रयोजन के लिये बोरिक एसिड का प्रयोग ठीक नही तो सहकारिता के ढग पर चलने वाली डेयरी का भी राज्य द्वारा निरीक्षण उसी प्रकार होना चाहिये जैसे कि किसी अन्य उद्यम का होता है। कारखानो से सफाई और सुरक्षा के सम्बन्ध में राज्य ने जो बातें आवश्यक समझी हैं वे सहकारी कारखानो में भी होती चाहियें। भविश्य में, उत्पादन मत्रालय के साथ उसका सम्बन्ध कुछ उस प्रकार का होना चाहिये जैसा कि, आज व्यापार-मत्रालय (दी बोर्ड आफ ट्रेड) के साथ है। और मेरा कहना यह है कि अनुसधान मत्रालय के उपयुक्त अधिकारियो द्वारा इसके काम का प्रति वर्ष विश्लेषण और आलोचना कराना भी वास्तव में लाभप्रद होगा। यदि सहकारिता द्वारा मान्चेस्टर नगर को ऐसा दूध पहुचाया जाता हो, जिसकी प्रकार दोषपूर्ण समझी जाय, तो उसे निरीक्षण करवाना पडेगा और यदि यह सक्षम व्यक्तियो की उपपत्तियो को मानने से इनकार करे और उनके अनुसार अपने तरीको को न बदले तो इसके लिए दण्ड की व्यवस्था करना आवश्यक होगा। निस्सन्देह इस सम्बन्ध में सहकारिता की व्यवस्था का सबसे बडा लाभ यह है कि यदि मान्चेस्टर का स्वास्थ्य अधिकारी उसके नागरिको से शिकायत करता है तो यह शिकायत सहकारिता के सदस्यो से भी होगी जो कि तत्काल ही शिकायत दूर करने के अपने साधन से काम ले सकेंगे। सहकारिता आन्दोलन पर केवल यही समस्यायें लागू होगी जो कि आवश्यक भी हैं। इनको छोड, इस आन्दोलन का सबसे बडा लाभ यह है कि इसका स्वरूप गैर-सरकारी है। इस का अर्थ यह है कि जो भी आवश्यकतायें सामने आती है उन्हे पूरा करने की अधिक योग्यता और अधिक परिवर्तन - शीलता इस व्यवस्था में है और साथ ही साधारण स्त्री पुरुषो के हाथ में नियत्रण की अधिक शक्ति रहती है। उनके लिये यह आन्दोलन शासन कला में एक और अधिक महत्व-पूर्ण पाठ है। जहा वे जो कुछ करते है उसका उनके जीवन के स्वरूप पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। जिस व्यक्ति ने भी स्त्री सहकारिता सघ का काम देखा है, उसे पता चल जायगा कि सहकारिता का यह पहलू कितना सहायक होता है। इससे रचनात्मक नागरिकता का तत्व बनता है जिसके समान समुदाय के कुछ ही दूसरे तत्व हैं। इसे जितना अधिक प्रोत्साहन दिया जायगा यह उतना ही अधिक सफल होगा।

—४—

व्यक्तिगत उद्यम के रूप इतने विविध है कि इस पुस्तक में इतनी गुजाइश नही कि उनके नियत्रण के सिद्धात बताने के अतिरिक्त और कुछ कहा जा सके। मै समझता हू कि वे सिद्धात, मनुष्यो ने नागिरक होने के नाते निहित अधिकारो की पहले की गई चर्चा और दूसरी ओर सम्पत्ति के स्वरूप और उन अधिकारो के साथ उसके सम्बन्ध पर आधारित है। परन्तु जो भी व्यक्ति इस बात मर ध्यान देता है कि किसी गाव में से होकर जाने

वाली सडक पर की वर्कशाप जिसमे एक ही व्यक्ति काम करता है, कुछ ग्राहकों के लिए हाथ मे कपडा बुनने वाले किसानो के सघ, जना में साझेदारी के अधार पर स्थापित जीअस जैसे बडे उद्यम, और प्रेस्टन में हाटोक्स के जैसे बडे पैमाने पर बनी रुई मिलों में— इन सब मे कितना बडा अन्तर है, वह इस बात को समझ लेगा कि इनमें से प्रत्येक उद्यम के रूप पर सामान्य सिद्धात अलग अलग ढग से ही लागू किये जा सकते हैं। उद्योग के स्वरूप बदलन के साथ ही इन सिद्धातो को लागू करने का तरीका भी बदल जायगा। सम्भव है कि कुछ उद्यमो में व्यक्तिगत उत्पादन की अनुमति दी जाय, परन्तु उत्पादन का विपणन सहकारिता के ढग पर होगा जैसा कि डेन्मार्क में कृषि के उत्पादों का होता है। या यह काम सामूहिक रूप से राज्य की मार्फत होगा या सहकारी थोक समिति द्वारा जैसे कि ब्रिटेन की सरकार न युद्धकाल में आस्ट्रेलिया की ऊन खरीदी थी। अन्य व्यवसायो में—उदाहरण के लिए आभूषण आदि में—सम्भव है कि चादी सोने की खानो और हीरे आदि जैसे विशिष्ट उत्पादो का स्वामित्व राज्य सरकार के हाथ में रखना लाभदायक हो, जब कि उनका निर्माण और तैयार उत्पादन के रूप में बिक्री अधिकतर व्यक्तिगत उद्यम के लिए छोड दी जाय। मै समझता हू कि अन्य मामलो में, जैसे कि भवन निर्माण में, उत्पादको के एसे छोटे छोटे सघो के लिए काफी स्थान है जो कि या तो व्यक्तिगत गृहस्थो के लिए काम करें और या नगरपालिका के लिए, जैसे कि मध्ययुग के गिरजाघर और निवासस्थान बनाने वाले किया करते थे। एसे उद्योग भी होंगे जिनसे राज्य का किसी भी अवस्था में कोई सरोकार नही रहेगा। ऐसे उद्योगों का उदाहरण शृगार सामग्री का निर्माण और बिक्री है। ऐसी जटिलता के होते हुए यहा तो मैं केवल यही बताने का प्रयत्न कर सकता हू कि सामान्य रूप से क्या सिद्धात होगा और मैंने यह बात मानी है कि जिन परिवर्तनो का सुझाव दिया गया है, उनके सभी रूप में और उन्ही साध्यो की दृष्टि से किये जाने की आशा नही है। यहा मै अपनी इसी बात पर जोर दे सकता हू।

सामान्य रूप से देखें तो राज्य को व्यक्तिगत उद्योग का विनियमन करते समय तीन सामान्य हितो की रक्षा करनी होगी। सबसे पहले तो राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह उद्योग में उत्पादक के कल्याण की रक्षा करे। इसे एसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे कि उत्पादक अपने श्रम के लिए समुचित पारिश्रमिक पा सके और उसके प्रयत्नों के लिए ऐसी परिस्थितिया हो जिनमें यह निश्चित हो सके कि उसे नागरिक के रूप में अपने कृत्य करने का पूरा अवसर मिले। सक्षेप में, इसका अर्थ यह है कि परिस्थितिया ऐसी हों कि वह भरसक प्रयत्न कर सके। राज्य को ऐसी प्रबन्ध करना चाहये कि उत्पादक की स्थिति उस सजीव कल की सी न हो जो कि औद्योगिक क्रियाकलाप के प्रत्यक क्षत्र में असख्य मजदूरों की है। राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे कि मानवो के रूप में उत्पादकों के व्यक्तित्व का उसी प्रकार ध्यान रखा जाय जैसा कि यहा बताई गई योजना के अन्तर्गत उस मजदूर का रखा जाता है जो राज्य द्वारा सचालित उद्योगो में काम करते हैं। उसे यह देखना चाहिये कि वित्त का प्रबन्ध करने वाले, जिसका रुझान सट्टबाजी की तरफ़ है प्रबन्ध और प्रविधि पर अपना अधिकार न जमा लें, जिसके कारण लकाशायर के रुई उद्योग को बडी क्षति पहुची है और अमरीका मे रेलो की सेवा नष्ट हो गयी है। दूसरी

बात यह है राज्य को दो चीजों से उपभोक्ता की रक्षा करनी चाहिय—एक तो अत्यधिक मूल्य और दूसरी उत्पादो की दोषपूर्ण किस्म। जिस व्यक्ति ने भी अमरीका उद्योग में न्यास के इतिहास का अध्ययन किया है उसे यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही होगी कि इसका कडा नियत्रण न केवल उपभोक्ताओ की ओर से आवश्यक है बल्कि राजनीतिक स्वतत्रता की रक्षा के लिए भी यह नियत्रण जरूरी है। एक महान अमरीकन निगम के अध्यक्ष[1] ने स्पष्टवादिता से यह मान लिया है कि वह स्वय और उस की स्थिति का प्रत्येक व्यापारी भ्रष्ट उपायो से अपने हित के लिये जान बूझ कर (राजनीतिक) दलो पर अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश करता है। एक प्रमुख अमरीकी पत्रकार[2] ने कहा है कि "गलियो और राजपथो के प्रयोग सम्बन्धी अधिकार, पथ-प्रयोग के अधिकार, अधिकार-पत्र के विशेषाधिकारो की रियायतें, निगमित उपक्रमो के लिए विधान सभा द्वारा मजूरी आदि का देना, विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक सम्पदा का लाभदायक फलोपयोग, नगरपालिका सम्बन्धी सुधारो से सम्बन्धित सम्पदा विकास का आदि ऐसे काम हैं जिनमें लाखो की व्यक्तिगत पूजी लगाई जा सकती है और उन पूजीपतियो के प्रतिनिधियो की नीति साफ साफ यह रहती है कि वे अपने हितो का गठजोड राजनीतिक प्रभाव के साथ कर ले।" हमे प्रेसीडेंट हार्डिंग के प्रशासन के इतिहास से पता चलता है कि हितो के ऐसे गठजोड का क्या परिणाम होता है। और फिर न्यासो की शक्तियाँ केवल अमरीका मे ही नही हैं। अग्रेजी कपनियो के गुट्टो—जैसे इम्पीरियल टोबेको कम्पनी और कोट्स स्पिनिंग काटन ट्रस्ट—का प्रभुत्व इतना अधिक है कि उपभोक्ता पूरी तरह उनके चगुल मे फसे हुए हैं और सरकार उनके क्रियाकलाप का अनुसधान आशिक रूप में ही करती है[3]। जर्मनी मे उद्योग के मूल्य-निर्धारण सघ ऐसे वैज्ञानिक ढग से बने हैं कि उनका उदाहरण ससार मे और कही नही मिलता। हमने अपनी पीढी में ही देखा है कि कैसे एक व्यक्ति के क्रियालाप के कारण सरकार की विदेश नीति असफल रही है, हजारो मजदूरों के काम के घण्टे उसके कारण नियत हुए हैं, उसने कोयले और इस्पात के जो मूल्य निर्धारित किये हैं वे सभी उपभोक्ताओ को मानन पडे हैं और अन्त में उसने सारे समाचार पत्र, जिन्हे लोगो न पढना ही था, खरीद कर अपना समर्थन करने पर मजबूर किया है और इस प्रकार उन पर सम्पूर्ण प्रभुत्व जमा लिया है।

राज्य का तीसरा काम यह है कि वह पूजी लगाने वाली जनता की रक्षा करे। यहा यह भी कह देना चाहिये कि जिस योजना की रूपरेखा बताई गई है उसके अन्तर्गत यह काम आज की अपेक्षा अधिक व्यापक स्वरूप वाला होगा। आधुनिक कम्पनी कानूनो के अन्तर्गत व्यक्तियो का कोई भी समूह लोगो को किसी वास्तविक सेवा की या लगाई हुई पूजी पर किसी लाभ की गारटी दिए बिना उनमे पूजी प्राप्त सकता है। सम्भव है कि कोई

---

१. सिनेट रिपोर्ट नम्बर ६०६ ५३वीं कांग्रेस। दूसरा सत्र।

२ अमरीकन शुगर रिफाईनिग कम्पनी के अध्यक्ष का साक्ष्य खासकर पृष्ठ ३५१-२ पर जिसका उद्धरण एच० जे० फोर्ड ने अपनी पुस्तक दी राइज एड दी ग्रोथ आफ अमेरिकन पॉलिटिक्स के पृष्ठ ३१८ पर दिया है।

३ रिपोर्ट आफ दी कमिटी आन ट्रस्ट्स

कम्पनी अपने कार्म में बेइमान हो या कार्यकुशल न हो परन्तु लोगो को इस बात का पता तो किसी भी समय नही चलेगा। इसकी सारी कार्यवाही रहस्य के आवरण में लिपटी रहती है। बहुधा इसका सन्तुलन पत्र योग्य लेखापाल के सिवाय किसी की समझ में नही आ सकता और वह भी वास्तविक मूर्त परिसम्पत्ति के साथ तुलना करके ही— जिनका द्योतक वह सन्तुलन पत्र है—उसके ठीक अर्थ बता सकता है और फिर आवकल वित्त के सम्बन्ध में जो हेराफेरी की जाती है उसके कारण प्रबन्ध और प्रविधि, सचालकों की कठपुतली बनकर रह जाते है। और सम्भव है कि उन सचालको को किसी अमरीकन रेलवे के बोर्ड की तरह, उद्योग के वास्तविक कामो का कुछ भी ज्ञान न हो। हो सकता है कि लगी हुई पूजी में, पूजी लगाने वाले के कल्याण का ध्यान रखे बिना ही वृद्धि करने का निश्चय कर लिया जाय। ऐसे प्रबन्धो के अनुसार, जिनका उसे कुछ भी पता न हो, उत्पादन सीमित रखा जा सकता है। स्वामित्व और नियत्रण अलग अलग लोगो के हाथ में रहता है और सामान्यतया प्रबन्ध और नियत्रण में भी परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जब तक पूजी लगाने वाले को उचित परिश्रमिक मिलता रहता है, यह समझा जाता है कि वह सन्तुष्ट है और यदि वह उचित पारिश्रमिक मिलना बन्द हो जाय तो या तो उसे कम्पनी के परिसमापन का सामना करना पडता है जिस सम्बन्ध में वह कुछ कर नहीं सकता, और या उसे फिर से समृद्धि की आशा में उन लोगों पर भरोसा करके सन्तुष्ट हो जाना पडता है जो पहले ही असफल रहे है। इसके फलस्वरूप, वर्तमान व्यवस्था में पूजी का अपार अपव्यय होता है[१] और निस्सन्देह इस व्यवस्था में ऐसे कोई साधन नही है जिससे कि जो इस के अन्तर्गत मेहनत करते हैं वे इसके प्रति निष्ठावान् बन सके। यह इसलिये कि उन्हें उनकी मजूरी मिल जाय तो उनकी दिलचस्पी समाप्त हो जाती है और इसकी समृद्धि का उन पर कोई प्रभाव नही पडता। और न कभी इस व्यवस्था ने उन लोगो की भलाई की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है। इसके अन्तर्गत तो वे उन निर्जीव वस्तुओ के समान हैं जिन्हे लाभप्रद काम की सम्भावना के अनुसार जब जी चाहा खरीद लिया और जब इच्छा हुई फेंक दिया।

व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो यहा जो योजनायें बताई गयी हैं वे व्यापारिक उद्यम के निगमित पहलू पर ही लागू की जानी चाहियें। ऐसे व्यापार में जिसे एक ही व्यक्ति चलाता हो, या छोटी मोटी साझेदारी में, ऐसी बातें उठती हैं जिन्हे किसी सामान्य योजना द्वारा नही निबटाया जा सकता और जो भी हो औद्योगिक क्षेत्र का अधिकाश भाग कम्पनियो में ही आ जाता है। इसलिए हम मान लेते है कि हमें ऐसे व्यक्तियो के समूह से सरोकार है जो किसी राज्य में कम्पनियों सम्बन्धी कानून के नियमों के अन्तर्गत कम्पनी बनाना चाहते हैं। वह कानून किन सिद्धातो पर आधारित होना चाहिये ? बुनियादी तौर पर प्रत्येक कम्पनी में पूजी लगाने वाले, प्रबन्ध और श्रम—ये होगे। सचालक-बोर्ड में तो इनमे से पहले वर्ग के ही प्रतिनिधि होगे। मेरा कहना यह है कि किसी कम्पनी को अपने कार्यकाल में

---

१ देखिए किलोवन के लार्ड रसल के प्राक्कलन, जिनका उद्धरण मि० वेब ने "डिके आफ कैपिटलिस्ट सिवलिजेशन के पृष्ठ ६७ पर दिया है।

जिस प्रक्रिया में से गुजरना पडेगा उसके दो सामान्य सिद्धात होगे। पूजी लगाने वाले को पूजी के मूल्य के बराबर के पूजी अश दिए जायेंगे और कुल अशो के कारण कम्पनी की सम्पत्ति पर निरपेक्ष हक प्राप्त हो सकेगा। इसका मतलब यह हुआ कि जब सयँत्र में वृद्धि की जाती है या पूजी का भुगतान किया जाता है तो मूल पूजी का मूल्य कम्पनी की वास्तविक मूत आस्तियो की अपेक्षा कम होगा और उसी अनुपात मे पूजी लगाने वाले की प्रतिभूति सुदृढ हो जायगी। ऐसे अश साधारण तरीके से किसी के नाम किये जा सकेंगे और इनके साथ ही मत देने का अधिकार भी मिलेगा। परन्तु मै समझता हू कि इस अधिकार के दो सुरक्षण होने चाहियें। पहली बात यह है कि मतदान स्वय उन व्यक्तियो द्वारा होना चाहिये जिन्हें इसका अधिकार प्राप्त है न कि इस ढग पर कि कोई अन्य व्यक्ति उनकी ओर से मत दे सके। इसका अथ यह हुआ कि पूजी लगाने वाले को अपने को केवल यही तक सीमित नही रखना चाहिये कि वह बिना सोचे समझे अपनी शक्तिया सचालको को सौंप दे, जिनके सम्बन्ध मे वह कुछ जानता नही है। उसकी उत्तरदायित्व की भावना को इस खयाल से जागृत होना चाहिये कि परम उत्तरदायित्व उसी का है। दूसरी बात यह है कि उसके पास चाहे कितने ही अश हो, उसका वोट केवल एक रहना चाहिये जैसे कि सहकारिता आन्दोलन में होता है और जो एक प्रशसनीय उदाहरण है। इस प्रकार कम्पनी की साधारण बैठक में नियत्रण व्यक्तियो का रहेगा न कि अशो की राशि का। मै समझता हू कि इस बात का परिणाम यह होगा कि कम्पनी की साधारण बैठक रस्मी बात नही रह जायगी बल्कि एक विधान सभा जैसी बन जायगी जो सचालको की निरंकुशता को समाप्त कर देगी। अशो के लिये लाभाश की सीमित और अधिमानीय दरें होगी जैसे कि साधारण कम्पनी में अधिमानीय अश होते हैं।

परन्तु पूजी लगाने वालो का एक ऐसा भी वर्ग है, जो न्यासी प्रतिभूतियो की तरह ऐसे व्यवसायो की खोज मे रहता है जिनसे लाभाश निश्चित हो और सदा एक सा मिलता रहे। ऐसे लोग औद्योगिक जोखम में हिस्सा नही लेना चाहते और प्रबन्ध के लिए आंशिक जिम्मेदारी में उन्हे कोई दिलचस्पी नही होती। उनके लिए आदर्श तरीका यह है कि वे राज्य या नगरपालिको के बन्ध-पत्रो में पूजी लगायेंगे, परन्तु हम यह मान लेते है कि यदि वे इससे अधिक जोखम उठाते है तो वे उसी अनुपात में अधिक लाभाश चाहेंगे। ऐसे लोगो को बन्धक-पत्र दिए जायेगे जिनका मल्य उनकी पूजी के बराबर होगा और उस पर नियत दर से ब्याज दिया जायगा परन्तु जो पहिले वग के अशो के ब्याज से कम होगा। कम्पनी की प्रारभिक जिम्मेदारी यह होगी कि श्रम और प्रबन्ध की कमाई के अतिरिक्त, अन्य पूजी लगाने वालो के दावे पूरे करने से पहले उस नियत दर पर ब्याज चुकाया जाय। इन लोगो को कम्पनी में मतदान देने की कोई शक्ति नही होगी। उन्हें ब्याज मिल चुकने पर इससे उनका कोई सरोकार नही रहेगा। और वे तभी सरगर्मी दिखायेंगे जब कि कम्पनी उनके प्रति अपना दायित्व पूरा करने में असफल रहे।

कम्पनी की सचालन लागत पूरी होने के बाद जो आय बचेगी उस पर सबसे पहला दावा अशधारियो का होगा। उसे अधिमानीय दर—५ या ७ प्रतिशत, जैसे भी कम्पनी बनने पर बुनियादी लाभांश के रूप में निर्धारित की गयी हो—पर लाभाश दिया

जायगा। बाकी का अधिशेष तीन बराबर भागो मे बाटा जायगा। उनमें से एक भाग पूँजी लगाने वालो के लिए होगा, एक श्रम और प्रबन्ध के लिए और एक जनता के लिए। इसलिए इनमें से प्रत्येक का कुशल सचालन के फल पर निश्चित दावा होगा। मेरा सुझाव है कि जनता के लिये जो अधिशेष है उसे भी दो भागो में बाटा जाय। उसमें से एक भाग तो निश्चय ही राज्य का राजस्व होगा जिसका स्वरूप स्पष्टतया आधुनिक निगम कर जैसा होगा। दूसरा भाग, कम्पनी के सयत्र के विस्तार, बन्धक-पत्रो की वापिसी या नए उद्यम के विकास द्वारा कम्पनी के सुधार के लिए रहेगा जैसा कि कम्पनी के सचालक और सरकार का सम्बद्ध विभाग उचित समझें।

परन्तु प्रबन्ध और श्रम को उस अधिरिक्त आय में हिस्सा देना ही काफी नही है जिसके निर्माता वास्तव में वे ही है। यह भी आवश्यक है कि कम्पनी के सचालन में भी उनका हाथ रहे। इस साध्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक कम्पनी के सचालक बोर्ड में आधे स्थान प्रबन्ध और श्रम के चुने हुए प्रतिनिधियो के लिए सुरक्षित रखने चाहियें जो बराबर अनुपात में बोड में लिये जायें। उन्हें लगी हुई पूजी के प्रतिनिधियो जैसी ही शक्तिया प्राप्त होनी चाहिए। ऐसा कर के न केवल हम इस बात का प्रबन्ध कर डालेंगे कि कम्पनी में उनके हित की समुचित रक्षा हो—वह हित, जो पूजी लगाने वाले के हित से कही अधिक वास्तविक है—बल्कि इस बात का भी सुरक्षण रहेगा कि कम्पनी के सचालको में से जो वित्त का प्रबन्ध करनेवाले हैं वे कम्पनी में हेराफेरी न कर सकें। इससे हमारे पास पूजी लगाने वाले से पुनस्सगठन की उन योजनाओ के विरुद्ध अपील करने का साधन मिल जाता है जो कि १९२० से रुई उद्योग मे बेकारी के लिए इतनी अधिक जिम्मेदार रही हैं।[1] यहा भी यह कह देना चाहिये कि मतदान की शक्ति का सम्बन्ध लगी हुई पूजी की राशि की बजाय व्यक्तियो के साथ जोडा जाय तो यह हेराफेरी के विरुद्ध एक और सुरक्षण है।

परन्तु यह भी आवश्यक है कि कम्पनी की शक्ति का प्रयोग लोकहित को हानि पहुचाने के लिये किये जाने से रोका जाय, जैसा कि उद्यमो के निगमों की पहले से आदत रही है। इसके लिए यह अत्यावश्यक है कि उद्योग का विनिमयन जनता द्वारा हो। इसलिये प्रत्येक कम्पनी को विवश करना चाहिये कि वह अपना हिसाब-किताब एक विहित ढग से रखे। उसे इस बात पर भी विवश किया जाना चाहिये कि वह प्रत्येक वर्ष, कुल वार्षिक आय का उतना भाग सधारण और अवक्षयण के लिए अलग रखे जितना कि उसमें लगी मूल पूजी की एकता बनाए रखने के लिए आवश्यक हो। उससे यह माग की जानी चाहिये कि वह प्रत्येक वर्ष केन्द्रीय सरकार को अपने काम की रिपोर्ट दे और ऐसा सन्तुलन पत्र भी प्रस्तुत करे जिसमें उसकी कुल अस्तिया और दायित्वो का बखान हो और जो गुप्त रक्षित धनराशियो के लिए आवरण का काम न देता हो। यदि लगी हुई पूजी पर ब्याज चुकाने के बाद बाकी बचा अधिशेष एक निश्चित राशि से अधिक हो तो ऐसी शक्ति रहनी चाहिये जिसके अनुसार, सारे उद्योग की परिस्थितियो को देखते हुए या तो उस अधिशेष को सार्वजनिक प्रयोजनो के लिए काम में लाया जा सके और या उपभोक्ताओ के लिए

---

१. इस स्थिति पर टिप्पणी के लिए देखिए—२५ अगस्त १९२४ का दी टाइम्स।

मूल्यो के दरो में कमी कर दी जाय। इसके अतिरिक्त यह अधिकार सदा सरकार के पास रहना चाहिये कि वह कम्पनी का निरीक्षण कर सके, उसके हिसाब-किताब का परीक्षण कर सके और उसकी कार्यक्षमता को आक सके। और साथ ही यह शक्ति भी सरकार के पास रहनी चाहिये कि वह कम्पनी के बोर्ड मे श्रम और प्रबन्ध के प्रतिनिधियो की अपील पर इसके काम में पूरी जाच का काम प्रारम्भ कर सके।

ऐसी परिस्थिति में किसी कम्पनी का इतिहास, स्वभावत एक सार्वजनिक साहसोद्यम होगा। इसे कितना लाभ होता है यह सभी को मालूम होगा, इसकी लागत का ब्यौरा प्रकाशित किया जायगा, इसमें दी जाने वाली मजूरी और वेतन की ऐसे जाच की जायेगी मानो वे किसी मत्री और उसके कर्मचारियो का वेतन और मजूरी हो और जो भी व्यक्ति इसकी प्रक्रियाओ का अध्ययन का करने कष्ट उठाएगा वह इसकी कार्यक्षमता को आक सकेगा। मै यह कहूगा कि ऐसे प्रचार के महत्व पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना कम है। हमें पहले से भी अधिक इस बात का ज्ञान है कि व्यापार के सम्बन्ध में अज्ञान या उनके रहस्य में लिपटे रहने से कितना क्षोभ और सन्देह उत्पन्न होता है। जब तक हम उस माया-जाल को दूर न करें हम उनके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से सोच नहीं सकते और न उनके सम्बन्ध में भावो की समरूपता देख सकते है। जब उत्पादन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में वे तथ्य जानबूझ कर हमसे छिपाये जाते हैं, जिनके बिना काम नही चल सकता, तो हम पूजी और श्रम के बीच परस्पर सहयोग की माग नही कर सकते। जो कोई आधुनिक औद्योगिक विवाद का विश्लेषण करेगा वह तत्काल ही यह देखेगा कि बहुधा इसका प्रारम्भ और इसकी कटुता उद्योग की आधारभूत परिस्थितियो के किसी एक पक्ष के बारे में अज्ञान के कारण होती है। हम व्यापार की समस्याओ के सम्बन्ध में जनता की वास्तविक राय कभी प्राप्त नही कर सकते, क्योकि जिन तथ्यो के अधार पर यह राय बनायी जा सकती है, वे हमें कभी बताए नही जाते। एक पक्ष तो यह कहता हैं कि हम खून-पसीना एक कर रहे है और दूसरा यह कि तुम हराम की खा रहे हो। हमें बताया जाता हैं कि मालिको का ऐक समूह मुनाफाखोरी कर रहा है या यह कि मजदूरो का कोई समूह अपनी विशिष्ट औद्योगिक स्थिति का अनुचित लाभ उठा रहा है। एक दूसरे के ये चरित्र-चित्रण अधिकतर निरर्थक है, क्योकि इनको ठीक तरह आका नही जा सकता। इन बातो से दोनो पक्षो को सघर्ष के लिए उत्साह मिलता है, परन्तु न्याय के विजयी होने में इनसे सहायता नही मिलती, रुकावट ही पडती है।

परन्तु यदि हम इस बात पर ज़ोर दें कि प्रत्येक कम्पनी अपनी वास्तविक आस्तिया बताए, और यदि हम प्रत्येक औद्योगिक प्रक्रिया की लागत का विश्लेषण करवायें तो ऐसा बहुत सा अज्ञान दूर हो जायगा। मुनाफाखोरी का कोई आरोप लगाया गया हो तो उसके सच या झूठ होने की पहचान फौरन तथ्यो से की जा सकेगी। वास्तविक स्थिति तटस्थ रूप से बताई जा सकेगी, मानो यह किसी रग का रासायनिक विश्लेषण हो या किसी इजीनियर की इस सम्बन्ध में रिपोर्ट ही कि किसी पुल पर कितना बोझ बिना खतरे के डाला जा सकता है। मै यह नही कहता कि जनसाधारण सारे परिणामो का ठीक-ठीक मतलब समझ लेंगे, परन्तु विशेषज्ञो द्वारा उनकी जाच का मतलब यह होगा कि कुछ ऐसे सामान्य

निष्कर्ष निकाले जा सकेंगे जो जनता को समझाए जा सकें। और हम जनता की राय का प्रभाव डालकर इस सुरक्षण की व्यवस्था कर सकेंगे कि उद्योगो में दुरुपयोग न हो। आजकल हम ऐसा बहुत कम कर सकते है। मै समझता हू कि हमें व्यापार की कार्यक्षमता का सामान्य स्तर ऊचा उठाना चाहिये, कुछ तो कमजोर आर्थिक एकाशो को हटाकर और कुछ उनमें सुधार करके जो कि ज्ञान के फलस्वरूप किया जायगा। सम्भवत हम यह देखेंगे कि आजकल बहुत कम ऐसे उद्योग है जिनमें वर्तमान एकाश, उत्पादन का सबसे अधिक कार्यकुशल एकाश है और फिर हम आवश्यक पुनर्गठन के लिये जोर दे सकते हैं। यहा जिस व्यवस्था की रूपरेखा बताई गई है इसका यह अर्थ भी नही है कि उससे उपभोक्ता के लिये खतरा पैदा हो जायगा, क्योकि यहा जिस प्रकार की कल्पना की गयी है उसका गुण यह है कि उसके अस्तित्व मात्र से सक्षम सार्वजनिक नियत्रण सम्भव हो जाता है। इसके लिये यही एक तरीका है जिससे औद्योगिक प्रक्रिया में हिल मिल जाने वाले विभिन्न प्रेरणा-हेतुओ से समुचित रूप से निबटा जा सकता है और प्रत्येक को पूरे ढाचे में उसका यथायोग्य स्थान दिया जा सकता है। यही एकमात्र ढग है जिससे कि राज्य राष्ट्र के आर्थिक ढाचे में उचित योग दे सकता है। क्योकि यह जब कार्य करेगा, उसका अर्थ बहुत कुछआका जा सकेगा। उदाहरण के लिए, यदि वह किसी औद्योगिक विवाद का निबटारा कराने में सफल हो जाय तो वह इसके हल का ठीक ठीक अर्थ फौरन सामने रख सकेगा और यदि यह श्रम के बुनियादी घण्टो में परिवर्तन करने का निर्णय करे तो वह उत्पादन-शक्ति पर अपने काय के प्रभाव को फौरन आक सकेगा। सक्षेप में, प्रचार विज्ञान के लिये एक आवश्यक परिस्थिति है और जब तक वह व्यवस्थाबद्ध ज्ञान न हो जो प्रचार से मिलता है, तब तक उद्योग में सन्तोषजनक परिस्थितिया नही हो सकती।

व्यक्तिगत उद्यम के सगठन के इस तरीके के लिए जिन सरकारी सस्थाओ की आवश्यकता हैं, उनकी चर्चा करने से पहले इस तरीके के निहित गुणो का सक्षेप में वर्णन करना ठीक रहेगा। पहली बात तो यह है कि इस तरीके से प्रत्येक उद्योग में ठोस रूप से सहयोग हो सकता है। इससे मजदूर, प्रबन्ध और वित्त की व्यवस्था करने वालो को उद्यम के सचालन में पूरा हिस्सा मिलता है। इससे पूजी के स्वामी की रक्षा होती है, न केवल इस प्रकार कि उस की पूजी की अखण्डता अधिक से अधिक रहती है बल्कि इस तरह भी कि अन्य स्वामियो द्वारा उसके अपने अधिकारो में वित्तीय हेराफेरी के विरुद्ध सुरक्षण प्राप्त हो जाता है। इस तरीके से श्रम और प्रबन्ध को उद्योग के सचालन में स्थान मिलता है और कार्यकुशलता में वृद्धि से जो कुछ प्राप्त होता है उसमें भी उन्हे उचित हिस्सा मिलता है और इस तरह उनके हित सुरक्षित रहते हैं। इस तरीके में यह नही समझा जाता कि मुनाफे के बाद पूजी का ही स्वाभाविक स्थान है। इस तरीके में लगी हुई पूजी पर निश्चित दर से लाभाश दिया जाता है परन्तु इस बात पर भी जोर दिया जाता है, कि उस निश्चित राशि से अधिक जो लाभ होगा वह उद्योग के सभी पक्षो में बराबर-बराबर बाटा जायगा। इसमें दो बातो की व्यवस्था करके उपभोक्ता की रक्षा की जाती है, पहली यह कि उद्योग पर निगरानी जनता द्वारा कराने की व्यवस्था की जाती है और दूसरी यह कि मुनाफे की उचित दर से अधिक जो अधिशेष बचते है वे घटाये गए मूल्यो या राज्य के राजस्व में

योगदान के रूप में उपभोक्ता को लौटा दिये जाते है। इस प्रकार इस तरीके में क्रय शक्ति में अनुचित कमी नही होने पाती जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन सीमित हो जाता है और अन्तत यही कमी बेकारी का कारण होती है। इसमे सन्देह नही कि यह तरीका स्पष्टतया इस धारणा पर आधारित है कि धन-सम्पदा का वितरण आज की अपेक्षा अधिक बराबरी के आधार पर होगा। मै पहले ही बता चुका हू कि ऐसा समझने की आवश्यकता के क्या कारण है। इसमें यह कल्पना करनी पडती है कि पूजी लगाने वाले आज की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए होगे। मै समझता हू कि इस तरीके में पूजीदाता और पूजी के प्रयोग मे आज की अपेक्षा अधिक अभिन्न सम्बन्ध रहेगा। जिन लोगो की जीविका स्वामित्व पर ही है, उनकी सख्या जितनी कम हो, समुदाय का जीवन उतना ही अच्छा होगा। मेरा कहना यह है कि इस तरीके में हिस्सेदारो के वोट बराबर और व्यक्तिगत होने का जो ढग अपनाया गया है, वह इस लक्ष्य तक पहुचने में सहायक होगा। इससे व्यक्तिगत उद्यम पर बडी पूजी के स्वामियो का प्रभुत्व नही रहेगा। यहा यह भी कह देना चाहिये कि ऐसा प्रभुत्व खासकर समाचार पत्रो पर होना बडी खतरनाक बात है। इस तरीके में पहलकदमी और उसमें निहित विशेष परिश्रम के लिये पूरा स्थान है। परन्तु यह व्यवस्था निश्चय ही इस सिद्धात पर आधारित है कि उद्योग में नियत्रण रखने वाला तत्त्व तो समुदाय की सकल्पना और उस सकल्पना द्वारा लगाए गये मानक होना चाहिये। इस व्यवस्था का सरोकर तो मुख्यतया इस बात से है कि एक तो इन मानको को उनका समुचित स्थान मिले और दूसरे यह कि साधारण व्यापारी के उद्दीपन के लिए उसके क्रियाकलाप का पर्याप्त क्षेत्र हो।

इन सिद्धातो की कार्यान्विति में राज्य का क्या योग होगा और उससे इनका क्या सम्बन्ध होगा, उसकी चर्चा करने से पहले एक बात का उत्तर देना ठीक रहेगा जो इन सिद्धातो की आलोचना में कही जायगी। यह कहा जायगा कि इन सिद्धान्तो से दफ्तरशाही को बहुत ऊचा स्थान प्राप्त हो जायगा। फिर भी हमें मालूम है कि सरकारी कर्मचारी नये तरीके अपनाने के विरुद्ध होता है, जबकि व्यक्तिगत उद्यम प्रयोग की सम्भावनाओ के प्रति सदा सजग रहता है। जब तक हम महान् व्यापारी के लिए असीमित क्षेत्र नही छोडते, जोकि स्वभावत इतना अरुग और नियत्रण रखने के अयोग्य होता है जितना कि महान् कलाकार, तब तक हम उसकी सेवाओ से लाभ नही उठा सकते। परन्तु क्या यह आलोचना ठीक है? जिस व्यस्था के अन्तर्गत हम रहते है क्या ऐसा कह देने से उसका ठीक ठीक परिचय मिलता है? मैं समझता हू कि कोई भी व्यक्ति सममुच यह नही समझ सकता कि आधुनिक व्यापारिक उद्यम में पूजी लगानेवाले साधारणतया उस कम्पनी में थोडी बहुत ही दिलचस्पी लेते है, जिससे उन्हे लाभ होता है। वे नये तरीको की खोज में नही रहते। प्रविधि के सम्बन्ध में जो नयी बातें मालूम हुई हो, वे उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा नही करते और न प्रबन्ध को इस बात के लिये मजबूर करते हैं कि वह उनका प्रयोग करे, उन्हे जिस लाभ की प्रत्याशा होती है उससे वचित होने की दशा को छोड, वे शायद ही कभी कम्पनी के कामो की आलोचना करते हो। और ऐसे मौके तो बहुत ही कम होते है जब कि वे कम्पनी के सचालक पद के लिये नामजद किसी व्यक्ति का विरोध

करने का प्रयत्न करते हो। निर्णायक तत्व के रूप में उनका कोई महत्व नही रहा, वे पुराने युग के हो चुके है। एडेम स्मिथ ने लिखा था कि "कम्पनी के अधिकतर मालिक उसके काम के सम्बन्ध में कुछ समझने का प्रयत्न बहुत कम करते है वे इस बात की चिन्ता ही नही करते, परन्तु ६ महीने या साल के बाद वह लाभाश पाकर ही सन्तुष्ट रहते है जो कि सचालक उन्हे देना उचित समझते हो[1]" और यह लिखा जाने के बाद से भी उनकी स्थिति में परिवर्तन नही हुआ है।

जिन उद्योगो में आर्थिक एकाश का आकार काफी बडा होता है, उनके सचालक निकायो में भी स्थिति इससे भिन्न नही है। कोई यह नही कहता कि हमारी रेलो का प्रबन्ध चलाने वाले समूह के विभिन्न व्यक्तियो को आमतौर पर रेलो की समस्याओ का कोई वास्तविक ज्ञान होता है या कि वे उनके सचालन में सचमुच कोई सुधार कर सकते हैं। यही बात खानो के सचालको के सम्बन्ध में भी सच है, सम्भव है कि कुछ अधिक ही सच हो। यह तो सभी जानते है कि अग्रेज़ी कम्पनियो की यह आदत होती है कि वे अपने प्रोस्पैक्टस द्वारा इस बात का प्रचार करती हैं कि उनके प्रबन्ध निकाय में एकाध लार्ड भी हैं। और इन लार्डों का कितना महत्व है और वे क्या काम करते हैं—यह न्यायालयो के सामने कई बार पता चल चुका है[2]। जहा भी व्यापार की परिस्थितियो में सावधानी से जाच की गयी है, इस बात का पता चला है कि सचालक बोड के सदस्यो का ज्ञान कितना कम होता है। उदाहरणाथ, विद्युत् शक्ति के सम्भरण के सम्बन्ध में कोयला परिरक्षण आयोग की रिपोर्ट में यह बात बडी अच्छी तरह दिखाई देती है[3]। औद्योगिक क्लान्ति अनुसधान बोर्ड[4] ने लोहा और इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में जो जाच की थी उससे भी यही पता चलता है। बोर्ड ने कहा है "ऐसा लगता है कि यदि इस देश के लोहे और इस्पात के सभी कारखाने अधिकतम कार्यकुशल तरीके अपनायें तो वे अपने उत्पादन में औसतन ५० से १०० प्रतिशत तक वृद्धि कर सकते है।" इसी तरह की आलोचना बिना रुके की जा सकती है। सयुक्त राज्य अमरीका के अन्तर्राज्यिक वाणिज्य आयोग की लगभग प्रत्येक रिपोर्ट में रेलो के तरीको की अप्रत्यक्ष निन्दा है। उन रिपोर्टों से कई बार तो डिब्बो की कमी का पता चलता है, कभी रेलवे लाइनो की अपर्याप्त सख्या का, कभी मालगाडी के डिब्बो की सख्या कम होने का और कभी इस बात का कि गाडिया जहा जा कर समाप्त होती है, उन स्थानो पर उचित सुविधायें नही हैं।[5] अमरीका में उद्योगो के परिरक्षण के लिए जो आन्दोलन है उसका सारा मतलब यह है कि उन लोगो के अपव्यय और उनमें कार्यकुशलता के अभाव की निन्दा की जा रही है, जो उद्योगो पर नियत्रण रखते हैं।

जब हम उत्तरदायी प्रबन्ध की बात करते हैं तो स्थिति कुछ अधिक भिन्न नही है।

---

१ वेल्थ आफ नेशन्स (एवरीमैन्स सस्करण), (२),२२९
२ जैसा कि जी० एल० बेवान और उस की कम्पनियों के सबन्ध में हुआ था।
३ मन्त्रिमडल ज्ञापन, ८८८० ५४५।
४ औद्योगिक क्लान्ति अनुसधान बोर्ड की पाचवीं रिपोर्ट पृष्ठ ९६।
५. उदाहरण के लिए इस आयोग की १९१६ की रिपोर्ट देखिए।

यद्यपि वह दूसरे क्षेत्र की बात है। व्यापार की सफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार तीन बडे गुण हैं, विज्ञान के परिणामो को प्रयोग में लाने के लिये तैयार रहना, अपने तरीको को सावधानी से आकने को प्रोत्साहन देने की इच्छा और उद्योग में मानसिक तत्त्वो का महत्त्व शीघ्र समझ लेने की प्रवृत्ति। परन्तु इनमें से कोई भी गुण साधारणतया देखने में नही आता। और न कोई ऐसी बात दिखाई पडती है जिससे यह पता चले कि आधुनिक व्यापारिक उद्यम के प्रबन्ध के लिये आवश्यक प्रशिक्षण दिया जा रहा है—अर्थात् अर्थशास्त्र, वित्त और मनोविज्ञान का ज्ञान कराया जा रहा है। मि० जे० ए० हॉबसन[1] लिखते हैं—"इनमें से लगभग सभी को ऐसे प्रशिक्षण की आवश्यकता का विचार भी ऐसा लगता है मानो वास्तविक व्यापारिक जीवन के लिए लोगो को आयोग्य बनानेवाली बौद्धिकता को प्रोत्साहन देने का हास्याप्रद प्रयत्न किया जा रहा है।" वे उसी से सन्तुष्ट है जिसे वे व्यावहारिक अनुभव कहते है, परन्तु व्यावहारिक अनुभव सदा ऐसी धारणाओ पर आधारित होता है जिनके प्रति सजगता आवश्यक है, और परम्परा के सरल सिद्धात, जिनको अपनाकर व्यापारी सन्तुष्ट हो जाता है, पहलकदमी को अपने विकास का प्रोत्साहन देने की बजाय उसके रास्ते में रोडा अधिक बनते दिखाई देते है। उन व्यक्तियो को, जो मि० सिन्क्लेयर लिवस' बेबिट की तरह मेनस्ट्रीट के वातावरण मे रहते है, अनुभव के आधार पर बनी कसौटियों के स्थान पर वैज्ञानिक आदतो के पड जाने से कोई हानि होने की सम्भावना नही है। पहलकदमी का अभाव अधिकतर सकीर्णता के कारण होता है और सकीर्णता को समाप्त करने के लिये इससे बढ कर और कोई बात नही हो सकती कि व्यापार में योग्यता के लिये मानक रखे जायें और प्रक्रियाओ को आकने के लिए कोई प्रमाप निर्धारित किये जायें।

मैं समझता हू कि व्यापार में जोखम उठाने वाले व्यक्तियो की बात दूसरी है जैसे इग्लैण्ड में लार्ड रोड्डा थे और अमरीका में मि० जे० जे० हिल। परन्तु उनके कृतित्व का विश्लेषण किया जाय तो साधारणतया यही पता चलेगा कि वे यह नही चाहते कि मुनाफे के प्रेरणा-हेतु के कारण लोग आगे आए, बल्कि यह चाहते है कि लोग शक्ति के उद्दीपन से प्रभावित हों। वे यह महसूस करने को उत्सुक रहते है कि उनके हाथ में एक बहुत बडी व्यवस्था है। वे रचनात्मक भावना को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। उनमें बडी-बडी बाते सोचने की आदत, टिक कर न बैठने का स्वभाव और बिना थके प्रयोग करते रहने की प्रवृति बिल्कुल वैसी ही होती है जैसी कि किसी महान् वैज्ञानिक में या किसी ऐसे व्यक्ति में जो घूम फिर कर नये नये स्थानो का पता लगाता है। उनके सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती है। राष्ट्रीयकृत उद्योग में उनकी प्रतिभा के लिए पर्याप्त स्थान है। उनके मस्तिष्क ऐसा रास्ता निकाल सकते है जिस में उस से कही अधिक गुजाइश होती है जोकि व्यक्तिगत उद्यम द्वारा हो सकती है और वे अपनी उस भावना का समाधान कर सकते है जिसके बारे में लार्ड हेलडेन ने ब्रिटिश कोयला आयोग के सामने यह कहा था—"कि यह सबसे अच्छे लोगो के लिए उतना ही महत्त्व रखती है, अर्थात् यह है राज्य की सेवा में औरो से

---

१ देखिए उन की प्रशसनीय पुस्तक "इन्सेन्टिव्स इन ए न्यू इण्डस्ट्रियल ऑर्डर, विशेषकर इसका अध्याय ४

आगे बढ़ जाने की इच्छा"[१]। इसमें सन्देह नही कि ऐसे दिमागो को उन सुरक्षणो का ध्यान रखे बिना खुली छूट देना बडी खतरनाक बात है, जिनकी चर्चा मैंने की है। ऐसे बहुत ही कम समाज हैं जो मि० कार्नेगी या मि० राकफैलर जैसे व्यक्तियों की सेवाए प्राप्त कर सकते है। ऐसे लोगो की सेवाओ के लिए हमें बहुत अधिक मूल्य देना पडता है। मै समझता हू कि जर्मनी के स्टिन्नस जैसे व्यक्ति के मामले में यह बात बहुत स्पष्ट हो गयी है। ऐसे लोगो की मालिक जैसी सत्ता लोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिए हम सारी जनता को इनके हवाले नही कर सकते। और यदि ये लोग सार्वजनिक उद्योग के लिए अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने से इनकार कर दें—मैं समझता हू कि ऐसा बहुत कम होगा—तो उनके लिए व्यक्तिगत उद्यम का क्षेत्र तो है ही। परन्तु यह क्षेत्र भी केवल इसी शर्त पर उनके लिए छोडा जायगा कि वे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ—खाद्य, उधार-व्यवस्था, परिवहन, कोयले—को अपने खिलवाड के लिए प्रयुक्त न करें। यदि उनकी इच्छा एक बहुत बडा काम करने की शक्ति प्राप्त करना नही है—जिसका मुख्य फल यह है कि जनता उनका सम्मान करे—बल्कि यह है कि उन्हें धन सम्पदा मिले, तो उन्हें यह चीज तो उन्ही क्षेत्रो में प्राप्त करनी चाहिए जिनमें ऐसा करने से सामाजिक सुरक्षा को हानि नही पहुचती। और वहा भी उन्हें इसकी प्राप्ति ऐसे सुरक्षणो के अधीन रहते हुए करनी चाहिए जिनसे प्रत्येक अन्य नागरिक के अधिकारो की रक्षा होती हो। सयुक्त राज्य अमरीका के औद्योगिक आयोग को जिन तरीको का पता चला है, उनके द्वारा कमाये गये मुनाफे का जो मूल्य देना पडा है, वह देने से हमें इनकार कर देना चाहिए[२]। यदि इसका मतलब यह है कि नेपोलियन जैसे विजेता उद्योग में नही आएगे तो न आए, हमें उनकी प्रतिभा के बिना गुजारा करना चाहिए।

और अन्त में, इस सम्बन्ध में यह कह देना चाहिए कि सरकारी नियत्रण, बल्कि सरकारी तरीको की आलोचना में जो बाते कही जाती है उनमें से अधिकतर का महत्व तब तक नही आका जा सकता जब तक इसे ठीक परिपार्श्व में न देखा जाय। यहा दो बाते ध्यान देने योग्य है। आलोचना साधारणतया यह मान कर आरम्भ की जाती है कि उद्योग में सरकारी हस्तक्षेप का न होना आदर्श परिस्थिति है और यह कि इससे अलग कोई भी काम स्वतन्त्रता पर आक्षेप होगा। परन्तु मैथ्यु ऑरनल्ड ने "जो जैसा चाहे करे" कहा था, वही तो एक कारण है जिससे सरकार का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। कारखाना अधिनियम, व्यापार बोर्ड और ऐसी अन्य व्यवस्थाए, उद्योग में सरकारी हस्तक्षेप न होने की इच्छा का तर्कसगत परिणाम है। इसका कारण यह है कि उनके न होने से समुदाय में पौर जीवन ऐसा हो जायगा कि अधिकतर नागरिको के लिए जीना दूभर हो जायगा। दूसरे, यह धारणा मिथ्या है कि सरकारी तरीको से पहलकदमी का नाश हो जाता है और यह धारणा इस बात पर आधारित है कि व्यापारी, साधारणतया, दूसरो की सकल्पना के अनुसार क्या होना चाहिए—इसकी परवाह किये बिना जल्दी से निर्णय कर लेने के

---

१ राष्ट्रीयकरण की समस्या, पृष्ठ १७।

२ अन्तिम रिपोर्ट (१९१६) में कई स्थानों पर।

आदी हैं और वे अपने वैयक्तिक प्रभाव पर भरोसा रखत ह और उनके ससार में उनकी सफलता का एक मुख्य कारण यह है कि उन्हें अपने निणय पर भरोसा होता है। परन्तु ये सब गुण उस औद्योगिक निरकुशता को जन्म देते हैं, जिसके बारे में मैंने यह कहा है कि नैतिक दृष्टिकोण से उसका कोई औचित्य नही है। इस निरकुशता का आधार यह बात मान लेने पर है कि समूह की सकल्पना पर कुछ की सकल्पना हावी रहे और उन कुछ व्यक्तियो के लिए यह आवश्यक नही कि वे अपने कामो के लिए युक्तियुक्त कारण बताए। और मैं यह भी कह दू कि ऐसी बात भी नही है कि सरकार के तरीके स्पष्ट रूप से इतने घटिया है जितने कि व्यापारी समझता है। मैं ऐसे व्यक्ति के कथन का हवाला देता हू जो साधारणतया व्यापारी के रूप मे राज्य का विरोधी है। सर लारेंस वीवर[1] ने कहा है—"मुझे तो ऐसा नही लगता कि पत्र व्यवहार या मिसलें रखने के तरीके और सरकारी चर्चा के और ढग कठिन या तग करने वाले है और मैं समझता हू कि सब बातो को देखते हुए, व्यापार चलाने के सरकारी ढग उन व्यापारिक व्यवस्थाओ के तरीको से कही अधिक कुशलतापूर्ण हैं जिनकी इतनी प्रशसा की जाती है।" यह बात निस्सन्देह स्पष्ट है कि किसी व्यापारी को रिकार्ड रखने और अपनी नीति पर प्रकाश डालने का कर्त्तव्य बडा अजीब और परेशान करने वाला मालूम होगा। वह तो उस सहजवृत्ति के आधार पर काम करता है जिसे व्यक्त कर सकने की आशा नही की जा सकती। वह आदेश देता है और यह चाहता है कि उन पर बिना किसी प्रतिरोध के अमल किया जाय। परन्तु हमें तो औद्योगिक सगठन का एक नया आधार इसी कारण ढूढना है कि उस ने नीति में निहित बातो का रिकार्ड नही रखा और न आदेश देने का काम सब की सलाह से किया है।

—५—

तो फिर, व्यक्तिगत उद्योग के साथ राज्य का सम्बन्ध, सस्थाओ में किस प्रकार व्यक्त हो? पहले हम यह देखेंगे कि ऐसे सम्बन्ध के प्रयोजन क्या हैं। उत्पादन के क्षेत्र में इस का उद्देश्य यह है कि उद्योग में काम करने वाले को, चाहे वह प्रबन्धक हो या मशीन की देख-भाल करने वाला मजदूर, वे न्यूनतम पौर अधिकार प्राप्त हो जो मानव होने की हैसियत से उसके लिए जरूरी है। उपभोग के क्षेत्र में इसका उद्देश्य यह है कि जहा तक सगठन द्वारा सम्भव हो, आवश्यक पण्यो के क्रय में साध.रण नागरिक की रक्षा की जाय। इसलिए इसके तीन उद्देश्य है (क) बराबर सम्भरण होते रहना, (ख) उचित मूल्य और (ग) किस्म का सुरक्षण। यहा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से किसी भी बात का यह मतलब नही है कि उद्योग के ढाचे में कोई क्रान्तिकारी सिद्धान्त लाया जा रहा है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त से बाहर, अविनियमित स्पर्धा के विचार का कही भी अस्तित्व नही है। और "खरीदार को स्वय सावधान रहना चाहिए" यह सिद्धान्त भी शुद्ध ख.द्य अधिनियमो जैसे कानूनो के क्षेत्र में ही लागू होता है। विनियमन, अपवाद नही रहा बल्कि नियम बन चुका है और औद्योगिक प्रक्रिया का चित्र खीचने वाले अर्थशास्त्री को अपनी परि-कल्पनाओ की बात करने की बजाय उस सघर्ष का ब्यौरा बताना चाहिए जिसके कारण वे

---

१. डेवेलपमेन्ट आफ दी सिविल सर्विस, पृष्ठ ७३।

गलत सिद्ध होती है। अबाध व्यापार का व्यवस्थाबद्ध सिद्धान्त तो १९१४ में युद्ध छिडते ही समाप्त हो गया और इसके लिए जितना परिश्रम चाहिए वह तो महान समाज की पृष्ठ-भूमि में असम्भव हो गया है। वास्तव में समस्या यह नही है कि सरकार द्वारा हस्तक्षेप होना चाहिए या नही। सच तो यह है कि सरकार द्वारा हस्तक्षेप अत्यावश्यक है और समस्या वे उपाय निकालने की है जिनसे यह हस्तक्षेप अधिकाधिक फलदायक बन सके। यदि हम उन आवश्यक वस्तुओ के सम्भरण की पूर्ति, जिनपर हमारा जीवन निर्भर है, में लगी आर्थिक शक्तियों को अबाध छोड दे तो समाज में कोई नैतिक सिद्धान्त नही रहेगा। और ऐसे समाज का नाश की ओर अग्रसर होना पुराने जमाने की अपेक्षा आज अधिक निश्चित है।

यहा मैं उस बात की रूपरेखा ही बता सकता हू, जो मै समझता हू कि व्यक्तिगत उद्योग पर सरकार के विनियमन से होगी। मैं यह भी कह दू कि ऐसी बात नही है कि हमें इस विनियमन के अर्थ का, विशेषकर एक विशिष्ट प्रयोजन के सम्बन्ध में इसके अर्थ का, अनुभव नही है। १९१४ से १९१८ के युद्ध काल में उद्योग पर नियत्रण का इतिहास जो कोई भी पढेगा उसे यह देख कर हैरानी होगी कि विनियमन के लिए आवश्यक व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे हमारे पास कितनी अधिक सामग्री है। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि इस सामग्री को पाच श्रेणियो में बाटा जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह है कि हमें मूल्यो, मुनाफो और मजदूरी को स्थिर रखने के सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम है। हम यह समझने लगे है कि व्यापार-चक्र धूमकेतु की तरह कोई प्रकृत वस्तु नही है जो बाहर से इस पृथवी पर आती है और इसलिए यह मानवीय नियत्रण से बाहर की चीज नहीं है। हम धीरे-धीरे सम्भरण और माग का अनुमान लगा सकते है। और साथ ही मुद्रा को स्थिर रखने का प्रयत्न कर सकते है जिस से कि मूल्यो में बडे पैमाने पर होने वाली वृद्धि या कमी की बुराइयो को दूर किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि हम पूजी के जारी किये जाने पर नियत्रण रख सकते है। हम सामाजिक महत्व के अनुसार प्राथमिकताए निर्धारित कर सकते है। हम इसी तरह जल्दी से पूजी के निर्यात को रोक सकते है—खासकर ऐसे मामलो मे जहा यह अपने लिए ऐसे रास्ते तलाश करती हो, जो अपनाए नही जाने चाहिए। तीसरी बात यह है कि हम कच्चे माल पर केन्द्रीय नियत्रण और उसके वितरण के प्रबन्ध का प्रयत्न कर सकते हैं। सरकार की ओर से आस्ट्रेलिया की ऊन, मनीला की मूज और रूस के सन का खरीदा जाना ऐसे प्रयोग थे जिनकी जितनी अधिक सावधानी से जाच की जाय, वे उतने ही सहायक और महत्वपूर्ण दिखाई पडते हैं। चौथी बात यह है कि हम सम्बद्ध उद्योगो की प्रति-निधि परिषदो द्वारा प्रत्येक उद्योग पर नियत्रण रख सकते है। यह मैं बाद में बताऊगा कि इन परिषदो को स्वप्रबन्ध के बहुत बडे कृत्य सौंपे जा सकते हैं। और अन्त में, हम क्षेत्रवार वितरण की कार्यकुशल व्यवस्था करके खाद्य और आवश्यक कच्चे सामान की लागत में बहुत कमी ला सकते हैं।

प्रत्येक ऐसे नियत्रण का केन्द्र स्पष्टतया उत्पादन मत्रालय होगा। इनके अधि-कारियो को सबसे बडा काम दो मूल सेवाए बनाए रखने का सौंपा जायगा वे प्रत्येक उद्योग के उत्पादन के सम्बन्ध में आकडे रखेगे और एक ऐसा विभाग बनाए रखेंगे जिसका

काम लागत लेखा रखने का होगा। वे ऐसी आर्थिक कमान के अन्तर्गत रहेगे जिस का काम उन विविध कार्यवाहियो में समन्वय लाने का होगा जो सरकारी नियत्रण से जनित होती है। मै यह नही समझता कि उनके लिए किसी वास्तविक रूप से सगठित व्यवसाय में प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध चलाने का काम सम्भालना सम्भव होगा। यह आशा की जा सकती है कि वे व्यापारियो पर हुकम चलाने की बजाय उनसे सहयोग करेंगे। हा, यह बात स्पष्ट है कि उपभोक्ता के हित में मूल्यो पर नियत्रण रखने का मतलब यह होगा कि उन्हें विधान सभा के चरम नियत्रण के अधीन रहते हुए मूल्य विनियमित करने का काम सौपा जायगा। परन्तु उनके पास जो आकड होगे उनकी सहायता से वे सम्भरण और माग की घटा-बढी को ठीक कर के उन में समन्वय ला सकेगे और उत्पादन की लागत के ज्ञान के आधार पर उचित मूल्य का स्वरूप निर्धारित कर सकेग। वे यह चेष्टा करेंगे, कि जहा उचित हो, जहा से माल चलता है वही उसे स्वय खरीद लिया जाय और उस प्रकार सट्टेबाजी को बिल्कुल घटा दिया जाय और बिचौलियो द्वारा पैदा की गयी गडबड बद की जाय। वे, विशेषकर, खाद्य पदार्थों में उनकी किस्म को एक स्तर पर लाने का प्रयत्न करेंगे। कमी के समय मे वे माग पर नियत्रण रखने के प्रकृत साधन के रूप में काम करेगे। अनुभव इस बात का द्योतक है कि वे एक स्थिर मूल्य पर कई वर्ष तक माल खरीदते रह कर उत्पादन को प्रोत्साहन देंगे, बजाय इसके कि असख्या व्यापारी रहें, जैसे कि कृषि के सबध में है, जो असख्य उत्पादको के साथ असख्या अलग अलग सौदे करते रहें।

मै यह नही कहता कि व्यापार की सारी जटिल व्यवस्था पर एक ही सूत्र लागू हो सकता है। उदाहरण के लिए, कच्चे माल के केन्द्रीयकृत क्रय जैसे सीधे-साधे मामले में भी, तरीको में बडी विविधता हो सकती है। सम्भव है कि सरकार समुदाय के लिए आवश्यक सारा माल स्वय खरीद कर उसे निर्माताओ को बेचे। उदाहरण के लिए, इग्लैड में ऊन के व्यवसाय में निजी व्यापार व्यवस्था के स्थान में पूरी तरह सरकारी व्यवस्था करना ठीक समझा गया। या हो सकता है कि सरकार व्यक्तिगत दलालो की मार्फत माल खरीदवाए जिन्हें नियत कमीशन मिलता रहे जैसे कि रूसी सन के खरीदने के लिए किया गया था। या, यह भी हो सकता है कि सारे व्यवसाय का सगठन एक क्रय अभिकरण के रूप में हो जिस पर सरकार का सामान्य लेखा-परीक्षण नियत्रण के रूप में रहे। इस तरीके के अन्तर्गत जो विकेन्द्रीकरण सम्भव है और इसमें जो अधिक गुजाइश है, उससे ऐसा लगता है कि कुल मिला कर इससे सबसे अधिक लाभ होने की सम्भावना है। चाहे इस तरीके का कोई भी रूप हो, मै समझता हू कि मुख्य पण्यो का केन्द्रीकृत विक्रय ही एक ऐसा तरीका है जिससे यह प्रबध किया जा सकता है कि एक ओर तो उनका सम्भरण बराबर होता रहे और दूसरी ओर उनके विरतरण की लागत कम से कम रखी जाय। आम तौर से तो यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यवसाय के लिए उसके अपने विशेष तरीको की आवश्यकता होगी और उनका विकास स्वय ये व्यवसाय जितना अधिक करने में सफल होगे ये तरीके उतने ही अच्छे होगे।

उन सब महत्वपूर्ण उद्योगो में, जिनका स्वरूप व्यक्तिगत रहता है, आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक उद्योग में निर्माताओ की एक सस्था बनाई जाय जिसका स्वरूप न्यास जैसा हो। बल्कि, पर्याप्त आकार का ऐसा कोई उद्योग नही है जिसमें बडे पैमाने पर

गठजोड न हुआ हो,[१] परन्तु उनका उद्देश्य सार्वजनिक लाभ से मेल नही खाता। और जिस प्रकार मालिको के हित का पूरी तरह सगठन होता है उसी प्रकार शारीरिक और मानसिक परिश्रम करन वालो के हितो का भी होना चाहिए। हम किसी भी रूप वाले उद्योग के पक्षो मे से उसके प्रबध के लिए एक परिषद् बना सकते है, जिसमे चार पक्ष होगे। मालिको का हित उसमें रहेगा, वृत्तियो का, उद्योग के उत्पादो का प्रत्यक्ष प्रयोग करने वालो का, और जनसाधारण की भलाई से सरोकार रखनेवाले निकाय की हैसियत से सरकार का भी उसमें हित रहेगा। इनमें से प्रत्येक पक्ष के प्रतिनिधि बराबर बरारबर सख्या में इस परिषद् में रहेंगे। व्यवसाय मे लगी सभी कम्पनियो के लिए स्वामित्व और वृत्तियों की प्रतिनिधि सभी सस्थाओ का सदस्य बनना अनिवार्य बनाना पडेगा और परिषद् को ऐसे आदेश जारी करने की शक्ति होगी, जो उत्पादन मत्रालय के अनुमोदन के बाद और विधान सभा के नियत्रण के अधीन रहते हुए, सारे उद्योग के लिए मान्य होगे। मै समझता हू कि साथ में यह भी होना चाहिए कि प्रत्येक परिषद् में एक न्यायिक विभाग हो, जिसे परिषद् के आदेशो से बचनेवालो को दण्ड देने का अधिकार हो। निस्सदेह, ये दण्ड न्यायालयों के अनुमोदन के सामान्य अधिकार के अधीन होगें, जैसा कि वकालत या डाक्टरी में होता है। यह बडा महत्वपूर्ण प्रयोग है कि उद्योग के मनोबल की जिम्मेदारी को ऐसा मामला बनाना चाहिए जिसमें उद्योग में काम करनेवालो की दिलचस्पी न केवल प्रत्यक्ष रूप से हो बल्कि बिल्कुल स्पष्ट हो और यह प्रयोग करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

ऐसी परिषद् के कृत्य क्या होगे ? यहा एक बार फिर इस बात पर जोर देना पडेगा कि हमें इनकी सामान्य रूपरेखा तैयार करनी है। यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक उद्योग में ये कृत्य भिन्न होगे और सम्भवत किसी भी परिषद् में वे बातें नही होगी जो यहा बताई गयी है और न उनमें से कोई बात उसी रूप मे होगी। जहा सामग्री ही भिन्न हो और व्यक्तियों का एक भिन्न समूह उसे सचालित करता हो, वहा कोई भी बात एक सी नही हो सकती। परन्तु मैं समझता हू कि ऐसे परिसीमनो के साथ निम्नलिखित योजना उस क्षेत्राधिकार की ठीक द्योतक होगी जो कि इस परिषद् का होगा। यह परिषद् (१) सारे उद्योग में मजूरी, काम की परिस्थितयो और काम के घटों, (२) रोजगार और उत्पादन को स्थिर रखने और (३) विवादो के निबटारे के लिए व्यवस्था करने के सबध में विचार करेगी और आदेश जारी करेगी। स्पष्ट ही है कि यदि प्रत्येक परिषद् में एक ऐसा स्थायी न्यायालय हो, जिसे आवश्यकता पडने पर सभी विवाद सौंपे जा सकें, तो इसका बडा लाभ होगा। (४) यह परिषद् उद्योग से सबध रखने वाली सभी बातो के बारे में जानकारी इकट्ठी करेगी। इस जानकारी में (क) लागत सबधी आकडे, (ख) उत्पादन सबधी आकडे, (ग) निर्माण के तरीके और (घ) सभी मामलो में अनुसधान—ये बातें आएगी। (५) मशीनो और तरीकों में आविष्कारो पर विचार करने की सुविधाओ और आविष्कर्ताओ के लिए सुरक्षणो की व्यवस्था भी यह परिषद् करेगी। (६) परिषद् उद्योग की विशेष समस्याओ के सबध में

---

१ देखिए रिपोर्ट आफ दी कमिटी ऑन ट्रस्टस, १९१९ की मंत्रिमण्डल की दस्तावेज ९२३६, पृष्ठ २।

खोज और खासकर विदेशी तरीको का अध्ययन करेगी। और फिर ऐसी जाच-पडताल के परिणाम उद्योग के सभी सदस्यो को बताए जायगे। (७) परिषद् का यह काम भी होगा कि उद्योग की स्वास्थ्य सबधी परिस्थितियो के सबध में अनुसधान किया जाय, खासकर इस उद्देश्य से कि गदे पदार्थों, जैसे रग-रोगन में सफेद सीसे, का प्रयोग कम किया जाय। (८) परिषद् सम्बद्ध वृत्तियो की सस्थाओ के सहयोग से उद्योग में शिशिक्षण का भी अधीक्षण करेगी। (९) वह सम्बद्ध वृत्तियो की सस्थाओ के सहयोग से शिशिक्षण काल के बाद प्राविधिक प्रकार की शिक्षा की भी व्यवस्था करेगी। (१०) परिषद् उद्योग का आवश्यक प्रचार भी करेगी, जिसमें परिषद् के काम के सम्बन्ध में उत्पादन मत्रालय को वार्षिक रिपोर्ट देना भी शामिल है। (११) परिषद् उद्योग और सरकार के बीच कडी का काम देगी। और (१२) परिषद्, आवश्यक होने पर अन्य उद्योगो की परिषदो के साथ एक सी दिलचस्पी के मामलो के सबध में सहयोग करेगी।[१]

मै जिस बात का सुझाव दे रहा हू वह वास्तव मे यही है, कि प्रत्येक उद्योग के लिए एक ससद् हो जिसे अपने प्रत्येक सदस्य के लिए बाध्यकारी शर्ते लगाने की शक्ति हो। परतु इससे पहले कि मै यह बताऊ कि एसी ससद् के लिए कैसे कर्मचारी और अधिकारी होगे, उन शक्तियो के स्वरूप पर सामान्य रूप से जोर दना ठीक रहेगा जिनका प्रयोग यह करेगी। सबसे पहली बात तो इसमें यह आती है कि उद्योग में प्रचार हो। उद्योग की प्रत्येक फर्म का उत्पादन, निर्माण की लागत और कुल तथा शुद्ध मुनाफा सार्वजनिक मामले होगे। वास्तव में मुख्यत मूल्यो का स्तर उसी प्रचार पर आधारित होगा जिसे उत्पादन मत्रालय मजूर करेगा। और ऐसा प्रचार प्रभावपूर्ण हो, इसके लिए यह स्पष्ट है कि मत्रालय को निश्चय ही और सभवत लेखा-परीक्षण और लागत-लेखा विभाग को वे शक्तिया अवश्य दी जानी चाहिए जो कि इग्लैंड में युद्ध काल में विनियम २ छ के अन्तगत खाद्य नियत्रक को दी गयी थी। उस वनियम में तीन बातें थी। पहली तो यह कि उत्पादन, क्रय-विक्रय और वितरण आदि के सबध में सभी आवश्यक जानकारी ठीक-ठीक मिल सके, दूसरी यह कि पडताल के लिए फम के सभी बही खाते मिल सकें और तीसरी यह कि ऐसी जानकारी देते या ऐसे हिसाब-किताब दिखाने से इनकार को ऐसा अपराध समझा जाय जिसके लिए सरसरी जाच के बाद दण्ड दिया जा सके। यह भी स्पष्ट है कि ऐसे प्रचार में यह बात भी आ जाती है कि लेखा-शास्त्र और दूसरी बातो के लिए मानक रूप हो। ऐसे ज्ञान के आधार पर ही ऐसे विधान बनाए जा सकते है जिनका स्वरूप वैज्ञानिक हो।

इसमें दूसरी बात मान-निर्धारण की भी है। इसके दो पहलू हैं। एक ओर तो इसका मतलब यह है कि मजूरी की दर, काम के घटे और उद्योग की भौतिक परिस्थितिया एक सी हो और दूसरी ओर यह कि निर्माण और अक्सर वितरण में सापेक्षतया एक सी प्रविधि बरती जाय। इसमें सदेह नही कि कम्पनियो के गठजोड में ऐसा ही हुआ है। इसमें

---

१ यह स्पष्ट है कि कृत्यों के इस विश्लेषण में इगलैण्ड के श्रम मत्रालय द्वारा जारी किए गए "आदर्श फाम" से कितनी सहायता मिली है। देखिए "व्हाइट इण्डस्ट्रियल कौंसिल्स" पर मत्रालय की रिपोर्ट, १९२३, पृष्ठ २०४-५।

साधारणतया यह रुझान अधिक रहता है कि माल का क्रय साँझे रूप में किया जाय जिसका कारण ब्रिटेन की साबुन-कम्पनियो के महान गठजोड मे मिलता है।

इसमें इस विचार की प्रधानता भी अधिकाधिक होगी कि जहा कोइ वस्तु निर्माण की पुनरावृत्ति द्वारा बनायी जाय, उसकी सारी प्रक्रियाए एक ही मान की हो। इस सबध में मै जो कह रहा हू उसका नमूना इजीनियरिंग मान सस्था के काम में दिखाई पडता है। इसमें इस विचार की भी प्रधानता है कि व्यवसाय के भीतर अधिकाधिक विशेषीकरण हो, कम्पनियो में यह रुझान बढता चला जाय कि वे अपने को एक या दो प्रकार के काम तक सीमित रखें और उसके विकास में विशेषज्ञ बनती जाय। इस तरीके से केंद्रीयकृत वितरण और सामूहिक विज्ञान जैसी स्पष्ट और महत्वपूर्ण बचत भी हो सकती है और खण्ड परिषदों की जिस व्यवस्था की रूपरेखा मै अभी बताऊगा, उसे पर्याप्त रूप से चलाया जाय तो परिवहन की लागत में भी बडी बचत हो सकती है। हम उस अपव्यय को रोक सकते हैं जिसका अनुभव खाद्य-मत्रालय ने किया था, अर्थात् दूध साउथवेल्स से लदन जाता था और उसी समय ग्लोकेस्टर से साउसथवेल्स को भी दूध जाता था।[1] इससे यह होगा कि स्पर्धा मूल्य की बजाय प्रकार में होगी और यह सार्वजनिक गारटी भी रहेगी कि जो भी पण्य बनेगा वह एक मानक के अनुसार होगा और उसका आकार प्रकार ऐसा होगा जिसे उस मानक से जाना जा सकेगा। साथ ही यह बात भी है कि ज्ञान का सारा नया पुज उद्योग को मिल जाता है। उद्योग का स्वरूप सार्वजनिक हो जाने के कारण आविष्कारो को दबाने का प्रलोभन समाप्त हो जायेगा।

मेरा कहना यह है कि यहा जिस सगठन की रूपरेखा बताई गई है, उससे वे अधिकाधिक सुरक्षण प्राप्त हो सकते है जो कि व्यक्तियो के हाथ में छोडे गये किसी उद्योग से मिल सकते है। प्रत्येक फर्म की प्रक्रिया पर इस प्रकार नियत्रण रखा जाता है कि एक विशेष राशि से अधिक जितना लाभ हो उसे उसमें जनता को हिस्सा देना पडता है। इसके मूल्यो पर नियत्रण इससे बाहर की सत्ता के हाथ में रहता है। जिन बातो को न्यासीकरण[2] की बुराइयो के विरुद्ध परिस्थितिगत सुरक्षण कहा गया है उनका मूल्य इस बात से बढ जाता है कि उद्योग का चरम नियत्रण न तो इसके स्वामियो के हाथ मे रहता है और न शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने वालो और स्वामियो के समूह के हाथ में। सरकार के पास यह अधिकार रहता है कि वह मूल्य निर्धारित करे और उद्योग में प्रवेश कर सके। सरकार किसी भी समय किस्म या उत्पादन की त्रुटियो को दूर कर सकती है। उद्योग को सर्वांगीण रूप में काम करने के लिए विवश किया जाता है और अपनी परिषद् की मार्फत सारे उद्योग की विचारधारा और नैतिकता एक सी हो जाती है। अधिक पिछडी हुई फर्मों में कार्यकुशलता लाने के लिए निश्चित मूल्य का साधन बडा महत्व रखता है। जब तक यह मूल्य लागू रहता हैं, सबसे अच्छी फर्मों के पास निश्चित मुनाफे से अधिक मुनाफा बच रहता है जिसमें से, जैसा कि मै बता चुका हू, राज्य और उपभोक्ता को हिस्सा मिलता है। और जो फर्में कम कार्यकुशल है वे निश्चय ही आज की अपेक्षा अधिक तेजी से काम बद करने पर विवश हो जाती

१ ई० एम० एच० लायड, एक्सपेरिमेन्ट् इन स्टेट कन्ट्रोल, पृष्ठ ३८१।
२. रिपोर्ट आफ़ दी कमिटी ऑन ट्रस्ट्स।

है, जो कि, मैं समझता हू आवश्यक भी है। आजकल हम देखते है कि छोटे पैमाने का और कार्यकुशलता रहित निर्माता, वित्तीय खाई के किनारे पर डगमगाता है और मजूरी तथा अपने उत्पाद की किस्म घटा कर जीवित रहने का प्रयत्न करता है। तो यह दृश्य आकर्षक नही है। सामान्य मजूरी से कम मजूरी लेने वाले मजदूर, अक्षम क्लर्क और बिना प्रशिक्षण के लोग जिन्हें काम के घटो और उन भौतिक परिस्थितियो का कोई ज्ञान नही है, जो उनके काम में होनी चाहिएँ, ऐसे ही निर्माताओ के पास साधारणतया मिलते हैं। आधुनिक न्यास या तो ऐसे निर्माता को धीरे धीरे कुचल कर रख देते है और या उसे कुछ दे दिला कर अलग फैंक देते है। जो भी हो, ऐसे लोग जितनी तेजी से समाप्त होगे, उद्योग के सुदृढ होने के लिए उतना ही अच्छा रहेगा।

प्रत्येक उद्योग में राष्ट्रीय परिषद् की अपने क्षेत्र में एकमात्र सत्ता होना जरूरी नही और सामान्यत होगी भी नही। बहुत से उद्योगो में इसके काम का परिमाण बढाने के लिए खड परिषदें बनाना आवश्यक होगा जो कि, समुचित सशोधनो के साथ, अपने क्षेत्रो में राष्ट्रीय परिषद् जैसे ही काम करेगी। क्योकि यह स्पष्ट ही है कि कुछ ऐसे स्थानीय भेद होते है, जिन्हें एक केंद्र से निबटाया नही जा सकता। किराए की विशेष परिस्थितियो का सामना करने के लिए मजूरी की दर में परिवर्तन की समस्याओ, निश्चित समय से अधिक देर तक काम करने की समस्याओ, और किसी स्थानीय मण्डी की विशिष्ट परिस्थितियो का सामना उस क्षेत्र में अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है, जहा वे उत्पन्न हों, बजाय इसके कि उन्हें निबटाने का काम एक केन्द्रीय सस्था को सौपा जाय जिसके अधिकतर सदस्यो को उन समस्याओ की जानकारी नही होगी। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी खण्ड की परिषद् सारे राष्ट्र के लिए हल निकालने का प्रयत्न नही कर सकती और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस द्वारा किए गए किसी हल के मुख्य परिणाम यदि दूरगामी प्रभाव वाले हो तो उन्हें लागू करने से पहले केन्द्रीय परिषद् द्वारा उनकी पुष्टि करानी चाहिए। सामान्यत इन खण्ड परिषदो के लिए यह ठीक नही होगा कि वे अनुसधान-कार्य करें। यह मामला तो सारे उद्योग के लिए और उसे बताने का है, क्योकि यदि कोई खण्ड अनुसधान से फल प्राप्त करता है तो यह प्रश्न उठता है—जो कभी नही उठना चाहिए—कि वे फल कितने बडे क्षेत्र में प्राप्त हो सकते है। मै समझता हू कि यह भी जरूरी नही कि किसी खण्ड परिषद् की सरचना उतनी जटिल बनायी जाय जितनी कि केन्द्रीय परिषद् की है। सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए तो एक सम्पर्क-अधिकारी ही काफी है और सम्भव है कि सम्बद्ध उद्योगो के प्रतिनिधियो को भी तभी उपस्थित होने की आवश्यकता होगी जब ऐसी समस्याए उत्पन्न हो जिनमें उन्हें विशेष दिलचस्पी हो। परन्तु मै समझता हू कि खण्ड परिषद् का न्यायिक काम, उसके क्रियाकलाप का बुनियादी पहलू होना चाहिए। छोटी-बडी समस्याओ के क्षेत्रो को इस प्रकार अलग-अलग करना कठिन नही होगा कि मामूली जुर्माना तो स्थानीय सस्था द्वारा ही किया जाय जब कि बडे अपराध पर सारा उद्योग अपना निर्णय दे।

मै समझता हू कि खण्ड-परिषद् को एक और उपाय से अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। मैं इस बात को तो स्वाभाविक ही मान लेता हू कि व्यक्तिगत उद्योग के ढाचे में

कारखाना समितियो की वैसी ही व्यवस्था होगी जिसकी रूपरेखा मैंने राष्ट्रीयकृत और सहकारी उद्योगो के लिए बताई है। मेरा सुझाव है कि किसी व्यक्तिगत कारखाने में कारखाना समिति के पास भी वैसी शक्ति होनी चाहिए कि वे समुचित दशाओ में, प्रबध से आगे खण्ड परिषद् से अपील कर सकें। ऐसे मामलो में, जैसे कि राष्ट्रीय समझौतो से बचने या अन्यायपूर्वक काम से हटाए गए लोगो को फिर काम पर लगाने से इनकार के मामलो में, जिनके आधार पर हड़तालें होती है और होती रहेंगी, किसी ऐसी सत्ता द्वारा हस्तक्षेप बहुत लाभदायक हो सकता है जो कि उद्योग की प्रतिनिधि हो। हमें आवश्यकता इस बात की है कि उद्योग को चलाने वाले लोग स्वय अपने अनुभव से जिस औद्योगिक नैतिकता का विकास करें, उसके आधार पर एक परम्परा बनायी जाय। मै समझता हू कि हम इनमे से बहुत से मामलो में इन परिषदो द्वारा सुझाए गए हल को कानूनी तौर पर बाध्यकारी नही बना सकते। परन्तु हम दो उपयोगी तरीकों से उनका प्रयोग कर सकते हैं। पहली बात तो यह है कि वे अधिकृत प्रचार का रूप है। उनसे नागरिको को यह पता चल सकता है कि किसी निश्चित शिकायत के सम्बन्ध में उन लोगो की क्या राय है जो उसे आकने के योग्य हैं। दूसरी बात यह है कि औद्योगिक खण्ड परिषद् द्वारा की गयी कायवाही के फलस्वरूप जो कानूनी कार्यवाही प्रारम्भ हो, उसमें उस राय को विशेषज्ञो के साक्ष्य के रूप में रखा जा सकता है। इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि परिषद को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी जाच के लिए सभी गवाहो को उपस्थित होने के लिए विवश कर सके और उन्हें शपथ लेकर बयान देने के लिए कह सके। इसे ऐसी प्रक्रिया का विकास करना चाहिए जिसे न्यायालय न्यायिक दृष्टि से मान्य समझें, बिलकुल उसी तरह जैसे कि अमरीका के लोक सेवा आयोगो की उपपत्तियो को समझा जाता है। यहा जिस योजना की रूपरेखा दी गयी है उसके अनुसार व्यक्तिगत उद्योग को जिन परिस्थितियो का सामना करना पडेगा, मैं समझता हू कि उनके अतगत हम यह आशा कर सकते है कि एक ऐसी औद्योगिक न्याय-प्रणाली का विकास हो सकेगा जो इस विशेष क्षेत्र के लिए उतनी ही मान्य होगी जितनी कि स्वय न्यायालयो की न्याय-प्रणाली। और इस प्रणाली का महत्व इस बात के कारण और अधिक होगा कि यह औद्योगिक प्रक्रिया केवल एक पक्ष के अनुभव का फल नही होगी बल्कि उद्योगो में होने वाले समस्त अनुभव की द्योतक होगी। कानून के प्रवर्त्तन के कुछ गौण पहलू ऐसे है जिनका काम ये खण्ड परिषदें धीरे-धीरे सँभाल सकती है। कारखाना अधिनियमो, काम के घटो सम्बन्धी कानूनो और शुद्ध खाद्य और मादक औषध के व्यापार को रोकने से संबध रखने वाले कानूनो का तोडा जाना—ये उन कामो के स्पष्ट उदाहरण है जिन्हें खण्ड परिषदें सभाल सकती है।

इन परिषदो का आकार और गठन कैसा होगा? वे अवश्य ही इतनी बडी होनी चाहिए कि उनमें सभी सम्बद्ध हितो के वास्तव में पूरे पूरे प्रतिनिधि हो सकें और साथ ही इतनी छोटी भी हो कि प्रत्येक उद्योग के भीतर नीति के ब्यौरे पर लगभग पूरी तरह और बारीकी से विचार किया जा सके। मेरा सुझाव है कि इसमें कोई एक सौ सदस्य हो तो ठीक रहेगा। चार सम्बद्ध पक्षो में से दो के निर्वाचन एकाश तो स्पष्टतया मालिको और मजदूरो की प्रतिनिधि सस्थाए होगी, सरकारी प्रतिनिधियो की नियुक्ति उत्पादन मत्रा-

लय द्वारा की जायगी और सम्बद्ध उद्योगो के प्रतिनिधियो को उन उद्योगो के प्रतिनिधि सगठन नियुक्त करेंगे। मैं यह जानने का दावा नही करता कि इन परिषदो की बैठकें कितनी बार होनी चाहिए। परन्तु यह स्पष्ट है कि साल में चार बार उनकी साधारण बैठकें होनी चाहिए। और नीति की मोटे तौर पर रूपरेखा नही वरन् उसका ब्यौरा समितियो में तय किया जायगा, बहुत कुछ उसी तरह जैसा कि इग्लैड में नगर-पालिका निकाय में होता है। इसमें सन्देह नही कि ऐसी व्यवस्था करना जरूरी होगा कि जब भी कोई आशु-सम्पाद्य समस्या उत्पन्न हो, किसी भी समय विशेष बैठक बुलाई जा सके। उनमें मतदान आम ढग से होगा, सिवाए इस बात के कि जब वे कोई ऐसा आदेश देने का निणय करें जो कि सारे उद्योग के लिए मानना जरूरी हो तो उसके पक्ष में दो तिहाई या ऐसा ही बहुमत होना चाहिए। उन्हें यह भी शक्ति होनी चाहिए कि वे इसी प्रकार के बहुमत से अपने सविधान में परिवर्तन कर सकें। उनके काम से जिस सरकारी विभाग का सबध है, उस तक उनकी पहुच प्रत्यक्ष रूप से और लगातार होती रह सकनी चाहिए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनमें सरकारी प्रतिनिधियो के रहने से इसमें बहुत सुविधा रहेगी। साथ ही ये परिषदें उद्योग और सरकार के बीच कडी का काम करेंगी। निस्सदेह, सरकार विधान सबधी नीति के सभी मामलो के सबध में इन से परामर्श करना अपना कर्तव्य समझेगी और परामर्श करेगी। सरकार मूल्य-निर्धारण, सारे राष्ट्र में मजूरी और काम के घटो का न्यनतम स्तर तय करने और औद्योगिक मामलो के सबध में प्रस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो के प्रति राज्य के रवैये जैसे मामलो के सबध में परिषद् से बातचीत और विचार-विमर्श करेगी। यह इनमें से किसी भी बात में सरकार को न तो विवश कर सकती है और इसे ऐसा करना चाहिए। वह ऐसा मामला है जहा विधान सभा का नियत्रण होना बुनियादी बात है। परन्तु परिषद् के गठन का जो स्वरूप है, केवल उसी के कारण उसकी राय का महत्व रहेगा और वह अपने लिए नैतिक और प्राविधिक मापदण्ड जितना अधिक बनाएगी, उसके निणय मे उतनी ही अधिक शक्ति होगी।

प्रत्येक परिषद् को स्थायी कर्मचारी-वर्ग की आवश्यकता होगी। यह सभवत कैसा कर्मचारी-वर्ग बनाएगी, इसका पता लगाना दिलचस्पी से खाली नही। यहा हमें उस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए जो प्रस्तुत योजना की अवधारणा और उस धारणा में है जो कि ह्विटले कौंसिल्स के ढाचे में निहित दिखाई पडती है। जिन लोगो ने ह्विटले कौंसिलें बनाई वे शायद यह समझते थे कि एक सचिव और क्लर्कों मात्र के होने से ही ये बिना कठिनाई के अपना काम चला सकेंगी।[1] मैं समझता हू कि ऐसा होने की सभावना नही है, हालाकि यह शायद उस सिद्धान्त का अनिवाय फल है जो औद्योगिक सबधो के वर्त्तमान आधार पर पूजी और श्रम के परस्पर सहयोग पर आधारित है। मै पहले ही कह चुका हू कि सामान्यत ऐसा होना असम्भव है और यह कि किसी उद्योग में मजदूरो का सगठन जितना मजबूत होगा, ऐसे सहयोग की उतनी ही कम सम्भावना रहेगी। इसका कारण

१ रिपोर्ट ऑन दी प्रोग्रेस आफ ज्वाइट इण्डस्ट्रियल कौंसिल्स (१९२३) पृष्ठ २०६।

यह है कि मजदूरो का सगठन जितना अधिक मजबूत होगा, उद्योग के ढाचे में नैतिक सिद्धान्त के अभाव का उतने ही अधिक व्यक्तियो को ज्ञान होगा। इस परिस्थिति में सुधार होने के बाद ही वह सहयोग रचनात्मक ढग से हो सकेगा।

मेरा विचार है कि परिषद् को स्थायी सचिवालय के साथ कम से कम छ सामान्य विभाग होगे। एक लेखा परीक्षा विभाग आवश्यक होगा जो उद्योग के वित्तीय पहलू के सबध में आवश्यक जाच की व्यवस्था करेगा। दूसरा विभाग लागत-लेखा विभाग होगा जिसके जिम्मे परिषद् को ऐसी सामग्री देने का महत्वपूर्ण काम होगा जिसकी सहायता से परिषद् मूल्य निर्धारण के सबध में उत्पादन मत्रालय से सिफारिशें कर सके। तीसरा एक अनुसधान विभाग होगा, और मैं समझता हू कि उसका महत्व—खासकर बडे उद्योगों में—बढता चला जायगा। सच तो यह है कि अमरीका और इग्लैंड की अच्छी फर्में वैज्ञानिक जाच-पडताल के लिए समुचित व्यवस्था करने का महत्व समझने लगी है। ऐसे विभाग को उद्योग के केवल प्राविधिक पहलू ही के बारे में कार्यवाही नही करनी चाहिए। उद्योग की मानसिक समस्याओ, बिक्री के तरीको और कारखानो के सगठन का महत्व भी उससे कम नहीं है। और न उसे उद्योगो में लगने वाली बीमारियों की विशेष समस्याओ की ही अवहेलना करनी चाहिए। जिन व्यवसायो में—पुतलियों का अनायास चलना, प्लोम्बोसिस, सान धरने वालो की आखो में लौह-कण पडने से होने वाली बीमारी और इसी तरह की अन्य बीमारियो का प्रकोप बहुत है, उनमें लगे लोगो को उन्हें रोकने के लिए कार्यवाही करनी चाहिए। परिषद् का एक कानून-विभाग भी होगा जिसका कुछ तो काम मसविदे आदि तैयार करने का होगा और कुछ उस पर अर्द्ध-न्यायिक काम का बोझ डाला जायगा जिसके बारे मे मैंने कहा है कि परिषदें उसे अपने हाथ में ले लें तो अच्छा है। सभवत एक ऐसा विभाग भी बन जायगा जो उद्योग में शिक्षा का काम सभालेगा और बीमा तथा वार्द्धक्य-भत्ता जैसी कल्याण सबधी सामान्य समस्याओ को हल करेगा। मैं ऐसा नही समझता कि मजदूरो के आराम के समय में से इन निकायो या परिषद् को किसी तरह सरोकार रहेगा। क्योंकि, जैसा कि हमारे औद्योगिक समाज में यत्र-प्रविधि का प्रभुत्व है, उसमें कार्य-जीवन का जितना कम भाग उसकी सीमा से बाहर जाय, औसत नागरिक के लिए उतना ही अच्छा है। मजदूर को अपना खाली समय उपयोगी बनाने के साधन स्वय तलाश करने चाहिए। और इस समय का उपयोग पहले तो स्कूलों में और बाद में अपने आसपास के पौर जीवन में होना चाहिए।

यदि सगठन का यह ढाचा ठीक है तो यह स्पष्ट है कि हम एक ऐसी औद्योगिक असैनिक सेवा के बनाए जाने की कल्पना कर रहे हैं जिसके अवसर और, अन्तत, जिसकी शक्तिया सरकारी विभागो की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नही होगी। हम यह देख चुके है कि उन द्वारा समुचित काम के लिए यह जरूरी है कि उन्हें उस वातावरण से दूर रखा जाए जहा योग्यता का ध्यान रखे बिना लोग काम पर लगे रहते हैं। औद्योगिक असैनिक सेवा के सबंध में भी यही ठीक है। इसके अधिकारियो के लिए भी योग्यताओ का मापदण्ड निश्चित करना उतना ही जरूरी होगा जितना कि न्यायालयो में न्यायाधीशो के लिए या आपरेशन करने वाले डाक्टरो के लिए जरूरी है। उन्हें अपने बहुत से कामो के लिए एक विशेष

प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी। उदाहरण के लिए, इनके वकील उस प्रकार के हसमुख युवक नही होगे जो इग्लैंड की किसी 'इन आफ कोर्ट' में रहते रहे हैं। जैसे हम चिकित्सा-पदाधिकारी के पद के इच्छुक किसी डाक्टर से सार्वजनिक स्वास्थ्य का डिप्लोमा मागते है, मेरे विचार मे बिल्कुल उसी प्रकार हमें यह माग करनी होगी कि परिषद् के कानून-विभाग में प्रवेश करने वाले औद्योगिक कानून में विशेष योग्यता रखते हो। यह आशा की जाती है कि ऐसे किसी निकाय में एक छोटी सी अनुष्ठान समिति होगी जो इसके पदाधिकारियो को उनकी योग्यता के आधार पर चुनेगी। और जैसे हम कानून या चिकित्सा के सबध में विशेष काम के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था कर रहे हैं, बिल्कुल उसी तरह व्यापारिक उद्यम मे ऐसे प्रशिक्षण की आवश्यकता पडेगी। अब समय आ गया है, बल्कि बहुत पहले आ चुका है जब कि व्यापारिक उद्यम का अध्ययन विश्वविद्यालयो का विषय बन जाय और धीरे धीरे ऐसा होता भी जा रहा है। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि व्यापार की समस्याए, जैसे विपणन, लागत लेखा आदि, ऐसे विषय हैं जिनमें अध्ययन की आदत से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। हारवर्ड बिजनेस स्कूल या आक्सफोर्ड के स्कूल आफ रूरल इकानोमी के काम के फलस्वरूप व्यापारिक जीवन के अनुशासन और आदतो में एक क्राति की शुरूआत हो गयी है।

मैंने व्यक्तिगत उद्योग के सबध मे ऐसे लिखा है मानो इसके सचालन में सामान्यतया सीमित दायित्व वाली ही कम्पनिया रहेंगी। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा ही हो। कम से कम दो और प्रकार के सगठन का भविष्य में काफी महत्व रहने की सभावना है। मै समझता हू कि उन उद्योगो में—जैसे कि भवन-निर्माण उद्याग में—जहाँ स्थायी पूजी का सापेक्षतया कम महत्व है, सघीय सगठन का भविष्य काफी अच्छा है। मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि कारीगरो की आत्म-निर्भर सस्थाए उसी प्रकार मकान न बनाए जैसे कि आजकल बडे भवन-निर्माता बनाते हैं। उनकी समस्या एक ओर तो उधार तक और दूसरी ओर अनुशासन तक ही सीमित है। ये दोनो मुख्यतया अनुभव और परम्परा का विषय है। उन्हें अपने प्रबध की प्रविधि बडी सावधानी से बनानी होगी। उन्हें अपने को अपने उद्योग के सामान्य नियम के अन्तर्गत रखना पडेगा, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि व्यक्तिगत कम्पनी रखती है। उन्हें अपने काम में निहित गुणों का प्रमाण दिखा कर और मशीनो से बनी वस्तुओ से भिन्न प्रकार की चीजें बनाने की योग्यता के आधार के पर ही आगे बढना होगा। परन्तु ऐसे सघ का प्रबध-निकाय मजदूर स्वय ही नही हो सकते। ऐसा करने से तो स्व-प्रबधित कर्मशाला के दु खद इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र होगी।[1] नियत्रण तो ऐसी समिति के हाथ में रहना चाहिए जिसमें सम्बद्ध वृत्तियों के निकायो के प्रतिनिधि हो। और किसी विशेष काम को करने वाले लोगों का इस समिति से सबध उसी प्रकार होगा मानो वे किसी राष्टीयकृत उद्योग में हो। ऐसे सघो का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उनके साधारण सदस्य सगठन की शर्तों को स्वीकार करें जो सम्भवत उससे

---

१. देखिये बी. जोन्स की कोआपरेटिव प्रोडक्शन और सी० ई० रेवन की क्रिस्चियन सोशलिज्म, अध्याय ९ और १०

कही अधिक बडी होगी जिनकी जरूरत व्यक्तिगत उद्योग मे पडती है। जहा उद्योग की सफलता के लिए प्रबध के महत्व को भली प्रकार समझा जाता हो वहा उनको बिना किसी आपत्ति के स्वीकार किया जा सकता है। मै समझता हू कि श्रमिक-सघो के बैंक—जो अमरीका में तेजी से बढते जा रहे है—सफल रहे तो उधार की व्यवस्था करने की समस्या हल होने की आशा है। उदाहरण के लिए, फिलाडल्फिया रेपिड ट्राजिट कम्पनी के पुनगठन में मजदूरो ने जो योग दिया, इस सबध मे उसका बडा महत्व है।[1] यदि मजदूर उत्पादन में अधिक अच्छी कार्य-कुशलता का विकास कर सकें और इसके लिए धन जुटा सकें तो एक नयी औद्योगिक व्यवस्था के निर्माण में इसके लोकतन्त्रात्मक नियन्त्रण का विकास एक स्थायी तत्व बन जायगा।

मै समझता हू कि जिस चीज को सामूहिक सविदा कहा गया है उसके लिए भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस बात का कोई कारण नही है कि किसी कारखाने में मजदूर मालिको से एक सारे का सारा काम क्यो न ले लें। वे उनके साथ एक निश्चित मूल्य पर कुछ निश्चित पण्या के पूरे या आशिक उत्पादन का काम सभालने के सबध में बातचीत कर सकते है। उसके बाद वे स्वय मजदूरो को रखने और निकालने, फोरमैनो की नियुक्ति और काम के घटो के निर्धारण की व्यवस्था कर सकते है। जिस अवधि में काम पूरा किया जाना है, जिन वेतन दरो पर मूल्य निर्धारण किया जाना है और काम पूरा किये जाने पर जिस दण्ड की व्यवस्था करनी है—इन सभी बातो के सबध में बडी आसानी से प्रबध किया जा सकता है। रुई और इजीनियरिंग जैसे उद्योगो में, जहा मजदूरो के एक समूह को एक निश्चित कार्य-शृखला सौंपी जाने की प्रथा है, उस व्यवस्था के लिए पर्याप्त स्थान है जिसे शायद कर्मशाला में नियन्त्रित लोकतन्त्र का नाम दिया जा सकता है। मालिक उन्हें कच्चा माल दे देगा और तैयार की जाने वाली वस्तुओ के आकार-प्रकार बता देगा, परन्तु साथ ही वह कारखाने के अनुशासन की विभिन्न कठिनाइयो की जिम्मेदारी से छुटकारा पा जाएगा। मजदूर काम ठीक से कर रहे है, इस सम्बन्ध में सन्देह से जो खीज होती है उससे भी वह बच जाएगा और न उसे उस नाराजगी का सामना करना पडेगा जो किसी फोरमैन के अप्रिय होने से उत्पन्न होती है। दूसरी ओर मजदूरो को अपने काम में स्वतन्त्रता और जिम्मेदारी का भान होगा। समय बेकार जाय, काम घटिया हो या अनुशासन खराब हो—इन सब बातो का बोझ उनके कधो पर आ पडेगा। कोई अयोग्य व्यक्ति नियुक्त किया जाता है तो यह उनकी गलती होगी मालिक की नही। लोगो को काम पर लगाने और हटाने की समस्या के फलस्वरूप बराबर एक दूसरे पर आपत्ति नही की जायगी जैसा कि आजकल उद्योग के पारस्परिक सबधो में दिखाई पडती है। मि कोल[2] ने लिखा है—"इस कार्यवाही का बुनियादी महत्व इस बात मे है कि इसका उद्देश्य यह नही कि मजदूरो को मालिको के साथ मिल कर

---

१ परन्तु उनका भविष्य बहुत हद तक प्रयोग पर आधारित और सदिग्ध समझना चाहिये। सहकारिता बैंक व्यवस्था एक अलग बात है जिसके द्वारा ऐसे ही काम का सम्पादन हो सकता है।

२. केओास एण्ड आर्डर इन इण्डस्ट्री पृष्ठ १५६, तिर्यकाक्षर मि कोल ने दिए हैं।

नियत्रण करने दिया जाय बल्कि यह है कि कुछ कृत्य पूर्णरूपेण मालिक के हाथ से लेकर मजदूरो को सौंप दिए जाय।" ऐसे सामूहिक सविदा सघ द्वारा उत्पादन का वैकल्पिक और सीमित रूप है, जिसकी चर्चा मैंने की है। परन्तु यह बात तय है कि इसमें मजूरी की दरें और काम के घटे उद्योग के सामान्य मानको के अनुरूप होने चाहिए और इसके लिए यह करना पडेगा कि उत्पादन मत्रालय, उत्पादन के मूल्य की जो परिभाषा करे, मजूरी की दर, उसके आधार पर उद्योग की परिषद् द्वारा निर्धारित सामान्य उत्पादन लागत के अन्तर्गत रहे। इसलिए यह स्पष्ट है कि इसका आधार बहुत कुछ उन मजदूरो की कार्यकुशलता पर है जिनके साथ वह सविदा की गयी हो। परन्तु मै समझता हू कि वे एक दूसरे को जानते हो और उनमें वह गुण हो, जिसे एकरूप आदते कहा जा सकता है, तो यह कार्यविधि का बहुमूल्य ढग रहेगा। इसलिए कि इसमें नितचर्या और बौद्धिक परिश्रम का मिलाप होता है। इससे मजदूर को इस सबध में अपने विचार प्रकट करने का वास्तविक अधिकार मिल जाता है कि उनके परिश्रम का निबटारा कैसे किया जाए। इसमें प्रयोग के लिए गुजाइश और परिवर्तनशीलता है। इसे निर्माण के एक अवस्थान पर लागू किया जा सकता है और सफल होने पर और आगे लागू किया जा सकता है। इसे किसी जहाज में इस्पात की प्लेटो पर रिवटें लगाने, किसी नियत क्षेत्र में कम्पनी के उत्पादन के एक भाग की बिक्री या कुछ प्रकार के सूती माल के कातने या बुनने पर भी लागू किया जा सकता है। सामूहिक सविदा से मजदूरो में जो आदतें बनती है, उद्योग में उनसे बढकर और किसी बात का महत्व नही है। जहा इसको ठीक ढग से लागू किया जाता है मजदूरो की मशीनो के देखभाल करने वालो जैसी स्थिति समाप्त हो जाती है। इससे वे एक नितचर्या के दास रहने की बजाय एक प्रक्रिया के निर्माता बन जाते है। यह इस भरोसे पर निर्भर है कि मजदूर सोच सकते है और योजना बना सकते है। इस तरीके से उन्हें उन शक्तियो के साधन से अधिक ऊचा समझा जाता है जिन्हें न वे समझ सकते है और न उन पर अपना नियत्रण रख सकते है।

मैं समझता हू कि सस्थाओ की यह व्यवस्था औद्योगिक सगठन के उस प्रयोजन को पूरा करती है जिसकी रूपरेखा मैंने पहले बताई है। इसमें उस उद्योगपति के लिए भी काफी स्थान बच रहता है जो न केवल शक्ति बल्कि धन-सम्पदा की तलाश में है। इससे मजदूर को उस प्रक्रिया की कार्यान्विति में अपना अनुभव महसूस कराने का पूरा अवसर मिलता है, जिसका वह एक अग है। वह एक ऐसा पण्य नही रह जाता जिसे बाजार की माग के अनुसार प्रयोग में लाया जाता है या फेंक दिया जाता है। उसकी वृत्ति को मान्यता देना अनिवाय बना कर उसकी रक्षा की जाती है और उसी प्रकार उद्योग के प्रबध में उसको दिये गए स्थान के कारण भी उसकी रक्षा होती है और वह प्रबध के लिए जिम्मेदार निकाय में भी स्थान पाने की आशा कर सकता है। हम कार्य-कुशलता से कमाए गए मुनाफे को समाप्त नही करते बल्कि हम मुनाफा कमाने वालो को इस बात पर मजबूर करते है कि वे कुछ मानको तक पहुच कर मुनाफा कमाए और हम इस बात को रोकते है कि पूजीपति उद्योग के एकमात्र उत्तराधिकारी न बन जाय। और न हम उपभोक्ता को शक्तिशाली गठजोडो की दया पर छोडते हैं जैसा कि आजकल हो रहा है। उसके प्रतिनिधि उद्योगों के प्रबध में जो हिस्सा लेते है, उसके कारण और मूल्य निर्धारण के सबध में उत्पादन मत्रालय की

ने कहा है, एक पेशा बन जायगी और इसका अस्तित्व ही इस नियम के आधार पर होगा कि यह जनता की सेवा करे। मालिक और मजदूर के बीच आर्थिक अतर उतना अधिक नही रहेगा जितना कि आज है, परन्तु जरा भी अतर होगा तो उसके कारणो का विश्लेषण किया जा सकेगा और उन्हे समझा जा सकेगा।

और फिर इस सश्लेषण का एक और पहलू है जिसके सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देने चाहिए। निस्सदेह, यह तो स्पष्टतया समूहवादी व्यवस्था है। इसमें उन सभी तरीको के आयोजन का प्रयत्न किया जाता है जिनसे उद्योग का प्रयोजन पूरा होता है। जिस व्यवस्था में निश्चय ही आज की अपेक्षा अधिक समानता होगी क्या उसमें यह सभव है कि नयी पूजी का समुचित प्रबध किया जा सके जब कि जोखम का इनाम छोटे पैमाने पर मिलेगा ? इस सबध मे मत प्रकट करना तो भविष्यवाणी के समान है और आर्थिक भविष्य के क्षेत्र में विचरना, चाहे अच्छा लगता हो, परन्तु खतरनाक है। परन्तु कुछ समसामयिक तथ्य बताए जा सकते है जिनसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकें। युद्ध काल में उत्पादन से हमें दो बडे सबक मिले हैं। इससे हमें यह पता चल गया कि उत्पादन के उपलब्ध तत्त्वो का पहले से ज्यादा और अधिक वैज्ञानिक ढग से उपभोग करने से उत्पादन की मात्रा में बहुत वृद्धि हो सकती है और साथ ही यह भी कि वृद्धि का मुख्य कारण वे नये उद्दीपन है जिनका प्रवेश उद्योग में इस कारण हुआ कि सभी की सकल्पना विजय प्राप्त करने की थी। इससे दूसरी बात यह मालूम हुई कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ पण्यो में भी बहुत वृद्धि हुई, जिसका कारण आय के वितरण में होने वाला परिवर्तन था। मैं समझता हू कि इस अनुभव से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते है। यदि हम ऐसा प्रबध कर सकें कि युद्ध काल में उद्योग को जो उद्दीपन मिले है, उन्ही के बल पर औद्योगिक व्यवस्था चलती रहे, अर्थात् यदि सगठन द्वारा हम ऐसा प्रबध कर सके कि पूजी और श्रम पूरी तरह और निरन्तर काम में लगे रहें, और दूसरी बात यह है कि यदि हम अधिक विस्तृत क्षेत्र से बचत की आवश्यक राशि प्राप्त कर सकें तो हम सार्वजनिक उद्योगो मे रक्षित निधि के अपने आप जमा होते रहने के कारण नयी पूजी का प्रबध कर सकते है। और सारे उद्योग में यह प्रबध किया जा सकता है क्योकि श्रमिको के लिए समुचित आय की व्यवस्था होने पर उनमे बचत की आदत पड जायगी जो कि वर्तमान व्यवस्था में सम्भव नही है।[1] हम, आजकल के विपरीत नयी पूजी का प्रबध कुछ धनी व्यक्तियो के पास अपने आप जमा होते रहने वाली धनराशि पर ही अधिकतर निर्भर न रह कर भी कर सकते है। जब किसी की आय गुजारे के लिए भी मुश्किल से काफी पडती हो तो वह बचा नही सकता और जब वह आय निश्चित न हो तो बचत की सभावना और भी कम होती है। परन्तु जब एक बार, नियमित रूप से होती रहने वाली न्यूनतम आय की व्यवस्था कर दी जाय जिससे सुख से रहने का एक स्तर बन सके तो बचत का बोझ इतना नही दीखता कि तत्काल उपभोग उसकी अपेक्षा अधिक चित्ताकर्षक जान पडे। यहा यह भी कह देना चाहिए कि सुरक्षित रूप से पूजी लगाने के लिए जितना बडा क्षेत्र

१ इस सबध में मि० ज० ए० हाबसन की इन्सेंटिस इन दी न्यू इण्डस्ट्रियल आर्डर के पृष्ठ ५० एफ पर दी गयी टिप्पणी देखिए।

होगा, बचत को भी उतना ही अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। उपभोग का स्तर ऊचा हो जाने का मतलब यह होगा कि सामान्य आराम की वस्तुओ की माग बढ जायगी। मि० हाबसन ने जो कहा है कि "धनी व्यक्तियो की ओर से ऐश्वर्य की वस्तुओं की अनियमित माग, जिस के जारी रहने का भरोसा नही होता और जो अपर्याप्त होती है", वह उपभोग का स्तर ऊचा होने के फलस्वरूप अपने आप ऐसी शृखला मे बद्ध हो जायगी, जिससे उसके निरन्तर जारी रहने का विश्वास हो सकेगा। और मै बाद मे यह बताऊगा कि सामाजिक बीमे के विकास से किस प्रकार ऐसी सम्भावनाओ मे वह लाभ उठाया जा सकेगा जो आजकल बरते जाने वाले तरीको से सभव नही है।

अन्त में इस सबध में एक बात और कह देनी चाहिए। इस बात से इनकार करने की जरूरत नही है कि दो विचारधाराओ वाले लोगो को इस प्रकार की योजनाए पसन्द नही होगी। एक ओर तो वे लोग है जो समाज के पुनर्गठन की बात बिल्कुल साम्यवादी ढग से सोचते हैं। उन्हे ये योजनाए अपर्याप्त और रुढिवादी दिखाई देंगी। ये योजनाए इस तर्क पर आधारित नही है कि इस समाज का विनाश अनिवार्य है। इनमें ऐसी कल्पना नही की गई कि पूजीवादी व्यवस्था अपने वर्तमान अवस्थान में शीघ्र ही या पूरी तरह लोप हो जायगी बल्कि उनमें तो ऐसा प्रबध है कि पुराने समाज के कवच में ही एक नये समाज का विकास किया जाय। इन योजनाओ में तो यह कल्पना करने का साहस किया गया है कि सामाजिक ढाचे में जो वर्ग-सघर्ष निहित है, वह समाप्त हो जायगा क्योकि इनके अनुसार तो यह आशा की गयी है कि औद्योगिक पक्षो के हितो में सामजस्य लाना असभव है। मैं समझता हू कि इस आलोचना का तो अन्तिम रूप से उत्तर दिया जा सकता है। क्राति का जो प्रत्यक्ष साध्य है, उस तक नही पहुचा जा सकता और क्राति में जिन हथियारो का उपयोग करने पर विवश होना पडता है, उनका स्वरूप ऐसा है कि जो भी सम्भावनाए क्राति करने वालो के सामने होती हैं, वे हथियार उन्ही को नष्ट कर देते है। उदाहरण के लिए, इग्लैंड में सामाजिक क्राति लाई जा सकती है, परन्तु यह सफल हो भी जाय तो यह इतनी महगी पडेगी कि कोई भी इसे नही चाहेगा। मै समझता हू कि उस क्राति का जो मूल्य देना पडेगा, उसके कारण उन आदर्शों को पाया नही जा सकेगा जिनको सामने रख कर क्राति की गयी हो और फिर यह भी सभव है कि इग्लैंड में सामाजिक क्राति की सफलता के लिए यह जरूरी है कि वह सारे योरुप के क्राति आन्दोलन का ही एक अवस्थान हो। यह इसलिए कि रूस के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि पूजीवादी राज्यो में रहते हुए किसी साम्यवादी राज्य की रूपरेखा अनम्य नही रह सकती। दूसरे शब्दो में, मुझे ऐसा लगता है कि सफल क्राति की परिस्थितिया लाना इतनी असभाव्य है कि क्राति करना दो ही स्थितियो में उचित हो सकता है— पहली यह कि क्राति तब हो जब और कोई चारा ही न रहे और दूसरी यह कि क्राति तभी हो जब उसकी सफलता की आशा बहुत अधिक हो। यह मै इसलिए कह रहा हू कि आधुनिक परिस्थितियो में आर्थिक क्राति की असफलता के परिणामस्वरूप जो दण्ड भोगना पडेगा, वह उससे कही अधिक घातक होगा जो कि पहले किसी समय में था।[1]

---

1. क्राति की आम समस्याओं पर देखिए एल० ट्राटस्की की, दी डिफेन्स आफ टेरि-

फिर भी मै समझता हू कि साम्यवादियो का इस प्रकार का निराशावाद इस भोले विश्वास का आधा भी विनाशकारी या औचित्य रहित नही कि हमारे सामने जो समस्याए है उनका अब तक सबसे अच्छा हल यही सिद्धान्त है कि सरकार हस्तक्षेप न करे। विश्व भर में उद्योग का इतिहास यह बताता है कि इस सिद्धान्त का परित्याग आवश्यक जान पडा है और इसके कारण सदा बडे ठोस रहे है। यह देखा गया है कि अधिकतर लोगों के लिए भली प्रकार जीवन व्यतीत करने की आशा मात्र करने के लिए यह जरूरी है कि काम के घटो, मजूरी के स्तरो, पण्यो के निर्माण में काम आने वाली सामग्री और जहा लोगो को काम करना है, उन कारखानो या खानो में सफाई और सुरक्षा की परिस्थितियो पर बराबर नियत्रण रखा जाय। असख्य बार जाच किये जान पर यह पता चला है कि इन बातो के न होने के क्या परिणाम है। एगल्स ने १८४० -४९ के इगलैड का जो चित्र खीचा है, विक्टोरिया के काल के लदन के मैजिस्टट का चार्ल्स बूथ ने जो चित्रण किया है, राउनट्री ने बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ के यार्क का जो वणन किया है और सबसे अधिक कार्ल मार्क्स[1] ने पूजीवाद का, उसके चरम विकास की अवस्था में, जो निर्मम और ठीक ठीक विश्लेषण किया है, इन सबसे इस बात का प्रकाश पडता है कि राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किये जाने के सिद्धान्त का यह परिणाम अनिवार्य क्यों था कि राज्य ने उद्योग पर न्यूनतम कल्याण के मानक लागू करने की चेष्टा की। इसलिए वे राजनीतिज्ञ, जो सर राबर्ट होर्न[2] की भाति, अब भी यही कहते हैं कि "उद्योग में राज्य द्वारा हस्तक्षेप से कभी लाभ नही हुआ है", वे या तो उद्योगो के इतिहास की प्रवृत्तियो से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं और या यह है कि वर्तमान व्यवस्था के बने रहने से उनके माथे पर शिकन तक न आएगी।

इस दूसरे विचार के लिए कोई युक्तियुक्त आधार बडी मुश्किल से दिखाई पडेगा। दुनिया के मजदूर वर्ग को अब पूजीवाद पर कोई भरोसा नही रहा। वे इसकी कोई भी ऐसी सेवा नही करते, जिससे वे बच सकते हो। इसके अस्तित्व का नियम यही है कि औद्योगिक गडबड हो। पूजीवाद के अन्तर्गत सम्पत्ति का वितरण ऐसे ढग से होता है जो कभी नैतिक सिद्धात के अनुसार नही होता। इसका मतलब है अपव्यय, भ्रष्टाचार और कार्य-कुशलता का अभाव। और न इतिहास की दृष्टि से पूजीवाद में उस कठिनाई से बचा जा सकता है जो राजनीतिक शक्ति ने उन लोगो पर डाल दी है जिन्हें इसके लाभ में सबसे कम हिस्सा मिलता है। मै समझता हू कि ऐसा कोई प्रमाण नही कि लोगो ने राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के बाद उसके फलस्वरूप आर्थिक शक्ति पर नियत्रण रखने की भी कोशिश न की हो। सम्भव है कि उनका विरोध किया जाय। परन्तु बडे पैमाने पर किये गये ऐसे

रिज्म, बी० रसल की, प्रेक्टिस एण्ड थियरी आफ बोल्शिविज्म, भाग २, ६, ८, और मेरी कम्यूनिज्म (१९२७) में कई स्थानों पर।

१ देखिए एगल्स की इगलैड में १८४४ में मजदूर वर्गों की हालत, चार्ल्स बूथ की लडन, बी० एस० राउन्ट्री की पावर्टी, कार्ल्स मार्क्स की कैपिटल खड १, विशेषकर अध्याय १०, १५, २५।

२ लडन टाइम्स सितम्बर ८, १९२४।

किसी विरोध का अनिवार्य परिणाम होगा क्राति और फिर बिल्कुल वही स्थिति उत्पन्न हो जायगी जिसके सबध में साम्यवादी विश्लेषण में भविष्यवाणी की जाती है। मैं यह नही कहता कि क्राति सफल होगी। परन्तु मै यह अवश्य कहता हू कि इस क्राति की पराजय भी एक ओर तो पूजीवाद की समृद्धि का नाश कर देगी और दूसरी ओर पूजीपतियो की ऐसी कठोर तानाशाही स्थापित हो जायगी जिससे छापेमारो की लडाई का युग प्रारभ हो जायगा जो निश्चय ही सभ्यता की आशाओ पर पानी फेर देगा। यहा जो विचार प्रकट किया गया है उसका उद्देश्य ऐसे ही धर्मसकट से बचने का है। यह तो इस बात का प्रयत्न है कि मानवीय मामलो के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में समझदारी का बोलबाला हो सके। यह तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह विचारधारा समाज के आर्थिक शासको से उससे कही अधिक बलिदान मागती है जो आज तक उनसे करने के लिए कहा गया है। यह भी स्पष्ट है कि ऐसा बलिदान करने से इनकार होने पर ऐसी बडी विपत्ति का सामना करना पडेगा जो सोची भी नही जा सकती। हमारे सामने ऐसा अवसर है जब सस्थागत परिवर्तन अवश्य ही तेजी से होगा या तो आगे की ओर या पीछे की दिशा में। मैं समझता हू कि इनमे से एक दिशा तो ऐसी है कि शृखलाबद्ध सभ्यता का अन्त हो सकता है और दूसरी दिशा में प्रगति का मतलब कम से कम यह तो है कि न्याय के आधार पर एक व्यवस्थित समाज के बनाने की आशा है। यही कारण है कि जो लोग परिवर्तन के रास्ते में बाधा बनेंगे वे उन लोगो के समान होगे जिनका वर्णन बर्क ने किया था और जो "उस महान धारा का विरोध करते हुए ऐसे लगेंगे मानो वे मानवी सकल्पो का नही वरन् विधि के विधान का विरोध कर रहे हो।"

—६—

मै ने यह कहा है कि नए राज्य में वृत्तियो के निकायो का स्थान बहुत महत्त्व का होगा। इन निकायो का क्या स्वरूप होगा? उनके सबध में सीमाए कैसे निर्धारित की जायेंगी? उनके प्रयोजन क्या होगे? और उनकी शक्तियो का क्या स्वरूप होगा? मैं समझता हू कि यह बात तो प्रारम्भ में ही कह देनी चाहिए कि उनकी स्थिति उससे भिन्न प्रकार की होगी जो कि आधुनिक राज्य में कार्मिक सघ की है। कार्मिक सघ का प्रयोजन सबसे अधिक तो सघर्ष का है। यह वर्ग चेतना की भावना पर आधारित होता है। इस मे यह भावना निहित है कि वृत्तियो के अलगाव को दूर किया जाय और जहा सभव हो, अत्यधिक विस्तृत मोर्चे पर लडाई लडी जाय। यही कारण है कि सामयिक परिस्थिति में औद्योगिक सघवाद कारीगरो के सघवाद की अपेक्षा अच्छा है और सधान की अपेक्षा यह अच्छा है कि सभी एकाश मिलकर एक बन जाय। इसीलिए जैसा कि मि० और मिसेज़ वेब[१] ने कहा है कि "पूजीवाद के साथ लडाई के लिए, चाहे वह आर्थिक मोर्चे पर हो या राज-नीतिक क्षेत्र में, जो चीज़ अच्छी समझी जायगी वह 'एक बडा सघ' हो सकती है, जिसका सगठन और सचालन ऐसे ढग से किया जाय कि शारीरिक परिश्रम करने वाला मज़दूर वर्ग और उनसे सबध सभी वे लोग जो दिमागी काम करते है, एक होकर, एक सकल्पना से और एक प्रयोजन के लिए आगे बढ़ें। यह बल जितना एकान्वित होगा और उसमें

१ कास्टीट्यूशन फॉर ए सोशलिस्ट कामनवेल्थ, पृष्ठ २७६

जितना अधिक अनुशासन होगा, उतनी ही जल्दी विजय प्राप्त होगी और वह उतनी ही सर्वांगीण होगी।"

मेरा सरोकार एक भिन्न स्थिति से है। हमें उस समाज से वास्ता पडेगा जिसमें साम्य का विचार पहले ही लाया जा चुका है। हमें अपनी वृत्तियो का ढाचा इस धारणा के आधार पर बनाना है कि हम वर्ग सघर्ष से निकल कर स्वतन्त्र राष्ट्रमडल के युग में आ चुके है। तो ऐसे समाज में वृत्ति क्या है ? मै समझता हू कि इसकी परिभाषा ऐसे की जा सकती है कि यह व्यक्तियो की स्थायी और निरन्तर जारी रहने वाली सथा है जो अन्यो से इस बात में अलग है कि उन्होने निश्चित प्रशिक्षण द्वारा एक विशेष सक्षमता प्राप्त कर ली है। जहा भी ऐसे व्यक्तियो का समूह होगा, वे यथासभव सदा इस बात पर जोर देंगे कि उनका कार्य ऐसी परिस्थितियो मे किया जाय जो वे स्वय अपने लिए निर्धारित करें। वे अपने को उस निकाय के सदस्य महसूस करेंगे जिसे मध्य युग में "रहस्य सस्था" कहा जाता था और जो दूसरी "रहस्य-सस्थाओ" से अलग होती थी। वे चाहेंगे कि वे इन बातो को स्वय तय करें कि वे कैसे काम करें, उनके काम के मापदड क्या हो, उनके पेशे की नैतिकता क्या हो और उनके साथ कोई कैसे शामिल हो सके। आधुनिक राष्ट्र राज्य की तरह उनमें भी ऐसी परम्पराओ का विकास हो जाता है जो विशिष्ट रूप से उन्ही की होती हैं। उनका एक नैगम व्यक्तित्व हो जाता है और जब उन पर ऐसे लोगो का शासन हो जाता है जिनका उनकी परम्पराओ में कोई हिस्सा नही है, तो वे यह महसूस करते हैं कि उस व्यक्तित्व का अतिक्रमण हुआ है। किसी वृत्ति की विशेषता यह है कि यह किसी कृत्य विशेष के क्षेत्र में ही रहती है जिसमें यह सापेक्षतया विशेषज्ञ होती है और यह कि उस कृत्य विशेष की परिधि के बाहर इसकी कोई सामूहिक राय नही होती। इसका सरोकार इस बात से है कि उन बातो की रक्षा की जाय जो इसे अन्य वृत्तियो से भिन्न बनाती है, न कि इस बात से कि यह भी अन्यो के जैसी ही बन जाय। डाक्टर की वृत्ति के कोई हित वकील की वृत्ति के हितो जैसे नही होते और न इजीनियर और टाइपिस्ट की वृत्तियो में परस्पर कोई समानता रहती है। किसी वृत्ति के सदस्य जिस सूत्र में बधे रहते है, और वह वस्तु, जिस के कारण उनका साझा दृष्टिकोण बन जाता है, उनका उत्पादको का सामान्य कृत्य नही है, बल्कि उनका वह विशेष कृत्य है जो वे एक सीमित और पर्याप्त रूपेण निश्चित सेवा के उत्पादन के लिए करते हैं।

इसलिए ऐसा लगता है कि हमें वृत्तियो के जिस प्रकार के सगठन से सरोकार है, वह किसी उद्योग विशेष की सामान्य शृखला पर आधारित नही है, बल्कि उस उद्योग के अन्दर कृत्यो की श्रेणियो के आधार पर बना है। उदाहरण के लिए, किसी राष्ट्रीयकृत रेलवे सेवा में राज्य का सरोकार रेल कमचारियो के एक कार्मिक सघ से नही होगा बल्कि कारीगरो के विविध निकायो से। ये सस्थाए इजन चलाने वालो, कोयला झोकने वाले, प्लेटें बिछाने वालो, कुलियो आदि की हो सकती हैं। सभव है कि ये साझे हितो की रक्षा के लिए इकट्ठी हो गयी हो। परन्तु वे निश्चय ही इस बात के प्रति सजग होगे कि उनके कृत्यो के विभिन्न प्रयोजन है और यह विभिन्नता उनके कृत्यो में ही निहित है। आक्सफोर्ड में परीक्षा स्कूलो का पौरी निश्चय ही विश्वविद्यालय के कमचारी वर्ग में है, परन्तु विश्वविद्यालय के अध्यापको

के हितो से मरोकार रखने वाले निकाय में उसके लिए उचित स्थान नही है। किसी अस्पताल का डाक्टरो के बिना गुजारा नही हो सकता, परन्तु नर्सों के हितो की रक्षा करने वाले किसी निकाय में उनके लिए कोई स्थान नही है। मुझे इस बात में सदेह नही कि एक से हितो के लिए साझा सगठन जरूरी है परन्तु मै समझता हू कि वृत्तियो के स्व-प्रबध का सार इस बात मे है कि उनकी भिन्नता पर जोर दिया जाय न कि उनकी समानता पर। इसमे सदेह नही कि आपूर्व ही यह कहना असभव है कि कोई वृत्ति किसी वत्तमान निकाय से कब इतनी भिन्न हो जाती है कि इस प्रकार उसकी अलग से रक्षा करने की जरूरत हो, और इस के विपरीत, यह भी नही कहा जा सकता कि कब दो वृत्तिया परस्पर इतनी घुल मिल जाती है जब कि वे वास्तव मे एक ही कृत्य कर रही होती है। लेखापालों और सचिवो के निकायो जैसे नये निकाय बनते है, जिनकी आधी शताब्दी पहले अपनी माने जाने वाली कोई प्रविधि नही थी। और पुरानी विभिन्नता, जैसे सोलीसिटर और बैरिस्टर मे है या डाक्टर और सर्जन में है, बदलती हुई परिस्थितियो के साथ साथ समाप्त होती जा रही है।

मैं समझता हू कि यह बात तो निश्चित ही है कि सीमाए निर्धारित करने का काम स्वय निकाय को कभी नही सौपा जा सकता। इस निर्णय में निकाय का काफी हाथ होना चाहिए, परन्तु आत्मरक्षा में इसकी दिलचस्पी इतनी है कि पूर्ण आत्मनिर्णय का परमाधिकार इसे कभी नही दिया जा सकता। और फिर, निकाय अकेला ही यह निर्णय नही कर सकता कि वृत्ति में प्रवेश की क्या शर्तें हो। उदाहरण के लिए—जो भी इस बात पर ध्यान देगा कि डाक्टरो और वकीलो ने अपने पेशो में स्त्रियो के प्रवेश करने का कितना विरोध किया था, वह यह समझ जायगा कि चरम नियत्रण वृत्ति से बाहर रखना कितना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, इगलैड में सोलिसिटर के पेशे में प्रवेश की शर्तों के विश्लेषण से किसी भी तटस्थ व्यक्ति पर यह बात जाहिर हो जायगी कि विनियम इस तरह के बनाए गए हैं कि जहा तक हो सके यह वृत्ति वशगत ही रहे। मै समझता हू कि इस बात के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है कि वृत्ति मे प्रवेश के लिए योग्यता की एक अवधि और सक्षमता का प्रमाण आवश्यक शर्त बना दिया जाय। परन्तु, साथ में, इसका तर्कसगत निष्कर्ष यह है कि योग्यता प्राप्त व्यक्तियो का समुचित रजिस्टर रखा जाय, चाहे वह घरेलू नौकरो की वृत्ति के सबध में हो, डाक्टरो के सबध में हो या इजीनियरो के सबध में हो। परन्तु यदि पेशे में प्रवेश की शर्तें तय करने में पेशे वालो की पूरी स्वतन्त्रता होगी, तो वे सदा यह प्रयत्न करेंगे कि पेशे में पहले से लगे व्यक्तियो की रक्षा की जाय। कभी तो वे पेशे के सदस्यो की सख्या का परिसीमन करके और कभी योग्यता के अनावश्यक रूप से ऊचे मानक निर्धारित करने जैसी कार्यवाहियो द्वारा ऐसा प्रयत्न करेंगे। मेरा कहना है कि इस स्थान पर दो धारणाए जन्म लेती है। नयी वृत्तियो को मान्यता देने का मामला सरकार और निम्नलिखित को तय करना चाहिए, (क) वे, जो सबद्ध वृत्तियो में है, (ख) वे, जो उसे मान्यता देने की माग कर रहे है, जिसे वे नयी वृत्ति कहते हैं, और (ग) सगत विषय सबधी निकाय—उदाहरणार्थ रायल सोसाइटी या इजीनियरिंग मानक समिति—जिनकी राय वजन रखती है। वृत्ति में प्रवेश की शर्तें भी इस प्रकार ऐसे

निकाय द्वारा तय की जायेंगी जिसमें इसी तरह (क) उस वृत्ति विशेष में लगे हुए लोग, (ख) वे लोग, जो वृत्ति में प्रवेश चाहने वालो को काम सिखाते है, और (ग), सबद्ध वृत्तियों के प्रतिनिधि होगे। कई दशाओ मे ऐसे निकायो में उन प्रतिनिधियो को भी लेना सभव हो सकेगा जो उन लोगों का दृष्टिकोण पेश करेंगे जो वृत्ति मे प्रवेश करने वालों को काम पर लगायेगें। बहुधा, इन प्रतिनिधियो का होना पेशो के परिरक्षण को रोकने के लिए लाभदायक होगा जिसके अनुसार वत्ति की अद्वितीयता पर जोर दिया जाता है जब कि वह वास्तव में होती नही है।

इसमें सदेह नही कि योग्यता का अथ यह नही है कि काम अवश्य मिल ही जायगा, कुछ ऐसे डाक्टर और वकील भी हैं जो अपना खर्चा भी नही निकाल सकते। परन्तु मै समझता हू कि यह स्पष्ट ही है कि यहा जिस योजना की रूपरेखा बताई गई है, उसके अन्तर्गत हमारे पास ऐसा साधन होगा जिससे हम पेशे के आकार और उसमें प्रतिवर्ष भरती किये जाने वालो की सख्या में परस्पर उससे कही अधिक समुचित अनुपात रख सकेंगे जोकि आजकल रहता है। ब्रिटेन में असैनिक सेवा आयोग की जो प्रथा है, उसको नमूना मान कर ऐसा अनुपात स्थापित किया जा सकता है। उसमें प्रति वर्ष उन रिक्त स्थानो की सूचना दी जाती है जिनकी पूर्ति की जानी हो। और उस उपाय द्वारा पदो के उम्मीदवारो की सख्या समुचित रूप से सीमित रखी जा सकती है। यदि ऐसी प्रथा आम हो जाय, और यदि प्रत्येक शैक्षनिक सत्ता के अधीन अध्यापको और माता-पिताओ की एक समिति बना दी जाय, जो विभिन्न सेवाओ के समुचित निकायो के साथ मिलकर काम करे, तो लगभग ठीक तरह ही यह जाना जा सकता है कि कितने रिक्त पदो की पूर्ति की जानी है। परन्तु इस प्रथा को ऐसे लागू करना आवश्यक नही कि उन लोगो की सख्या सीमित रखी जाय जो किसी विशेष पेशे के लिए योग्यता प्राप्त करना चाहते है, चाहे वे इसमें काम न भी कर सकते हो या न करना चाहते हो। हम वैकल्पिक योग्यता प्राप्त करने की आदत को जितना प्रोत्साहन देंगे, हमारे लोकतन्त्र के मानको के लिए यह उतना ही अच्छा होगा। यह केवल इसी कारण नही कि कई पदो के लिए दो तरह की योग्यता आवश्यक होती है, बल्कि इस-लिए भी कि विशेषकर ऐसी सभ्यता में, जिसमें यँत्र प्रविधि का प्राधान्य है, ऐसे लोगो का होना बडे महत्व की बात है जिन्हें एक विशेष प्रकार के काम से हटा कर दूसरे प्रकार के काम पर लगाया जा सके। इसका कारण यह है कि उद्योग की रचना के अध्ययन से यह बात अधिक से अधिक स्पष्ट होती जा रही है कि काम में परिवत्तन का क्या महत्व है। हमारे सामने आज जो कठिनाइया है उनमेंसे एक यह है—और यह किसी प्रकार कम नही—कि कोई व्यक्ति एक बार कोई पेशा अपना ले तो उसे, कुछ विशेष मामलो को छोड कर, आयुपर्यन्त उसी में लगे रहना पडता है। और इसके अतिरिक्त वयस्क शिक्षा में बढती हुई दिलचस्पी के कारण यह अधिक सभव हो गया है कि अनिवार्य प्रशिक्षण की अवधि समाप्त होने के बाद हम अधिक लोगो को इस बात के लिए राज़ी कर सकेंगे है (यहा हमें केवल राज़ी करने की ही चेष्टा करनी चाहिए) कि वे उससे अधिक विस्तृत कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लें जोकि औद्योगिक जीवन में प्रवेश के समय उन के लिए सभव था या कम आकर्षक था। इस बात का महत्व न केवल इस

दृष्टिकोण से है कि इस प्रकार कोई व्यक्ति अपने लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा बल्कि इस विचार से भी कि औद्योगिक क्षेत्र मे, बेकारी की समस्या के सबध में और बौद्धिक क्षेत्र में नागरिक होने के नाते, उसके महत्व के दृष्टिकोण से, भी इसका महत्व है। हम उस के अनुभव को जितना बढा सकेंगे, वह सामाजिक प्रयत्नो में उतना ही अधिक योग दे सकेगा।

प्रत्येक वृत्ति का प्रबध किस प्रकार होगा ? स्पष्ट है कि इस सबध में मैं कुछ मुख्य सिद्धात ही बता सकता हू। इसके ब्यौरे पर विचार करने के लिए उन हजारो विविध समस्याओ का ध्यान रखना पडेगा जो कि वृत्तियो की सघटना के कारण जनित होती है, परन्तु कुछ बातें स्पष्ट हैं। वृत्ति का प्रबध एक कार्यकारिणी परिषद् चलायगी, जिसे इसके सदस्य चुनेंगे। ब्रिटेन के खान मजदूरो के सधान की तरह इसमें इस बात की जरूरत पडेगी कि प्रादेशिक हितो का भी उतना ही ध्यान रखा जाय जितना कि साधारण सदस्यों की सख्या का। यह अपनी आवश्यकतानुसार स्थायी पदाधिकारी चुनेगी। परन्तु आशा है कि इस में इस बात को याद रखा जायगा कि प्रबध एक विशेषित कला है जिसमें निरन्तर परिवर्तन के विपरीत अभ्यास के लिए निरन्तर अवसर देने का अधिक महत्त्व है। कार्यकारिणी परिषद् के अतिरिक्त वृत्ति के स्थानीय निकाय आवश्यक होगे और इस बात का बहुत अधिक महत्त्व होगा कि स्थानीय सगठन के उचित एकाश चुने जायें। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट है कि वास्तव मे स्थानीय एकाश वह स्थान नही जहा कि वृत्ति का सदस्य रहता है परन्तु वह स्थान है जहा वृत्ति का काम किया जाता है। वृत्ति-जीवन की कार्य-कुशलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उन लोगो से सलाह लेने का अवसर प्राप्त हो, जो असल में इकट्ठे काम कर रहे हो, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि खान मजदूरों की सस्था में होता था।[1] कई बार मिलने-जुलने के लिए उचित समय निकालने की कठिनाई का उल्लेख किया जाता है। परन्तु थोडी सी कोशिश कर इसे दूर किया जा सकता है। दो इजीनियर जो क्लेपहम में रहते हो, उन्हें ऐसे दो इजीनियरो की अपेक्षा कम बातो में एक सी दिलचस्पी होगी या अपने अनुभव बताने के कम साधन होगे, जो क्लपहम के किसी एक ही कारखाने में काम करते हो, परन्तु रहते पोपलार और बट्टरेसा में हो। वे एसे कार्य क्षेत्र में होते हैं जहा उनके अनुभव की समानता स्पष्ट होने का अद्वितीय अवसर होता है। इस प्रकार के अवसर को खो बैठना बडी भारी गलती है। और मैं यह भी समझता हू कि अनुभव हमें यह सिखाता है कि कुछ शक्तिया जो आजकल विशेषकर कार्मिक सघ आन्दोलन में साधारण सदस्यो के हाथ में होती हैं, वे कार्यकारिणी परिषद् को मिलनी चाहिए। उदाहरण के लिए, वृत्ति के लिए पदाधिकारी सदा परिषद् को ही चुनने चाहिए। व्यक्तियो को का कोई बडा समूह यह नही समझ सकता कि, उदाहरणार्थ, एक सचिव में क्या प्रविधिक योग्यता होनी चाहिए। इसी प्रकार परिषद् को वृत्ति के वे प्रतिनिधि

---

१ इस सम्बन्ध में मि० जे० टी० मर्फ़ी की निर्णायक दलील देखिए, उनके लेख दी यूनिट आफ आर्गेनाइजेशन में जो रस्किन कालिज द्वारा दी रीआर्गेनाइजेशन आफ़ इण्डस्ट्रीज लेख-माला के पाचवें अक में प्रकाशित किया गया था।

भी चुनने चाहिए जो किसी राष्ट्रीयकृत उद्योग के प्रबध बाड जैसे निकाय के सदस्य बनेंगे। मजदूर सघो में मतदान के आकडो[1] का अध्ययन करने से पता चलेगा कि ऐसे प्रश्नो में साधारण सदस्यो को कितनी कम दिलचस्पी होती है और यह दिलचस्पी वास्तव में समस्याओ को समझने से कितनी दूर होती है। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि जब जिन प्रश्नो का निर्णय किया जाना हो, उनका सबध सदस्यो के व्यक्तिगत अनुभव से हो—जैसा कि यह कि कितने घटे काम किया जाय या कि हडताल की आवश्यकता है या नही—तो यह अच्छा होगा कि निर्णय समस्त सदस्य सख्या के मत के आधार पर किया जाय। इसके अतिरिक्त इस बात का भी महत्व है कि वृत्तियो के ऐसे निकायो का भी विकास किया जाय जो उपभोक्ताओ के सहकारिता आन्दोलन की त्रैमासिक बैठको जैसे हो। यह इसलिए, कि बहुधा यह खतरा रहता है कि केंद्रीय या प्रादेशिक प्रधान कार्यालय के पदाधिकारी का साधारण सदस्यो से सम्पर्क नही रहेगा। उसे न केवल यह जानना चाहिए कि सदस्य व्यक्तिगत रूप से क्या सोच रहे है—जो उसे उनके सम्पर्क में आकर मालूम होगा—बल्कि यह भी पता होना चाहिए कि जब मिलकर और सगठित ढग से विचारविमर्श होता है तो उससे दु ख दद की क्या बातें सामने आती है और क्या सुझाव दिए जाते हैं। निरन्तर परामर्श की ऐसी प्रणालियो से ही किसी वृत्ति विशेष में उचित प्रकार का स्वयसेवी निकाय बन सकेगा। उदाहरण के लिए, जो डाक्टर सतति निरोध का महत्व समझते है, एक सस्था बना सकेगें जो त्रैमासिक बैठक में उनके विचार उस पेश में लगे सारे व्यक्तियो के सामने रख सकेगी, और जहा उस प्रश्न की सार्वजनिक जाच में चिकित्सा के पेश में लगे व्यक्तियो का प्रतिनिधि भेजा जाना होगा, वह सस्था एक राष्ट्रीय एकाश बना सकेगी जो उसका दृष्टिकोण व्यक्त करने के लिए एक डाक्टर को चुनेगा।

परन्तु यहा एक बात का ध्यान रखना चाहिए जिसका बहुत महत्व है। मैंने यह माना है कि वृत्ति के सभी सदस्यो पर यह आभार होगा कि वे इसके प्रबध से सरोकार रखने वाली सस्था में शामिल हो। मैंने जिन बातो को आधार मान कर इस प्रश्न पर चर्चा की है, उनके अन्तर्गत यह सघा किसी भी उद्योग में उससे बढकर चरम प्रबधक निकाय नही हो सकती, जितना कि, उदाहरणार्थ, खान मजदूरो का सधान या ब्रिटिश चिकित्सा सधा अपनी अपनी वृत्तियो में चरम प्रबधक निकाय है। मैं समझता हू कि जिन नियमो का पालन किसी सधा के सदस्यो के लिए अनिवार्य है—इस अर्थ में कि उनके न मानने पर कानूनी दड दिया जायगा—वे स्वय सधा को हीन ही बनाने चाहिए, बल्कि सधा को चाहिए कि किसी बाहरी सत्ता के सहयोग से ये नियम बनाए। यहा जो उदाहरण दिया गया है, उसमें तो वह बाहिरी सत्ता न्याय मत्री ही होगी। इसका अर्थ यह है कि जहा भी सधा के नियम इस प्रकार के हो कि उनके अन्तर्गत उस वृत्ति में लगने का अधिकार छीना जा सकता है, उस सबध में सधा की शक्ति कभी अन्तिम नहीं होनी चाहिए। यह ऐसी शक्ति होनी चाहिए जिसकी सारभूत बातो का अनुमोदन राज्य द्वारा किया जा चुका हो, हालाकि इसे

---

१ ये आकड़े जिस रूप में मि० मर्फी ने अपने लेख के पृष्ठ १५ पर दिए हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

लागू करने का काम स्वय वृत्ति पर ही छोड देना ठीक होगा। जिस प्रकार महा चिकित्सा परिषद् या विधिजीवी परिषद् को यह अधिकार है कि वे वृत्ति के सदस्यो को निकाल सकती हैं परन्तु जिस तरह उनका अधिकार बहिष्कार के कारण बताने तक ही सीमित है, बिल्कुल उसी तरह प्रत्येक वृत्ति का अधिकार सीमित होना चाहिए। और मैं समझता हू कि इस बात का भी कोई कारण नही है कि लोग अपनी व्यक्तिगत हैसियत में ऐसे निकायो से कथित अशोभनीय चलन के सबध में न कह सके, जिसके लिए वृत्ति से बहिष्कार होना चाहिए। इस सबध मे हम जितने अधिक स्व-प्रबध का विकास कर सकेंगे, वृत्ति के सदस्यो में मिलजुल कर एक दल के रूप में काम करने की भावना के लिए उतना ही अच्छा होगा। किसी अन्य तरह से उतनी जिम्मदारी की भावना नही आती जितनी कि इस प्रकार की शक्तियो से उत्पन्न होती है। और मैं समझता हू कि आम तौर पर, किसी वृत्ति का न्यायालय उन वकीलो के समूह की अपेक्षा न्याय का अधिक माध्यम अच्छा होगा जिन्हें वृत्ति की पेशे सबधी नैतिकता ऐसे समझानी पडती है मानो वह कोई अनोखी बात हो। सामान्य न्यायालयों से अपील कर सकने की व्यवस्था रहनी चाहिए जिससे कि यह देखा जा सके कि (क), उचित कार्य-विधि का पालन किया गया है और (ख) जो कार्यवाही की गयी है, वह शक्ति परस्तात् नही थी। परन्तु यदि ये शर्तें पूरी हो जायें तो वृत्ति की शक्ति अन्तिम रहे, तो भी इससे लाभ होगा।

अब हम उन प्रयोजनो को समक्ष रहे हैं जो किसी वृत्ति के निकाय को अपने सामने रखने चाहिए और यह भी जान रहे हैं कि उन प्रयोजनो को पूरा करने के लिए उसे किन शक्तियो की जरूरत है। वृत्ति सबधी निकाय, चाहे वह किसी एक क्षेत्र के लिए हो और चाहे एक सारे राष्ट्र-राज्य के लिए, उन लोगो को चुनेगा जो उद्योगो के प्रबध निकायो, सरकारी विभाग की मत्रणा समितियो और ऐसे ही अन्य सगठनो में उसके प्रतिनिधि होगे। वे इन समितियो आदि में स्पष्टतया अपनी वृत्ति के हितो की रक्षा करने और इसके काम के घटो, वेतन की दरो और उन सामान्य परिस्थितियो के सबध में सौदे करने के लिए जायँगे। निस्सदह वे पूर्णाधिकारी नही होगें, बल्कि वृत्ति के दूत होगे। अन्ततोगत्वा यह निर्णय तो स्वय वृत्ति को ही करना है कि उसे जो शर्तें बताई गई है, वे उसे स्वीकार करनी चाहिए अथवा नही। स्वीकार करने के अधिकार में अस्वीकार करने का अधिकार भी शामिल है। और राष्ट्रीयकृत उद्योग में भी ऐसी दशाए आयेंगी जब मजदूर अपने सामने रखी गयी शर्तों को स्वीकार करने की बजाय काम न करना अधिक पसन्द करेंगे। मैं समझता हू कि किसी भी वृत्ति को हडताल करने के अधिकार से वञ्चित नही रखा जा सकता। मेरा विश्वास है कि जिस व्यवस्था की चर्चा हम ने यहा की है उसमें हडतालें बहुत कम होंगी। परन्तु यदि व्यक्तियो का कोई समूह इस बात में दृढ विश्वास रखता हो कि प्रस्तावित शर्तों के आधीन काम जारी रखना असभव है तो जैसा कि मैं पहले कह चुका हू वे अवश्य हडताल कर देंगे चाहे उन की कानूनी स्थिति कुछ ही क्यो न हो। ऐसी स्थिति के विरुद्ध वास्तविक सुरक्षण दो बातो में हैं। पहली बात तो इस सुरक्षण के लिए यह है कि वृत्ति की भौतिक और आध्यात्मिक परिस्थितिया समुचित बनाई जायें। जब लोगो को यह पता हो कि अर्थ-व्यवस्था जिन सिद्धांतो पर आधारित है वे न्यायोचित है तो हडताल की सम्भावना आम तौर पर

नही रहती । इस सुरक्षण के लिए दूसरी जरूरी बात यह है कि वृत्ति को काफी अधिक स्व-प्रबध अधिकार दिया जाय । शायद यह कह देना उचित होगा कि ब्रिटेन की असैनिक सेवा में ह्विटले प्रणाली का यह महत्व है । आजकल इस में कमजोरिया भी दो तरह की है । ह्विटले कौंसल में मालिको की ओर से असैनिक सेवा के सदस्यो से काम कराना एक गलती है, वह काम विभाग की विधान सबधी समिति को सौंप देना अधिक अच्छा रहेगा । यह भी एक गलती है कि इन परिषदो को पदोन्नति जैसे मामले न सुलझाने दिए जायें । और यह करना भी बुद्धिमानी का काम होगा कि सावजनिक सेवाओ में असैनिक सेवा आयोग के काम का वृत्तियो के निकायो से सबध रहे । सेवा में प्रवेश के मानक, कार्यकुशलता आकने का तरीका, श्रेणियो का परस्पर सबध--ये सब ऐसे प्रश्न है जिनके सबध में उन निकायो के विचार और अनुभव का महत्व बहुत अधिक है। यह बात निश्चित होनी चाहिए कि इन विचारो और अनुभव का उपयोग किया जाय ।

इसके अतिरिक्त वृत्ति को अपनी प्रविधि के अध्ययन और सम्वर्धन का काम, अपने कार्य-क्षेत्र का प्रकृत अग समझ कर ही करना चाहिए । इस में सदेह नही कि आशिक रूप से यह ऐसा मामला है जिसमें, वृत्ति के अन्तर्गत ही सदा ऐसी स्वयसेवी सस्थाए होंगी जो वृत्ति की समस्याओ को निबटायेंगी, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि चिकित्सा और वकालत के पेशो में होता है । परन्तु वृत्ति की आवश्यकताओ के लिए इतना काफी नही है । इस बात का सदा महत्व रहेगा कि स्वय वृत्ति अधिकृत रूप से इस बात को स्वीकार करे कि पेशे के मानको में सुधार की जरूरत है । हम यह देखना चाहते हैं कि खान मजदूर स्वय अपने लिए डाक्टर, इजीनियर और वकील नियुक्त करें। प्रत्येक देश में अध्यापन वृत्ति में लगे लोगो को न्यूयाक के अध्यापक कालिज जैसी महान् सस्था बनानी चाहिए जो शिक्षा की प्रविधि के सबध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए निश्चित रूप से एक केन्द्र का काम करे और पेशे में लगे सभी लोगो तक वह ज्ञान पहुचाए । डाक्टरी के पेशे के लिए यह बडी अच्छी बात होगी कि वह बैंटिंग और लेस्टर जैसे व्यक्तियो की खोज करे और उन्हें दवाइयो और शल्यक्रिया की कठिनाइयो को दूर करने के काम पर लगाए । जीवनाकिक, इजन चलाने वाले, बायलर बनाने वाले—ये सभी सुधार के साधनो की खोज के काम को अपने काम का अग बना कर अपने परिश्रम में अधिक गुण ला सकते हैं । इस का महत्व केवल इस कारण नही कि इस से पेशे का आत्मसम्मान बढता है, बल्कि इसलिए भी है कि इस प्रकार जो नयी खोज की जाती है उस पर सारी वृत्ति का अधिकार होता है और वह मुनाफे का साधन मात्र नही रहती । इस काम को करने पर उस कठिनाई से बचा जा सकता है जो कि, वैज्ञानिक प्रबध कही जाने वाली प्रणाली में मि० एफ० डब्ल्यू० टेलर जैसे कार्यकुशल इजीनियर द्वारा मजदूरो के समूह पर—जिस में वह स्वय नही हैं—कोई नित चर्या थोपने की चेष्टा किये जाने पर हमारे सामने आती है । वृत्ति के सदस्यो के परस्पर सहयोग से किये गये सुधारो में उस प्रकार की जिम्मेदारी की भावना आ जाती है जो और किसी प्रकार उत्पन्न नही की जा सकती । और यह विशेषकर रोजमर्रा के काम में ऐसा महत्वपूण तत्व है जिस से वृत्ति में अपने महत्व की भावना जागृत होती है । उदाहरण के लिए, यदि दुकान सहायको

की थकावट की समस्या का अध्ययन उन्ही के तत्वावधान में हो तो उसके निष्कर्षों को जितना समर्थन प्राप्त होगा वह, उदाहरण के लिए, किसी सरकारी विभाग या मालिकों की सस्था द्वारा जाच को प्राप्त नही हो सकेगा। मैं समझता हू कि खानो में सुरक्षा की समस्या का अध्ययन स्वय खान मजदूर वैज्ञानिक ढग से करें, तो खानो की दुर्घटनाओ में कमी पहले की अपेक्षा कही अधिक तेजी से होगी। यदि ब्रिटेन का खान मजदूर सधान और युनाइटिड् माइन वर्कर्स आफ अमेरिका कोयला खानों के उपकरणों की पर्याप्तता जानने के लिए उन का सर्वेक्षण करें तो वे उन में बहुत अधिक परिवर्तन ला सकेंगे। इस का कारण यह है कि ऐसे प्रयत्न के पीछे एक शक्ति होती है, क्योकि इसे कार्यरूप में परिणत करना वृत्ति विशेप में लगे सभी लोगो के लिए इज्जत का सवाल बन जाता है।

इसके अतिरिक्त वृत्ति को पेशे के मानक अवश्य बनाने चाहिए। इसका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ? पेशे के मानको की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वे ऐसे नियम हैं, जिन का उद्देश्य यह है कि वृत्ति के काम में स्वार्थ की भावना सेवा की भावना पर हावी न हो जाय। उदाहरण के लिए, इसी उद्देश्य से इग्लैंड में डाक्टरो और वकीलो के लिए इश्तहारबाजी की मनाही है। इसी कारण सोलिसिटर की लागत के बीजक की न्यायालयों द्वारा जाच की जा सकती है। किसी डाक्टर से यह आशा नही की जाती कि वह किसी रोगी को किसी अन्य डाक्टर के पास भेजेगा तो उस से दलाली लेगा। हा, कोई व्यापारी किसी ऐसे मित्र को जो लिमिटिड कम्पनी के रूप में अपना व्यवसाय चलाना चाहता हो, किसी दलाल के पास भेजता है, तो वह उससे दलाली मागने को बुरा नही समझता। और न कोई पेशेवर आदमी, अपने पेशे के काम के दौरान में प्राप्त की गई जानकारी को अपने असामी के अहित के लिए प्रयुक्त कर सकता है। मुझे इस बात में कोई सदेह दिखाई नही देता और न मैं इस बात से इनकार करता हूं कि कुछ वृत्तियो के आचरण नियमो—जिन का उद्देश्य ऐसे सुरक्षण देना है—का प्रयोग इस हद तक किया जाता है कि वे बडा भारी खतरा बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, सभव है कि चिकित्सा-वृत्ति के आचरण नियमो के कारण बहुधा चिकित्सा के किसी तरीके की आलोचना नही की जाती। ऐसा न करने का उद्देश्य यह होता है, जो ठीक ही है, कि एक डाक्टर दूसरे किसी डाक्टर की आलोचना न कर सके। यह बात निश्चित ही है कि वकीलो के पेशे के आचरण-नियम, कानूनो में उचित सुधार करने के रास्ते में सब से बडा रोडा है। फिर भी मैं समझता हू कि आचरण के ऐसे मानक बनाना वृत्ति के काम के लिए आवश्यक है जिन्हें वृत्ति के सदस्यो पर लागू किया जा सके। और यदि, जैसा कि मैं ने सुझाव दिया है, अनुसधान को उस जोखम का अग मान लिया जाय तो इस आरोप का खडन काफी हद तक किया जा सकता है कि पेशे के हितो के कारण मौलिकता न आ पाएगी। हम ब्रिटेन की चिकित्सा परिषद् को इस बात की अनुमति नही दे सकते कि वह दाइयो, जिला-नर्सों और स्वास्थ्य निरीक्षको का बडे पैमाने पर उपयोग इस आधार पर रुकवा दे कि वेतन्न पाने वाले पेशेवर लोगो का कोई भी सोपानतत्र, प्रेक्टिस करने वालो की वैयक्तिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से मेल नही खाता, और यह कि किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता के होने से सामान्य डाक्टरो

का क्षेत्र उतना ही कम हो जाता है।"[१] परन्तु ऐसा खतरा है तो यह इस बात का आधार है कि चरम नियन्त्रण पेशे से बाहर किसी के हाथ में रहे, न कि इस बात का कि पेशे को ही अपने मानक निर्धारित करने की शक्ति दी जाय। डाक्टरो की पेशे सबधी आदतो के विरुद्ध चाहे जो कुछ कहा जाय, मैं समझता हू कि यह बात फिर भी सच है कि उन के आचरण के मानक किसी भी अन्य वृत्ति के मानको से कही आगे है। पुनरीक्षण की शक्ति का मतलब यह नही है कि दिन प्रतिदिन हस्तक्षेप की शक्ति मिल जाती है। फिर भी, हम यह चाहते हैं कि यह आदत बने कि प्रत्येक दशाब्दी के बाद या कुछ आगे पीछे, किसी वृत्ति की पेशे सबधी आदतो की जाच करने के लिए एक छोटा सा आयोग बना दिया जाय। इस आयोग में विशेषज्ञ नहीं, वरन् ऐसे तटस्थ व्यक्ति होगे जिन्हें जनता का ध्यान हो और जो इस सबध में साक्ष्य इकट्ठा करेंगे कि पेशे के आचरण-नियमो का पालन कैसे हुआ है और वे इन में सुधार करने के तरीको का आविष्कार करने का प्रयत्न करेंगे। ऐसा करने से परिवर्तन-शीलता का अभाव नही रहेगा जिस के बारे में आजकल बहुत शिकायत की जाती है। इस से प्रथाओ को तोते की तरह इस प्रकार दोहराने की आदत रुक जायगी मानो वे प्रथाए अमर सत्य हो। इस से यह होगा कि वृत्ति से बाहर के लोग, जो उस में दिलचस्पी रखत हो, ऐसे वातावरण में सुझाव देंगे जिस में आज की अपेक्षा उन पर अधिक अच्छी तरह विचार किया जा सकेगा। उदाहरण के लिए, हम यह मान लेते है कि टूटी हड्डियो को जोडने वाला योग्यता प्राप्त व्यवसायी होना चाहिए, परन्तु जनसाधारण को यह जान कर सतोष होगा कि योग्यता प्राप्त व्यवसायी टूटी हड्डिया जोडने में कुशल है। आजकल यह बात तो तय है कि जब तक पेशे के ही व्यक्ति आलोचना न करे, आलोचना पर ध्यान नही दिया जाता। ऐसा आयोग अधिकृत रूप से उस आलोचना को व्यक्त कर सकता है, जो बाहर के लोग बहुधा करना चाहते है परन्तु जिसे निर्दिष्ट स्थान तक पहुचाने के साधनो का अभाव रहता है।

और अन्त में, मै समझता हू कि वृत्ति को यह आदत डालनी चाहिए कि राष्ट्रीय आवश्यकता के सम्बन्ध में वह जो कुछ समझती हो, उसे निश्चित रूप से व्यक्त करे। कुछ हद तक तो इसका प्रबन्ध मत्रणा समितियो की उस व्यवस्था द्वारा हो गया है जिसकी रूपरेखा में पहले ही बता चुका हू। परन्तु ये तो किसी भी दशा में सारी वृत्ति की ओर से राय नही प्रकट कर सकती और आवश्य ही इनका अधिकतर काम रहस्य के आवरण में होगा। स्थायी पदाधिकारियो का समूह, अपनी सुविधा के लिए, मत्री के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने के अवसर पर अपना एकाधिकार जमाने की स्वभाविक ही चेष्टा करता है। मैं समझता हू कि इस एकाधिकार को तोडने का बडा महत्त्व है। यदि चिकित्सा महा परिषद् डाक्टरी के पेशे की ओर से इस सम्बन्ध में राय प्रकट कर सके कि शिशुओं में मृत्यु का अनुपात कम करने के लिए कम से कम क्या नीति अपनायी जानी चाहिए, या अध्यापक पजीयन परिषद्, शिक्षा की कार्यकुशलता के लिए स्कूल में प्रत्येक

---

१ देखिए वालास की अवर सोशल हेरिटेज, पृष्ठ १३०, जहां यह पूरा हवाला उन्होंने अपनी विशेष टिप्पणी के साथ दिया है।

बच्चे के लिए कम-से-कम कितने घन फुट स्थान की आवश्यकता है—उस सम्बन्ध में सयुक्त नीति बना सके, या वकीलो के सयुक्त पेशे की परिषद् जेल-सुधारो के सम्बन्ध में जोर देकर कुछ कह सके तो यह प्रगति की ओर काफी बडा कदम होगा। ऐसे कृत्य में यह गुण भी होगा कि प्रत्येक वृत्ति का सदस्य जनता पर अपने अनुभव के प्रभाव के अनुसार कार्य करने के लिए तैयार हो जायगा। और स्पष्ट ही है कि उस अनुभव पर राज्य का अधिकार है, चाहे यह उस तक बहुत कम पहुचता है। सन्तति निरोध होना चाहिए—इस सम्बन्ध में डाक्टरो से अधिक कोई नही जानता, परन्तु हमें इस प्रश्न पर समुदाय के किसी अन्य समूह के विचारो की अपेक्षा डाक्टरो के विचारो का सम्भवत कम ज्ञान है। अभियुक्तो के लिए सफाई का सार्वजनिक वकील होना चाहिये, इस सम्बन्ध में वकीलो से बढ कर कोई नही जानता परन्तु इस प्रश्न पर वकीलो के विचारो से भी हम इतने ही अनभिज्ञ हैं जितने कि सन्तति निरोध पर डाक्टरो के विचारो से। यह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें, विभिन्न प्रदेशो में वृत्ति की त्रैमासिक बैठके विशेषतया लाभदायक हो सकती है। उनमें इस स्थान के पेशेवर लोगो के विचार जाने जा सकते है और विचार जानने में थोडी सी चतुराई से काम लेकर अधिकतर सदस्यो की राय जानने में कठिनाई नही होगी, जिसे उस समय प्रचलित राय कहा जा सकेगा। अन्यथा हमें वे नीतिया स्वीकार करनी पडेगी जो बुद्धि के अभाव की चरम-सीमा हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, टीके लगाने के प्रश्न को ही लीजिए। जो लोग सिद्धान्तत टीके के विरोध में होने के कारण इससे छूट पाने की माग करते हैं, उनकी माग के सम्बन्ध मे प्रधानत डाक्टरो की क्या राय है? आज इग्लैण्ड में बहुत से लोग यह समझते है कि इस विषय पर डाक्टरो में बहुत मतभेद है और डाक्टर मेकडोनेल द्वारा दिये गये निर्णायक आकडो का अध्ययन न कोई करेगा और न उन्हें समझेगा।[1] परन्तु यदि डाक्टर सामान्यतया अपने विचार प्रकट करें तो कानून में जो ढीलापन है, उसे दूर किया जा सकता है। वृत्ति के प्रयोजनो की पूर्ति के लिए इससे बढ कर और किसी बात की आवश्यकता नही कि उसके अपव्यय को रोका जाय। इस सम्बन्ध में वर्त्तमान अस्त-व्यस्तता को रोकने के साधनो का उपयोग जितनी जल्दी करने की चेष्टा की जाय उतना ही अच्छा है।

—७—

आर्थिक सस्थाओ का पुनर्निर्माण सदा सामाजिक बीमे की अवधारणा पर आधारित होना चाहिए। जिस प्रकार कोई व्यक्ति बीमा करा कर अपनी मृत्यु के परिणामो से अपने आश्रितो का सुरक्षण करता है, बिल्कुल उसी प्रकार समाज को आधुनिक जीवन के उन खतरो के विरुद्ध, जिनसे बचा जा सकता है, बीमे की व्यवस्था कर के अपनी रक्षा करनी चाहिए। जिस वर्ग का बीमा न हुआ हो, वह समाज पर एक बोझ होता है। और जिस वर्ग के बीमे की व्यवस्था हो, वह न केवल बोझ नही होता, बल्कि सारे समाज के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि अशदान के सिद्धान्त पर आधारित प्रत्येक बीमा योजना वास्तव में बचत पर आधारित होती है और बीमे के समुचित प्रबन्ध के तरीको से

---

१ बायोमीट्रिका खंड १, पृष्ठ ३७५ और खड २, पृष्ठ १३५

ऐसी बचत को न केवल व्यक्तिगत सुरक्षा बल्कि समाज की समृद्धि का साधन बनाया जा सकता है ।

मुझे यह बताने की जरूरत नही है कि स्वास्थ्य और बेकारी जैसे मामलो के सम्बन्ध में, पश्चिमी योरुप के दो मुख्य देशो में सामाजिक बीमे का सिद्धान्त पहले ही स्वीकार किया जा चुका है, और कोई व्यक्ति यह नही चाहता कि इसका परित्याग किया जाय जोकि स्पष्टतया क्रान्ति से बचने का मुख्य उपाय है। परन्तु सामाजिक बीमा तत्वत इस छोटे क्षेत्र तक ही सीमित नही रहना चाहिए। इस बात का कोई कारण नही है कि ससार के प्रत्येक नागरिक को सामान्यत निम्न बातो के विरुद्ध सुरक्षण क्यो न दिया जाय दुर्घटना या बीमारी या बुढापे के फल स्वरूप हुई असमर्थता (उस समय भी जब कि वह पेंशन, जो अशदायी न हो, ६५ वर्ष की आयु से मिलती है), बेकारी आदि। और इसी प्रकार, इसी सिद्धान्त के आधार पर, राज्य, विधवाओं और अनाथो के लिए, प्रसूति के लिए और माध्यमिक शिक्षा के काल तक बच्चो की शिक्षा के लिए धन देगा।

यहा हम ऐसे बीमे की बात कर रहे है जिसे अनिवार्य सामाजिक बीमा कहा जा सकता है। प्रत्येक प्रकार का लाभ ऐसा है जिसकी व्यवस्था करने की आवश्यक सावधानी राज्य को बरतनी चाहिए। ऐसा बीमा अनिवार्य होना चाहिए, न केवल इस लिए कि अन्यथा राज्य पर वित्तीय बोझ बहुत अधिक हो जायगा, बल्कि इसलिए भी कि इसका प्रबन्ध समुचित रूप से किया जाय तो लोगो में बचत करने की आदत बनती है और प्रत्येक नागरिक में यह भावना जागृत होती है कि अन्य नागरिको के हित में ही उसका हित है। मै यहा यह भी कहना चाहता हू कि इन रूपो में सामाजिक बीमे की कार्यान्विति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उन्हें एकत्रित करके एक राष्ट्रीयकृत उद्योग का रूप दिया जाय[1]। इस क्षेत्र में तो प्रकृत रूप से एकाधिकार होना चाहिए और इसमें व्यक्तिगत कम्पनियो के एक दूसरे से स्पर्धा करने के लिए कोई स्थान नही है। इस स्पर्धा से तो अपव्यय होता है जिसका बोझ अनावश्यक रूप से उन लोगो पर पडता है जो बीमा कराते है। व्यक्तिगत औद्योगिक बीमे के सचालन की जाच से पता चलता है कि इगलैण्ड में बीमे की जितनी किस्तें ली जाती है, उनका केवल ४८ प्रतिशत ही बीमा कराने वालों को वापस पहुचता है और उनपर मुनाफा बहुत अधिक कमाया जाता है[2]। इसके अतिरिक्त इतनी अधिक पालिसिया व्यपगत हो जाती है कि बीमा कराने वालो को प्रतिवर्ष बहुत हानि होती है। प्रबन्ध का खर्च, सचालको को दिया जाने वाला धन, एजेन्टो को कमीशन, किस्ते उगाहन की लागत, विज्ञापन का खर्चा और दफ्तरो की इतनी अधिक सख्या जो बिल्कुल भी आवश्यक नही— यह सब बाते अपव्यय की द्योतक है जिसे बीमे का प्रबन्ध राज्य के हाथ में देकर फौरन रोका जा सकता है।

---

१. देखिए सर डब्ल्यू० बेव्रिज की इन्शोरेंस फार आल में विभिन्न स्थानों पर। उनके आंकड़े इग्लैण्ड की वर्तमान योजना के आधार पर है, परन्तु इस बात का कोई कारण नहीं है कि बीमे की बढ़ी हुई किस्तों के आधार पर इन्हें क्यों न बढाया जाय।

२. देखिए हॉलमैन ग्रेगरी रिपोर्ट, १९२२ मत्रिमडल का ज्ञापन सख्या ८१६ और सर डब्ल्यू० बेवरिज की टिप्पणी उनकी पूर्वोल्लिखित पुस्तक में, पृष्ठ १० पर।

परन्तु इसका मतलब यह नही है कि प्रबन्ध केन्द्रित रहे। इस बात का कोई कारण नही है कि वित्त का सामान्य नियत्रण एक ही दफ्तर से किया जाय परन्तु प्रबन्ध में काफी स्थानीय स्वायतता रहे। मैं तो यह समझता हू कि एक बार यह बात स्वीकार कर ली जाय कि राष्ट्र के लिए कुछ न कुछ बीमे की जरूरत है तो इसके प्रबन्ध का सीधा सादा रूप तो यह होगा कि प्रबन्ध स्थानीय शासन के साधारण एकाशो को सौंप दिया जाय। इसमें एक बहुत अच्छा गुण यह होगा कि राष्ट्र के लिए आवश्यक न्यूनतम बीमे से अधिक की व्यवस्था करने की योजनाओ के सम्बन्ध में स्थानीय सत्ता प्रयोग कर सकेगी और इस प्रकार सामाजिक कल्याण के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में पहलकदमी का विकास कर सकेगी। इस प्रकार बीमा सम्बन्धी नीति का स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यवाहियो से समन्वय सम्भव होगा और किसी नगरपालिका परिषद् द्वारा मकानो की व्यवस्था के लिए किये जाने वाली कार्यवाहियो में तालमेल रखा जा सकेगा। उदाहरण के लिए, यदि मांचेस्टर में बीमारी सम्बन्धी सहायता के दावे बहुत अधिक हो, तो चिकित्सा पदाधिकारी से उसके लिए जवाब तलब किया जा सकेगा। निस्सन्देह मैं यह मान कर चलता हू कि किसी क्षेत्र या वृत्ति का न्यूनतम बीमे का एकाधिकार मिलने की प्रथा समाप्त हो जायगी। ऐसी किसी योजना का सार यह है कि यह सभी के लिए होनी चाहिए और यह व्यक्तिगत मुनाफे के क्षेत्र से अलग रहनी चाहिए। मैं समझता हू कि यह भी स्पष्ट ही है कि किसी भी स्थानीय सत्ता को यह अनुमति नही होनी चाहिए कि वह केन्द्रीय सत्ता के अनुमोदन के बिना बीमे के सम्बन्ध में प्रयोग प्रारम्भ कर दे। ज्यादा से ज्यादा ज्ञान प्राप्त करके इस प्रकार के मामलो में प्रबन्ध और पूजी लगाने सम्बन्धी जोखिमो से अपना बचाव करना चाहिए।

मेरा कहना यह है कि अनिवार्य बीमे का क्षेत्र ऐसा है जिसमें मुनाफा कमाने की भावना के लिए कोई स्थान नही है। यह तो अनिवार्य सामाजिक हानि से समुदाय की रक्षा के लिए है और इस रक्षा का तर्कसगत परिणाम यह है कि जिस क्षेत्र में इस बीमे की व्यवस्था हो, उसमें बीमा कराने वालो को, यथासम्भव, अधिकतम लाभ हो। अनुभव के आधार पर जैसा इस बीमे का क्षेत्र निर्धारित होगा, उससे आगे की समस्या विभिन्न प्रकार की है। आग, सेंध लगने या मोटरकार से होनेवाली दुर्घटना से रक्षा और अपने बच्चो के लिए उच्चतम शैक्षिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करने की इच्छा—ये सब बीमे के ऐसे उपाय है, जिन्हें नागरिक की व्यक्तिगत सकल्पना पर छोड देना ही अच्छा है। सम्भव है कि वह यह सोचे कि उसके घर में चोरी होने की इतनी कम सम्भावना है कि उसे जोखिम से बचने के लिए किस्तें देना ठीक नही रहेगा। सम्भव है कि वह यह निर्णय करे कि यदि उसका बेटा इस योग्य है कि वह विश्वविद्यालय की शिक्षा से लाभ उठा सके, तो उस की प्राप्ति के लिए सामान्य साधन ही समुचित हैं। फिर भी मैं समझता हू कि राज्य की आवश्यकताए पूरी होने के बाद व्यक्तिगत बीमे के जो रूप बच रहते हैं, उनमें बीमे पर सरकार का एकाधिकार होने के निर्णायक आधार हैं। बीमे के प्रबन्ध की प्रत्येक अवस्था में प्रभारो में बचत की जायगी और इसके फलस्वरूप बीमा कराने वाले को अधिक लाभ पहुचाने का साधन मिल जायगा। अमरीका के सैनिको के जीवन का बीमा कराने का जो अनुभव हुआ है वह इस बात का साक्षी है और उससे पता चलता है कि बीमे की राष्ट्रीय

कृत व्यवस्था का प्रबन्ध कैसे कुशलता से किया जा सकता है। मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि सरकार डाक घर से उचित मुनाफा क्यों न कमाए और इस मुनाफे का उपयोग किसी भी ऐसे प्रयोजन के लिए किया जा सकता है जो प्रत्येक वर्ष वित्त मत्री द्वारा अपना कार्यक्रम पेश किये जाने के समय सबसे अच्छा जचे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय-कृत बीमे के फलस्वरूप सरकार के पास लगाने के लिए बहुत सी रक्षित पूजी हो जायगी जिसका उपयोग औद्योगिक विकास के लिए बडे ठोस तरीके से किया जा सकता है। और न हमें यह सोचना चाहिए कि सेवा ढीली ढाली रहेगी या बीमे के नये रूपो के सम्बन्ध में अपर्याप्त प्रयोग किये जायगे। ऐसे विभाग के साथ आलोचना करने वाले सगठित निकाय हो सकते है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि किसी अन्य उद्योग में सम्भव है। जिन व्यक्तियो ने बीमा करा रखा हो, वे अपनी रक्षा के लिए उन सभी उपायो को काम में ला सकते है जिन का उपयोग वे आजकल करते है। और सेवा के लिए जो इतने अधिक शुल्क लिए जाते है वे बीमा उद्योग के इस प्रकार एकीकरण के फलस्वरूप बेकार हो जायगे।

मैं समझता हू कि यह कहने की जरूरत नही है कि सामाजिक बीमे की समुचित व्यवस्था का समुदाय के लिए कितना अधिक महत्व है। राज्य का चाहे जो भी रूप रहे, यह अपने प्रस्तुत रूप में ही रहे या लगभग साम्यवादी राज्य ही बन जाय, इसे जीवन के अनिवार्य खर्च चलाने के लिए व्यवस्था करनी पडेगी। लोग बीमार तो सदा पडेंगे ही, बुढापे से भी नही बचा जा सकता, और रूस में फसल कम होने या भारत में वर्षा कम होने के फलस्वरूप जो विषमताए उत्पन्न होती है उन्हें कोई अच्छी से अच्छी योजना नही रोक सकती। जिस भी पिता को अपने बच्चो को शिक्षा दिलानी है वह देखेगा कि उस शिक्षा का बोझ बढ रहा है। इसलिए बुद्धिमत्ता तो स्पष्टतया इसी बात मे है कि उन समस्याओ को ऐसे ढग से हल किया जाय कि सारे समुदाय पर कम से कम बोझ पडे। और न हम किसी को उन दायित्वो से छुटकारा दिला सकते है, जो इन समस्याओ के फलस्वरूप पडते है। इसलिए राज्य का बीमा उतना ही स्पष्ट रूप से आवश्यक हो जाता है जितना कि राज्य का डाकघर या राज्य की पुलिस। और न्यूनतम सेवा का जितना ऊचा स्तर रखा जायगा, अन्त में, समुदाय उतना ही समृद्ध होगा। हमे आधुनिक राज्य के इतनी अधिक अनुतोष सेवाओ की जरूरत नही पडेगी और जिन समस्याओ के कारण निर्धनो की सहायता का कानून बनाना आवश्यक हुआ है उन्हें बीमे के धरातल पर लाने के बाद ऐसे कानूनो की व्यवस्था भी आवश्यक नही रहेगी। जब अस्पताल चिकित्सा-बीमा-निधि में से अपनी सेवाओ के लिए धन ले सकेगा और जब नागरिक अस्पताल में अपने अधिकार के आधार पर जा सकेगा—क्योंकि उसे मालूम होगा कि उसके इलाज का खर्च उस बीमे से पूरा होगा जिसकी किस्ते उसने दी हैं—अस्पताल यदा कदा दिए जाने वाले चन्दे पर निर्भर रहने के लिए विवश नही रहेंगे। आजकल अस्पतालों में अपर्याप्त सामान का जो खतरा बना रहता है वह नही रहेगा और प्रयोग करना सम्भव हो सकेगा। सक्षेप में, इस साधन द्वारा हम जीवन की निश्चितताओ में अपार वृद्धि कर सकते हैं और इस प्रकार कर सकते हैं कि स्वय नागरिक ही वैयक्तिक रूप में उन के निर्माण का साधन बने। पिछले पच्चीस वर्षों के अनुभव ने इस

सिद्धान्त को राज्य के जीवन के लिए प्रधान सिद्धान्त बना दिया है। हमारा काम यह है कि इसके प्रवर्त्तन का क्षेत्र इस प्रकार बढाए कि इससे जो कुछ भी लाभ हो सकता हो वह पूरी तरह उठाया जाय।

—८—

मैंने इस सारी पुस्तक में इस बात पर जोर दिया है कि किसी समुदाय में राजनीतिक सम्बन्धो में समानता का बडा महत्व है। मैंने यह भी कहा है कि राजनीति में समानता की धारणा का आधार किसी राज्य की सम्पत्ति सम्बन्धी व्यवस्था होती है। किसी ऐसी व्यवस्था में जो हमारी व्यवस्था जैसी व्यक्तिवादी है, सदा वही तरीका यह निर्धारित करेगा कि अधिक शक्ति का वितरण कैसे हो, जिससे सम्पत्ति का वितरण किया गया हो। और फिर यह भी अनिवार्य है कि राजनीतिक शक्ति कैसे वितरित होती है, इसका निश्चय भी मुख्यत आर्थिक शक्ति ही करती है। यह इसलिए कि जो न केवल इस बात का निर्णय करते है कि किस वस्तु का उत्पादन हो बल्कि उत्पादन का तरीका भी नियत करते है, स्पष्टतया उन्ही लोगो का प्रभुत्व अन्य व्यक्तियो के कार्य-जीवन पर रहता है। निस्सन्देह उनके निर्णयो पर ऐसी बातो का बडा प्रभाव पडेगा जिनमें आर्थिक भावनाओ को आशिक स्थान ही प्राप्त है। वे मानवीय व्यवहार करने की माग को मानेगे जैसे कि कारखाना अधिनियमो मे हुआ है। वे मजदूरो की सगठित शक्ति के आगे झुक जायगे, जैसे कि कोयला खानो में वजन की पडताल करने वालो की नियुक्ति करके किया गया है। परन्तु राजनीतिक व्यवस्था में मलत उनके हितो का उस हद तक प्रतिबिम्ब पडेगा जिस हद तक वे सगठित रूप में उनके प्रति सजग है। और औद्योगिक पूजी के इतने बडे पैमाने पर केन्द्रीकरण के युग में—जैसाकि हमारा युग है—यह सम्भव नही है कि यह सजगता न हो। इसलिए जब तक किसी सम्प्रदाय में सम्पत्ति की शक्ति व्यक्तित्व के अधिकारो पर प्रभुत्व जमाने की न हो, उन अवसरो का परिसीमत करना आवश्यक है, जिनका लाभ यह शक्ति उठाती है।

औद्योगिक सगठन का जो रूपरेखा यहां बताई गयी है उसमें, कम से कम आशिक रूप में तो, ऐसे परिसीमन की व्यवस्था पहले ही की जा चुकी है। यह इसलिए कि राष्ट्रीय-कृत उद्योग की परिभाषा यही है कि उसमें निजी मुनाफे के लिए कोई स्थान न रहे। इसमें सन्देह नही कि यद्यपि राष्ट्रीय उद्योग के सदस्यो में ऐसे लोग रहेंगे जिन्हें, सापेक्षतया, बडे वेतन दिए जायगे, परन्तु उन की शक्ति उस वेतन से जनित नही होगी बल्कि उस सेवा से जनित होगी जोकि वे करते हो। और इस सेवा के करने का ढग ऐसा होगा कि निरकुश नियत्रण की सम्भावना नही रह जायगी। उद्योग के जिस क्षेत्र को मैंने उपभोक्ताओ की सहकारिता का प्रकृत क्षेत्र कहा है, उस में भी यही बात है। यहा भी, मुनाफे के माध्यम द्वारा सम्पत्ति का जमा होना आपूर्व ही हमारी चर्चा के क्षेत्र से बाहर है। सम्भव है कि किसी विशेषज्ञ को काफी वेतन मिले, परन्तु वह उद्योग से उतना अधिक नही कमा सकेगा जोकि उन लोगो की विशेषता है जिनके हाथ में व्यवसाय की बागडोर है।

जहा तक व्यक्तिगत उद्योग का सम्बन्ध है, यह असम्भाव्य नही है कि कुछ लोग बहुत

अधिक धन कमा लेंगे। जब्ती को छोड मुझे तो कोई ऐसा उपाय दिखाई नही देता जिससे, उदाहरणार्थ, मि० बर्नार्ड शॉ जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को प्रचुर मात्रा में धन कमाने से रोका जा सके। मै समझता हू कि उद्योग में भी इतना धन कमाया जा सकेगा परन्तु उसके नियत्रण के जो तरीके यहा बताए गए है, उनके द्वारा यह धन सग्रह न्यायोचित होगा। इस प्रकार उद्यम के फल में उत्पादक और उपभोक्ता, दोनो का बराबर बराबर हिस्सा रहता है और बाजार में पूजी के मूल्य के आधार पर पूजीपति को जो हिस्सा मिलना चाहिए उससे कही अधिक उसे मिलता है। जब लोग बचाना चाहें और पण्यो का उपभोग स्थगित करने का फल चखना चाहें तो उन्हें ऐसी अनुमति अवश्य होनी चाहिए, परन्तु साथ ही यह शर्त रहनी चाहिए कि उनके बचाए हुए धन के विनियोजन का अथ यह नही है कि उन्हें निरपेक्ष औद्योगिक नियत्रण की शक्ति प्राप्त हो गयी है। जब किसी व्यक्ति की आय अत्यधिक हो तो उसपर अनुपातत आय-कर लगा कर उस खतरे को रोका जा सकता है। मै समझता हू कि हम जिस समुदाय की कल्पना कर रहे है उसमें कर का बोझ बडी-बडी आय वालो पर डाल कर छोटी आय वालो पर कर का बोझ कम किया जा सकता है। बडी आय आज के युग में अमरीका के करोडपति वर्ग की विशेषता है।

मैं समझता हू कि वास्तविक समस्या के दो पहलू है। सब से पहला प्रश्न तो उन शर्तों का है जिनके आधार पर व्यक्तिगत उद्योगो को सार्वजनिक या लगभग सार्वजनिक स्वामित्व में हस्तान्तरित किया जायगा और दूसरा प्रश्न आनुवशिकता का है। मै समझता हू कि इस दूसरे प्रश्न को पहले निबटा लेना चाहिए क्योकि इसके विश्लेषण से हम जिन निष्कर्षों पर पहुचेगे, मुख्यत उन्ही के आधार पर दूसरे प्रश्न का निर्णय होगा। मैं यह तो पहले ही कह चुका हू कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को केवल इस सिद्धान्त के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है कि सम्पत्ति कृत्यो के कारण होनी चाहिए। मै सेवा करता हू, इसलिए सम्पत्ति का मालिक हू, परन्तु यदि सेवा किसी और ने की है तो मै सम्पत्ति का मालिक नही हो सकता। और कम से कम सिद्धान्त रूप में, मेरे काम और मेरी धन सम्पदा में कोई ऐसा अनुपात होना चाहिए जिसे नापा जा सके। उदाहरण के लिए, किसी महान् कवि को इस योग्य होना चाहिए कि वह अपने लिए एकान्त की व्यवस्था कर सके जिसके बिना महान् काव्य का सृजन असम्भव है। यह इसलिए कि यद्यपि राबर्ट बर्न्स गावो के कठिन परिश्रम के शान्तिपूर्ण वातावरण में मुखरित हो सकता था, परन्तु यह सम्भव नही है कि वह ग्लासगो की गन्दी बस्तियो के विषादयुक्त वातावरण में भी गा लेता। कोई प्रधान मत्री केवल ऐसी परिस्थितियो में अपना काम कर सकता है, जिनके लिए उससे अधिक आय आवश्यक है जो कि पुलिस के किसी सिपाही के लिए आराम से रहने को काफी है। मै यह नही कहता कि इस नापे जा सकने वाले अनुपात तक आसानी से या प्रत्यक्ष ही पहुचा जा सकता है परन्तु अन्तत हमे इस तक पहुचने का रास्ता तलाश करना होगा।

तो यदि यह तय है कि मैं अपने काम के कारण ही सम्पत्ति का स्वामी हो सकता हू, तो उस से यह परिणाम निकलता है कि प्ररिक्थ का कोई निरपेक्ष अधिकार हो ही नही सकता। इसलिए प्ररिक्थ पर दो प्रकार के परिसीमन होगे। एक तो उस सम्पत्ति पर होगा जो मै किसी के नाम कर सकता हू और दूसरा उन व्यक्तियो पर जिनके नाम सम्पत्ति की

जा सकती है। राशि के परिसीमन पर भी दो दृष्टिकोणो से विचार किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि कुल धन सम्पदा पर चरम परिसीमन होगा। एक निश्चित राशि से अधिक सभी सम्पदाओ का उत्तराधिकारी राज्य होगा। दूसरी बात यह है कि सम्पत्ति की इस राशि पर परिसीमन होगा जो कि कोई व्यक्ति आनुवशिकता में प्राप्त कर सकता है।

वर्तमान व्यवस्था का पक्ष लेने वाले इस सम्बन्ध मे यह तर्क देते है कि इस प्रकार सम्पत्ति के अधिकारो पर कुठाराघात होता है। इस तर्क का उत्तर जान स्टुअर्ट मिल ने बहुत खूबी से दिया है। उन्होने लिखा है[1] सम्पति की धारणा ऐसी वस्तु नही है जो सारे इतिहास में एक सी रही हो या जिस में परिवर्तन न हो सकता हो यह धारणा किसी भी अवस्था में उस समय किसी समाज विशेष के कानून या रीति-रिवाजों के द्वारा वस्तुओ के सम्बन्ध में दिए गये अधिकारो की द्योतक मात्र ही है। परन्तु न तो इस अवस्था में और न किसी और अवस्था में किसी काल या स्थान के कानून या रीति रिवाज सदा एक-सा रह सकते है। यह आवश्यक नही है कि कानूनो का रीति रिवाजो में प्रस्तावित सुधार केवल इसी कारण से आपत्तिजनक माना जाय कि उसे स्वीकार करने का मतलब यह होगा कि मानवीय मामलो को सम्पत्ति की वर्तमान धारणा के अनुकूल न बना कर इस धारणा को मानवीय मामलो के विकास और सुधार के अनुकूल बनाया जा रहा है।" इस समस्या को हल करने का कोई भी और ढग इस योग्य नही है कि उसे वैज्ञानिक समझा जा सके। आनुवशिकता या प्ररिक्थ सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध मे हमारे विचार आज से एक पीढ़ी पहले के विचारो से सर्वथा भिन्न है। ये विचार देश और काल के अनुसार बदलते रहते हैं। वे किसी सोचे समझे दार्शनिक सिद्धान्त से जन्म नही लेते और सदा नयी आवश्यक्ताओं और नए विचारो के अनुकूल बनते चले आए हैं।

मोटे तौर पर हम ऊपर बताए गए परिसीमनो के अधीन आनुवशिकता पर तीन विशेष दृष्टिकोणो से विचार कर सकते है। आनुवशिकता तीन प्रकार की हो सकती है, (क) पत्नी तथा बच्चो के लिए (२) सपिड सम्बन्धियो या मित्रो के लिए और (ग) इस के अतिरिक्त धर्मार्थ कामो के लिए छोडे गये धन की समस्या भी है। पत्नी और बच्चों के लिए आनुवशिकता के, स्पष्टत, दो पहलू हैं। बच्चे कच्ची उमर के हो या वयस्क हो परन्तु आधुनिक युग में पत्नी तो अधिकतर स्वय अपनी जीविका कमाती होगी। हम सबसे अधिक सरल उदाहरण ऐसे परिवार का लेते है जिसमें पत्नी पूरी तरह पति पर निर्भर है और बच्चे स्कूल की छोटी कक्षाओ में पढते है। यदि सम्पत्ति कृत्य के आधार पर मिलनी चाहिए तो पत्नी तथा बच्चो को क्या पाने का अधिकार है? मेरा कहना यह है कि पत्नी को आनुवशिकता में उतनी आय प्राप्त होनी चाहिए जितनी कि उन आदतो को बनाए रखने के लिए काफी होगी जोकि उसे अपनी पति के जीवन काल में पड चुकी हो

१. सर डब्ल्यू० जे० एशले द्वारा सम्पादित मिल की "प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानोमी" पृष्ठ ९८९, के सस्करण में टिप्पणी 'के०' से १८४९ में फोर्टनाइटली रिव्यू में उद्धृत। समाजवाद पर मिल के ये लेख उन की मृत्यु के बाद छपे थे। आनुवशिकता के सम्बन्ध में मिल के पहले के विचारों के लिए इसी पुस्तक का पृष्ठ २२१ देखिए।

और साथ ही जिस से वह मोटे तौर पर उस औसत जीवन स्तर को बनाए रख सके, जिसकी वह अपने पति के जीवन के अन्तिम दस वर्षों में आदी हो गयी थी। इस प्रकार वह इस योग्य हो जायगी कि अतीत के साथ उसका सम्पर्क बना रह सकेगा जिसका छूटना बहुधा सतत् प्रत्याशा के कारण बडा दु खदायी और कठिन हो जाता है और ऐसा होना स्वभाविक है। परन्तु इस आय पर उसका अधिकार अपने जीवन में ही या पुन विवाह होने तक ही है। उसकी मृत्यु के बाद उस आय में उसका हि सा समाप्त हो जाता है और वह राज्य को अव-शिष्ट रिक्थग्राही के रूप में मिल जानी चाहिए। इससे इस रिक्थ का प्रयोजन पूरा हो सकता है और इसमें ऐसा कोई अधिकार निहित नही है कि जो कुछ उसने कमाया नही है वह किसी और के नाम पर कर सके। यदि वह पुन विवाह कर लेती है तो न्याय तो यही है कि उसका उस आय के उतने भाग पर अधिकार हो, जो उस के दूसरे पति की आय के साथ मिल कर उस स्तर तक हो जाय जो पुन विवाह से पहले उसका था। परन्तु इस का तर्कसगत परिणाम यह भी है कि यदि उसके दूसरे पति की आय, वैधव्य में उसकी आप से अधिक हो, तो उसकी वैधव्य कालकी आय राज्य को मिल जानी चाहिए।

मैंने जो उदाहरण लिया है उसमें बच्चो की क्या स्थिति होगी ? स्पष्ट ही है कि अवश्यकता के दौरान में उन्हें अपने गुजारे के लिए इतना धन पाने का अधिकार है जिस से वे उत्तम शिक्षा प्राप्त और सके और उस से लाभ उठा सके। वे इस योग्य होने चाहिए कि वे जीवन के सघर्ष में रत हो सकें और ऐसा करने में उनके पिता की अकाल मृत्यु का उनपर कोई बुरा प्रभाव न पडे। परन्तु मै समझता हू कि पिता की सम्पदा पर उनका ऐसा अधिकार नही माना जा सकता, जिससे वे यौवन काल के बाद भी केवल स्वामित्व के बल पर जीवन-यापन कर सके। वह उनके लिए ऐसा धन होगा जो उन्होंने नही कमाया है, इसलिए उसपर उनका अधिकार नही होगा। किसी भी बच्चे को अपने माता पिता से यह आशा करने का अधिकार नही कि वे उसके लिए ऐसी परिस्थितिया छोड जाय कि उसे परिश्रम न करना पडे। यह इसलिए कि इस आशा का तो यह मतलब होगा कि उन्हें जोको की तरह समाज पर पलने के लिए छोड दिया जाय। परन्तु इसमें सदेह नही कि समाज इस बात को स्वीकार कर सकता है कि वयस्कता के काल में उन्हें इतनी आय होती रहे जिससे उन्हें काम की आवश्यकता से छुटकारा तो नही मिलेगा परन्तु उनके लिए कुछ अधिक सुख सुविधा का जुगाड हो जायगा। मै समझता हू कि हम इस तरीके से आनुवशिकता की वर्त्तमान व्यवस्था का रूप इस प्रकार बदल सकते हैं कि उसका नैतिक औचित्य अधिक हो जायगा। परन्तु वे इस आय को पूजी के रूप में उपयोग में नही ला सकेंगे बल्कि केवल आय की तरह ही बरत सकेंगे। उनकी मृत्यु पर फिर राज्य इसका अधिकारी बन जायगा। यदि वे अपने बच्चो के लिए कुछ व्यवस्था करके जाना चाहते है तो अपने परिश्रम से करे। उन्हें यह अनुमति नही दी जानी चाहिए कि वे परिश्रम किये बिना ही अपने बच्चो के लिए कुछ व्यवस्था कर जाय। हम किसी सम्पदा को ऐसा स्थायी विग्रह नही समझ सकते जिसके सप्राण व्यक्ति निष्प्रयोजन अनुबध हो।

और फिर ऐसे मामलो मे आनुवशिकता कैसे निश्चित हो जहा पिता की मृत्यु पर उसके बच्चे वयस्क हो ? तो या तो वे स्वय अपनी जीविका कमा रहे है और वह कुछ

प्राप्त कर रहे हैं जिसका पात्र समाज उन्हें समझता है और या अपने पिता की आय पर पल रहे हैं जैसे कि अविवाहित पुत्री की दशा होती है जो अपने पीहर मे सजावट की वस्तु के बराबर होती है। मेरा कहना यह है कि पहली दशा में तो न्याय यही है कि उनमे आय में उतनी वृद्धि हो जाय जिस से उन्हें पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सुख-सुविधा हो जाय परन्तु यह वृद्धि इतनी न हो कि बच्चे केवल स्वामित्व के बल पर ही जीवित रह सके। दूसरी दशा में, जहा भी सभव हो, पुत्री के लिए उतने समय तक के लिए ऐसी आय की व्यवस्था की जाय जिससे उसे स्वय अपना गुजारा चलाने का प्रशिक्षण मिल सके और जहा यह सभव न हो, उसके लिए अपने जीवन काल में उचित सुख-सुविधा जुटाने के लिए आवश्यक आय की व्यवस्था की जाय। इस दृष्टिकोण का सीधा सा कारण है, जिसे मिल ने सक्षेप में इस प्रकार प्रकट किया है—"किसी भी व्यक्ति को इस बात पर कोई शिकायत नही होनी चाहिए कि विवाह करने और परिवार के भरण पोषण के लिए उसे अपने ही परिश्रम पर निर्भर रहना पडता है।"[१]

मैं इस बात को मान कर चलता हू कि पिता ने अपनी वसीयत मे चाहे किसी प्रकार अपने सपत्ति का बटवारा किया हो—ये सिद्धात न्यायोचित हैं। मैं यह भी मान लेता हू कि यदि वह बिना वसीयत किए मर जाय तो उसके बच्चो को उसकी धन-सम्पत्ति में, जिस की ओर यहा सकेत किया गया है, बराबर हिस्सा मिलेगा और यह भी कि वह अपनी पत्नी और बच्चो को—यदि वे वैध आयु से छोटी उम्र के हो—अकारण ही अपनी धन-सम्पत्ति में हिस्से से वचित नही कर सकता परन्तु यदि वे स्वय अपने परिश्रम पर निर्भर हो तो वह बिना कारण उन्हें अपनी सम्पत्ति में हिस्से से वन्चित कर सकता है। परन्तु मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि सिवाए क्राति के और किसी तरीके से यह आशा नही की जा सकती कि इन सिद्धातो को एक ही बार मे व्यावहारिक रूप दे दिया जाय। अधिक सभावना तो इस बात की है कि हम आनुवशिकता के उत्तरोत्तर ह्रास की कई अवस्थाओ में से गुजरेंगे। हम मरणोत्तर शुल्क और आनुवशिकता–कर में वृद्धि करते जायेंगे। हम पाच सौ पौंड तक की सम्पदाओ को अविभक्त रहने देंगे परन्तु हम बडी सम्पादाओ के विभाजन के लिए उस समय तक विवश करते रहेंगे जब तक कि किसी करोडपति की सम्पदा का वह भाग जो किसी एक व्यक्ति को आनुवशिकता में मिल सकता है, एक प्रतिशत से अधिक नही होगा। मैं केवल पत्नी या बच्चो के प्रत्यक्ष आनुवशिकता की ही चर्चा कर रहा हू। मेरा उद्देश्य यह है कि वह स्थिति उत्पन्न न होने पाए जिसका वर्णन प्रोफेसर क्ले ने समुचित रूप से किया है। उन्होने लिखा है[२] कि—"जब कोई करोडपति मरता है तो उसका स्थान एक और करोडपति ले लेता है। इस प्रकार के प्रस्ताव का उद्दश्य यह है कि एक पीढी के समाप्त होने पर उसकी अर्जित सम्पदा बिखर जाय, सम्पत्ति का निरन्तर पुनर्विभाजन होते रहने की प्रथा चालू की जाय और बजाय इसके कि कुछ लोगो के पास बहुत अधिक धन सम्पदा हो, बहुत से लोगो के पास थोडी थोडी धन सम्पदा रहे। परिवर्तन किस गति से होता है यह तो उस

---

१ प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानोमी (एशले द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २२५

२ प्रापर्टी एड इन्हेरिटेन्स, पृष्ठ २९।

पैमाने पर निर्भर होगा जिसे हम अपनायेगे और उसमें उत्तरोत्तर कमी की गुजाइश इस बात पर निर्भर होगी कि समाज में समानता की इच्छा कितनी तीव्र है।"

सपिंड आनुवशिकता की समस्या भिन्न प्रकार की है। यह तो माना जा सकता है कि किसी व्यक्ति को अपने बच्चो के आर्थिक कल्याण में तत्कालिक और प्रत्यक्षा दिलचस्पी होगी। परन्तु यह मानने का कोई कारण नही कि अपने चचेरे-मौसेरे भाइयो या भतीजो-भानजो के प्रति भी उसकी वही भावना रहेगी, हा, उनके प्रति साधारण सद्‌भावना रहना तो और बात है। इसलिए जब किसी व्यक्ति के बच्चे न हो और वह बिना वसीयत किए मर गया हो तो मै समझता हू कि इस बात का कोई कारण नही है कि उसकी सम्पदा अप्रत्यक्ष दायादो को मिले। यह नही माना जा सकता कि धन सम्पदा उनकी ओर से इकट्ठी की गयी थी। यदि इस के साक्ष्य में प्रमाण दिए गये हो, तो वे वसीयत के आधार पर निश्चित प्रमाण होने चाहिए। सपिंड सम्बन्धियो को यह अधिकार नही कि वे आनुवशिकता की आशा करें। आबद्ध सम्पदाओ को छोड, ऐसी आनुवशिकता अधिकतर सभवत अप्रत्याशित ही होती है। इसलिए मेरा कहना यह है कि सामान्यता सिद्धात यह रहना चाहिए जब कोई व्यक्ति बिना वसीयत किए मर गया हो, और उसके बच्चे न हो तो राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उसकी सपदा सभाल ले। कुलागत वस्तुओ के लिए विशेष व्यवस्था करना आसान होगा। बल्कि यदि उस सामान को बेचा न जाय तो मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि उन्हें रिक्थ शुल्क से क्यो न विमुक्त किया जाय। मुख्य उद्देश्य तो यह है कि ऐसे व्यक्तियो को अकस्मात सम्पदा न मिल जाय जिनके बारे में यह नही माना जा सकता कि केवल इसलिए कि सम्पत्ति छोडने वाला बिना वसीयत किए मर गया, इसलिए उसकी मन्शा यही थी कि इनकी रक्षा की जाय।

मैं समझता हू कि जहा वसीयत वास्तव में की गयी हो, वहा स्थिति कुछ भिन्न होगी। इस दशा में रिक्थ की भावना प्रशसनीय हो सकती है। सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने मित्र द्वारा की गयी भलाई या सबधी द्वारा दिखाए गए प्यार के लिए प्रतिकर देना चाहता हो। यहा यह कहा जा सकता है कि साधारणता दो सिद्धातो के आधार पर ऐसे मामलो का निर्णय किया जाना चाहिए। यदि किसी ने किसी अन्य को ऐसी भेंट दी हो जिससे उसकी आय में कोई विशेष वृद्धि नही होती, अर्थात् उसे पाने वाला उसके कारण इस योग्य नही हो जाता कि स्वामित्व के बल पर ही जिए, तो मै समझता हू कि ऐसी भेंट पर कोई शुल्क न लगाया जाय तो न्याय के सिद्धातो को ठेस नही पहुचती। हो सकता है कि ऐसी भेंट का वास्तव मे महत्व हो, जिस भावना से वह दी गयी है वह तो अलग रही। उदाहरण के लिए, किसी अध्यापिका को दो सौ पौंड रिक्थ मिल जाय तो सभव है कि वह उस राशि को यात्रा पर खर्च करने का फैसला करे, जिसे कि वह अपने जीवन में रोचकता लाने के लिए आवश्यक समझती हो। इस प्रकार के मामलो में राज्य द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता जान नही पडती, क्योकि ऐसी भेट से कोई ऐसी शक्ति प्राप्त नही हो सकती जो समुदाय के जीवन पर विशेष प्रभाव डाल सके। और, समुचित परिवर्तनो के साथ, ऐसे मामले में भी राज्य द्वारा हस्तक्षेप का कोई कारण दिखाई नही दता, जहा कोई व्यक्ति अपनी उस बहिन या

भानजी के लिए सपत्ति छोड जाय जो वर्षों के साथ उसी घर में रही हो। यह उचित ही है कि वह ऐसे स्नेह को उसके लिए समुचित आय की व्यवस्था कर के पुरस्कृत करे जिसकी पूजी उसकी मृत्यु के बाद राज्य को मिल जायगी। परन्तु जहा बडी राशि का प्रश्न उठता है, उसके परिसीमन के लिए निर्णायक कारण है। विशेषकर आगल-सेक्सन समुदायो में रिक्थ के साथ ऐसी परिसीमनकारी शर्तें होती है, जिनसे रिक्थग्राही की काम की स्वतन्त्रता पर बडे कठोर बधन लग जाते है। उदाहरण के लिए, विशेष कालावधि में विवाह की शर्त पर या इस शर्त पर दिये गए प्ररिक्थ को सावजनिक नीति के आधार पर गैरकानूनी समझना चाहिए कि उसे पानेवाला अपना धर्म न बदले। यह इसलिए कि जीवित व्यक्ति की सकल्पना पर मृत व्यक्ति के प्रयोजनो का बधन लग जाने से ऐसी मानसिक दासता जन्म लेती है जो बहुत ही जघन्य है। इसलिए, मेरा कहना यह है कि मित्रो या सपिंड सबधियो को दिए गये प्ररिक्थो के साथ ऐसी परिसीमनकारी शर्ते नही होनी चाहिए जिनका उल्लेख मैं ने किया है। और साथ ही इनकी राशि इतनी नही होनी चाहिए कि इन्हें पाने वालो को अपनी जीविका के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता न रहे।

जिन्हें धर्मार्थ प्ररिक्थ कहा जाता है उनसे बडे अधिक जटिल प्रश्न उत्पन्न होते है। सार्वजनिक उपयोग के लिए सपत्ति छोड जाना, सिद्धात रूप में, प्रशसनीय कार्य हैं, यह उस गुण का अच्छा दृष्टात है जिसे अरस्तू[1] ने औदार्य कहा था। परन्तु इस समस्या का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि यह समस्या उतनी सीधी सादी नही है। उदाहरण के लिए, यह न्यायोचित नही कि कोई व्यक्ति कोई शिक्षा सस्था स्थापित करे और सदा के लिए यह निर्धारित कर दे कि उसमें किन सिद्धातो की शिक्षा दी जायगी। जैसा कि मिल[2] ने कहा है—"किसी के लिए यह जानना असभव है कि उसकी मृत्यु के कई शताब्दी बाद कौन से सिद्धात पढाने योग्य होगे।" यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक पीढ़ी की अपनी विचारधारा होती है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति अपने जीवन काल में एक रोमन कैथोलिक कालिज के लिए दान देता है तो इस बात के पर्याप्त कारण है कि उसके जीवन काल में उस कालिज को यहूदियो की पाठशाला नही बना देना चाहिए, परन्तु इस बात का कोई कारण नही कि समुचित समय के बाद इसके विकास पर उस व्यक्ति का नियत्रण रहे। इसलिए मैं समझता हू कि प्रत्येक धर्मार्थ सस्था को यह अधिकार स्पष्ट रूप से प्राप्त है कि वह ५० वर्ष में एक बार अपने उद्देश्य को बदल सके और यदि उसके उद्देश्यो में हेय विकृति लाई जा रही हो तो ऐसी व्यवस्था करके उसकी रक्षा की जा सकती है जैसी कि सरजेंट्स इन[3] मामले में इग्लैंड के धर्मार्थ आयुक्तो जैसे निकाय को ऐसे मामले सौंपने की व्यवस्था करके सभव थी। सच तो यह है कि इस बात का पर्याप्त कारण है कि ऐसे निकाय के लिए ऐसे प्रार्थनापत्र स्वीकार करना उचित बना दिया जाय जो किसी प्ररिक्थ के भुगतान के बाद उसके वैकल्पिक उपयोग या उस पर लगी कुछ शर्तों को हटाने के लिए हो।

---

१ पोलिटिक्स (२) ५, १२६३ क

१ प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानोमी (एशले द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २२८

३ दी टाइम्स १० अप्रैल, १९०२

उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपनी वसीयत द्वारा किसी महान अमरीकन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का ऐसा स्कूल स्थापित करता है जिस में किसी सरक्षणात्मक शुल्क के लाभ ही बताए जाते हो, तो यह समझदारी की सीमा का उल्लघन करने के बराबर होगा। अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बहुत कम सस्थाएँ ऐसी हैं जो अपने धनी मित्रो को प्रसन्न करने की इच्छा से बच सकती है। अमरीका में, प्ररिक्थ प्राप्त करने के लिए अध्ययन की स्वतन्त्रता की बलि दी गयी है, जिस कारण वहा शिक्षा ने बडी हानि उठाई है।[1] हम मृत व्यक्तियो की इच्छा के दास होने से और अपने विश्वासो की बलि देकर जीवित व्यक्तियो को प्रसन्न करने की इच्छा से तभी बच सकते है जब कि हम इस बात पर ज़ोर दें कि प्ररिक्थ की शक्ति का अर्थ यह नही होगा कि उसका उपयोग विशिष्ट और स्थायी बनाने की भी शक्ति प्राप्त हो गयी है।

परन्तु इस प्रकार प्ररिक्थो के उपयोग की अनुमति देना और समाज के हाथ में नियत्रण की कोई शक्ति न रखना विनाशकारी सिद्ध होगा। वसीयत करने वालो की सनक की तो कोई सीमा ही नही है। तीन चौथाई शताब्दी पहले एक भद्र महिला ने अपनी सारी धन सम्पदा—जो काफी अधिक थी—जोना साउथकोट की धार्मिक कृतियो (लेखादि) के प्रचार के लिए छोड दी थी। इस उदाहरण से पता चलता है कि वसीयत करने वालों की कल्पना की उडान कहा तक होती है। इसलिए मै समझता हू कि ऐसे सभी मामलो में यह प्रमाणित करना आवश्यक होना चाहिये कि जिस प्रयोजन लिये के प्ररिक्थ दिया गया है वह युक्तिसगत है। सार्वजनिक नीति की उदार रूप से व्याख्या की जाय तो यह उसके विरुद्ध नही है और जहा इस दान की राशि काफी बडी हो, उसे पाने वालो के लिए यह आवश्यक होना चाहिये कि वे धर्मार्थ प्ररिक्थो की निगरानी के लिए ज़िम्मेदार निकाय को बताएँ कि उन्होने उस राशि के उपयोग के लिये क्या योजनायें बनाई हैं। क्योकि ऐसा नही होगा तो यह खतरा सदा रहेगा कि, एक तो इगलैंड में शिक्षा के लिए दिये गये बहुत से प्ररिक्थो की तरह बिना सोचे समझे उसके प्रयोजनो में हेयविकृति लाई जायगी[2] और दूसरें, वह धन ऐसे प्रयोजनो पर खच किया जायगा कि उनसे उचित लाभ की आशा नही की जा सकेगी। उदाहरण के लिए, आजकल अमरीका के करोडपतियो को यह जो आदत है कि वे प्ररिक्थ द्वारा कुछ न्यासधरो के निरपेक्ष स्वविक पर बडी बडी राशिया छोड देते है, इससे इन न्यासधरो को बहुत शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है जिसके परिणाम खतरनाक हो सकते हैं। समाज को ऐसी सम्भावनाओ से अपनी रक्षा करने का अधिकार है। यह इसलिये कि ऐसी निधिया स्वयसेवी न्यासधरो के

---

१ देखिए, अपटन सिन्क्लेयर का 'दी गूज स्टेप' और इस से पहले मि० जे० ए० हाब्सन द्वारा 'दी क्राइसिस आफ लिबलिज्म' के पृष्ठ २१८ एफ पर दी गयी चेतावनी। देखिए मेरी पुस्तक दी डेन्जर्स आफ ओबिडियस एण्ड अदर एसेज १९३० में रिसर्च, फाउण्डेशन्स एण्ड दी यूनिवर्सिटीज, शीर्षक का लेख।

२ देखिए एच० टी० विल्किस और जे० ए० क्रालोस की पुस्तक इगलिश एजूकेशनल एडाओमेन्ट्स, में यत्र तत्र।

नियन्त्रण में रहती है, जिस दशा में उनकी देखरेख समुचित न होना अनिवार्य ही है और या उनपर स्थायी कर्मचारियो का नियन्त्रण रहता है जिनके हाथ में हस्तक्षेप की शक्ति रहती है। आधुनिक युग में हमारा अनुभव यह है कि यह शक्ति इतनी अधिक हो जाती है कि इससे खतरा पैदा हो जाता है। यह शक्ति किसी महान समाचारपत्र के मालिक की शक्ति जैसी ही है। जब तक इसका प्रभाव दूर करने वाली परिस्थितियां न हो, यह शक्ति, उन्हें इस योग्य बना देती है कि वे उन लोगो के कार्यों और विचारो पर नियन्त्रण रख सकते हैं जो कि उन पर सहायता के लिये निर्भर रहने के आदी हो जाते हैं।

कहा जाता है कि यहा जिन सुरक्षणो का सुझाव दिया गया है, उनसे उद्यम का उद्दीपन कम हो जायगा और उस कमी से समाज को हानि पहुचेगी। मै इस बात से इनकार नही करता कि बहुत से लोगो में परिश्रम की भावना इसी इच्छा से उत्पन्न होती है कि वे अपने बच्चो को लाभ पहुचाना चाहते है। परन्तु इस भावना के साथ साथ समाज का हित भी इसी बात में है कि एसे वर्ग की उत्पत्ति से समुदाय की रक्षा की जाय जिसे अपनी जीविका के लिए परिश्रम नही करना पडता। मै स्वय इस बात मे विश्वास रखता हू कि अपने बच्चो को छोड और किसी के नाम सम्पत्ति छोड जाने की भावना का कोई विशेष महत्त्व नही है और जहा तक बच्चो के नाम सम्पत्ति छोडने का सम्बन्ध है, यह बात अब भी सच है—जैसा कि मिल[1] ने कहा था—कि "अधिकतर मामलो में न केवल समाज बल्कि व्यक्तियो का हित भी इसी बात में है कि उनके लिये प्ररिक्थ की राशि बहुत अधिक न होकर समुचित ही हो।" उन्होने कहा है कि प्रत्येक बच्चे को यह हक़ है कि उसके लिये जीवन में सफलतापूर्वक पदार्पण करने का जुगाड किया जाय परन्तु समाज के लिये यह बडी खतरनाक बात होगी कि उसे अपने परिश्रम पर निर्भर न रहना पडे। बल्कि सामान्यता तो यहा तक कहा जा सकता है कि अपने बच्चो का सुरक्षण करने की भावना के अतिरिक्त, धन-सग्रह का वास्तविक प्रयोजन तो शक्ति प्राप्त करने का होता है। और यह मै पहले ही कह चुका हू कि इस शक्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि यह अवैध है क्योकि इसका नैतिक औचित्य बहुधा नही होता। निश्चय ही वह समाज कही अधिक अच्छा और भरा पूरा होगा जिसमें कोई भी व्यक्ति यह न समझ सके कि जीवन के साधन बिना कमाए ही उसे मिल सकते है। इस प्रकार हम उस चीज़ से बच सकते है जिसने आज के युग में हमारे जीवन को इतना विषाक्त बना दिया है अर्थात् कुछ व्यक्तियो द्वारा अपार अपव्यय और बहुत से व्यक्तियो द्वारा उस अपव्यय का अनुकरण करने के लिये जी जान से की जाने वाली कोशिश। कुछ व्यक्तियों के तर्करहित ऐश्वय को समाज में प्रतिष्ठा बना दिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि समाज में बेकार के अपव्यय के उपाय बढाये जा रहे है। हमे अपने आचरण के नियम अन्य मानको के अनुसार बनाने चाहियें।

यदि यह विश्लेषण औचित्यपूर्ण है तो इस समस्या को हल करने का ढग हमारे पास है कि व्यक्तिगत उद्योग को सार्वजनिक उद्योग बनाने के लिये किस व्यवस्था का

---

१ देखिए वही पुस्तक, पृष्ठ २२४

प्रयोग किया जाना चाहिये। उद्योग को व्यक्तिगत से सार्वजनिक बनाने के मोटे तौर पर तीन रास्ते हैं। व्यक्तिगत उद्योगो को जब्त किया जा सकता है, जैसा कि क्रांतिकारी रूस में हुआ था। यह भी सम्भव है कि किन्ही मूल्य-मानकों के अनुसार उद्योग को खरीद लिया जाय और उसके भूतपूर्व स्वामियो को बदले में या तो धन और या बन्धक-पत्र देकर प्रतिकर दिया जाय। अन्त में, यह भी सम्भव है कि उद्योग का प्रबन्ध सम्भाल लिया जाय और उसके स्वामियो को इकट्ठी राशि के रूप में या वार्षिक वृत्तियो के रूप में आंशिक प्रतिकर देने की चेष्टा की जाय। मैं यह कहूगा कि इनमें से तीसरा तरीका सम्भवतः सब से अच्छा है।

इसमें सन्देह नही कि जब्ती का विचार उन लोगों को बहुत ही जचेगा जो वर्त्तमान व्यवस्था से ऊब चुके है। उन्हे वे अन्याय दिखाई देते है जिन पर यह व्यवस्था आधारित है। उन्हें कोई ऐसी बात दिखाई नही देती जो इन अन्यायो को उचित ठहरा सकती हो और साथ ही वे इस बात को समझते है कि इन्हे उचित ठहराने के प्रयत्न इतने बेहूदा है कि विश्लेषण से उनकी कलई खुल जायगी। उदाहरण के लिए, ऐसे प्रयत्न खान-रायलटियों के मालिको ने १९१९ में ब्रिटेन के कोयला आयोग के सामने किए थे।[1] वे लोग यह कहते है कि सयुक्त राज्य अमरीका में, जहा व्यक्तिगत सम्पत्ति की परम्परा ससार के अन्य भागो की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से अपने पैर जमाये हुए है, शराब उद्योग को एक पैसा प्रतिकर दिए बिना समाप्त कर दिया गया था। वे यह कहते है कि भूमि के अधिकतर मालिक—उदाहरण के लिये इंगलैंड को ही लीजिए—बिना किसी स्पष्ट कार्य के उसके मालिक बने है। उन लोगो का विचार है कि पूरा प्रतिकर देने से जो बोझ पड़ेगा, राज्य उसे सहन नही कर सकेगा। परन्तु मैं समझता हू कि इस दृष्टिकोण का निर्णायक उत्तर दिया जा सकता है। जब्ती जैसी कड़ी कार्यवाही का पहला परिणाम तो यह होगा कि दुर्भावना उत्पन्न हो जायगी। इस दुर्भावना के दो विनाशकारी परिणाम होते है, जैसे कि रूस में हुआ था। इसके फलस्वरूप उद्योग का सचालक वर्ग उसमें ऐसे समय अपराध करने लगता है जब कि उसे सम्भाला नही जा सकता। और यदि कोई जब्ती बड़े पैमाने पर हो तो उसके फलस्वरूप फासिस्टवाद की स्थापना की चेष्टा की जाती है और सम्भव है कि वह चेष्टा सफल हो जाय। मै समझता हू कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस बात का बहुत ही अधिक महत्व है कि राजनीतिज्ञों के लिए बुद्धिमानी इसी में है कि प्रत्याशाओं को उचित सीमाओ तक ही रखा जाय जिससे कि उनके पूरा न होने से निराशा उत्पन्न न हो। सम्भव है कि समुदाय को धन के रूप में अधिक मूल्य देना पड़ जाय परन्तु इस प्रकार सद्भावना में जो वृद्धि होती है वह मेरे विचार में उस मूल्य की अपेक्षा कही अधिक है। इस सौदे की जो दुःख दूर करने वाली बातें है, उनसे उन बहुत से लोगों को लाभ होगा जिनके लिए अन्यथा अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में बड़ी कठिनाई होगी। और यह कोई छोटी सी बात नही है। अमरीका में मद्यनिषेध का मामला बड़ा

---

१ मिनट्स ऑफ एवीडेन्स, ड्यूक आफ नार्थम्बरलैण्ड, लार्ड डाइनेवर, दी अर्ल आफ डरहम का साक्ष्य।

संदर्भ में सगत दिखाई नही देता क्योकि वह उद्योग सरकार द्वारा जारी नही रखा गया बल्कि दबा दिया गया। परन्तु, जो भी हो, इस सम्बन्ध में दूसरी ओर एक दृष्टात मौजूद है जब कि १८३३ में वेस्ट इण्डियन दासो के स्वामियो को धन दिया गया था। इसमें सदेह नही कि नैतिकता के आधार पर इस धन के दिए जाने को उचित बताना बहुत कठिन होगा, परन्तु इस आधार पर इस पर आपत्ति नही की जा सकती कि उन परिस्थितियो में वैसी करना ही उचित था। मैं इस बात से इनकार नही करता कि बहुत से मामलो में जब्ती के आधार ऐसे तर्कसगत होते हैं कि उनका खण्डन नही किया जा सकता परन्तु मै समझता हू कि यह ऐसा मामला है जिसमें तर्क का अनुसरण करने से भारी भूल हो जायगी। यह इसलिए कि राजनीति में सर्वोत्तम का मतलब सदा यही रहता है कि यथासम्भव सर्वोत्तम। राजनीतिज्ञ का सबसे बडा गुण यह है कि वह किसी बात की सम्भावनाओ को आकने मे होशियार हो।

दूसरी ओर, प्रतिकर एक सापेक्ष बात है। कोई भी समुदाय स्वामियो के किसी समूह को उनके माल का उतना मूल्य नही दे सकता जितना कि वे मागते हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है और इसके दो कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि अधिकतर उद्योगों का ठीक ठीक मूल्य आकना लगभग असम्भव सा हो गया है। वे वास्तविक मूल्य के द्योतक नही होते। उनमें से बहुत से उद्योग—विशेषकर रेलवे—बडे अपव्यय से बने होते है।[1] उनमें से बहुत से ऐसे पूजीकरण पर आधारित है जो वास्तविक आस्तियो का द्योतक नही होता है। उदाहरण के लिए, लकाशायर की सूती मिलें १९१९ की तेजी में बहुत अधिक मूल्य पर बिकी थी। उनके मूल्य को ठीक-ठीक आकने के लिये १९१३, और कई मामलों में उससे पहले के मल्य-स्तरों का सहारा लेना पडेगा। इसके अतिरिक्त, "ख्याति" कहा जाने वाला कृत्रिम तत्व ऐसी दलदल है जिससे कोई समुदाय बडी कठिनाई से ही निकल सकेगा। इसका प्रमाण शराब के लाइसेंसो के इतिहास में मिलता है। अधिकतर उद्योगो में हालत यह रहेगी कि यदि राष्ट्र उनके स्वामियो को स्वीकार्य शर्तों पर उन्हे खरीदेगा तो राज्य पर ऋण का इतना बोझ आ पडेगा कि उसके फलस्वरूप उत्पादको को कम मजूरी मिलेगी और या उपभोक्ताओ को अधिक दाम देने पडेंगे। और दूसरी बात यह होगी कि इसमें इस बात का भी खतरा रहेगा कि सम्पत्ति के मालिक को ऐसे अधिकार मिल जायें जिनके कारण, वर्गों के बीच के वर्त्तमान अन्तर घटने की बजाय स्थायी हो जायेंगे। जिस प्रकार राष्ट्रीय ऋण-पत्रो के मालिक, सम्पत्ति के अन्य सभी वर्गों के मालिकों की अपेक्षा अधिक मजबूती से अपने पैर जमाए हुए है उसी प्रकार राष्ट्रीय उद्योगो के बन्धक-पत्रो के मालिकों की स्थिति भी बडी मजबूत हो जायगी। हम जो बात चाहते हैं वह यह है कि ऐसी स्थिति ही पैदा न होने दी जाय जिसमें मालिको का कोई वर्ग समुदाय पर जोको की तरह पलता रहे। इस सम्बन्ध में प्रतिकर के साधारण सूत्र हमारे किसी काम के नही है।

तो इसलिये, उद्योग का रूप परिवर्तन करने का तीसरा उपाय समारे पास बच

1 एल० सी० मनी, दी ट्रायम्फ आफ नेशनलाइजेशन, पृष्ठ १०–१५

जाता है। जैसा कि मै सक्षेप में पहले ही बता चुका हू, वह उपाय यह होगा कि किसी उद्योग विशेष में सम्पत्ति-अधिकार रखने वाले को उसके जीवन काल में वार्षिक वृत्ति दी जाती रहे परन्तु इसका तर्कसगत परिणाम यह है कि उसकी मृत्यु पर वे अधिकार निरपेक्षतया राज्य को प्राप्त हो जायेंगे। उदाहरण के लिये, कोयल-खानों की रायलटियो के मालिक को प्रतिवर्ष उतनी राशि मिलती रहेगी जितनी कि उद्योग के रूप-परिवर्तन के स्वीकार किए जाने से पहले के पाच वर्षों में प्राप्त होती हो, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद कोई रायलटी नही दी जायगी। रेलवे के हिस्सो, जहाजों के हिस्सो या बैंको के हिस्सो के मालिको के साथ भी ऐसा ही होगा। तब हमें इस बात का विश्वास हो सकेगा कि एक काल विशेष में ऐसे मालिको के बने रहने का, जो काम धाम कुछ नही करते, किसी राष्ट्रीकृत उद्योग पर कोई बोझ नही पडेगा। हमें किसी उचित प्रत्याशा को पूरा करने से इनकार नही करना चाहिये। हम कठिनाई में पडे व्यक्तियो, जैसे विधवाओ और अनाथो, के लिये विशेष प्रबन्ध भी करेंगे। हम यह भी कर सकते हैं कि जो लोग एक ही बार में प्रतिकर लेना चाहें उन्हें एक ही किस्त में प्रतिकर दे दिया जाय, हालाकि, मै समझता हू कि ऐसी दशा में हमें उससे कम दर पर प्रतिकर देश चाहिये जिस दर पर कि वार्षिक वृत्ति के रूप में दिया जाता है। मैं समझता हू कि इस तरीके का मुख्य गुण यह है कि इससे हम निश्चित प्रत्याशाओ की पूर्ति कर सकते हैं और साथ ही एक कालावधि तय हो सकती है जिसके दौरान में ऐसा वर्ग ही समाप्त हो जायगा जो बिना कोई काम किये अपने स्वामित्व के बल पर ही जीवित है। यदि यह कहा जाय कि ऐसे मामले भी होगे जिनमें मालिक के अचानक मर जाने से उसके स्वामित्व की समाप्ति, जब्ती के बराबर ही हो जायगी, तो, मैं समझता हू कि इसका उत्तर यह है कि यह व्यवस्था करना बडी सरल बात है कि वार्षिक वृत्ति की अवधि कम से कम दस वर्ष हो। हा, इस सम्बन्ध में यह परिसीमा बडी अच्छी रहेगी कि उस कालावधि से पहले मालिक की मृत्यु होने पर केवल उसके बच्चों को ही उस वार्षिक वृत्ति पर अधिकार रहेगा। समुदाय सम्पत्ति वालो के साथ अपने बर्त्ताव में बहुधा उदारता से काम ले सकता है। हा, यह नही हो सकता कि समुदाय अपनी समृद्धि की आशाओ को वर्त्तमान मालिको के पास बन्धक रख दे, परन्तु इस बात की जरूरत नही है कि यह सक्राति काल को मालिको के लिये उससे अधिक कठिन बनाए जितना कि समुदाय के सकल आर्थिक हितो के लिये आवश्यक है।

मैंने यहा जो विचार रखे हैं उनके विरुद्ध बहुधा एक दलील दी जाती है जिसके सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना आवश्यक है। यह कहा जाता है कि यदि लोगो को इस बात से रोका जायगा कि वे अपनी मृत्यु के बाद अपने बच्चो के नाम सम्पत्ति छोडें तो इसका यही परिणाम होगा कि वे अपने जीते जी ही सम्पत्ति का बटवारा कर जायेंगे और इस सारी योजना के प्रयोजन धरे रह जायेंगे। मै तो समझता हू कि ऐसा कहना तो अतिशयोक्ति होगी। यदि छोटी सी भेंट दी गयी हो—उदाहरण के लिये कुछ सौ पौण्ड का चन्दा हो—तो इसका उस समस्या पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नही पडता, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं। यदि यह कोई बडी राशि हो, तो साधारणतया उसका पता चल ही जायेगा और आय-कर द्वारा इसका एक भाग राजकोष में पहुच जायगा। यह सम्भव है कि जहा तक

बिन कमायी गयी आय का सम्बन्ध है, भविष्य में, ऐसे कर पहले की अपेक्षा अधिक लगेंगे और ऐसी भेंटो का लाभ, उसी अनुपात में कम हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि अपने जीवनकाल में ही दी गयी सम्पत्ति के मामलो पर इगलैड में अनुवशिकता का वर्त्तमान कानून लागू कर दिया जाय, जिसके अधीन यदि ऐसी सम्पत्ति वसीयत करने वाले की मृत्यु से पहले के तीन वर्ष के भीतर दी गयी हो तो उस पर उसी प्रकार कर लगता है जैसे कि उसकी बाकी सम्पदा पर। और फिर यह भी सम्भव है कि आनुवशिकता में प्राप्त धन-सम्पदा को सरकारी न्यासघरो के नियत्रण में रख दिया जाय। ऐसा होने की दशा में वसीयत करने वाले की इच्छानुसार दिया जाने वाला दाय-भाग केवल आय में से ही दिया जायगा। यही पर बस नही है। जो भी धनी व्यक्तियों के स्वभाव का अध्ययन करता है—जैसा कि वह उनकी वसीयतो से मालूम पड़ता है—उसे पता चल जायगा कि सामान्यता वे लोग अपने जीवन-काल में ही अपनी सम्पत्ति लोगो में बाटना नही चाहते। वे अपने धन-दौलत को देख देखकर ही अपनी धनोपार्जन की इच्छा को सन्तुष्ट कर सकते है। अपनी मृत्यु से पहले उस धन को बाटने से उनकी शक्ति में कमी आयगी और उस घमण्ड में भी कमी आएगी जो उस शक्ति के उपयोग से सन्तुष्ट होता है। उदाहरण के लिए, धर्मार्थ प्रक्थिो के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है। लोग अपने जीवन-काल की बजाय अपनी मृत्यु के बाद सस्थाओ के लिए धन छोड़ते हैं, हालाकि उस प्रक्थि पर कर लग सकता है जो कि किसी सस्था को मिलता है। जिन लोगो में उपार्जन की प्रवृत्ति बडी तीव्र है सम्भवत उनमें ये आदतें सदा रहेंगी। और अन्त में, जहा किसी जाली लेन-देन द्वारा कानून से बचने की चेष्टा की जाती है, न्यायालयो ने यह दिखा दिया है कि वे उसके वास्तविक तथ्यो को मालूम करने के लिए तैयार रहते हैं जैसे कि दिवालियापन सम्बन्धी कानूनो में है या अमरीका में इन री गोल्ड के प्रसिद्ध मुकदमे में हुआ था।[1]

—९—

अब तक मैंने आर्थिक सस्थाओ की चर्चा इस प्रकार की है मानो प्रत्येक राष्ट्र-राज्य आत्म-भरित एकाश हो और उस पर ससार की परिस्थितियो का कोई प्रभाव न पड़ता हो; परन्तु बात ऐसी नही है। यह अन्तत स्पष्ट हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का तत्व ऐसा निर्णायक तत्व है कि आर्थिक परिवर्तन उसी के आधार पर समझा जा सकता है। जब रूस पूजीवादी समुदायों से घिरा हुआ है तो वह साम्यवादी राज्य के रूप में जीवित नही रह सकता। इगलैड केवल इसी शर्त पर समृद्ध रह सकता है कि जिन देशो को वह अक्सर माल भेजा करता है, वे भी समृद्ध हों। साथ ही हम यह भी सीख रहे हैं कि आर्थिक जीवन के कुछ क्षेत्रो में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निर्धारित करने की आवश्यकता बढती जा रही है। यदि भारत और जापान के सूती कपड़ा उद्योग में मजूरी के मानक लकाशायर

१, इस प्रश्न पर चर्चा के लिए देखिए डाल्टन की पुस्तक दी इनइक्वालिटी आफ़ इन्कम्स, पृष्ठ ३२५ एफ़।

की अपेक्षा बहुत कम रहेंगे तो इंगलैंड का सूती कपडा उद्योग भारत और जापान के उद्योग की स्पर्धा का मुकाबला नही कर पायगा। यदि पोलैंड और रूथीनिया से आए हुए मजदूर उनके स्थान में कम मजदूरी पर काम करने के लिये तैयार हो जायें तो पिटसबर्ग के इस्पात उद्योग में अमरीकी मजदूर की मजदूरी के मानक क्षति से बच नही सकते। यदि जर्मनी की खानों में मजदूर दस घण्टे काम करते हैं और इंगलैंड में सात घण्टे तो इंगलैंड का खान मजदूर अवश्य बेकार रहेगा क्योंकि काम के समय के आधार पर ही कोयले की लागत निश्चित होगी। जब तक (क) दुनिया भर के लिए निरन्तर और समुचित मात्रा में खाद्य के सम्भरण का आम तौर से आश्वासन न हो और (ख) उस मूल कच्चे माल पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण न हो, जिस पर किसी समुदाय का औद्योगिक जीवन निर्भर है, तब तक मजूरी के समान्य मानकों का कोई महत्व नहीं होगा। हमें इस बात की भी आवश्यकता है कि सचार के साधन सभी के लिये बराबर और बिना रोक-टोक खुले रहें। यह इसलिये कि यह तो स्पष्ट है कि यदि ब्रिटेन स्वेज नहर में से होकर जाने वाले विदेशी जहाजों से अधिक चुंगी ले सके या अमरीका पानामा नहर से होकर जाने वाले जहाजो के साथ और ऐसा व्यवहार करे तो न्यायपूर्ण वाणिज्यिक सम्बन्धों का होना असम्भव है। और फिर यह भी स्पष्ट है कि ससार के सभी उपनिवेशों में, विशेषकर उन उपनिवेशों में सभी समुदायों के लिये बराबर के वाणिज्यिक विशेषाधिकारों का होना जरूरी है जहां अधिकतर जनसंख्या पराधीन जातियों की है। इसका कारण यह है—जैसे कि सर आर्थर साल्टर ने बताया है—कि "दुनिया के अधिकतर युद्धों का कारण स्पष्टतया यह रहा है कि सरकार की शक्ति के कारण जो राजनीतिक और सैनिक बल प्राप्त होता है, उसके द्वारा अनुचित वाणिज्यिक और आर्थिक मुनाफा कमाने के लिये सरकारी शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है।"[1]

मै किसी बाद के अध्याय में इन परिकल्पनाओं में निहित सस्थाओं की चर्चा करूंगा, यद्यपि वह बहुत प्रयोगात्मक सी होंगी। यहा तो इतना कह देना काफी होगा कि उनमें मोटे तौर पर किन विचारों का समावेश है। उनका मतलब यह है कि राष्ट्र-सङ्घ (लीग आफ नेशन्स) के स्वरूप और कृत्यों के सम्बन्ध में हमारी धारणा कम से कम उतनी ही आर्थिक होनी चाहियें जितनी कि वह शुद्ध रूप से राजनीतिक है। उनका यह भी मतलब है है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जैसा संगठन प्रशासन का प्रभावी सगठन बने जो सारे संसार के लिए श्रम के न्यूनतम मानक निधारित करे और उन मानको पर जोर देकर विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों की इस शक्ति को परिसीमित करे कि अपनी आर्थिक सभ्यता के स्तर को निर्धारित करने की निरपेक्ष सत्ता उन्ही के हाथ में है। मै समझता हू कि आवश्यक नही कि इनका यही मतलब हो कि कोई कार्यांग या विधानांग जैसी एक ही सस्था हो जो इतनी बडी समस्याओ को हल करने की चेष्टा करे। और, जैसा कि मै आगे चल कर बताऊंगा, अनिवार्य रूप वे प्रत्येक कृत्य के लिये सत्ता और नियत्रण

---

१ एलाइड शिपिंग कन्ट्रोल, पृष्ठ २६८।

का अलग अग जरूरी होगा। हमे तेल, कोयले, गहू के सम्भरण और ऐसे ही अन्य मामलों के लिए अलग-अलग आयोगो की आवश्यकता पडेगी। इन धारणाओ की तह में दो सामान्य धारणायें है जिनका बहुत अधिक महत्व है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय परिरक्षण के हित में अपने अपने ससाधनो का राशन करना पडेगा, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि मित्र राष्ट्रो को युद्ध काल में अत्यावश्यक पण्यो का राशन करना पडा था। इसके अतिरिक्त हमें पूर्ववर्त्तिता के सिद्धात का प्रयोग करना पडेगा। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे यह बात स्पष्ट रूप से आवश्यक है जो बातें अधिक महत्व की है उन पर पहले ध्यान दिया जाय। यदि सामान ढोने वाले समुद्री जहाजो के लिये पैट्रोल की कमी है तो हम सैर सपाटे के लिये कारो को पैट्रोल नही दे सकते। हमें सामाजिक सगठन के आधार रूप में एक साख्यकी सेवा स्थापित करनी पडेगी जिसके द्वारा प्रत्यक उस पण्य के उत्पादन की मात्रा और खपत के बारे में यथासम्भव पूरा ज्ञान प्राप्त किया जायगा, जिसके उपयोग का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय है। यह तो मानी हुई बात है कि जीवन का कोई और ऐसा क्षेत्र नही है जिसमें प्रगति उतनी धीमी होगी कि जितनी इस क्षेत्र में, परन्तु साथ ही यह बात भी है कि और कोई ऐसा क्षेत्र है भी नही, जहा प्रगति के निश्चित परिणाम निकलेंगे।

—१०—

आधी शताब्दी पहले मैथ्यु आरनल्ड ने अग्रेओ को चेतावनी दी थी कि वे लालच को छोडें और बराबरी का सिद्धान्त अपनाए।[1] इस चेतावनी का सारे ससार के लिए महत्व है। कोई भी राष्ट्र और कोई भी सभ्यता, जिसमें लोग स्थायी रूप से धनी और निर्धन वर्गों में बटे हुए हैं न बचने की आशा कर सकती है और न बची है। छपाई के आविष्कार से ज्ञान सभी तक पहुच सकता है, और यत्रो द्वारा परिवहन के आविष्कार से आर्थिक व्यवस्था का एकीकृत होना अनिवार्य हो गया है, तब से तो यह बात सर्वथा असम्भव हो गयी है। हम ऐसी व्यवस्था में रह रहे हैं, जिसकी नैतिक धारणाओ को उनमें से अधिकतर लोगों ने मानने से इनकार कर दिया है, जिन पर उनका प्रभाव पडता है। यह व्यवस्था उन लोगो की निष्ठा या स्नेह प्राप्त नही कर सकती। इससे बहुत से लोगो में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि इस व्यवस्था का तख्ता उलट दिया जाय। और यदि राजनीतिक सत्ता उनके हाथ में आ जाय तो इसका फल या तो यह होगा कि उन लोगो को रियायतें देनी पडेंगी और या क्रान्ति हो जायगी। जैसाकि मैं कह चुका हू, क्रान्ति, जीवन को सभ्य बनाए रखने से मेल नही खाती क्योकि यदि किसी बडे पैमाने पर क्रान्ति की चेष्टा की जाय तो यह इतनी विनाशकारी होगी कि अधिकतर लोगो का जीवन-स्तर घट कर भारत की रैयत जैसा हो जायगा। परन्तु यदि हमें क्रान्ति से बचना है तो रियायते इतनी अधिक होनी चाहिए कि उनसे विश्व में ऐसी व्यवस्था स्थापित हो सके जिसके अन्तर्गत प्रत्येक साधारण व्यक्ति को आत्मसिद्धि का अवसर मिले। इसका अर्थ—जैसे कि आरनल्ड ने कहा है—समानता है और निस्सन्देह समानता का अर्थ यह है कि आजकल जो लोग जीवन का सुख लूटते है और उसके लिए आवश्यक परिश्रम आशिक रूप में ही करते हैं, वे बहुत बडा बलिदान करें। यहा जिन सस्थाओ को व्यवस्था की रूप-रेखा बताई गयी है,

---

१. मिक्सड एसेज, पृष्ठ ४९

उसे तो आर्थिक क्षेत्र म यह् बताने का प्रयत्न मात्र कहा जायगा कि उन रियायतों का मतलब क्या है। इनसे समय की समस्या का समाधान नही होता। सम्भवत धीरे-धीरे ज्यो ज्यों इन्हें स्वीकार किया जायगा, उनका प्रभाव बढेगा क्योकि नयी आदतो का फल प्रकट होने में समय लगता है। परन्तु इस बात को याद रखना महत्वपूर्ण है कि समय की समस्या का निश्चय अकेले वे ही वर्ग नही कर सकते जिनके हाथ में राजनीतिक शक्ति है। हमारे युग की परिस्थितिया उन्हें इस बात का प्रमाण देने पर बाध्य करती हैं कि वर्तमान व्यवस्था की श्रेणियो में ही बहुत बडे सुधार सम्भव है। उन्हें इस बात का प्रमाण देना होगा कि जिन्हें वे सम्पत्ति के दायभाग से वचित करते हैं, उनके प्रति उनके मन में सद्भावना है। जब यह प्रमाण जल्दी से और ठोस रूप में हमारे सामने आएगा हम तभी मानवता के लिए आशा बनाए रख सकेंगे।

अध्याय—१०

न्यायिक प्रक्रिया

—१—

हेनरी सिजविक ने लिखा है कि[1] "राजनीतिक ढांचे में न्यायांग का महत्व उतना दिखाई नही देता जितना कि वास्तव में है। एक ओर तो सरकार के रूपों और परिवर्तनों की चर्चा करते समय बहुधा न्यायांग दृष्टि से ओझल हो जाता है। और दूसरी ओर, किसी राष्ट्र में राजनीतिक सभ्यता के स्तर की सब से बढ़िया कसौटी यही है कि विधि द्वारा न्याय की जो परिभाषा की गयी है, उसके अनुसार व्यक्तियो के बीच और सरकार के सदस्यों तथा व्यक्तियो के बीच किस हद तक न्याय होता है।" निश्चय ही कोई व्यक्ति यह नही कह सकता कि न्याय की सघटना का महत्व कम है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण की तरह के स्वतन्त्रता के साधन बहुत ही कम है। इगलैड के निबटारा अधिनियम[2] एक्ट आफ सेटलमेंट की उस धारा से बढ़ कर न्याय की गारटी विरली ही होगी जिसमे कहा गया है कि न्यायाधीश तभी तक पद धारण करेंगे जब तक उनका आचार शुद्ध रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि उसपर मुक़दमा प्रारम्भ होने से पहले उसे उस आरोपण की प्रति दी जाय जिसके आधार पर उसपर अभियोग लगाया गया है और गवाहो के कटघरे में उसे अपनी ओर से साक्ष्य देने का अधिकार है। वह ज्यूरी के संनिश्चय या न्यायाधीश द्वारा दिए गये दण्ड के विरुद्ध, उनसे ऊचे विधि-विशेषज्ञो के पास अपील कर सकता है। ये सब बातें देखने में तो कार्य-विधि के सम्बन्ध में महत्वहीन से परिवर्त्तन दिखाई देती हैं, परन्तु बहुत प्राविधिक स्वरूप की होते हुए भी उनका स्वतन्त्रता से सम्बन्ध उन उत्कृष्ट वाक्यो से कही अधिक है, जोक रूसो ने स्वतन्त्रता की प्राप्ति की परिस्थितियो का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त किये थे। इसलिए यह स्पष्ट ही है कि जिन लोगो को न्यायालयों में न्याय करना है, जिस ढग से उन्हें अपने कृत्य करने हैं, जिस ढग से उन्हे चुना जाना है और जिन शर्तों पर उन्हें शक्ति दी जानी है—ये सब बाते और इनसे सम्बन्धित समस्याए राजनीतिक दर्शन का आधार है। जब हम यह जान लेते है कि किसी राष्ट्र-राज्य में न्याय कैसे किया जाता है तो हमें किसी हद तक ठीक-ठीक पता चल जाता है कि उसका राजनीतिक स्वरूप कैसा है।

मैं पहले ही कह चुका हू कि न्यायाग का कार्यांग के प्रभाव से मुक्त होना उसकी स्वतन्त्रता के लिए अत्यावश्यक है। इस अर्थ में शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त में एक शाश्वत सत्य निहित है। यह इसलिए कि यह स्पष्ट ही है कि यदि कार्यांग अपनी इच्छा के अनुसार न्यायिक निश्चय कर सके तो राज्य पर उसका प्रभुत्व सम्पूर्ण रहेगा। इसलिए विधियो की व्याख्या का काम ऐसे व्यक्तियो के समूह को सौंपा जाना चाहिए जिन की

---

१. एलिमेन्ट्स आफ पालिटिक्स, पृष्ठ ४८१।

२. १२ और १३ डब्ल्यू० ३, सी० २, ३

संकल्पना पर कार्यांग की संकल्पना हावी नहीं हो सकती। वे इस योग्य होने चाहिए कि कार्यांग से जवाब मांग सकें। वे ग़ैर सरकारी नागरिकों के परस्पर झगडे इस प्रकार तय कर सकें कि उनका निश्चय वैसे ही मामलों के लिए समन्याय्य दृष्टान्त बन जाय। न्यायाधीशों के रूप में उनकी चेष्टा यह रहती है कि वे अपने सामने आने वाले प्रतिस्पर्धी सामाजिक हितों से ऐसा हल निकाल सकें जिस से अधिकाधिक सार्वजनिक लाभ हो सके। वे किसी विशेष उदाहरण से एक सर्वव्यापी नियम बनाते हैं जिसके अनुसार दूसरे व्यक्तियों का आचरण बनता है और निर्धारित होता है। स्पष्ट ही है कि उनकी स्थिति जितनी अधिक स्वतंत्र होगी, उतनी ही अधिक आशा इस बात की रहेगी कि वे उन प्रयोजनों को पूरा कर सकेंगे जिनके लिए उन्हें नियुक्त किया गया है।

किसी न्यायालय में जो कार्यवाही होती है उसका सामान्य स्वरूप क्या है? इसका काम यह है कि शिकायत का निबटारा किया जाय। 'क' कहता है कि 'ख' ने उसके साथ अपकृत्य किया है, 'क' चाहे सार्वजनिक व्यक्ति हो या अपनी व्यक्तिगत हैसियत से ऐसा कह रहा हो। सब से पहले तो यह मालूम करना जरूरी है कि वास्तविक तथ्य क्या है। क्या 'ख' ने सचमुच 'क' के साथ अपकृत्य किया? 'ख' ने जो कुछ किया, क्या वह वास्तव में अपकृत्य है? यदि यह अपकृत्य हुआ है तो इसके लिए दण्ड क्या है? इस प्रक्रिया में कुछ कठिनाइयां है, जिन्हें ध्यान में रखना चाहिए। न्यायालय यह ढूंढता है कि कानून क्या है और ऐसा करने में वह कानून बनाता भी है। आज तक ऐसी कोई संविधि नहीं बनी है जिसे उन विविध कामों पर लागू किया जा सकता हो जिन्हें मानवीय प्रतिभा जन्म देती है। कई काम तो संविधि के अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसे कि कोई आदमी जाली नोट बनाता है तो वह उसके लिए विहित दण्ड का भागी बनता है। अन्य कामों पर वह बात लागू होती है, जिसे न्यायालय विधानांग का मन्शा समझता हो। इसका उदाहरण ऐसे मामले है जिनमें न्यायालय यह निर्णय देता है कि कोई संविधि विशेष ऐसे मामलों पर लागू करने की मन्शा से बनाई गयी थी जो अब तक उस के अन्तर्गत नही आते थे। और कुछ मामले ऐसे होते है जिन का निबटारा ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर होता है जिनका प्रतिपादन न्यायाधीश सामाजिक अनुभव के निहित अर्थों के अनुसार करता है। कुछ मामले ऐसे भी होते है जिन का निबटारा किसी न्यायिक दृष्टान्त के आधार पर होता है जोकि उस काल में इस बात के आधार पर बनता है कि पहले के अनुभव से न्यायाधीश ने क्या सीख ली और उसकी राय विवादग्रस्त मामले पर लागू समझी जाती है, चाहे उसके कारण पर्याप्त हो या अपर्याप्त। प्रत्येक मामला एक बडी जाति की प्रजाति हो सकता है, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक मामला अपने ढग का निराला ही होता है और उसे उन तत्वो के अन्तर्गत लाने के लिए चेष्टा करना जरूरी है जिनसे निश्चय नियंत्रित होता है।

इस प्रयत्न का महत्व अत्यधिक है। ऐसा प्रयत्न करने वाले न्यायाधीश की चेष्टा की एक विशेष दिशा होती है। तो जानकारी के वे कौन से स्रोत हैं जिनसे यह बात निर्धारित होती है कि उसके प्रयत्न की कौन सी दिशा होगी? निश्चय ही यह स्रोत उससे कही अधिक हैं, जोकि कोई व्यक्ति स्वीकार करता है। संविधि और दृष्टान्त सापेक्षतया सरल है, परन्तु, उदाहरण के लिए, जब अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि डबलरोटी

आदि बनाने के कारखानो में रात के समय काम का निषेध करने के सम्बन्ध में न्यूयार्क की एक सविधि चौदहवें सशोधन के अन्तर्गत असवैधानिक विषय है, तो उसके निर्णय का आधार और चाहे जो रहा है, वह न तो सविधि थी और न दृष्टान्त[१]। इसी प्रकार जब लार्ड्स सभा ने ओसबोर्न निर्णय दिया[२], तो उनके निश्चय का सक्रिय कारण विधि के सरल स्रोतो से बाहर कही था। लार्ड्स में से अधिकतर ने जो कुछ कहा—वह विधि का प्रशिक्षण प्राप्त मजदूर कार्यकर्त्ताओं का समूह कभी नही कह सकता था। और जब प्लूशार्ड-मामले[३] में राज्य-परिषद ने यह निर्णय दिया कि अपने अभिकर्त्ताओ की उपेक्षा की जिम्मेदारी फ्रास-राज्य पर है, तो यह नया कानून बनाने के बराबर था जो न सविधि में था और न दृष्टान्त में। तो ऐसा निर्णय क्यो दिया गया ? कई ऐसे न्यायाधीश हैं जो लैंगिक अपराधो में बहुत ही कम दण्ड देते है और ऐसे भी है जो इन मामलो में बहुत कठोर दण्ड देते हैं। इगलैण्ड में दण्डाधीशो के ऐसे बैंच है जहा कारखाना अधिनियमो के उल्लघन के लिए बहुत अधिक दण्ड दिया जाता है और कई ऐसे है जो नाममात्र का दण्ड देते है। तो न्यायालयो के विचारों को जानने के लिए हमें किन बातो का ध्यान रखना पडेगा।

मैं समझता हू कि इसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। मैंने ऊपर जिन मामलो की चर्चा की है उनमें स्पष्ट ही है कि न्यायाधीश पर सविधि और दृष्टान्त के बन्धन है। जहा न्यायाधीश पर ऐसे बन्धन नही होगे वहा वह निर्णय अपनी इस अवधारणा के आधार पर करेगा कि कानून क्या होना चाहिए और यह अवधारणा न्यायाधीश की उस अनुभूति के अनुसार बनेगी जिसे विलियम जेम्स ने "वातावरण और परिवेश की परस्पर-विरोधी शक्तियो के सघर्ष की अनुभूति" कहा है। इसी परीक्षा के लिए अन्त में सभी मामले न्यायाधीश के सामने लाए जाते हैं। एक प्रसिद्ध अमरीकन न्यायाधीश ने कहा है[४]—"हम सभी बातो का जितना चाहे तटस्थ होकर देखें, यह सच है कि हमें उन्हें केवल अपनी ही आख से देख सकते हैं।" यह मि० जस्टिस होम्स की इस बात का उत्तर है कि कानून और नैतिकता के अपने अपने धरातल है जो एक दूसरे से भिन्न है। यह इसलिए कि जब न्याया-धीश कानून बनाने के लिए स्वतत्र होता है तो वह जीवन के उस अनुभव के अनुसार ही चलता है जिसे वह जानता है और उसी कसौटी पर सभी बातो को परखता है। म्यूर के मुकदमे में ब्रेक्सफील्ड ने सभी युक्तियो का समाहार करते हुए जो कुछ कहा, उससे यही पता चलता है कि जीवन के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या केवल यही थी कि सभी राजनीतिक सुधारक आपूव ही घोर देशद्रोह के अपराधी होते हैं[५]। टैफवेल मामले में लार्ड्स सभा का निश्चय[६] स्पष्टतया ऐसे व्यक्तियो का निश्चय था जिन्हें उन परिस्थितियो का कोई अनुभव

१. १९८ यू० एस० ४५।

२. देखिए नेशनल यूनियन आफ़ रेलमैन द्वारा १९२० में प्रकाशित शब्दश: रिपोर्ट।

३. रिपोर्ट में कई स्थानों पर।

४ बी० एन० कार्डोजो दी नेचर आफ दी जूडीशियल प्रासेस" पृष्ठ १३

५. रेक्स बनाम म्यूर, एस० टी० २३, २३७-३८२

६. टैफवेल रेलवे कम्पनी बनाम ए० एस० आर० एस० (१९०१) एस० सी० ४२६।

नहीं होता जिनके अन्तर्गत मजदूर सघो को काम करना पडता है। कौपेज बनाम कसास[1] के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के अधिकतर न्यायाधीशो को यह जानने के लिए कभी विवश नहीं होना पडा था कि श्रमिको के निम्न मानको में निर्धारक तत्व इस बात का क्यो है कि प्रत्येक मजदूर के लिए उस कारखाने के श्रमिक सघ का सदस्य होना जरूरी नही है। इसलिए कानून सदा उस बात के अनुसार बनता है कि कानून बनाने वाले के लिए जीवन का क्या अर्थ रहा है। इस बात से भी यह निष्कर्ष गलत सिद्ध नही होता कि कुछ मामलों में मि० जस्टिस होम्स जैसे महान् न्यायाधीश अनुभव की परिसीमाओ से आगे बढ कर विवादग्रस्त प्रश्न को अधिक विस्तृत परिपार्श्व में देख सकते है।

इसलिए स्पष्ट ही है कि न्यायालयो द्वारा बनाये गये कानून के बारे में पहली बात यह कहनी पडेगी कि यह राज्य-निर्णय का अन्तिम आधार कभी नही बन सकता। इसे बनाने वाले जिस बात का प्रतिनिधित्व करते है, यह उसी का प्रतीक होता है। यह कानून उस सकुचित अनुभव के कारण सीमित होता है जो कि किसी न्यायाधीश का होता है और इस बात के कारण भी कि, विशेषकर औद्योगिक सम्बन्धो के क्षेत्र में, न्यायाधीश के लिए ऐसे दृष्टिकोण को समझना सामान्यतया कठिन और बहुधा असम्भव हो जाता है, जो उसके ज्ञान से बाहर हो। इसलिए विधान सभा सामान्य पथ-प्रदर्शन के लिए बनाए गये नियमो का क्षेत्र जितना अधिक विस्तत कर सके, न्यायालय सर्वसाधारण की न्याय सम्बन्धी धारणा के अनुसार उतना ही अधिक कार्य कर सकेगे। और किसी भी विधान सभा के रास्ते में ऐसी जटिल सवैधानिक कार्यविधि बाधक नही होनी चाहिए, जिसके कारण अमरीका में सामाजिक परिवर्तन की बागडोर वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय के हाथ में है। कानून के प्रति असम्मान की भावना के जागने की सब से अधिक सम्भावना इस बात में है कि लोग यह देखें कि जो प्रयोग बडे विस्तृत अनुभव के आधार पर हुए है और जिन्हें विधान सभा स्वीकार कर चुकी है, वे केवल प्राविधिक आधारो पर न्यायालयो द्वारा निषिद्ध किए जा सकते है। और लगभग सदा आप यही पाएगे कि इन प्राविधिक आधारों पर निषिद्ध किये गये प्रयोग के प्रति घृणा का भाव छिपा रहता है। किसी भी सविधान में किसी ऐसे दर्शन को नियमो का रूप नही दिया जाता जो सदा एक सा रहेगा, और जिन लोगो पर इसकी न्यायिक व्याख्या की जिम्मेदारी है उन्हें सावधान रहना चाहिए जिस से कि वे अपने पूर्वग्रहो को शाश्वत सत्य न मानने लगें।

५

इस प्रकार की स्थिति से न्यायाग के दो पहलुओ को विशेष महत्त्व मिलता है। इस के कारण न्यायाधीशो को चुनने के तरीके का बडी सावधानी से विश्लेषण करना पडेगा और साथ ही इस परिस्थिति के कारण आवश्यक वैधिक परिवर्तन का पता लगाने की सघटना ऐसी बन जाती है जो गुप्त और अनियमित नही हो सकती बल्कि उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह व्यवस्थाबद्ध और सतत् हो। पहले मैं न्यायिक नियुक्तियो के प्रश्न को लेता हू। व्यवहार रूप में हमारे सामने दो तरीके है—चुनाव का तरीका अमरीका की विशेषता है, हा सघानीय न्यायाग पर यह लागू नही किया जाता। दूसरा तरीका इगलैण्ड

---

१. २३६ य० एस० २६

का है, जहां लगभग सारी न्यायिक नियुक्तिया लार्ड चासलर द्वारा की जाती हैं। फ्रांस, इटली और जर्मनी में सभी न्यायाधीश नामजदगी द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, परन्तु स्विट्जरलैण्ड में सघानीय न्यायालय के १४ सदस्यों का चुनाव विधान सभा करती है। अमरीका के दो राज्यों में यह तरीका अपनाया गया है, छँ राज्यों में न्यायाधीशों के नाम की सिफ़ारिश राज्य का राज्यपाल करता है और उसकी पुष्टि सीनेट या परिषद् करती है। बाकी राज्यों में न्यायाधीशो का चुनाव होता है और उनका कार्यकाल, जैसाकि न्यूयार्क में है, १७ वर्ष तक का होता है।

नियुक्ति के सभी तरीको में से निस्सन्देह सब से बुरा यह है कि सर्वसाधारण न्यायाधीशों का चुनाव करें। यह इसलिए कि या तो उम्मीदवार को केवल राजनीतिक कारणो से चुन लिया जाता है—और किसी को न्यायाधीश बनाने का यह आधार कभी नहीं होना चाहिए—और या उसको वोट देने वाले इस स्थिति में नही होते कि उन गुणो को परख सकें जिनके आधार पर उसे चुना जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि किसी निर्वाचक-वर्ग को एल्डन और अर्स्किन में से एक को न्यायिक पद के लिए चुनना हो तो निश्चय ही वे अर्स्किन को चुनेगा, परन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि लार्ड एल्डन में वे सभी गुण थे जो किसी महान न्यायाधीश में होने चाहिए, जबकि अर्स्किन में ऐसा एक भी गुण नहीं था। इंगलैण्ड के हाल के इतिहास में जितने भी महान न्यायाधीश हुए हैं—उदाहरण के लिए ब्लैकबर्न, बोवन, वाट्सन, मैक्नाटेन आदि—उन्हें बाहर के लोग बिल्कुल नहीं जानते थे। सर्वसाधारण तो विधि के क्षेत्र के प्रमुख व्यक्तियों को उनके राजनीतिक सम्बन्धों और अपराधों के मामलों के विवरण में उनकी स्थिति के कारण जानते हैं। न्यायिक पदों के उम्मीदवार निर्वाचक वर्ग के सामने न तो कोई ऐसा कार्यक्रम रख सकते हैं और न कोई ऐसी व्यक्तिगत बात ही कह सकते है, जिसका भविष्य में उनके आचरण से लेशमात्र भी सम्बन्ध हो। मैं समझता हू कि अमरीका के अनुभव से यह बात भी स्पष्ट है कि न्यायाधीशों के चुनाव के तरीके से उनकी स्वतत्रता में बाधा पडती है और साथ ही घटिया किस्म के वकील न्यायालयों में पदासीन हो जाते है । यह विशेषकर तब होता है जब कि चुनाव की अवधि कुछ ही वर्षों की होती है। सम्भवत इस स्थिति को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि यदि न्यायाधीश को जीवन भर के लिए चुन लिया जाय तो सम्भवत गलत किस्म का व्यक्ति चुन लिया जायगा और यदि उसका कार्यकाल कुछ ही वर्ष हो तो न्यायाधीश का आचरण, कम से कम अशत , ऐसे विचारों से निर्धारित होगा जो उसके मन में कभी नही आने चाहिए। जब किसी का पुन चुना जाना उसकी लोकप्रियता पर निर्भर हो, तो ऐसे व्यक्ति कम ही मिलेंगे जो लोकप्रिय बनने की इच्छा न रखते हों। और अमरीका में यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्यों में न्यायिक मामलो के सम्बन्ध में सब से अच्छी परम्परा मैसाचुसेट्स की है, जहा न्यायाधीशो की नियुक्ति नामजदगी द्वारा की जाती है। सघानीय न्यायालय के न्यायाधीशों को प्रेसीडेन्ट सैनेट की सहमति से नामजद करता है और सर्वसाधारण के मन में उनके लिए राज्यो के न्यायालों की अपेक्षा बहुत अधिक आदर रहता है। सक्षेप में, इसका यह मतलब है कि न्यायिक पद के लिए जिस प्रविधि की जरूरत है, उसके लिए क्षमता ऐसा विषय नही है, जिस पर जनता की राय का कोई महत्त्व हो।

इस सम्बन्ध में जनता की राय पर निर्भर करने से निश्चय में ऐसे तत्वो का समावेश हो जाता है जिनका न होना ही अच्छा है।

विधानाग द्वारा चुनाव पर उतनी आपत्ति नही की जा सकती परन्तु मै समझता हू कि न्यायाधीशो की नियुक्ति का यह तरीका भी अवांछनीय है। यह इसलिए कि यदि विधि सम्बन्धी योग्यता के आधार पर ही किसी व्यक्ति को चुना जाता है तो विधानाग के साधारण सदस्य में इस सम्बन्ध में राय बनाने की विशेष योग्यता नही होती है और इसलिए यह सम्भावना रहती है कि वह ऐसी राजनीतिक बातो के प्रभाव में आ जायगा जिनका इस समस्या से कोई सम्बन्ध नही है। उदाहरण के लिए, यह बात ध्यान देने योग्य है कि अमरीका के रिपब्लिकन प्रेसीडेंटो ने न्यायाधीशो के पदो की नियुक्ति के लिए रिपब्लिकन व्यक्तियो के नाम सैनेट के पास भेजे, और हाल ही में एक ऐसा मामला भी हुआ था कि सैनेट ने एक वकील की न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति का बहुत विरोध किया और वह वकील सगठित मजदूरो के लिए बहुत कुछ सेवा कर चुका था।[1] दूसरी ओर विधानाग द्वारा न्यायाधीशो के चुनाव की जो व्यवस्था स्विटजरलैण्ड में रही है वह निस्सन्देह ठीक रही है। हा, यह बात अवश्य है कि इसकी सफलता में दो बाते सहायक हुई है; पहली यह कि वहा की विधानसभा सापेक्षतया छोटी है और दूसरी यह कि सविधि द्वारा ऐसी व्यवस्था की गयी है कि राजनीतिक आधार पर नियुक्ति के प्रश्न पर विचार भी नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त चूकि न्यायालय सघानीय विधान को असवैधानिक करार नही दे सकते इसलिए यह सम्भावना भी कम हो जाती है कि विधि के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किसी उम्मीद-वार के प्रति विरोध की भावना रहेगी। सच तो यह है कि स्विटजरलैण्ड में राजनीति का स्वरूप ऐसा है कि न्यायिक क्षेत्र में विधानाग का हस्तक्षेप अन्य देशों की अपेक्षा कम बुरा लगेगा।

जरा सोचिए कि यदि कामन्स सभा के सदस्यो को न्यायाधीश चुनने का अधिकार मिल जाय तो क्या होगा। स्पष्ट ही है कि एक छोटी सी समिति होगी जो नामजद किये गए उम्मीदवारो के नामो में से कुछ नाम छाटेगी और उसके सम्बन्ध में सभा को रिपोर्ट देगी। यदि समिति की रिपोर्ट मान ली जाय और उस द्वारा नामजद किये गये लोगों को भी स्वीकार कर लिया जाय तो आशा है कि इसके ठीक परिणाम निकलेंगे। परन्तु इसके लिए यह शर्त है कि सभा का कोई सदस्य नियुक्त न हो सकता हो। लेकिन ऐसी शर्त के कारण बड़े योग्य व्यक्तियो के चुनाव पर विचार भी न हो सकेगा और व्यवहार रूप में इसका मतलब यह होगा कि किसी वकील को बड़े ही अनुचित तरीके से इस बात पर मजबूर किया जाय कि वह अपने लिए विधि या राजनीति का क्षेत्र—इन दोनो में से एक को—चुने। परन्तु यदि दूसरी ओर, सभा रिपोर्ट को अस्वीकार कर दे तो स्थिति असहनीय हो जायगी। कोई भी भावुक व्यक्ति इस प्रकार की विकट स्थिति से बचना चाहेगा। और

१. मि० जस्टिस ब्रन्डियास का मामला। यह देखिए कि १९१६ में उनकी नाम-जदगी सम्बन्धी सीनेट न्यायांग समिति के सामने जो साक्ष्य दिया गया था, वह कितना असाधारण है।

समिति के होते हुए भी, तिकडम लडाने और अनुचित प्रभाव डाल सकने के अवसरो और राजनीतिक प्रतिष्ठा के उपयोग के कारण कम योग्यता वाले व्यक्तियो की नियुक्तियो की सम्भवना बनी रहेगी। और किसी समय, जब दलबन्दी की भावना प्रधान, हो इस रुझान को रोकना मुश्किल हो जायगा कि न्यायिक पद किसी दल विशेष के प्रति निष्ठा रखने वालो को उस निष्ठा के पुरस्कार स्वरूप दिए जाय।

इसलिए हमारे पास सब से अच्छा उपाय नामजदगी का ही रह जाता है। परन्तु मैं समझता हू कि सीधे सादे नामजद कर देना ही समुचित व्यवस्था नही है जैसे कि इगलैण्ड में होता है, अर्थात् लार्ड चासिलर नामजद करता है। इससे भी योग्यता की कसौटी न्यायिक योग्यता न होकर राजनीतिक प्रसिद्धि अधिक रहने की सम्भावना बहुत कुछ रह जाती है। यह बात कुख्यात है कि लार्ड हाल्सबरी अपनी नामजद करने की शक्ति का प्रयोग यथासम्भव अपने दल के सदस्यो को लाभ पहुचाने के लिए किया करते थे। चूकि लार्ड चासिलर दल का नेता होता है, इसलिए उस स्थिति में उसने उन लोगो के दबाव में आने की विशेष सम्भावना रहती है, जो यह समझते है कि न्यायाधीश का पद दल की सेवा का अच्छा पारितोषिक है और ऐसे भी मामले हुए है जब कि लार्ड चासिलर इनता सुदृढ़ व्यक्ति नही रहा कि उस दबाव का मुकाबिला कर सके। इसलिए यह आवश्यक है कि नामजद करने की शक्ति के साथ कुछ सुरक्षणो की व्यवस्था की जाय। मैं स्वय तो यह नही समझता कि विधान सम्बन्धी समिति उस साध्य की पूर्ति के लिए अच्छा साधन है। अमरीका में यह इस बात का साधन रही है कि सत्तारूढ़ दल के व्यक्तियो के लिए स्थान सुरक्षित रखे जायें। और इगलैण्ड में न्यायिक परम्परा चाहे भिन्न ही है, फिर भी इससे अधिक सन्तोषजनक साधन हमारे पास है। उदाहरण के लिए, यह सम्भव है कि न्याय मत्री की सिफारिश पर और न्यायाधीशो की ऐसी स्थायी समिति की सहमति से, नियुक्तिया की जायँ जिस में उन, के काम के सभी पक्षो के प्रतिनिधि हो। उन पर राजनीतिक प्रतिष्ठा का प्रभाव पडने की सम्भावना नही है। वे उन लोगो की सम्भाव्य योग्यता को आकने के लिए सब से अच्छी स्थिति में है जिनके न्यायालयो में सफल होने की आशा है। वे इस बात की सब से अच्छी गारटी है कि नियुक्ति पद की आवश्यकताओ को ध्यान में रख कर की जायगी।

मैं यहा पहली नियुक्तियो की बात कर रहा हू। पदोन्नति के प्रश्न से कुछ और समस्याए उत्पन्न होती है। अधिकतर न्यायिक व्यवस्थाओ में न्यायालयो की ऐसी क्रमबद्ध शृखला का होना आवश्यक है जिसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायाधिकरण हो जिसके निर्णयों को केवल विधानाग ही उलटा सकता है। इगलैण्ड में इन उच्च पदो पर नियुक्ति पारिभाषिक रूप से प्रधान मत्री द्वारा की जाती है, यद्यपि चुनाव तो सारत लार्ड चासिलर ही किया करता है[1]। अमरीका में नियुक्ति सैनेट की सहमति से प्रेसीडेंट द्वारा की जाती है। इन बडे पदो पर नियुक्ति के इतिहास—विशेषकर अमरीका का इतिहास—देखा जाय तो

---

१ रिपोर्ट आफ दी मशीनरी आफ गवर्नमण्ट कमिटि पृष्ठ, ६६ : इगलैण्ड में न्यायिक नियुक्तियों के स्वरूप के सम्बन्ध में मेरा लेख देखिए जो १९२६-७ के मिशीगन लॉ रिव्यू में छपा था और जिस में पिछले १९० वर्ष के आंकडों का विश्लेषण दिया गया है।

यह मालूम पडेगा कि इन नियुक्तियो और छोटे न्यायालयो की सदस्यता के बीच बहुत कम सम्बन्ध है। अमरीका में कोई व्यक्ति सघानीय न्यायालय के न्यायाधीश का पद स्वीकार कर लेता है तो सर्वोच्च न्यायालय के दरवाज़े उसके लिए बन्द हो जाते है। और इगलैण्ड में राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित जो लोग न्याययिक वृत्ति को अपनाना चाहते है तो वे या तो मास्टर आफ रोल्स का पद स्वीकार कर लेते है या लार्ड्स सभा के सदस्य बन जाते है। अमरीका में यदि कोई न्यायधीश आर्थिक मामलो में उदार विचारो का परिचय देता है तो इसका मतलब यह होता है कि इसकी पदोन्नति नही हो पाती। इगलैण्ड में ऐसा नही रहा, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि लगभग आधी शताब्दी तक मुख्य न्यायधिपति का पद राजनीतिक सेवा के पुरस्कार के रूप में दिया जाता रहा है। फिर भी मै समझता हू कि न्यायाग में भी इस बात का उतना ही महत्व है जितना कि कही और कि जिस व्यक्ति ने छोटे न्यायालय में प्रशसनीय काम किया हो, उसे पदोन्नति पाने का समुचित आश्वासन होना चाहिए। हम यह नही चाहते कि पदोन्नति वरिष्ठिता के आधार पर हो, परन्तु हम यह भी नही चाहते है कि कोई योग्य न्यायाधीश यह महसूस करे कि किसी ऐसे राजनीतिक पिछलग्गू के मुकाबले उसकी उपेक्षा कर दी जायगी जिसने ठीक समय पर अपने लिए जोर लगा लिया हो। इसलिए मेरा सुझाव यह है कि जब कि बडे न्यायालय (जैसे इगलैण्ड में अपील न्यायलय है या लार्ड्स सभा है) में कोई स्थान खाली हो, तो न्यायाधीशो की समिति जिम्मेदार मत्री को (जिससे मैंने न्याय मत्री कहा है) छोट न्यायालय के न्यायाधीशो में से तीन के नामो का सुझाव दे, जिनमें से एक को मत्री पदोन्नति के लिए स्वीकार कर ले। यह खतरा रहता है कि किसी राजनीतिक शरण्य को बडी जल्दी जल्दी पदोन्नति मिलेगी परन्तु इसका निवारण यह व्यवस्था करके किया जा सकता है कि किसी एसे न्यायाधीश की पदोन्नति न की जाय जो अपने उस पद पर पाच वष काम न कर चुका हो। और केवल वरिष्ठ न्यायाधीशो की पदोन्नति किये जाने का जो खतरा है उसे यह शर्त रख कर दूर किया जा सकता है कि किसी ऐसे न्यायाधीश की पदोन्नति की सिफारिश नही की जायगी जिसे रिटायर होन में पाच वर्ष से कम समय रहता हो।

यह स्पष्ट है कि कोई न्यायाधीश एक बार नियुक्त हो जाय तो यह इस योग्य होना चाहिए कि वह तब तक अपने पद पर रहे जब तक उसका आचरण ठीक रहे, नही तो उसे स्वतत्र रूप से काम करने की वह आदत नही पडेगी जो कि उसकी हैसियत में होनी आवश्यक है। अच्छे आचरण की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि किसी न्यायाधीश को पदच्युत करने के लिए विधान सभा का वोट प्राप्त करना आवश्यक है जोकि बहुत पुराना तरीका है। और क्योकि हम ऐसी सरकार की कल्पना कर रहे है जिसके विधानाग में एक ही सदन होगा तो ऐसे वोट के प्रभावी होने के लिए यह आवश्यक है कि मतदान में हिस्सा लेने वाले दो तिहाई सदस्य उसके पक्ष में हों। इस प्रकार की कठोरता आवश्यक है क्योकि सुरक्षणो के अभाव में ऐसा हो सकता है कि जब किसी मामले पर जनता में बडी उत्तेजना हो या न्यायाधीश न ठीक नीयत से ऐसी बात कह दी हो जिससे कोई दल पसन्द न करता हो, या तो उसे हटना पडे और या उस की प्रतिष्ठा को इतना धक्का पहुचे कि उसका न्यायालय में अपने पद पर बने रहना कठिन हो जाय। और फिर न्यायाधीश के रिटायर होने की आय

निश्चित करना जरूरी है, और वह आयु ७० वर्ष रखी जाय तो ठीक रहेगा। इसमें सन्देह नही कि ऐसे न्यायाधीश भी है जो अस्सी वर्ष की आयु में भी बहुत अच्छा कार्य कर सकते है। परन्तु सामान्यतया ऐसा होता है कि ७० वर्ष की आयु के बाद न्यायाधीश समय के अनुसार नही चल सकते, विशेष कर नये युग की माग पूरी नही कर सकते। मि० जास्टिस होम्स ने लिखा है कि[1] "न्यायाधीश आमतौर पर अधिक आयु के होते है और अधिक सम्भावना इस बात की है कि वे नयी बातो को पसँद करने की बजाय किसी भी ऐसे विशलेषण को देखते ही उस से घृणा करने लगें जिस के वे आदी नही है और जो उनकी मानसिक शान्ति को भग करता हो।" यह बात बडी महत्वपूर्ण है क्योकि, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हू, न्यायाधीश को जीवन का जो अनुभव होता है उससे, कानून की समस्याओ के प्रति उसका रवैया निर्धारित होता है। अधिकतर लोगो की विचारधारा—सचेतन अवधारणाओ और उससे भी अधिक महत्व रखने वाली अचेतन अवधारणाओ के सम्बन्ध में—चालीस वर्ष की आयु को पहुच कर निर्धारित हो जाती है और तीस वर्ष बाद साधारण न्यायाधीश उस पीढ़ी में जा मिलता है जिसका दृष्टिकोण उसकी अपनी पीढ़ी के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न होता है। मै समझता हू कि अपने कार्यकाल के पहले पाच वर्षों में न्यायाधीश को लगभग यह विश्वास रहता है कि कठिन मामलो में उसके अधिकतर विचार गलत होते है, अगले पाच वर्षों में उसे इतना ही विश्वास इस बात का हो जाता है कि उसके विचार ठीक हैं और उसके बाद चाहे वे विचार ठीक हो या गलत, उसका गाम्भीर्य बना रहता है। जब वह गाम्भीर्य उसकी आदत बन जाय तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके रिटायर होने का समय आ पहुचा है।

—२—

मै पहले के एक अध्याय में कह चुका हू, कि न्यायिक कृत्य के लिए यह जरूरी है कि वह कार्यांग के प्रभाव के क्षेत्र से बाहर ही रहे। परन्तु इस बात पर कुछ ऐसी सघटना और समस्याओं के प्रकाश मे विचार करना चाहिए जो कि इसे समझने के लिए आवश्यक है। सारत प्रश्न इस समस्या का है कि विधि की व्याख्या के सम्बन्ध में जहा किसी नागरिक ने कार्यांग के निर्णय पर आपत्ति की हो, कार्यांग को न्यायांग के अधीन रखा जाय। मैं आशिक रूप से इस प्रश्न को निबटा चुका हू। मैंने यह कहा है कि राज्य को अपने अभिकर्ताओं के कार्यों के लिए उसी प्रकार उत्तरदायी मानना चाहिए जैसे कि कोई नागरिक अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। मैंने यह भी कहा है कि ऐसे मामलो में भी जहां सुविधा के लिए किसी विभाग को न्यायिक शक्तिया दी गयी हो, वहां भी न्यायालयो को इस बात की जाच करने योग्य होना चाहिए कि विभाग ने क्या तरीके और कार्य-विधि अपनायी है। न्यायालय को यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह विभाग के किसी ऐसे निश्चय को बदल सके जो उस की राय में समुचित जाच के बिना किया गया है। और जाच के सम्बन्ध में न केवल यह देखना चाहिए कि क्या बाते मालूम हुई है बल्कि यह भी कि उन का अन्वेषण किस प्रकार

1. कलेक्टिड पेपर्स, पृष्ठ २३०।

किया गया है। यदि न्यायाग को इस प्रकार सर्वोपरि न बनाया जाय तो व्यक्तिगत नागरिक की तुलना में कार्यांग की स्थिति बहुत दृढ रहेगी और नागरिक उन लोगो के विरुद्ध अपने अधिकारो का प्रयोग नही कर सकेगा जो सरकारी कार्यों के आवरण में शरण लेते है।[1]

परन्तु कुछ और भी सुरक्षण है जिनका महत्त्व है। मै समझता हू कि यहा न्यायिक पदों पर नियुक्ति के जिस तरीके की बात कही गयी है उसका परिणाम यह होगा कि सत्तारूढ़ सरकार के किसी सदस्य को न्यायिक पद पर नियुक्त नही किया जायगा। मेरा विचार है कि इस प्रकार की इस नियुक्ति से यह आशा कम हो जाती है कि वह न्यायिक मस्तिष्क को उन कानूनी प्रश्नो को सुलझाने में लगा सकेगा, जिनमें कार्यांग के हित निहित है। उदाहरण के लिए, महान्यायवादी की हैसियत में, जिस व्यक्ति पर, १९२०[2] की आयरलैण्ड का प्रत्यर्पण जैसी सविधि की जिम्मेदारी हो, वह निश्चय ही इस योग्य नही है कि ओब्रायन के मामले जैसे मुकदमे का निर्णय करे। उसके मन में ऐसी शकाए रहेगी जो वास्तव में तटस्थ राय के लिए घातक सिद्ध होगी। बल्कि मै तो यहा तक कहूगा कि जो व्यक्ति कार्यांग के विधि-पदाधिकारी रह चुके हो, उन्हें सात वर्ष तक न्यायिक पद के लिए सुपात्र नही समझना चाहिए। जिस व्यक्ति ने—जैसे कि अमरीका के महान्यायवादी ने—गुप्तचर अधिनियम के अतर्गत इतने अधिक मुकदमे चलाए हो, वह कुछ ही समय में ऐसी न्यायिक विचार-धारा नही बना सकता जिससे उसे न्यायालय में ऐसे मुकदमो का न्यायोचित निर्णय करने में सहायता मिल सके। मै समझता हू कि इसके विपरीत बात भी ठीक है। कोई व्यक्ति एक बार न्यायिक पद प्राप्त कर चुका हो तो इसे राजनीतिक पद के लिए पात्र नही माना जाना चाहिए। यदि अमरीका के प्रेसीडेंट के पद के लिए सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो को चुना जा सकता हो, तो उतना ऊचा पद पाने की आशा से कुछ न्यायाधीशो का मन ज़रूर विचलित हो जायगा और वे निर्णय करते समय इस बात का ध्यान रखेंगे कि उन्हें वह पद प्राप्त करना है। यदि इगलैण्ड का न्यायाधीश एक दिन लार्ड चासिलर बन सकने की आशा कर सके तो यह बडी असम्भव सी बात है कि ऐसे मामलो में जहा कार्यांग की सत्ता पर आपत्ति की गयी हो, वह इस बात को याद न रखे कि कार्यांग की सुविधा का ध्यान रखने से उसे लाभ ही होगा। सम्भव है कि न्यायाधीश केवल तर्क को ही प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न करे, परन्तु फिर भी इस बात का पूरा कारण है कि हम उसे इस प्रक्रिया में सहायता देने की यथासम्भव कोशिश करें। इस प्रकार की आत्म-त्याग की भावना इस सम्बन्ध में सहायक होती है, हमें इस बात को नही भूलना चाहिए।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहा तक सम्भव हो, कार्यांग और न्यायाग एक दूसरे के काम की आलोचना करने से बचे। इसमें सन्देह नही कि ऐसे अवसर भी आते हैं जब यह बात असम्भव हो जाती है। ऐसे मामले आते है जिनके निर्णय में आलोचना निहित होती है। परन्तु मैं अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण देता हू। ओ'ड्वायर बनाम नायर के मुकदमे में १९१९ में अमृतसर में हुए दगे का पुनरवलोकन करना आ-

---

१ देखिए मेरी पुस्तक फाउडेशन्स आफ सावरेनिटी, अध्याय ३।

२. १० और ११ जियो० बनाम सी० ३१

वश्यक हो गया था[1]। ज्यूरी को सारे साक्ष्य का सार बताते हुए मि० जस्टिस मेकार्डी ने पूर्ण रूप से विचार करने के बाद यह राय प्रकट की थी कि जेनरल डायर—जिसने दगा दबा दिया था—की उस के काम के लिए सरकार ने अनुचित निन्दा की है। यह राय, चाहे कितनी ही महत्वपूर्ण क्यो न हो, इस मामले से पूणतया सगत नही थी और क्योकि सरकार ने उस साक्ष्य को दिखाने से इनकार कर दिया था जिस के आधार पर जनरल डायर को—ठीक या गलत तौर पर—दोषी ठहराया गया था। कार्यांग की आलोचना करते समय मि० जस्टिस मेकार्डी के पास सारे तथ्य नही थे, कोई इस बात पर सन्देह नही कर सकता कि उन्होंने सद्भावना से यह बात कही थी, परन्तु साथ ही इस में भी कोई सन्देह नही कर सकता कि ऐसे विवादग्रस्त विषयो पर जो विधि से सम्बन्ध न रखते हो, किसी न्यायाधीश को ज्यूरी को और उसके द्वारा सर्वसाधारण को सलाह नही देनी चाहिए, और जिन पर ज्यूरी को स्वय कोई उपपत्ति नही करनी पडती[2]। मि० जस्टिस मेकार्डी के इस कथन पर कामन्स सभा मे बडी गर्मागर्म बहस हुई और उन्हें न्यायाधीश के पद से हटाने के लिए एक प्रस्ताव की सूचना भी दे दी गयी। अधिकतर लोग यह महसूस करेंगे कि इस सम्बन्ध मे जो हल ढूढा गया, वह बहुत कठोर था क्योकि अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनकी राय गलत थी जो उन्होने सद्भावना से कायम की थी। परन्तु बहुत से लोग यह भी महसूस करेंगे कि यदि न्यायाधीश केवल उन्ही मामलो पर राय प्रकट करने की सावधानी नही बरतेंगे जोकि प्रत्यक्षत और स्पष्टतया उनके अधिकार क्षेत्र में आते है, तो ऐसी गलतियो का परिणाम वही होगा जोकि मि० जस्टिस मेकार्डी के कथन का हुआ था। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमरीका बनाम ओ'हारा के मुकदमे में न्यायालय ने कहा था कि अमरीका में समाजवादी दल के लिए "न तो युद्धकाल मे और न शातिकाल में कोई स्थान है"[3]। ऐसा कहने का मतलब यह है कि न्यायाधीश ने अपने कृत्य को गलत समझा था और ऐसा कहना उसके कृत्यो में शामिल नही था। ऐसा कहना तो कार्यांग को प्रत्यक्ष रूप से भडकाने के बराबर है जिससे कि वह—विशेषकर उस काल में, जब कि किसी विषय पर उत्तेजना फैली हुई हो—सामान्यतया सभी न्यायालयो और विशेषकर एक न्यायाधीश को ऐसे विचारो के व्यक्तियो का दमन करन के लिए प्रयुक्त कर सके, जिनके विचार उसके लिए असुविधाजनक हो।

इसके विपरीत यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि कार्यांग अपनी शक्ति का प्रयोग करके न्यायाधीश द्वारा अपने कर्त्तव्यो के पालन में बाधा न डाले। यदि ऐसी व्यवस्था कर दी जाय कि न्यायाधीश को बिना पर्याप्त कारणो के पदच्युत न किया जा सके तो यह खतरा बहुत

---

१ देखिए लडन टाइम्स, मई १—जून ६, १९२४ में प्रतिदिन छपनेवाले समाचार।

२ मि० जस्टिस मकार्डी ने साक्ष्य का सार बताते समय जो कुछ कहा था, उस के लिए देखिए लडन टाइम्स, जून ६, १९२४, ससद में उन की आलोचना के लिए देखिए पार्लिमेन्टरी डिबेट्स ९, जून, १९२४, इस मुक़दमे पर देखिए लडन का 'नेशन', १३ जून, १९२४।

३ वेल्लेस, एस्पायनेज एक्ट केसिज़, पृष्ठ ४७।

हद तक दूर हो जाता है। इगलैण्ड या अमरीका में पिछली दो शताब्दियो से भी अधिक समय से किसी न्यायाधीश को उस प्रकार पदच्युत नही किया गया जैसे कि सर एडवर्ड कोक को।[1] परन्तु अमरीका के एक महान्यायवादी ने कहा है कि १९१७ के गुप्तचर अधिनियम की एक धारा का अथ कुछ न्यायालयो ने ऐसा लगाया है कि उससे "उसमें वे बहुत से निषेध नही रहे जो हमने रखने की चेष्टा की थी"—यह कहना इस कथन से कुछ कम नही कि कुछ न्यायाधीशो ने आवश्यक विधान का प्रभाव समाप्त कर दिया है। और इस बात से कि जिन न्यायाधीशो की और इशारा किया गया है, उन का पता चलाना बहुत आसान था, यह आलोचना और भी खेदजनक बन जाती है। जनता बनाम मेक्लोड[2] के मुकदमे में तत्कालीन राज्य मन्त्री डेनियल वेब्स्टर ने न्यायालय की राय (जो अब गलत समझी जाती है) पर जो आक्षेप किया था, वह और भी अधिक विलक्षण है। एक प्रतिष्ठित वकील ने लिखा है कि उन्होने न्यायालय के राय की निन्दा "उससे कही अधिक कडे शब्दों में की थी जिनका प्रयोग आजकल कोई जिम्मेदार अधिकारी किसी न्यायिक निणय के सम्बन्ध में कर सकता है।"[3] इस प्रकार निन्दा करना जरूरी नही था। यह बात स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के आक्षेप से न्यायाधीश के काम मे क्या बाधा पडती है, और इस पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नही है।

इस सम्बन्ध में उन प्रश्नो का उल्लेख करना जरूरी है जो ऐसी अवस्था में उत्पन्न होते हैं जबकि न्यायाग का काम अनिवार्य रूप से यह हो कि वह सरकार के कामो की आलोचनात्मक जाच करे। ऐसे मामले होते है जब विविध कारणो से यह कोशिश की जाती है कि न्यायाग द्वारा जाच की बजाय कार्यांग के प्रादेश से काम चला लिया जाय। उनमें से कुछ मामलो मे—उदाहरण के लिए इस प्रश्न पर कि एक राज्य की दूसरे के साथ लडाई छिडी हुई है या नही—यह स्पष्ट ही है कि कार्यांग की राय अन्तिम होनी चाहिए।[4] मोटे तौर पर यह बात वहा भी सच होती हैं जबकि किसी सत्तासिद्ध सरकार को प्रस्वीकार करने के सम्बन्ध में समस्याए उत्पन्न होती हैं। इस बात की अधिक सम्भावना है कि भविष्य में प्रस्वीकरण किसी अस्थायी कार्यांग की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता के काय पर अधिक निर्भर होगा। यह इसलिए कि जहा शक्तियो का समूह—जैसे कि मैक्सिको में—किसी ऐसी सरकार को प्रस्वीकार नही करता, जिसे अन्य शक्तियो ने प्रस्वीकार किया है, वहा बहुत विकट समस्याए उत्पन्न हो जाती हैं। राज्य के नाम मे किए गये जिह्मकारी कामो की समस्या की चर्चा मैं पहले ही कर चुका हू। उत्तरदायित्व के अभाव के कारण केवल ऐतिहासिक है। इस बात को ध्यान में रखा जाय तो इसमे परिवत्तन की आवश्यकता समझ में आ जाती है। प्रस्तुत स्थिति की विकटता का सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि इगलैण्ड में सम्राट के कर्मचारियो पर अनधिप्रवेश के कारण मुकदमा चलाया जा सकता है, परन्तु

---

१ होलड्सवर्थ, हिस्ट्री आफ इगलिश लॉ, खण्ड ५, पृष्ठ ४४०।

२ १८४१, एन० वाई० हिल, ३०७

३ डब्ल्यू० एच० मूर, एक्ट आफ स्टेट इन इगलिश लॉ, पृष्ठ ४४।

४ देखिए, दी पेलिकन। आई० एडवर्डस, एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स परिशिष्ट घ।

निष्कासन के कारण नही, यद्यपि अनधिप्रवेश का प्रयोजन स्पष्ट रूप से निष्कासन होता है।[१]

परन्तु समस्या का वास्तविक स्वरूप सैनिक विधि की स्थिति के साथ न्यायालयों के सम्बन्ध में दिखाई पडता है। इस बात में कोई सन्देह नही कर सकता कि जब अव्यवस्था को दबाने के लिए सभी आवश्यक कार्यवाही करना कार्यांग का कर्त्तव्य हो जाय, तो उसे दबाने में तुक भी है। इस कार्यवाही में सैनिक शक्ति का प्रयोग करना भी आ जाता है और वे उपाय भी सम्मिलित है जोकि इस प्रकार की सैनिक शक्ति अपने प्रयोजनो को पूरा करने के लिए करेगी। सैनिक विधि का प्रवर्त्तन कहा तक होना चाहिए जिससे कि न्यायालयो को अभिकथित अपराध और उसके प्रमाणित होने पर दिए जाने वाले दण्ड की जाच करने का अधिकार न रहे? यहा सैनिक विधि के प्राविधिक स्वरूप से हमारा कोई सरोकार नही है। सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से जिन समस्याओ से न्यायिक सत्ता का सम्बन्ध है, वे दो है। पहली यह है कि न्यायालय सैनिक आवश्यकता के आधार पर अपना क्षेत्राधिकार कहा तक कम होने दे सकते है? दूसरी समस्या यह है—न्यायालय किसी काम की सफाई में यह दलील कहा तक स्वीकार कर सकता है कि वह काम किसी व्यक्ति ने सैनिक विधि के पदाधिकारी की हैसियत से अपने कत्तव्यो को निभाते समय किया था?

मैं समझता हू कि पहले प्रश्न का उत्तर तो सामान्य रूप में ही दिया जा सकता है। उत्तर यह है कि जहा तक सम्भव हो न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात पर ज़ोर दे कि उसके क्षेत्राधिकार का अवक्रमण और किसी का क्षेत्राधिकार न कर सके और यह कि जब तक उसका न्यायालय प्रभावपूर्ण ढग से काम कर रहा हो तब तक किसी और न्यायालय को काम करने की अनुमति न दी जाय। यह इसलिए कि यदि इस राय पर स्थिर न रहा जाय तो निश्चय ही—जैसा कि इतिहास साक्षी है—सैनिक विधि के प्रवर्त्तन में ज़्यादतिया की जायगी। मैं न्यायाधीशो के लिए जो राय अपनाना ज़रूरी समझता हू उस का प्रमाण चीफ जस्टिस फिट्ज़गिब्बन ने केस आफ वोलफटोन[२] में बडी अच्छी तरह दिया है। जब तक यह निश्चित न हो जाय कि सैनिक न्यायाधिकरण दण्ड दे सकते है और जब तक असैनिक न्यायालय के लिए काम करना बिल्कुल दूभर न हो जाँय, तब तक सत्ता का दुरुपयोग अनिवार्य है। ऐसे दुरुपयोग का हमें बहुत अनुभव है। उदाहरण के लिए मिलिगन के एकतरफा मुक़दमे[३] या सम्राट बनाम नेल्सन और ब्राड[४] के मुकदमे का साक्ष्य देखिए तो पता चल जायगा कि किस प्रकार—जैसे कि मिलिगन मुकदमे में याची[५] के वकील ने कहा था—"सरकार का कार्यांग विभाग हमारी स्वतन्त्रता और जीवन का स्वामी बन बैठता है।" मुझे इसमें सन्देह दिखाई नही देता कि विद्रोह के दमन के लिए यह आवश्यक होता है कि दण्ड कडा दिया जाय और फौरन दिया जाय। परन्तु मैं समझता हू कि

---

१. कॉथार्न बनाम कैम्पबेल (१७९०), २०५
२. कई स्थानों पर।
३. (१८६६) ४ वाल २।
४ देखिए कौक बर्न की अलग-अलग रिपोर्टें।
५. उसी में पृष्ठ २२।

सभी बाते इस आवश्यकता की ओर सकेत करती हैं कि असैनिक न्याय की सर्वोपरिता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि अव्यवस्था के काल में कार्यांग की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए जाय। (१) सैनिक विधि के अन्तर्गत सभी मुकदमे, मामूली अपराधों को छोड, असैनिक अधिकारियो द्वारा निबटाए जाय जिनकी नियुक्ति न्यायाधीशो द्वारा बैरिस्टरो की स्थायी तालिका में से की जाय। (२) इन न्यायाधिकरणो को एक वर्ष कारावास से अधिक का दण्ड देने की शक्ति नही होनी चाहिए। (३) अधिक बडे अपराधो के मुकदमे, जिनके लिए एक वर्ष से अधिक काल के कारावास के दण्ड का विधान हो, साधारण असैनिक न्यायालयो में चलने चाहिए और अभियुक्तो को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने वकील रख सके। इन मुकदमो में फौजदारी न्याय की साधारण कार्य-विधि लागू होनी चाहिए। (४) सैनिक विधि के अन्तर्गत गिरफ्तार किये गये किसी भी व्यक्ति को, उसके विरुद्ध अभियोग लगाए बिना २४ घटो से अधिक देर तक नजरबन्द नही रखना चाहिए और अधिक से अधिक एक सप्ताह की नजरबन्दी के बाद उस पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए। जब परिस्थितिया ऐसी हो कि रिमाड लेना आवश्यक हो जाय, तो अभियुक्त से ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए कि उसे अपनी सफाई देने की तैयारी की पूरी सुविधाए मिल सके। (५) सैनिक विधि सम्बन्धी प्रत्येक अधिकारी को, जो किसी नये काम को अपराध घोषित करना चाहता हो, इस बात पर विवश करना चाहिए कि वह न्यायिक हैसियत में काम करने वाले दो असैनिक अधिकारियो से मजूरी ले, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। यदि असैनिक अधिकारी आपत्ति करें तो उसका प्रस्ताव तब तक कार्यान्वित नही होना चाहिए जब तक कि केन्द्रीय सरकार इसकी पुष्टि न कर दे।

सम्भव है कि ये प्रस्ताव बडे उग्र दिखाई दें, परन्तु ज़रा सोचिए कि ऐसा न किया जाय तो क्या होगा। यह सोचने पर उनका औचित्य दिखाई पडता है। इसका उदाहरण अप्रैल और मई १९१९ मे पजाब में होने वाले घटनाचक्र में मिलता है।[1] सैनिक विधि की घोषणा होने से पहले दो व्यक्तियो को अमृतसर में गिरफ्तार किया गया था और प्रान्त के दूर-स्थित स्थान में भेज दिया गया था। सैनिक विधि की घोषणा होने पर उन्हें लाहौर लाया गया, जो सैनिक विधि के क्षेत्र में था और उन पर एक विशेष सैनिक विधि न्यायाधिकरण में मुकदमा चला कर उन्हे दण्ड दिया गया।[2] गुरदासपुर में कई वकीलो को गिरफ्तार किया गया और उन्हे बडी बुरी हालत मे लाहौर लाकर एक आम जेल में महीने भर तक रखा गया। फिर बिना कोई अभियोग लगाए उन्हे छोड दिया गया, बल्कि साक्ष्य को देखते हुए यह मालूम करना कठिन है कि उन पर कौन सा अभियोग लगाया जा सकता था। और फिर लाहौर में हरकिशन लाल और दूसरे व्यक्तियो पर देशद्रोह और सम्राट् के

---

१. यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मै यह नहीं कह रहा हू कि उस स्थान में और उस काल में सैनिक विधि की आवश्यकता थी या नहीं, मेरी आलोचना तो उस घटनाचक्र तक सीमित है जो ऐसे सैनिक प्रशासन का अनिवार्य परिणाम है, जिस पर पूर्ण न्यायिक नियत्रण न हो।

२ किचलू और सत्यपाल का मुक़दमा।

विरुद्ध युद्ध करने के आरोप मे जो मुकदमा चला, उसमे अभियुक्तो को अपनी मर्जी का वकील चुनने की अनुमति नही दी गयी, मुकदमे का पूरा अभिलेख नही रखा गया और सफाई के वकील को प्रतिदिन लिए गए नोट न्यायालय के बाहर आने से पहले वही रख आने पडते थे। यह समझना कठिन है कि इस हालत मे वे अपने को निर्दोष कैसे सिद्ध कर सकते थे। कर्नल जैकब के अधीन एक दाडिक दस्ते ने एक व्यक्ति को कोडे लगाए जिसने—कुछ गर्मी के साथ—यह बताने से इनकार कर दिया था कि तार की तारे किसने नष्ट की। बाद में मालूम हुआ कि जैसा कि उस व्यक्ति ने कहा था, उसे मालूम ही नही था कि तारे किस ने नष्ट की थी। अन्त में, एक और उदाहरण लीजिए। लाहौर में प्रभारी सैनिक-अधिकारी ने कुछ से अधिक लोगो के बाजारो मे जमा होने की मनाही कर दी। कुछ लोग इकट्ठे हुए और उनके मुखिया लोगो को कोडे लगाए गए। जाच करने पर पता चला कि वे लोग बराती थे, जिनका प्रयोजन बिलकुल दोषरहित था।[1] मैं यह नही कहता कि इन उदाहरणो से किसी विशेषरूप से क्रूरतापूर्ण या असाधारण बात का पता चलता है। उदाहरण आयरलैण्ड में दमन का हो, बवेरिया, हगरी या रूस का, इससे सदा यही बात निकलती है कि एक बार न्याय का काम साधारण न्यायालयो से लेकर कार्यांग को दे दिया जाय, तो इस प्रकार की ज्यादतियो का होना अवश्यम्भावी है। इसलिए यह बात महत्त्वपूर्ण है कि न्यायालयो की शक्तियो की सरचना ऐसी हो, कि उनके कृत्य और कार्य विधि तभी अपने स्थान से हटें जबकि शासन करने की शक्ति लुप्त हो।

दूसरी समस्या का सम्बन्ध सैनिक विधि के काल में अधिकारियो के आचरण के सम्बन्ध में उन पर चलाए गये मुकदमो मे उन द्वारा अपनी सफाई मे कही गयी बातो से है। इस सम्बन्ध में सामान्य विधि के अन्तर्गत एक बहुमूल्य सुरक्षण है। यह निर्धारित किया गया है कि कोई भी ऐसा काम न्यायोचित नही समझा जायगा जिसके बारे में यह प्रमाणित न किया जा सके कि वह व्यवस्था बनाए रखने के लिए जरूरी था। एक अमरीकन न्यायालय ने कहा है[2] कि "यह अधिकार तो आपात से जनित होता है और आपात का प्रमाण मिलने पर ही इस अधिकार के प्रयोग को न्यायोचित कहा जा सकता है।" इसका अर्थ यह है कि कार्यांग का कोई अधिकारी अपने किसी काम की सफाई मे यह नही कह सकता कि उसके विचार में ऐसा करना जरूरी था, उसे इस बात मे न्यायालय का समाधान करना होगा कि साधारण ज्यूरी को उसके विचार से सहमत किया जा सकता है। मैं समझता हू कि यह तो मान लिया जायगा कि इससे अधिक अच्छी और कोई कसौटी नही मिल सकती। जिन जिम्मेदारियो को उत्तेजना में निभाना पडता है, उन पर ठण्डे दिल से विचार करने की कठिनाइयो के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन कठिनाइयो को ठीक मान भी लिया जाय तो भी यदि निर्णय प्रतिवादी के विरुद्ध हो, उन कठिनाइयों के आधार पर उस

---

१ १९१९ में हन्टर आयोग के सामने दिए गये साक्ष्य में यह और ऐसे बहुत से मामले मिलेंगे। इनके सम्बन्ध में साक्ष्य १९२४ की क्पत में ओ'डायर बनाम नायर के मुकदमे में भी दिया गया था।

२. मिचेल बनाम हारमोनी, १३, हावर्ड, ११५, १३४।

का दण्ड कम किया जा सकता है, उसे दोषमुक्त नही किया जा सकता। यह स्थिति इस व्यक्ति की स्थिति से भिन्न ही है जो क्रोध उत्पन्न करने वाली किसी बात के प्रभाव में आ कर किसी की हत्या कर देता है। उस हत्या का कारण तो समझ में आ जाता है परन्तु वह है तो हत्या ही। ऐसी बात हुई जिसने अभियुक्त को क्रुद्ध कर दिया—इस के आधार पर दण्ड तो कम हो सकता है, इसके आधार पर अभियुक्त को बरी नही किया जा सकता। इसलिए प्रत्येक मामले मे न्यायाधीश का यह काम है कि वह बडी सावधानी से इस बात को आके कि किये गए काम और उस स्थिति में क्या सम्बन्ध है, जिस से निबटने के लिए करने वाले ने वह काम ज़रूरी समझा। और उस काम को करने वाले को केवल इसलिए न्यायालय के नियत्रण से बचने का अधिकार नही है कि वह कार्यकारी की विशेष स्थिति में काम कर रहा था।

निस्सन्देह, इसके फलस्वरूप क्षतिपूर्ति अधिनियमों का प्रश्न उत्पन्न होता है। आधुनिक राज्य में गडबड होने के बाद लगभग सदा यही हुआ है कि इसे दबाने वाले व्यक्तियो को उन जिम्मेदारियो से मुक्त करने के लिए विधान बनाए गए है, जो अन्यथा उन पर आती। यह बात केवल गडबड के सम्बन्ध मे ही सच नही है, क्योंकि आयरलैण्ड में हुए अपराध में जिन व्यक्तियो का हाथ होने का सन्देह था उन्हे इगलैण्ड में गिरफ्तार किया गया और वहा से निकाल दिया गया और उस के बाद भी एक क्षतिपूर्ति अधिनियम बना।[1] इस प्रकार की प्रक्रिया का परिणाम मोटे तौर पर यह होता है कि उन कामो की न्यायाग द्वारा जाच नही हो पाती जिनका, उन्हें करने वालो के लिए गम्भीर परिणाम हो सकता है। इसका परिणाम यह भी है कि जो यह समझते है कि इन कामो से उन्हे ऐसी हानि पहुची है जो अन्यायपूर्ण है, उन्हें कार्यांग की शक्ति की दया पर निर्भर रहना पडता है। इस से कार्यांग अपने को अपने आचरण की उस समुचित जाच से अच्छी तरह बचा लेता है, जैसी कि ऐसे मामलो के फलस्वरूप हो सकती है जिनमें उसका आचरण उन परिस्थितियो में अन्यायपूर्ण हो जिनसे निबटने के लिए उसने वे काम किए हो। उन सब मामलो में जहा सैनिक विधि लागू की जाती है, न्यायिक जाच विशिष्ट रूप से आवश्यक होती है और क्षतिपूर्ति अधिनियमो के फलस्वरूप लगभग सदा ही न्यायिक जाच असन्तोषजनक और कठिन हो जाती है। इसलिए मैं समझता हू कि न्यायाग और कार्यांग के परस्पर सम्बन्धो के एक अवस्थान मे यदि न्यायाग के कृत्यो का समुचित रूप से पालन होना है तो, उसके लिए क्षतिपूर्ति अधिनियम बनाना बहुत ही अनुचित कार्य-विधि है। ऐसे मामलो में जो नागरिक यह समझता हो कि उससे अन्याय हुआ है तो वह इस योग्य होना चाहिए कि वह समुचित काल में न्यायालयो में उस अन्याय को दूर कराने का अपना अधिकार सिद्ध कर सके। मै समझता हू कि इस बात पर जोर देने का

---

१ इस देशनिकाले को एकपक्षीय ओ ब्रायन (१९२३) २ के० बी० ६१ के मुक़दमे में ग़ैरकानूनी ठहराया गया, क्षतिपूर्ति अधिनियम १३ आई १४ जार्ज पचम सी, १२ है। देखिये ससदीय वादविवाद (पचमी कडी) खण्ड १६० पृष्ठ ४९५९ १६८२ एम०, १७०३ ff।

पर्याप्त कारण है कि ऐसे अन्याय का उसके होने के समय से कुछ ही दिनो बाद प्रमाण दिया जाय और यह कि उस के सम्बन्ध में लेख एक महीने के भीतर मागा जाना चाहिए। ऐसा हो तब क्षतिपूर्ति अधिनियम युक्तियुक्त कहा जा सकता है। परन्तु जिस कार्यांग को सदा यह विश्वास हो कि विधानाग उसकी रक्षा करेगा, वह न्यायाग द्वारा परिनिरीक्षण की परवाह नही करेगा, क्योकि उसे मालूम है कि उसके पास न्यायाग के परिनिरीक्षण से बचने के साधन है। और इसका प्रभाव केन्द्र में स्थित उसके अभिकर्त्ताओ पर उतना नही पडेगा जितना कि उन पर, जो केन्द्र से दूर है। इसलिए सभी क्षतिपूर्ति अधिनियमो के लिए विधान सभा के स्थायी आदेशो द्वारा यह निर्धारित होना चाहिए कि उनके पास करने के लिए विशेष बहुमत जरूरी है और वह बहुमत दो-तिहाई सदस्यो का बहुमत होना चाहिए।

—३—

प्रत्येक कानूनी व्यवस्था के कार्य करने के लिए ऐसा तत्त्व होता है जिसमें किसी पेशे के व्यक्ति नही होते और उसका सबसे अच्छा उदाहरण ज्यूरी है। बल्कि ज्यूरी द्वारा मुक़दमे का अधिकार तो अधिकतर राजनीतिक व्यवस्थाओ का उद्देश्य रहा है जिससे कि वे न्यायाग की अभिनति से सुरक्षण की व्यवस्था कर सके, जोकि बहुधा कार्यांग की दया पर निर्भर होता है। तो ज्यूरी कम से कम आशिक रूप में इस बात की गारटी है कि लगभग तटस्थ व्यक्तियो के समूह की राय पर ध्यान दिया जायगा। उदाहरण के लिए, १७९४ में हुए देशद्रोह के मुक़दमो[१] का विवरण पढिए तो पता चलता है कि उन मुकदमो में ज्यूरी न होती तो उन मुकदमो का फैसला केवल इस धारणा के आधार पर होता कि उदार विचार रखना घोर देशद्रोह है। और फिर जो कोई भी पचास वर्ष पहले के दाण्डिक मामलों में इगलैण्ड के न्यायाधीशो की आदतो का अध्ययन करेगा, उसे यह पता चल जायगा कि न्याय की पूर्वधारणाए चाहे कुछ भी हो, वास्तव में न्यायाधीश तो यह समझ लेता था कि जिन व्यक्तियो पर अभियोग चलाया जा रहा है, वे दोषी है और ज्यूरी न्यायाधीश के निश्चित पूर्वाग्रहो के विरुद्ध अपील का साधन बन कर एक बहुत बडा प्रयोजन पूरा करती थी। इसमें सन्देह नही कि ज्यूरी व्यवस्था में बहुत बडी असुविधाए है। जिन मामलो में राजनीतिक राय का सम्बन्ध है, उन सभी में ज्यूरी का रुझान यह रहेगा कि वह तत्कालीन राय की अभिव्यक्ति का साधन बनेगी। उदाहरण के लिए, अमरीका के दक्षिणी राज्यो में हब्शियो के मामले आते है तो उनमें ज्यूरी में पक्षपात की भावना रही है और लदन की साधारण ज्यूरी अपमान-लेख के मामले में प्रतिवादी के मजदूर नेता होने पर जो राय बनाती है वह प्रतिवादी के कन्जर्वेटिव दल का प्रमुख सदस्य होने की दशा में भिन्न हो जाती है। उन सभी मामलों में, जो निश्चित रूप से फौजदारी मामले नही होते, ज्यूरी के सदस्य ऐसे ससार में रहते है जिसमें वे अपनी राय के मानको की जाच नही करते। ज्यूरी का सदस्य अपने पडोसी की राय को ही अपना लेता है और न्यायाधीश के नियत्रण से बाहर के क्षेत्र में वह

---

[१] इन का सार पी० ए० ब्राउन 'ने दी फ्रेंच रेवेल्यूशन एण्ड इगलिश हिस्ट्री' में दिया है।

उन तथ्यो पर उस राय को लागू करता है, जिनके सम्बन्ध में उसे राय बनानी पडती है। उदाहरण के लिए, समाज्ञी बनाम नेल्सन और ब्राड[1] के मामले को चीफ जस्टिस कॉकबर्न से लेकर महान ज्यूरी को दे दिया गया था। इससे यह समझना असम्भव हो जाता है कि सिवाए इस पूर्वधारणा के, और किसी आधार पर आरोप पत्र क्यो तैयार नही हो सका, कि जमई का विद्रोह के दमन के लिए जो कुछ भी किया गया वह ठीक था चाहे उसके करने का तरीका कुछ भी क्यो न रहा हो। कारलाई की तरह सभी अग्रेज इस बात में विश्वास रखते थे।

फिर भी मेरा विश्वास है कि सभी फौजदारी मामलो और ऐसे दीवानी मुकदमो में ज्यूरी व्यवस्था का होना एक महत्त्वपूर्ण सुरक्षण है, जिनमें हित वैयक्तिक न होकर अवैयक्तिक हो, जैसे कि अपमान-लेख जोकि इस सम्बन्ध में सविदा-भग से भिन्न है। इस बात का बहुत महत्त्व है कि जैसे मताधिकार के लिए सम्पत्ति का स्वामी होना जरूरी नही होता, उसी प्रकार ज्यूरी का सदस्य होने के लिए सम्पत्ति का मालिक होना आवश्यक न समझा जाय। यदि आप इसमें साधारण व्यक्तियो को रखना चाहते है तो उसके लिए यही एक तरीका है। इस बात का भी महत्त्व है कि ज्यूरी के सदस्य को समुचित पारिश्रमिक मिले जो। कोई भी कुछ समय तक ज्यूरी में रहा है, वह जानता है कि ज्यूरी के सदस्यो का सरोकार न तो साक्ष्य से होता है और न ही मुकदमे के परिणाम से, बल्कि इस बात से होता है कि वे कब अपनी दिनचर्या में फिर जा लगेंगे। इसके परिणामस्वरूप उनके मस्तिष्क में अजीब तरह की असगत बाते आ जाती है। वे उस वकील के पक्ष में हो जाते है जो सक्षेप में बोलता हो और इस बात का कोई विशेष ध्यान नही रखते कि वह जो कुछ कह रहा है उसका क्या महत्त्व है। उनके दिमाग विचाराधीन मामले से हट कर इस बात की ओर भटकने लगते है कि सप्ताह के अन्त में न्यायलय स्थगित होने के बाद फिर जब उसकी बैठक होगी तो वह जल्दी होगी या देर में। इस प्रकार की कठिनाइयो के कारण कई लोगो को यह विचार सूझा है कि ज्यूरी के लिए एक स्थायी तालिका होनी चाहिए जिसमें से लोगो को ज्यूरियो में रखा जाय। परन्तु ऐसे तरीके से तो इस व्यवस्था का सार ही समाप्त हो जाता है। यह इसलिए कि इन मामलों में हमें प्रशिक्षित व्यक्तियो की राय की आवश्यकता नही होती, बल्कि साधारण व्यक्तियो की राय वाछित होती है। और वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत वह राय तब तक ठीक प्रकार मिलती है जब तक कि ज्यूरी के निर्णयो के विरुद्ध अपील की व्यवस्था रहे, विशेषकर फौजदारी मामलो में यह व्यवस्था रहनी चाहिए।[2]

परन्तु जबकि किसी मामले में सम्बन्धित समस्या व्यक्तिगत न हो, बल्कि मोटे तौर पर प्राविधिक स्वरूप की हो, तो स्थिति भिन्न हो जाती है। सम्भव है कि यह समस्या सविदा के मामले में व्यवसाय के व्यवहार की हो, मजदूर सघों की प्रथा की हो, व्यापार चिन्ह के उल्लघन की हो, अभिकरण-विधि सम्बन्धी हो या इस प्रकार की अन्य समस्या हो। मेरा

---

१. कई स्थानों पर

२. निस्सन्देह मेरा मतलब यह नहीं है कि अभियोक्ता पक्ष को वाडिक मामलों में अपील करने का अधिकार हो।

कहना यह है कि इस प्रकार के प्राविधिक मामलो में ज्यूरी का होना तब तक सगत नही होगा जब तक कि विवादग्रस्त मामले को निबटाने के लिए विशेष प्रकार की ज्यूरी न बनाई जाय। मै समझता हू कि इस आवश्यकता को पूरी करने का सीधा सा तरीका यह है कि प्रतिनिधि सस्थाओ के व्यक्तियो की एक स्थायी तालिका बनाई जाय जिसमें वे व्यक्ति आवश्यकता होने पर ज्यूरी में बैठें। इसका एक और लाभ यह होगा कि विशेषज्ञ साक्षियो की राय को ऐसे व्यक्ति आक सकेगे जिन्हे वास्तव में उस विषय का ज्ञान है और बता सकेंगे कि उस साक्ष्य में कितना तथ्य है। इससे न्यायाधीश को यह आश्वासन प्राप्त होगा कि उसकी राय की जाच व्यक्तियो का ऐसा समूह करेगा जिनके लिए उसकी राय का महत्व वास्तव में होगा। इनमें से प्रत्येक लाभ महत्त्वपूर्ण है।

न्यायिक प्रक्रिया में वृत्ति-रहित व्यक्तियो का जो तत्त्व है, उसके प्रतिनिधि इगलैण्ड में जस्टिस आफ पीस है जो अवैतनिक काम करते हैं। और यदि उनके कृत्यो के क्षेत्र के विस्तार को ध्यान में रखा जाय तो यह मालूम होगा कि उन्होने, विशेषकर इगलैण्ड में सराहनीय कार्य किया है। मेरा अपना यह निश्चित मत है ऐसे व्यक्तियो को सामान्य क्षेत्राधिकार देना बडी भूल है, जिनके लिए कानून का कोई अनुभव आवश्यक नही समझा जाता। इस समस्या के कई ऐसे तत्त्व है जिन पर विचार करना जरूरी है। पहली बात तो यह है कि नियुक्ति का आधार ही असन्तोषजनक है। लगभग सदा ही इन नियुक्तियो का आधार राजनीतिक रहता है। जैसाकि मि० एच० जी० वेल्स ने कहा है यह पद "छुट्भइयो की राजराणकता" बन जाता है। इसे राजनीतिक सेवा के पारितोषिक के रूप में दिया जाता है जब कि सेवा इतनी बडी नही समझी जाती कि उसके लिए इससे अधिक बडा पद देना ठीक जचे। यह आर्डर आफ दी ब्रिटिश एम्पायर जैसा विभूषण बन जाता है और ससद् का कोई प्रमुख सदस्य अपने छोटे-मोटे अनुयायियो को यह पद उसी प्रकार दिला देता है जैसे कि शिकार के बाद मरी हुई लोमडी शिकारी कुत्तो के सपुर्द कर दी जाती है। निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण न्यायिक पद पर नियुक्ति के लिए यह अपर्याप्त तरीका है। परन्तु दूसरी बात यह है कि इस कृत्य को पूरा करने के जो तरीके हैं, उनमें बहुत सी त्रुटिया रह जाती है। यदि मामले में कोई कानूनी नुकता है, तो मजस्ट्रेट के अज्ञान के कारण निर्णय करने का भार न्यायालय के क्लर्क पर आ पड़ता है। यदि उस मुक़दमे में स्वविवेक के प्रयोग की आवश्यकता है तो निणायक भावना ऐसे व्यक्ति के अनुभव से जनित होती है, जिसका अपने काम का ज्ञान यही तक सीमित है कि उसे साल में साधारणतया केवल १५ दिन तक कचहरी लगानी पडती है। इसके परिणाम बडे गम्भीर होते हैं। ऐसे मजिस्ट्रेट भी है जो प्रत्येक विषय पर अपनी राय प्रकट किये बिना नही रह सकते। कुछ ऐसे है जो कुछ मामलो में तो आवश्यकता से अधिक कडाई बरतते है और कुछ मामलो में बड़े उदार बन जाते हैं। किन्ही विशेष अपराधो में भिन्न-भिन्न मजिस्ट्रेटो द्वारा दिए गए दण्डो का अध्ययन कीजिए तो पता चलता है कि जब बन्दी का फैसला वैतनिक की बजाय अवैतनिक मजिस्ट्रेट करता है तो बन्दी को किन खतरो का सामना करना पडता है। मुझे इसमें सन्देह दिखाई नही देता कि कुछ जस्टिसिज आफ पीस ने बहुमूल्य सेवा की है। परन्तु साधारण जस्टिस आफ पीस के पास अपने पद के योग्य होने के लिए न तो आवश्यक ज्ञान होता है

और न प्रशिक्षण प्राप्त होता है। ऐसा समझ लीजिए कि वह साधारण व्यक्ति होता है जो ज्यूरी में होने की बजाय न्यायाधीश के पद पर आसीन होता है। और जब वह किसी गाव में जस्टिस आफ पीस होता है और शिकार की चोरी के मामले का फैसला करने बैठता है तो न उसकी मानसिक स्थिति ऐसी होती है कि वह न्याय कर सके और न उसके पास उस योग्य अनुभव रहता है। इसलिए किसी भी न्यायिक व्यवस्था में इस बात का बडा महत्व है कि सामान्य क्षेत्राधिकार की शक्तिया केवल ऐसे व्यक्तियो को दी जाय जिन्हें विधि का प्रशिक्षण प्राप्त हो और जो उस में सक्षम हो।

विशेष समस्याए सामने आती है तो बात भिन्न हो जाती है। एक ओर तो कानून के कुछ व्यतिक्रमण है और दूसरी ओर दीवानी मुकदमे, जिनके सम्बन्ध में मैं यह समझता हू कि अधिक अच्छा यही है कि प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार दिया जाय और अपील कर सकने का अधिकार सुरक्षित रहे। ऐसे मामले होते है जिनसे किसी व्यवसाय विशेष को परिणाम में विशेष दिलचस्पी रहती है, उदाहरण के लिए गन्दे खाद्य की बिक्री से जनहित की रक्षा करने के विधान में खाद्य बेचने वाली दुकानो को विशेष दिलचस्पी होगी। और उन मामलो जैसे मामले भी होते है जो कारखाना अधिनियमो के अन्तर्गत आते हैं, जिनमे वाछनीय यह है, कि श्रमिको को नौकर रखने वाले मालिको में उन अधिनियमो के प्रति जिम्मेदारी की भावना जागृत की जाय। मै समझता हू कि ऐसे मामलो में प्रादेशिक न्यायाधिकरण बनाने से, जिन मे प्रतिनिधि सस्थाओ द्वारा नामजद किए गए व्यक्ति हो, उन लोगो के पास कानन को लागू करने का बडा अच्छा साधन रहेगा जिन पर कानून का बडा प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। उन के लागू करने में पक्षपात होने का जो खतरा है, उसे अपील का अधिकार देकर दूर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, व्यवसाय बोर्ड द्वारा बनाया गया मजूरी क्रम उन न्यायालयो द्वारा लागू किया जाय, जिन में बोर्ड के प्रतिनिधि हो तो सम्बद्ध उद्योग में ऐसे विधान के महत्त्व की भावना जागृत होगी। इस से उद्योग में भाईचारे की भावना आएगी और यह इच्छा उत्पन्न होगी कि और उद्योगो की तुलना में कम मामले न्यायालयो के सामने जाय। निपिद्ध सामग्री के प्रयोग के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। मैने पिछले अध्याय में जिस व्यवस्था का विवरण दिया है, मै समझता हू कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक औद्योगिक परिषद् में एक वैधिक न्यायाधिकरण बनाया जा सकेगा जो विधि के अतिक्रमण के उन मामलो को निबटाएगा, जिन से उस उद्योग की स्थिति पर प्रभाव पडता हो। इस बात का कोई कारण नही कि हम औद्योगिक क्षेत्र में वैसा ही नैतिक अनुशासन क्यो न बनाएँ जैसा कि डाक्टरी या वकालत के पेशो के आचरण के मानको के सम्बन्ध मे है। कोई व्यक्ति यदि सदा ही शुद्ध खाद्य अधिनियमो से बचता हो, तो उसे व्यवसाय से बहिष्कृत किया जा सकता है या किसी ऐसी कम्पनी को तोडा जा सकता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि किसी डाक्टर को डाक्टरो की पजी से निकाल दिया जाता है जिस से कि व्यवसाय के सम्मान के मानक बने रहे। इस प्रकार के विकेन्द्रीकृत क्षेत्राधिकार का स्वरूप जब तक कुछ विशिष्ट अपराधो तक ही सीमित रहे और उन न्यायाधिकरणो के हाथ में हो, जो समुचित सत्ता द्वारा बनाए जाय, तो वह वैसा अव्यावसायिक नही रहता जैसा कि आजकल के अवैतनिक न्यायाधीशो का होता है। और इसमें यह लाभ भी है कि उद्योग अन्य प्रयोजनो

के लिए एक वास्तविक एकाश बन जाता है। तब वह न्याय मत्रालय को कानून के प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में, जिस का उस पर प्रभाव पडता है, ऐसे ढग से राय दे सकता है कि कानून की किस्म सुधर जायगी। हमें पहले से ही अनुभव है कि व्यापार मण्डलो को मध्यस्थता की जो शक्तिया प्राप्त हैं, वे कितनी गुणकारी है। इस का कारण यह है कि उन का क्षेत्राधिकार केवल उन्ही समस्याओ तक सीमित है जिन्हें हल करने के लिए वे सक्षम हैं, और ऐसी शक्तियो के विस्तार से निश्चय ही लाभ होगा।

न्यायिक कृत्य में वृत्ति-रहित व्यक्तियो के तत्व का एक तीसरा पहलू है जिस का आजकल लाभ नही उठाया जा रहा। वह अपराध और उसके दण्ड की समस्या से सम्बद्ध है। आजकल अधिकतर राज्यो में कानूनो में दण्ड की ऊपरी सीमा निर्धारित कर दी जाती है और उसका परिमाण न्यायाधीश के अबाध विवेक पर छोड दिया जाता है। उस दण्ड में पुनरीक्षण करने का काम न्यायाग के लिए रह जाता है। जब न्यायाधीश निर्णय करता है तो उस के सामने पुलिस की रिपोर्ट होती है—जिसमें वह सभी कुछ होता है जोकि पुलिस बन्दी के बारे में जानती है—और मुकदमे में दिया गया साक्ष्य होता है। मैं समझता हू कि कार्य-विधि का यह तरीका समुचित नही है। पहली बात तो यह है कि ऐसे प्रकार के अपराध भी हैं जिन के लिए दण्ड तभी से निश्चित है जब उन के स्वरूप के बारे में वास्तविक ज्ञान सम्भव नही था। इस का सब से अच्छा उदाहरण लैंगिक अपराध हैं। ऐसे मामलो में प्रत्येक न्यायाधीश को तभी दण्ड दे सकना चाहिए जब कि उस के सम्बन्ध में सक्षम डाक्टरों की राय ली जा चुकी हो। ऐसे मामलो में डाक्टरी परामर्शक से सलाह लेना उतना ही स्वाभाविक होना चाहिए जितनी कि यह बात कि नौवहन सम्बन्धी मामलो में नौसेना के परामर्शक से सलाह ली जाती है[1]। दूसरी बात यह है कि दण्ड-काल का प्रयोग कैसे किया जाय—इस प्रश्न पर आज की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जा सकना चाहिए। कोई न्यायाधीश यदि किसी सेंध लगाने वाले को सात वर्ष दाडिक अधिसेवा का दण्ड देता है तो आजकल किये गए अधिकतर अनुसधानो से यह स्पष्ट हो गया है कि वह उसे ऐसे कारावास अनुशासन में रहने की सजा दे रहा है जहा से निकलते ही उसका फिर सेंध मारने लगना लगभग निश्चित सा है। सभी बातो को देखते हुए मुझे यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि हमें आवश्यकता इस बात की है कि न्यायाधीश को न केवल प्रतिवादी का पुलिस-अभिलेख देकर सहायता दी जाय बल्कि उस के मानसिक और सामाजिक इतिहास के बारे में जो कुछ भी मालूम हो सके, उसे प्रशिक्षित अनुसधानको द्वारा मालूम करके न्यायाधीश को बताया जाय। हमें इस योग्य होना चाहिए कि हम न्यायाधीश को ऐसी सामग्री दे सकें जिस के आधार पर वह आज की अपेक्षा अधिक वास्तविक ज्ञान पा सकेगा और निर्णय दे सकेगा। और मैं समझता हू कि ऐसी व्यवस्था गलत है जिस में बन्दी में न्यायाधीश की दिलचस्पी उस का अपराध सिद्ध होने पर समाप्त हो जाती है। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि जेलो के प्रबन्ध में न्यायाधीश का हाथ रहे तो वह अपनी जिम्मेदारियो को अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा जिस का कि आजकल सामान्यतया अभाव है। बल्कि इस बात का भी

---

१. देखिए ग्राहम वालास की अवर सोशल हैरिटेज, पृष्ठ १९२

पर्याप्त कारण मौजूद है कि इस प्रकार न्यायाधीश को जेलो के प्रबन्ध में साथ लेकर प्रत्येक वर्ष उस प्रबन्ध के स्वरूप पर टिप्पणी प्राप्त की जाय। यदि राज्य को कई प्रदेशों में बाटा गया हो और उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश को प्रत्येक प्रदेश की जेलो के निरीक्षण और रिपोर्ट का काम सौपा जाय, तो जेल व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत सा अज्ञान दूर हो जायगा और इस बात का साधन मिल जायगा कि निरन्तर सुधार के लिए विशेषज्ञो की राय का प्रयोग किया जा सकेगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आजकल दण्ड सम्बन्धी सभी गम्भीर सुधार जेल-अधिकारियो को छोड अन्य लोग करते है और उन्हें बिना विरोध के लागू नही किया जाता। न्यायाधीश को उस के निर्णय के प्रभाव से परिचित कराने से ऐसे क्षेत्र में यह साधन प्राप्त हो जाता है जहा इस का होना बहुत जरूरी है[1]।

—४—

न्याय प्राप्त करने की प्रारम्भिक शर्त यह है कि न्याय में समानता हो। फिर भी कोई इस बात पर विश्वास नही कर सकता कि वर्तमान व्यवस्था में न्याय होता है। यह केवल फौजदारी ही नही बल्कि दीवानी मुकदमो में भी होता है। अभिकथित अपराधियो पर मुकदमा चलाने के लिए आधुनिक राज्य के पास बहुत बडा सगठन रहता है परन्तु उन का समुचित बचाव करने वाला कोई भी सगठन नही है। जब भी मुकदमे में प्रतिवाद की तैयारी एक महत्वपूर्ण मद होती है तो धनी व्यक्तियो के लिए एक कानून है और निर्धनो के लिए दूसरा। यही पर बस नही है। जीवन के वैयक्तिक सम्बन्धो में, उदाहरण के लिए, तलाक के मामले में, साधनो के अभाव का तात्पर्य बहुधा यह होता है कि ऐसे साधनहीन व्यक्तियो की पहुच न्यायालय तक नही हो सकती। और दीवानी मुकदमो में भी बहुधा ऐसा होता है कि यदि कोई गरीब व्यक्ति वकील नही रख सकता या कुशल वकील नही रख सकता, तो यह बात उस द्वारा न्याय प्राप्त करने में घातक बाधा बन जाती है। यदि कोई निर्धन स्त्री चोरी करती है तो उसका अपराध बडी जल्दी सिद्ध हो जाता है, परन्तु यदि किसी अमीर स्त्री ने कुछ चुराया हो तो उसे स्नायु रोग होने के आधार पर मुचलका लेकर छोड दिया जाता है। यदि कोई टैक्सी ड्राइवर शराब में धुत्त पाया जाय, तो उसे जुर्माना देना पडता है परन्तु यह सभी जानते हैं कि मजिस्ट्रेट ऐसे ही किसी अमीर युवक को अपराधी सिद्ध नही करते क्योकि अकसर वह अपील करता है और अपने विरुद्ध निर्णय को पलटवा लेता है। व्हाइट चेपल में पुलिस का विरोध करने वालो के जिस आचरण को गडबड फैलाने वाला काम मान लिया जाता है, मेफेयर में बिल्कुल वैसे ही आचरण को मस्ती की भावना का उद्रेक कहा जाता है। यदि किसी कम्पनी के ऊची सामाजिक हैसियत वाले सँचालक कम्पनी के काम की परवाह नही करते, तो उस के दिवालिया बन जाने पर उन्हें जिम्मेदार नही ठहराया जाता, परन्तु

---

१ इस सारे प्रश्न पर देखिए विशेषकर आर० सेलिलेस की "दी इण्डविजुअलाइजेशन आफ पनिशमेण्ट, स्टीफन हाबहाउस और ए० फेनर ब्राकवे की दी प्रिजन सिस्टम, सिडनी और बीट्रिस वेब की इगलिश प्रिजन्स अण्डर लोकल गवर्नमेण्ट; टी० मोट ओस्बोर्न की सोसाइटी एण्ड प्रिजन्स और जेम्स डेवेन्स की दी क्रिमिनल एण्ड सोसाइटी।

यदि किसी छोटे मोटे अधिकारी के हिसाब मे गडबड हो जाती है तो उसके लिए ग़बन के आरोप से बचना कठिन है। स्पष्ट ही है कि हमें इस प्रकार की स्थिति का सुधार करना पडेगा।

हम किसी हद तक इस स्थिति मे सुधार विधान द्वारा नही कर सकते, क्योकि जो स्वभाव इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है वह तभी बदलेगा जब कि सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन होगा। जिस मजिस्ट्रेट को गरीब चोर तो दोषी मालूम देता है परन्तु अमीर चोर मे स्नायु-रोग दिखाई देता है, वह तब तक अमीर और गरीब में विभेद करता रहेगा जब तक कि आर्थिक दर्जे के भेद दूर नही हो जाते। जो न्यायाधीश इस बात में विश्वास नही रखता कि सार्वजनिक कम्पनियो के प्रमुख सचालक उस उपेक्षा के लिए ज़िम्मेदार है जिसे रोकने के लिए उन्हें वेतन दिया जाता है, वह तभी उन्हें ज़िम्मेदार समझेगा जब आय काम के अनुसार होगी। इस पहलू में, कानून के लागू किये जाने के वर्त्तमान विभेद जब कानून नही बल्कि धन-सम्पदा की असमानता पर आधारित हो, तो उन्हें तभी दूर किया जा सकता है जब कि धन-सम्पदा की बराबरी का आन्दोलन चले। यह स्थिति एक बहुत बडी समस्या का एक पहलू मात्र है। गरीबो मे जो बाते बुरी मानी जाती है, वही अमरो में बुरी नही लगती। जब बोल्शिविको ने अभिजात वर्ग के लोगो को हत्याए की तो सभ्यता के शासक काप उठे थे, परन्तु जब अभिजात वग ने बोल्शिविको को मार डाला था, तब उन्हें कपकपी नही छूटी थी। मैं जिस वातावरण का वर्णन करने की चेष्टा कर रहा हू, वह सम्भवत शिकागो के फ्रैंक्स हत्या केस मे बडी अच्छी तरह दिखाई पडा था, जब ऐसा लगता था कि अमरीका की जनता यह समझती है कि करोडपतियो के पुत्र, चाहे वे अपराधी हो, न्यायालयो से मृत्यु दण्ड नही पाएगे।[1] सच तो यह है कि जिस रुझान के कारण इगलैण्ड के किसी लार्ड पर लार्ड्स-सभा द्वारा ही विशेष रूप से मुकदमा चलाया जा सकता है, वह तभी समाप्त होगा जब वे विशेषाधिकार समाप्त हो जायेंगे जिन का प्रतीक लार्ड्स-सभा है।

फिर भी इन सब बातो का यह मतलब नही है कि हम समस्या के उस पहलू से न निबटे जिस का प्रत्यक्ष रूप से समाधान किया जा सकता है। इसके भी दो पहलू है। दण्ड के सम्बन्ध में, जैसे कि इगलैण्ड मे सार्वजनिक अभियोग निर्देशक होता है या अमरीका में ज़िला न्यायवादी होता है, उसी प्रकार एक रक्षा-निदेशक की भी ज़रूरत है जिस का काम यह देखना होगा कि किसी ऐसे बन्दी पर समुचित प्रतिवाद की तैयारी किये बिना मुकदमा न चलाया जाय जिस पर कोई गम्भीर आरोप लगाया गया हो।[2] जहा रक्षा-निदेशक की सेवाओ के लिए उपयुक्त पारिश्रमिक लिया जा सकता हो, वे सेवाए नि शुल्क देने का कोई कारण नही, परन्तु जब प्रतिवादी इतना गरीब हो कि कुछ न दे सकता हो तो उसके बचाव का ख़र्च न्याय की साधारण लागत मे शामिल कर लिया जाना चाहिए। ऐसे साधनो के

---

१ देखिए न्यू रिपब्लिक सितम्बर, २४, १९२४ मे छपा लेख "दी फैंक्स केस"।

२ इस से मेरा अभिप्राय ऐसा अपराध है जिस के लिए छ महीने या अधिक दण्ड की व्यवस्था हो।

होने पर ही साधारण बन्दी को यह आश्वासन मिल सकता है कि उस का पक्ष समुचित रूप से न्यायालय के सामने रखा जायगा। इसमें सन्देह नही कि न्यायाधीश साक्ष्य का पूरा महत्व ज्यूरी को बताने का भरसक प्रयत्न करेगा परन्तु अन्वेषण, गवाहो को बुलाने आदि की बहुत सी बातें है, जो आजकल अधिकतर इस बात पर निर्भर है कि बन्दी की आर्थिक स्थिति कैसी है। मुझे पता चला है कि हत्या के किसी बडे मुकदमे में कोई समाचार-पत्र बन्दी से सनसनीखेज लेख के बदले में उस के खर्चे का एक अश दे देता है। स्पष्ट ही है कि कार्य-विधि का यह ढग ऐसा है जिसे किसी भी तरह उचित नही कहा जा सकता। इस से मानवीय मस्तिष्क की निम्नतम प्रवृत्ति की सतुष्टि होती है। इस से अपराधी एक नायक जैसा दर्जा प्राप्त कर लेता है। इस से बजाय इस के कि अपराध की जघन्यता प्रकट हो, वह एक प्रशसनीय बात बन जाता है। यदि सावजनिक रक्षा की व्यवस्था करने से केवल यही हो कि इस प्रकार का व्यवहार रुक जाय तो भी ऐसा करना न्यायोचित होगा। परन्तु इस का मुख्य औचित्य यह है कि इस के कारण बन्दी राज्य के बराबर हो सकेगा, जो उस पर मुकदमा चलाता है।

सार्वजनिक रक्षा कार्यालय का स्वरूप ही ऐसा है कि यह अवश्य केन्द्रीयकृत होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि मौके पर गरीब व्यक्तियोको सक्षम कानूनी सलाह देने वाली एक सरचना हो। ऐसी सरचना की आवश्यकता सिद्धात रूप में तो अधिकतर मानी ही हुई है, और, व्यवहार-रूप में, गरीब आदमी का वकील अकसर आधुनिक नगर की कल्याण सस्थाओ का सदस्य होता है।[१] परन्तु इस प्रकार के स्वयसेवी अभिकरण यह सोच भी नही सकते कि वे इस सारे क्षेत्र में काम करते है। न केवल यह कि कानून के सारे क्षेत्र मे काम करने के लिए उन के पास साधन नही होते, बल्कि वे सलाह देने से अधिक कुछ कर भी नही सकते और न वे न्यायालयो मे जाकर उस सलाह पर अमल ही कर सकते हैं। और ऐसा अकसर होता है कि वे नए और अनुभवहीन वकीलो की राय पर भी निर्भर करते है। जर्मनी में यह व्यवस्था बहुत बडे पैमाने पर है। १९१२ में कानूनी सलाह के ११० विभागो ने जिन्हे कुछ खर्चा नगरपालिकाए देती हैं, ढाई लाख से अधिक मामले निबटाए।[२]

परन्तु हमें इस से अधिक विस्तृत चीज की आवश्यकता है। हमें आवश्यकता इस बात की है कि राज्य मे प्रत्येक न्यायालय के साथ कानूनी सलाह का एक कार्यालय सम्बद्ध हो। यह कार्यालय उस स्थानीय सत्ता से सम्बद्ध होना चाहिए जिस के क्षेत्र के लिए वह न्यायालय हो और उसमें ऐसे अधिकारी होने चाहिए जिन्हें स्थानीय सत्ता ने नियुक्त किया हो। यह इसलिए कि अनुभव से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इसके अधिकतर मुकदमो का सम्बन्ध उन समस्याओ से है जो स्थानीय सत्ता की क्षमता के अन्तर्गत प्रश्नो से उत्पन्न

---

१ देखिए आर० एच० स्मिथ की 'जस्टिस एण्ड दी पूअर' जिस मे इस सारे विषय पर बहुत सी जानकारी है।

२. देखिए डब्ल्यू० एच० डॉसन की 'म्युनिस्पल लाइफ एण्ड गवर्नमेण्ट इन जर्मनी' पृष्ठ ३०८।

होती है। मोटे तौर पर इस के तीन उप-विभाग होने चाहिए (१) सलाह देना वाला (२) मध्यस्थता करने वाला और (३) न्यायालयो के लिए केस तैयार करने वाला। इसमें नौकरशाही और औपचारिकता आ जाने का जो खतरा है, उसे यह व्यवस्था करके दूर किया जा सकता है कि वकीलो की एक परिषद् बना दी जाय जिस का काम इसके काम पर निग ानी रखना और उस के सम्बन्ध में रिपोर्टें देना हो। मैं समझता हू कि यदि उच्च-न्यायालय के वैधिक पदो या अर्द्ध-राजनीतिक पदो—जैसे कि महान्यायवादी का पद है—को छोड अन्य सभी न्यायिक पदो पर नियुक्ति उन्ही व्यक्तियो की जाय जो ऐसे कार्यालय में काम कर चुके हो, तो वकीलो की दृष्टि में उस का सम्मान और भी बढ जायगा। यदि किसी बोरो के वृत्तिकाग्राही ने उस काम को स्वय देखा हो, जिस की रूपरेखा मैं अभी बताऊगा तो उसके फलस्वरूप वह पहले से अच्छा सार्वजनिक कर्मचारी बन सकेगा।

मैंने इस कार्यालय में जिन उप-विभागो के बनाए जाने का सुझाव दिया है मैं, उन में से प्रत्येक की अलग-अलग चर्चा करूगा। सार्वजनिक और व्यक्तिगत कानून के सभी प्रश्नो पर जानकारी और सलाह दी जानी चाहिए। परन्तु इस में दो अपवाद है। जहा किसी व्यक्ति ने पहले ही किसी वकील से सलाह ली हो, उसे सलाह नही दी जानी चाहिए। और न सलाह ऐसी दशा में देनी चाहिए जब यह सन्देह हो कि वह व्यक्ति कानून से बचने की नीयत से सलाह माग रहा है। उदाहरण के लिए, इस कार्यालय का यह काम नही है कि आ कर से बचने में सहायता दें या दो व्यक्तियो के छलयुक्त तलाक का प्रबन्ध करे। परन्तु जो व्यक्ति बीमा अधिनियम, मजदूरो की क्षतिपूर्ति, या मालिक और किराएदार सम्बन्धी कानून के बारे में जानकारी या सलाह का चाहता हो उसकी इच्छापूर्ति होनी चाहिए। जिस व्यक्ति के पास सम्मन पहुचा हो उसे तत्सम्बन्धी स्थिति के बारे में सलाह दी जा सकती है। किसी ऋण देने वाले का पैसा किसी ने न चुकाया हो या कोई करजदार किसी सूदखोर साहूकार के चक्कर में फस गया है, या मोटर ड्राइवर की लापरवाही से किसी ने हानि उठाई हो—तो वे उसी प्रकार इस कार्यालय के पास आएगे जैसे कि धनी व्यक्ति अपने वकील के पास जाता हो।

इस कार्यालय का दूसरा उप-विभाग मध्यस्थता करने वाला होगा। प्रत्येक वर्ष हजारो ऐसे मामले न्यायालयो में आते है जिन में थोडी सी चतुराई और समझ से काम लिया जाय तो वे अदालत से बाहर ही निबट सकते हैं। अपमान-वचन और अपमान-लेख के मामले होते है, कही मिया बीबी आपस में झगड पडते है और न्यायालय में जाकर एक दूसरे से पृथक् होने की व्यवस्था करना चाहते है, कही वचन-भग के मामले होते हैं और ऐसे भी मामले होते है जहा ऋण देने वाले और लेने वाले में अचानक झगडा हो जाता है औ ऋण देने वाला जोश में आकर न्यायालय की ओर चल देता है। किसी ने साधारण पुलिस न्यायालय का किसी साधरण दिन का काम देखा है उसे यह बताने की जरूरत नहीं कि ऐसे मामले कितने अधिक होते हैं। यदि इस प्रकार के किसी कार्यालय को गैर सरकारी तौर पर इन मामलो को निबटाने की शक्ति दे दी जाय, तो बहुत सी अनावश्यक कठि ाइयां दूर हो जायेंगी। मैं समझता हू कि ऐसे कार्यालय को यह शक्ति देना जरूरी होगा कि वह सम्बद्ध पक्षो की एक अनौपचारिक सुनवाई के लिए बुला सके और जब मध्यस्थता स्वीकार

कर ली जाय और दोनों पक्ष निबटारे को स्वीकार कर लें तो यह व्यवस्था करना आवश्यक होगा कि उस के परिणामस्वरूप आगे कोई वाद न चल सके। यदि इस कार्यालय के परिपार्श्व में साधारण न्यायालय की गरिमा हो और उसमें नियुक्त किए गए अधिकारियो में लदन के किसी अच्छे मजिस्ट्रेट की तरह धैर्य हो, तो इस में कोई सदेह नही कि हम मानवीय सुख का परिमाण बढाने में बहुत योग दे सकते है।

इस कार्यालय म तीसरा उप-विभाग न्यायालयो में मुकदमे लडने के लिए होगा। इसका काम वही होगा जो कि कोई वकील करता है, परन्तु यह असामी से केवल उतनी फीस लेगा जो कि वह दे सकता हो। मै समझता हू कि इस उप-विभाग को इस आधार पर काम करना होगा कि जब कानून की दृष्टि में असामी का पक्ष हो ही न, तो वह उस की मुकदमा लडने की भावना को सतुष्ट करने मात्र के लिए उसका मुकदमा नही लडेगा। धनी व्यक्तियो की तरह निर्धन वर्ग में भी कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिन के अभिमान और झगडने के लिए तैयार रहने की प्रवृत्ति को सतुष्ट करने का तरीका केवल कानूनी कार्य-वाही है। हम यह मान सकते है कि जम कर मुकदमा लडने वालो ने बहुधा सार्वजनिक स्वतन्त्रता की रक्षा की है, परन्तु इसका यह मतलब नही है कि उनकी सहायता के लिए एक सार्वजनिक कार्यालय खोल दिया जाय। साधारणतया इस कार्यालय के अधिकारियो को इस सबध में अपना समाधान कर लेना चाहिए कि जो व्यक्ति कार्यालय से सहायता मागता है उसकी आवश्यकता वास्तविक है या उस के पास वास्तविक सफाई है। इस में सन्देह नही कि उन्हें वास्तव में पूछताछ कर लेनी चाहिए और जहा सहायता मागने वाला यह समझे कि उसके साथ उचित व्यवहार नही हुआ है, तो उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह कार्यालय की मत्रणा परिषद् से शिकायत कर सके। मै इस बात से इनकार नही करता कि इस प्रकार की सस्था बन जाने से वकीलो का बहुत सा व्यवसाय मारा जायगा। परन्तु एक बार इस सस्था को जनता का विश्वास प्राप्त हो जाय तो इससे कुछ बडे महत्त्व-पूण लाभ होगे। आशा है कि इससे उन वकीलो का राज समाप्त हो जायगा, जो निर्धनो की विपत्तियो से लाभ उठाते है। इससे न्याय में मानवीय तत्त्व लाने में भी काफी सहायता मिलेगी। मुकदमा लडने वाले गरीब आदमी के बचाव के लिए सार्वजनिक सत्ता होगी तो उससे वैसा उपेक्षापूर्ण व्यवहार नहीं होगा जैसा कि आजकल होता है। और कानून में मानवीय तत्त्व लाकर यह व्यवस्था लोगो के मन म कानून के लिए अधिक सम्मान पैदा करेगी जिस से कानून अधिक सुदृढ बनेगा।

मै यह कहूगा कि इस व्यवस्था का एक गुण यह भी है कि इस के द्वारा वकीलो को जनता की सेवा करने का माध्यम मिल जायगा। आजकल ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम ही है। बौस्टन में बहुत से ऐसे गरीब आदमी है—जिन्हें मुकदमें लडने पडते है—और जिन के लिए हार्वर्ड लॉ स्कूल का कानूनी सहायता विभाग न्याय का प्रतीक है।[1] मै समझता हू कि प्रत्येक ज़िले के वकीलो में परस्पर सहयोग से स्वयसेवी वकीलो की एक ऐसी तालिका बनाई जा सकती है जिस के सदस्य ऐसे कार्यालय में काम करें और जिससे इस कार्यालय

---

१. देखिये स्मिथ की पुस्तक, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

के कामो पर होने वाला खर्च बहुत कम हो जायगा। सभव है कि सामान्यतया साधारण बैरिस्टर के लिए न्यायालय में अपना काम छोड कर इस कार्यालय में काम करना कठिन हो। परन्तु आधुनिक आर्थिक जीवन की परिस्थितियो के कारण ऐसे कार्यालय का अधिकतर काम शाम के समय होगा। काम करने वाला व्यक्ति शाम को काम से लौट कर, आवश्यकता पडने पर, उन कार्यालयों में सलाह के लिए जायगा। मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि वकील ऐसी व्यवस्था क्यो नही कर सकते कि प्रत्येक रात उन के कुछ सदस्य ऐसे लोगो का मत्रणा देने और मध्यस्थता करने के लिए इन कार्यालयो में रहे। ऐसी व्यवस्था से स्वय उन्ही को लाभ होगा। नए वकील के लिए इन कार्यालयो में काम का उतना ही महत्त्व होगा, जितना कि नए डाक्टर के लिए किसी अस्पताल में रह कर काम करने का होता है। इस में सदेह नही कि पुराने वकील के लिए इस काम में कम आकर्षण होगा। परन्तु वकालत पेशे के दोनों पक्षो को यह याद रखना पडेगा कि वे एक पेशे के रूप में है। और जैसा कि मैं ने इस पुस्तक में कहा है, किसी पेशे की मुख्य विशेषता यह है कि वह केवल मुनाफे के विचार से ही प्रेरित न हो। और इसी प्रकार के एक अनुभव से यह पता चलता है कि इस प्रकार का काम करने से विशेषज्ञ व्यवसायी को भी बहुत लाभ हो सकता है। विश्वविद्यालय के जिस भी अध्यापक ने वयस्क शिक्षा के आन्दोलन मे काम किया है वह निश्चय ही इस बात को मानेगा कि वह जितना समय देता है और जितना काम करता है उससे वह अनुपातत कही अधिक उत्साह और निष्ठा उत्पन्न कर सकता है। जितना कुछ वह सिखा सकता है, उस से कही अधिक वह स्वय सीखता है।

मै समझता हू कि वकीलो, विशेषकर एडवोकेटो के सबध में भी यही बात ठीक है। उन्हें मानवीय स्वभाव के सबध में बहुत सी बातें मालूम होंगी जिन का उन्हें आभास तक नही है। एडवोकेट अपने मस्तिष्क को ऐसे वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायता मिलेगी, जिस में वह किसी समस्या का क़ानूनी हल नही बल्कि मानवीय हल ढढता है। वह कानून के तथ्यो को समझेगा, किसी मुकदमे के नुक्तो के रूप में नही बल्कि ऐसी समस्याओ के रूप में, जिन्हें उसे मानवो की आवश्यकताओ के अनुकूल लाना है। उसे कानून की क़ानूनी समझ की बजाय नैतिक समझ की अधिक आवश्यकता होगी। मेरा अपना विश्वास यह है कि इस प्रकार के अनुभव से अपने साधारण काम में वकील का महत्त्व अधिक बढ जायगा। उस के परिवारो के सर्वोत्तम सोलिसिटर की तरह बनने की आशा बहुत बढ़ जायगी, जो कि उन लोगो का विश्वासपात्र मित्र होता है, जिन्हें वह कानूनी सलाह देता है। कानून के सबधमें उसका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हो जायगा। आशा है कि वह इस वचन का अभिप्राय अधिक समझ सकेगा कि कानून का सा य न्याय है। सच तो यह है कि वह न्याय को उसके औपचारिक आवरण से दूर हटा कर उसे मानवीय इच्छा की पूर्त्ति के सीधे सादे तरीके के रूप में देखेगा। सभव है कि इस प्रकार के प्रयत्नो के फलस्वरूप ऐसे निवारक न्याय का विकास हो सकेगा जिस का न्यायालयो के न्याय के साथ वैसा ही सबध होगा जैसा कि निवारक औषधियो का अस्पताल में दी जाने वाली औषधियो से होता है। और, जैसा कि आगे चल कर बताऊगा, उसे इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप जो अनुभव प्राप्त

होगा, कानून के सुधार के सबध में उस का बहुत अधिक महत्त्व है।

कानून की दृष्टि से समानता का एक और पहलू है जिस के सबध में एकाध बात कहना जरूरी है। वह समस्या है उन निधन व्यक्तियो की, जिन्हें कारावास का दड दिया जाता है या बहुत अधिक जुर्माना किया जाता है। एक विशेष समस्या कानूनी कार्यवाही के खर्चे की भी है जोकि वकीलो के खर्चे से भिन्न है। किसी धनी व्यक्ति के परिवार पर इन बातो का कोई विशेष प्रभाव नही पडता, परन्तु ऐसी बातें निर्धन व्यक्तियों के लिए अभाव उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गभीर अपराधो को छोड़ बाकी सभी मामलो में मजिस्ट्रेट को चाहिए कि अपने विवेक का प्रयोग इस दिशा में करे कि अभियुक्त को कारावास के अतिरिक्त और कोई दड दिया जाय। इसलिए उसे चाहिए कि वह जिस प्रतिवादी पर जुर्माना करता है, उस की आय को ध्यान में रख कर ही जुर्माने की राशि निश्चित करे। अधिकतर मामलो में इस प्रकार का दड व्यक्ति के लिए नही बल्कि उस के परिवार के लिए दड बन जाता है। बल्कि यह दलील भी निराधार नही है कि जब प्रतिवादी कम पैसे वाला व्यक्ति हो तो उस से एक पौंड या अधिक राशि के जुर्माने किस्तो में वसूल किए जायें, और यदि उस के बीवी बच्चो की रक्षा के लिए परिवार की मजूरी की व्यवस्था जैसा कोई जुगाड हो जाय जिस का समर्थन मिस राथबोर्न[1] ने किया था, तो उस से और भी अधिक सहायता मिलेगी। क्योकि वास्तव में अपराध तो वैयक्तिक होता है, इसलिए हमें चाहिए कि ऐसी व्यवस्था करने का भरसक प्रयत्न करें कि उस के परिणामो का कम से कम व्यक्तियो पर प्रभाव पडे। इसी प्रकार मेरा कहना है कि इस बात के पक्ष में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है कि न्यायाधीश को यह अधिकार दिया जाय कि वह उपयुक्त मामलो में, जहा वादी या प्रतिवादी को न्यायालयो में नही खीचा जाना चाहिए था, न्यायालय शुल्क वापिस कर सके और, जहा सभव हो, ये शुल्क अनावश्यक और अनौचित्यपूर्ण मुकद्दमेबाजी के लिए जिम्मेदार व्यक्तियो से वसूल किए जायें। उन मामलो में भी ऐसी ही समस्या उत्पन्न होती है जिन में ग़रीब ऋषियों को कैद कर दिया जाता है। इन मामलो में भी यदि ऋण के न चुकाए जाने का कारण, गुज़ारे के मामलो में की तरह, जान बूझ कर जिम्मेदारी से बचने का न हो, तो जो दड दिया जाता है वह अपराध के स्वरूप की तुलना में कही अधिक है।

निस्सदेह, मैं यह नही कहता कि इन तरीको से, कानूनी असमानता की बडी बड़ी बुराइयो में कमी होने के अतिरिक्त कुछ होगा। विधि में, विशषकर मालिकों के दायित्व और श्रमिको की क्षतिपूर्त्ति के क्षेत्र में अधिक विस्तृत समस्याए है। इस क्षेत्र में, कानून में जिन प्रत्युपायो की व्यवस्था है, वे उन दु खो का निवारण करने के लिए बहुत अनुपयुक्त है, जो लोगो को उठाने पडते हैं। परन्तु इन मामलों के लिए कोई ऐसी सरचना काफी नही है जो केवल प्रशासकीय हो। इनका इलाज तो विधानाग द्वारा विशेषकर सामाजिक बीमे के क्षेत्र में विधानांग के प्रयत्नो द्वारा किया जा सकता है। वर्त्तमान व्यवस्था की श्रेणियो के अन्तर्गत तो हम केवल तीन बातें कर सकते हैं। हम सभी अभियुक्त व्यक्तियो—चाहे वे अमीर हों

---

१ इलियट राथबोर्न की पुस्तक 'दी डिसइनहेरिटिड फ़ेमिली।'

या गरीब—के बचाव की समुचित व्यवस्था कर सकते है। हम सभी व्यक्तियों को चाहे उनके पास कैसे ही साधन क्यों न हो, सबसे उत्तम प्रकार की कानूनी सलाह दे सकते है। हम ऐसी व्यवस्था कर सकते है कि जिस किसी को अपना दु ख दर्द दूर कराना हो या किसी शिकायत का ठीक उत्तर देना हो, उसे अपना दु ख दर्द दूर कराने और उत्तर देने का अवसर अवश्य मिले। जैसा कि मैंने कहा है, ये तीन बातें करते हुए हम ऐसे निवारक न्याय की व्यवस्था का विकास भी कर सकते है जिसमें उन बातों को हल किया जायगा जिनका उत्तर अनावश्यक रूप से आजकल कानून में दिया जाता है। मैं समझता हू कि इस प्रकार के परिवर्त्तनो का बहुत महत्त्व है। यह इसलिए कि अन्ततोगत्वा न्याय की व्यवस्थाओ को इस कसौटी पर कसा जाता है कि उनसे ग़रीब आदमियों के अभावो और आवश्यकताओ की पूर्त्ति कहा तक होती है।

—५—

कानूनी मस्तिष्क की एक लगभग अनिवार्य विशेषता यह है कि इसका रुझान अपरिवर्त्ती होने की ओर रहता है। यह अधिकतर दृष्टात के अध्ययन में लगा रहता है। यह जो कुछ कर सकता है वह अधिकतर अपने से पहले की पीढ़ी की सविधियो के आधार पर निर्धारित होता है। इस के प्रमुख प्रतिपादक सामान्यतया अधेड आयु के व्यक्ति होते हैं जो उस समय सत्ता वाले पदो पर आते है जब कि उन नयी मागों की अभिव्यक्ति होने लगती है जिन्हें वे नहीं जानते। सच तो यह है कि वकील, समुदाय के किसी भी अन्य वर्ग की अपेक्षा परम्परा के अधिक दास होते है क्योकि सामाजिक जीवन के किसी अन्य पहलू की अपेक्षा उनके लिए यह अनुभव करना और यह प्रमाणित करना अधिक कठिन है कि नवीनता वाछनीय है। चिकित्सा-पद्धति में महान परिवर्त्तन जैसे कि कीटाणुओ के नाश द्वारा इलाज, उद्योग में, जैसे कि यन्त्रो द्वारा यातायात का विकास, शिक्षा में, जैसे कि मजदूरों की शिक्षा सथा, आदि को प्रयोग द्वारा बडी जल्दी सिद्ध किया जा सकता है और इस सबध में साधारण व्यक्तियो की स्वभावगत अपरिवर्त्तनीयता को दूर करने के साधन भी हमारे पास हैं। परन्तु क़ानून के सबध में ऐसा नहीं है और यदि कानून अपनी पीढ़ी की आवश्यकताओं से पीछे रह जाता है तो उसके बडे गभीर परिणाम होते है। इसलिए हमें ऐसे उपाय ढूंढने की जरूरत है, जिनके द्वारा कानूनो में आवश्यक परिवर्तन का अध्ययन निश्चित रूप से और निरन्तर हो सके जिससे कि विधि की प्रक्रियाओ को ऐसी पीढ़ी में बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुकूल बनाने का काम यथाशीघ्र हो सके।

मैं समझता हू कि जो कोई भी इगलैंड में वकालत के पेशे के इतिहास का अध्ययन करेगा उसे यह निष्कर्ष सदेहपूर्ण दिखाई नहीं देगा। यह बात महत्त्वहीन नही है कि इगलैंड में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रत्येक महान काल में वकीलो के प्रति विरोध की भावना रही है। १३८१ में किसानो को घृणा मुख्यत न्यायवादियों से थी, जिन्हें वे अपनी दासता के लिए ज़िम्मेदार समझते थे, जैक केड की पहली इच्छा यह थी कि सारे वकीलो को फासी पर लटका दिया जाय। प्यूरिटन लोगो के विद्रोह की यह भावना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि उनकी माग क़ानून में सम्पूर्ण सुधार किये जाने की थी। यह बात भी महत्त्वहीन

नही है कि उससे चालीस वर्ष पहले बैन्थम' की चतुरता के कारण कुछ उत्साही व्यक्तियो का समूह उसके साथ जा मिला, जिन्होने उन्नीसवी शताब्दी में इगलैंड के सामाजिक इतिहास को बदल दिया और यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उनमें केवल दो ही वकील— रोमिली और ब्रोघम्—ऐसे थे जो बराबर प्रमुख कार्य करते रहे। वकीलो ने दड विधानो में सुधार करने में बिल्कुल योग नही दिया है। वे अपने पेशे की शिक्षा के सबध में निरन्तर प्रतिक्रियावादी रहे हैं और जब कभी, जैसे कि लार्ड वेस्टबरी द्वारा[१], सुधार की चेष्ठा की गयी है, कुछ समय बाद उनका उत्साह ठडा पड गया है। फिट्ज़जेम्स स्टीफन ने कानून को सहिताबद्ध करने की समस्याओ की ओर ध्यान दिलाने की जो कोशिशें की, उनका इतिहास देखिये तो पता चल जायगा कि सुधार की सभावना सयोग पर कितनी अधिक निर्भर रहती है।[२] इगलैंड के वकीलो ने कानून का इतिहास लिखने में बहुत काम किया है। कानून के विशेष पहलुओ पर उन्होने बहुमूल्य पाठ्य पुस्तकें लिखी हैं। परन्तु आस्टिन के बाद—यदि आस्टिन को विधिज्ञ मान भी लिया जाय[३] तो—उन्होने विधि के विज्ञान के लिए कुछ नही किया है। और जब तक विधि को वास्तविक और विस्तारपूर्वक वैज्ञानिक अन्वेषण का विषय नही बना दिया जाता, इसमें निरन्तर सुधार होते रहने की आशा नही है।

परन्तु मैं यह नही कहता कि अन्य देशो की तुलना में इगलैंड की स्थिति खेदजनक है। इगलैंड में विधि का प्रवर्त्तन, विशेषकर फौजदारी कानून का प्रवर्त्तन, शायद अन्य सभी सभ्य समुदायो की तुलना में अच्छा है। और फ्रास में जहा विधि विज्ञान ऊचे शिखर तक पहुचा हुआ है, नेपोलियन सहिता (कोड नेपोलियन) अभी तक उस पीढी की छाती पर पत्थर बन कर पडी है[४] जिसके लिए इसकी वैधता लगभग समाप्त हो गयी है। जर्मनी में महान दीवानी सहिता के अनुकूलन का इतिहास देखने से पता चलता है कि वहा पर विधि विज्ञान की ओर ध्यान देने के कारण विधि में निर्णायक और रचनात्मक सुधार हुआ है। विधि विज्ञान के सबध में अमरीका में जो काम हुआ है, उसे देखने पर ऐसा लगता है कि यदि बैन्थम का उत्तराधिकारी हुआ तो वह, कम से कम जहा तक रुढि विधि के भविष्य का सम्बन्ध है, पश्चिमी गोलार्द्ध में ही जन्म लेगा।

विधि में निरन्तर सुधार की चेष्ठा किये जाने की सम्भावना तभी हो सकती है, जब कि पाच शर्तें पूरी हो जायें। आशिक रूप से, यह इस बात पर निर्भर है कि वकीलो का प्रशिक्षण कैसे किया जाता है। यदि वकील बनने के लिए जो शिक्षा दी जाय, वह वकालत प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक न्यूनतम जानकारी रट लेना न हो बल्कि वास्तव में मानवीय और दार्शनिक अनुशासन हो, तो इस बात की अधिक सम्भावना होगी कि वकील विधि के सिद्धान्तो के प्रति सशयात्मा बनें। दूसरी बात यह है कि, आशिक रूप में, प्रश्न यह है कि

---

१ हैन्सर्ड में उनका १ मार्च १९५४ का भाषण देखिए।

२ लेज़ली स्टीफन की "लाइफ आफ फिट्ज़जेम्स स्टीफन, पृष्ठ ३५१।

३ इस सम्बन्ध में फ़िशर की पुस्तक के पृष्ठ ११७ पर प्रोफेसर मेटलैण्ड की राय देखिए।

४. देखिए जी० मोरॉ की पुस्तक "ला रिवोल्त दे फ़ेयत कांत्रे ला कोद"।

वकालत के पेशे का सगठन किस प्रकार का है। यदि वकालत पेशे की सस्थाओं का यह निश्चित उद्देश्य बन जाय कि वे विधि में सुधार की चेष्टा करें, अर्थात् यदि इसके अधीन विधि के ज्ञान का सम्वर्धन करने की चेष्ठा करने वाली सस्थाएं हो, जैसी कि यान्त्रिक इजीनियरो की सस्था है या रायल सोसाइटी आफ मेडिसिन है, तो कम से कम ऐसे वकीलो के एक शृखला में बध जाने की व्यवस्था तो होगी जो विधि की त्रुटियो के प्रति सजग होगे और जिनमें जनसेवा की इतनी भावना होगी कि वे इन त्रुटियो को दूर करने का उपाय ढूढेगें। तीसरे, आशिक रूप से, इस बात की आवश्यकता भी है कि राष्ट्र के न्याय मन्त्रालय में वकीलो का एक स्थायी आयोग हो जिस का काम शिकायतो की जाच द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव को अपना कर और पेशे में लगे व्यक्तियो में विधि के सबध में आविष्कार-शक्ति के प्रोत्साहन द्वारा यह अनुसधान करना होगा कि विधि में सुधार के क्या साधन है। चौथे, इस बात की भी कम महत्व नही है कि साधारण व्यक्तियों के कानून सम्बन्धी अनुभव को भी ध्यान में रखा जाय, विशेषकर ऐसे मामलो में, जहा—जैसा कि डाक्टरो और व्यापारियों के सबध में है—रचनात्मक शक्तियो का काफी बडा भडार रहता है और जिसका उपयोग नही किया जाता। एक स्पष्ट उदाहरण ले लीजिए। यदि मुझे मजदूर प्रतिकर अधिनियम के वास्तविक प्रभाव मालूम करने हो तो मैं वकीलो से पूछने की बजाय निश्चय ही डाक्टरो और मजदूर सघो के पदाधिकारियो से इस सबध में पूछताछ करूगा और अन्त में, इस बात का भी बहुत बडा महत्व है कि विधि के सशोधन में न्यायिक अनुभव का उपयोग किया जाय। आजकल तो अधिकतर अधिवचन ही सुनाई पडते हैं जैसा कि लार्ड किलओवन रसल ने ज्यूरियो की प्रशसा में कहे थे या उस गुप्त जाच में विशेष ज्ञान के आधार पर दिया गया सहयोग है, जिस के परिणामस्वरूप इगलैंड में स्थवार सम्पत्ति के कानून में सशोधन हुआ था।

आइए, हम इन में से प्रत्येक बात पर अलग अलग विचार करते हैं। जैसा कि मैंने कहा है, विधि में सुधार के प्रति वकीलो का क्या रवैया रहेगा, यह तो उस तरीके पर निर्भर है जिस से उन्हें प्रशिक्षिण दिया जाता है। अर्थात् कानून की शिक्षा, व्यावहारिक प्रविधि सीख लेने से कुछ अधिक होनी चाहिए। यह शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि विज्ञान के रूप में विधि में दिलचस्पी पैदा करने की चेष्टा की जाय और यह भावना उत्पन्न की जाय कि यह मानवीय जीवन में एक ऐसा क्षेत्र है जिस की रूपरेखा का चित्रण उन लोगो के लिए निरन्तर अधिक अच्छी तरह किया जाता है, जो इस के रास्तो पर यात्रा करते हैं। इसलिए विधि की शिक्षा में जानकारी प्राप्त करने के साथ साथ सामान्य विचार-शक्ति के अनुशासन को भी उतना ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। इस शिक्षा द्वारा बातें कहने के साथ साथ समस्याओ को भी निबटाया जाना चाहिए। इस में यह नही मान लिया जाना चाहिए कि जो न्यायिक निर्णय इसका सार हैं, केवल इसलिए ठीक है चूकि वे न्यायिक निर्णय हैं। इस शिक्षा की व्यवस्था इस ढग की होनी चाहिए कि छात्रो में आलोचना की भावना उत्पन्न हो। मेरा अपना तो यह विचार है कि यह ठीक है तो विधि का अध्ययन प्रकृत रूप से ऐसा विषय है जिसकी शिक्षा विश्वविद्यालयो के तरीको से और वहा के वातावरण में होनी चाहिए। और अच्छा तो यह है कि इसे विशिष्ट और अधिक

ऊचा प्रशिक्षण माना जाय, बिल्कुल उस प्रकार जैसे कि हारवर्ड विश्वविद्यालय में जहा के बारे में मेटलैंड ने लिखा है[१] कि पादुआ और बोलोना की महान परम्परा के सच्चे अनुयायी वही पर मिलते है।

इसका क्या अर्थ है ? मैं समझता हू कि मेरे प्रयोजन के लिए यह बहुत सुविधाजनक रहेगा कि इगलैंड के सामान्य बैरिस्टर का उदाहरण देकर यह बताऊ कि इस दृष्टिकोण से क्या परिवर्तन महत्त्वपूर्ण दिखाई पडते है। मोटे तौर पर इसका प्रशिक्षण ऐसा है जिस में इस बात का ध्यान नही रखा जाता कि जो विषय पढाया जा रहा है उसे पढने वाले दार्शनिक दृष्टिकोण से उस मे पारगत बनें। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य यह है कि पेशे में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति कुछ ऐसी सापेक्षतया सरल परीक्षाए पास करने के योग्य हो सकें जिन में विज्ञान के रूप में विधि का ज्ञान या इस का स्वरूप निर्धारित करने वाले विषयो से इस के सम्बन्धो का ज्ञान उतना आवश्यक नहीं होता जितनी कि यह बात कि कुछ मुकदमे रट लिये जाय और उम्मीदवार इस योग्य हो कि वह ऐसे अन्य मामलो पर वे नियम लागू कर सके जिन्हें परीक्षा समाप्त होते ही भुलाया जा सकता है। बल्कि बैरिस्टर का प्रशिक्षण पाने के लिए उतने अधिक बौद्धिक परिश्रम की जरूरत नही होती जितना कि सोलिसिटर प्रशिक्षण पाने के लिए जरूरी होता है। विधि का भविष्य उस के हाथ में होता है। फिर भी उसे विधि का इतिहास का ज्ञान कम ही होता है और विधि विज्ञान के आधार के बारे में तो उस से भी कम ज्ञान होता है। इसमें सदेह नही कि कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो विश्वविद्यालयो में इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते है। मैं समझता हू कि यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस आफ कोर्ट ने विधि के पाठन का काम गभीरता से नही किया है और यह बात भी कम ध्यान देने योग्य नही है कि मेटलैंड—जो शायद बेन्थम के बाद पहला व्यक्ति था जिस में इतनी अधिक वैधिक प्रतिभा थी—के शिष्य भी इतने उत्साही नही थे कि उस द्वारा प्रारम्भ किये गये काम को जारी रख सकें। और इस के अतिरिक्त, इगलैंड में विधि की शिक्षा आम तौर पर और विशेषकर इन 'इन्स' में इस प्रकार की दी जाती है कि सिद्धात पढ़ाए जाते हैं परन्तु पढने वालो में जिज्ञासा की भावना उत्पन्न नही होती। विधि के सबध में जिज्ञासा को प्रोत्साहित करने का वास्तविक प्रयत्न नही किया जाता। साधारण वकील के लिए तो यह न्यायालयो द्वारा बनाए गए सिद्धातों का एक पुज मात्र है, जिनके बारे में वह सोचता है कि ज्यो ज्यो न्यायालय वे सिद्धात बनाते चलें, वह उन्हें सीखता चले। मै इस बात से इनकार नही करता कि यह पद्धति बडे विद्वान और प्रतिष्ठित वकीलो को जन्म देती है। परन्तु मै इस बात को नही मानता कि यह पद्धति ऐसे वकीलो को जन्म देती है जो विधि को बदलते हुए परिवेश की आवश्यकताओ के अनुकूल बनाना चाहते हैं।

मैं समझता हू कि इस सम्बन्ध में एक ओर तो योरुप के महान विधि स्कूलों और दूसरी ओर अमरीका के महान स्कूलो की परम्परा और तरीको ने एक बडा उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किया है। उनमें छात्रों को सफल वकील बनने का प्रशिक्षण मिलता

---

१. इंगलिश लॉ एण्ड दी रिनेसेंस, पृष्ठ ३५।

है। परन्तु जिन तरीको से उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है उनके परिणाम इगलैड में अपनाए जानेवाले तरीको से भिन्न होत है। उदाहरण के लिए, अमरीका में विधि के छात्र में प्रारम्भ में ही वह भावना उत्पन्न होजाती है जिसे मि०वैल्स ने साधनो के प्रति सशयात्मका होने की भावना कहा है। वह यह सीख लेता है कि कानूनी मामले कानूनी समस्याए हैं और यदि उस समस्या का न्यायिक उत्तर है तो उस को भी अन्य उत्तरो की तरह प्रमाणित किया जाना चाहिए। उस के अध्यापक जैसा कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के महान विधि स्कूल में होता है, विधि की नीव नए सिरे से रखने के काम में जुटे हुए होते हैं। मै केवल उन व्यक्तियो की बात करता हू जो अब इस ससार में नही रहे, परन्तु इगलैड के वकीलो में अध्ययन की ऐसी परम्परा नही है जिस की तुलना लैंगडल, एम्स् और ग्रे की महान अध्यापन परम्परा से भी जा सकती है।[१] और अध्ययन की कोई भी महान परम्परा, जैसा कि इगलैंड में मेटलैण्ड ने न्यासो और निगमो के सबध में अपने काम से दिखा दिया[२], अनिवार्य रूप से एक महान सुधार की परम्परा बन जाती है। ऐसे व्यक्तियो के शिष्य वकालत करने के लिए ही नही बल्कि सुधार करने के लिए भी अग्रसर होते है। वे नये विचारो के प्रचारक बन जाते हैं। वे प्रयोग करने की चेष्ठा करते हैं। उदाहरण के लिए, फ्रास की हाल ही की विधि के इतिहास का अध्ययन कीजिए, तो पता चलेगा कि फ्रास में सेलेले और दूग्यू और जर्मनी में गियर्क और कोलर जैसे व्यक्तियो का कितना प्रभाव पडा है। उन्होने, सचेतन रूप से, विधि को जीवन की अभिव्यक्ति बना दिया है और जीवन की बदलती आवश्यकताओं के साथ उसका अनुकूलन कर दिया है।

इसलिए मेरा कहना है कि विधि के प्रशिक्षण में इस बात पर जोर दिया जाय कि उसमें प्रयोग की सभावना रहे। निश्चित रूप से ऐसा प्रयत्न किया जाय तो वकीलों का मस्तिष्क उनके विषय की निहित आवश्यकताओ के प्रति सजग बन जायगा। परन्तु मैं समझता हू कि केवल सकारात्मक विधि का प्रशिक्षण अपर्याप्त है। बौद्धिक अनुशासन के लिए विधि विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। मैं यह इसलिए कह रहा हू कि विधि शास्त्र के ज्ञान, विशेषकर इसके तुलनात्मक पहलू के ज्ञान, के बिना कोई भी वकील, चाहे वह व्यवहार रूप में कितना ही प्रतिष्ठित क्यो न हो, वास्तव में उन अवधारणाओ के अर्थों को नही आक सकता जिन पर उसका विषय आधारित है। विधि-विज्ञान विधि का ज्ञान-चक्षु है। इससे विधि को उस परिवेश की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, जिस की अभिव्यक्ति वह स्वय है। इस से विधि और काल की भावना के बीच मेल रहता है और किसी विशष व्यवस्था का विधि-विज्ञान जितना समृद्ध होगा, उस व्यवस्था की विधि अपने काल की आवश्यकताओ के उतना ही समीप होगी? आस्टिन के बाद से इगलैंड के विधि-विज्ञान की हीनता इस बात की परिचायक है कि हमारी विधि हमारी सामाजिक स्थिति में तेजी से होने वाले परिवर्तनो से निबटने के लिए कितनी अनुपयुक्त है। यदि हमारे वकीलों को इस बात का प्रशिक्षण मिला होता कि वे उन निर्णयो के वैधिक महत्त्व को ध्यान में रखें, जो वे

---

१. देखिए सेन्टीनियल हिस्ट्री आफ़ दी हार्वर्ड लॉ स्कूल।

२. देखिए उनके कलेक्टिड पेपर्स के खण्ड ३ में वैधिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पत्र।

करते हैं तो वैसे प्रतिक्रियावादी निश्चय न होते जैसे कि फ्री चर्च आफ स्काटलैंड के मुकदमे या ओस्टबोर्न केस में हुए थे ।

इतनी ही नही । चूकि विधि जीवन का अग है, इसलिए जीवन के उन अगो के साथ इस के सबध होने चाहिए जिन द्वारा मुख्यत यह निर्धारित होती है । उदाहरण के लिए कोई ऐसा व्यक्ति विधि का समुचित रूप से अध्ययन नही कर सकता जो अर्थ शास्त्र से भली भाति परिचित न हो । मि० जस्टिस होम्स[1] ने लिखा है कि "आजकल अर्थ-शास्त्र सबधी दर्शन और विधि सबधी दर्शन के बीच सबधो का जो अभाव है, उससे मुझे ऐसा लगता है कि अभी दार्शनिक अध्ययन में बहुत अधिक प्रगति करने को पडी है ।' जो कोई भी अमरीका के उच्चतम न्यायालय द्वारा पिछले पच्चीस वर्षों में किये गये निर्णयो का अध्ययन करेगा, उसे निश्चय ही यह महसूस होगा कि वे सामान्यतया पिछली शताब्दी के सातवें दशाब्द की आपूर्वता को उस स्थिति पर लागू करने के धैर्यपूर्ण प्रयत्न है, जिसकी कि उस काल में कल्पना भी नही की जा सकती थी और जो होना स्वाभाविक ही था । लौकनर बनाम न्यूयार्क[2], एडेयर बनाम अमरीका[3], कौपेज बनाम कसास[4] और हैम्बर बनाम डेगनहार्ट[5] के मुकदमो मे न्यायालयो के निर्णयो का अध्ययन करने से पता चलता है कि यदि वकील आर्थिक विचारो के लिए व्यापारियो के मुहताज रहेंगे तो उन्हें, ऐसे अर्थ-शास्त्र के सामान्य परिणामो का पता नही होगा, जिस के ज्ञान की सीमाए निरन्तर बढती रहती है । यह बात केवल अमरीका के बारे में ही सच नही है जहा, न्यायालयो को पुनराव-लोकन की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र का विशेष महत्व हो जाता है । इगलैंड के न्यायाधीशो को मजदूर सघो के सगठन का अर्थ समझने का प्रशिक्षण मिला होता, उन्हें, उदाहरण के लिए, इस बात की दीक्षा दी गयी होती कि ओस्बोर्न बनाम एमेलगमेटिड सोसा-इटी आफ रेलवे सर्वेंट्स[6] जैसे मामलो में मि० और मिसज वेब की हिस्ट्री आफ ट्रेड यूनियन-निज्म का भी उतना ही महत्व है जितना कि अनिगमित सथाओ की विधि में कई मामलो का, तो वे अपने आदर्श से इतना दूर न जाते । सविदा, जिह्म, सपत्ति—ये सब ऐसी वैधिक श्रेणिया है जिन्हे उन की आर्थिक सदर्भ में ही समझा जा सकता है । और सवैधानिक विधि को भी उस आर्थिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति के रूप में ही समझा जा सकता है जिस के प्रचार के रूप में इसका निर्माण किया गया हो । यह बात मटलैंड ने कही थी कि महाधिकार पत्र (मैग्ना कार्टा) सामन्त युग का घोषणा पत्र था और इस में जिन अधिकारो की चर्चा की गयी है वे उन सघवादियो की ओर निर्देश किये बिना निरर्थक हैं, जिन्होने अपने अधि-पति से वे अधिकार छीनें ।

---

१ कलेक्टिड पेपर्स पृष्ठ १९५ ।

२. कई स्थानों पर ।

३ २०८, यू० एस० १६१ ।

४. कई स्थानों पर ।

५. २४६ यू० एस० २५१।

६ कई स्थानों पर

वकीलो का प्रशिक्षण जिस प्रकार विधि के सुधार के लिए जरूरी है, उतनी ही आवश्यक यह बात भी है कि उनका सगठन कैसा है। आजकल वकील अपने हितो की रक्षा के लिए सुसगठित है। उनके पेशे में प्रवेश की परिस्थितियो पर उनका नियन्त्रण है। वे लगभग पूरी तरह स्वय यह निर्धारित करते है कि उनके पेशे के नैतिक मानक क्या होगे। कर्मचारियो के किसी और समूह में स्वशासन के चिन्ह इतने पर्ण रूप से देखने को नही मिलते। और राजनीतिक जीवन के लिए उनकी प्रकृत समुपयुक्तता के कारण विधान सभा में उनकी स्थिति सब से अधिक मजबूत होती है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वकीलो ने इस बात की कोई विशेष इच्छा प्रकट की है कि अपनी इस स्थिति के कारण समुदाय की कोई एसी सेवा करें जिससे उनका अस्तित्व न्यायोचित जान पड़े। इगलैंड में तुलनात्मक विधान समाज जैसे छोटे छोट समाज ऐसा काम करते हैं कि उनमें कुछ लोगो को दिलचस्पी हो सकती है। अमरीका और मुख्य अधिराज्यो में विधिजीवी सँथाओ जैसे निकायो की बैठकें प्रत्येक वर्ष कुछ समय के लिए होती है, जिनमें उनके सदस्य खाते-पीते है और विधि की महान परम्पराओं के सबध में गभीर वक्तृताए सुनकर चले जाते है। परन्तु प्रत्येक स्थान में, समय समय पर, विधि की समस्याओ के अध्ययन और उनके हल का सुझाव देने के सबध में सगठित प्रयत्न नही किये जाते।

मैं समझता हू कि यदि वैधिक सगठन का प्रत्येक एकाश केवल मजदूर सघ न होकर अनुसधान संथा भी हो, तो उस साध्य की पूर्त्ति के सबध में एक बडा कदम उठाया जा सकता है। यदि मान्चेस्टर के विधिजीवी न केवल ऐश्वर्य बल्कि प्रगति की ओर भी अपना उत्तर-दायित्व महसूस करें तो मानचेस्टर के वकीलो के पुजीभूत अनुभव से कानून में परिवर्त्तनों के लिए नये विचार मिल सकना कठिन नही होगा। उनकी कार्यवाही प्रकाशित होगी। वे केवल सामान्य वैधिक समस्याओ को ही नही, वरन् अपने नगर की विशेष वैधिक समस्याओ को भी हल करने की चेष्टा करेंगे। मेरा अभिप्राय एक ही दृष्टात से स्पष्ट हो जायगा। कुछ वर्ष पहले क्लीवलैंड नगर में एक गभीर न्यायिक गोलमाल का भँडाफोड़ हुआ, तो नगर-वासियो को बडा आघात पहुचा और उससे पता चला कि वहा न्याय का प्रवर्त्तन कितना बुरा है। क्लीवलैंड में फौजदारी कानून और उसके प्रवर्त्तन की सारी स्थिति का अन्वेषण करने के लिए एक समिति बनाई गयी। उस समय विद्यमान स्थिति का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते और इस में सुधार के सुझाव देने के लिए हार्वर्ड के दो प्रतिष्ठित वकीलो को लगाया गया। उन्होने उत्कृष्ट रिपोर्ट तैयार की[1], परन्तु उनकी रिपोर्ट से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि एक अपनी स्थायी निकाय बनाया गया, जिसमें कुछ वकील थे और कुछ साधारण नागरिक। इस समिति को यह काम सौंपा गया कि वह भविष्य में विधि के प्रवर्त्तन पर निगरानी रखे और उसके सबध में रिपोर्ट दे। मुझे इस बात का कोई कारण दिखाई नही देता कि अन्य स्थानो में भी ऐसे निकाय क्यो न बनें। बल्कि, यदि वे निकाय सामान्य और स्थायी हो तो उनमें केवल उन्ही लोगो का रहना ठीक है जो विधि के पेशे में लगे हुए हों। और वे लोग अन्य पेशो के वैसे निकायो से मिलें और एक दूसरे को जानकारी और

---

1. क्रिमिनल जस्टिस न क्लीवलैंड

सुझाव दें। क्लीवलैण्ड में जो कुछ किया गया है, उसका इतिहास देखने से यह महसूस होता है कि इस प्रकार इस बात की सभावना बहुत बढ जाती है कि इस प्रकार के प्रयत्न से विधिजीवियो में विधि का परिशोधन करने की आदत पड जायगी। यह इसलिए कि न्याय-सम्बन्धी आकडो के प्रकाशन मात्र से तो हमें विधि के प्रवर्त्तन की रूपरेखा ही मालूम होती है। और यदि अनुसधान का कार्य उन्ही वकीलो तक सीमित रहे, जिनका व्यवसाय किसी न किसी कारण ठीक से नही चलता, तो उसका मतलब यह होगा कि हम बहुमूल्य अनुभव का उपयोग नही करते हैं।

परन्तु, इस प्रकार का अन्वेषण चाहे महत्वपूर्ण है, पर्याप्त नही है। केवल यह जरूरी नही कि कुछ निष्कर्ष निकाले जायें, यह भी जरूरी है कि उनपर कार्यांग द्वारा समुचित विचार किये गये जाने की व्यवस्था हो। मै समझता हू कि इस साध्य की पूर्त्ति के लिए न्याय मत्रालय में एक छोटा सा किन्तु स्थायी आयोग होना चाहिए, जिसका प्रयोजन यह हो कि वैधिक सुधार के प्रश्न का अध्ययन किया जाय। मेरी राय में इसके कृत्य तीन प्रकार के होगे। यह वैधिक सिद्धात और विधि के प्रवत्तन के सबध में देश में तथा दूसरे देशो के सबध में जानकारी इकट्ठी करेगा। यह समय समय पर और ऐसे अभिकरण बना कर जो यह उचित समझे, विधि की विशेष शाखाओ का अन्वेषण करेगा। सभी सगत सूत्र विधि की कार्यान्विति के सबध में आलोचना, सुझाव और पूछताछ इसी से करेंगे। उदाहरण के लिए, निर्धन व्यक्तियो के लिए कानूनी सहायता की व्यवस्था करने वाले निकाय इससे यह कहेंगे कि उनका अनुभव यह है कि जारजता के मामलो के सबध में जो विधि है, उसमें सशोधन करने की आवश्यकता है। और फिर यह इस बात की जाच करेगा कि उस विधि में परिवर्तन की कितनी सभावना है। इसे यह पता चलगा कि विदेशो में दाडिक सुधार के प्रयत्न सफल रहे हैं और यह अपना एक प्रतिनिधि यह मालूम करने के लिए भेजेगा कि नये तरीके का क्या महत्व है और उसे अपनी परिस्थितियो में कहा तक लागू किया जा सकता है। यह उन सभी बातो के परिणाम एकत्रित करने की चेष्टा करेगा, जिनसे सुधार के उपाय निकल सकते है और उनकी ओर न्याय मत्री का ध्यान आकर्षित करेगा। मैं समझता हू कि धीरे धीरे यह आयोग न्याय मत्री के लिए यह सम्भव बना देगा कि उसे नियम बनाने की इतनी वृहत् शक्तिया प्राप्त हो, जिनके कारण—इस बात के आधीन रहते हुए कि विधान सभा उन का अनुमोदन कर दे—विधि में अधिक परिवर्तन और उससे भी अधिक वैधिक प्रयोग सभव हो सकेंगे। यदि अधिकतर राज्यो की तरह, कार्यांग के वैधिक कार्यालय, न्यायाधीश, एडवोकेट और कानून के सबध में सलाह देने वाले के कामो का सम्मिश्रण रहेंगे तो हम इस प्रकार के साधन का विकास नहीं कर पायेंगे। परन्तु उनके वास्तविक न्याय मत्रालय बन जान पर इतिहास में पहली बार नयी और महत्वपूर्ण बातो के लाए जाने का अवसर आयेगा।

इसके अतिरिक्त, इस बात की भी जरूरत है कि न्यायाग के ज्ञान और अनुभव का आज की अपेक्षा अधिक रचनात्मक उपयोग किया जाय। इस सबध में हमें बडी सावधानी से काम करना चाहिए। यह इसलिए कि हमें इस प्रकार का प्रयत्न करते समय न्यायाग और कार्यांग में ऐसा सबध स्थापित नही कर देना चाहिए कि न्यायाग की स्वतन्त्रता समाप्त

हो जाय, जो कि—जैसा मैंने कहा है—सभ्य न्याय का मूल है। परन्तु ऐसा हो सकता है और इस सबध में इस बात से कोई हानि भी नही होगी कि न्यायाधीश से न्यायालयो के कामकाज के सबध में वार्षिक रिपोर्ट देने को कहा जाय। उस रिपोर्ट में वे कम से कम यह बता सकते है कि अपने काम से उन्होने जो कुछ सीखा है उसके आधार पर वे किन सुधारो को वाछनीय समझते है। उदाहरण के लिए, वे यह कहेगे कि इगलैंड के तलाक न्यायालय में काम करने वाले प्रत्येक न्यायाधीश को यह महसूस होता है कि उसे वहा जो कुछ करने पर विवश होना पडता है, उससे उसके आत्म सम्मान को धक्का पहुचता है। वे यह बता सकेंगे कि अपीलो की कार्यविधि के कारण मुकदमेबाजी कितनी असहनीय सीमा तक बढती चली जाती है। वे अपनी यह अनुभूति व्यक्त कर सकत है कि कुछ प्रकार के अपराधो—जैसे लैंगिक हिंसा—के मामलो में जो दड दिया जाता है, वास्तव में वह उन अपराधो के अनुकूल नही होता, जिनके लिए उसका व्यवधान किया जाता है। मैं समझता हू कि उन की रिपोर्ट प्रकाशित दस्तावेज से अधिक नही हो सकती। परन्तु उस से न्याय मत्रालय को महत्वपूर्ण सुझाव प्राप्त होगे जिनका वह समन्वेषण वह कर सकेगा।

निस्स ह, इस के समन्वेषण के लिए न्यायाधीश जिम्मेदार नही होगे। उनका काम तो तभी समाप्त हो जायगा, जब वे यह बता देंगे कि उनके अनुभव के अनुसार कौनसी बातें है जिनका करना जरूरी है। आजकल जब कोई न्यायधीश प्रसगवश कोई बात कह देता है या किसी भाषण मे बताता है कि किसी सामान्य समस्या का क्या हल होना चाहिए तो हमें इस प्रकार का कुछ आभास मिलता है। उदाहरण के लिए, मि० जस्टिस होम्स ने कहा है कि उन्हें इस बात में कोई बुराई दिखाई नही देती कि अमरीका के उच्चतम न्यायालय की यह शक्ति समाप्त कर दी जाय कि वह कांग्रेस द्वारा पास किये गये विधान को सविधान के विरुद्ध ठहरा सके, परन्तु इस प्रश्न पर हमें उनके आठ अन्य सहकर्मियों के विचार मालूम नही है।[1] इसी प्रकार इग्लैंड के चीफ जस्टिस ने न्यायपीठ पर नियुक्ति के तरीके पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[2] परन्तु इस प्रकार के उपायों में यह त्रुटि है कि ये बातें कभी कभी कही जाती है। इनके द्वारा किसी अनभूति को कार्यवाही की उस शृखला से सबद्ध नहीं किया जाता जिसके साथ उसका सबंध होना चाहिए। न्यायिक अनुभव को समनुगत और निरन्तर सुझावो का रूप दे कर ही उस बुद्धिमत्तापूर्ण तत्व का उपयोग किया जा सकता है, जो इस अनुभव में निहित होता है।

—६—

और अन्त में एक समस्या रह जाती है। कार्यांग के कुछ पदाधिकारियो की अर्द्ध-न्यायिक शक्ति होती है जिससे, प्रशासनीय विधि के क्षेत्र के अतिरिक्त, महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते है। न्यायाग, व्यक्तियो या कार्यांग द्वारा अपने सामने रखे गये प्रश्नों पर निर्णय देकर, क़ानून बनाता है। कार्यांग द्वारा अपने प्रश्न न्यायाग के सामने रखने की

१ कलेक्टिड पेपर्स, पृष्ठ २९६।
२ हार्डविक सोसायटी के सामने भाषण, लदन टाइम्स, १ नवम्बर १९२४।

व्यवस्था किस प्रकार की जानी चाहिए ? सभी राज्यो में एक न्याय मंत्री होता है या वैसे पद जैसा ही कोई और प्राधिकारी होता है जो तत्कालीन सरकार के कानूनी सलाहकार का काम करता है और फौजदारी मामलो में अपराधियो पर अभियोग चलाने की व्यवस्था करता है। उसकी शक्तियो की स्वरूप और सीमा क्या होनी चाहिए ?

मोटे तौर पर वास्तविक समस्या वह है जो अभियोग के सबध में, विशेषकर राजनीतिक अपराधो के सबध में उत्पन्न होती है। प्रत्येक सरकार को यह शक्ति होती है कि वह अभियोग न चलाने का फैसला करे या अभियोग चल रहा हो तो उसे बन्द कर दे। उस शक्ति का स्वरूप न्यायिक है या राजनीतिक ? यदि यह न्यायिक है तो क्या इसका प्रयोग एक राजनीतिज्ञ द्वारा होना चाहिए, जैसा कि न्यायमत्री द्वारा होता है और जिसके पद का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका तत्कालीन सरकार के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है ? इस बात को देखते हुए, क्या वह अपने कर्त्तव्य के राजनीतिक पहलू को न्यायिक पहलू से अलग रख सकता है ? तो क्या यह अधिक अच्छा है कि अभियोग चलाने और उसे वापस लेने की शक्ति ऐसे स्थायी पदाधिकारी को होनी चाहिए जिसे पूरा सुरक्षण दिया गया हो जैसे कि ब्रिटेन का नियन्त्रक तथा महा लेखापरीक्षक है ?

मैं समझता हू कि केवल राजनीतिक हल ही सभव है। इस का सीधा सा कारण यह है कि कुछ ऐसे अपराध होते है, उदाहरण के लिए, राजद्रोह और धर्मनिन्दा, जिनके सबध मे निर्णय किसी सिद्धात के आधार पर नही बल्कि कार्य-साधकता के आधार पर ही किये जा सकते है। कोई स्थायी महाभियोक्ता लार्ड बर्कन्हेड और लार्ड कारसन द्वारा किये गये राजद्रोह और क्रातिकारी साम्यवादियो के किसी महत्वहीन समूह द्वारा किये गए राजद्रोह में विभेद नही कर सकता। वह दूसरे मामले में तभी कार्यवाही कर सकता है जब कि वह पहले मामले में भी कार्यवाही करे और पहले मामले में कार्यवाही करने के परिणाम ऐसे हो सकते है जिनका सामना करने के लिए कोई सरकार तैयार न होगी। किसी स्थायी पदाधिकारी को ऐसी शक्ति सौंप देने का कम से कम यह परिणाम होगा कि कार्यांग का जीवन-मरण उसके हाथ में होगा। निश्चय ही यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग मत्री ही कर सकता है जो विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हो। स्पष्ट है कि मत्री बुद्धिमान होगा तो केवल सामान्य नीति के आधार पर ही कार्यवाही कर सकता है और इसमें यह बात अनिवार्य है कि जब भी किसी प्रश्न के परिणाम गभीर होने की सभावना हो, वह अपने साथियो से परामर्श ले। सभव है कि सभावित गडबड को बढने से रोकने के लिए अभियोग चलाना उचित हो। हो सकता है कि ऐसा करना अनुचित हो, क्योकि राजनीतिक आधार पर अपराधसिद्धि से अभियुक्त शहीद बन जाते है और किसी भी आन्दोलन को इस प्रकार की शहादत से बल मिलता है। ये सब समस्याए ऐसी है कि इनपर कार्यांग को विचार करना होगा क्योकि वे उन परिणामो के सन्तुलन पर निर्भर है जो प्रत्येक अवस्था में सरकार के अस्तित्व पर प्रभाव डालते है। यदि किसी साम्यवादी पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जाता है तो सरकार पर वे लोग अनिवार्य रूप से आपत्ति करेंगे जो इस बात को बुद्धिमत्तापूर्ण नही समझते और यदि सरकार उस आपत्ति से सहमत हो जाय तो उसका एक यही इलाज हो सकता है कि या तो अभियुक्त को क्षमा कर दिया जाय, जिससे अभियोग

निष्प्रभाव बन जाता है और या स्थायी पदाधिकारी को गुप्त रूप से सन्देश भेज दिया जाय और इससे उसके कृत्यो के न्यायिक स्वरूप पर राजनीतिक दृष्टिकोण से अतिक्रमण होता है। और यह बात अनिवार्य है कि ऐसे वातावरण में उस पदाधिकारी के मन में उन विचारों के प्रति पक्षपात की भावना भर जाय, जिनका सामना उसे करना पडता है। इसलिए अच्छा यही है कि यह मान लिया जाय कि ऐसे मामले कार्यांग की शक्ति के क्षेत्र मे है। ऐसा करने से, जो भी हो, उसके लिए मन्त्रिमडल जिम्मेदार होगा और यह समस्या अस्पष्टता और पक्षपात के मायाजाल में लिपटी हुई नही रहेगी। इस प्रकार हम वास्तविक कठिनाई को दूर कर सकेंगे अर्थात् यह कि ऐसे अभियोग चलाने में स्थायी पदाधिकारी के मस्तिष्क पर उसके अपने विचारों का बुरा प्रभाव पडे।

मैं उन कठिनाइयो के अस्तित्व से इनकार नही करता हू जो इस राय में निहित है। इसका यह परिणाम हो सकता है कि अभियोग के चलाए जाने या वापस लिए जाने की प्रेरणा कानून परा करने के अतिरिक्त कुछ और हो। यह सभव है कि प्रभावशाली व्यक्तियो को दड से बचाने के लिए दबाव डाला जाय, और वह भी उन अपराधो के सबध में जिन्हें राजनीतिक माना ही नही जा सकता। परन्तु इस खतरे के सबध में दो बातें कही जा सकती है। अभियोग चलाने का कर्त्तव्य चाहे किसी व्यक्ति को सौंपा जाय, दबाव तो डाला ही जायगा और उससे सबधित प्रश्नो को मत्री की जिम्मेदारी के विषय बना देने से यह आश्वासन तो प्राप्त हो जायगा कि उनपर विधान सभा की सकल्पना लागू हो सकेगी। और दूसरी बात यह है कि इससे अभियोक्ता पक्ष का राजनीतिक पहलू प्रकाश में आ जायगा। उदाहरण के लिए, इस बात पर विश्वास नही होता कि १९१३–१४ की लिबरल दलीय सरकार ने लार्ड कारसन और उनके मित्रो पर इसलिए मुकदमा चलाने की बात सोची ही नही कि उन्होने सेना में अनिष्ठा फैलाने का प्रयत्न किया। यहा जिस तरीके का सुझाव दिया गया है उसके फलस्वरूप यह बात स्पष्टतया मालूम होगी कि निश्चय का स्रोत कौन सा है। इसका उत्तरदायित्व स्पष्ट है और सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह जो भी काम कर उसका न्यायोचित आधार भी बताए।

जब कोई अभियोग शुरू करने के लिए कार्यवाही की जाती है, जिसे बाद में बन्द करने का फैसला किया जाय, तो क्या होगा ? इस सबध में भी महत्वपूर्ण मामले लगभग सदा राजनीतिक होते हैं। कोई भी व्यक्ति एडोल्फ बेक पर से इस आधार पर मुक़दमा वापिस लिये जाने पर आपत्ति न करता कि पुलिस के रिकार्ड की छानबीन से प्रमाणित हो गया है (जैसा कि हो जाता) कि किसी और व्यक्ति को एडोल्फ बक समझ लिया गया था। परन्तु ऐसे मामले के सबध में क्या कहा जायगा जिसमें कि मि० जे० आर० कैम्पबेल पर चलाया गया मुकदमा रोक दिया गया था ? मै समझता हू कि इस सबध में कुछ सूत्रो का अनुसरण होना चाहिए (१) किसी न्यायाधीश या दडाधिकारी को मुकदमा रोकने की औपचारिक घोषणा के अतिरिक्त और कोई सदेश नही भेजा जाना चाहिए। (२) सरकारी तौर पर इस बात की घोषणा की जानी चाहिए कि किस आधार पर मुकदमा रोक दिया गया है। (३) यह बात समझ लेनी चाहिए कि मुकदमा रोकना—विशेषकर राजनीतिक मामलों में—तात्कालीन सरकार की जिम्मेदारी है। (४) न्यायाधीश या मस्जिट्रेट को

यह अधिकार नही होना चाहिए कि वह मुकदमा वापस लेने की अनुमति देने से इनकार कर दे, क्योकि ऐसा हो तो इसका मतलब यह है कि उस मामले में वह न्यायाधीश न्याया धीश होने के साथ साथ अभियोक्ता भी बन जाता है। (५) ऐसे सभी मामलो की सूचना सरकारी तौर पर विधान सभा और न्याय मत्रालय की विधान सबधी मत्रणा समिति को दी जानी चाहिए। मैं समझता हू कि तब इस शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त सुरक्षण हमारे पास रहेगे। तब सरकार का निश्चित रूप से उत्तरदायित्व रहेगा। तब निश्चित रूप से प्रचार होगा और अधिकृत रूप से इस बात की घोषणा की जायगी कि सरकार के रवैये के क्या आधार है। जहा गलती या अन्याय हो जाता है वहा, उस स्थान में, उस पर आपत्ति की जा सकती है, जहा वह की जानी चाहिए। मैं समझता हू कि वर्तमान व्यवस्था की अपेक्षा यह बहुत अधिक अच्छी व्यवस्था रहेगी।[1]

इस बात के महत्व से कोई इनकार नही करता कि विधि का प्रवर्त्तन राजनीतिक प्रभाव से जितना दूर रहे उतना अच्छा है। परन्तु इसका वही अर्थ नही है जोकि इस बात का] कि इगलैंड में "अभियोग चलाने से सबधित मामलो के सबध में अपनी राय बनाते समय, महा न्यायवादी किसी भी प्रकार के राजनीतिक प्रभाव से बचा रहता है।'[2] जब भी किसी मामले का स्वरूप राजनीतिक होता है, राजनीतिक प्रभाव अनिवार्य होता है। यह इसलिए कि इस प्रकार के सभी अभियोगो का प्रयोजन कार्य-साधन होता है और ज्यो ही कार्य-साधकता का प्रभाव नीति के मामलो पर पडता है, कोई भी सरकार अपने महा न्यायवादी की बातो को स्वीकार नही कर सकती। यदि ऐसी बात नही है तो सारे क्षतिपूर्त्ति अधि-नियम स्पष्टतया अन्यायोचित है, क्योकि इनके बनने से उसी कार्य-साधकता के आधार पर विधि की चर्या में हस्तक्षेप किया जाता है। उनके कारण उन सभी व्यक्तियो से, जिनसे अन्याय हुआ हो, वे अधिकार छिन जाते हैं जो उन्हे न्याय की सामान्य चर्या में प्राप्त होते हैं क्योकि कार्यांग उन अधिकारो का उन्मूलन वाछनीय समझता है। न्याय के प्रवर्त्तन को "किसी भी प्रकार के राजनीतिक प्रभाव" से अलग रखने का एक यही तरीका है कि अभि-योग की सारी प्रक्रिया ऐसे स्थायी पदाधिकारी को सौप दी जाय, जिससे तत्कालीन सरकार जवाब तलब न कर सके। मैं इस राय की चर्चा पहले ही कर चुका हू। मैंने कहा है कि जब हम इस बात को देखते है कि निहित कृत्य से नीति के प्रश्न उत्पन्न होते है, तो इसे लागू करना असभव हो जाता है। यह इसलिए कि नीति का निणय तो अन्त में केवल विधान सभा में ही किया जा सकता है। यदि स्थायी पदाधिकारी किसी राजनीतिज्ञ पर एडवर्ड तृतीय की किसी ऐसी सविधि[3] के अन्तर्गत मुकदमा चलाता है, जो समुद्र पार के

---

१ इस सारे प्रश्न पर कामन्स सभा में कैम्पबेल केस पर हुआ वादविवाद देखिए : पार्लियामेन्ट्री डिबेट्स, पांचसवीं शृखला खड १७७ सख्या १२८, ८ अक्तूबर, १९२४, पृष्ठ ३८१ ff।

२. देखिए पहली टिप्पणी में उल्लिखित वादविवाद में सर आर० होर्न के विचार, पृष्ठ ५८१-२

३. १९१३ मि० जार्ज लैन्सबरी का मुक़दमा।

डाकुओ से निबटने के लिए बनी थी तो स्पष्ट ही है कि उस प्रश्न पर ससद् में वादविवाद उठ खडा होगा और यदि ससद का यह विचार हो कि उसका कार्य नीति के दृष्टिकोण से उचित नही था तो स्पष्ट ही है कि वह उसकी कार्यवाही की निन्दा करेगी। परन्तु ऐसा होते ही वह कृत्य, जिसका स्वरूप न्यायिक माना जाता है, ऐसा कृत्य बन जायगा जिसका निस्सदेह राजनीतिक प्रकोप होता है। ऐसे प्रकोप का परिणाम ऐसे अधिकारी के लिए घातक होगा जो कि गैर-राजनीतिक हो। आगे जब कभी वैसा ही मामला आयगा तो वह उसके सबध में कार्यवाही करने में झिझकेगा। वह उसके गुणदोष देखकर उसके बारे में अपनी राय नही बनाएगा, बल्कि यह देखेगा कि इसके परिणामस्वरूप उसके लिए कितनी कठिनाई उत्पन्न होती है। उस कठिनाई से उसकी रक्षा का कोई वास्तविक प्रबध नही होगा क्योकि मत्री उसके कामो पर अपना पर्दा नही डाल सकेगा। उसकी स्थिति असहनीय बन जायगी। उस पर आक्षेप किये जायेंगे जिनसे वह अपना बचाव नही कर सकेगा और जल्दी ही इस काल्पनिक विचार का परित्याग करना पडेगा कि उसके कार्य का स्वरूप न्यायिक था। यह इसलिए कि ज्यो ही वह अपनी कार्यवाहियो के कारण बताने लगेगा यह पता चल जायगा कि वह नीति के आधार पर काम कर रहा था और वह कार्यांग की एक शाखा के रूप में प्रकट हो जायगा जिसके साथ उसके सबधों की सरचना समुचित नहीं थी। न्यायिक प्रशासन की शुद्धता उस सिद्धात में नही मिलेगी जिसका प्रतिपादन सर राबर्ट होर्न ने किया था। यह इसलिए कि इसका परिणाम केवल यह होगा कि उस परामर्श को छिपाया जा रहा है और उन सुझावो को लोगो से गुप्त रखा जा रहा है, जो किसी भी व्यवस्था में अनिवार्य है। और कोई भी यह मानने के लिए तैयार नही होगा कि उनका छिपा लेना उसके लुप्त हो जाने का प्रमाण है क्योकि बडे मामूली से विश्लेषण से उनका अत्यावश्यक महत्व मालूम हो जाता है।

दरअसल उसमे अपने सदस्यो को बाध्य करने की शक्ति है और उसकी सत्ता की परिधि में अब भी ऐसे कार्य-क्षेत्र है जिनमें उसके द्वारा पैदा की हुई ज़िम्मेदारियो से बचना अगर सिद्धात-रूप से असम्भव नही तो कम से कम इतना कठिन ज़रूर है कि व्यवहार में वैसा करना असम्भव हो जाये। लेकिन यह धारणा कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में राज्य-प्रभुता का सचमुच लोप हो गया है राष्ट्रीय पूर्वाग्रह के ज्वर से उद्दीप्त इस पीढी को आज भी दु ख देती है और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की समस्याओ पर दूसरे ही पहलू से विचार करना ज्यादा समझदारी की भी बात होगी और अधिक फलप्रद भी।

और वह दूसरा पहलू यह है कि उसके कृत्य क्या-क्या है और उन्हे पूरा करन के लिए किन अधिकरणो की जरूरत है। उनकी प्रकृति का विश्लेषण करके उस वस्तु का स्वरूप समझ पाने की कही अधिक सम्भावना हो सकती है जो राष्ट्रीयता का सभ्यता से मेल बिठाती है—अगर हम विशुद्ध अमूर्त विचारो की चीर-फाड करने बैठें तो शायद हमारे हाथ कुछ भी न लगेगा। मोटे तौर पर आधुनिक सभ्यता में समान हित के मामलो को तीन सामान्य श्रेणियो में बाँटा जा सकता है—कुछ समस्यायें राजनीतिक होती हैं, कुछ आर्थिक और कुछ सामाजिक। मेरे कहने का यह मतलब बिल्कुल नही है कि ये श्रेणियाँ आत्यतिक है या यह कि प्राय इन पर एक दूसरी की छाया नही पडती रहती लेकिन यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हमें जो भी समस्यायें सुलझानी पडती हैं उनमें से प्राय सभी इनमें से किसी न किसी श्रेणी में शुमार की जा सकती है। इनमें से हर श्रेणी के अन्तर्गत जो मुख्य विषय आते है उनपर मैं प्रकाश डालूँगा और समान हित के मामलो के रूप में उनका क्या महत्त्व है—इस पर भी थोडा बहुत कहूँगा। लेकिन एक सामान्य बात पहिले कह दी जाये। कई समस्यायें ऐसी होती हैं जिनके अस्तित्व से सिर्फ दो-तीन राज्यो का ही सम्बद्ध होता है, जिनमें आम अन्तर्राष्ट्रीय दिलचस्पी बहुत ही मामूली और बहुत क्षीण होती है—इसकी एक अच्छी मिसाल है उस अन्तर्राष्ट्रीय आयोग का काम जो डैन्यूब में यातायात का नियत्रण करता है। इस तरह की समस्याओ का हल दो शर्तों पर उन पक्षो को सौंपा जा सकता है जो मुख्य रूप से समस्या से सम्बन्धित हो—एक शर्त तो यह कि वह हल सार्वजनिक रूप से निकाला जाये और दूसरे यह कि उसका सार-तत्त्व और उसका परिपालन आम अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता द्वारा अनुमोदित होना चाहिये और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि उस सत्ता द्वारा उसका कभी भी निरीक्षण हो सके। कहने का मतलब यह कि राष्ट्र-सघ के एक राज्य का रूप ले लेने की—राज्य शब्द के साधारण अर्थ में—कोई सम्भावना नहीं है। उसका सरोकार सीधे प्रशासन के बजाय हल प्रस्तुत करने या उन्हे स्वीकार करने से ही अधिक रहेगा जिनको अमल में औरों द्वारा लाया जायेगा। अत वह सिद्धात का स्रोत ही अधिक रहेगा, कार्य का अभिकर्ता नही हालाँकि जैसा मैं आगे चलकर दिखाऊँगा उसे समाज में अन्तिम आरक्षित बल तो मानना ही पडेगा जिसकी ओर से—और कोई चारा न रह जाने पर—निश्चित कदम उठाये ही जाते है।

—२—

सबसे पहले मैं राष्ट्र-सघ के राजनीतिक कृत्यो को लेता हूँ और उनमें भी

सबसे पहले उन राजनीतिक कृत्यो का विवेचन करेंगे जिनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व अतर्क्य है। यह स्पष्ट है कि सब सन्धियो का पजीयन राष्ट्र-सघ में होना चाहिये—चाहे उनका विस्तार और स्वरूप कितना ही और कैसा ही क्यो न हो। यह इसीलिए जरूरी नही कि दूसरे राज्यो पर उनका कुछ न कुछ असर पड सकता है—क्योकि पजीयन के कारण वे सघ के सामने उनके सार-तत्त्व की बात उठा सकते है—बल्कि इसलिए भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धो में कोई रहस्य रखना शान्ति के वातावरण के लिए घातक होता है। इसके अलावा कुछ सन्धियाँ इस प्रकार की होती है जो आपूर्व ही अप्रीतिकर और त्याज्य होती है और यह आवश्यक है कि सघ अपनी कार्यवाही द्वारा उन्हें अमान्य कर दे। मिसाल के लिए इस तरह की सन्धियो की कोई सफाई नही दी जा सकती जहाँ एक राज्य अपने आपको दूसरे के साथ सयुक्त सैनिक कार्यवाही करने के लिए बाध्य कर ले—जैसे १९१४ से पहले फ्रास ने अपने आपको रूस के साथ सयुक्त सैनिक कार्यवाही करने के लिए बाध्य कर लिया था। मेरे कहने का मतलब यह बिल्कुल नही कि पजीयन अनिवाय कर देने से यह भरोसा हो जाता है कि किसी तरह के गुप्त प्रबध नही हो पायेंगे। लेकिन अगर खुले आम पजीयित और अन्तर्राष्ट्रीय रूप से अनुमोदित सधियो को ही सघ की स्वीकृति मिले तो उन प्रबन्धो पर से पर्दा हट जाने पर, जिन्हे सन्धि-कर्ताओ ने छिपाने की कोशिश की हो, उनकी प्रभावोत्पादकता उससे कही कम हो जायगी जितनी वह अन्यथा होती। अगर १९०४ के आगल-फ्रासीसी समझौते की सही-सही बातें तभी मालूम पड जाती जब वह किया गया था तो १९१४ में युद्ध का वातावरण पैदा कर देना कही अधिक मुश्किल काम हो जाता। रहस्य शक को जन्म देता है और शक डर का पोषण करता है? बाध्य होकर किसी बात के प्रकाश में लाये जाने का मतलब है उन शक्तियो पर एक ऐसे भीषण अपराध का दायित्व डाल देना जो, वर्तमान वातावरण में भी, अपने बारे में दुनिया के विरोधी मत का सामना करना नही चाहते। और इस तरह प्रकाश में आने से यह आवश्यक उपबन्ध सम्भव हो सकता है कि किसी भी सन्धि के सघ द्वारा प्रकाशित किये जाने के बाद तीन महीने तक उसे वैध नही माना जाना चाहिये। क्योकि तब इतना वक्त बीच में मिल जायेगा कि अगर नये प्रबन्धो के द्वारा किसी राज्य पर प्रतिकूल प्रभाव पडता हो तो वह अपना विरोध प्रकट कर सके। मै समझता हूँ कि वह सघ की परिषद् के सामने अपील करने के लिए एक मुनासिब मामला होगा।

(२) हदबन्दी—हदबन्दी करने में सघ की सत्ता का हमेशा उपयोग किया जाना चाहिये। जहाँ सम्बद्ध राष्ट्र सीमा की रेखा कहाँ खीची जाय—इस बारे में सहमत हो वहाँ सघ की स्वीकृति ले लेना भर काफी होगा। पोलैण्ड और जर्मनी की भाँति जहाँ समस्या विवादास्पद हो वहाँ सघ की सत्ता ही एक ऐसा सूत्र है जिससे मुनासिब और निष्पक्ष हल पाने की आशा की जा सकती है। इसके अलावा सघ के माध्यम से ही तटस्थ प्रदेशो की उस प्रणाली को मुनासिब तौर पर अमल में लाया जा सकता है जिसके द्वारा सामरिक विचारों से पैदा होने वाली कठिनाइयो से बचने की आशा की जा सकती है। मिसाल के तौर पर राइनलैण्ड को लीजिए जो निश्चित रूप से जर्मनी का इलाका है। इसमें कोई शक नही कि फ्रास की सुरक्षा को इससे खतरा है क्योकि यह हमले के बडे अवसर प्रदान

कर सकता है। सैनिक दृष्टि से अगर इसको एक तटस्थ इलाके का रूप दे दिया जाय तो उससे जर्मनी के राजनीतिक या आर्थिक दलो की कोई हानि नही होगी। लेकिन उसे ऐसा असैनिक रूप किसी नष्पक्ष सत्ता की मार्फत ही दिया जा सकता है। और नियमत हदबन्दी करने में सामाजिक और राष्ट्रीय विचारो को तोलना पडता है और उसकी व्याख्या जो भी देश करेगा, अपने अलग ढग से करेगा—बल्कान देशो का मामला इसकी मिसाल है। राष्ट्र-सघ इस बात का सबसे बडा आश्वासन है कि जो भी फेर-बदल की जायेगी मुनासिब और उचित ही होगी। यह सच है कि यह आश्वासन भी अपने आप में पूर्ण नही हो सकता—सिलेसिया के जनमत का सघ के अपने ही हल द्वारा घोर अतिक्रमण हुआ था। आम तौर से, ऐसा किया जा सकता है कि, सघ अपने लिए यह आत्म-निषेध का अध्यादेश बना ले कि जातीय सम्बन्ध की समस्याओ के निपटारे के लिए की जाने वाली हदबन्दियाँ बहुमत के निर्णय के अनुसार होगी और वास्तविक मतदान को बिल्कुल गुप्त रखने का पूरा-पूरा इन्तजाम हो—*बिल्कुल वैसा जैसा इगलैड के आम चुनावो में* रखा जाता है।

(३) निरस्त्रीकरण—आदर्शवादी दृष्टि से देखें तो निरस्त्रीकरण के सवाल का हल यह है कि ऐसी स्थिति हो जाय कि किसी राज्य के पास जितनी अपने आन्तरिक प्रबन्ध की समस्याओ के लिए जरूरी है उससे अधिक सशस्त्र-सेनायें न रहें पर व्यवहार में यह हल आज एक सुनहरे स्वप्न के मानिन्द ही है। लेकिन शस्त्रो को बढाने के बारे में राष्ट्रो की होड के सम्बन्ध में हमारे जो अनुभव है उनसे हमें कुछ स्पष्ट सबक मिलते है। यह बात साफ हो गई है कि लडाई के विरुद्ध तैयारी करने से ऐसा कोई आश्वासन नही हो सकता कि लडाई नही होगी—उल्टे, तैयारी करना मानो लडाई की भूमिका बन जाती है। इगलैड और जर्मनी की नौसैनिक होड का इतिहास इसका अकाट्य प्रमाण है। यह भी स्पष्ट है कि जब तक सघ के तत्त्वावधान में रक्षा का कोई सर्वसम्मत और समन्वित तरीका नही निकाला जाता, जिसका पालन करना उसका सदस्य बने रहने के लिए जरूरी हो, तब तक शस्त्रीकरण की अबाध शक्ति से पैदा होने वाले सन्देह के वातावरण से बचने का भी कोई उचित रास्ता नही निकल सकता। तब, हमारे हाल के अनुभव से नियत्रण के क्या सिद्धात हमारे सामने उभरते है? मेरे विचार में पाच सिद्धात हमारे सामने आते है। १ जबर्दस्ती भरती किये हुओ की सेना रखन की किसी राज्य को इजाजत नही होनी चाहिये। समूची बालिग आबादी को शस्त्र-शिक्षा देने का मतलब है शक्तिशाली राज्य को अपना प्रभाव बढाने के लिए अपनी सेनाओ का प्रयोग करने का बुलावा देना। यह स्पष्ट है जबर्दस्ती की भरती के उस वातावरण में फ्रासीसी और जर्मन नागरिको की सख्या का अनुपात भी १९१४ की लडाई का एक आशिक कारण था। एकान्तत पेशेवर सेना रखने का फल यह होता है कि आम आदमी की आदतो में फौजीपन का पुट नही रह जाता। निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रिटिश प्रादेशिक सेना की तरह के अवैतनिक सैनिक रखने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिये। २ शस्त्र बनाने का काम—चाहे वे स्थल-सेना के मतलब के हों या नौसेना के—सिर्फ सरकारो तक ही सीमित कर देना

चाहिये। १९१४[1] से पहले शस्त्र-निर्माता 'टोली' के इतिहास से जो अच्छी तरह परिचित है वह यह अच्छी तरह समझ सकता है कि अगर निजी उद्यम को सरकारो में युद्ध की आदतें उभारते रहने की छूट दे दी जाये तो उसके कितने भीषण परिणाम हो सकते है और यह भी साफ है कि लडाई के बाद भी वर्साई-सधि के कारण बने हुए नये राष्ट्र तक समूची प्रणाली में बद्धमूल बुराइयो के कारण वैसे ही वातावरण मे घसीट कर शामिल कर लिये जाते है। ट्रायनन-सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया में गोला-बारूद वगैरा बनाये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। लेकिन इसमें शक करने की कोई गुजाइश नही कि अब स्वतत्र हुए उत्तराधिकारी राज्यो के इस्तेमाल के लिए वहाँ शस्त्रास्त्र बनाये जरूर गये है। इसके अतिरिक्त कुछ खास तरह की युद्ध-सामग्री तैयार करने पर भी प्रतिबन्ध लगाना बडा जरूरी है—इसकी एक साफ मिसाल है ज़हरीली गैस। लडाई को शिष्ट रूप देने की धारणा में निस्सन्देह वैसी ही घोर विडम्बना है जैसी स्विफ्ट में थी। लेकिन जिन्होने ज़हरीली गैसो या अरक्षित नगरो पर—खास तौर से हवाई जहाजो से—होने वाली बमबारी के भयकर परिणाम देखे है वे इस बात में शक नही कर सकते कि उनसे बर्बरता के ऐसे उत्स फूट पडते है जो मानव-स्वभाव की मूलभूत मर्यादाओ और शालीनता के लिए घातक होते है। और विज्ञान के कदम जैसे-जैसे बढते जायेंगे वैसे-वैसे ही इस तरह के प्रयोग के परिणाम भीषणतर बनते जायेंगे। यह मामला इतना गम्भीर हो गया है कि आज समूची मानवता का भाग्य सिमट कर इसकी परिधि में समाया हुआ है और अगर यह आविष्कारशीलता निर्बाध रह गई और मान लीजिए रसायनज्ञ को अपनी खोजें पूरी करने के लिए तीस साल की अवधि मिल गई तो लडाई का नतीजा यह होगा कि यह सभ्य ससार एक ऐसा विशाल कसाईखाना बनकर रह जायेगा जहाँ से मर्यादा और शालीनता का नामोनिशान तक उठ जायेगा। राज्यों के बीच शस्त्रास्त्र का कोई सम्मत पैमाना होना चाहिये—इसका आधार कुछ हद तक तो आबादी होगी और कुछ हद तक यह बात कि जिस व्यापार की रक्षा की जाती है उसका क्षेत्र और परिणाम कितना है। यह सत्य है कि अनुज्ञेय शस्त्रास्त्रो को इस तरह सीमित कर देने से लडाई की सभावना कोई खास कम नही हो जाती—इसका फल तो ज्यादा से ज्यादा यही हो सकता है कि शान्ति-काल मे लडाई की लागत कम हो जाय। लेकिन इसका एक बडा भारी महत्त्व यह है कि सब लोग यह तो जान लेते है कि रक्षा की व्यवस्था कितने बडे पैमाने पर की जा रही है और इसके कारण वह खतरनाक सन्देह-भावना घटती है जिससे और जिसके कारण लडाई का वातावरण पैदा होता है और पनपता है। दूसरे, इसके परिणामस्वरूप सरकारी धन शान्ति-कार्यों में लगाया जा सकता है और यह ऐसी बात है जिसका, विशेषकर शिक्षा क्षेत्र में, अनुषगत असीम महत्त्व है। यह बडा जरूरी है कि सघ के साफ-साफ अनुमोदन के बिना कोई सैनिक या जहाजी अड्डे न बनाये जायें। जर्मनी

१ तु० एच० एल० ब्रेलसफोर्ड—दी वार आफ स्टील एण्ड गोल्ड, अध्याय २, पृष्ठ ८८। १९२७ में जेनेवा में श्री शेरार की कार्यवाहियों के बारे में जो ज्ञात हुआ है उससे इस बुराई के स्थायी स्वरूप पर रोशनी पड़ती है। देखिये लदन टाइम्स—अक्तूबर, १९२९।

द्वारा हेलिगोलैंड की या ब्रिटेन द्वारा सिगापुर की किलाबन्दी करने या इसी प्रकार के प्रयत्नो से ऐसे बडे-बडे सवाल पैदा हो जाते हैं जिनका महत्त्व किसी देश या प्रदेश विशेष तक सीमित नही होता। अगर लार्ड सैलिसबरी हेलिगोलैंड के भविष्य की कल्पना कर पाये होते तो वे जजीबार से उसका विनिमय करने को कभी तैयार न होते, और किला-बन्दी किए हुए सिंगापुर को जापान अनिवार्यत अपनी सुरक्षा के लिए खतरा समझता है। जिन देशो के कब्जे में इस तरह की दूर-दूर की बस्तियाँ हैं वे अगर ऐसे दुनिया भर में अपनी किलेबन्दियाँ फैलाने लगें तो जाहिर है कि उनके पडौसियो को भी जवाब में वैसे ही कदम उठाने पडेंगे और युद्ध के उपादानों की एक नई ही तरह की होड शुरू हो जायगी और यह अतीत कि प्रतियोगिताओ से किसी तरह कम खतरनाक न होगी। अगर सिंगापुर में जहाजी गोदी बनाना न्याय्य और सगत हो तो ब्रिटेन को किसी स्वतत्र न्यायाधिकरण के सामने इसे सगत सिद्ध करने मे कोई बाधा क्यो हो ? और अगर फैसला करने की चरम शक्ति उसी के हाथो में छोड दी जाती है तो समझिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के हर सिद्धात का शुरू से ही अतिक्रमण हो गया।

एक बार यह मान लेने पर कि निरस्त्रीकरण का मामला ऐसा है जिसे सघ को सौंपा जाना चाहिये, इन सिद्धातो के पालन करने का तरीका महत्त्वपूर्ण बन जाता है। जाहिर है कि कोई साधारण कार्यांग इनसे पैदा होने वाली समस्याओ से नही जूझ पायेगा। इनमें यह बात निहित है कि विशेषज्ञो का एक स्थायी निकाय हो जो उन के पालन के बारे में समय-समय पर सघ को अपनी रिपोर्ट देता हो। रिपोर्ट देने के लिये जरूरी है कि उन्हें निरीक्षण करने का अधिकार हो और निरीक्षण करने के लिए यह जरूरी है कि उन्हें प्रवेश का अधिकार हो। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि सघ की कार्यांग सत्ता के मातहत एक निरस्त्रीकरण आयोग हो जिस पर इन कामो की निगरानी करने की जिम्मे-दारी हो। यह बात अच्छी तरह समझ ली जाये कि यह आयोग सिर्फ जाँच करने वाला होगा, कार्य-आयोग नही—वह उतना ही काम करेगा जितना ऊपर की सत्ता उसे अधिकार देगी। और सघ के अधीन ऐसा कार्य-निकाय एक प्रशासन सत्ता की तरह की चीज हो जायगी और इसमें शक नही कि उसके सिर्फ एक आध प्रयोजन ही नही होगे। वह सघ की ओर से सब तरफ निगरानी रखेगा। राज्यों द्वारा उसे जो सामग्री उपलब्ध कराई जायगी उसके निष्कर्ष उन पर आधारित न होकर उनसे निरपेक्ष होगे क्योकि हो सकता है राज्यो की दिलचस्पी अपनी जिम्मेदारियो से टकराने में हो। मेरे कहने का मतलब यह हरगिज नही कि आयोग के होने से राज्य अपनी जिम्मेदारियो से बच नही पायेंगे—जैसे फौजदारी कानून के होने से कत्ल के मामले बन्द नही हो जाते। लेकिन यह कम से कम उसके विरुद्ध एक सुरक्षण अवश्य होगा।''[1]

(४) जातीय और धार्मिक अल्पसख्यको के प्रति व्यवहार—एक और महत्त्वपूर्ण समस्या बडे गम्भीर रूप में १९वी शताब्दी में सामने आई और वर्साई सन्धि के उपबन्धों से और भी गहरी और तीक्ष्ण बन गई—यह समस्या इस तथ्य से पैदा होती है कि किसी

---

[1] संघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ९ में इस प्रकार की व्याख्या है।

भी तरह से की हुई भौगोलिक हृदबन्दी अपनी प्रातिस्विक विशेषताओ का दावा रखने वाले आदमियो के हर एक दल को प्रादेशिक स्वायत्तता नही दे सकती और आर्थिक कारणो से, इस तरह का विभाजन वाछनीय भी नही होगा। अत यह बड़े महत्त्व की बात है कि उन अधिकारो के दिये जाने के बारे में अल्पसख्यको को आश्वस्त रखा जाय जिनके बिना—जैसाकि मै ऊपर दिखा चुका हूँ—सृजनात्मक जीवन असम्भव होता है। सविधान में अधिकारो का विधेयक शामिल कर देने भर से वे आश्वासन नही मिल जाते। पोलैण्ड और रूमानिया में, हगरी और यूगोस्लाविया में कानून के समक्ष सबकी समानता का न तो कभी अस्तित्व रहा है और न उसका अस्तित्व निश्चित करने के बारे में कोई प्रयास किया गया है। इसे यथार्थ रूप देने का एक ही तरीका है और वह यह कि इन अल्प-सख्यको को सघ का सरक्षण मिले जाय। उस सरक्षण से किन-किन अधिकारो की रक्षा की जाय यह बात स्वभावत राज्य-राज्य पर निर्भर होगी। कुछ देशो में इस में भाषा-सम्बन्धी सरक्षण भी शामिल होता है—जर्मन लोग यह नही चाहते कि उन्हें चैक या पोलिश भाषा बोलने पर मजबूर किया जाये। और देशो में धार्मिक सरक्षण महत्त्वपूर्ण होता है। रूमानियाई यहूदी यह नही चाहते कि उनका सिर्फ इसलिए विश्वविद्यालयो से बहिष्कार किया जाय कि उनका धर्म आम आबादी से भिन्न है। आम तौर से जरूरी यह प्रतीत होता है कि अल्प-सख्यको को अपने प्रति किये गये बर्ताव के खिलाफ सघ के सामने विरोध प्रकट करने का अधिकार हो और इसके साथ ही सघ को उन शिकायतो की जाँच करने का हक हो जिन में कुछ वजन दिखाई पड़े। इस तरह की जाँच में यह बात निहित होगी कि सुनवाइयो के बाद कुछ सिफारिशें की जायेंगी और सघ की सदस्यता में यह दायित्व निहित होना चाहिए कि जिस किसी राज्य को इस प्रकार की सिफारिशें भेजी जायें वह सिद्धान्त रूप से और अमल में उनका पूरी तरह पालन करे।

क्या सघ किसी ऐसे राज्य पर अपनी सिफारिशें लागू कर सकता है जो उन्हें मानने को तैयार न हो? अगर ऐसा करने में लडाई तक की नौबत आ जाती है तो स्पष्ट है कि अभी कुछ समय तो बलात् उन्हें लागू कर पाना सम्भव नही हो सकेगा। लेकिन सघ यह आग्रह तो कर ही सकता है कि अगर कोई राज्य जान-बूझ कर उन पर अमल न करने की नीति अपनाये तो उसका आर्थिक बहिष्कार कर दिया जाये। उसे विदेशो में कर्ज पाने से रोका जा सकता है, विदेशी राष्ट्रो के विनिमय-व्यापार केन्द्र में दी गई सूचियो में से उसकी प्रतिभूतियाँ खारिज की जा सकती है और जो मामले बहुत ही गये-बीते हो उनमें उस पर उन अन्य राष्ट्रो से व्यापार करने का भी प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। सघ की सदस्यता से मुअत्तिल कर देना भी ऐसा दण्ड हो सकता है जिसके अच्छे नतीजे निकलें क्योकि वह दुनिया के सामने इस बात का एलान होता है कि अमुक राष्ट्र ने विश्व की जनता के मत की अवमानना की है।

यह एक दिलचस्प सवाल है कि अधीनस्थ अल्प-सख्यको के प्रति बर्ताव का प्रश्न कब घरेलू सवाल के धरातल से उठ कर ऐसा सवाल बन जाता है जिस पर सघ को कुछ कदम उठाना मुनासिब हो। मिसाल के लिए मान लीजिए मिस्र या भारत सघ के सामने अपील करते है—जैसे आयरलैण्ड ने १९१९ में शान्ति सम्मेलन के सामने की थी। मान लीजिए

फिलीपीन्स या हेटी अथवा सैन डोमिंगो अमरीका के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सघ की सहायता माँगते है —फिर चाहे उनका उसे दुर्व्यवहार समझना गलत हो या सही। ऐसे मामलों में सघ का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए। इससे पहले यहाँ एक और सवाल पूछा जाए। मिस्र या आयरलैण्ड अथवा भारत की अपील किसे माना जाय? जाहिर है किसी असन्तुष्ट अल्प-सख्यक सस्था को यह हक हासिल नही कि उसकी सुनवाई की जाय—उसका काम तो यह है कि सही रास्ते से वह उस समुदाय में जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है बहु-सख्यक का रूप ले ले। मै समझता हूँ आधिकारिक अपील का मतलब यह समझा जाना चाहिए कि वह राज्य-विशेष में निर्वाचित सभा के सम्बद्ध अल्पसख्यको का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यो के बहुमत की अपील है। अगर वे शिकायत करें कि उन पर दमन-चक्र चल रहा है तो मै समझता हूँ सघ का यह कर्त्तव्य है कि उनकी तथाकथित मुसीबतो के बारे में जाँच करायें। इस विचार के विरुद्ध एक ही मामला हो सकता है—जहाँ प्रतिष्ठा का सवाल आ अटके। १९१९ में इगलैण्ड को यह बात पसन्द नही आई कि आयरलैण्ड के साथ उसके सम्बन्धो की जाँच विदेशियो द्वारा की जाये। अमरीका चाहता है कि फिलिपीन्स को जब वह मुनासिब समझे और चाहे आजादी दे। लेकिन जो मामला सिर्फ प्रतिष्ठा पर आधारित होता है उसका कहाँ तक समर्थन करते रहा जा सकता है? सर हेनरी कैपबल बैनर-मैन की उक्ति है कि कोई राष्ट्र इतना अच्छा नही होता कि वह दूसरे राष्ट्र पर शासन करे और अगर इस शासित राष्ट्र के निर्वाचित प्रतिनिधि मिलकर अपनी इस अधीनता के खिलाफ आवाज उठाये तो आपातत वह मामला ऐसा होता ही है जिसकी जाँच की जानी चाहिए।

मेरी तजवीज है कि ऐसे मामलो मे सघ का काम होना चाहिए स्वतन्त्र रूप से जाँच करना। स्पष्ट है कि इस तरह की जाँच हमेशा तदर्थ जाँच ही होगी और उसका जो स्वरूप निखर कर आयेगा वह ऐसी आम सिफारिशो का होगा जिन पर अमल करने के लिए कोई बाध्य नही होगा। जो राष्ट्र सघ इगलैण्ड को भारत से बिलकुल बाहर होने की या जापान को कोरिया का समर्पण कर देने की आज्ञा देता है उसे अपने विचारो को क्रियान्वित कर पाने की उम्मीद नही करनी चाहिए—वह ज्यादा से ज्यादा यह कर सकता है कि अपने निष्कर्ष और सुझावो को प्रकाशित कर दे। और अगर यह काम बखूबी किया जाता है तो इस प्रकार की रिपोर्ट के पक्ष में जनमत के जो उत्स फूटेगे उन के विरुद्ध खडे रहना किसी भी सरकार के लिए एक कठिन काम होगा। इससे एक और महत्त्वपूर्ण प्रयोजन भी सधेगा। आज की दुनिया के सामने जो कठिनाइयाँ है उनमें से आधी वैदेशिक मामलो के बारे में हमारे अज्ञान के कारण पैदा हुई है और हमें जितना ज्ञान है भी उसमें से बहुत सारा ऐसा है जो झूठी-सच्ची खबरो से निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित है। अग्रेज सोचते है कि भारत सुशासित देश है—उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक भी है क्योकि वे खुद ही तो उसके शासक हैं! भारतीयो का ख्याल है कि देश का कुशासन सर्वोच्च नियन्त्रण की जगहो से उन्हें अलग रखने के कारण है—उनका यह सोचना भी उतना ही स्वाभाविक है। अगर सही सच्चे मानी में स्वतन्त्र जाँच हो तो ही एक पक्ष को दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण के प्रति जागरूक किया जा सकता है। लेकिन यह नितान्त आवश्यक है कि जाँच सचमुच स्वतन्त्र, बिना किसी तरह

के दबाव के निष्पन्न हो। हगरी के अल्पसख्यको के प्रति उस के व्यवहार की जाँच करने के लिए किसी रोमन कैथोलिक को भेजना या फिलीपीन्स के भविष्य के विषय में रिपोर्ट देने के लिए किसी एग्लो-इण्डियन नागरिक को भेजना बिल्कुल व्यर्थ है। भूल और पूर्वाग्रह का थोडा-बहुत पुट तो निस्सन्देह हमेशा ही रहेगा लेकिन सघ को इस बात की भरसक कोशिश करनी चाहिए कि उसकी मात्रा कम से कम हो।

(५) पिछडे हुए राष्ट्रो के प्रति व्यवहार —अल्पसख्यको की समस्या से बिल्कुल जुडी हुई समस्या है पराधीन जातियो की समस्या। इस मामले में सघ ने उन प्रदेशो और उपनिवेशो के बारे में समादेश-प्रणाली का आग्रह किया है जो १९१४ के युद्ध के फलस्वरूप उस सघर्ष के विजेताओ के हाथो में सौंप दिये गये हैं—इस प्रकार इस विषय में कुछ हद तक सघ ने अपनी जिम्मेदारी स्वीकार की है। सघ के प्रतिज्ञा-पत्र के २२वें अनुच्छेद के द्वारा शासन के कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर दिये गये हैं। इन प्रदेशों को तीन आम वर्गों में बाँटा गया है। पहले वर्ग में ईराक और फिलीस्तीन जैसे देश है। इनके बारे में यह माना जाता है कि समाज "विकास के ऐसे अवस्थान में पहुँच गया है जहाँ स्वतन्त्र राष्ट्रो के रूप में उनका अस्तित्व अस्थायी रूप से मजूर किया जा सकता है" लेकिन प्रशासन के मामलो में उन्हें समादेश-प्राप्त राज्यो की सलाह और सहायता लेनी होगी। मोटे तौर पर ये राज्य उन्हें सरक्षित प्रदेशो की तरह मान सकते है। दूसरे वर्ग मे वे प्रदेश है जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्य में शाही उपनिवेश कहा जाता है—उनमें प्रतिनिधि सस्थाएँ नही होती। समादेश-प्राप्त राज्य धार्मिक स्वतत्रता की गारटी करता है। वह यह प्रण करता है कि दास-प्रथा और दासो के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगायेगा, शराब आदि का व्यापार न होने देगा, शस्त्रास्त्र की बिक्री पर प्रतिबन्ध रखेगा और भूमि-सम्बन्धी लेन-देन में देशी लोगो के हितो की रक्षा करेगा। वह यह भी तसलीम करता है कि वह किलेबन्दियाँ नही करेगा, नौसैनिक या फौजी अड्डे नही बनायेगा और देशियो को शस्त्रास्त्र की उतनी ही शिक्षा देगा जितनी आन्तरिक व्यवस्था और रक्षा के लिए जरूरी हो। व्यापार की स्वतत्रता का भी आश्वासन दिया जाता है। टोगोलैण्ड और कैमरुन इस वर्ग के प्रदेशो की मिसाल है। तीसरा वर्ग ऐसे प्रदेशो का है जो नौरू की तरह या तो अपने छोटे आकार के कारण अथवा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की भाँति अपनी छिछली आबादी के कारण समादेश-प्राप्त राज्य के इलाके में ही अभिन्न रूप से मिला दिये गये हैं और उन पर जैसे वह नियम बनाये वे सभी लागू होते है। तीनों ही वर्गों में समादेश-प्राप्त राज्य को अपने काम की सालाना रिपोर्ट सघ के सामने पेश करनी होती है। सघ ने इस प्रणाली के अमल पर बारीकी से निगरानी करने के लिए नौ सदस्यो का एक स्थायी समादेश-आयोग बना दिया है—इसके चार सदस्य तो समादेश-प्राप्त राज्यों के हैं और पाच दूसरे राज्यो के। यह भी आवश्यक है कि समादेश-प्राप्त राज्यो के जो सदस्य हो वे अपने-अपन देश की सरकारो के नौकर न हो।

इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि देशीय जातियो के शासन के लिए अब तक जो तरीके सुझाये गये है उनकी निस्बत इन सिद्धान्तो में आम तौर से कही अधिक प्रगति परिलक्षित होती है। मिसाल के तौर पर अगर कोई इनकी तुलना अफ्रीकी महाद्वीप[1] में

१ दे० एल० वुल्फ़ एम्पायर एण्ड कामर्स इन अफ्रीका, नार्मन लेस—केन्या।

घुस बैठने में निहित असली सिद्धान्तो से करे तो वह यह समझ जायेगा कि एक नये वातावरण की सम्भावना पैदा हो गई है। लेकिन, कोई चाहे तो कह सकता है कि जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है और उनके परिपालन के लिए जो कदम उठाये जाते हैं उनके बीच बडी चौडी खाई है। सालाना रिपोर्ट समादेश-प्राप्त राज्य देता है यानी मतलब यह कि जिस राज्य के काम पर निगरानी रखनी है वह समय-समय पर रिपोट देता है कि उसका आचरण अच्छा रहा है। और बाण्डेलवार्ट्स विद्रोह के प्रति दक्षिण अफ्रीका के रवैये से अधिकाश निष्पक्ष प्रेक्षको के मन में यह सन्देह जाग सकता है कि उद्दिष्ट लक्ष्य प्राप्त करने के लिए क्या इस तरह की रिपोर्टें ही सब से अच्छा तरीका है? असल में, दो ऐसे स्पष्ट तरीके है जिनके योग से उन्हें और बल मिल सकता है। पहला तो यह कि हर समादेश-अधीन प्रदेश में सघ का एक आयुक्त होना चाहिए जो वहाँ पर उसके दूत की तरह से काम करे। वह समादेश-प्राप्त राज्य का नही, हमेशा किसी दूसरे राज्य का होना चाहिए। उसका फर्ज यह हो कि उसके काम पर निगरानी रखे और उसके बारे में स्वतन्त्र रूप से सघ को अपनी रिपोट भिजवाये। समादेश-प्राप्त राज्य जितने भी विनियम बनायें वे सब अनुमोदन के लिए उसके पास भेजे जायें और अगर वह उनसे सहमत न हो तो वे स्थायी समादेश-आयोग के सामने पेश किये जायें कि वह उन्हें मजूर करे या नामजर। जहाँ बाण्डेलवार्ट्स विद्रोह की तरह से कोई गडबड फैले वहाँ उसका काम यह होना चाहिए कि उसकी स्वतन्त्र रूप से अदालती जाँच कराये और गडबड शुरू होने के बाद जितनी जल्दी से जल्दी सम्भव हो सीधे सघ को अपनी रिपोर्ट भेज दे। उसे स्वय हमेशा उस प्रदेश की सब से ज्यादा आम भाषा बोलनी चाहिए और उसका अपना अलग अमला होना चाहिए जो वहाँ के अलग-अलग वर्गों की भाषाएँ बोलते हों। इस तरह सघ समादेश-प्राप्त राज्यो के काम पर अलग के अलग बराबर निगरानी रख सकेगा—समादेश-प्राप्त राज्य जो कुछ उसे बतायें मुख्य रूप से उन्ही बातो पर बहस कर लेने भर से उसका काम खत्म नही हो जायगा जैसा कि अब होता है। तब अगर कही गडबड हो तो वह सचमुच उसके बारे में छान-बीन कर सकेगा—अब तो यह होता है कि अगर वह जाँच और छानबीन करना भी चाहे तो वैसा करने तक सारा आवश्यक साक्ष्य नष्ट हो चुकता है। मरे हुए लोग कोई बात नही बता सकते—मरे देशीय जन भी इस मामले मे औरो से भिन्न नही होते। यह भी कह दिया जाय कि इसका कोई कारण नही दिखाई पड़ता कि उन सभी प्रदेशो में समादेश-प्रणाली क्यो न लागू कर दी जाये जिनमें देशीय जातियो की प्रधानता है। जिन कारणों से टोगोलैण्ड पर सघ का नियत्रण है ठीक उन्ही कारणो से केन्या पर भी होना चाहिए और प्रतिज्ञापत्र में ऐसी व्यवस्था है जिस के द्वारा बिना कठिनाई इसके क्षेत्र को बढाया जा सकता है[1]।

मै समझता हूँ निरीक्षण की इस तरह की प्रणाली सब से अधिक आवश्यक है परन्तु वह अपने आप में पर्याप्तता का आश्वासन नही। यह भी कम महत्त्व की बात नही कि इन समादेशो को लागू करने का काम कैसे लोगो को सौंपा जाता है। यह सच है कि सघ इस

---

१. अनुच्छेद २३—धारा (ब) "... संघ के सदस्य ... प्रतिज्ञा करते हैं कि उनके नियंत्रण में जो प्रदेश हैं उनके देशी निवासियों को न्यायपूर्ण व्यवहार दिलवाया जायगा।"

बात पर नियत्रण नही रख सकता कि कोई समादेश-प्राप्त देश अपने उपनिवेश की नौकरियो में कैसे लोगो को रखता है लेकिन अगर जरूरी हो और जाँच करके उसे अपनी तसल्ली हो जाय तो वह इस तरह नियुक्त किये गये लोगो के खिलाफ आनुशासनिक कार्यवाही की माँग कर सकता है जिसमें नौकरी से बरखास्त किया जाना भी शामिल है। वह इस बात का आग्रह कर सकता है कि नृवश-शास्त्र और न-शास्त्र की समुचित शिक्षा के बिना और जिस प्रदेश का प्रशासन करना है उसकी भाषा बोलने की योग्यता के बिना किसी को वहाँ नियुक्त न किया जाये। खोज का यह साफ सबक है देशीय प्रथा-परम्पराओ को जानना बडा जरूरी है—तभी शासन-प्रबन्ध अच्छे ढग से चलाया जा सकता है। और मोटे तरीको से वहाँ के वही ये चीजें जान लेने की उम्मीद तो कोई प्रतिभावान ही कर सकता है।[1] यह भी जरूरी है कि कारबार मे लगे हुए गोरे आवासियो को अदालती शक्तियाँ न दी जायें। वे तो लाभ कमाने के ही लिए वहाँ बसे होते है और ऐसे प्रदेशो में तिजारत के इतिहास से यह कतई जाहिर है कि व्यापारी पर यह भरोसा नही किया जा सकता है कि वह देशियो के प्रति न्याय करेगा। और, जहाँ तक हो सके, बेगार की भी इजाजत नही होनी चाहिए, उस अवधि के लिए तो किसी देशीय आदमी को कभी नही लगाया जाना चाहिए जब खास-खास काम निपटाने के लिए बाहर के लोगो को रखने की जरूरत हुआ करती है।[1]

सरकारी कामो की—जैसे सडके बनाना आदि—और बात है। लेकिन यह आम नियम कि जो मजदूर काम पर लगाये जायें वे सामान्य वेतन पाने वाले मजदूर हो बहुत ही महत्त्व का सिद्धान्त है।

(६) अग्रधर्षण, लडाइयाँ और झगडे—राष्ट्र-सघ का महत्त्व स्पष्ट ही इस बात में है कि उसमें युद्ध को रोकने की क्षमता है या नही। झगडो के शान्तिपूर्ण निबटारे के लिए सघ के प्रतिज्ञा-पत्र में जो उपबन्ध है, आइए हम पहले उनकी जाँच करें। पहली बात यह है कि सघ का हरेक सदस्य बाहरी हमले के विरुद्ध सघ के अन्य सभी सदस्यो के प्रदेश और वर्तमान स्वतत्रता की प्रतिभूति करते है और सघ की परिषद् का यह काम है कि इस दायित्व को पूरा करने के तरीकों के बारे में उसे सलाह-मशविरा दे[2]। दूसरे, लडाई या लडाई की धमकी सघ के लिए चिन्ता का विषय है—चाहे उसका उसके सदस्यो पर असर पडता हो या नही और जब ऐसा आपात-काल आ जाये तो सघ-परिषद् की बैठक तुरन्त बुलानी होती है। हर सदस्य को "दोस्ताने तौर पर यह अधिकार" है कि जिन परिस्थितियो से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भग होने की आशका हो उनकी ओर सभा या परिषद् का ध्यान आकृष्ट करे।[3] मगर सघ के सदस्यो के बीच ही कोई झगडा उठ खडा हो और साधारण राजनयिक तरीको से समस्या हल न हो तो वे इस बात को स्वीकार करते है कि मामला, जैसा भी उचित

---

१ तु० 'दी पोपुलेशन आफ मेलेनीशिया' में डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स के वाक्य और एफ लुगार्ड की महान् कृति दी डुएल मैण्डेट इन ट्रापिकल अफ्रीका, में सर्वत्र ही ये उक्तियाँ उपलब्ध है।

२. प्रतिज्ञा-पत्र का अनुच्छेद १०

३. प्रतिज्ञा-पत्र का अनुच्छेद ११

हो, विवाचन या अदालती निपटारे के लिए पेश कर दिया जायगा। सदस्य यह भी स्वीकार करते है कि इस व्यवस्था के अधीन फैसला दिये जाने के बाद तीन महीने तक वे लडाई की राह नही अपनायेंगे—झगडा परिषद् के सामने पेश किये जाने के बाद अधिक से अधिक छह महीने मे फैसला कर दिया जायगा[1]। सघ के सदस्य मानते है कि ऐसे किसी पचाट की शर्तों पर सच्चे हृदय से अमल करेंगे और अगर कोई सदस्य इसमें चूक करता है तो परिषद् उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है[2]। इस प्रकार के विवाचन के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय बनाया गया है[3]।

लेकिन जाहिर है कि समस्या की असली जड तो ऐसे झगडे होगे जिन्हें सघ के सदस्य निर्वाचन के लिए सौपने को तैयार न हो। उस हालत में सदस्य मामले को परिषद् के सामने रखना स्वीकार करते है और मामला पेश इस तरह किया जाता है कि झगडे वाले पक्षों में से एक सघ के महासचिव को उस की सूचना देता है। तब पूरी-पूरी जाँच की तैयारियाँ की जाती है और परिषद् मामले को निपटाने के तरीके ढूँढती है। अगर वैसा नही होता तो वह या तो सर्वसम्मति से या बहुमत से अपने निष्कर्षों और सिफारिशो की एक रिपोर्ट प्रस्तुत करती है और जो सदस्य उससे सहमत न हो वे अपनी एक अलग अल्पमत-रिपोर्ट प्रकाशित करते है। अगर परिषद् की रिपोर्ट पर सब सदस्य सहमत हो और झगडे वालो में से एक पक्ष भी उससे सहमत हो तो सघ के सदस्य उस पक्ष के खिलाफ लडाई न लडने की प्रतिज्ञा करते है। अगर कोई सर्वसम्मत रिपोर्ट जारी नही की जाती तो दोनो पक्ष अपनी-अपनी कार्यवाही करने के लिए स्वतत्र रहते है। अगर झगडे का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय न होकर घरेलू हो तो परिषद् कोई कार्यवाही नही करती और अगर वह उचित समझे तो झगडा सघ की सभा को निर्दिष्ट कर सकती है। तब सभा उसकी जगह काम करती है और उसे परिषद् की सब शक्तियाँ होती है—लेकिन यह तभी जब कि परिषद के सदस्य-देश और सभा का बहुमत रिपोर्ट से सहमत हो। कहने की जरूरत नही कि इस तरह के फैसलों में झगडे से सम्बन्ध रखने वाले पक्ष वोट नही देते[4]।

यहाँ तक तो सघ के कानून हुए जिन्हें मानने के लिए सदस्य बाध्य होते है और इनको लागू करने के तरीको पर विचार करने से पहले अगर हम यह देख लें कि ये हमें कहाँ तक ले जाते है तो अच्छा ही रहेगा। प्रतिज्ञा-पत्र में ऐसे झगडो के निपटारे की व्यवस्था तो है जिनमें प्रतिष्ठा की कठिन समस्या खडी नही होती है, खास तौर से वह ऐसी समस्याओ को स्थायी रूप से न्यायालय को सौपने योग्य बना देता है जो सन्धियो या अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पैदा होती है। जहाँ परिषद् में सब की सहमति पाई जाये वहाँ वह न्यायालय को न सौंपे जाने योग्य झगडो में निपटारे के लिए बाध्य करता है लेकिन जहाँ परिषद् में सर्वसम्मति का अभाव पाया जाये उन मामलो मे युद्ध का द्वार फिर भी खुला रह जाता है। मैं समझता

---

१ प्रतिज्ञा-पत्र का अनुच्छेद १२
२. " " " १३
३ " " " १४
४. " " " १५

हूँ इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि इन उपबन्धो के अधीन कुछ महत्त्वपूर्ण काम हुआ है। आलैण्ड द्वीपो के बारे में फिनलैण्ड और स्वीडन के मतभेद और अलबानिया की उत्तरी सीमाओ के बारे में युगोस्लाविया और अलबानिया के मसले निश्चय ही इन्ही के माध्यम से बडी जल्दी और न्यायोचित ढग से सुलझाये गये थे। लेकिन १९२३ की गर्मियो में यूनान और इटली के बीच जो झगडा उठ खडा हुआ और जिसके फलस्वरूप इटली ने कार्फू पर बमबारी की वह इस बात का सबूत है कि इन उपबन्धो का उपयोग कर लेना कोई आसान काम नही। प्रतिबन्धो की बात जाने दीजिए—यह स्पष्ट है कि उनमें कुछ और जोडने की जरूरत है विशेष रूप से इस दिशा में कि कौन-से झगडे ऐसे है जो न्यायालय को सौंपे जा सकते है और दो पक्षो के बीच सघष हो जाने पर अग्रधर्षी की परिभाषा किस तरह की जानी है। इसके अलावा एक बात यह भी है कि ये उपबन्ध उनको बाध्य करने वाले नही जो सघ के सदस्य नही है और इनमें दो शक्तियाँ—अमरीका और रूस—की स्थिति सभ्य ससार के भाग्य का निर्णय करने वाली हो सकती है।

मै इन बातो को अलग-अलग कहूँ। मै समझता हूँ शाति के हित मे सघ के विनियमो में इस बात पर जोर देना बडा जरूरी है कि ऐसा कोई झगडा नही हो सकता जिसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या विवाचन द्वारा न निपटाया जा सके। जब कोई राष्ट्र-राज्य यह मान लेता है कि अमुक मसले से उसके सम्मान पर आँच आती है अत वह अपने आप को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्राधिकार के हवाले नही कर सकता तब वह बहुत कुछ वैसी ही मानसिक स्थिति में होता है जैसी निजी द्वन्द्व में किसी एक पक्ष की। १९१४ में सर्विया से लडाई छेड कर आस्ट्रिया का 'सम्मान' अछूता नही बच गया, १९२३ में कार्फू पर बमबारी करके इटली का 'सम्मान' अक्षुण्ण नही बना रहा। इन दोनो मामलो में प्रतिष्ठा के धूम्रावरण में लपेट देने के कारण असली मसलो पर विचार ही नही हो सका—वस्तुस्थिति की सही-सही जाँच करना असम्भव हो गया। यह धारणा कि जो राष्ट्र-राज्य गलती करता है या अपने को ग़लती पर समझता है स्वय अपना कानून बना सकता है उस घिसे-पिटे और वृथा विश्वास की भाँति है—और उससे कही अधिक भयकर है—जिसमें यह समझा जाता था कि १८वीं सदी का कोई अपमानित अभिजात खून में नहा कर ही अपनी प्रतिष्ठा के महल को ढहने से बचा सकता है। श्री वेबलेन ने खूब कहा है कि "राष्ट्रीय सम्मान जादू के देश में विचरता है और अर्थ की सीमाओ का स्पर्श किये रहता है।" कोई भी ठण्डे दिमाग से यह बात नही मानता कि समूह का खण्डित व्यक्तित्व राजनयिक आचरण की सहिता मे उल्लिखित किसी भी उपाय से फिर पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। आम आदमी तो तब तक यह जानता भी नही कि देश अपमानित हुआ है जब तक कि उसकी देश-भक्ति भावना को ऐसे तरीकों से खूब उभारा नही जाता कि वह भूल जाये कि वह बात कौन-सी थी जिससे समूह का व्यक्तित्व खण्डित हुआ बताया जा रहा है। और उपचार-निर्वाह के अभाव में आकृष्ट सम्मान अगर अपने कदम रणभूमि की ओर मोड देता है तो उसके फलस्वरूप आम आदमी को इतनी कीमत चुकानी पडती है और ऐसी विभीषिकाओ से गुजरना पडता है जिनकी असली अपराध से कोई तुलना नही की जा सकती।

अत मेरा विश्वास है कि झगडो पर सघ के क्षेत्राधिकार को अबकी अपेक्षा कहीं

अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित करने की जरूरत है। (१) उसका क्षेत्राधिकार अब की तरह सिर्फ उन्ही झगडो पर न होना चाहिए जिनका अदालत द्वारा फैसला हो सकता हो, अथवा सम्मत विवाचन हो सकता हो या जिन्हे सघ की परिषद् द्वारा सर्वसम्मति से फैसला करके निपटाया जा सकता हो। उसे मान लेना चाहिए कि (२) सभी झगडे उसके क्षमता क्षेत्र में है और ऐन बहुमत से भी जो फैसला किया जाये वह सम्बद्ध पक्षो को स्वीकार्य होना चाहिए क्योकि यह ऐतिहासिक अनुभव के विरुद्ध है कि ऐसा फैसला भी लडाई द्वारा फैसला करने से कही ज्यादा अच्छा है चाहे वह एक या दोनो पक्षो को भी भले ही अमान्य हो। लडाई का फैसला तो कोई फैसला ही नही होता और होता भी है तो उससे विजयी राष्ट्र-राज्य के मुट्ठी भर लोगो का हित भले ही हो, नागरिको के अधिकाश का तो अकल्याण और अमगल ही होता है। अत सघ का सर्वभौम क्षेत्राधिकार तो सब से पहली बात है। तब समस्या अपनी शक्तियो के प्रयोग को व्यवस्थित करने भर की रह जाती है—उन शक्तियो के बारे में जाँच-पडताल करने की नही।

यहाँ एक बडी जरूरी बात कह दी जाये। अगर कहा जाये कि अनिवार्य निपटारा ही नियम होगा तो मतभेद के दो विशाल क्षेत्र तुरन्त ही सामने आते है। (१) वर्साई-सन्धि से सम्बद्ध समस्याएँ है—उनका मौजूदा समाधान तो अस्थायी होगा यह निश्चित ही है। सघ का वर्तमान सविधान—विशेष रूप से अनुच्छेद १० में, राष्ट्र-राज्यो की मौजूदा हदों को नियम-सम्मत बना कर प्रत्यक्ष अन्याय का पृष्ठपोषण करता है और कई राष्ट्र-राज्य ऐसे होगे जो न्याय के आगे सिर झुकाने के बजाय सघ को चुनौती देकर लडने को कटिबद्ध हो जायेगे। (२) कुछ ऐसी भी समस्याएँ है—जैसे आस्ट्रेलिया में जापानियो का प्रवेश या केन्या में भारतीयो का—जो लिखत में भले ही विवाचन द्वारा निपटा ली जायें परन्तु इन दोनो ही मामलो में गोरी जातियाँ—अगर उनके दृष्टिकोण के विरुद्ध बाहर से कोई भी फैसला थोपा जाये तो—लडने पर आमादा हो जायेंगी, चाहे उसमें कुछ भी जोखिम क्यो न उठानी पडे। मै समझता हूँ इन दोनो में से किसी भी बात को न्याय्य नही ठहराया जा सकता। मेरा विश्वास है कि जो कोई भी वर्साई सन्धि को पढ़ेगा वह यह महसूस किये बिना नही रह सकता कि वह जगह-जगह ज्वलन्त अन्याय से भरी पडी है लेकिन मै जानता हूँ कि इससे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उन सभी अन्यायो का ऊपर निर्दिष्ट प्रणाली द्वारा उपचार हो सकता है और अगर लडाई का रास्ता अपनाया जाय तो उनमें से एक का भी इलाज नही हो सकता। राज्यो की हदो को लेकर कई जगह अन्याय हुआ है—इनका कई तरह से प्रतिकार हो सकता है। अगर इसमें निहित कठिनाइयाँ आर्थिक हो—जैसे किसी राज्य की हदो को फिर से निर्धारित करने पर मान लीजिए वह चारो ओर से जमीन ही जमीन से घिर जाये—तो सम्मत शर्तों पर निकटतम समुद्र-पत्तनके इस्तेमाल करने का प्रबन्ध किया जा सकता है। अगर इसमें आने वाली कठिनाइयो का स्वरूप सामरिक हो तो तटस्थ प्रदेश बना कर उन्हें हल करने का रास्ता निकाला जा सकता है। अगर उनका सम्बन्ध धार्मिक या राष्ट्रीय अल्पसख्यको के प्रति होने वाले व्यवहार से है तो जिन सिद्धान्तो पर ऊपर जोर दिया गया है उन का औचित्य और भी बढ़ जाता है। बाद में यह तो जरूरी होगा ही कि अनुच्छेद १० का सशोधन किया जाये—सम्मत सिद्धान्तो के आधार

पर उस पर फिर से विचार करना होगा आज जो उसका स्वरूप है उसमें युद्धकालीन आवेश परिलक्षित होता है। परन्तु ज्यो-ज्यो वह आवेश ठण्डा पडता जायेगा, यह महसूस किया जायेगा कि सघ के प्रतिज्ञा-पत्र की परिधि में रहकर ही उसके सशोधन की गुजाइश है और जाहिर है कि शक्ति के प्रयोग के मुकाबले यह तरीका कही ज्यादा वाछनीय है शक्ति का प्रयोग आखिर किसी निश्चित या सीमित लक्ष्य की ओर केन्द्रित नहीं रखा जा सकता।

मेरा यह भी विचार है कि इस तरह की समस्याएँ—जिनकी मिसाल है आस्ट्रेलिया में जापानियो के प्रवेश की समस्या—कोई ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित नही करती जिन का हल न हो सके। मै मानता हूँ यह मसला कोई इतना आसान नही है। आखिर को यह अनिवार्य ही है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासन की समस्याएँ सघ के दायरे में आयें लेकिन यह भी स्पष्ट ही है कि इन समस्याओ पर सिद्धान्त रूप से निर्णय कर लेना और बात है तथा उनके प्रशासन के तरीको का फैसला कर लेना बिल्कुल और बात। इतनी बात तो साफ है कि अगर आस्ट्रेलियाई जापान से अपना बहिष्कार कराने को राज़ी नही तो वे जापानियो का कतई बहिष्कार कर देने का दावा भी नही कर सकते। उनके आपसी आर्थिक सम्बन्धो को देखते हुए ऐसा तो असम्भव ही लगता है। लेकिन जापानियों को प्रवेश की आज्ञा देने में आस्ट्रेलिया को ये बाते तय करने का हक है (१) वह बरस भर में कितने आवासियो को अगीकार कर सकते हैं, (२) आस्ट्रेलिया की सीमा में दाखिल होने पर वे कि शर्तों का पालन करेंगे, (३) अपने प्रदेश के खास-खास क्षेत्रो में उनका सम्भावित पृथक्करण। 'गौर आस्ट्रेलिया' का आदर्श एक बिल्कुल समझ में आने वाली चीज़ है और किसी भी राष्ट्र को लिए अगर वह यथार्थता का पल्ला छोड देना नही चाहता हो तो, जो लोग वहाँ जा बसना चाहते हो उन से ऐसी शर्तों के पालन की माँग करनी ही पडेगी जिन पर 'गौर आस्ट्रेलिया' का आदर्श टिका हुआ है। लेकिन इसका उलट भी उतना ही सही है और प्रवास करने वाले गोरे लोग—जैसे मान लीजिये वे अफ्रीका के आन्तरदेश में जाकर बसना चाहते हैं—यह माँग नही कर सकते कि समादेश-प्राप्त राज्य वहाँ की प्रतिकूल परिस्थितियो के विरुद्ध उस सभ्यता की रक्षा के लिए अपनी सत्ता का प्रयोग करें जिसके वे अभ्यस्त है।

अस्तु, अगर सभी झगडे सघ के क्षेत्राधिकार में रहने है तो हम उस अग्रधर्षण की परिभाषा किस तरह करेंगे जिसमें सघ के लिए कदम उठाना जरूरी हो? मैं समझता हूँ ऐसे कार्यों की तीन कोटियाँ हो सकती है जिनके आधार पर किसी को अग्रधर्षी घोषित किया जा सकता है—(१) जो देश सघ का क्षेत्राधिकार मानने से इन्कार करे वह अग्रधर्षी, (२) जो देश सघ का क्षेत्राधिकार मान लेने पर उसके द्वारा किये गये फैसले को अगीकार न करे, वह अग्रधर्षी, (३) जो देश (१) और (२) के अधीन सघ के कदम उठाने तक बीच मे मिलने वाले समय का उपयोग अपने शस्त्रास्त्र और योधन-शक्ति बढा कर लडाई की तैयारी करने के लिए करता है, वह भी अग्रधर्षी हुआ। इन सभी मामलों में तीनो में से किसी भी कोटि में आने वाले राज्य के विरुद्ध सघ को अपनी समूची सत्ता जुटा कर उसका प्रयोग करना चाहिए।

यहाँ एक आम सवाल पैदा होता है और सघ की सत्ता को अमल में लाने के तरीको का विचार करने से पहले उस पर सोच लेना जरूरी है। इस सवाल के दो पक्ष है। पहला मसला तो यह है कि जो सघ के सदस्य नही है उनके बारे में क्या किया जाये ? अभी कुछ समय तक को अमरीका के सघ में शामिल होने की कोई उम्मीद नही। अगर मान लीजिए उसके और जापान के बीच कोई ऐसा सकट हो जाये जिसके लडाई में परिणत हो जाने की सम्भावना हो तो क्या होगा ? मैं समझता हूँ इसका जवाब प्रत्यक्ष है। किसी और देश की तरह अमरीका को भी सघ विवाचन का सुझाव देगा। अगर वह विवाचन को मानने से इन्कार करे तो उसकी यह कार्यवाही वैसी ही दृढता से अर्गधर्षण की कार्यवाही समझी जानी चाहिए जैसी कि अगर इगलैण्ड, फ्रास या इटली ने ऐसा किया होता तो समझी जाती। यह तो हो नही सकता कि अगर अमरीका और जापान लडें तो उनकी लडाई का परिणाम उन्ही दोनो तक सीमित रहे और जो राज्य लडता है उसे निरन्तर इस बात की चेतावनी देते रहना चाहिए कि वह अपना ही सर्वनाश बुला रहा है। अगर कहा जाय कि ऐसी टक्कर हो जाने पर कैनेडा और आस्ट्रेलिया सघ का आदेश मानने से इन्कार कर देंगे' बल्कि शायद अमरीका की ओर से ही लडेंगे तो उसका जवाब यही है कि अगर ऐसा हो—और ऐसा हो तो कोई आश्चर्य नही—तो सघ का अन्त हो जायगा। इसका परिणाम क्या होगा—यह सब कहने की मुझे कोई जरूरत नही है लेकिन मैं समझता हूँ, इतना तो स्पष्ट ही है कि, अगर सघ टूटा तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग का अन्त हो जायगा। तब हम फिर १९१४ से पूर्व की स्थिति में पहुँच जायेंगे और वह—जैसा कि हम पहले देख चुके है—युद्ध का अनिवार्य स्रोत है।

इस आम सवाल का दूसरा पहलू यह है कि हो सकता है सदस्य राज्य अपने प्रत्यक्ष दायित्व को ठुकरा कर सघ का क्षेत्राधिकार या सिफारिशें मानने से इन्कार कर दें। मैं इस बात की सम्भावना से इन्कार नही करता—विधिक दायित्व के सामान्य स्वरूप के बारे में जो कुछ भी कहा गया है। उसमें यह निहित है इसके विपरीत जो-कुछ कहा जा सकता है सो यह है। सघ के प्रति सदस्यो की कितनी निष्ठा होगी यह इस बात पर निर्भर है (१) अपने काम के बल पर वह उनमें जितना विश्वास जगा सके और (२) उसे जितनी कुछ अनुज्ञप्तियाँ प्राप्त हों। जाहिर है कि अगर सघ अपने सदस्यो के प्रति अपना सदभाव प्रमाणित कर सके तो इस निर्णय में यह जितना सफल होगा उतनी ही उस के अपनी सत्ता खो बैठने की कम सम्भावना होगी, और अगर वह किसी विसवादी सदस्य की स्थिति असम्भव बना दे तो भय का हेतु पर्याप्त साबित हो सकता है। लेकिन साफ बात यह है कि इन दोनो ही स्थितियो में आश्वासन कुछ भी नही। राज्य में या राष्ट्र सघ में परिणामो की परवाह किये बिना अगर कोई सत्ता का प्रतिरोध करने पर ही तुला हुआ हो तो वह वैसा करेगा ही—जो जान-बूझ कर निश्चयपूर्वक कानून भग करता है उसकी पहुँच के परे कोई भी कानन नही हो सकता। तब हम इतना ही कर सकते हैं कि अपने सगठन द्वारा ऐसे हालात पैदा कर दें कि इस तरह के अतिक्रमणो के अवसर कम से कम आयें।

अस्तु, अगर सघ का क्षेत्राधिकार ऐसा हो तो हमें देखना यह है कि उसे अपने काम के लिए क्या क्या शक्तियाँ चाहिएँ। उसकी वर्त्तमान अनुज्ञप्तियो का उल्लेख प्रतिज्ञा-पत्र

के अनुच्छेद १६ मे किया गया है। मोटे तौर पर, ये तीन है। (१) कोई राष्ट्र राज्य ऊपर दी हुई हालतो में अगर लडाई का शख फूँकता है तो सघ के सब सदस्यो से उसके आर्थिक सबध तोडकर उसे दण्डित किया जाता है, उसके साथ किसी अन्य प्रकार का—वित्तीय, वाणिज्यिक या निजी—सपर्क भी नही रखा जाता। (२) परिषद् यह सिफारिश करती है कि सघ के प्रतिज्ञा-पत्र की रक्षा करने के लिए अलग-अलग सदस्यो को कितनी स्थल, वायु या जल-सेना देनी होगी। (३) सघ के सभी सदस्यो को उपर्युक्त उपबध २ के अधीन सघ को सहयोग देने वाले किसी भी सदस्य के अपनी सीमा से गुजरने की अनुमति देनी होगी। एक साधारण अनुज्ञप्ति यह भी है कि सघ को शक्ति है कि परिषद् की सर्वसम्मति से प्रतिज्ञा-पत्र का अतिक्रमण करने वाले किसी भी राज्य को वह सदस्यता से हटा सकता है।

कम से कम सिद्धात रूप में ये अनुज्ञप्तियाँ इतनी सबल है कि इनकी सैद्धातिक प्रभविष्णुता के बारे में किसी को शका नही हो सकती। जाहिर है कि कुछ हद तक तो अनुज्ञप्तियो के इस पूरे विधान में अस्पष्टता हमेशा ही छोड देनी चाहिए। विसवादी ब्रिटेन के विरुद्ध उसी पैमाने पर आघात करना उपहासास्पद होगा, जिस पैमाने पर विसवादी अल्बानिया के विरुद्ध किया जायेगा। लेकिन इन अनुज्ञप्तियो के स्वरूप को मान लें तो ये सवाल सबसे अधिक महत्व का बन जाता है कि उन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है या नही। पहली बात तो यह है कि हर सबद्ध शक्ति का सैनिक दायित्व स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए। सघ को पता होना चाहिए कि अनुज्ञप्तियाँ लागू करने में वह कितनी स्थल, जल, नभ-सेना का भरोसा कर सकता है। यह भी जाहिर है कि उसे इन तथ्यो को प्रकाशित कर देना होगा ताकि सघ के सदस्य उसकी आघात-शक्ति को जान जायें। लेकिन क्या जिन राज्यो पर ये दायित्व है वे अपनी जिम्मेदारी पूरी करेंगे? यहाँ तो हम बस अनुमानो की ही दुनिया में विचार सकते है। अगर वे अपनी जिम्मेदारी पूरी न करें तो सघ उपहास का लक्ष्य बन कर अनस्तित्व के गर्भ में विलीन हो जायेगा। अगर बल का प्रयोग आवश्यक हो और उसे लगे कि वह अपने सदस्यो पर निभर नही रह सकता तो वह असहाय हो जायगा। लेकिन वैसी असफलता की सभावना नही—कारण यह है कि जब सघ सैनिक अनुज्ञप्तियाँ का फैसला करेगा तो आखिर को वह उन्ही राज्यो का फैसला होगा जिन्हें उसे अमल मे लाने के साधन जुटाने होगे और वे इस तरह अपना उपहास नही करायेंगे। वैसे वे चूक सकते है परन्तु अगर समस्या इतनी गभीर है कि सशस्त्र बल का प्रयोग जरूरी हो जाये तो उनका चूक करना कुछ सभव-सा नही लगता।

आर्थिक अनुज्ञप्तियो का प्रयोग दूसरे वातावरण में होता है—वह उतना कठिन नही होता। सघ के हाथ में शायद सबसे कारगर साधन यही है, आज जब समूची दुनिया में अर्थ-तन्त्र का ही बोलबाला है तो यह सम्भाव्य नही लगता है कि कोई राज्य वह सब दड भुगतने को तैयार होगा जो इस प्रकार की अनुज्ञप्तियो में निहित रहता है। उसकी सपूर्ण साख व्यवस्था ढह पडेगी। निर्यात के सारे रास्ते उसके लिए बन्द हो जायेंगे। वह आवश्यक अनाज और कच्चा माल तक नही मँगा सकेगा। मिसाल के लिए, इटली को कोयला, ताँबा और लोहे की कमी पड जायेगी—और सब बातो को जाने भी दें तो सिर्फ इन्ही के बिना युद्ध का सचालन ही असभव हो जायगा। १९१४ के बाद के वर्षों में

नाकाबदी के अनुभव से अधिकाश यूरोपीय राष्ट्रो ने यह सबक सीख लिया है कि माल और सेवाओ के प्रवाह को नियन्त्रित करने की शक्ति एक आधारभूत शक्ति है। यह ऐसा साधन है जिसे बिना महती प्रयास के अमल में लाया जा सकता है और जिसके तुरन्त ही नतीजे निकलते हैं। रूस और अमरीका जैसे आत्म-निर्भर राज्यो की बात छोड दें तो सघ के सदस्यो में शायद ही कोई देश ऐसा हो जो इसका कठोरता से पालन होने पर अडिग रह सके। इस साधन का उपयोग बिना मार काट के हो सकता है, उसमें साथ देने वाले राज्यों को किसी के जीवन की बलि नही देनी पडती—इससे यह सभावना होती है कि सघ महत्व-पूर्ण मामलो में आम तौर से इसी का सहारा लेगा और मै समझता हूँ यह कोई ऐसी बात भी नही जिसमें राज्य सहयोग करने से इनकार कर दें।[1]

—३—

राष्ट्र सघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद २३ से २५ तक के अधीन आम समाज-हित के कुछ मामले उसकी देख-रेख में रखे गये है। मै समझता हूँ आम आदमी का जितना ध्यान इन की ओर अब तक गया है, उनका महत्व उससे कही अधिक है। बात यह है कि कुछ अशों तक तो उनमें ऐसे कृत्यो का समावेश है जिन के बारे में सघ को या तो एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय करार विद्यमान दिखाई पडे है अथवा दूसरी ओर काफी सगठित समजित अन्तर्राष्ट्रीय मत, इनमें ऐसा कार्यक्षेत्र शामिल है जिसमें सफलता मिलने से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के बजाय सघ के अधिक ध्यान आकर्षित करने वाले कारणो में आस्था हो जाने की सभावना है। अगर जिन मामलो का विवेचन कर चुके है इन्हें छोड़ दें तो वर्तमान परिभाषा के अनुसार इन्हे छह आम वर्गों में बाँटा जा सकता है। सघ को (१) अपने सदस्यों और जिन देशो के साथ उनका वास्ता है उनके प्रदेशो में स्त्री, पुरुष और बच्चो के लिए श्रम की उचित और न्याय्य परिस्थितियाँ पैदा करनी है और उन्हें बनाये रखना है और इस काम को सपन्न करने के लिए उसे यथोचित अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ बनानी है। (२) स्त्रियो और बच्चो के व्यापार तथा अफीम जैसी मादक औषध के व्यापार को रोकने से सबध रखने वाले करारों का पालन और देख-रेख (३) उसे (अ) सचारण और परिवहन की आजादी और (अ) सघ के सदस्यो के लिए न्याय्य वाणिज्यिक व्यवहार हासिल करना और बनाये रखना है। (४) जहाँ कोई रोग अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर फैले वहाँ सघ को उसकी रोकथाम और एहतियात के लिए कदम उठाने होगे (५) सब की सम्मति से वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय दफ्तरो पर भी उसकी निगरानी और देखरेख रहेगी—जैसे रोम-स्थित कृषि-सस्थान पर और जहाँ इस तरह की देखरेख न रहे वहां सघ जैस परिषद् उचित समझे उस तरीके से सहायता देगी, भविष्य की सभी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए उसके सचालन में रहेंगी। (६) वह रेड क्रास सस्थाओ को बढ़ावा और सहायता देगी जिनका उद्देश्य "स्वास्थ्य सुधारना, रोगों को फैलने से रोकना और दुनिया भर में से व्याधियो का उन्मूलन कर देना है।"

जाहिर है, यह कार्यक्रम महत्वाकाक्षाओ से युक्त है लेकिन थोडी झिझक के साथ—जैसे रूस के मामले में—जो युद्ध के पक्षपातपूर्ण वातावरण से कतई असबद्ध नहीं है, यह कहा जा सकता है कि सघ ने इसके सार-तत्व को कार्य रूप देने के लिए सच्चा प्रयत्न किया

१ दु० डी० मित्रैनी—दी प्राब्लम आफ इन्टरनेशनल सैकशन्स (१९२६)

है। मैं आगे चलकर संघ के आर्थिक किया-कलाप के बारे में कहूँगा। लेकिन यहाँ इस बात पर ध्यान देना अच्छा रहेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कृत्य के इस पहलू में किस प्रकार का प्रयत्न किया जा सकता है। युद्ध-बंदियों को वापस देश भेजने के लिए बहुत कुछ किया गया है और वैसे ही रूस और निकट पर्व से शरणार्थियों को भेजने के लिए। गौर-दास-व्यापार की भीषणताओं को दूर करने के लिए भी कुछ न कुछ किया ही गया है और स्त्रियों तथा बच्चों के टर्की और एशिया माइनर में विपत्तन की भीषणता को दूर करने के लिए भी कदम उठाये गये हैं। अफीम और कोकीन के व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया गया है—इस सिलसिले में सम्मेलन हुए हैं। इस दिशा में जो कुछ दृष्टिगोचर हुआ है वह विडम्बनात्मक है—उससे पता चलता है कि वाणिज्यिक कपट ने अन्तर्राष्ट्रीय मानस पर कितने फूल बरसाये हैं लेकिन फिर भी आज इस मामले में भी सद्भाव के जितने लक्षण दिखाई पड़ते हैं उतने पहले कभी न थे। इसके अलावा पूर्वी यूरोप में टाइफस ज्वर को फैलने से रोकने का भी सच्चा प्रयत्न किया गया है और लगता है कि इस मामले में संघ ही कृतकार्य हो सकता था। आस्ट्रिया और हंगरी का आर्थिक पुनर्निर्माण तो संघ की बड़ी ठोस उपलब्धि है। यूरोपीय सभ्यता के आम बौद्धिक जीवन के अनुपोषण के लिए शायद उतना काम नहीं किया गया यद्यपि इस दिशा में भी छोटी-छोटी सहायताओं की मिसालें कम नहीं हैं। संक्षेप में, मैं समझता हूँ यह कहना ग़लत न होगा कि उपकार-परायण संस्था का सच्चा श्रीगणेश हो गया है। अब समस्या उसके महत्त्व को समझने की नहीं है वरन् प्रयत्नों को प्रबलतर करने की है।

इन प्रयत्नों को प्रबलतर बनाने की दिशा क्या हो? कुछ प्रत्यक्ष संभावनाएँ हमारे सामने आती हैं। सब से पहले तो संघ के तत्वावधान में समावेश और बौद्धिक सहयोग संबंधी वर्तमान आयोगों की तरह स्थायी आयोग बनाने की ज़रूरत है—आगे चल कर इनका बड़ा भारी महत्त्व होगा। (१) पिछड़े हुए देशों में शैक्षिक कार्यों के लिए एक आयोग की ज़रूरत है। यह बात सिर्फ़ समावेश-अधीन प्रदेशों पर ही लागू नहीं होती जहाँ ख़ास प्राविधिक समस्याएँ हैं—वरन् बल्कान जैसे क्षेत्रों पर भी लागू होती है जहाँ अब भी शिक्षा बहुत ही आदिम स्तर पर है। ज़रूरत इस बात की है कि हम संघ के सभी सदस्य देशों में शिक्षा को एक आम न्यूनतम धरातल तक तो ले ही आयें—सभी आम आदमी उसके काम के प्रभाव को भली-भाँति समझ पायेगा। विभिन्न राज्यों के बीच अध्यापकों और विद्यार्थियों के विनिमय की व्यवस्था करनी पड़ेगी तभी हमारी शिक्षा व्यवस्था अपनी आज की प्रांतीयता की सतह से ऊपर उठ पायेगी। जो राज्य यह महसूस करें कि उनके पास अध्यापकों का काफ़ी इन्तज़ाम नहीं और तरीक़ों की भी जानकारी नहीं उन्हें हम सलाह दे सकें और जहाँ हो सके अध्यापकों की व्यवस्था भी कर सकें। कुछ थोड़ा-बहुत सांस्कृतिक विनिमय अब होने तो लगा है परन्तु उसकी व्यवस्था द्वारा विशिष्ट राष्ट्रीय प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय लाभ का माध्यम तैयार करने का नहीं। (२) दूसरे, एक स्थायी चिकित्सा-आयोग की ज़रूरत है जो मुख्य रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों में चिकित्सा कार्यों की व्यवस्था करे—उसके मातहत कुछ उप-आयोग रहें तो उन इलाक़ों में जा जाकर काम करें। चीन में येल मेडिकल कालिज जैसी संस्थाएँ छोटे पैमाने पर जो काम कर रही हैं उसे समन्वित करने की ज़रूरत है—इसे सामंजस्यपूर्ण रूप से संसार की आवश्यकताओं से

सबद्ध करने के लिए सचेष्ट प्रयत्न किया जाना चाहिए। ऐसा आयोग न्यूयार्क की रॉक फेलर सस्था जैसी सस्थाओ से सबन्ध पैदा कर और बढा सकता है। चालू डाक्टरी व्यवस्था के बारे में वह सलाह और रिपोर्ट दे सकता है। चिकित्सा की खास समस्याओ के बारे में वह जाँच-पडताल का प्रबध कर सकता है। मिसाल के लिए, अमरीका में बच्चो में रिकट्स की रोकथाम के लिए जो कुछ काम हुआ है उसके महत्व की जानकारी वह यूगोस्लाविया मे चिकित्सकों को करा सकता है।[1] चिकित्सा की अलग अलग शाखाओ की प्रगति के बारे में सावधानी से तैयार किये हुए वृत्तक निकालना बहुत ही महत्वपूर्ण होगा—विशेष रूप से ऐसे इलाको में जो इधर की प्रगति से बिल्कुल अनभिज्ञ है। (३) तीसरे, आधिकारिक आकडों के बारे में एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की जरूरत है। सामाजिक मामलो में कियत्तात्मक जानकारी के महत्त्व पर मैं पहले ही काफी ज़ोर दे चुका हूँ, और तुलना का क्षेत्र—जिस पर यह आधारित हो—जितना ही व्यापक होगा उतना ही यह जानकारी बहुमूल्य होगी। अभी तो वह क्षेत्र बहुत ही छोटा-सा है क्योकि रूप और पद्धति के भेदो के कारण एक देश के आकडो की दूसरे देश के आकडो से तुलना करना असभव-सा है। इगलैंड और अमरीका के शहरो मे बच्चो की मृत्यु के आकडो की तुलना तो हम कर सकत है परन्तु एक-से ही उद्योगो में वेतन-दरो की कोई यथार्थ तुलना नही की जा सकती। अत हमें एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की जरूरत है जिसके जिम्मे दो काम हो—(अ) आकडे इकट्ठे करने और प्रस्तुत करने के तरीकों में एकरूपता बराबर बढाता चला जाये और (आ) इस आधार पर एक राज्य की दूसरे राज्य से तुलना करके परिणामो की रिपोर्ट तैयार करें। इसके लिए किसी बडे सगठन की जरूरत नही है। इसके लिए तो जनेवा में कुछ थोडा सा अमला रखा जाये और सरकारी अफसरो और दूसरे विशेषज्ञो को व्यवस्थित और अविकल रूप से उनसे सबद्ध कर दिया जाये। आज दुनिया के सामने आर्थिक सहयोग की जो समस्याएँ है उन्हें अगर आशापूर्ण ढग से सुलटाना है तो इस प्रकार का प्रयत्न तुरन्त होना चाहिए (४) चौथी बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आयोग जरूरी है। इस सस्था पर अन्ततोगत्वा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का नियन्त्रण रहेगा—इसमें तो कोई शक ही नही। यह तीन बातो को अमल में लाने की कोशिश करेगा (अ) वह सार्वजनिक और वयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सहिताबद्ध करने में सहायता देगा। (आ) वह कानून की शाखाओ में एकरूपता बढाने का प्रयत्न करेगा। अथवा जहाँ वाछनीय हो वहाँ सरकारी कम्पनियो के समावेशन का प्रयत्न करेगा। (इ) जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ राय की जरूरत होगी वह कानून के सवालो पर सलाहकार-सस्था के रूप में काम करेगा —कहने की जरूरत नही कि प्रत्येक राज्य की सार्वभौमता की रक्षा की जायेगी। इस प्रकार के सवालो की मिसालें ये है—अदेशियो के बारे में विधान, विदेशियो से शादी करने वाली औरतो की कानूनी स्थिति, राज्य से भाग जाने वाले राजनीतिक अपराधियो की स्थिति—जिनका अपराध अदालत के सुपुर्द हो चुका हो। एक बात और कहूँ कि ऐसे आयोग के लिए किसी विशाल और बेसँभाल सगठन की आवश्यकता नही। इसमें तो सिर्फ

---

१. दे० दी नेशन—७ नवम्बर, १९२४ जे० बी० एस० हालडाने।

छोटा-सा स्थायी अमला चाहिए पर उसे यह शक्ति हो कि खास जाँच-पड़ताल के लिए उप-आयोग बना सके। और, आम तौर से, यह वाछनीय होगा कि इन उप-आयोगो के सदस्य सिर्फ सरकारी प्रतिनिधि ही न हो वरन् ऐसे लोग भी हो जिन्हें विशेष समस्याओ पर अपनी कुशलता के कारण विधि-सस्थाओ ने प्रत्यायोजित किया हो।

—४—

एक बात साफ है और वह यह कि कोई भी एसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था कारगर नही हो सकती जो आर्थिक सवालों की उपेक्षा कर दे। मै पहले एक अध्याय में कह चुका हूँ कि राष्ट्रीयता और औद्योगिकता का सबध अब इतना जटिल और परस्पर ग्रथित है कि एक क्षेत्र में जो समस्याएँ पैदा होती है उन्हें दूसरे क्षेत्र की विशिष्ट समस्याओ को हिसाब में लिए बिना नही हल किया जा सकता। यह बात, कम से कम आशिक रूप में, वर्साई-सधि के श्रम-सबधी भाग में मान ली गई है, राष्ट्र सघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम दफ्तर बनाने का मतलब भी यही है। यह बात साबित करने के लिए बहस की जरूरत नही कि आर्थिक सघर्ष का कारण जितना राज्य की सीमाएँ हो सकती है उतना ही सीमा-शुल्क। आधुनिक राजनय में तो बहस के विषय अधिकाधिक आर्थिक सवालो से ही सबद्ध होते जा रहे है। उदाहरण के लिए, इगलैंड और रूस के सबध १९१७ की क्राति से पहले रूस द्वारा लिए हुए कर्ज़े की समस्या के कारण विषाक्त हो गये है। मैसोपोटमिया की चौहद्दी अपने तेल-कुँओ से सबद्ध है—इसी प्रकार मैक्सिको की परिष्ठा भी। बडे देशो के साथ चीन के सबध उसके विपुल और अप्रयुक्त प्राकृतिक साधनो पर अवलम्बित है। विश्व-व्यवस्था में इटली की जगह—उसकी विद्युत-शक्ति प्राप्त करने की शक्ति पर आधारित है और उसके इलाके में कोयले की खान न होने की वजह से औद्योगिक कार्यों के लिए ईंधन की समस्या उसके लिए बडे राजनीतिक महत्व की बन गई है। विदेशी पूँजी-निवेश और व्यापारी जहाजी बेडे के बडे मसलों के बारे में भी यही बात सच है। यह तो स्पष्ट ही है कि विदेशो में पूँजी लगाने की योग्यता के फलस्वरूप एक राज्य दूसरे की राजनीतिक अधीनता में आ सकता है—जैसे मिस्र ब्रिटेन का सरक्षित-प्रदेश बन गया। यह भी ज़ाहिर है कि अगर एक राष्ट्र-राज्य के व्यापारी जहाजो का भाडा किसी दूसरे से कम है तो बडी गभीर अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियाँ पैदा हो सकती है—भाडा कम होने का कारण कुछ भी हो सकता है जैसे अमरीका पानामा नहर पर अपने नियत्रण के कारण अलग-अलग राज्यों को कम-ज्यादा फ़ायदे बख्श दे सकता है। और अन्त में, यह भी साफ है कि अगर श्रम परि-स्थितियाँ काफी हद तक एक जैसी हो तभी औद्योगिक प्रतियोगिता कुछ थोडी बहुत न्याय्य और उचित हो सकती है। मोटे तौर पर, अगर अग्रेज खनिक को दिन में सात घटे काम करना होता है और जर्मन खनिक को आठ घटे तो निश्चय ही इगलैंड में कोयले का भाव अपेक्षाकृत कम होगा, एक ही जैसे माल में तो और मुश्किल है—सूती कपडे का काम करने वाला मेहनतकश अपना बाज़ार सुरक्षित नही रख सकता अगर उसे बबई और ओसाका के मिल-मालिको द्वारा दी गई दरो से होड करनी पड जाये।

इस सिलसिले में जो विविध उदाहरण मौजूद है उनमें से मै कुछ को ही लेता हूँ।

मै समझता हूँ उनसे यह बात उपलक्षित होती है कि सघ के इस समय के सगठन में जो व्यवस्था है उससे कही अधिक व्यापक आर्थिक नियत्रण उसे रखना चाहिए। यहाँ मै आर्थिक क्षेत्र की उन कोटियो का बडा स्थूल सकेत भर दूँगा जिन पर, मै समझता हूँ सघ का प्रभाव सर्वोच्च रहना चाहिए । मै यह नही कहता कि थोडे से समय में उसका प्रभाव सर्वोपरि हो जाने की कोई उम्मीद है । कोई भी राष्ट्र-राज्य अपनी आर्थिक सस्थाओ पर से अपनी सार्वभौम सत्ता हटाने को तैयार नही होगा जब तक कि राजकाज के क्षेत्र में सघ की क्षमता और सद्भाव अतर्क्य रूप से सिद्ध न कर दिये जायें। यह तो हो सकता है कि इनमें से कुछ कोटियो में सघ की शक्ति का विकास इस प्रकार होगा कि वह हर बारीक बात पर नियत्रण करने के बजाय सिफारिशे करेगा या नतीजे निकालेगा—और उन्हे कार्यान्वित करने का काम हर राज्य के सद्भाव पर छोड दिया जायेगा। इस प्रकार की एक दो कोटियो पर अगर सक्षप में विचार कर लिया जाये तो उससे कम से कम उस दिशा का निर्देश हो जायगा जिसमें सघ को कदम उठाना चाहिए ।

१ अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-निवेश—अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-निवेश की शक्ति के बारे में ब्यौरेवार कुछ कहने की मुझे जरूरत नही है । दक्षिण अफ्रीका और मिस्र से इगलैंड के, हेती, सान डॉमिगो और मेक्सिको से अमरीका के, और रूस से फ्रास के व्यवहार ऐसी मिसालें है जिनसे सिद्ध होता है कि इस प्रकार के व्यवहार के परिणाम कितने भीषण और अकूत होते है ।[1] उनको अच्छी तरह समझने पर हम यह निष्कर्ष निकाले बिना नही रह सकते कि एक दोहरी नियत्रण-व्यवस्था की जरूरत है ।(१) जहाँ ऋण किसी राज्य को दिया जा रहा हो उसकी शर्तें सघ द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए—चाहे वह किसी एक राज्य के पूँजीदाताओ द्वारा दिया जा रहा हो या अशदान की किसी अनुभाजित पद्धति के अनुसार दिया जा रहा हो—जैसे १९२४ के शिशिर में डैवेस-योजना के अधीन जर्मनी को दिया गया था। (२) ऋण की अदायगी के तरीके में किसी ऐसी शक्ति का हाथ नही होना चाहिए जिसके कारण किसी राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता पर आँच आ सकती हो जैसे अग्रेजो की अधिकृति में मिस्र की स्वतन्त्रता नष्ट हुई। (३) उसके साथ किसी खास राज्य के नागरिको के लिए आर्थिक रिआयतो की शर्तें नहीं जुडी रहनी चाहिए —वरना वैसी ही समस्या पैदा हो सकती है जिसका निदर्शन मराको और ईरान में रिआयतो के इतिहास से होता है। (४) जहाँ ऋण में पाया हुआ धन ऋणी राज्य से बाहर खर्च होना हो—जैसे रेल के डिब्बे वगैरा खरीदने के लिए—तो यह खरीद सघ द्वारा नियुक्त तदर्थ सलाहकार समिति के साथ मिलकर ऋणी राज्य द्वारा किये गये फैसले के मुताबिक होगी (५) जिन पूँजीदाताओ ने सघ की स्वीकृति के बिना ऋण देने में हिस्सा लिया हो उनकी ओर से कार्य करने का किसी राज्य को हक नही होना चाहिए (६) जो राज्य सदस्य के रूप में अपनी जिम्मेदारिया और काम पूरे करने वाला नही है और खास तौर से जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के समयो में निहित अपने दायित्वों को नही निभाता

---

१. इस मामले की पूरी विवेचना के लिए श्री. एच. एन ब्रेल्सफोर्ड का 'वार आफ स्टील एण्ड गोल्ड'—अध्याय २, ३, ८

उसे ऋण देने का हक किसी राज्य द्वारा अपने नागरिको को नही दिया जाना चाहिए।

लेकिन राज्यो को दिये जाने वाले ऋणो के बारे में चाहे ये सब प्रबध कर लिये जायें फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी निवेश की समस्याएँ खत्म नही हो जाती। विदेशो में रहने वाले व्यापारियो के कामो की देख-रेख के तरीके निकालना—खास तौर से पिछडे हुए प्रदेशों में बहुत ही जरूरी है। कागो या पुतुमायो का इतिहास पढने वाला कोई भी आदमी सहज ही समझ जायेगा कि इस तरह की देख-रेख क्यो जरूरी है परन्तु ये तो एक क्रम में आखिरी कडी है जिनके परिणाम कदम-क़दम पर जाँच परख की अपेक्षा रखते है। इस नियत्रण के कारण श्री ब्रेल्सफोर्ड ने थोडे में ही बडी खूबी से बताये है। वह लिखते हैं–[1] "अगर कोई आदमी या कम्पनी हमारे झडे की आड लेकर विदेश में व्यापार करना या ऋण देना चाहती है और अगर हम किसी हद तक उसके व्यापार की रक्षा करना या उसे स्वीकृति देना चाहे तो जाहिर है कि उसकी जाँच और तफतीश की जा सकनी चाहिए और वह ऐसे नियमों के अनुरूप होना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के वतमान मानको द्वारा निर्धारित कर दिये गये हो।" श्री ब्रेल्सफोर्ड ने यह १९१४ में लिखा था जब राष्ट्र सघ की स्थापना एक व्यावहारिक बात नही मालूम पडती थी, आज की जरूरत यह है कि दायित्व के राज्य-निर्मित आधार से नही बल्कि सघ के तत्वावधान में निर्धारित किये गये आधार से अनुरूपती रहे। इसमें, मै समझता हूँ, कुछ इस प्रकार के उपबन्धो की आवश्यकता होगी (१) हर राज्य ऐसी सस्थाओ का एक रजिस्टर रखे जो विदेश में व्यापार कर रही हों। रजिस्टर में इस तरह विभाजन होना चाहिए कि एक ओर तो वे उद्यम रहे जिन्हें स्वीकृति मिली हुई है और दूसरी ओर वे जिन्हें निम्नाकित कारणो से स्वीकृति देने से इनकार कर दिया गया हो रजिस्ट्रेशन का खर्च सालाना शुल्क से पूरा किया जाय—जैसे अब कम्पनियो के रजिस्ट्रेशन के लिए वसूल किया जाता है। (२) रजिस्टर का हर वर्ष पुनरीक्षण होना चाहिए और ऐसा इन्तजाम होना चाहिए कि जनता जब चाहे उसकी जाँच कर सके। उसकी एक प्रति—जिसमें नई से नई बातें आ जायें—सघ के प्रधान केन्द्र में रहनी चाहिए। (३) किसी भी ऐसे आदमी या कम्पनी को स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया जाना चाहिए जो (अ) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय द्वारा निर्धारित श्रम-सबधी शर्तों का पालन न करे (आ) राष्ट्र सघ द्वारा निर्धारित दायित्व—खास तौर से समादेशो के अधीन—न निभाये, (इ) उन देशो से व्यापार करने की कोशिश करे जहा अब भी दास-प्रथा का बोलबाला है, (ई) ऐसे राज्य में आर्थिक या सैनिक हस्तक्षेप करे जो गृह युद्ध या विदेश-युद्ध में जुट रहा हो। (५) जब कोई कम्पनी स्वीकृति पाने का आवेदन करे और उसे न माना जाये तब अदालत में अपील करने की आज्ञा होनी चाहिए (५) अगर राष्ट्र सघ में किसी पहले से की हुई स्वीकृति के बारे में अपील की जाये तब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह अपील सुन सके—अपील नामजूर होने पर खर्च अपीलकर्ता के सिर रहे। अगर अपील सफल रहे तो उस राज्य को खर्चा देना चाहिए जिसमें कम्पनी की रजिस्ट्री हुई है। (६) किसी भी कम्पनी को जिसे स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया गया हो यह

१. पूर्वोद्धृत कृति पृ. २४१

हक नही होना चाहिए कि (अ) सघ के किसी सदस्य के सट्टा बाजार में अपनी प्रति-भूतियो का उल्लेख करा ले। (आ) किसी अदालत में मुकदमा चला सके—वैसा तो सिर्फ स्वीकृति देने से इन्कार करने के विरुद्ध अपील करने के लिए हो सकता है (इ) सघ के किसी सदस्य देश के राजदूतावास या कौंसुल-आवास की सेवाओ का अधिकार। (ई) समादेश-अधीन प्रदेशो में प्रवेश पाने का अधिकार। इस अन्तिम नियम का उल्लघन करने वाले को—यानी प्रवेश पाने की कोशिश करने वाले को—सजा मिलनी चाहिए या उस पर भारी जुर्माना किया जाना चाहिए।

यहाँ यह कहने की कोशिश नही की जा रही है कि इस तरह की प्रणाली सर्वांगपूर्ण होगी—जाहिर है अनुभव से और बहुत सी उपयुक्त बातें मालूम पडेंगी। लेकिन इस तरह का रजिस्टर रखने से कम से कम यह तो होगा ही कि अवाछनीय व्यापारी के—जो डान पेसिफिको या मानेसमन ब्रदर्स की तरह सचमुच अपने निजी लाभ के लिए राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का गला घोट रहा हो—रास्ते में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी। और मै समझता हूँ वैध व्यापार का मार्ग इससे किसी तरह अवरुद्ध नही होगा। सामान्य सभ्य राज्य से व्यापार करने वाली प्राय हरेक फर्म ही यथोचित क्रम में स्वीकृति पा जायेगी—जिन्हें स्वीकृति नही मिलेगी वे ऐसी फर्में होगी जो अपना अधिकाश व्यापार पिछडे हुए प्रदेशो में ऐसी शर्तों पर कर रही हो जो अन्याय्य प्रतीत हो। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में वाणिज्य परिष्ठा से वचित कर देना एक तरह से स्वीकृत फर्मों की प्रतिष्ठा को मान लेना है—और इस तरह व्यापार में नैतिकता का समावेश होगा जिस की बडी सख्त जरूरत है। मैं इस बात से इन्कार नही करता कि कभी-कभी अनधिकृत साहसोद्यम से सम्भावित लाभ इतना ज्यादा होगा कि लोग जोखिम उठाने को तैयार हो जायें और यहाँ जिन-जिन सुरक्षणो का उल्लेख किया गया है, कुछ लोग उनके बावजूद बेदाग अपना काम कर जायेंगे। लेकिन इस तरह के अधिकाश साहसोद्यमो पर तो हम रोक लगा ही सकेंगे और जो निष्पक्ष रूप से विदेशी-पूंजी निवेश का इतिहास पढ़ेगा उसे इसमें सदेह नही रह जायेगा कि इससे निश्चित लाभ होगा।

२ परियात-शुल्क—मुझे तो लगता है कि किसी राज्य के घरेलू उद्योगो के सरक्षण के बजाय सिर्फ आय के लिए लगाया हुआ परियात-शुल्क अन्तर्राष्ट्रीय शाति का प्रशस्त मार्ग है[१]—इसके कारण क्या है इसका विवेचन यहाँ मै नही करूँगा। लेकिन यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि ब्रिटेन और हालैंड को छोड कर शायद सघ के अधिकाश सदस्य बहुत समय तक इस सबध में पूरी तरह आश्वस्त रहेंगे कि जिसे सक्षेप में हम आर्थिक कोल्बर्टवाद कह सकते है वह उन्ही के फ़ायदे में है। अत सघ का काम इतना भर रह जाता है कि वह परियात-शुल्क को अपने सदस्यो के बीच आर्थिक भेद-भाव के तरीके के रूप में इस्तेमाल न होने दे या उसका प्रयोग उन सदस्यो को दडित करने के लिए करे जो प्रतिज्ञा-पत्र के अधीन पैदा होने वाली अपनी जिम्मेदारियो को पूरा न करे। इसलिए सघ का लक्ष्य यह होना चाहिए कि किसी भी एक सदस्य देश द्वारा स्वीकृत शुल्क-सूची में सब के लिए समान व्यवहार

१ जहाँ तक मुझे पता है शुल्कों के विरुद्ध सबसे अच्छा सामान्य वक्तव्य प्रो० ई० कैनन की कृति 'वेल्थ' में मिलेगा (१९१४) अध्याय १४

की व्यवस्था हो, उसे तिजारत में 'सर्वाधिक अधिमत राष्ट्र-सबधी धाराओ पर'—जिन से दूसरे राष्ट्रो का नुकसान होता है—प्रतिबध लगा देना चाहिए। निष्कर्ष यह निकला कि उसे इस बात पर रोक लगानी चाहिए कि डुमिनियन ब्रिटेन को या ब्रिटेन डुमिनियनो को इस तरह की तरजीह दे। कारण यह है कि इनके फलस्वरूप सबद्ध राष्ट्रो के बीच एक सवृत आर्थिक प्रणाली पनपती है और, इतिहास साक्षी है, इसका अन्तर्राष्ट्रीय सबधो पर घातक प्रभाव पडता है।

३ अन्य आर्थिक कृत्य—लेकिन मै समझता हूँ कि इस सीमा के पार परियात-शुल्क की समस्या से जूझने में सघ की अस्थायी अयोग्यता के कारण उसके रास्ते में कोई ऐसा अवरोध नही आ जाता जो उसे गभीर आर्थिक महत्व के दो और मामलो से सलटने से रोक सके। कुछ देश ऐसे है जहाँ रहन-सहन का स्तर—चाहे उसे वेतन, काम के घटे या कारखानो की परिस्थितियाँ किसी भी कसौटी पर कसिए—इतना नीचा है कि उसके पण्यो को अच्छे जीवन स्तर वाले देशो के मुकाबले बहुत ही कम कीमत पर खरीदा जा सकता है। मिसाल के लिए भारत के कारखाना-मजदूरो को श्रमिक सघ का मतलब—उसकी पूरी सार्थकता में—अब भी समझना बाकी है। एक ओर तो वहाँ वेतन का स्तर बहुत ही कम है, दूसरी ओर वहाँ के काम के घटे १८४४ के दस-घण्टा *अधिनियम* (टेन आवर्स एक्ट) से पहले की इगलैंड की परिस्थितियो की याद दिलाते है।[1] उस हालत में क्या हो जब ऐसे श्रम द्वारा उत्पादित चीजें न्यायोचित हालतो में पैदा की गई चीजो से सस्ती बिकें। मेरी राय है कि सघ की परिषद् में यह शक्ति निहित हो कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की सिफारिश पर वह ऐसे राज्य से एक नियत समय में ब्रिटेन की ट्रेड-बोर्ड प्रणाली जैसी प्रणाली का विकास करने की माँग करे परन्तु अन्तर यह हो कि उसमें औद्योगिक परिस्थितियो के समूचे विस्तार को अपनी परिधि में ले लेने की शक्ति हो। ये ट्रेड बोर्ड ऐसे मानको को अमल में लायें जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय ने उचित ठहराया हो और जिन्हें उनकी स्थापना के बारह महीने के भीतर उचित घोषित किया हो। अगर परिषद् को सूचना दी जाये कि वैसा सुधार लागू नही किया गया है तो उसे सदस्य राज्यो से यह माँग करने का हक होना चाहिये कि वे विसवादी देश से आयात पर रोक लगा दें। मेरा विचार है कि यह नीति प्रतिज्ञा-पत्र में की गई इस प्रतिज्ञा का युक्तियुक्त परिणाम है कि श्रम की उचित और सदय परिस्थितियाँ हासिल करने और बनाये रखने की कोशिश की जायेगी।[2]

दूसरी समस्या मेरे ख्याल से अपने चरम रूप में तो नही पर तात्कालिक रूप में कही अधिक महत्व की है। इसका सबध समादेश अधीन प्रदेशो में या अछूत क्षेत्रो में कच्चे माल के उपयोग से है। इसका कोई कारण नही दीखता कि हम ऐसे क्षेत्रो में प्राकृतिक साधनो को बरबाद होने दें—जैसा कि सभ्य देशो में हुआ है, अगर हम लाभ कमाने को ही अन्तिम

---

१ पाठक एगेल्स की कृति १८४४ में 'कण्डीशन आफ दी वर्किंग क्लास इन इगलैंड' की तुलना कुमारी ग्लेडिस ब्राउटन की 'लेबर इन इण्डियन इडस्ट्री' से करे।

२. सघ के प्रतिज्ञा-पत्र का अनुच्छेद २३ (अ)

कारण मान लें तो बात और है । ऐसे सब मामलो में उन्ही शर्तों के अधीन लाभ उठाया जाना चाहिए जो सघ द्वारा अनुमोदित हो और उन शर्तों पर ठीक-ठीक अमल हो रहा है या नही—इसके लिए समय-समय पर सघ द्वारा निरीक्षण होता रहना चाहिए । मिसाल के लिए अगर मैसोपोटामिया मे बहुत मात्रा मे तेल निकल आये तो उसे निकालने की प्राविधिक परिस्थितियो का निर्णय उस कम्पनी द्वारा नही किया जाना चाहिए जिसे रियायत मिली हो बल्कि विशेषज्ञो की स्वतन्त्र साक्षी की सहायता से सघ के किसी तदर्थ आयोग द्वारा होना चाहिए । अयनवृत्तीय अफ्रीका मे अगर सोना मिल जाये तो उसे निकालने का काम भी इस ढग से व्यवस्थित किया जाना चाहिए । यह मुनासिब ही है कि ऐसे मामले में सघ अपने आप को भविष्य का न्यासधर समझे और वह जिस हद तक ऐसी न्यासिता का आग्रह रखेगा उसी हद तक अन्तर्राष्ट्रीय सबधो मे से गभीर द्वद्व के कारणो को उखाड सकेगा ।

असगठित क्षेत्रो में प्राकृतिक साधनो के नियत्रण की इस समस्या से एक और समस्या पैदा होती है जो कही ज्यादा पेचीदा है—वह है सामान्य राज्यो में उनके नियत्रण की समस्या । यहाँ हमारे पास भले ही थोडा हो पर कुछ महत्वपूर्ण अनुभव है जिस के सहारे हम आगे बढ़ सकते है । युद्ध के बरसो में हमने जाना कि (अ) आवश्यकता के अनुसार सेवा की व्यवस्था करना और (आ) उस आवश्यकता का निर्धारण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय[1] व्यवस्थाओ की स्थापना करना सभव है । जिसने भी सर आर्थर साल्टर का मित्र-राष्ट्रीय नौ-परिवहन का इतिहास अथवा बडी मात्रा में आवश्यक कच्चे माल की खरीद के सबध में ब्रिटिश सरकार के इतिवृत्त का अध्ययन किया है उसे यह लगेगा कि ऐसे तरीको का उद्देश्य कुछ ऐसी प्रणाली लाना है जिस में बिचौलिये की जगह स्थायी रूप से राज्य मिलकर ले लेगे और वे सघ की मार्फत सम्मत भाव पर बरसो तक कच्चे माल का जखीरा खरीदते रहेंगे और उसे प्राथमिक आवश्यकता के सिद्धात के अनुसार वितरित करेंगे ।[2] इस सभावना के बारे में जाँच करना दो कारणो से महत्वपूर्ण है । पहली बात तो यह कि इससे अनिवार्य पण्यो के लिए दुनिया भर मे कीमतो का एक स्थिर धरातल बनाये रखना सभव हो जाता है और दूसरे इस तरह से नियन्त्रित पण्य में अनावश्यक और व्यय-साध्य प्रतियोगिता को हटाना भी सभाव्यता की परिधि में आ जाता है ।

मै इस सिद्धात की उपलक्षणाओ का विवेचन करूँ इससे पहले इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इस प्रयोजन को साधने के लिए कुछ अप्रत्यक्ष कदम पहले ही उठाये जा चुके है । १९०४ में श्री लुबिन ने जब अन्तर्राष्ट्रीय कृषि सस्थान की स्थापना की तो उनका एक उद्देश्य यह भी था कि दुनिया में खाद्य पदार्थों की सटटेबाजी कम हो जाय और इस तरह का काम करने वाली गुटबन्दियो और इजारेदारियो के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय

---

१. और सही कहें तो अन्तर्-सम्बद्ध ।

२. तुलना कीजिये—जे० ए० साल्टर—एलाइड शिपिंग कन्ट्रोल, ई० एम० एच० लायड—एक्सपेरिमेंट्स इन स्टेट कण्ट्रोल

संगठन करने का उनका इरादा था। यहाँ भी—और क्षेत्रो की तरह—अन्तर्राष्ट्रीय शासन की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आगे बढ गया है। वाइट सी, बाल्टिक काफ्रेंस, अन्तर्राष्ट्रीय रेल सिंडीकेट, काच-उद्योगो में महाद्वीपीय वाणिज्य-सघ आदि सस्थाएँ बरसो से सम्मत विक्रय-क्षेत्र, सम्मत उत्पादन और सम्मत कीमतों के आधार पर काम करती रही है।[1] निश्चय ही लक्ष्य था कम से कम जोखिम और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा। ऐसा कोई आपूर्व कारण दृष्टिगाचर नही होता कि राज्यो की सरकारें सघ के व्यवस्था-तत्र को अपने लोगो के वास्ते मुनासिब भाव पर आवश्यक पण्यो की भरपूर सप्लाई मुहय्या करने के लिए क्यो न उपयोग में लायें।

हाँ, इन कार्यों पर अमल करने का जो तरीका होगा वह सब जगह बिल्कुल एक सा हो सकेगा—ऐसा नही लगता और न इसी बात की सभावना है कि उसे पूरी शक्तियो वाली किसी तदर्थ सस्था को सौंपा जा सकता है—जैसे युद्धक्षतिपूरण-आयोग। इसी बात की ज्यादा सभावना है कि सलाहकार सस्थाओ की एक श्रृखला सी होगी जो सघ के द्वारा नियुक्त होगी, उसी के प्रति जवाबदेह होगी लेकिन सघ के हरेक सदस्य के कार्यांग की मार्फत काम करेगी। जैसा सर आर्थर साल्टर ने कहा है[2] सघ के सदस्य इन सस्थाओं द्वारा अपने काम में प्रभावित और समन्वित रहेंगे लेकिन सामूहिक रूप में वे सीधे नियत्रण से उतने प्रेरित न होंगे जितने पारस्परिक प्रभाव से। मिसाल के लिए हो सकता है, अंग्रेजी सरकार फ्रास से अलग दुनिया के कुल सम्भरण में से उतने अनुपात में गेहूँ खरीद ले जितना उसके लोगो को जरूरी हो लकिन वह यह बात बखूबी जानते हुए करेगी कि फ्रास क्या कर रहा है और यह समझते हुए कि उसकी इस अलग कार्यवाही का फ्रास पर क्या असर होगा। इसी प्रकार इटली ब्रिटेन से कोयला खरीदने का सविदा कर सकता है और उस खरीदारी का निपटारा ऐसी सस्था करेगी जो यह जानती हो कि उसका दक्षिण-अमरीकी गणराज्यो पर क्या असर होगा। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के इस महत्त्वपूण सिद्धात की स्थापना होती है कि सरकारे बडे-बडे आर्थिक मसलो को मिलजलकर निपटाने के लिए सतत और सचेष्ट रूप से प्रयत्न करें।

यहाँ निष्कर्ष के रूप से जो सिद्धात उभरते है उन पर भी एक नजर डाल ली जाय क्योकि उसके नतीजे हमारी बाद की विवचना को प्रभावित करेंगे। मैने कहा है कि सरकारें बडे-बडे आर्थिक सवाल तय करने के लिए सहयोग कर सकती है। उस पर सब से अच्छी तरह अमल करना किसी कार्यांग-निकाय द्वारा सभव नही बल्कि अलग-अलग राज्यो में उनके समन्वित परामर्श से हो सकता है जो उसमें निहित राजनीतिक कार्यवाही के लिए जिम्मेदार हो। आम तौर से सबसे अच्छा तो यह हो कि यह परामर्श प्राचीन राजनय की भाति विदेश कार्यालय की मार्फत न होकर विशेषित विभागो के सीधे सपर्क द्वारा हो। ब्रिटेन का व्यापार बोर्ड (बोर्ड आफ ट्रेड) फ्रास के वाणिज्य मत्रालय से सीधे

१ इस विषय पर अपार सामग्री प्राप्त करने के लिये देखिए एल० एस० वुल्फ—इटरनेशनल गवर्नमेंट, अध्याय ३

२. पूर्वोद्धृत कृति—पृष्ठ २५२

बातचीत करे, इटली का कृषि-मंत्री जर्मनी के कृषि-मंत्री के साथ मिलकर उपाय निर्धारित करे। सीधे संबध रखने में यह बात तो निहित है ही कि संपर्क की स्थायी संस्थाएँ हो। विभागों के अध्यक्षो की कभी-कबाद बैठकें कर लेना भर काफी नही है। उत्तरदायी स्थायी कर्मचारियो के लिए एक दूसरे को अच्छी तरह जानना-समझना जरूरी है, उनमें एक दूसरे के मन की गति समझने की योग्यता होना जरूरी है, इन अविरत संबधो के फलस्वरूप ऐसी योग्यता का विकास करना जरूरी है कि अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता की भावना का अपने राज्यों के काम में उपयोग किया जा सके। इसका मतलब यह है—जैसा सर आर्थर साल्टर ने कहा है और ठीक भी है—कि अधिकारियो मे एक दूसरे के प्रति इतना विश्वास पैदा हो जाये कि वे "शुरू के अवस्थानो में नीति पर खुल कर विचार कर सके—उनके अपने-अपने देशो मे उसके बनने और निर्धारित होने से पहले"। इस तरह यह खतरा न रहेगा कि विचार-विमर्श की लपेट में किसी सरकार की प्रतिष्ठा आ जाय या लोक के सामने उसकी हेटी हो और उसे सिर झुकाना पडे। सरकार के इस या उस मत से बँध जाने के पहले हम सामान्य निणय का आधार पा जाते है। अधिकारी अपने देश की ओर मे कोई वचन नही दे सकते, न उन्हें देना चाहिए लेकिन जब करार के संबध में मोटी-मोटी बातो और पूरी परिस्थितियो का ज्ञान होता है तो यह तय करना कही आसान हो जाता है कि अधिकारियो को क्या शक्तिया दी जायें—सिद्धातो का फैसला वे ही करते है, उनकी सीमाएँ अच्छी तरह से निर्धारित होती है। तब सरकारो की बैठकें ऐसे औपचारिक अवसर मात्र हो जाते है जहाँ योजनाएँ—जिनकी रूप-रेखा पहले ही व्यवस्थित की जा चुकी होती है—स्वीकृत कर दी जायें। और अधिकारियो ने अपने आपसी संपर्क में दूसरे दृष्टिकोणो को जिस तरह समझना और परखना सीखा हो केवल उसी के कारण इस प्रकार की योजनाए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हो सकती है।

मै राज्य के विदेश कार्यालय से अलग और बाहर संपर्क स्थापित करने की महत्ता पर जोर दे रहा हूँ मेरा विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन की इस पद्धति का निर्माण करने के लिए राज्यो के बीच संपर्क के सूत्र बढाना बडा जरूरी है। हम कार्यवाही को जितना स्थानीय बना दें, जितना ही उसको प्रतिष्ठा की बजाय प्रविधि की नजर से देखें उतने ही प्रविधि के विकास के अधिक अवसर होगे। राजनय की प्रकृत सरणियो में मसलो का इस तरह से केंद्रीकरण हो जाता है कि उनका महत्व जितना अपेक्षित हो उससे अधिक हो जाये। तेल की समस्या वाइटहाल की अपेक्षा डाउनिंग स्ट्रीट में अधिक विकराल रूप धारण कर सकती है। प्रविधि अदना बात को उसके सही परिपार्श्व में रखती है। अगर रेलो के बारे में कोई झगडा सुलझाने के लिए विदेश-कार्यालय को बीच में लाया जाये तो यह अनिवार्य-सा ही है कि रेलो के अलावा और समस्याओ की छाया वातावरण में परिव्याप्त हो जाये। और एक और बडा भारी फायदा है—विचार-विमर्श को प्राविधिक बनाये रखने का मतलब है उसे नाटकीयता से बचाये रखना। समाचारपत्रो में उसे सनसनीखेज खबरो का रूप नहीं दिया जा सकता। उस पर अफवाहो और मनगढ़न्त बातो का वह पर्दा नही डाला जा सकता जिसने पिछले कुछ वर्षों में कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो का गला घोटा है। जब विजय का स्वरूप पहले ही इतना दुर्बोध होता है कि खबर की हैसियत नही पा सकता तो विजय

की धारणा पहुँच के बाहर हो जाती है। जिस किसी ने भी १९२४ की लन्दन कान्फ्रेंस जैसी सस्थाओ के काम के ढग का अध्ययन किया है वह जानता है कि उनका काम सब से अच्छी तरह तब हुआ था जब दो या तीन लोग शात कमरे में इकट्ठे होते थे—सौदेबाजी करने के लिए नही, बल्कि ऐसे हल मालूम करने के लिए जो दोनो के लिए सतोषजनक हो। और यह समझ लेना कतई मुश्किल नही कि लम्बे अरसे तक एक साथ मिल बैठ कर विचार करने की आदत पारस्परिक विश्वास के ऐसे सेतु बाँध देती है जिस पर से होकर सफलता को हस्तगत किया जा सकता है।

४ प्रवासन—लोगो के एक देश से दूसरे देश जाने के बारे मे कुछ ऐसी विशेष समस्याएँ पैदा होती है जिनके परिणाम बडे महत्त्वपूर्ण होते है। इस मसले के गभीर होन की एक मिसाल तो यही है कि कुछ राज्यो में आवासन को लेकर कुछ रगदार जातियो पर प्रतिषेध लगे हुए है—इस पर मै पहले भी अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। लेकिन कुछ अशो में इसमें इस बात पर विचार करना भी शामिल है कि अपना वतन छोडने वाले प्रवासी को आम तौर से क्या सरक्षण दिया जायेगा, उसे जिन-जिन चीजो का सामना करना पडेगा उनसे सबद्ध ज्ञान को उसके फायदे के लिए कैसे व्यवस्थित किया जायेगा, और इसमें यह बात भी शामिल है कि ऐसी शर्तों के बिना जो आम तौर से समुचित हो ऐसे आने-जाने को रोका जायेगा जैस चीनी आवासियो का दक्षिण-अफ्रीका में। सघ जितनी जल्दी इन मसलो की ओर ध्यान देगा उतना ही उसके लिए अच्छा रहेगा। जरूरत इस बात की है कि परिषद् के तत्त्वावधान में प्रवासन-सबधी एक स्थायी आयोग बनाया जाय जिसके जिम्मे निश्चित काम हो। (१) पिछडे हुए या समादेश-अधीन क्षेत्रो से लोगो का जाना रोकने की उसमें शक्ति होनी चाहिए, अगर श्रम की परिस्थितियाँ और तनख्वाह उतनी ही हो जितनी उसी काम के लिए उस दूसरे देश में है जिसमें वे जा रहे है तो बात और है। (२) प्रवासियो को ले जाने वाले जहाजो के निरीक्षण की उसे व्यवस्था करनी चाहिए और इस बात का आग्रह करना चाहिए कि जगह के बारे में एक कम से कम स्तर की रक्षा की जाय, (३) उसे यह अधिकार होना चाहिए कि (अ) विभिन्न देशो मे प्रवासी-दफ्तरो के काम की जाँच कर सके और (आ) वह काम करने की अनुज्ञा देने की शक्ति होनी चाहिए—दुरुपयोग किये जाने पर उनके अनुज्ञा-पत्र को वापस ले लिया जाये। (४) उसे यह अधिकार होना चाहिए कि अवतरण-पत्तनो पर प्रवासियो के लिए दी गई जगहो का निरीक्षण कर सके और उसके सुधार के लिए उचित अधिकारियो से सिफारिश कर सके—अगर उसमें सुधार न हो तो सब तथ्यो को प्रकाशित कर दिया जाये। (५) हर बरस के शुरू में वह एक विवरण मँगाये कि हर राज्य अपने यहाँ कुल कितने आवासियो को खपा सकता है, किन-किन व्यावसायो में और लोगो के खप जाने की गुजाइश है, किन शर्तों पर उन व्यवसायो में प्रवेश पाया जा सकता है और हर राज्य में उप-आयोगो की मार्फत उसे उपलब्ध सूचना को प्रकाशित कर देना चाहिए। हर प्रवासी कार्यालय को उन सब लोगो को जो दूसरे देश में जा बसना चाहते हो लाजमी तौर पर यह सूचना देनी होगी। (६) उसे, सघ के सदस्यो के साथ एक राय होकर, विभिन्न राज्यो में कौंसुल अधिकारियों के साथ मिलकर काम करना चाहिए और इस बात की जाँच के लिए एक केंद्र के रूप मे

काम करना चाहिए कि जितने लोगो के अगीकृत किये जाने की आशा हो कही उससे ज़्यादा लोग न चल खडे हो। यह विश्वास न करना कठिन है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस में सघ, अपार हित कर सकता है। जिन शक्तियो का मन सुझाव दिया है वे कोई व्यापक और अगाध शक्तियाँ नही परन्तु अगर बुद्धिमानी से काम में लाई जायें तो उन्ही में से व्यापक सत्ता जन्म ले सकती है और एक दिन इसी में से क्षेत्र के हिसाब से आबादी के व्यवस्थित वितरण का प्रयास उभर सकता है जिस पर, हो सकता है, भविष्य बहुत कुछ हद तक अवलम्बित हो।

५ श्रम की परिस्थितियाँ—वर्साई-सधि के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना की ही जा चुकी है—उसका आम उद्देश्य है दुनिया भर में श्रमिक वर्ग के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना और उसे बनाये रखना। मैं इसी अध्याय में अन्यत्र बताऊँगा कि यह कार्यालय किन तरीको से काम करता है और उसकी माध्यम सस्थाएँ कौन-कौन सी है। यहाँ तो यह जाँच लेना भर काफी होगा कि सघ के लिए इस तरह के काम अपने कधो पर उठा लेना क्यो जरूरी है। मैं पहले कह चुका हूँ कि आज एक विश्व मडी का अस्तित्व है और प्रतियोगिता का दबाव इस मडी में औद्योगिक परिस्थतियो का एक-सा धरातल बनाने की ओर उन्मुख होता है लेकिन जाहिर है यह पता लगाना सबसे जरूरी है कि वह धरातल कौन-सा हो? अन्ततोगत्वा, जर्मनी में कम वेतन का मतलब है इगलैण्ड मे भी कम वेतन, जापान की सूती कपडा मिलो मे काम के घटे अधिक होने का मतलब है लका-शायर की सूती कपड़ा मिलो मे भी काम के घटे अधिक होगे। अगर फ्रांसीसी नाविक खराब परिस्थितियो में रहते है तो इटली भी अपने नाविको को काफी सुविधा न देगा। विश्व-मडी होने का मतलब अन्तत यह है कि उस राज्य की परिस्थितियाँ, जहाँ उत्पादन-लागत सब से कम है, दूसरे राज्य में उत्पादन की परिस्थितियो का निर्धारण करेंगी। अत यह अत्यावश्यक है कि दुनिया भर में एक कम-से-कम स्तर हो और कोई राज्य अपने मेहनतकशो को उस स्तर से नीचे न गिरने दे। इसका मतलब यह है कि सफाई, काम के घटे, वेतन-दरें एक कम से कम स्तर पर सब जगह मौजूद हो, बच्चों से मेहनत के काम कराना सब जगह निषिद्ध हो और कारखानो वगैरा मे सर्वत्र हफ्ते में एक दिन की छुट्टी की जाये, जब कुछ चीजें—जैसे सफेद फोस्फोरस खतरनाक साबित हो जायें तो उन्हें औद्योगिक प्रक्रियाओ में कही भी इस्तमाल न किया जाय। श्रमिक वर्ग को ऐसे सुरक्षणों का आश्वासन चाहिए जैसे अपने श्रम को मिलजुलकर बेचने का और श्रम सबधी शर्तों के बारे में सामूहिक रूप से सौदा करने का। मैं प्रत्यक्ष उदाहरण ही लूँगा। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के वार्षिक सम्मेलन में पहले तीन अधिवेशनो में १७ समय स्वीकृत किये गये।[1] आम तौर से यह कहा जा सकता है कि जिस काम का श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय को दिया जा सकता है उससे और कोई महत्त्वपूर्ण काम सघ ने नही किया है। अपनी स्थापना के भीतर पाँच वर्षों में ही उसने, निश्चित रूप से श्रमिक वर्ग के लिए इतिहास का एक नया

---

१. अप्रैल १९२४ तक इनकी पूरी सूची के लिए देखिए ई० बी० बहरेन्स—दी इन्टरनेशनल लेबर ऑफ़िस—परिशिष्ट ७

युग आरम्भ कर दिया है।

इन मसलों पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान के स्वरूप के बारे में भी दो शब्द कह दिए जायें। कुछ ऐसे कार्य-क्षेत्र हैं जिन के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय अपने सदस्यों को एक निश्चित नीति में बाँधेगा ही और वह नीति और कुछ नहीं उनके अपने सार-तत्व की होगी। लेकिन वह नीति अनिवार्यतः तत्वपरक ही होगी। वह इस अर्थ में सीधे विधान नहीं बना सकता कि अपने कानूनों को खुद ही क्रियान्वित करे। उन्हें वह अमल में लायगा अपने सदस्य देशों के विधान मंडलों और सरकारी नौकरों की मार्फ़त ही। वह सिर्फ़ ऐसे समय ही स्वीकृत नहीं कर सकता जो बाध्य करने वाले हों बल्कि ऐसी सिफ़ारिशें भी कर सकता है कि अमुक शर्तें वाछनीय हैं—और करता भी है, चाहे सर्वत्र उसको अमल में लाने का समय भले ही न आया हो। इस तरह की सिफारिशों का महत्व इस बात में है कि वह सदस्य-राज्यों में लोक-मत को प्रेरणा देंगी कि उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करें। लेकिन यह बात समझ रखनी चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विधान की समस्या ऐसे मामले पैदा कर देती है जो नाजुक भी होते हैं और पेचीदा भी। हम किसी राज्य से कह सकते हैं कि उसके स्तर एक खास न्यूनतम स्तर से नीचे नहीं गिरने चाहिएँ। तब हमें सबसे पहले तो इस बात की सावधानी रखनी है कि न्यूनतम स्तर कहीं अधिकतम स्तर न बन जाय (यानी स्तर कहीं उससे ऊँचा जाये ही नहीं) और दूसरे यह कि परिस्थितियों की अपार विविधता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाये ताकि प्रस्तावित विधान कारगर तौर पर अमल में लाया जा सके।

यह दूसरी समस्या तो कुछ इस तरह हल हो जाती है कि विधान के मसविदे में जो पक्ष शामिल हों वे सिर्फ सरकार के ही प्रतिनिधि न हों और कुछ इस तरीक़े से कि खास पेचीदा मसलों से जूझने के लिए विशेष विशेषज्ञ-सभाएँ बना दी जायें—जैसे १८२० में जेनेवा के नाविक सम्मेलन में। इसमें पहली युक्ति तो बड़ी ही अनमोल है। इससे न सिर्फ विविध दृष्टिकोणों से औद्योगिक राय की अभिव्यक्ति हो जाती है—सो भी अधिकृत ढंग से, बल्कि इससे सरकार के दृष्टिकोण के प्रति जो निश्चित विरोध होता है वह भी खास तौर से प्रकाश पा जाता है। मिसाल के लिए, जब जापान-सरकार का प्रतिनिधि जापान में श्रम की परिस्थितियों का सुनहरा चित्र खींच रहा हो तो जापान के श्रमिकों के प्रतिनिधि द्वारा उसका तुरन्त ही खंडन करा देना निश्चय ही बड़े महत्व की बात है।[1] और अन्तर्राष्ट्रीय संपर्क द्वारा इस भावना को प्रोत्साहन देने में बड़ा फायदा है कि ये समस्याएँ दुनिया की आम समस्याएं हैं और यह कि सच्चे संगठित प्रयत्न से ही उन्हें हल किया जा सकता है। अगर सम्मेलन सिर्फ सरकारों के ही प्रतिनिधियों का हो तो वह कहीं कम प्रामाणिक होगा। लेकिन जब कोई सरकारी प्रतिनिधि—मान लीजिए श्रम-मन्त्री—कहे कि कोई खास विधान उसके देश में लागू किया जाना असंभव है तो इस बात की संभावना कि उसकी युक्ति की उसी देश का श्रमिक-प्रतिनिधि धज्जियाँ बिखेर दे, बहस को तो दिलचस्प बना ही देगी, साथ ही दूसरे पक्ष को इस बात पर भी विवश कर देगी उस विधान के प्रति अपनी

---

१. बहरेन्स—पूर्वोद्धृत कृति पृ० १२७

आपत्तियो का सावधानी से आकलन करे। मै बाद मे बताऊँगा कि इस कार्यविधि को सघ की सभा के लिए अपना लेना भी बडा उपयोगी हो सकता है।

६ अन्त में, सघ में यह बात बडे महत्व की है कि हर तरह की आर्थिक जाँच की जाये। ससार में सर्वत्र वैधानिक कार्यवाही जानकारी पर आधारित होती है और यह बडे अचम्भे की बात है कि हमे जिन मसलो को हल करना होता है उनकी कितनी कम जानकारी हमें होती है। मुद्रा, पूजी–निवेश परियात-शुल्क का असर, उत्पादकता, श्रम की परिस्थितियाँ—इन सभी समस्याओ पर हमें जो थोडी बहुत जानकारी है वह भी चतुर्दिक् अज्ञान के अगाध समुद्र से घिरी हुई है। सघ कई क्षेत्रो में इस तरह के काम के लिए अपनी क्षमता का सबूत दे चुका है। वह सिर्फ परिस्थितियो का सर्वेक्षण ही नही कर सकता, वह विशेषज्ञ से खास रिपोर्ट देने के लिए कह सकता है, उसके पास जितनी जानकारी है उसकी अर्थवत्ता पर विचार करने के लिए वह खास आयोग बुला सकता है। वर्साई-सधि[1] द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के दो मुख्य कामो में से एक यह तय कर दिया गया कि वह "श्रम और औद्योगिक जीवन की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो से सबद्ध सब विषयो पर जानकारी हासिल करे और उसे दूसरो तक पहुँचाये।" कोई कारण नही कि इस शक्ति को विस्तार न दिया जाये जिससे आर्थिक जीवन का हर पहलू उसमें समा जाये। जहा कही उसके होने या अमल में लाये जाने से अन्तर्राष्ट्रीय सबधो पर असर पडे वही वह सघ के लिए छान-बीन का उचित विषय हो जाता है। और इस प्रकार के अनुसधान का एक महत्व यह भी होता है कि उसका मूल सूत्र सघ के हाथ में होने के कारण अलग-अलग राज्यो द्वारा किये गये अनुसधान की अपेक्षा उसके अधिक सर्वांगीण और निष्पक्ष होने की सभावना रहती है। इसी वजह से उसके तथ्य ऐसे होते है जो नैतिक क्षय को रोकें। सिलेसिया की कोयला-खानो के बारे में किसी पोलैंडवासी या जर्मन की रिपोर्ट को लोग सदेह की दृष्टि से देखे बिना नही रह सकते लेकिन सघ के किसी स्वतन्त्र आयोग द्वारा—जिस का सदस्य न कोई पोलैंडवासी रहा हो, न जर्मन—दी गई रिपोर्ट के प्रति किसी के मन में शका नही हो सकती। मै यह नही कहता कि तथ्य जान लेना भर बुद्धिमानी से काम करने की कोई कसौटी है लेकिन मै यह जरूर कहूँगा कि जब तक तथ्य मालूम करने का कोई विशेषज्ञ माध्यम न होगा तब तक बुद्धिमत्तापूण काम कर पाना असभव है और सघ अपने वर्तमान स्वरूप के कारण ऐसा सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। इसका जितना व्यापक उपयोग होगा, अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार उतना ही अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।

—५—

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के कृत्यो की इस तरह की रूप-रेखा से कम से कम आवश्यक कार्यावयव की ओर इगित तो हो ही जाता है। स्पष्ट है कि राष्ट्र सघ को चार निश्चित सस्थाओ की जरूरत है। एक तो विधान-मडल या सभा की जरूरत है जो अन्तर्राष्ट्रीय

---

१ अनुच्छेद ३९६

नीति के आम सिद्धात निर्धारित करे, एक कायगि या परिषद् की आवश्यकता है जो विधान-मडल में प्रवृत्ति-धारा को दिशा दे और वैधानिक कार्यवाही के बीच जो अवकाश रहे उसमें हल ढूढने का कार्य करे, एक स्थायी नागर-सेवा अथवा सचिवालय भी आवश्यक है जो काम की तैयारियाँ करे और आवश्यक जाँच-पडताल का प्रबध करे और अन्त में एक अदालत का होना भी जरूरी है जो उसके कार्य-कलाप की कानूनी उपलक्षणाएँ बताये।

परन्तु इस तरह से लोकतत्रीय शासन की शब्दावली का प्रयोग कर लेने का मतलब यह नही कि ये सस्थाएँ आधुनिक राज्य की आतरिक सस्थाओ के सदृश ही होगी। दो बातो की वजह से इसकी सभावना नही रह जाती। पहली तो यह कि सघ राष्ट्र-राज्यो का सगम है जो राजनीतिक दृष्टि से असमान होते हुए भी न्याय की नजरो में बराबर होते है—अत उनके प्रतिनिधि अनिवार्यत सरकारो के प्रतिनिधि होते है। हर राज्य अपने प्रतिनिधि के रूप में चाहे किसी को भी और किसी तरह से भी चुन ले, वह हाउस आफ कामन्स की भाँति अपनी प्रबुद्ध मति के अनुसार जो कुछ उचित समझें सो नही कर सकते—उन्हें तो उन लोगो के हुकुम के मुताबिक काम करना पडता है जो उनकी सत्ता के स्रोत होते है। दूसरे, सघ अपना काम बहुमत की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार नही चला सकता। जो कुछ वह करता है उसमें से अधिकतर काम ऐसे होने चाहिए कि वह अपनी नीति के प्रति हर सदस्य राष्ट्र की सहमति प्राप्त कर ले, सिर्फ वोट गिनकर उन्हें नीति को मानने के लिए बाध्य करना सघ के अस्तित्व के लिए घातक होगा। वह तो सतत परामर्श का माध्यम ही अधिक है, ऐसा सविधान-निर्माता निकाय नही जो अपने विरोधी पक्ष पर हमेशा नियम थोपता रहे। वह तो दोनो ओर की युक्तियो को तोल कर देखता है, मत गिन कर बात खत्म नही कर देता। वह कोई अधिराज्य नही—इस शब्द के किसी भी प्रशासनिक अर्थ में। इससे भी ज्यादा वह राजदूतो की एक स्थायी सभा जैसी चीज होती है—वे जहाँ कही भी मतभेद होता है वहाँ न्याय्य समझौते का रास्ता ढूँढते है। यह मानी हुई बात है कि जहाँ एक-सी समस्याएँ होती है वहाँ समान फैसले के अभिकरण भी होने ही चाहिएँ और समान फैसले सब से अच्छी तरह तभी होते है जब कि राजनीतिज्ञ हल निकालने के लिए साथ मिलकर बैठें और विचारें। इसमें शक नही कि कभी-कभी सघ को अपने दृष्टिकोण के सार-तत्व से मतभेद रखने वालो से उसे मानने का आग्रह करना होगा। लेकिन उसमें जिन हितो का सघात होता है उनके स्वरूप को देखते हुए आम तौर से उसकी कोशिश यह होनी चाहिए कि विधान सभा में जैसे मत-विभाजन हुआ करता है वैसा मौका वहाँ न आये। जहाँ किसी समस्या में सीधे 'हाँ' या 'ना' कहने भर से भी काम चल सकता हो वहाँ भी मुख्य रूप से उसकी यह कोशिश होगी कि ऐसा फैसला हो जिसमें करीब-करीब सभी की सम्मति हो और दूसरे क्षेत्रो में उसके बहुत से मसलो के जो हल होगे वे सख्यात्मक किस्म के होंगे। मिसाल के लिए, वह अपने सदस्य राष्ट्रो में बच्चो के मजदूरी करने पर पूरी तरह रोक लगा सकता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम के बारे में वेतन के नियम निश्चित करने के लिए वह गणात्मक प्रकार की वैधानिक सरलता हासिल करने की कोशिश नही करेगा—क्योकि वह उसे हासिल कर नही सकता।

इन सस्थाओ का अलग-अलग विवेचन शुरू करने से पहले मै एक बात और कह दूँ। सघ के अवयवो द्वारा निकाले गये हल, मेरे विचार में, कानून की भाँति माने जाने चाहिएँ—इस शब्द के सपूर्ण अर्थों मे। कहने का मतलब यह कि उसके फैसले ऐसे होगे जो सब पक्षो के लिए बाध्यकारी हो। लेकिन एक बात बिल्कुल स्पष्ट है—वे इस तरह बाध्यकारी नही जैसे पुलिस-मजिस्ट्रेट का फैसला मुद्दालय के लिए होता है, जिसे कैद की सजा दी गई हो। आम तौर से कोई ऐसी अदालत नही होगी जो फैसलो को लागू कराये। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि उसके फैसले कानन की दृष्टि से सक्षम न होगे। इसका मतलब सिर्फ यह है कि उनका पालन दूसरे ही तरीके से होता है—उस ढग से नही जो किसी राज्य के आन्तरिक जीवन मे काम मे लाया जाता है। मिसाल के लिए, हम यह मानते है कि इटली किसी मसले पर—जिसमें वह भी एक पक्ष हो—स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की उपपत्तियो को मानने से इन्कार कर सकता है। हम यह भी मानते है कि उसे मनवाने का तरीका उन सब तरीको से कही ज्यादा पेचीदा होगा जिनकी अब तक हमें जानकारी है। फिर भी यह स्पष्ट है अन्ततोगत्वा सघ के फैसले ऐसे होने चाहिए जिन्हे बलात् अमल में लाया जा सके और यह भी साफ बात है कि उनके पीछे निश्चय ही उसके सदस्यो की सामूहिक शक्ति का अस्तित्व होता है। यह कहना कि उस सामूहिक शक्ति को प्रयोग में नही लाया जा सकता यह कहने के बराबर हुआ कि ससद के कुछ विशष अधिनियम बलपूर्वक लागू नही किये जा सकते—इससे ज्यादा और कुछ नही। कानून—चाहे राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय—सद्भाव को पूर्वकल्पित करके ही बनता है। उसे यह मान लेना पडता है कि जो कुछ वह कर रहा है उसे वे लोग स्वीकार करेंगे जिन पर उसका प्रभाव पडता है। हाँ, निस्सदेह कुछ ऐसे सीमान्तिक मामले होगे जिनमें इनकार किया जायेगा। और सफल विधान-निर्माण का मूलमत्र यह है कि उसके तत्वो को ऐसे ढाला जाये कि उस तरह के मामले कम से कम हो। इससे कोई इन्कार नही कर सकता कि वह समस्या किसी राज्य के भीतरी सबधों की अपेक्षा राज्य और राज्य के बीच के सबधो को लेकर कही अधिक पेचीदा होगी—ये समस्याएँ जिन हितों का स्पर्श करती है वे कही ज्यादा व्यापक होते है, अन्तत जिन अनुज्ञप्तियो का पल्ला पकडा जाता है, वे अधिक जटिल और सुदूरवर्ती होती है। लेकिन उस जटिलता में भी गुण-भेद नहीं, मात्रा-भेद है। जो कुछ किया जा रहा है उसका मूल एक ही है। गलती की सजा मिलती है, झगडे निपटाये जाते है, नये मानक बनते हैं। एक की भाँति दूसरे क्षेत्र में भी हम व्यवहार के प्रतिमान बना रहे है जिनसे सभ्यता का जीवन सभव होता है। अत एक की तरह दूसरे क्षेत्र में भी हम व्यवहार के उन प्रतिमानो को कानून का नाम दते है। वे अनुभव के विश्लेषण द्वारा स्थापित आचरण के मानक होते है।

१ सभा—सघ का कोई ऐसा अवयव होना चाहिए जहाँ हर सदस्य राज्य को अपनी आवाज बुलन्द करने का हक हो। अत सभा में हर राज्य के सदस्य होते है जिन की सख्या तीन से अधिक नही हो सकती और उनका कुल एक वोट होता है। फलत सभा में बैठकर सब सदस्य राज्य बराबर होते है और सघ की शक्ति के अन्तर्गत जो-जो विषय होते हों वे सभी उसकी क्षमता की परिधि में आ जाते है। नियत अवधि के बाद उसकी बैठक होनी चाहिए और जब जरूरत आ पडे तब भी। व्यवहार में उसका अधिवेशन साल के

साल होने लगा है। उसके सामने जो भी सवाल आयें उनका हल सर्वसम्मति से होना चाहिए—सिर्फ नये सदस्यो को भरती करने से सबद्ध सवाल ऐसे होते है जिनका फैसला दो-तिहाई बहुमत से हो सकता है और या कार्यविधि-विषयक सवाल जिनके लिए साधारण बहुमत ही काफी होता है। सभा, परिषद् के साथ मिलकर, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजो का निर्वाचन करती है, जहाँ आवश्यक प्रतीत हो प्रतिज्ञा-पत्र में सशोधन करती है, परिषद या सबद्ध पक्षो द्वारा अपने सामने पेश किये गये झगडो पर विचार करती है, वह सघ के सालाना आय-व्ययक को स्वीकृत करती है और सदस्य राज्यो के बीच खर्चा बाँटती है और सघ के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट तथा उसके फैसलो को लागू करने के लिए किये गये उपायो पर विचार करती है। कोई भी सदस्य राज्य दो साल का नोटिस देकर सघ छोड सकता है बशर्ते कि सघ छोडने के वक्त वह प्रतिज्ञा-पत्र के अधीन अपनी सब जिम्मेदारियो को परा कर चुका हो, सदस्य-राज्य अगर अपना वचन भग कर दे या पत्र में बाकायदा स्वीकृत सशोधन को अस्वीकार कर दे तो वह सघ का सदस्य नही रह जाता।[1]

सघ अपने असली स्वरूप में जो कुछ है, इनमें से अधिकतर शक्तियाँ और रूप उसमें युक्तित निहित है। लेकिन कुछ एसी गभीर समस्याएँ पैदा होती है—रूपगत और तत्वगत दोनो ही—जिनका कुछ विशद विवेचन होना चाहिए। पहली बात तो यह कि किन राज्यो को सदस्य बनने दिया जाय। इसका मेरे जाने तो एक ही जवाब हो सकता है—सदस्य बनने में जो दायित्व निहित है, उन्हें मानने को जो भी राज्य राजी हो उसे सदस्य बना लिया जाना चाहिए। और यह बात सभी राज्यो पर समान रूप से लागू होनी चाहिए—रूस पर भी, जिसका शासन-आदर्श अधिकाश सदस्यो से नितात भिन्न है, और मैक्सिको पर भी, जिसके लिए किसी भी तरह का व्यवस्थित शासन हासिल करना मुश्किल रहता है। पहले के स्वरूप को लेकर एतराज किया जाय तो अन्तत वह स्पेन और इटली की सदस्यता के प्रति भी एतराज हुआ क्योकि वहाँ सरकारें जनता की राजी से नही बनी, फिर भी वे सत्तारूढ है। मैक्सिको की सदस्यता पर अगर एतराज किया जाय तो वह कुछ दक्षिण अमरीकी राज्यो पर भी लाग होगा जहाँ की स्थिरता प्राय प्रतीयमान होती है, वास्तविक नही। मैक्सिको के सघ में भरती किये जाने का तो असल में विशेष महत्व है क्योकि उसका सघ में शामिल होना उसके लिए अमरीकी हमले के खतरे से एक तरह का सरक्षण है—शायद यह खतरा बडी दूर का खतरा है, पर है तो है ही। सघ से हट जाने की अनुज्ञा में भी कोई कठिनाई नही। पहले तो नोटिस की अवधि चेतावनी की अवधि होती है और जो राज्य अपनी ढफली अलग बजाना चाहे उसके मार्ग में एक बाधा यह होती है कि सघ के एक सदस्य के विरुद्ध वह जो कुछ करेगा वह सब के विरुद्ध माना जायगा। दूसरे अर्थों में सघ से हट जाने में कभी किसी राज्य को कोई फायदा नही होगा—हाँ, अगर घटनाएँ यह साबित कर दें कि सघ को खुद ही एक वास्तविकता नही बनाया जा सकता तो बात दूसरी है।

मोटे तौर पर कह सकते है कि ये आसान मामले है। इससे कही ज्यादा कठिन वे

---

१ प्रतिज्ञा-पत्र, अनुच्छद १,३,५,१५,१९

नियम हैं जो कुछ अपेक्षाकृत महत्वहीन सवालो को छोडकर बाकी में सर्वसम्मति की माँग करते हैं। राज्यो के इतिहास मे यह बडी आरम्भिक बात है कि सर्वसम्मति की माँग कारगर शासन के लिए घातक होती है, मिसाल के लिए पोलैंड में निजस्विक अभिषेध उसके क्षीण होने का कोई कम कारण न था। अमरीकी सैनिट की तरह से दो-तिहाई मतो की माँग भी कभी-कभी दो टूक फैसले के लिए घातक सिद्ध हुई है और उसके कारण कोई निश्चित कदम नही उठाया जा सका जब उसकी बडी सख्त जरूरत थी। लेकिन दो बडी महत्वपूर्ण बातें ऐसी हैं जिनके कारण इस प्रतीयमान दुर्बलता की प्रखरता उतनी नही रह जाती। (१) सभा की सदस्यता का जो स्वरूप है उसे देखते हुए, सभा गभीर मसलो पर अपने सदस्य राज्यो को प्रत्यय कराके ही कुछ कारगर कार्यवाही कर सकती है और जो प्रत्यय बिना किसी तरह के दबाव के दी गयी सहमति से पैदा न हो वह सच्चा नही हो सकता। राज्य को यह महसूस कराना चाहिए कि जो फैसले किये जा रहे हैं उनमें उसकी सकल्पना को भी जगह मिल रही है—तभी वह उन्हे नैतिक दायित्व के रूप में स्वीकार कर सकता है। (२) दूसरे, ऐसा रास्ता भी है जब कि संघ जो कार्यवाही करे वह सबके लिए बाध्यकारी हो और उसमें अन्त में जाकर सबकी एक ही सम्मति होना भी जरूरी नही है। मिसाल के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शातिपूण निपटारे[1] का पूर्वारूप पुष्टीकरण से पहले सर्वसम्मति से स्वीकृत किया जाना चाहिए था लेकिन उसमें जिस निरस्त्रीकरण-सम्मेलन की माँग की गई है उसकी सफलता पहले ही से मानकर परिषद् के स्थायी सदस्यो के बहुमत तथा दस और सदस्य राज्यो द्वारा उसकी पुष्टि कर दिये जाने से वह सभी के लिए बाध्यकारी हो जाता है।[2] ऐसी परिस्थितियो में, मिसाल के लिए, हो सकता है, ब्रिटेन उससे असहमत हो पर फिर भी उसके अधीन आने वाली जिम्मेदारियो को स्वीकार करने के लिए उसे बाध्य होना पडे। अत स्पष्ट है कि सर्वसम्मति का नियम उतना दुरूह नही जितना मालूम होता है।

सभा के सविधान की इस आधार पर कडी आलोचना की गई है कि वह अलोकतत्रीय है। कहा जाता है कि वहाँ सिर्फ सरकारो का प्रतिनिधित्व होता है। सुझाव यह है कि राज्य के प्रतिनिधिमडल के सदस्यो का चुनाव विधान सभा करे या ऐसी ही कोई और सस्था-जो उसे किसी अस्थायी सरकार के हाथ की कठपुतली होने से बचा सके। लेकिन मै समझता हूँ इस आलोचना का एक पक्का जवाब है। अपने प्रतिनिधियो का स्वरूप क्या हो—इस बारे में मनचाहा प्रबध करने से किसी राज्य को कोई भी रोक नही सकता। दक्षिण अफ्रीका एक दूसरे राज्य के नागरिक को अपना एक प्रतिनिधि चुन चुकी है। दूसरे, हर राज्य में विदेश-नीति बनाने की जिम्मेदारी चूंकि उस समय की सरकार की होती है इसलिए उसकी ओर से कौल-करार कौन कर इसका फैसला अनिवार्यत उसे ही करना चाहिए। अगर वह अपने विधानमडल के सामने एक नीति रखे और जेनेवा में सभा के सामने कतई दूसरी नीति तो वह सरकार के रूप में काम करती नही रह सकती। फिर भी मै समझता

---

१. २ अक्तूबर, १९२४ को पाँचवीं सभा में सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।
२. पूर्वारूप का इक्कीसवाँ अनुच्छेद।

हूँ इस आलोचना में इतना सत्य अवश्य है—सघ का एक परिणाम यह है कि वह विदेश-नीति में सातत्य को महत्वपूर्ण बना देता है और वह तभी उपलब्ध हो सकता है कि उसके सार-तत्व पर तत्कालीन सरकार और विरोधी पक्ष बहुत हद तक सहमत हों। इसकी एक तरकीब हो सकती है—हर राज्य के प्रतिनिधिमडल में एक सदस्य विरोधी पक्ष का रहे जिसे वही मनोनीत करे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के काम से पता चल गया है कि उस तरह की कार्यविधि का कितना महत्व है। इससे मतभेद की बातें एक ऐसी सस्था के सामने अभिव्यक्त करने का अमोल अवसर मिल जाता है जिस पर शायद उसका सबसे ज्यादा प्रभाव पडे। इसका नतीजा यह होगा कि वैदेशिक कार्य आम पार्टी-प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र से बाहर निकल जायेगे। क्योकि किसी राष्ट्र के प्रतिनिधिमडल में अगर दृष्टिकोण का कोई चरम वैषम्य हुआ तो राज्य विशेष अपनी सत्ता से वचित हो जायेगा। और जहाँ वैसा वैषम्य हो, तो अन्तर्राष्ट्रीय मत के न्यायालय में उसे व्यक्त कर देना ही अधिक श्रेयस्कर है—सरकारी एकता के आडम्बर से उस पर पर्दा नही डालना चाहिए। एक बात साफ है कि ऐसे सभी मामलो में वोट देने का हक सरकार के प्रतिनिधि को ही होना चाहिए।

सभा के सदस्य प्राय हमेशा ही सरकारी नौकर नही, राजनीतिज्ञ रहे है और मै समझता हूँ यही होना भी चाहिए। उच्चस्तरीय नीति के मामलो में राजनीतिज्ञ आलोचना कर सकता है, तर्क कर सकता है और सरकारी नौकर, खुले आम, सिर्फ ऐलान करने के सिवाय और कुछ कर नही सकता। इसके अतिरिक्त राजनीतिज्ञ के पास ऐसे कौल-करार करने की शक्ति होती है जो सरकारी नौकर के बूते के बाहर होते है। उससे जितना कुछ कहा गया है उससे ज्यादा वह कुछ बोल नही सकता और अगर किसी प्रतिनिधि को और हिदायतो के लिए बराबर तार या टेलीफोन का इतजार करते रहना पडे तो बहस का दम घुट कर रह जाये। लेकिन यह फैसला कर लेना महत्वपूर्ण है कि राज्य का प्रतिनिधित्व कौन से राजनीतिक व्यक्तित्वो द्वारा हो। मेरा अपना ख्याल यह है कि जब कोई सचमुच बडा महत्वपूर्ण मामला हो तो प्रधान मत्री स्वय प्रतिनिधिमडल का नेतृत्व करे और आम अवसरो पर विदेश-मंत्री उसकी जगह ले लिया करे। जाहिर है कि जब सभा का काम अधिकतर रोजाना का सामान्य काम हो, तो प्रधान मत्री का समय उस पर खर्च नही किया जासकता। लेकिन जब बडे-बडे मामले हाथ में हो तो प्रतिनिधिमडल के सदस्यो के व्यक्तित्व के कारण सभा को जितनी अधिक सत्ता प्राप्त होगी, उतना ही अच्छा उसका काम होगा। विकल्प यह है कि उसकी जगह विदश-मत्री ले ले क्योकि राष्ट्रो की सरकारो के किसी और विभाग को सघ के काम से सबद्ध करने का मतलब कुछ इस तरह का सकेत करना है कि उस काम में और आम विदेश नीति में कुछ फर्क है। परन्तु असल में ऐसा है नही। सघ के प्रति नीति वही होनी चाहिए जो आम विदेश-नीति है और ऐसा तभी हो सकता है जब स्थायी अधिकारी और विदेश मत्री दोनो सघ के अनुभव के फलस्वरूप अपने रोजाना के काम को सभा की आधारभूत भावना से ओतप्रोत कर दें। यहाँ दोनो कामो के लिए अलग-अलग लोग रखने में बडा खतरा यह है कि उनके कृत्य भी न अलग अलग हो जायें। सघ के छोटे-से इतिहास में ही जेनीवा से एक राज्य के विदेश मत्री की अनुपस्थिति का फल कुछ इस तरह का हुआ कि सभा के सदस्य मत्री और उसकी नीति का ताना-बाना भी और

दृष्टिकोण भी भिन्न होते नजर आने लगे। कुछ इस बारे में भी कहा जा सकता है कि विदेश-कार्यालय के स्थायी अध्यक्ष को इस प्रयोजन के लिए प्रतिनिधिमडल का तीसरा सदस्य बना दिया जाये। बात यह है कि अन्ततोगत्वा नीति पर उसका प्रभाव अपने अस्थायी अध्यक्ष के मुकाबले कही अधिक गहरा और निर्बाध होता है। सभा से उसका व्यक्तिगत सपर्क न रहने का—खास तौर से उसके शैशवकाल में—यह परिणाम भी हो सकता है कि उसके मन में सभा के प्रति अर्धचेतन विरोध जागता चला जाये।

औपचारिक सविधान में जो व्यवस्था होती है, हर सभा असल में उससे भिन्न हुआ करती है, वह उन धाराओ के सहारे नही जीती जिनके आधार पर उसका निर्माण किया गया है बल्कि अपने अनुभव से वह जो आदतें सीखती है उनके बलबूते पर जिया करती है। कहा जा सकता है कि राष्ट्र सघ की सभा के स्वरूप के बारे में कुछ निष्कर्षों की कल्पना करना समीचीन ही होगा। भाषा-भेद की अडचनो को उसने दूर कर दिया है। वह सच्चे भाव से सुझावो पर बहस कर सकती है और अपने शिकवे-शिकायतो की अभिव्यक्ति कर सकती है। वह ऐसा लोकमत अपने पक्ष में खडा कर सकती है जो सकीर्ण निष्ठाओ के धरातल से ऊपर उठ जाय। वह मानव के श्रेष्ठ मनावेगो की अभिव्यक्ति और प्रसार का अनमोल माध्यम बन सकती है। वह महान् व्यक्तित्वो को—चाहे वे किसी बडे देश के हो या छोटे के—ऐसे अवसर देती है कि वे अपने विचारो की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित करें वरना घटनाओ के दबाव में वे विचार अनसुने ही विलीन हो जात। सभा में अपनी अभिव्यक्ति की परिस्थितियो के कारण वें विचार घटना बन जाते है। छोटा राज्य बराबरी पर खडा होकर बडे राज्य से तर्क-वितर्क कर सकता है। वह समस्याओ को ऐसी सस्थाओं के सामने रखने की इजाजत देती है जिनका औरो की अपेक्षा न तो कोई तात्कालिक हित होने की सभावना होती है, न कोई निहित पूर्वाग्रह ही रहता है। समझदार आदमियो को वह यह विश्वास कराती है कि जो उसकी सत्ता से बचना चाहते है वे विवेक के निर्णय से डरते है—इस तरह वह न्याय की ध्वजा को ऊँचा उठाती है। अगर कोई सभा के इतिहास की जाँच करने बैठ जाय तो इसमें शक नही कि उस पर दोष लगाने के बहुत से कारण उसे मिल जायेंगें लेकिन मैं समझता हूँ सबसे बडी बात तो यह है कि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि सभा का चाहे और कोई महत्व न भी हो पर बडे देश की शक्ति को सीमा में रखने का तो,वह अनमोल साधन है ही। वह उसे लोक दृष्टि के सम्मुख लाती है और विवश करती है कि वह विश्लेषण और आलोचना सहे। और हमारे सामने जो खतरे है उनका भी आखिर सच्चा उपचार यही है। अन्तत जो राज्य वहाँ सफल नही होते सो वे ही होते है जिन्होने उनका अतिक्रमण कर मनमानी धाँधली करने की चेष्टा की हो।

२ परिषद् —सघ की परिषद् का विवेचन करना सभा का विश्लेषण करने की अपेक्षा कही कठिन काम है क्योंकि मानी हुई बात है कि उसकी सघटना अभी अधूरी है और वह तब तक पूरी नही हो सकती जब तक रूस, जर्मनी और अमरीका का उसमें प्रतिनिधित्व नही होता।

लेकिन अगर हम मान ले कि कभी न कभी आगे चलकर उनका प्रतिनिधित्व हो जायेगा तो हम देखेंगे कि परिषद् का आधार एक सरल परन्तु अनिवार्य सिद्धांत है। उसे

दो भागो में बाँटा जा सकता है—स्थायी भाग, जिसमें बडे देशो के प्रतिनिधि है और अस्थायी भाग जिस में अपेक्षाकृत छोटे देशो के प्रतिनिधि है। मै समझता हूँ इस तरह का विभाजन अनिवार्य है। दुनिया जैसी है वैसी ही हमें देखनी चाहिए और—उदाहरण दें—चिल्लि और बेल्जियम द्वारा ब्रिटेन के लिए किये गये फैसले में प्रभावी मान्यता नही हो सकती। फायदा इस बात में है कि बडे राज्य की महत्ता तो स्वीकार कर ली जाये परन्तु परिषद् में उसे चरम शक्ति न हथियाने दी जाये। इसकी तरकीब यह है कि स्थायी प्रतिनिधित्व वाले राज्यों की सख्या अस्थायी सदस्यो की सख्या से दो कम रखी जाये।[१] सभा की भाँति परिषद् की क्षमता भी सिर्फ प्रतिज्ञा-पत्र की अपनी परिधि से सीमित है और सभा की भाँति ही कार्यविधि और एक-दो और छोटे मामलो को छोडकर उसके निर्णय भी सर्वसम्मति से होने चाहिएँ। सर्वसम्मति का नियम उतना रोडे अटकाने वाला है नही, जितना प्रतीत होता है। सबसे पहली बात तो यह है कि वह निस्सदेह परिषद के भीतर की गुटबन्दियो के खतरे के विरुद्ध पक्का सुरक्षण है और जो बात ब्रिटिश-सरकार के अनुभव से साबित हो गई है अगर उसे मान लें तो सर्वसम्मति प्राप्त की जा सकती है बशर्ते कि एक दूसरे से सहमत होने का सकल्प मौजूद हो। परिषद् का जल्सा हर वर्ष जरूर होगा ही। हालाँकि असलियत यह है कि जब से सघ की स्थापना हुई है उसकी साल भर में कम से कम छह बैठक होती आ रही है। झगडो में उसकी विशेष सत्ता ध्यान देने योग्य है। (१) अगर झगडे वाले देश विवाचन या अदालती फैसले के लिए तैयार न हो तो उन्हें अपना झगडा परिषद् के सामने रखना पडेगा। अगर वह कोई समझौता न करा सके तो वह या तो सर्वसम्मति से या बहुमत से अपनी सिफारिशो के साथ सही-सही बातो की एक रिपोट प्रकाशित कर सकती है। अगर रिपोर्ट सबद्ध पक्षो को छोडकर सर्वसम्मति से स्वीकार की गई है और इनमें से एक पक्ष सिफारिशो पर अमल करता है तो दूसरा उसके विरुद्ध लडाई नही छेड सकता। अगर उसमें सबकी सम्मति नही तो परिषद् का फैसला प्रकाशित होने के तीन महीने के बाद लडाई छेडी जा सकती है। अगर एक पक्ष कहे कि झगडे का स्वरूप घरेलू है और परिषद् मान ले तो उसका क्षेत्राधिकार खत्म हो जायेगा—क्योंकि वह किसी राज्य के आतरिक मामलो में दखल नही दे सकती। वह अपने आप ही या दोनो पक्षो में से किसी एक के कहने पर किसी झगड को सभा के समक्ष प्रस्तुत कर सकती है—उस दशा में सभा झगडें तय करने के बारे में वे ही सब शक्तियाँ अख्तियार कर लेगी जो परिषद् को होती है। सभा को झगडा सौंपने की यह कार्यवाही परिषद् के सदस्य देशो की सर्वसम्मति से होनी चाहिए और रिपोर्ट तथा सिफारिशो पर दूसरे राज्यो के अधिकतर प्रतिनिधियो की भी स्वीकृति होनी चाहिए। किसी सदस्य राज्य के साथ झगडा निपटाने के लिए नये सदस्य राज्यों को भी अस्थायी सदस्यता के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है। अगर आमन्त्रण स्वीकार कर लिया जाये तो सामान्य कार्यविधि लागू होगी, अगर उसे अस्वीकार कर दिया जाये और

---

१. इस समय इनकी सख्या क्रमश चार और छह है। अगर रूस, जर्मनी और अमरीका शामिल हो जायें तो परिषद् में अस्थायी सदस्यों की सख्या में तीन की बढ़ोतरी हो जायेगी।

लडाई छिड जाय तो समूचा सघ उसकी लपेट में आ जाता है ।

ज़ाहिर है कि सघ के पहिये की असली धुरी है परिषद् । कार्यकारी निर्णय का असली उद्गम वही है । झगडे तय करने मे वह मूल साधन है । उसी के काम पर समूची सभा की सृजनात्मकता निर्भर होती है । उसके सामने जो प्रयोजन है उन्हें देखते हुए उसकी सघटना कहाँ तक सतोषजनक कही जा सकती है ? पहले तो हम उसकी कुछ खामियो को देखें । मैं पहले ही कह चुका हू कि परिषद् के महत्वपूर्ण कामो में सर्वसम्मति का नियम आवश्यक है, कहा जा सकता है कि छोटे छोटे कामो में वह जरूरी नही भी है । ऐसे समाज-कार्य शुरू करने के लिए सर्वसम्मति आवश्यक नही होनी चाहिए जिन के क्षेत्र में, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, बडा उपयोगी काम करने के अवसर मौजूद है—मिसाल के तौर पर, हानिप्रद औषधियो का व्यापार बन्द कराने के लिए इस बात की ज़रूरत नही । ऐसे मामलो मे, दो तिहाई बहुमत को स्वीकार करने का दायित्व ही काफी समझा जाना चाहिए । दूसरे, परिषद् को अपने आप यह विचार न करना चाहिए कि कोई झगड़ा घरेलू है या नही—उदाहरणार्थ, अगर इगलैड मिस्र मे सघर्ष को घरेलू मामला मानता है, तो मराको में अपनी विशेष स्थिति को लेकर फ्रास की दृष्टि भी रजित हो जाने की सभावना हो सकती है। इसलिए अच्छा यही है कि इस तरह के मामले स्थायी न्यायालय को सौप दिये जायें और परिषद् उनके फैसले के मुताबिक काम करे । जो सघ के सदस्य नही है उन्हें भी परिषद् में विवाचन के लिए अपील करने का अधिकार होना चाहिए—चाहे उनका झगडा भी भले ही ऐसे किसी राज्य से हो जो सदस्य नही । इसका कारण है । हम एक प्रत्यक्ष उदाहरण लेते है अगर अमरीका मैक्सिको से लडाई छेड दे तो अमरीका द्वारा उसके मिला लिये जाने से दक्षिण अमरीकी गणराज्यो की स्थिति इतनी बदल जायेगी कि फैसले में उनकी दिलचस्पी ऐसी होगी जिसमें सघ की समस्त सयुक्त सत्ता का बल होना जरूरी है ।[२]

कुछ और महत्वपूर्ण सवाल उठते है । परिषद् की बैठको में राज्यो का प्रतिनिधि कौन होगा ? जहाँ तक सभव हो यह ज़रूरी है कि हर राज्य का विदेश-मत्री ही प्रतिनिधि के रूप में मौजूद रहे—सभा के सबध इसी सवाल की विवेचना करते हुए मै कारणो का बखान पहले ही कर चुका हूँ । इस नियम के निश्चय ही कुछ आवश्यक अपवाद हैं—उदाहरणार्थ, दूरी बहुत होने के कारण जापानी विदश मत्री की मौजूदगी अभी सभव नही। लेकिन राजदूतो या छोटे मन्त्रियो द्वारा प्रतिनिधित्व होना प्राय सतोषजनक नही होता। उनको जो हिदायतें मिलती है, वे उनमें कम ही फेर-बदल कर सकते हैं । उनकी वजह से वह अन्तर्राष्ट्रीय सबधो के मूल तत्वो से सीधा सपर्क रख कर सम्यक् अर्थ ग्रहण नही कर सकता । वे उस सामान्य चेतना से अलग से पड जाते है जो परिषद् की बैठको में सतत ससर्ग से विकसित होती है और प्राय यह अच्छा नही होता कि कोई सरकार अपनी

---

१ संघ का प्रतिज्ञा-पत्र, अनुच्छेद—४, १२, १३, १५, १६, १७

२ अनुच्छेद १७ के अधीन सघ गैर-सदस्यों को अपनी सत्ता मानने के लिये आमंत्रित कर सकता है । मैं चाहता हूँ कि यह आमत्रण झगडे वाले पक्षों में से किसी के कहने पर ही दिया जाये ।

अन्तर्राष्ट्रीय नीति विदेश नीति का सचालन करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त किसी और के हाथ में सौंप दे। ब्रिटेन के विदेश कार्यालय मे और लार्ड सेसिल द्वारा सचालित विभाग मे दृष्टिकोण का भेद पाया गया है—यह भेद अभीप्सित लक्ष्य में जितने महत्व का है कार्य-सम्पादन के तरीके में उससे किसी तरह कम नही।

प्रकाशन की समस्या कही अधिक जटिल है। यहाँ यह बात साफ है कि जो बातें सभा के बारे में लागू होती हैं वे अप्रासगिक है। प्रकाशन सभा का तो जीवन ही है, परिषद् में फैसले से पहले प्रकाशन कर देना—खास तौर से किसी झगडे के फैसले मे—नुकसान ही ज्यादा कर सकता है, फायदा कम। लेकिन यह भी जरूरी है कि कही परिषद् बन्द घर में गुप्त ढग से विचार-विमर्श करने वाली सस्था का रूप न ले और कहीं आप्त घोषणाएँ न करने लगे जिन्हे समझाने की भी वह जरूरत न समझे। अत यह आवश्यक है कि जो कुछ भी फैसले हो वे प्रकाशित कर दिये जाये और उनके साथ ही जो नतीजे हासिल किये गये है उनके सबध में सस्था की सफाई रहे। जैसा एम ब्रांटिंग ने कहा है[1] "परिषद् के फैसलो को आलोचना से बचाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उनके कारणो का उल्लेख किया जाये।" और मै समझता हूँ यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट है कि परिषद् (१) झगडे वाले पक्षो के सभी बयानो की (२) समादेश-प्राप्त राज्यो के काम करने के ढग के बारे में पेश किये गये सवालो की और (३) अनुच्छेद २३ के अधीन सघ की कार्यवाहियो से सबद्ध सवालो की सुनवाई खुले आम कर सकती है। परिषद् की चौदहवी बैठक में जिस किसी ने भी लार्ड बालफोर द्वारा की गई जनरल जेलिगोव्स्की की अभिशसा सुनी होगी वह प्रकाशन के सुप्रभाव पर शक नही कर सकता और आम नियम यह है कि जब किसी नाजुक मसले पर गभीर विमर्श हो रहा हो—जैसे आस्ट्रिया का आर्थिक पर्ननिर्माण—तभी गोपनीयता का सहारा लिया जाना चाहिए।

एक बडे महत्त्व का मामला है सभा से परिषद् का सम्बन्ध। यहाँ ससदीय शासन के आकर्षक दृष्टातो को पहले ही एक ओर रख देना जरूरी है—परिषद् एक मन्त्रि-परिषद् की तरह से है, पर वह विधान-मडल भी है और अपने सश्लिष्ट स्वरूप में वह किसी भी ऐसी सस्था से मिलती-जुलती नही जिसका पहले से अस्तित्व हो। वह सभा पर हावी रहती है क्योकि सभा उसके बिना काम नही कर सकती, फिर भी कुछ क्षेत्रो में वह सभा के नियत्रण के अधीन होती है। सघ का महासचिव उसके काम के बारे में सालाना रिपोर्ट पेश करता है और सभा में उस पर उसी प्रकार से बहस होती है जैसे हाउस ऑफ कामन्स में वार्षिक अनुमानो पर। परन्तु सभा में होने वाली बहस परिषद् पर असर डाल भी सकती है और नही भी—वैसा होना जरूरी नही। परिषद् उसके फैसलो को मान भी सकती है पर अगर न माने तो इस कारण उसका अस्तित्व खत्म नही हो जायगा। अत स्पष्ट है कि सभा हर बिन्दु पर शक्ति और सत्ता दोनो की दृष्टि से परिषद से नीचे स्तर पर है और सामान्य बैठको के अलावा उसके आसाधारण अधिवेशन व्यवहार-दृष्टि से या तो परिषद् की इच्छा पर निर्भर होते है और या इस बात पर कि सम्बद्ध पक्षो में से कोई एक उसके

---

१ दूसरी सभा की कार्यविधि—सितम्बर १९२१।

सामने कोई झगडा पेश करे । तो हम कह सकते हैं कि प्राय सघ के कोई नौ सदस्य उसके नाम पर विश्व-नीति के सार का निर्धारण करते हैं ।

क्या यह परस्पर-सम्बन्ध ठीक है ? हमें वे परिस्थितियाँ याद रखनी हैं जिनके मातहत सघ को काम करना है । सभा जैसी सस्था की—जिसमें हर तरह से इतनी विविधता है और जो दूरी की कठिनाइयो के बीच काम करती है—बैठकें अक्सर नही बुलाई जा सकती । यह नियम की बात है कि उसके सदस्यो को उन विषयो की सूचना काफी पहले दी जाय जिन पर बहस की जानी है—तभी उनका फैसला खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर किया हुआ फैसला होगा । अत यह अनिवार्य है कि अन्तरिम काल में फैसला करने वाली सस्था मूलत परिषद् होगी और अगर उसे सम्मुख आने वाली समस्याओ को सफलतापूर्वक निपटाना है तो उसकी शक्ति नम्य होनी चाहिये । सक्षेप में, उसके हाथ में वह शक्ति होनी चाहिये जिसे परमाधिकार शक्ति कहते हैं और समय के तकाजे के अनुसार उस शक्ति की सीमायें सभा द्वारा निर्धारित हो सकती हैं । लेकिन आम तौर पर यह सम्भव नही होगा कि जिस मामले का एक बार फैसला हो गया उस पर सभा फिर से विचार शुरू कर दे । अगर यह पता हो कि इस तरह से पुनरीक्षण सम्भव है तो झगडे वाला प्रत्येक पक्ष-जो यह समझे कि फैसले द्वारा उसका पीडन हुआ है—सभा से फिर से सुनवाई करने की अपील करेगा। हमारे सामने जो स्थिति है पूर्व निर्णयानसरण उसका अनिवार्य सिद्धात है । अत सभा तो नियत्रण की अपेक्षा आलोचना का ही साधन होगी । इस समस्या का जो स्वरूप है उसमें क्षेत्राधिकार के भेद तो निहित ही हैं । यह बात भी याद रखने है कि अनुभव -जनित दो कारणो से स्थिति धीरे-धीरे बदलती रहेगी । परिषद् के सामने बहुत-से दृष्टात इकट्ठे होते जायेंगे और वे धीरे-धीरे उसकी नूतनाचार की शक्ति को सीमित करेंगे—यह कार्य अर्धचेतन रीति से होगा, यह ठीक है । और ज्यो-ज्यो स्थायी न्यायालय का काम बढेगा ऐसे बहुत से कानूनी फैसले जमा हो जायेंगे जिनकी परिधि में परिषद् को काम करना पडेगा । लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि सघ का प्रतिज्ञा-पत्र कानूनी मसलो पर अदालत का निर्णय मानने के लिये परिषद् को बाध्य करे । अगर यह नही होगा तो अदालत के फैसले उसकी राय की अभिव्यक्ति मात्र बनकर रह जायेंगे—निस्सन्देह उनमें वजन होगा पर अगर वे जरा भी असुविधाजनक हुए तो उन्हें अस्वीकार किया जा सकेगा । ऐसा हुआ तो स्थायी न्यायालय की सत्ता के लिये जो कुछ अनिवार्य है उसी से वह वचित हो जायगा क्योकि वह जजो का नही, क़ानूनी सलाहकारो का निकाय मात्र बनकर रह जायगा । कहा जा सकता है कि परिषद् को "कानून" से बाध्य बनाना इसका सबसे अच्छा तरीक़ा है कि उसकी उपपत्तियाँ न्याय से पुष्ट हो ।

मेरा सुझाव है कि सभा परिषद् पर एक और शक्ति का प्रयोग करे तो अनुचित नही होगा । अगर हम यह मान भी लें कि बडे-बडे मसलो में परिषद् के फैसलों को अधि-निर्णीत मामला समझा जाना चाहिये तो भी इस बात को ऐसे मामलो तक विस्तार न किया जाय जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपेक्षाकृत कम अर्थवान हो । मिसाल के लिये परिषद् के सामने यातायात, स्वास्थ्य, सधियो का पजीयन, अफ्रीका में मद्य-व्यापार आदि समस्यायें आ चुकी है—इनमें से कोई भी ऐसी नही जिसको लेकर कोई गम्भीर

मतभेद होने की आशका हो। इस प्रकार के सवालो पर किये गये फैसलो पर सभा द्वारा फिर से विचार किया जा सके—यह सुझाव दिया जा सकता है। ऐसे मामले बरस के बरस महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट में सभा के सामने आयेंगे और अगर उसे दो-तिहाई वोटो से परिषद् का फैसला बदलने का अधिकार दे दिया जाय तो वह सभा की शक्तियो में एक उपयोगी वृद्धि होगी। इस सिलसिले में रूस में अकाल-सहायता का मामला प्रस्तुत किया जा सकता है जो छोटे-छोटे राज्यो द्वारा स्पष्ट और सशक्त शब्दों में हिमायत किये जाने पर भी बडे देशो के विरोध के कारण अस्वीकार कर दिया गया। ऐसे मौको पर बडे देशो की बात न मानने का मतलब अक्सर किसी बडे देश के आर्थिक और राजनीतिक निमित्तो की तुलना में किसी छोटे देश के मानववादी भावो को तरजीह देना होगा। हम यह आशा नही कर सकते कि ब्रिटेन, हालैंड के आदेश पर भारत छोड देगा, लेकिन नार्वे या डनमार्क की माँग पर वह या जापान—भारी आर्थिक नुकसान उठाकर भी—अगर अफीम जैसी चीज का कारबार छोड दें तो इससे उनका आत्म-कल्याण होगा। प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद २३ में जितने विविध कृत्यों का समावेश है उन्हें देखते हुए कोई भी यह सोच उठेगा कि सभा ही अगर सर्वोपरि रहे तो अच्छा। इस तरह के मामलो के परे पुनरीक्षक सस्था के रूप में उसकी क्षमता का प्रसार कहाँ तक हो, यह स्पष्ट ही, इस बात पर निर्भर होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृत्तियाँ जगाने में सघ को कहाँ तक सफलता मिलती है। यह समस्या, कम से कम अशत, प्रतिष्ठा की समस्या है और सहयोग के स्वभाव का विकास ज्यों-ज्यों होगा वैसे ही वैसे प्रतिष्ठा की जगह न्याय का अभिभव होता जायेगा।

अगर कोई स्थापना के समय से अब तक के परिषद् के इतिहास का अनुशीलन करे, तो मै समझता हूँ वह दो निष्कर्षों पर पहुँचेगा। अपने जीवन के पहले पाँच वर्षों मे उसमें अब तक सामरिक भावना की व्याप्ति काफी हद तक रही है। उसी भावना के आगे सिर झुकाकर उसने भयकर भूलें की है—जैसे सार घाटी और सिलेसिया जैसी समस्याओ में, उसी भावना से अभिभूत होकर उसने ऐसे सवालो की ओर ध्यान नही दिया जैसे-फ्रास द्वारा रूहर घाटी का आक्रमण—उस स्थिति का बडा स्पष्ट तकाजा था कि परिषद् उसमें हस्तक्षेप करे। दूसरे, बडे-बडे मसलो को हल करने में उसने साहस की बेहद कमी का परिचय दिया है—इन्ही की नीव पर उसके प्रभाव का भवन बन सकता है। छोटी-छोटी बातों में उसे सफलता मिली—जैसे आलैण्ड द्वीपो की कठिनाई का निपटारा[1] और अल्बानिया की सीमा तय करना, बडी-बडी बातो को हल करने में उसे सफलता नही मिली—जैसे १९२३ का यूनान-इटली का झगडा, रुहर में फ्रास-जर्मनी का मसला और १९२४ का इगलैंड और मिस्र का झगडा। इस आखिरी झगडे में तो परिषद की समस्त कमजोरियाँ[2] बडे निरभ्र परिपार्श्व में उभर कर स्पष्ट हो गईं। मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय परिष्ठा का और सूडान के शासन में उसके हिस्से का—ये दोनो सवाल अनिश्चितता

१. जनीवा, जून १९२१।

२. पेरिस, १६ नवम्बर, १९२१।

की छाया से ग्रसित थे, दोनो ही सवाल ऐसे थे जिन्हे कानूनी तौर पर और निष्पक्ष रूप से सुलटाने की जरूरत थी परन्तु फिर भी इन दोनो को इगलैड ने अपने आप ही अलग से तय कर लिया और सघ को इस सम्बन्ध में कोई निर्देश तक नही किया। मिस्र तो सघ का सदस्य भी न था और उसने जो अपील की उसे हालाँकि विधान सभा ने सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लिया था परन्तु कार्यांग ने नही माना—उस कार्यांग ने जिसने अपील किये जाने के वक्त पद सँभाला ही था फिर भी सघ के सचिवालय ने अपील को "आधिकारिक" नही माना—इस शब्द के पारिभाषिक और प्रशासकीय अर्थ में। दूसरे शब्दों में, सघ ने बडे-बडे मसलो को यूँ ही तय हो जाने दिया और बडे सकुचित अर्थ में कानूनी निमित्तो से उसमें बीच में नही पडा। इस घटना में दुर्भाग्य की बात यह है कि सघ ने एक बडे राज्य की इच्छा के सामने घुटने टेक दिये—और यह उस समय जब कि छोटे राज्य पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड रहा था और बडा राज्य जो कुछ कर रहा था सिर्फ प्रतिष्ठा के नाम पर। लेकिन परिषद् को बीच मे पडनेकी जो सत्ता दी गई है सो इसीलिये कि कोई देश कोरी प्रतिष्ठा के नाम पर कुछ कदम न उठाने पाये। इगलैड-मिस्र के जैसे मामलो में इन्कार कर देने से, रूहर की तरह के मामलो मे चुप्पी साध लेने से, यूनान और इटली की तरह के झगडो मे कमज़ोरी दिखाने से परिषद् की सदाशयता और निर्व्याजिता मे विश्वास दृढ नही होता। श्री रैमर्स मैकडौनेल्ड ने कहा है "हमें अपने दिमागो से ये भ्रात एव निष्फल विचार बिल्कुल निकाल देने चाहिये कि कोई एक राष्ट्र अपनी इच्छा-शक्ति और दृढ़ता के बूते पर शेष ससार के सिर पर पैर रखकर निकल सकता है।"[1] लेकिन ये भ्रांतियाँ हमारे मन से तभी निकल सकती है जबकि परिषद् दृढ़ता से यह सोच ले कि जब भी कभी इस प्रकार का अग्रधर्षण होगा तभी वह बीच में पड़ेगी। हो सकता है—और हम इसे मानने से इन्कार नही करते—कि इस नीति से सघ टूट जाय पर इससे उसके बन जाने की भी आशा कम नही और इस प्रकार से हस्तक्षेप करने में जो सत्ता उपलक्षित है वह जब तक परिषद् प्राप्त नही करती तब तक बडे और शक्तिशाली देश उसे विवाचक तो मानने से रहे, वे तो उसे एक आनुषगिक साधन मात्र समझेंगे।

३ सचिवालय—प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ६ के अनुसार सघ के प्रशासकीय अमले में एक तो महासचिव होगा और उसे जितने सहायको की जरूरत हो वे सब उसमें शामिल होगे। पहले महासचिव की नियुक्ति १९१९ मे वर्साई के शान्ति सम्मेलन में की गई। उनके उत्तराधिकारी की नियुक्ति सभा के बहुमत की अनुमति से परिषद् करेगी। उनके कामो की स्थूल रूप से दस बडी-बडी श्रेणियाँ हो सकती है। (१) वह सभा और परिषद् के फैसलो का अभिलेखक होता है। (२) वह सघ-सचिवालय के सामान्य काम का समन्वय करता है। (३) वह परिषद् के काम के बारे में सभा के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करता है। (४) सघ के किसी सदस्य के आवेदन पर, प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ११ के अधीन, किसी आपातिक स्थिति से—जिसमें सघर्ष की आशका हो—निबटने के लिए वह परिषद् की बैठक बुलाता है। (५) अनुच्छेद १५ के अधीन, झगडे वाला कोई

---

1. पोर्ट तालबोट में भाषण, दी टाइम्स, २८ नवम्बर, १९२४

पक्ष अपना मामला पेश करने की सूचना उसे देता है और वह उसकी जाँच और उस पर बहस के लिए उचित प्रबन्ध करता है। (६) सघ के किसी भी सदस्य द्वारा की गई सन्धियाँ उसके पास आती है और पजीयन के बाद वह उन्हें प्रकाशित कर देता है।[1] (७) प्रतिज्ञा-पत्र में अगर कोई सशोधन हो तो वह सघ के सदस्यो को सूचित कर देता है[2]। (८) वह स्थायी सचिवालय के दफ्तरो की मार्फत सघ के फैसलो के अमल में लाये जाने का प्रबन्ध करता है[3]। (९) परिषद के अनुमोदन से वह सचिवालय के सदस्यो और अमले की नियुक्ति करता है[4]। (१०) सघ के तत्त्वावधान में जिन जिन सस्थाओ की बैठक होती है, उन सबकी कार्यसूची वही तैयार करता है।

जाहिर है सचिवालय के महत्त्व की अतिरजना करना कठिन है।[5] उसके काम बडे-बडे भी है और जटिल भी, वह सघ-यत्र के पहियो को चिकनाई देकर गतिमान रखता है, सघ के कार्य का औचित्य बहुत हद तक उसी की क्षमता पर निभर होता है। लेकिन यह भी साफ है कि वह कुछ सु-निर्धारित सीमाओ में रहकर ही काम कर सकता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवा है और इसमें सघ के सभी सदस्य देशो के नागरिक होते है। अत उसके सामने विशेष ज्ञान की कोई एक भी ऐसी परम्परा नही है जिसे आधार बनाया जा सके—उसे अपनी चर्या विश्व-बन्धुत्व की वृत्तियों के अनुकूल ढालनी है जो प्राय सब में समान रूप से विद्यमान होती है। फिर, प्रशासकीय सस्था होते हुए भी क्रियान्विति उसके हाथ में नही होती—वह तो क्रियान्विति के तरीको की व्यवस्था कर सकती है पर उसका असली काम तो अलग-अलग राज्यो को ही करना होता है। उसके लिए यह सम्भव नही कि जो-कुछ ठीक समझे वही कर उठाये। उसका काम एक तो सभा द्वारा मजूर किये हुए बजट के कारण सीमित होता है और दूसरे इस बात से कि सदस्य देश उसके काम में उसके साथ किस हद तक सहयोग करते है। लेकिन इन सीमितताओ के बावजूद सघ में उसका काम और महत्त्व बढता ही जायगा और उसके अधिकाश काम में व्यवहार की चातुरी और वचन की सूक्ष्मता इस हद तक निहित रहेगी जो शायद किसी भी एक राज्य की असैनिक-सेवा में अब तक देखी-सुनी नही गई।

यह सचिवालय अपना काम कैसे करे? उसकी आन्तरिक गठन का मामला बिल्कुल प्राविधिक समस्या है—उसका मै यहाँ विवेचन नही करूँगा। मै तो यह विचारने का प्रयत्न करूँगा कि उसके काम में क्या तरीके विवक्षित है और उनका महत्त्व क्या है? उसके कृत्यो में एक स्पष्ट तथ्य है जाँच का काम। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के हर पहलू में, सचिवालय जानकारी इकट्ठा करता रहता है—बाद में इसी को आधार बना कर सघ को फैसले देने होते है। यह कैसे हो? पहले तो ऐसी समस्याएँ ही होगी जिनका खुद उसे ही सीधा जवाब देना पडे। अन्य समस्याएँ ऐसी होगी जिनमें सीधे अन्वेषण की उतनी नही जितनी वतमान जानकारी के समन्वय की जरूरत होगी। ऐसी समस्याएँ भी सामने आयेंगी जिन में बाहर के विशेषज्ञो द्वारा जाँच की जाती हो और इस विश्लेषण के

१. अनुच्छेद १८, २ अनुच्छेद २६, ३ अनुच्छेद २, ४. अनुच्छेद ५।
५ इस समय (१९२४) इसमें कोई तीन सौ लोग काम करते है।

लिए तदर्थ आधार पर उनका निकाय सगठित किया जाये। ऐसी भी होगी जिन पर इन में से कोई भी बात लागू न हो—सिर्फ विशेषज्ञो के निकाय द्वारा सिफारिशे पेश की जायें और सघ जैसा मुनासिब समझे उनपर अमल किया जाये या न किया जाये।

इस प्रकार के कृत्य की उपलक्षणाओ की रूप-रेखा भर प्रस्तुत कर देने की जरूरत है—बस फिर यह महसूस किया जा सकता है कि उसका प्रबन्ध अधिक से अधिक योग्यता वाले लोगो के हाथो होना चाहिए। जाहिर है कि सघ के सचिवालय में ऐसे लोग नही होने चाहिएँ जिनमें अपने देश की असैनिक सेवा में उच्चतम पदो पर पहुँचने की भी योग्यता न हो। निष्कर्ष यह कि सचिवालय के आधार ऐसे होने चाहिएँ जो प्रत्येक सदस्य-देश के योग्यतम व्यक्तियो को सघ की ओर आकर्षित करें। उसके वेतन, कार्यविधि की सुरक्षा, काम की परिस्थितियाँ—ऐसी होनी चाहिए जो सघ के किसी भी राष्ट्र की श्रेष्ठतम असैनिक-सेवा की तुलना में किसी तरह हीन न हो। यह सच है कि उसे अपने कर्मचारियो में हर सदस्य राष्ट्र के नागरिको को स्थान देना होगा। लेकिन सबसे जरूरी बात यह है कि वह क्षमता को राष्ट्रीयता से अधिक महत्त्वपूर्ण माने। स्पष्ट है कि इस सिलसिले में सघ की बहुत-कुछ सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि दुनिया भर में अन्वेषण-सस्थाओ और सम्बद्ध क्षेत्रो के विशेषज्ञ व्यक्तियो से उसका सम्बन्ध कैसा है। कुछ अशो मे तो यह सम्बन्ध स्थायी सलाहकार आयोगो के —जिनकी चर्चा मै इसी अध्याय में पहले कर चुका हूँ—माध्यम से स्थापित हो सकता है।—कुछ हद तक यह काम इस तरह सम्पन्न हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की तरह वह दुनिया भर में अपने सवाददाता रखे जो सचिवालय को उन घटनाओ से अवगत रखें जिनका उसके निकट महत्त्व हो, और, अशत, ब्रुसेल्स-वित्त-सम्मेलन की तरह विशेष सम्मेलन करके भी यह काम साधा जा सकता है—ऐसी सरणियाँ बनाई जा सकती है कि विशेष ज्ञान उसकी ओर उन्मुख हो।

मै स्वय यह नही मानता कि ये तरीके अपने आप में पर्याप्त साबित होंगे। अगर सघ को कारगर होना है तो उसे हर देश में एक प्रेक्षक रखना चाहिए जिसे वे ही शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त हो जो उस देश में एक राजदूत को मिलते हो। वह ज्ञान का केन्द्र हो और एक ओर राष्ट्रीय जीवन और दूसरी ओर जनीवा के बीच की कडी बन जाये। वह सघ की ओर से मौके पर जाँच की व्यवस्था कर सके। मिसाल के लिए वह साधिकार और साग्रह यह कह सके कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के अमुक समय का पालन नही हो रहा; जिस देश में वह प्रत्यायित किया गया हो उसके और सघ के बीच वह व्यवहार का माध्यम बन सके—कहने का तात्पर्य यह कि वह सदस्य देशो में सघ के साक्षात् अस्तित्त्व का प्रतीक बन जाये। ऐसे प्रेक्षको की औपचारिक महत्ता भी हमें कम करने की जरूरत नही। अपने ओर पास ऐसे स्त्री-पुरुषो का जमाव कर लेना जिनकी अन्तर्राष्ट्रीयता में दिलचस्पी हो, बडी भारी सेवा होगी। पर एक बात है—ये प्रेक्षक के उसी देश के नागरिक कभी न हो, जहाँ उन्हें भेजा जाये। सामान्य राजदूत की तरह ऐसे काम में उन्हें जनीवा से अनुमोदन मिलेगा और जब वे लौटकर वहाँ जायेंगे तो उसके काम में स्वत ज्ञान की गरिमा और एक तरह की ताजगी का समावेश होगा—इसका बडा महत्त्व होगा। वे सघ को पूर्वाग्रह-पुष्ट जानकारी के बूते पर क़दम उठाने से रोकेगे और ग़लत सूत्रो से सहायता न लेने देंगे। उनकी

गुप्त रिपोर्टें सचिवालय को सहायता देंगी कि उसकी जाँच के परिणामों से सघ को अधिक से अधिक फायदा पहुँचे।

लेकिन सचिवालय को सिर्फ जाँच ही नही करनी होती। जैसा मै पहले कह चुका हूँ उसके जिम्मे बातचीत का कार्य भी है। इस काम का कुछ अश तो साविधिक होता है—जब किसी झगडे के अवसर पर महासचिव परिषद् की बैठक बुलाता है और कुछ हिस्सा सघ के फैसलो के पालन के लिए किया जाने वाला साधारण काम होता है। दोनो ही प्रकार के कामो में जिस तरह के प्रेक्षको की मै चर्चा कर चुका हूँ, वे काफी महत्त्वपूर्ण काम कर सकते है। कुछ और भी बाते उभरती है जिन पर विचार किया जाना चाहिए। पहली तो यह बात साफ है कि सघ के प्रतिज्ञा-पत्र की परिधि में सारी आपातिक अवस्थाएँ नही आ सकती। मिसाल के लिए उसमें यह कल्पना तो कर ली गई है कि एक सदस्य गैर-सदस्य के विरुद्ध अपील कर सकता है परन्तु गैर-सदस्य द्वारा सघ के सदस्य के विरुद्ध अपील के बारे में वह मौन है। लेकिन फिर भी ऐसा कभी नही होना चाहिए कि प्राविधिक आधार पर कोई कठिनाई सघ की नजर से बच जाये। अत इन आपातिक मामलो में किसी सदस्य के आवेदन पर परिषद् की बैठक बुलाने के अतिरिक्त यह महासचिव का काम होना चाहिए कि जब कोई ऐसी अपील आवे—जिसमें चाहे कानूनी दृष्टि से भले ही जान न हो परन्तु अपने रूप के कारण जिस की उपेक्षा करना अविवेक प्रतीत हो—तो परिषद् के अध्यक्ष की स्वीकृति से उसकी बैठक बुला ले। मै समझता हूँ इन देशो के सम्मेलन में कोई बडी जोखिम नही हो सकती। बैठक होने पर भी परिषद् को यह फैसला करने में कोई अडचन नही हो सकती कि कोई कार्यवाही नही की जानी चाहिए और अगर महासचिव स्वय परिषद् की बैठक न बुलाने का फैसला कर लेता है तो सभा को अपनी अगली बैठक में बहस का शायद एक आधार मिल जाये। असल में बात यह है कि धीरे-धीरे कुछ ऐसी मिसालें जमा हो जायेंगी जो महासचिव को अपने फैसले में मदद दें और स्वतत्र हाथो में इतनी आरक्षित शक्ति का होना सघ को स्वय अपने आप से बचायेगा क्योकि यह खतरा तो हमेशा ही रहता है कि परिषद किसी झगडे से बिल्कुल हाथ ही न लगाये—इसलिए नही कि वह उसकी सत्ता की परिधि के बाहर है बल्कि इस लिए कि हर सदस्य दूसरे की भावनाओ को चोट पहुँचाना नही चाहता। हमें इस तरह के शिष्टाचार से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण बात पैदा होती है। यह ठीक है कि सघ की सत्ता इस बात पर निर्भर होगी कि वह सदस्य देशो के विदेश-कार्यालयो के साथ किस तरह के सम्बन्ध स्थापित कर पाता है, साथ ही उसे न सिर्फ उनका बाहरी प्रत्यय जीतना पडेगा बल्कि उन्हे इस भाँति प्रेरित भी करना पडेगा कि वे अपनी समस्याओ को इस दृष्टिकोण से देखना सीखें कि विश्व-सम्बन्धो पर उनका क्या असर पडता है। इस प्रयत्न में कितनी कठिनाई होगी—इस पर जोर देने की जरूरत मै महसूस नही करता। मै समझता हूँ इसमें एक बात जरूरी तौर से आ जाती है सघ के सचिवालय को एक ऐसी जगह बनाया जाये जहा सदस्य देशो के अधिकारियो को—उनके सामान्य काम का हिस्सा मान कर—अस्थायी सेवा के लिए भेजा जा सके। अगर हम इस बारे में आश्वस्त हो लें कि कोई व्यक्ति विदेश

कार्यालय का स्थायी अध्यक्ष तब तक नही बनाया जायेगा जबतक दो वर्ष वह सघ की नौकरी न कर ले तो हम इसके लिए भी निश्चिन्त हो सकते है कि वह राष्ट्रीय नीति की मान्यताओ को अधिक व्यापक और रचनात्मक नजर से देखेगा। हम उस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से बहुत-कुछ सीख सकते है जो निरन्तर जनीवा में रहने से अनायास ही पल्लवित हो जाता है। वह सघ के सचालन में सहायता करके उसपर विश्वास करना सीखेगा, वह उसे अपने व्यवहार और बातचीत का साधन मात्र मानना छोड देगा। सतत सहयोगिता की घनिष्ठता के बीच वह ऐसे लोगो को जाने-समझेगा जो उन मान्यताओ को सही नही मानते जिन्हें लन्दन या पेरिस या टोकियो में अतर्क्य समझा जाता है। वह राष्ट्रीय नीति को इस दृष्टि से देखना सीखेगा कि इसका सघ के समग्र हित पर क्या प्रभाव पडता है—यह नही कि केवल अपने देश के हितो को देख लिया जाये। यह सघ-सेवा विश्व-बन्धुत्व की भावना जगाने के लिए एक तरह की व्यापक शिक्षा होगी—मानव जाति की आज की आवश्यकताओ ने इसे अनिवार्य कर दिया है। जब तक जनीवा की तरह ही सदस्य देशो की नागर-सेवाओ में अन्तर्राष्ट्रीय भावना बद्धमूल न हो जाये तब तक सघ का ऐसा विकास करना कठिन है कि वह राजनय की चेतना को अपनी प्रकृति में निहित माने, बाहर की कोई वस्तु नही।

एक समस्या को लेकर यहाँ दो शब्द कह देना अभीष्ट है। सघ के सचिवालय में विभिन्न देशो के लोग होते है—कुछ लोग एसे है जो कहते है कि मान लीजिये एक अग्रेज या फ्रासीसी जो पूर्ण युवा-वय प्राप्त कर लेन पर जनीवा आता है अपने आप को राष्ट्रीय पक्ष-पातिता से कैसे मुक्त कर सकता है? अगर इसका मतलब यह है कि सघ का जो अधिकारी अग्रज है वह सघ के सवालो को एक अग्रेज की दृष्टि से देखेगा तो, मै समझता हूँ, यह बात कतई गलत है। क्योकि जहाँ सघ के विचाराधीन कोई मसला हो—खास तौर से अगर उसका स्वरूप आलोचनात्मक हो—तो कोई ऐसा सीधा-सरल "अग्रेजी दृष्टिकोण" नही हो सकता जिसे पहले से ही निर्धारित कर दिया जाये। उदाहरणार्थ, कोई भी आदमी यह नही कह कसता कि ब्लैकबर्न के लार्ड मारले ने चूँकि बोअर-युद्ध का विरोध किया था अत, उनका दृष्टिकोण अग्रेजी दृष्टिकोण नही था, मै समझता हू आज कोई यह भी युक्ति नही देगा कि अमरीका के सघ में शामिल होने की हिमायत करना गैर-अमरीकीपन की निशानी है। एक अग्रेज नागर-सेवक दो विरोधी पक्षो के बीच —जिन की सेवा करना उसका धर्म है—जितना निष्पक्ष हो सकता है, उतना ही निष्पक्ष होने में सघ के किसी अधिकारी को आपूर्व कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। अग्रेज नागर-सेवक कोई निर्लिप्त, विरागी विशेषज्ञ नही होता जिससे जो-कुछ कहा जाये वही कर दे। प्राय ऐसा होता है कि जिस मत्री के अधीन वह कार्य कर रहा है उससे अत्यन्त असमजस उसके राजनीतिक विचार होते है। लेकिन परम्परा की अभिभावी शक्ति के—जिस का वह अग है—वश हो कर कर वह अपने विचारो को एक ओर कर देता है। उसे लक्षित ध्येय बता दिया जाता है और अडिग निष्ठा से वह उस ध्येय की ओर ले जाने वाले सीधे प्रशस्त मार्ग को ढूढता है। हाँ, यह बात सच है कि ऐसी निष्ठा की परम्परा कई देशो में इतनी सशक्त जितनी ब्रिटेन में है, हो सकता है कि दलीय भावना की अपेक्षा राष्ट्रीय भावना

प्रखरतर राग हो। पर यह सब बाते याद रखने पर भी मैं समझता हूँ इस बात की सम्भावना खत्म नही हो जाती कि सघ का एक अधिकारी अच्छा फ्रासीसी भी रह सकता है और साथ ही उसकी समस्याओ को ऐसे दृष्टिकोण से देखना भी सीख सकता है कि फ्रासीसी हितो को अनुचित महत्त्व न दिया जाये। एक बात और भी है—उसके विचारो पर दूसरी परम्पराओ से बनी हुई रायो का अनजाने ही दबाव पडता रहता है और विवेकपूर्ण परिकल्पना करें तो यह बात माननी ही होगी कि उसके कारण पक्षपातिता-वृत्त के खुरदरे किनारे स्वत. ही घिसते और चिकनाते रहेंगे। सघ का प्रथम महासचिव एक अग्रेज रहा है लेकिन उसने जो कुछ किया है उसकी जाँच-पडताल करें—खास तौर से अगर सभा के सामने प्रस्तुत की गई उसकी वार्षिक रिपोर्टें देखें—तो यह पता नही चलता कि अगर महासचिव कोई फ्रासीसी या स्वीडन-वासी होता तो उसका इतिहास कुछ बदल जाता या कि उसके फैसले कुछ और ही होते।

सचिवालय के बारे में एक आखिरी बात और कह दी जाये। उसके कामो में सभा की बैठको की कार्य-सूची तैयार करना भी शामिल है। कार्य-सूची के वर्गों को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। कुछ तो ऐसे मामले होते हैं जिन्हें सभा ने पहले की किसी बैठक में तय कर लिया हो, कुछ ऐसे होते हैं जो परिषद् की ओर से शामिल किये गये हो और कुछ मामले ऐसे होते हैं जो किसी सदस्य-राज्य के कहने से शामिल किये गये हो। सचिवालय सभा के कार्य से सम्बद्ध सभी कागज-पत्र सदस्यो के पास भेजता है। कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सचिवालय की पहलकदमी का बडा भारी महत्त्व हो सकता है। सभा की कार्य-सूची के बारे में दो तरह की ऐसी पहलकदमी हो सकती है जिस को लेकर सचिवालय का काम निर्णयात्मक हो जाये। (१) वह प्रतिनिधियो को यह इगित कर सकता है कि अमुक विषय सदस्य-राज्यों द्वारा विचारे जाने योग्य है—साथ ही वे आधार भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिन पर उनका विचार होना चाहिए। ऐसा करने से या तो सभा में उस विषय पर विचार-विमर्श हो उठेगा या फिर अलग-अलग राष्ट्रो में उसका इतना प्रचार हो जायेगा कि कभी न कभी उसको लेकर बहस हो। ऐसे सुझावो का एक महत्त्व और होगा—हो सकता है वह समय न आया हो जब कि उनके बारे में सघ का फैसला तुरन्त होना ही चाहिए परन्तु उनके महत्त्व की ओर इगित कर देने से कम से कम यह तो नही होगा कि काम के दबाव में उनकी ओर किसी का ध्यान ही न जाये। (२) प्रतिनिधियों को सम्बद्ध कागज-पत्र भेजने के साथ-साथ सचिवालय यह भी पूछ सकता है कि क्या इन विषयो पर कुछ और जानकारी की आवश्यकता है। विस्कौंसिन का वैधानिक निर्देश ब्यूरो जब अपनी प्रतिष्ठा के शिखर पर था तब वह जो काम कर सका वही काम सचिवालय को सम्पन्न करना चाहिए[१]। सभा के काम के लिए और कोई बात इतनी जरूरी नही जितनी इस बात की निश्चिन्तता कि उसके सदस्यो के पास ऐसी सभी जानकारी मौजूद है जो उचित फैसले करने के लिए आवश्यक हो और इस बात का भी महत्त्व है कि

---

१. पी० एम० रीन्श में देखिए श्री मैक्कार्थी का लेख—'रीडिंग्स आन अमेरिकन स्टेट गवर्नमैण्ट'—पृष्ठ ६३-७३।

सभा के लिए न केवल सरकारी तथ्य उपलब्ध हो वरन् सरकारी राय के विरोधी विचारों की भी अभिव्यक्ति हो। यह इस सम्भावना की ओर इंगित है कि सभा के भीतर ही आधुनिक राज्य की संसद की भाँति आवेदन-पत्र लेने का कोई उपाय किया जाये। सभा की कार्य-सूची जब सदस्यों को भेजी जाये तभी इस प्रकार के आवेदन-पत्रों की प्राप्ति भी सूचित कर दी जाये—उसके बाद जिन राज्यों की उनमें से किसी एक या अधिक में दिलचस्पी हो, वे या तो सचिवालय से उनके बारे में जानकारी हासिल कर सकते हैं या, अगर उचित समझें, तो स्वयं सभा में ही उनसे सम्बद्ध सवाल उठा सकते हैं। इस तरह, मैं समझता हूँ, एक ऐसी प्रक्रिया की कमियों की बहुत-कुछ पूर्ति हो जायेगी जिसके अधीन किसी राज्य में अल्पसंख्यकों द्वारा उठाई गई आवाज़ विश्व-मत से सम्बद्ध संस्था में बिल्कुल अनसुनी ही रह जाती है। इस उपाय से अल्पसंख्यक वर्ग अपनी राय संघ के सदस्यों तक कम से कम पहुँचा तो सकेंगे और सरकारों की यह आग्रह करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध भी कुछ सुरक्षण मिल जायेगा कि उनका जो विचार है उसे उन के द्वारा शासित जनों का अनन्य समर्थन प्राप्त है।

४ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—जिस राष्ट्र-संघ में कोई स्थायी न्यायिक अवयव न हो वह यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी रचना पूर्ण है। सर फ्रैडरिक पालक[1] की उक्ति है "संघ को राष्ट्रों के क़ानून का फिर से निर्माण करना है और उसे विस्तार देना है और इसके लिए कोई नियामक या वैधानिक सत्ता काफ़ी नहीं। रचनात्मक व्याख्या द्वारा औपचारिक सीमा-निर्धारण और परिपालन को जीवित रखना चाहिए—लक्ष्य यह हो कि सिद्धान्त की एक अविच्छिन्न परम्परा बन जाये, एक 'विधि-विज्ञान' विकसित हो जाये—इस शब्द के फ्रांसीसी अर्थ में। विभिन्न और स्वतन्त्र सत्ताओं के—चाहे वे कितनी ही मान्य क्यों न हों—बिखरे हुए फैसलों से कभी यह सिद्धान्त नहीं बन सकता।" लेकिन बस यही एक कारण नहीं जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अनिवार्य है। जहाँ कोई समस्या क़ानून से सम्बन्धित हो, वहाँ यह ज़रूरी है कि निर्णय देने वाली संस्था सदस्य-राज्यों की सरकारों से स्वतन्त्र और निरपेक्ष हो। जिन कारणों से किसी शहर-विशेष के वादों में अदालतों का स्वतन्त्र होना ज़रूरी होता है, ठीक उन्हीं कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय वादों में अदालतों की स्वतन्त्रता और भी अधिक आवश्यक होती है। राजनीतिज्ञों के किसी निकाय या सरकार द्वारा तदर्थ रूप से नामज़द किये हुए जजों के फैसले में न तो वैसी निष्पक्षता हो सकती है, न स्वतन्त्रता जैसी क्षणिक परिवर्तन की स्थिति से मुक्त अदालत के फैसले में होगी। जैसा कि सर फ्रैडरिक पालक ने ठीक ही कहा है ज़रूरत एक इस तरह की संस्था की है जो सहमति से सत्ता का उपयोग करे, ब्रिटिश साम्राज्य में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति की तरह जिसके सामने साम्राज्य के सदस्य देशों को हाज़िर होने के लिए कहा जा सकता है लेकिन फिर भी कार्यांग के प्रयोजन या इच्छा के विधान से जो स्वतन्त्र है।

---

१ 'दी लीग ऑफ नेशन्स' (दूसरा संस्करण) पृ० २५२। यहाँ मैं इस अनमोल कृति के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ। न्यायालय के विषय में सर्वश्रेष्ठ प्राविधिक वर्णन श्री ए० फ़ाशिरी की कृति 'दी परमैनेंट कोर्ट' में है। (१९२६)

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १४ के अधीन बनाया गया था। वह किसी भी ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय झगडे की सुनवाई और फैसला कर सकता है जिसे सम्बद्ध पक्ष उसके सामने पेश करने के लिए राजी हो और सभा या परिषद् द्वारा उसके पास जो भी सवाल भेजा जाये उस पर वह अपनी सलाह दे सकता है। इस न्यायालय के जजो की नियुक्ति का तरीका कुछ जटिल सा है। पहले तो राष्ट्रीय दलो में बँटे हुए हेग-न्यायाधिकरण के न्यायिक सदस्यो द्वारा सीमित नामजदगी की जाती है—या फिर और राज्यो के, जिनका वहाँ प्रतिनिधित्व न हो, इसी प्रकार के दलो द्वारा। नामजदगी के लिए एक खास स्तर तक कानून की योग्यता आवश्यक होती है। इस तरह जो सूची तैयार होती है उसमें से सभा और परिषद् के समवर्ती वोटो से पन्द्रह जज चुन लिये जाते है जिनमें से चार डिप्टी-जज होते है—चुनाव के लिए आवश्यक है कि दोनो सदनो में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो[1]। जजो का चुनाव नौ साल के लिए होता है —किसी देश का एक से अधिक नागरिक न्यायालय का जज नही हो सकता। लेकिन मुकदमा लडने वाले देश को अपने मामले की सुनवाई के दौरान में न्यायालय में एक जगह मिल सकती है। अदालत का इजलास हेग में होता है और वर्ष भर मे उसका एक सत्र होना आवश्यक है। न्यायकरण की अवि-च्छिन्नता बनाये रखने के लिए यह भी व्यवस्था है कि उसका अध्यक्ष और रजिस्ट्रार अपने अमले के साथ हेग में ही रहे जैसे लन्दन में छुट्टियो के समय हाईकोर्ट एक जज की उप-स्थिति की व्यवस्था करता है।

न्यायालय की क्षमता का प्रश्न सन्तोषजनक ढग से तय नही किया गया है। प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १४ के अनुसार दोनो पक्षो द्वारा उसके सामने रखे गये झगडो पर ही वह विचार कर सकता है हालांकि यह स्पष्ट है कि (१) झगडो में उठने वाले कानूनी मसलो को परिषद् सलाह के लिए उसके पास भेजेगी और (२) सघ के सदस्य अगर चाहे तो अदालत के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य मान सकते है—इस तरह की एक धारा पर हस्ताक्षर करके।[2] तो, आम तौर से न्यायालय के सामने पाँच तरह के सवाल आ सकते है—(१) वह सधियो की व्याख्या करेगा, (२) वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सवालो को तय करेगा, (३) जहाँ कही अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लघन हुआ हो वह, उपर्युक्त सीमितताओ के अधीन रहते हुए, यह तय करेगा कि कितना क्षतिपूरण दिया जाये, (४) वह यह देखेगा कि कोई ऐसी स्थिति तो विद्यमान नहीं जिसके होने से उपर्युक्त दायित्व भग होता हो, (५) सभा या परिषद् उसके पास जो सवाल भेजेगी उन पर उन्हें परामर्श देगा परन्तु जब तक सम्बद्ध सस्था उसका समर्थन न करे तब तक वह सदस्यो के लिए बाध्यकारी न होगा। (५) के अधीन एक ठेठ इसी तरह का मामला १९२२ में न्यायालय के सामने रखा गया

---

१ अगर तीसरी बार पर्चियाँ डालने पर भी जगहें खाली रह जायें तो निर्वाचन की अत्यन्त विशद विस्तृत प्रक्रिया काम में लानी पडती है—अभी तक इसकी जरूरत नहीं पडी। ब्यौरे के लिए दे० 'हडसन—पूर्वोद्धृत कृति।

२. १९२९ की सभा में मुख्य-राज्यों ने इस वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर किये। कुछ राज्यों ने उसकी कुछ छोटी-छोटी बातों को अगीकार नहीं किया।

था कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के तीसरे सम्मेलन में आने वाले हालैण्ड के श्रमिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति सघ के श्रम सम्बन्धी प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ३ के उपबन्धो के अनुकूल हुई है या नही। उक्त अनुच्छेद में कहा गया है कि गैर-सरकारी प्रतिनिधि सर्वाधिक प्रतिनिधि औद्योगिक सगठनो में से चुने जायें।[1] अन्त मे यह बात भी ध्यान देने की है कि न्यायालय जिस क़ानून को लागू करेगा वह चार सूत्रो से विकसित होगा। (१) प्रतिद्वन्द्वी राज्यो द्वारा माने गये अन्तर्राष्ट्रीय समयो में स्वीकृत नियम, (२) अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज जो इतना आम हो कि कानून माना जा सके, (३) सभ्य ससार द्वारा स्वीकृत कानून के आम सिद्धान्त और, (४) विधिक नियम बनाने के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप में अदालती फैसले और जाने माने सार्वजनिक विधिज्ञो के सिद्धान्त।

न्यायालय के सम्बन्ध में सब से बडी टिप्पणी, जो कोई भी प्रेक्षक करना चाहेगा, यह हो सकती है कि सभा और परिषद् को दी गई शक्तियो के कारण उसकी क्षमता बेहद सीमित कर दी गई है। यदि उसे सच्चे तौर पर और निरन्तर, आधिकारिक बने रहना है तो उसे इस बारे में निश्चिन्त होना चाहिए कि उसकी सलाह को बाध्यकारी माना जायेगा वरना अनिवार्यत उसके सदस्य ऐसा हल ढूंढने की कोशिश करेंगे जो स्वीकार्य हो—सोचेंगे कहीं ऐसा न हो कि उसे अस्वीकार कर दिया जाये। दूसरे, उसे ऐसे सब सवाल तय करने का अनिवार्य अधिकार होना चाहिए जिसमें यह झगडा खडा हो कि अमुक मामला घरेलू है अथवा नही। परिषद् पर इस तरह के मामले छोड देने का मतलब यह होगा कि फैसला करने वाले देश तथ्यो की ओर से तो बिल्कुल बेपरवाह हो जायेंगे और इस बात की चिन्ता करेंगे कि आज जो मिसाल कायम हो रही है उसका उन की अपनी स्थिति पर क्या असर पडेगा। तीसरे, यह झगडे तय करने का सामान्य तरीका होना चाहिए और अब स्वीकृति की जो वैकल्पिक धारा है उसपर हस्ताक्षर करना सघ के सभी सदस्यो के लिए स्पष्टत अनिवार्य होना चाहिए वरना निश्चय ही इस तरह की प्रवृत्ति हो जायेगी कि छोटे देशो के लिए तो फैसले न्यायालय ही से हों परन्तु बडे-बडे देश अपने मामले परिषद् को सौंपे। नि सकोच यह कहा जा सकता है कि इससे न्यायालय की प्रतिष्ठा बहुत घट जायेगी। जब इस बात का ज्ञान हो कि ब्राजील जिस हद तक न्यायालय के सामने जवाबदेह है, उसी हद तक ब्रिटेन भी है तभी उसका क्रिया-कलाप मानव-स्वभाव के स्वीकृत अग का रूप ले सकता है।

यह बात भी गौर करने की है कि वर्साई सन्धि की श्रम-सम्बन्धी धाराओ की व्याख्या को छोड कर और सर्वत्र न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्राथमिक ही है। जाहिर है आम तौर से ऐसा ही होना भी चाहिए। परन्तु मैं समझता हूँ कई दिशाएँ ऐसी है जिनमें न्यायालय नागरिक न्यायकरण के लिए बडी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान कर सकता है। जैसा सर पालक

---

१ तु० बहरेन्स—पूर्वोद्धृत कृति; पृ० १२४-५। वर्साई सन्धि की धारा ४१४-२० और ४२३ के अधीन श्रम-संगठन-विषयक मामलों की परिपूर्ति से सम्बन्ध रखने वाली शिकायतों की अपील भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ही होनी चाहिये।

न सुझाव दिया है[1] प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ३ के अधीन परिषद् उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समाहरण और प्राप्त अनुभव के प्रकाश में उसके सार में समय-समय पर आवश्यक फेर-बदल करने का अधिकार देगी। कोई भी नही कह सकता कि यह कोई आसान काम है या ऐसा काम है जिसे झट से कैर लिया जाय लेकिन उसकी सफल सिद्धि न केवल प्रभूत अन्तर्राष्ट्रीय सेवा होगी बल्कि उससे न्यायालय की साख भी बढेगी और अब जो कुछ तत्त्वत और व्यवहारत बहुत वैविध्यपूर्ण है उसमें एक वाछनीय एकरूपता भी आ जायगी। फिर बहुत-सारे सवाल ऐसे है जहाँ उसे अपीलीय क्षेत्राधिकार दे देने से कुछ न कुछ हित होकर ही रहेगा। उदाहरण के लिए यह कानून है कि अगर कोई विदेशी अधिपति जायदाद को अपने राज्य की सरकारी जायदाद बताये तो उसके बयान की जाँच नही की जा सकती, क्षेत्राधिकार होने के परिणामो का भी उस पर कोई प्रभाव नही पडता।[2] इस का कोई सबल कारण प्रतीत नही होता कि अगर इस बयान को चुनौती दी जाये तो स्थायी न्यायालय साधारण तरीके से क्यो न तथ्यो का निर्धारण करे—इसकी और भी जरूरत इसलिए है कि, जैसा मै पहले बता चुका हूँ, मौजूदा सिद्धान्त सार्वभौमता के श्रेष्ठ पुरातन सिद्धान्त का ही दु खद परिणाम है, इसी तरह अगर किसी सन्धि का उल्लघन करने के आरोप में कोई आवासी अदेशी पकडा जाये, तो राष्ट्र के फैसले की अपील स्थायी न्यायालय में की जानी चाहिए।[3] इसी प्रकार, अगर देशीय-कानून के अधीन, उसके क्षेत्राधिकार के बाहर अदेशीय सम्पत्ति तबाह की जाये तो न्याय की खातिर राज्य के बडे से बडे न्यायाधिकरण को भी अपील करनी चाहिए।[4] क्योकि जो सम्पत्ति नष्ट हुई वह मुद्दई के राज्य के कानूनो के अधीन आसानी से विधिवत् प्रयोग में लाई जा सकती थी। इस तरह के मामलो से यह बात निकलती है कि जहाँ अपने विविध रूपो में से किसी एक रूप में राज्य के काम को न्यायकरण में अडचन बता कर पेश किया जाये, तो एसा प्रबन्ध हो कि मुद्दई म्युनिसिपल अदालत से स्थायी न्यायालय में सम्बद्ध राज्य का हवाला दे सके। सिर्फ इसी तरह से व्यक्ति को सार्वभौम शक्तियो के अनुत्तरदायित्व से रक्षा की जा सकती है।

म दरअसल यहाँ इस बात पर जोर दे रहा हूँ कि किसी स्वीकृत न्यायाधिकरण द्वारा निश्चित व्याख्या कराने की शक्ति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम सब पर एक-सा लागू कर दिये जाये। यही रास्ता है कि हम राष्ट्रो के कानून को प्रकृति का प्रच्छन्न कानून मानने की हॉब्स द्वारा प्रवर्तित परम्परा से बच सके।[5] जाहिर है कि हमें अपील के अवसर कुछ कठोरता से सीमित करने पडेंगे, यह भी जाहिर है कि हमें यह व्यवस्था करनी पडेगी

१. पूर्वोद्धृत कृति पृष्ठ १७३।

२ दी पार्लियामेंट बेल्ज (१८८०) D P १९७।

३ जैसे चाइनीज एक्सक्लूजन' केस में, १३० U S ५८१।

४ जुरोन बनाम डनमान (१८४७८) और तु० कार बनाम फ्रासिसटाइम्स एण्ड क० (१९०२)।

५. लेवियाथन—भाग २—अध्याय ३०।

कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय सारे देशीय न्यायालयो के लिए बाध्यकारी हो और उनकी सत्ता से प्रवर्तित हो। इस युक्ति का सबल कारण है। इस सुप्रसिद्ध उक्ति का कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानून ही नही होता, ऐतिहासिक दृष्टि से बडा गम्भीर प्रभाव पडा है—उसकी गरिमा पर भी और उसके प्रभाव-क्षेत्र पर भी। चूँकि उसे स्थायी घोषणा का आश्रय नही मिला इसलिए उसका व्यावहारिक प्रभाव कम हो गया है—उसमें देशीय-कानून की निश्चितता और अनुज्ञप्ति का अभाव रहा। मै समझता हूँ पेटर के खोद-लेखों ने रोमी विधि-विज्ञान के स्वर्ण-युग में उसके लिए जो कुछ किया वही कार्य आज अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सामान्य कानून के लिए कर सकता है। लेकिन इस के लिए यह मानना जरूरी होगा कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय राज्य का सर्वोच्च न्यायालय कोई अन्तिम निर्णय नही दे सकता—अगर वे निर्णय एकाधिक विधि-सूत्रो से पाये हुए सिद्धान्तो के विरोध में पडते हैं। यह मान लेन का कोई कारण नही कि इस तरह जो एकरूपता आयेगी वह वर्तमान शासन की नम्यता को नष्ट कर देगी क्योकि अब भी अधिकाश अन्तिम न्याय-अधिष्ठान पहले की मिसालो से बड़ी कठिनाई से ही हटते हैं। और प्रभुत्व-सम्पन्नता की युक्ति पर इस प्रक्रिया में रोडे डाल कर न्याय का निषेध रोक पाना बडे महत्त्व की बात है। अगर प्रभुता के अधिष्ठाता—व्यष्टि या समष्टि—दूसरो, व्यष्टि या समष्टि, से भिन्न है तो उनके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि एक विशेष न्यायालय बना दिया जाये। इस प्रकार हम इस धारणा का उच्छेद कर सकेंगे कि सरकार द्वारा या उसके नाम पर किया गया आचरण विशेष शुचिता से मण्डित होता है। अगर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इसी दिशा में कुछ कर पाये तो उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धि का श्रेय मिल सकता है।

एक और सवाल रह जाता है। मै सघ के अधीन एक स्थायी विधि-आयोग की आवश्यकता की चर्चा पहले ही कर चुका हूँ और यह जाहिर है कि ऐसी सस्था बने तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के घनिष्ठतम सम्पर्क में काम करना चाहिए। आयोग के सदस्यो की नियुक्ति के लिए सबसे अच्छी सस्था भी वही हो सकती है। आयोग की उपपत्तियो को संघ तक पहुँचाने का माध्यम भी न्यायालय ही होगा। जहाँ उसकी राय में जाँच करना वाछनीय हो वहाँ वह आयोग को ही अपने उस काम का साधन बना सकता है। असल में न्यायालय को जैसे-जैसे उसके निणय के लिए मामले आते जायें वैसे-वैसे उपपत्तियो का अभिलेखन कर लेने वाली सस्था मात्र नही समझ लेना चाहिए, उसे उतनी ही चिन्ता इस बात की होनी चाहिए कि कानून के सामान्य विकास को वह प्रेरित करे। इस दिशा में उसके पास एक बडा अमोघ उपकरण है। समुचित रूप से की गई कानूनी जाँच भावी प्रगति का एक बहुत बडा साधन हुआ करती है। ऐसी बहुत-सी सधर्मी सस्थाएँ है जिनका सरक्षण अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के आश्रय में लाकर किया जा सकता है। इसकी एक बडी अच्छी मिसाल है अन्तर्राष्ट्रीय कारागार-सम्मेलन। अपराधियो के प्रबन्ध के बारे में एक बडी खेदजनक बात यह है कि उसे सुधारने में जज कोई खास हिस्सा नही लेते। अगर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ऐसा सम्मेलन कराये और उसकी उपपत्तियो और प्रभावो की ओर राष्ट्रीय न्यायागो का ध्यान आकर्षित करे तो शायद उससे हित ही होगा, कम से कम नुकसान तो कोई हो नही सकता। वह ऐसे मामलो पर बहस के लिए जजों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन

करा सकता है जहाँ विचार-विनिमय का बहुत महत्त्व हो—जैसे अदालतो के स्वातत्र्य की रक्षा। सक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को काम करने के लिए बहुत बडा क्षेत्र पडा है—केवल एक न्यायिक अधिकरण के रूप में ही नही वरन् एक ऐसी सस्था के रूप में जिसका काम यह देखना हो कि कानून आवश्यकता का तकाजा पूरा करे। और जितनी जल्दी वह इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा उतनी ही सहायता वह सघ को अपने प्रयोजन की सिद्धि करने में देगा।

५ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय—मैं पहले ही कह चुका हू कि सघ को अगर सफल होना है तो उसे अधिकाधिक आर्थिक कृत्य स्वय सँभाल लेने चाहिएँ। उसके काम के इस पहलू की पूर्ति कुछ तो सचिवालय के आर्थिक अनुभाग द्वारा हो सकती है और कुछ—और यह 'कुछ' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय द्वारा।[1] कार्यालय के दो हिस्से हैं—एक तो सदस्य-देशो के प्रतिनिधियो का महासम्मेलन है और दूसरा जनीवा का स्थायी सगठन। कार्यालय की सदस्यता सघ के सदस्यो तक ही सीमित नही है—यद्यपि सघ के सभी सदस्य उसके भी सदस्य है लेकिन श्रम कार्यालय के उपबन्धो के अधीन रूस और अमरीका जैसे देश सघ के व्यापक दायित्वो में बँधे बिना ही केवल उसी की सदस्यता का दायित्व अपने ऊपर ले सकते है। इन्ही उपबन्धो के अधीन जर्मनी कुछ वर्षों तक श्रम-कार्यालय का तो सदस्य था परन्तु सघ में न था।

अगर १९२२ के सशोधन का मसौदा पुष्टीकृत[2] हो जाये—जैसी की उम्मीद मालूम पडती है—तो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का सचालन बत्तीस लोगो के एक निकाय द्वारा किया जायेगा। इनमें से सोलह सरकारो के प्रतिनिधि होगे, आठ प्रमुख औद्योगिक महत्त्व के देशो द्वारा नामजद किये जायेंगे[3] और आठ बाकी सदस्य देशो के सरकारी प्रतिनिधियो द्वारा—इन आठ में उन देशो के लोग न होगे जिनके सदस्य पहले आठ में नाजमद हो चुके हो। यह भी व्यवस्था है कि सोलह सदस्यो में से छह गैर-यूरोपीय देशो के होगे। बाकी सोलह लोगो में मालिको और मजदूरो का प्रतिनिधित्व करने वाले आठ-आठ लोग क्रमश सम्मेलन में इन दोनो वर्गों के प्रतिनिधियो द्वारा चुने जायेंगे। उनमें से हरेक वर्ग के दो-दो सदस्य गैर-यूरोपीय देशो के होगे। सचालक-मण्डल तीन वर्ष तक पद पर रहेगा, वह अपनी बैठक का समय और कार्यवाही विधि स्वय निश्चित करेगा। और बारह या उससे अधिक सदस्य चाहें तो उसकी खास तौर से बैठक बुलाई जा सकती है। खाली या एवजी की जगहें उसके अपने वोट से भरी जायेंगी—पर शर्त यह है कि सम्मेलन उसके तरीको को मान ले। कार्यालय के हर सदस्य की ओर से एक वार्षिक रिपोर्ट दी जाती है कि

---

१. वर्साई सन्धि के १३वें भाग में उसके सगठन के सिद्धान्तों की चर्चा है, उसके स्थायी आदेश ३ नवम्बर, १९२२ को वाशिंगटन-सम्मेलन में स्वीकृत किये गये। श्री ई बहरेंस के 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय' के परिशिष्ट ५ और ६ के रूप में उनका पुनर्मुद्रण हुआ है।

२. तु० बहरेंस—पूर्वोद्धृत कृति—१८४।

३. 'प्रमुख औद्योगिक महत्व' के देश कौन से है इसका फैसला परिषद् करेगी।

सदस्य के रूप मे अपना दायित्व पूरा करने के लिए उसने क्या-क्या किया है और उसे यह तय करने का अधिकार है कि रिपोर्ट किस रूप में पेश की जाये। औद्योगिक सस्थाओ से उसके पास शिकायते आती है कि सदस्य अपने दायित्व को पूरा नही कर रहे और वह इन शिकायतों को सम्बद्ध राज्यो के पास भेज देता है। अगर उसका जवाब कार्यालय को सन्तोषजनक न लगे तो उसे शिकायत और रिपोर्ट दोनो छाप देने का अधिकार है। इसी तरह की शिकायते उसके पास एक सदस्य की ओर से दूसरे सदस्य के बारे मे भी आ सकती है और अगर वह उचित समझे तो शिकायत की जाँच के लिए एक आयोग बैठा सकता है और हर सदस्य को आयोग के लिए हर तरह की सुविधाएँ मुहय्या करनी होंगी। फिर आयोग रिपोर्ट देता है और शिकायत को दूर करने के बारे में अपनी सिफारिशें देता है, अगर वे न मानी जायें तो मामला स्थायी न्यायालय के पास भेज दिया जाता है। उसका काम तब यह होता है कि आयोग की 'उपपत्तियो को माने, उनमें फेर-बदल करे या उन्हें उलट दे' और उसकी सिफारिशे अमल में लाने के उचित आर्थिक तरीके सुझाये। तब कोई भी सदस्य-राज्य इन तरीको को चूक करने वाले राज्य पर लागू कर सकता है। सचालक-मण्डल आम कार्यवाहियों का निदेशन भी करता है, श्रम-कार्यालय की वित्त-स्थिति पर नियंत्रण रखता है—सारा कार्यकारी-प्रबन्ध एक निदेशक के हाथ में रहता है।

कार्यालय के आम प्रबन्ध की और अमले की नियुक्ति की—जिसमें सविधि के अनुसार स्त्रियाँ भी होनी चाहिएँ—जिम्मेदारी निदेशक पर होगी। कार्यालय के काम को स्थूलत तीन बड़े-बड़े वर्गों में बाँटा जा सकता है। (१) वह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन के हर पहलू पर जानकारी हासिल करता और देता है, सम्मेलन के सामन जो सवाल रखे जाने वाले हो उनकी वह खास तौर से जाँच करता है, वह अपन हितो की परिधि में आने वाली समस्याओ के बारे में जाँच करता है और नतीजो को प्रकाशित करता है, (२) वह सम्मेलन की बैठको के लिए कार्य-सूची तैयार करता है, (३) सदस्यो के अपनी जिम्मेदारी पूरी न करने पर वह उनकी शिकायतें अगीकार करता है। काम की सहूलियत के लिए कार्यालय को तीन प्रभागों में बाँट लिया गया है। राजनीतिक प्रभाग सरकारों से पत्र-व्यवहार करता है और सम्मेलनों की सारी तैयारियाँ कर देता है, आसूचना और सम्पर्क प्रभाग जानकारी इकट्ठी करता और उसका वितरण करता है, अनुसन्धान प्रभाग का काम आम वैज्ञानिक अन्वेषण का है। इस पिछले प्रभाग से सम्बन्धित सलाहकार आयोग होते है जिनके दो प्रकार है : (१) परामर्शदाता आयोग—१९२० का अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री आयोग इनका एक उदाहरण है। इनमें सम्बद्ध हितो का बराबर प्रतिनिधित्व रहता है—सचालक-मण्डल द्वारा निर्धारित विचार्य विषयो की परिधि में रहते हुए वे सिफारिशें करते है। (२) प्राविधिक आयोग—जैसे निर्योग्यभूत सैनिको और नाविको की देख-रेख और रोजगार की समस्या से सम्बन्धित आयोग। उसमें कार्यालय के निदेशक[1] द्वारा चुने हुए विशेषज्ञ ही है और उसी के प्रति उत्तरदायी है। कई देशों में

---

१ आयोगों के बारे में देखिए—श्री बहुरेंस का दिलचस्प विवेचन, पूर्वोद्धृत कृति—अध्याय ७।

समन्वय-दफ्तर है और कइयो मे विशेष प्रतिनिधि। ये मौके पर रहकर स्वय घटनाओ की जानकारी हासिल करते है और जनीवा-कार्यालय को उससे अवगत रखते है। दूसरी ओर, कई सदस्यो ने वहाँ अपने सहचारी नियुक्त कर दिये है ताकि केन्द्र से परिधि का सम्पर्क भी जुडा रहे। यह भी कह दिया जाय कि कमचारियो में बिल्कुल भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता के लोग है[1] बडे-बडे पदो के अलावा जहाँ भी सम्भव होता है भरती में परीक्षा और निर्वाचन दोनो साधनो से मिला जुला कर काम चलाया जाता है—भाषा की कठिनाई हल करने में इससे बेहद सफलता मिली प्रतीत होती है।

कार्यालय के काम में मूर्धन्य महत्ता सम्मेलन को प्राप्त है। उसका हर बरस कम से कम एक अधिवेशन होता है। हर सदस्य देश चार प्रतिनिधि भेजता है जो वहाँ की सरकार नामजद करती है—दो सरकार के अपने प्रतिनिधि होते है, एक श्रमिकों और एक मालिको का। मालिको और मजदूरो के प्रतिनिधियो के बारे में यह विचार होता है कि वे अपने-अपने देश की सबसे महत्त्वपूर्ण सस्थाओ के प्रतिनिधि होगे[2]। सम्मेलन की कार्य-सूची में आनेवाले हर मसले पर हर प्रतिनिधि अपने दो-दो सलाहकार साथ रख सकता है—हालाँकि सलाहकार वोट नही देंगे। अत विशेषज्ञ किसी भी खास समस्या को तीनो में से किसी भी एक दृष्टिकोण से देख सकता है। सम्मेलन का एक प्रधान होता है और तीन उपप्रधान—जिनकी राष्ट्रीयता भिन्न-भिन्न होनी चाहिए और जो सम्मेलन के तीनो वर्गों में से अलग-अलग एक-एक के हो। प्रधान न तो बहस करेगा, न वोट देगा— वह सम्मेलन के परिचालन का प्रबन्ध करता है और उसके स्थायी आदेश लागू करता है। कोई भी प्रतिनिधि प्रस्ताव पेश कर सकता है बशर्ते कि वह अपने मन्तव्य की सूचना दो दिन पहले दे दे, लेकिन व्यय-सम्बन्धी सुझाव पहले सचालक-मण्डल के पास आन चाहियें—वह जाँच करके आर्थिक उपलक्षणाओ के बारे में अपनी रिपोर्ट सम्मेलन के सामने रखता है। मत प्राय हाथ दिखा कर दिया जाता है और कोई मत-दान तब तक मान्य नही होता जब तक उपस्थित प्रतिनिधियो में से आधो का उसमें समर्थन न हो। उपसहार के तरीके भी विद्यमान है और आपातिक प्रस्ताव पेश करने के भी। सम्मेलन में कार्य-विधि का क्रम चौबीस सदस्यो की एक प्रवर-समिति द्वारा निर्धारित किया जाता है—इनमें से बारह सरकार के प्रतिनिधि होते है और छह-छह क्रमश मालिको और मजदूरों के, किसी देश का एक से अधिक सदस्य नही होना चाहिए। इनका चुनाव अपनी-अपनी श्रेणियो के प्रतिनिधि वर्गों द्वारा किया जाता है। प्रतिनिधियो के प्रत्यय-पत्रो के बारे में एक समिति होती है, एक मसौदा तैयार करने की समिति होती है—जिसके लिए यह जरूरी नही कि उसमें प्रतिनिधि ही हो उसे सम्मेलन के फैसलो के आधार पर सिफारिशो या समय का मजमून तैयार करने का काम सौपा जाता है। और जिन वर्गों में प्रतिनिधियो का विभाजन किया जाता है वे प्रवर-समिति के साथ मिल कर और समितियाँ बनाते है जिनका सम्मेलन के

---

१. १९२३ में उसके सदस्यों मे अट्ठाइस राष्ट्रों के लोग थे।

२ अगर नामजदगी के बारे में कोई आपत्ति की जाये तो समग्र सम्मेलन—स्थायी न्यायालय के फैसले के मुताबिक—पात्रता के बारे में विशेष निर्णय करने में सक्षम है।

कार्य के लिए आवश्यकता हो। हर समिति का एक अध्यक्ष होता है और अगर उसमें कोई अल्पसख्यक हो तो उन्हें एक अलग रिपोर्ट में अपना मतभेद व्यक्त करने का अधिकार होता है। सम्मेलन का सारा प्रशासकीय काम श्रम कार्यालय के कर्मचारी करते है।

सम्मेलन के फैसले दो रूप ग्रहण कर सकते है—वे या तो समय के मसौदे के रूप में हो सकते है या सिफारिशो के और दोनो ही हालतो में स्वीकृति के लिए जरूरी है कि सम्मेलन में वोट देने वालो के दो-तिहाई बहुमत से उन्हें माना जाये। समय का मसौदा इस ढग से तैयार किया जाता है कि उसे हर सदस्य देश के विधान में बिना किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के करीब-करीब यथावत् शामिल किया जा सके। सामान्य अग्रेजी सविधि की तरह सार और अपवादो का सारा ब्यौरा उसमें रहता है। समयो का जब पुष्टीकरण हो जाये तो उन्हें उनकी सम्पूर्णता में ज्यो-का-त्यों माना जाना चाहिए और दस साल तक उन्हें लागू रखना चाहिए। समयो के मसौदे अपने-अपने विधानागो में प्रस्तुत तो सभी सदस्य देशो को करने होगे परन्तु उनकी पुष्टि करना अनिवार्य नही—उनकी सर्वोच्च शक्ति पर इसका कोई प्रभाव नही पडता। समय मे सिफारिशो में अन्तर यह है कि उनमें मुख्य तौर पर आम सिद्धान्तों का वक्तव्य मात्र रहता है और सदस्य देशो से कहा जाता है कि वे जहाँ तक बन पड़े उनपर अमल करे पर उनका पुष्टीकरण सम्पूर्ण भी हो सकता है और आशिक भी और अवधि का कोई ऐसा बधन नही जबकि उनका निरसन न हो सके। उन्हे प्रत्येक देश में एक साल में—हद से हद अठारह महीने में—उपयुक्त पुष्टीकरण-सत्ता के सामने पेश कर दिया जाना चाहिए जैसे समय के मसौदे के बारे में किया जाता है। लेकिन यह बात गौर करने की है ऐसा कोई तरीका नही है जिस के कारण उन्हें विवश होकर सम्मेलन के निर्णय इन सत्ताओ के समक्ष रखने पडें—हफ्ते में ४८ घण्टे काम के बारे में समय का जो मसौदा था वह सघ की परिषद के स्थायी सदस्य-देशों तक ने अभी तक पुष्टीकरण के लिए प्रस्तुत नही किया है[1] और यह सम्मेलन का शायद एक सब से महत्त्वपूर्ण फैसला है।

इसके विग्रह की ऐसी फैली-फैली रूप-रेखा प्रस्तुत कर देना भर न्याय नही प्रतीत होता—वह न सिर्फ राष्ट्र सघ के अग-विधान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। बल्कि अब तक के देखे सब से सफल भी है। उसपर बहस करें तो सवालो के दो सम्बद्ध वर्ग सामने आते है। पहले तो हमें यह देखना पडेगा कि श्रम कार्यालय ने असल में जो कुछ किया है उसका महत्त्व क्या है और दूसरे यह जाँचना है कि उसके सामने जो लक्ष्य है उन्हें देखते हुए उसकी शक्तियो का क्या मूल्य है। उसकी वास्तविक उपलब्धियो को हम दो हिस्सो में बाँट सकते है। सब से पहली तो उसके सम्मेलन द्वारा निर्मित 'विधान' है—इस शब्द का प्रयोग मै समझता हूँ इस सन्दर्भ में उचित ही है, और दूसरी है सूचना और अनुसन्धान की समष्टि जिसे अक्सर पहले-पहल उसी ने मुहय्या किया है। उसके विधान में बडा व्यापक क्षेत्र समा जाता है परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि पहले तीन सम्मेलनो में तो बहुत से समय-मसौदे अगी-

---

१. हालांकि बेल्जियम का दावा है—पता नहीं उसका आधार क्या है—कि उसने औपचारिक पुष्टीकरण के बिना ही उस समय के सार-तत्त्व पर अमल किया है। दे० बहर्रेस की पूर्वोद्धृत कृति में तालिका—परिशिष्ट ७।

कार किये गय थ परन्तु चौथे और पाँचवें मे सिर्फ सिफारिशें ही स्वीकार की गईं । उसने ऐसे-ऐसे विषयो पर विधान बनाये हैं—काम के घण्टे, बच्चो को काम पर लगाना, कृषि-कारो का साहचर्य-अधिकार, उद्योगो में साप्ताहिक छुट्टी, स्त्रियो के लिए रात्रि का काम, समुद्र में काम करने वाले जवानो की डाक्टरी परीक्षा, पहले तीन सम्मेलनो में, सिफारिशो के अतिरिक्त, १७ समय-मसौदे स्वीकार किये गये । इनमें से, एस्थोनिया को यह श्रेय है कि उसके विधान मडल ने इनमें से १५ की पुष्टि कर दी है, ब्रिटेन ने ग्यारह की, जापान ने सात की, इटली ने पाँच और फ्रास ने एक की पुष्टि की हैं । कुछ छोटे देशो—जैसे फिनलैण्ड, हालैण्ड, और स्वीडन—का भी काम इस दिशा में अच्छा रहा है । कुछ सदस्यों ने—जैसे चिल्लि तथा जर्मनी, इटली और हालैण्ड—ने ऐसे प्रस्ताव रखे है जिनमें पुष्टी-करण की बात आ जाती है । असल में तथ्यपरक दृष्टि से देखें तो इन समय-मसौदो का मूल्य क्या है ? मोटे तौर पर, इन से तीन आम प्रयोजन सिद्ध होते है । पहली बात तो यह कि वे इस तथ्य का उच्चार है कि औद्योगिक जीवन का न्यूनतम स्तर और नही घटाया जा सकता—वह स्तर आधुनिक देशो की सामान्य चेतना को ग्राह्य है । दूसरी बात यह कि वे हरेक सम्बन्धित देश में मजदूर-आन्दोलन के उन्नयन के लिए बहुत बडे साधन होते है—वे नीति के द्योतक होते हैं और सामाजिक प्रगति के लिए उसका सच्चा मूल्य होता है, । तीसरे, वे पिछडे हुए देशो पर विधान के स्तर लागू करने के साधन हैं जो ससार भर में निर्धन वर्गों के कल्याण के लिए अनिवार्य है ।

अस्तु, अब जैसी व्यवस्था है समय-मसौदो की क्रियान्विति में कुछ प्रत्यक्ष कमियाँ हैं । पुष्टीकरण के लिए उन्हें पेश किये जाने का काम अनुल्लघनीय होना चाहिए और जिस देश की सरकार ऐसा न करे उसे श्रम कार्यालय के सचालक-मण्डल के सामने सन्तोषजनक सफाई देनी चाहिए । लेकिन जब पुष्टीकरण हो भी जाये तो निरीक्षण का ऐसा तरीका होना चाहिए जो आज के तरीके से अधिक पूर्ण हो । ऐसी व्यवस्था तो मौजूद है ही कि उन देशो के खिलाफ शिकायतें शब्दबद्ध की जा सके जिन्होने पुष्टि करके प्रतिज्ञा-पत्रो पर अमल नही किया लेकिन जाहिर है कि यह व्यवस्था तो आखिरी मिसाल की है और जो उस से बचने के ज्यादा बारीक तरीको को अपनाते है उनके लिए कोई इन्तजाम नही । अगर एक ओर तो सरकार से और दूसरी ओर प्रतिनिधि औद्योगिक सस्थाओ से उन समयो के अमल के बारे में हर बरस कार्यालय को अपनी रिपोर्ट देन के लिए कहा जाय जिन्हे लागू किया जाना चाहिये था—तो बडा अच्छा रहे और श्रम कार्यालय को स्वय हर तीसरे या पाचवें बरस उन्हे लागू करने के लिए इस्तेमाल में लाये जाने वाले प्रशासकीय तरीको का निरीक्षण करना चाहिए । यह भी महसूस करना चाहिए कि उनमें से कई हर देश में शक्तिशाली श्रमिक सघो के होने पर ही निर्भर होते है—तभी वे सन्तोषजनक हो सकते हैं । जापान और हगरी में तो कानून द्वारा या कानून के अमली रूप में श्रमिक सघो के अस्तित्व पर हो प्राय प्रतिबन्ध लगा हुआ है । सम्मेलन में किसी समय के स्वीकार हो जाने के बाद जितनी ही जल्दी उसकी पुष्टि हो जायगी उतना ही समर्थको द्वारा उस पर गम्भीरता से अमल किया जायगा । स्वीकृति और पुष्टीकरण में जितनी बडी खाई है उससे पता चलता है कि अब तक देशो का रुख समयो को आशु-सम्पाद्य सिफारिशें भर मानने का रहा है । और वह काम चूकि

सिफारिश से ही पूरा हो जाता है अत समय के बडे दायित्व को उतने ही आराम से लिया जा सकता है ।

सम्मेलन के सम्बन्ध मे एक और बात बड महत्त्व की है । फिलहाल न केवल हर देश की सरकार के अनाधिकारिक प्रतिनिधियो की सख्या दुगुनी होती है बल्कि वह —प्रतिनिधि सगठनो की सहमति से—उनकी नामजदगी भी करती है । यह इगलैण्ड और जर्मनी जैसे मामलो में तो शायद आपत्तिजनक नहीं है—वहाँ श्रम-सगठन इतना शक्तिवान है कि यह प्राय निश्चित ही समझिए कि प्रतिनिधि कौन हो, इस बारे में उसी की राय चलेगी पर हमेशा ऐसी बात न होगी—जैसे हालैण्ड की मिसाल से स्पष्ट है । अत शायद यही तरीका ज्यादा सन्तोषजनक है कि औद्योगिक सस्थाओ को—चाहे मालिको की हों या मजदूरो की—सीधे अपना प्रतिनिधि नियुक्त करन दिया जाय । वरना इस बात का पक्का खतरा है कि सरकार ऐसे श्रमिक प्रतिनिधि चुन लेगी जिनके वोट उसका प्रयोजन पूरा करेंगे —खास तौर से जिन देशो में श्रमिक सघ कमजोर है वहाँ यह खतरा और भी है । मालिको के प्रतिनिधि की समस्या कुछ और ही है । सम्मेलन मे निर्सन्देह जरूरत इस बात की है कि ऐसे लोग हिस्सा लें जो दरअसल उद्योग में काम कर रहे हों, वे कारबार-सस्थाओ के स्थायी अधिकारी मात्र न हो । श्री बहरेंस[1] का कथन है—"ये लोग तो ऐसी कोशिश करेंगे कि उनके दल को जीत पर जीत मिले—जिससे मालिक पर उनकी धाक जम जायें, वे लम्बा पर राजनीतिज्ञोचित रास्ता अख्तियार नही करते ।" सरकारी प्रतिनिधियो के बारे में बस इतना कहा जा सकता है—जहाँ तक दूरी बाधा न डाले—श्रम-मत्री और उसके मुख्य आधिकारिक सलाहकार को ही आना चाहिए । हर देश की तत्कालीन सरकार को सम्मेलन की महत्ता महसूस कराने का और कोई रास्ता ही नही है । उसी साधन से सम्पर्क के सेतु बनाये जा सकते है और एक अन्तर्राष्ट्रीय आधिकारिक दायित्व का निर्माण हो सकता है जिसके बिना समय के मसौदे कारगर होने की कोई सम्भावना नही हो सकती ।

श्रम-कार्यालय ने सब से अधिक दिलचस्प किस्म का जो काम किया है सो अनुसन्धान की दिशा में । यहाँ, निश्चय ही, उसके प्रयास का जो आधार है उसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनयिक दिशा-परिवर्तन परिलक्षित होता है । उसका सिद्धान्त यह अधिकार है कि वह विभिन्न देशों में सरकारी दफ्तरो के माध्यम से न चलकर सीधे उसकी समस्याओ में दिलचस्पी रखने वाले दलों या व्यक्तियो से सम्पर्क करे । इसके मान यह हुए कि यह बात मान ली गई कि सरकारी सूत्र जो जानकारी देन को तैयार है उसी के आधार पर अगर कोई निष्कर्ष निकाले गये तो वे उचित और पर्याप्त सूचना पर आधारित नही होगें । फिर कई समस्याएँ ऐसी है जिनके बारे में श्रम कार्यालय द्वारा इकट्ठी की गई सूचना ही उचित निर्णय का सच्चा सूत्र हो सकती है । किसी भी औद्योगिक अनुसन्धान के लिए—जो अपने निष्कर्षो को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहे—उसका सदर मुकाम असंदिग्ध रूप से संसार का सब से महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जायेगा और उसका महत्त्व दिन-

१. पूर्वोद्धृत कृति —पृ० ११८ ।

दिन बढता ही जायेगा। दूसरी बात यह कि उसके प्रकाशन ऐसे दिमागो की उपज होगे जिनमें बहुत ही विविधता होगी—उसका यह फायदा होगा कि इस बात का खतरा न रह जायेगा कि किसी खास राष्ट्र के दृष्टिकोण पर अनुचित बल न दिया जाये। यहाँ एक अहम सवाल यह उठता है कि श्रम कार्यालय क्या अनुसधान करेगा। निदेशक ने अपनी रिपोर्ट में कहा है[1]—"इस बात का खतरा हमेशा रहता है कि कुछ मतो और हेतुओ के उन्नायक कही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय को अपने हितो के इस समर्थन और अपने साध्यो की सिद्धि में सहायता देने वाले आकडो का सग्रह और सकलन करने का माध्यम न बना लें।" बात असल में ऐसी ही है और मै समझता हूँ इसमें निहित है कि उन अगो का विधान कुछ सावधानी से किया जाये जो इस बात की माँग कर सकते हो कि अनुसन्धान किया जाये—जहाँ वह खास तरह का हो। मिसाल के लिए, इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि जब तक समुचित सुरक्षण न हो किसी व्यवसाय में उत्पादन के तुलनात्मक आँकडो का प्रयोग काम के घण्टे बढाने के पक्ष में किया जा सकता है अथवा कुशल कारीगर कम करने के पक्ष में।

मै समझता हूँ आम तौर से जो तरीके अपनाये जा सकते है, वे कुछ इस प्रकार के होगे (१) सम्मेलन जिसकी माँग करे वह सब जाँच-पडताल की जाये; (२) सचालक-मण्डल जिसकी माँग करे वह सब जाँच-पडताल की जाये, (३) वह सब जाँच-पडताल भी की जाये जिसकी माँग सम्मेलन के तीन वर्गों में से किसी एक के बहुमत द्वारा की जाये और ऐसे सचालक-मण्डल में बहुमत का अनुमोदन मिल जाये। जहाँ किसी मामूली सवाल पर जाँच-पडताल की बात हो वहाँ स्पष्ट ही वह निदेशक के विचार पर निर्भर होगी। अगर वे महत्त्वपूर्ण हो और उनपर आपत्ति की जाये तो निदेशक को कार्यवाही के बारे मे अपनी सिफारिशें देकर उन्हें सचालक-मण्डल के सामने रख देना चाहिए। यह तो अतर्क्य है कि कार्यालय के सामान्य काम के अधिकाश का स्वरूप अविच्छिन्न होना चाहिए—जैसे ब्रिटेन में कारखानो के मुख्य निरीक्षक की वार्षिक रिपोर्टें और यह भी साफ है कि बड़ी-जाँच-पडताल तभी की जानी चाहिए जब इस बारे में कोई खास तकाजा किया गया हो। बडे पैमाने पर की गई इस तरह की जाँच-पडताल के कारण सालाना रिपोर्टों के अमली रूप में जितना परिवर्तन होगा, कार्यालय के लिए उतना ही अच्छा रहेगा। जहाँ तक हो, वह तथ्यान्वेषण करे, निष्कर्ष उतने न निकाले—उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर होगी कि वह कितना विश्वास जगा सकता है। आम तौर से, सम्मेलन का काम है निष्कर्ष निकालना और कार्यालय का काम है वह सामग्री देना जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाले जा सकें—या, दूसरा तरीका यह हो सकता है कि विशेषज्ञो के सलाहकार आयोग निष्कर्ष निकालें, उनकी चर्चा मै पहले कर चुका हूँ।

लेकिन इसका सबसे अधिक महत्त्व है कि कार्यालय अपने अनुसधान की सीमाओ को सकीर्ण दृष्टि से न देखे। श्रम कोई अमूर्त्त अस्तित्व नही, जिसे अपने समूचे सामाजिक परिवेश से अलग करके देखा जा सके। जैसे काम-धधे की शिक्षा से कार्यालय का सरोकार है,

१. तीसरे सम्मेलन में पेश की गई निदेशक की रिपोर्ट (१९२१) पृ० २३३।

लेकिन वह इस विषय पर तब तक सही तौर से ऐसे तथ्यो का आकलन नही कर सकता, जब तक कि वह यह न समझाये कि समग्र शिक्षा के साथ उसका क्या सम्बन्ध है। वह कारखाना-परिषद् के स्वरूप और काम को समझा नही सकता जबतक कि वह साथ ही साथ श्रमिक-सघो के सगठन पर उनके प्रभाव का भी विवेचन न करता जाये। मिसाल के लिए, अमरीका 'कम्पनी यूनियन' का गढ है—प्राय बडे-बड सवालो पर विचार करने के लिए सस्थाएँ होती हैं, लेकिन उनके होने-बनने की विवेचना तब तक बेकार है, जब तक इस बात का भी ध्यान न रखा जाये कि किस हद तक उसका प्रयोजन सचेष्ट रूप से आम औद्योगिक सघवाद के विकास में रोडा अटकाना है—जैसे कोलोराडो के लोहे के कारखानों में। यही बात व्यापक क्षेत्र में बरोजगारी के बारे में भी सच है। उक्त कार्यालय उसके कारणों की तफ्तीश सफलतापूर्वक नहीं कर सकता—पहले उसे मुद्रा के सकोच-स्फीति और उसके सबध की जाँच करनी होगी। इसमें, निस्सदेह, सघ के आर्थिक अनुभाग से निकट सहयोग की बात निहित है लेकिन उसके भी परे श्रम कार्यालय के इस कर्तव्य की बात निहित है कि वह अपनी समस्याओ के भाग-उपभागो का भी ध्यान रखे—तथ्य उसे जिस दिशा में ले जायें, जाये।

एक आखिरी बात और कह दी जाये। जिस सस्था में पचास से ज्यादा सदस्य हो—सभी बिल्कुल अलग-अलग और असमान जबानें बोलते हो, उसके सामने एक अत्यन्त चिन्ताजनक प्रश्न यह होता है कि औरो को अपने काम से—स्थायी और कारगर तौर पर—अवगत कैसे कराये ? कुछ तो यह काम ऐसे हो जाता है कि कार्यालय के ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रकाशनो का सदस्य देशो की भाषाओ में अनुवाद करा दिये जायें, कुछ हद तक इसे सपन्न करने का उपाय यह है कि निदेशक और उसके प्रमुख सहयोगी—बातचीत और भेंट-मुलाकात में—कार्यालय के काम और उसकी सिद्धियों को समझाने का प्रयत्न करें। अशत सघ के कार्य का—खास तौर से सम्मेलनों का—अखबारो में प्रचार होने से यह काम किया जा सकता है। इस सबसे लाभ है—इसमें शक नहीं। लेकिन यह कहा जाये तो गलत न होगा कि इन सबको मिला कर भी ये तरीके अन्तत पर्याप्त नही होते। सबसे आवश्यक तो यह है कि कार्यालय के सम्मेलन सिर्फ जनीवा में ही न होते रहें—कभी-कभी और प्रदेशो में भी हो, जहाँ उसका प्रभाव होना जरूरी समझा जाये। जापान में, दक्षिण अमरीका में, बल्कान प्रदेशो में—वह अपने को एक प्राणवन्त सस्था साबित करे तो ज्यादा असर डाल सकता है, असख्य प्रकाशन भी यह काम उतनी खूबी से पूरा नही कर सकते। खास तौर से उसका सम्मेलन ऐसी जगहो पर हो, जहाँ की श्रम-परिस्थितियाँ खराब है—जनीवा या वाशिंगटन में नही, जहाँ विकास का क्रम शुरू हो चुका है। इसके अलावा पूरे सम्मेलन की तरह ही प्रादेशिक सम्मेलनो का भी आयोजन किया जा सकता है—उनमें स्थानीय कठिनाइयो पर विचार करके शायद सिफारिशो के रूप में प्रस्ताव पास किये जा सकते है और वे सम्मेलनो को भेजे जा सकते है। श्रम कार्यालय के लिए यह भी अहम बात है कि उसके प्रकाशन सभी ऐसी भाषाओ में मुहैया हों, जिनमें उनके पढ़ जाने की उम्मीद हो। हो सकता है कि इसके लिए वर्तमान पत्र-पत्रिकाओ के अनुवाद के बजाय खास पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करना पड़े—समस्या यह है कि जो साध्य हमारे सामने है, उसके

लिए साधन क्या हो। ज़रूरत इस बात की है कि न केवल कार्यालय बल्कि सघ भी यह आदत सीख लें कि भाषा कोई ऐसी अडचन नही जो हमारी प्रगति रोक ले—ऐसी है जिसे पार करना ही है। आधिकारिक प्रयोग में भाषाओ की सख्या सीमित करने का तो कारण है परन्तु सम्भावित उपादेयता की भाषाएँ सीमित करने का कोई आधार नही। इस बात की आशका नही कि अभी बहुत समय तक श्रम-कार्यालय को अधिक उन्नत औद्योगिक देशो में किसी खास गम्भीर कठिनाई का सामना करना पडेगा—इसीलिए उसे उन प्रदशो में अपना प्रभाव बढाना चाहिए जहाँ उसके प्रभाव की बहुत आवश्यकता है।

—६—

यहाँ जैसे दूरगामी अन्तर्राष्ट्रीय शासन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, वह बेशक ससार के इतिहास में एक नया प्रयोग है। इसान शताब्दियो से शाति के साधनो की खोज में भटकता रहा है—परन्तु वह श्मशान की शाति नही चाहता। इस परम्परा में जो नाम आदरास्पद है—पोस्टेल, पेन, एब्बे सेन्ट पियरे—वे हमारी अपनी पीढी को ही कल्पना-विलासियो की श्रेणी के लोग प्रतीत होने लगे है। लेकिन आज का स्वप्न कल का सत्य बन कर आविर्भूत होता है और यहाँ हमने जो परिकल्पनायें सँजोयी है, उन्हें अगर स्वप्न मात्र होने का फतवा देकर तिरस्कृत कर दिया जाये तो उसका यह मतलब न होगा कि वे अनावश्यक या अशक्य है। प्राय हम पुरानी परम्पराओ में इस बुरी तरह जकडे रहते है कि यह भी नही जान पाते कि हम एक नयी दुनिया में आ पहुँचे है।

अन्तर्राष्ट्रीय शासन के सिद्धात के विरुद्ध जो भी कोई निश्चित दावा किया गया है, वह प्रयोग के आधार पर मिथ्या साबित किया जा सकता है। सम्बद्ध देशो के राष्ट्रीय हितो को कोई शान्ति नही पहुँची, उनकी प्रशासकीय स्वतत्रता पर कोई आँच नही आई। अपने सगे-सबधियो के प्रति आदमी का स्नेह नेपोलियन के ज़माने से आज कुछ कम सत्य नही। आज भी हर देश को यह अधिकार है कि वह अपने यहाँ चाहे तो राजतत्र की स्थापना करे, चाहे गणराज्य बनाये। जिन फैसलो की लपेट में आदमी आता है, उन्हें करने में जितना दूसरो का हाथ होता है, उतना ही उसका भी—क्योकि उनका असर उस पर पडता है। और जिन बातों का सबध एकान्तत उससे ही है, उनमें उसे जितनी स्वायत्तता पहले थी उतनी आज भी है। हम यह समझ पाये है कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के द्वारा हम भौगोलिक हदो की सकीर्ण सीमाओ को पार कर सकते है। हम उन हितो को सगठित कर सकते है जो दुनिया के मेहनतकशो की तरह हदबन्दियों के कारण खडित और भग्न हो गये है। हम यह भी जान गये है कि जब कभी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय शासन का विरोध किया जाता है—जैसे मिस्र के मामले में इगलैण्ड ने किया, तो विरोध करने वालो की कोई न कोई ऐसी बात होती है, जिसे वे छिपाना चाहते है। सक्षेप में, हमने यह महसूस कर लिया है कि देशो के बीच के इलाके —जो पिछली पीढी को भी बिल्कुल लावारिस और अनाम-से लगते थे, उनमें भी आज वैसी ही व्यवस्थित शासन की प्रतिष्ठा हो सकती है, जैसी कि उन इलाको में जिनका सर्वेक्षण हो चुका है और जो नक्शो पर जगह पा चुके है।

लेकिन दो बडी समस्यायें फिर भी रह जाती है जो वकील और शकालु को खटकती रहेगी। वकील प्रभुत्त्व-सपन्नता की बात समझ सकता है, अनुत्तरदायित्व के राजसी वैभव

और वेशभूषा में विभूषित राज्य की भी वह कल्पना कर सकता है—जो अपनी ही इच्छा का आख्यान करे और किसी और की कतई न सुने। इस आधे कानूनी और आधे नैतिक दायित्व के रहस्यमय राज्य मे—जहाँ राज्य आदेश तो केवल अपना माने परन्तु फिर भी उसे दूसरो पर अवलम्बित रहना पड, वैसी कोई भी सरलता-ऋजुता नही जिनमें १७वी शताब्दी मे विधि-शास्त्रीय अवधारणाएँ प्रतिष्ठित रही है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रभुत्व-सपन्नता उसे निर्देश क निश्चित सूत्र प्रदान करती है। उसने जान लिया कि राज्य किससे बँधा हुआ है। जिसे 'हीगल' न 'पदार्थों क आन्तरिक ऐक्य' का नाम दिया था, वह मूर्त्त और मेय बन गया। राज्य के पीछे—जो कि दुनिया का सरक्षक था, परन्तु स्वय किसी व्यवस्थित-नैतिक जगत[1] का अश न था—परम्पराओ का बल था, जिनका रक्षक भी वही था और व्याख्याता भी। इन मूर्त्त और ज्वलन्त वास्तविकताओ से अन्तर्राष्ट्रीय समाज में पदार्पण करना—जहाँ राज्य 'अनेक' मे 'एक' वे अधिक कुछ नही और उस 'अनेकता' की कोई सीमा नही—दिवस के आलोक को तज कर ऐसे धुँधले ससार में प्रवेश करना है, जहाँ की हर चीज अस्पष्ट है और धुँधली।

परन्तु—यह भी आखिर तथ्यो से ही प्रेरित होकर। जब राज्य अपनी प्रभुता का प्रयोग करना चाहते है, तो वह एक स्वप्न मात्र सिद्ध हो जाती है। उनकी संकल्पनाएँ आपस में टकराती है—वे अपने लक्ष्य की कोई सीधी अबाध राह निर्धारित नही कर सकते। उनकी सकल्पनाओ का सपर्क होता है क्योकि उनके सबध निरन्तर घनिष्ठ होते जाते है और प्रभुता-सपन्न राज्य की सस्थाएँ उन घनिष्ठ सबधों की नैतिक आवश्यकताओ को पूरा नहीं कर पाती। अत हमें ऐसी सस्थाओ की जरूरत हुई, जिनमें उनकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से पैदा होने वाली नैतिकता मूर्त रूप पर जाये। वे मिलती हैं आत्मिक ऐक्य का माध्यम निर्माण करने में और उसके निर्णयो को एसी शक्ति प्रदान करने में जो उनसे सबद्ध सभी सकल्पनाओ को बाँध सके। सक्षेप में, हम देखते हैं कि राज्य की प्रभुता एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा कुछ प्रयोजन और दायित्व ही पूरे किये जा सकते हैं, और बृहत् समाज के उद्भव के फलस्वरूप वे परियोजन और दायित्व—अपनी विशदतम रूप-रेखा में—केवल ऐसे अधिकरण द्वारा निर्धारित हो सकते हैं जिसमें व्यष्टि राज्य का प्रभाव तो हो, पर उसे चरम शक्ति प्राप्त न हो। न्यायज्ञ देख सकता है कि प्रभु-राज्य बृहत्तर समुदाय में—जिसका वह अग है—स्थानीय महत्ता के ऐक्य में परिणत होता जा रहा है। यह बृहत्तर समुदाय—ज्यो-ज्यों मानव की सामान्य चेतना में उसका विकास होगा—अपनी साध्य पूर्त्ति के लिए आवश्यक सभी समस्त शक्ति और सत्ता को धारण करेगा। शुरू में वह धीरे धीरे और अलक्षित रूप से बढ़ेगा और इस परिणति से परेशान होने वाले न्यायज्ञ को याद रखना होगा कि आधुनिक राज्य धर्म-क्रांति से पूर्ण विकसित रूप में अवतरित नही हुआ। लोगो ने बौडिन को अनायास परम सत्य का आख्याता नहीं मान लिया और जब उन्होने उसकी बात को माना भी तो देखा कि उसका उपदेश तभी तक सच है जब तक उसपर अमल न किया जाये। अन्तर्राष्ट्रीय प्रसग में राज्यों का इतिहास भी यही रहा है। लेकिन चूँकि यह खतरा होता है कि राज्य कही अपनी प्रभुत्व सपन्नता को कार्य-

१. बोसाँके—फिलॉसौफिकल थियोरी आफ़ दी स्टेट, पृष्ठ ३२४-२५।

रूप देने का प्रयत्न न करे—जैसे नैपोलियन के अधीन फ्रास ने और होहेनजोलर्न के अधीन जर्मनी ने किया—अत हमने उसके विरुद्ध सगठित ससार की नैतिक चेतना को प्रबुद्ध किया है। लेकिन न्यायज्ञ नैतिक चेतना को विधिक निर्देश के सूत्र के रूप में अपर्याप्त मानता है।

बात यह है कि उसकी युक्ति वही है जो हॉब्स की "बिना तलवार के प्रतिज्ञा-पत्र कोरे शब्द है—उनमें आदमी की रक्षा का बल कतई नही।" लेकिन तलवार का बल तो प्रतिज्ञा-पत्र में निहित है, केवल उसके उपयोग का आयोजन अतीत से भिन्न है। इस बात पर शकालु आदमी कह उठेगा—ऐसा हो ही नही सकता। अग्रेज आखिर फ्रासीसियो या जर्मनो, सर्बियनो या इतालवियो के कहने पर तो लडने से रहे। वे अपने घर के मालिक है और अगर उनका घर ही दुनिया है, तो वे दुनिया के भी मालिक है। दूसरे राज्यो पर न्याय के लिए अवलम्बित होना रेत से जल की अपेक्षा रखना है—उनके हित वे नही जो अग्रेजो के, उनकी आवश्यकताएँ भी वे नही। मानव-प्रकृति में वे तत्त्व नही होते जिनसे तर्क-सिद्ध समाधान पाये जा सकें। दुनिया बडी-बडी सेनाओ की हिमायत करती है और कागज पर कुछ ललित मनोहर शब्द लिख लेना और लडाई जीत लेना एक ही बात नही।

मेकियावेली का जहर हमारे खून में है, जिसने इतिहास का अनुशीलन किया है, उसके मन मे अगर वैसा ही निराशावाद जागे तो गलत भी नही। लार्ड एक्टन[1] ने लिखा था "जिसे सर हेनरी टेलर ने अन्तर्मन की अत्यत निर्बल सवेदना कहा है, अधिकाश सफल व्यक्ति उसकी निन्दा करते हैं।" और उन्होंने लार्ड ग्रे की सुप्रसिद्ध उक्ति को भी उद्धृत किया है कि राष्ट्रो का ससर्ग राष्ट्रीयता नैतिकता के नियमो द्वारा पूर्णत नियमित नही किया जा सकता। अगर इसका मतलब यह है कि लोगो में साध्य की लालसा इतनी प्रखर और अदम्य होती है कि वे साधनो के औचित्य-अनौचित्य की कतई परवाह नही करते तो इसकी सचाई से कोई इन्कार नही कर सकता। लेकिन तोक्यविले ने जिसे 'देश की बौद्धिकता' कहा है, उसका अस्तित्त्व हर इसान के लिए होता है और मानवता का इतिहास उसके प्रति आदमी की निष्ठा का ही लेखा है। मध्ययुग के खण्ड समदाय जो प्रयोजन सिद्ध करते थे वही राज्य करते है—प्रतिबन्ध खडे करके वे स्वशासन को शक्ति की शोषकता से बचाते है। परन्तु ठीक वैसे ही जैसे उन समुदायो को बिना किसी नैतिक हानि के किसी बृहत्तर सगठन का अश बताया जा सकता था, हमारे आज के राज्य भी अपने से बडो और अपने से आगे की आवश्यकताओ के आगे झुक सकते हैं। या तो वे अपना अधिकार छोडें या फिर हम उन मानदण्डो को भुला दें जिनके सहारे हम जीना चाहते है क्योकि वह मापदड है ही ऐसा, जिसकी आन्तरिकता में यह निहित है कि वैयक्तिक हितो का बलिदान जिनके समक्ष कर दिया जाये, वैसे प्रयोजनो का अनुसरण होना चाहिए—या कहें कि वह प्रयोजन ही ऐसे है कि उनकी सिद्धि में ही वैयक्तिक हितो की सिद्धि हो सकती है। इतिहास के परिणाम अगर कुछ सबक सिखाते है तो यह कि साधनो की उपेक्षा करके हम कभी साध्यो तक नही पहुँच सकते—साधन तो साध्य में समा जाते है, उसे बदल डालते हैं। अनेक राज्यो की इस

१ हिस्ट्री आफ फ्रीडम—५२१

दुनिया में जो राज्य जीना चाहता है वह निजी सफलता को अपना लक्ष्य नही बना सकता—उस मरीचिका की ओर बिना सोचे-समझे बेतहाशा दौडना आखिर अस्तित्व के लिए घातक साबित हो सकता है। इसने लुई चतुदश का विनाश किया, इसने नैपोलियन का विनाश किया, इसने जमनी का ध्वस किया। उनका विनाश हुआ, इसलिए कि उन्होने वैयक्तिक हित को सार्वजनीन कल्याण से ऊपर रख कर देखा। उन्होने अपनी इच्छाओ के फलवती होन मे ही मगल माना—और उस अधेपन का जो कुछ भयकर परिणाम हो सकता था, होकर रहा।

हमे यह कहन की जरूरत नही कि बुराई का अस्तित्व ही नही या यह कि आदमी न जो व्यथा भली है, उसका कोई प्रतिकार नही। हमें यह भी हठ नही करना कि ससार मे एक प्रयोजन की अभिव्यक्ति हो रही है और हम चाहें कुछ भी करें, उसकी सिद्धि तो होगी ही। दुनिया म जो कुछ प्रयोजन है, नेकी का जो कुछ तत्त्व है—वह इसान क सचेष्ट प्रयत्नो क कारण। यही तो हमारी आशा का आधार है। राग-द्वेष और अनैक्य के घटा-टोप क बीच और मतभद की उत्तजना के बीच भी हम मानव जाति क हितो को पहचान सकते है—जिनक कारण वह एक और अखण्ड के यह दृश्य हमारी आँखो क सामने धुँधला भले ही हो, पर ह जरूर। राष्ट्र-राज्य की भौगोलिक चौहद्दियो मे आदमी का हित बाँध कर नही रखा जा सकता। सामाजिक सगठन उन सकुचित सीमाओ को पार कर गया है। दुनिया के मेहनतकश यह समझने लगे है सर्बिया और आस्ट्रिया क शासको का झगडा उनका झगडा नही, ससार के वैज्ञानिक जान गये है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से ही उनक ज्ञान का विस्तार सभव है, उपयोक्ता महसूस करता है कि चाहे-अनचाहे, वह एक विश्व-नागरिक बन गया है। मानव-जाति की चरम इकाइयो के बीच में राज्य इस समूह-चेतना को स्थायी या वास्तविक रूप मे व्यक्त नही कर सकत। इसम शक नही कि वे आदमी की निज-समुदाय-प्रेम की वृत्ति का अनुचित लाभ उठा सकते है, उसमें यह भ्रम पैदा कर सकते है कि उनकी आज्ञा मानना ही उसके लिए सही आचरण है। लेकिन ज्यो-ज्यों अनुभव बढ रहा है, इस शोषण के दिन भी इने-गिने रह गये है।

असल बात तो यह है कि हम राष्ट्र-राज्य की स्थिति नये परिपार्श्व में देखने लगे है—मानवता क विविध वर्ग-बन्धो में से एक के रूप में। हम देख सकते है कि पुराने ढाचे क नीच नय अधिकरण सास ले रहे है, बढ रहे है—अभी तक अपने सबध में वे केवल अर्द्ध-चेतन है परन्तु अधिकाधिक विस्तार के लिए निरन्तर चिन्तित। ज्यो-ज्यो एक राष्ट्र-राज्य दूसरो से मिल कर ऐसी व्यवस्था बनायेगा, जो पहले से एक साथ कही अधिक सगठित और कही अधिक व्यवस्थित होगी, त्यो-त्यो वे प्रौढता पाते जायेगे। लेकिन मिलने का मतलब है सहयोग के लिए प्राथमिकता का समर्पण। सहयोग का मतलब है सिद्धात और सिद्धात का तात्पर्य है कुछ मानको का होना। हम ऐसे साधनो का विकास कर रहे है जो मरीचिकाओ से बच निकलने की हमारी शक्ति को समृद्ध करेंगे—जिनके कारण अतीत में हमें युद्ध की विभीषिकाओ में से गुजरना पडा है। शिक्षा से विनम्र आदमी उस जिन्दगी के सपने देखने लगा है, जिसमें वह जीवन के आनन्द और सौंदर्य की सिद्धि कर सकेगा। पूव—जो कभी

गतिहीन और स्थैतिक था—आज नये और प्रशस्त भविष्य के प्रति सचेत हो गया है। अफ्रीका में हम खुद ही इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि सीधे-सादे लोगो के साथ पहले के प्रयोगो में जो कटु अन्याय किये गये है, उन्हे दोहराया न जाये। अभी यह नही कहा जा सकता सकता कि हमें सफलता मिलगी, अभी तो यह भी दावा नही किया जा सकता कि हमें सफलता मिलनी चाहिए। लेकिन कम से कम इतना जरूर है कि दुनिया में आदमी द्वारा आदमी के शोषण से असतोष बढता जा रहा है । यह चेतना आज ज्यादा व्यापक हो गई है। मन की गहराइयो में आज यह अधिक प्रखर रूप धारण कर चुकी है कि दुनिया में जो कुछ है, सो सिर्फ कुछेक लोगो क लिए नही और दूसरो के लिए जीवन का मतलब यह नही कि कोल्हू के बैल की तरह सदा-सर्वदा पिले रहें। हम समानता की महत्ता जान गये है और स्वतत्रता क नाम पर हमसे जो कुछ मागें हुई है, समानता का हमसे जो तकाजा होगा, वह उससे किसी तरह कम नही होगा।

अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में राज्य की प्रभुता का तिरोधान होता जा रहा है क्योकि इस क्षेत्र में वह अपना काम पूरा कर चुकी है। व्यक्ति की निष्ठा आज उसमें सिमट-सिकुड कर समाई नही रह सकती—उसकी निष्ठाएँ उतनी ही विविधतामय है, जितने कि जीवन के अनुभव। ज्यो-ज्यो उसकी विश्व-चेतना बढती विकसित होती है, वह उसे अपने व्यक्तित्व की सेवा में नियोजित करता है। राज्य ने धर्म के बन्धनो से जब मुक्ति चाही थी, तब जिन श्रेणियो का उपयोग किया था, आज वे मान्य नही—इस बात को वह समझता जा रहा है। उसे साम्राज्यवाद के नही, सान्धानिकता के विचारो की आवश्यकता है। उसने देख लिया है कि आज ससार में अतर्-निर्भरता व्याप्त है, निरपेक्षता की बात वृथा है। कुछ एसी बातें है जिनमें वह किसी को दखल नही देने देगा। कुछ मामले ऐसे है जिनमें वह—अपने पास-पडौस के सजातीय-समतुल्यो के साथ मिल कर—आत्म-निर्णय के अधिकार का दावा करता है। उसके परे, वह जानता है कुछ ऐसे बडे-बडे मसले है, जो किसी एक के नही, सारी मानव-जाति के है। स्वशासन की यह प्रतीयमान असगति है कि आदमी को स्वतत्र होने के लिए मानव-मानव के बीच ससर्ग-साहचर्य के नियम बनाने होते है। लेकिन जीवन के अनुभवो ने हमें बडी कठोरता से यह सबक सिखाया है कि बिना नियम के ससर्ग-साहचर्य नही हो सकता और ससर्ग-साहचय के बिना स्वातत्र्य नही। हम या तो सचेष्ट प्रयत्नो द्वारा एक नई दुनिया बनायें या विनाश को प्राप्त हो जायें—यह बडा भीषण विकल्प है। इससे आदमी यह महसूस करने लगता है कि उसके पाँव किसी भयकर खाइ क कितने पास है। लकिन यह विकल्प ऐसा भी है जो उसके लिए मुक्ति की राह साबित हो सकता है।

★

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्दावली

अग-विधान	Mechanism
अत करण	Conscience
अतर्विरोध	Contradiction
अधदेशप्रेम	Chauvinism
अतिमा	Transcendence
अदेशी	Alien
अधिकरण	Organ
अधिकार	Rights
अधिकार-पत्र	Charter
अधिकार-क्षेत्र	Jurisdiction
अधिनियम	Act
अधिनिर्णय	Adjudication
अधिन्यायिक	Metajuridical
अधिपत्र	Warrant
अधिरेक, अधिशेष	Surplus
अधिसकल्पना	Superwill
अधीक्षण	Supervision
अध्यादेश	Ordinance
अनतिपात नीति	Laissez Faire
अनन्तिम	Provisional
अनम्य	Rigid
अनुतोष	Relief
अनुबन्ध	Appendage
अनुशासन	Discipline
अनुशास्ति	Sanction
अनुज्ञप्ति	Sanction
अन्य-प्रेषणीय	Alienable

अपलेख	Libel
अपवचन	Slander
अभिकरण	Agency
अभिकर्त्ता	Agent
अभिजात-तन्त्र	Aristocracy
अभिलेख	Record
अभिषेध	Veto
अराजकता	Anarchy
अराजकतावादी	Anarchist
अल्पमत अल्पसंख्यक	Minority
अल्पतन्त्र	Oligarchy
अवक्रोश	Anathema
अवधारणा	Concept
अवशिष्ट	Residuary
अवक्षयण	Depreciation
अवेक्षा	Scrutiny
अवैध (अविधिक)	Illegal, Illegitimate
अव्यवस्था	Chaos
आचरण	Conduct
आत्मसिद्धि	Self-Realisation
आत्मसुखवादी	Egoistic
आनुवंशिकता (वंशागति)	Inheritance
आप्त	Ex Cathedra
आपूर्व	A priori
आभिजात्य	Aristocracy
आयव्ययक	Budget
आरोग्य-विज्ञान	Hygiene
आवर्तवादी	Vorticist
आवासी	Immigrant
आविष्करण-शक्ति	Inventive Power
आवेग	Impulse
आशावादी	Optimist

आसूचना	Intelligence
आज्ञाकारिता	Obedrence
इजीलवादी	Evangelistic
ईश्वरीकरण	Apotheosis
उत्पाद	Produce, Product
उत्पादक	Producer
उदारवादिता, उदारता	Liberalism
उद्वैध	Outlawed
उद्यम	Enterprise
उद्योग	Industry
उपकरण	Equipment, Implements
उपक्रम	Initiative
उपधारणा	Postulate
उपपत्तियाँ	Findings
उपभोक्ता	Consumer
उपयोगितावादी	Utilitarian
उपलक्षणा	Implication
उपसंहार	Closure
एकरूपता	Uniformity
एकविधता	Consistency
एकाधिकार	Monopoly
औपचारिकता	Formality
कारण, कृत्य	Functions
करार	Agreement
काल-विसंवादिता	Anachronism
कार्यविधि	Procedure
कार्यांग	Executive
केन्द्रीयकरण	Centralisation
जन-निदेश	Referendum
जनमत	Plebiscite
जिह्म	Tort
जीवनांकिक	Actuary
दायित्व	Liabilities

दीर्घसूत्रता	Red Tape, Paperasserie
देवतन्त्र	Theocracy
देशीय	Municipal
र्म-क्रांति	Reformation
धर्म-निरपेक्ष	Secular
धर्मार्थ	Charitable
धर्षण	Rape
नगरपालिका	Municipality
नम्य	Flexible
निकाय	Body
निगम	Corporation
निगमन	Deduction
नितचर्या	Routine
निबन्धन	Reservation
निरपेक्ष	Absolute, Exclusive
निराकरण	Abrogation
निर्माता	Manufacturer
निर्योग्यभूत	Disabled
निर्व्याज	Bonafide
निष्ठा	Allegiance
नैगम	Corporate
न्यायांग	Judiciary
न्यायाधिकरण	Tribunal
न्यायिक	Judicial
न्यास	Trust
न्यासधर	Trustee
पंजीयन	Registration
पणन	Marketing
पण्य	Commodity
परम	Absolute
परम शक्ति	Absolute Power
परमाधिकार	Prerogative
प्रवासी	Emigres

परिकल्पना	Hypothesis
परिपार्श्व	Perspective
परियात-शुल्क	Tariff
परिवहन	Transportation
परिवेश	Environment
परिषद्	Council
परिष्ठा	Status
परिसमापन	Liquidation
परिसम्पत्ति	Assets
परिसीमाएँ	Limitations
परोपकार-भावना	Benevolence
पहल, पहलकदमी	Initiative
पारितोषिक	Reward
पारिश्रमिक	Remuneration
पुनरीक्षण	Revision
पुष्टीकरण	Ratification
पूँजीवाद	Capitalism
पूर्णाधिकारी	Plenipotentiary
पूर्वाग्रह	Prejudice
पूर्वारूप	Protocol
पेशा	Profession
पोपतन्त्र	Papacy
प्रकाशन	Publication, Publicity
प्रचार	Publicity
प्रतिकरण	Compensation
प्रतिफल	Return
प्रतिभूति	Guarantee
प्रतिष्ठान	Establishment
प्रत्यय-पत्र	Credentials
प्रत्यायुक्ति	Delegation
प्रत्यावाहन	Recall
प्रभाग	Division
प्रभार	Charges

प्रभु	Sovereign
प्रभु-सत्ता, प्रभुता	Sovereignty
प्रमेय	Thesis
प्रयोजन	Purpose
प्रिरिक्थ	Bequest
प्रलेख	Deed, Document
प्रशासन	Administration
प्राथमिकता	Priority
प्राभियोग	Impeachment
प्राविधिक	Technical
प्राविधिकी	Technology
फलोपयोग	Usufructs
फाइलपरस्ती	Paperasserie, Red Tape
बन्दी-प्रत्यक्षीकरण	Habeas Corpus
बहुमत, बहुसंख्यक	Majority
बहुरूपदर्शी	Kaleidoscope
बहुलवाद	Pluralism
बाध्यकारी	Binding
बालिग	Adult
बिचौलिया	Middleman
मन्त्रि-परिषद्	Cabinet
मन्त्रिमण्डल	Ministry
मजूरी	Wages
मतदान	Voting
मताग्रह	Dogma
मताधिकार	Franchise
मनोबल	Morale
मनोवेग	Impulse
मरणोत्तर शुल्क	Death Duty
महासचिव	Secretary General
मानक	Standard
मान्य	Valid
मान्यता	Validity, Assumption

मूल्य	Value
मूल्य-निर्धारण-संघ	Cartel
यथार्थता	Realism
यथार्थवाद	Realism
राजतंत्र	Monarchy
राजनय	Diplomacy
राजनीति	Politics
राजस्व	Revenue
राज्य	State
राष्ट्र	Nation
राष्ट्रिक	(N) National
राष्ट्रीय	(Adj) National
राष्ट्र-मंडल	Commonwealth
राष्ट्र-संघ	League of Nations
राष्ट्रीयकरण	Nationalisation
राष्ट्रीय राज्य	National State
राष्ट्रों की बिरादरी	Comity of Nations
लाभांश	Dividend
लोकतंत्रीकरण	Democratisation
वफादारी	Loyalty
वयस्क	Adult
वरण-कृत्य	Selective Functions
वरिष्ठता	Superiority
वर्ग-संघर्ष	Class Struggle
वाक्-स्वातंत्र्य	Freedom of Speech
वाद-सार	Brief
वार्धक्य-भत्ता	Superannuation Allowance
विकेन्द्रीकरण	Decentralisation
विग्रह	Organism
वितरण	Distribution
विधानमंडल	Legislature
विधानांग	Legislature
विधि	Law

विधिक	Legal, Legitimate
विधेयक	Bill
विध्यात्मक	Positive
विनियम	Regulation
विपणन	Marketing
विरेचन	Catharsis
विवाचन	Arbitration
विशेषाधिकार	Privilege
विशेषीकरण	Specialisation
विसारण	Diffusion
विहित क़ानून	Positive Law
वृत्ति	Profession
वैध	Legal, Valid
व्यक्तिवादी	Individualistic
व्यपगत	Lapsed
शक्ति	Power
शक्ति-परस्तात्	Ultra vires
श्रमिक-सघ	Trade Union
श्रमिक-सघवाद	Trade Unionism
श्रेणि-समाजवाद	Guild Socialism
श्रेण्य	Classic
सकट	Crisis
सकल्पना	Will
सगठन	Organisation
सघ	Union
सघान	Federation
सघानीय	(Adj) Federal
सभा	Association
संपत्ति	Property
सम्पदा	Estate
संभरण	Supply
संरक्षण-शुल्क	Protective Duty
संविदा	Contract

सविधान	Constitution
सविधि	Statute
सशोधन	Amendment
सस्था	Institution
सस्थान	Institute
सहिता	Code
सट्टेबाज़ी	Speculation
सत्ता	Authority
सदाशयता	Bonafides
सपिंड सम्बन्धी	Collateral Relations
समनुपात	Proportion
समन्वय	Coordination
समय (अभिसमय)	Convention
समर-तन्त्र	Strategy
समवायचारी आवेग	Gregarious Impulse
सहजवृत्ति	Instinct
समाजवाद	Socialism
समाजीकरण	Socialisation
समादेश	Mandate
समादेश-अधीन	Mandated
समादेश-प्राप्त	Mandatory
समानता	Equality
समुदाय	Community
समूहवाद	Collectivism
सर्वेक्षण	Survey
सहकारिता	Cooperation
साधानिक	(N & Adj) Federal
साधन	Means
साध्य	Ends
सामजस्य	Harmony
सामनीति	Negotiation
सामाजिक बहिष्कार	Social Ostracism
साम्यवाद	Communism

सावभौमता	Universality
सार्वजनीनता	Universality
साहसोद्यम	Adventure
साक्ष्य	Evidence
सिद्धा त	Theory
सीमान्तिक	Marginal
सीमा-शुल्क	Tariff Duty
सुधारवाद	Reformation
सुरक्षण	Safeguard
सुविधा-भार	Servitude
सूत्र	Source, Formula
सोपान तन्त्र	Hierarchy
स्वामित्व-प्रलेख	Title Deed

सूची